

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186323

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. ^H80.1

Acc No. ^H2400

B57K

Author :

मिर्चशीदास कृत

Title :

काल्य - निर्णय

Osmania University Library

Call No ^H80.1

Accession No ^H2400

B57K

Author

मिश्र वशिष्ठ कृत

Title

काव्य - निर्णय

This book should be returned on or before the date last marked below

काव्य-निर्णय

भिखारीदास कृत

श्रमिका :

डा० सत्येंद्र एम० ए०

संपादक :

जवाहरलाल चतुर्वेदी

प्रकाशक :

कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स

ज्ञानवापी, वाराणसी

वितरक :

बिहार ग्रंथ कुटीर

खज्जांची रोड, पटना-४

तथा—

बम्बई बुक डिपो

११५/१ हरीसन रोड

कलकत्ता ७

प्रथम संस्करण :

गांधी जयन्ती

१९५६

मूल्य :

पंद्रह रुपया

मुद्रक :

गोविन्ददास माहेश्वरी

सन्मार्ग प्रेस, वाराणसी-१

॥ श्रीः ॥

संपादक के कुछ शब्द

—:०:—

ब्रजभाषा ग्रंथों का मुद्रण उन्नीसवीं शती के प्रारंभ में हो गया था। मथुरा, आगरा, जयपुर, दिल्ली, लखनऊ, काशी, पटना, कलकत्ता^१—आदि से ब्रजभाषा के गद्य और पद्य के अनेक ग्रंथ इन स्थानों के शिलायंत्रों (लीथो) में छपकर प्रकाश में आये। यह प्रकाशन का सिलसिला यहीं समाप्त नहीं हुआ—
 टायप-युग के पूर्वज नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, वेंकटेश्वर प्रेस बंबई, भारत जीवन प्रेस काशी और खड्ग विलास प्रेस पटना (बिहार) इत्यादि ने बड़े उत्साह के साथ ब्रजभाषा ग्रंथ-प्रकाशन का कार्य निरंतर जारी रखा, जिससे बड़े-बड़े दुर्लभ ग्रंथ-रत्न सुंदर रूप में प्रकाशित हुए। फलतः प्रेस-युग से पूर्व जो ब्रजभाषा-काव्य भारतीय जनों का केवल कंठ-हार था, विशिष्ट स्थानों की हस्त-लिखित रूप मंजुल मंजूपात्रों में आवद्ध होने के कारण बड़ी कठिनता से दर्शनों को मिलता था, अब वह प्रायः सभी भारतीय प्रासादों की शोभा बढ़ाने लगा। सच तो यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी का यह समय ब्रजभाषा-काव्य-ग्रंथ-प्रकाशन के लिये स्वर्ण-युग था, जिसे भारत के हिंदू-मुसलमान दोनों नागरिकों ने समान उत्कंठा के साथ खुले दिल से सँजोया। टायप-युग का आदि चरण भी ब्रजभाषा-ग्रंथ-प्रकाशन के लिये वरद सिद्ध हुआ। इस समय अज्ञात-कुलशील पं० कालीचरण^२ से आदि लेकर भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र^३ जिन्हें मधुर ब्रजभाषा को और भी मधुर बनाने का, रीति-काल के पंक से निकाल कर पुनः संस्कार के साथ स्वच्छ रूप देने का श्रेय प्राप्त है, के अतिरिक्त डुमराँउ के नकछेदी तिवारी^४ उपनाम—‘अज्ञान’ कवि, पं० मन्नालाल काशी,^५ बा० रामकृष्ण वर्मा

१. मुबैल उलूम प्रेस मथुरा, मतवन्न ईजाद—मतवन्न कृष्णलाल आगरा, मतवन्न ई ईजाद जयपुर, मतवन्न इलाही दिल्ली, नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, बनारस लायट प्रेस काशी, खड्गविलास प्रेस पटना, बपतिस्मा प्रेस कलकत्ता आदि। २. पं० कालीचरण ने सं० १९२० वि० में अथोध्या के राजा मानसिंह उपनाम ‘द्विजदेव’ की देखरेख में सूरसागर का संपादन कर नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित कराया था। ३. भारतेंदुजी द्वारा संपादित ग्रंथ ‘सूरसातक’ हमारे देखने में आया है, जो बनारस के लायट प्रेस में सं० १८८२ ई० में छपा था। ४. इनके अनेक संपादित ग्रंथ भारत जीवन प्रेस काशी से निकले, प्रधान ग्रंथ संग्रहात्मक मनोज-मंजरी तीन भाग में प्रकाशित हुआ है। ५. पं० मन्नालाल संपादित ग्रंथ—सुंदरी संग्रह, सुंदरी सर्वस्व, शृंगार सुधाकर हैं।

काशी,^१ बा० जगन्नाथदास, 'रत्नाकर',^२ काशी, ला० भगवानदीन उपनाम—
 'दीन कवि'^३ मिश्र-बंधु* (सुखदेव बिहारी मिश्र, गणेश बिहारी मिश्र, कृष्ण
 बिहारी मिश्र) लखनऊ, पं कृष्ण बिहारी मिश्र,* गँधौली (सीतापुर), बा० ब्रजर-
 त्तदास अग्रवाल काशी,^६ डा० रसाल^७ (रामकृष्ण शुक्ल रसाल) प्रयाग (अब
 सागर-विश्वविद्यालय) पं० नंद दुलारेलाल बाजपेयी^८ (सागर-विश्वविद्यालय)
 पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र^९ काशी, पं० बलदेव प्रसाद मिश्र^{१०} प्रयाग और
 उमाशंकर शुक्ल^{११} इत्यादि अनेक ज्ञाताज्ञात महानुभावों ने ब्रजभाषा काव्य-
 ग्रंथों के प्रकाशन-संपादन में स्मरणीय सहयोग दिया जो भुलाया नहीं जा
 सकता । यह ब्रजभाषा-काव्य-ग्रंथों के प्रकाशन और संपादन का आदि इतिहास
 है, जो लीथो (शिलायंत्र) युग से चलकर—उत्पन्न होकर, टायप-युग में फल-फूल
 रहा है । यद्यपि ऊपर निवेदित संपादक शिरोमणियों में ग्रंथ-संपादन का स्तर
 जैसा होना चाहिये, वैसा तो नहीं देखा जाता, फिर भी ब्रजभाषा के अनेक कवि-
 ग्रंथों को, पंगु बनाकर ही सही, रक्षा अवश्य की है, यही हमारे लिये सब कुछ है
 कवि-सचित काव्य-निधियों की रक्षा के रूप में आप लोगों का मूल्य कम नहीं
 आँका जा सकता ।

ब्रजभाषा में रीति ग्रंथों के प्रणयन का इतिहास बहुत पुराना है । प्रसिद्ध
 हदी-इतिहासकार पं० रामचंद्र शुक्ल के अनुसार उसका प्रारंभ 'सन् १२६८
 ई०' माना गया है,^{१२} जब कि वह इससे कहीं अधिक दूरवर्ती है । नामकरण
 के साथ तद् समय के ग्रंथ तो अभी नहीं मिले हैं, पर उस समय की फुटकल
 प्राप्त रचनाओं के शब्द-सौष्ठव को देखते हुए उसकी समय-विशालता अवश्य-ही
 माननी पड़ेगी । अठारहवीं शती, जिसे हम भिखारीदास-काल भी कह सकते हैं,
 तक वह काफी विशाल और प्रौढ़ हो चुकी थी । अमित ग्रंथ-रत्न उद्भव हो चुके

१. वर्माजी ने अत्यधिक ब्रज भाषा ग्रंथों का संपादन-प्रकाशन किया है । आपके मुख्य
 संपादिन ग्रंथ—'रसलोचन' का रस प्रबोध, सुंदरदास का सुंदर शृंगार, भिखारीदास का शृंगार-
 निर्याय, केशवदास प्रभृति के नखसिख संग्रह, पद्माकर का जगतविनोद-आदि के नाम लिये जा
 सकते हैं । २. रत्नावर-संपादित ग्रंथ—सुजानमागर (धनानन्द-विरचित), हमीरहठ (चंद्रशेखर),
 सुजान चारत्र (मृडन) इत्यादि । ३. दीनजी के संपादित ग्रंथ—कविप्रिया (केशवदास),
 रामचंद्रिका (केशवदास), दोहावली, कवितावली (गो० तुलसी दास), बिहारी सतसई, सरपच-
 रत्न आदि । ४. हिंदी नवरत्न, देव-ग्रंथावली, मुरगुप्त-इत्यादि । ५. मतिराम-ग्रंथावली ।
 ६. नंददास-ग्रंथावली, भाषाभूषण (यशवंत सिंह), मीरादावली..... । ७. उद्धव शतक
 (रत्नाकर) । ८. सरसगर । ९. भूषण ग्रंथावली, धनानंद, भाषाभूषण, पद्माकरपंचामृत,
 बिहारी—इत्यादि । १०. अनेकार्थ और नाममंजरी (नंददास) । ११. नदयस । १२. हिंदी
 साहित्य का इतिहास, सं० २००३ संशोधित संस्करण पृ० २३२ ।

थे। आदि-आचार्य कृपाराम (१५९८ ई०) की 'हिततरंगिणी' या 'शृंगार तरंगिणी' से लेकर ब्रजभाषा के अंतिम रीति-काल के कवि नवनीत चतुर्वेदी मथुरा (१६१५ वि०) तक ब्रजभाषा का इतना विशाल रीति-शास्त्र प्रणयन हो चुका था कि आज उसका लेखा-जोखा उपस्थित करना सहज नहीं है। इस रीति-रचना-उदधि के सारभूत ग्रंथ रत्न—“रसराज” (मतिराम त्रिपाठी—सं० १६७४ वि०), भाषा-भूषण^२ (यशवंतसिंह, जोधपुर के राजा सं० १६८३ वि०) और काव्यनिर्णय^३ (भिखारी दास, सं० १७६० वि०) कहे-सुने जाते हैं। यह ग्रंथ-त्रयी ब्रजभाषा के सिद्ध ग्रंथ हैं, अतएव जिन्होंने भी मन लगाकर इन्हें किसी इनके ज्ञाता से समझ-बूझ लिया वह काव्य के विविध रस, रीति, ध्वनि, व्यंजना, अलंकार, गुण, दोष और दोषों के परिहार-आदि शृंग-उपांगों में निष्णात हो गया। वास्तव में इस ग्रंथत्रयी की निराली विशेषताएँ हैं, जिनके प्रति ब्रजभाषा के रससिक्त कविवर विहारीलाल के शब्दों में कहा जा सकता है :

“देखत में छोटे लगें, घाव करें गंभीर।”^४

अतएव इस रत्नत्रयी के कितने ही छोटे-मोटे संस्करण कितने ही स्थानों से प्रकाशित हुए, फिर भी इनके नये-संस्करणों की चाह बनी हुई है, इससे इसकी विशेष विशेषता के प्रति और क्या कहा जाय। अस्तु कलकत्ते में जब ‘पोद्दार-अभिनन्दन ग्रंथ’ के संपादन-भार से दबा जा रहा था, तब इसके प्रकाशन—संपादन की चर्चा चली और वह यदा-कदा के साथ आगे परिलक्षित होती गई, परिणाम सामने हैं।

ग्रंथ-संपादन-विधि की भी एक छोटी-सी कहानी है। वह उतनी जीर्ण तो नहीं, जितनी कि उसे होना चाहिये, फिर भी पुरानी अवश्य है। संकुचित भी कही जा सकती है, क्योंकि अभी उसने संपन्न रूप धारण नहीं किया है। अतएव हम संपादन-विधि के दो गोत्र—“तदनुकूल अर्थात् ग्रंथ की स्व-भाषा-लेखन-उच्चारण के अनुकूल तथा स्वानुकूल, अर्थात् ग्रंथ-संपादक के देश, जाति-अनुकूल कहे जा सकते हैं। तदनुकूल (ग्रंथकार की भाषा के अनुकूल) संपादित ग्रंथ संस्कृत को छोड़कर अन्य भाषाओं के हमारे देखने में अभी तक नहीं आये, पर स्वानुकूल समाहित ग्रंथ अधिकता से यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। वे अपनी-अपनी भाषा की प्रणाली से—उसके सहज बोधव्य स्वभाव से इतनी दूर जा बसे हैं कि आज वे

१. २. ३. दे०—“हिंदी साहित्य का इतिहास” पृ० रामचंद्र शुक्ल, पृ० २५२, २४४, २७७, संशोधित और परिवर्धित संस्करण सं० २००३ वि०।

४. सतसैया के दोहवा, ज्यों नावक के तीर।

देखत में छोटे लगें, घाव करें गंभीर ॥

अपने वास्तविक रूप में नहीं पहिचाने जा सकते। उदाहरण के लिये तुलसी-शशी (गो० तुलसीदास) कृत महान् ग्रंथ 'राम चरितमानस' के विविध संस्करण और आशु संपादित 'सूरसागर' जो ब्रजभाषा-सूर्य सूरदास की बे-जोड़ कृति है, के नाम लिये जा सकते हैं। यह सूरसागर काशी की स्वनामधन्य संस्था-नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ है और उसके संपादक भी हिंदी के उद्भट विद्वान माने जाते हैं। सच तो यह है कि इस संपादन-क्षेत्र में जो भी विद्वज्जन पधारे वे सब अपने-अपने संपादित ग्रंथों की भाषा के देश, जाति, गुण, शील-संयुक्त नहीं थे—वे दूर के रिस्तेदार थे। अतः भाषा की हानि-लाभ से उन्हें कोई संबंध न था, अस्तु :

‘बोए पेड़ बँमूर के, आम कहाँ ते खाइ ।’

पूर्व में जैसा कहा गया है कि ग्रंथ-संपादन की दो शैलियाँ—तदनुकूल (ग्रंथ-कर्तानुकूल) और स्वानुकूल संज्ञा रूप में कही जा सकती हैं, उसी भाँति लिपि-करण की विधि भी दो प्रकार की देखने में आती हैं। ये विधि भी दो—“प्रथम ‘ग्रंथ-भाषानुज्ञा’ जो अपनी भाषा के मूल उच्चारण ध्वनि के साथ लिपि-करण विधि में भी धुली-मिली रहती है वह, और दूसरी वही स्वानुकूल, जिसे ग्रंथ-लेखक अपनी जाति-देश-संयुक्त भाषा को अनजाने में प्रयोग करता है। इस ग्रंथ-लिपि करण के और भी दो नाम—‘पूर्वी विधि और पश्चिमी विधि देखने सुनने में आते हैं। अतएव पूर्वी ग्रंथ-लेखन-पद्धति जहाँ कवि की भाषा को अपने कुल का परित्याग करा विपरीति कुल से संबंध स्थापित कराती हुई उसे दूसरे-ही दुरुह रूप में ढकेल देती है, वहाँ पश्चिमी पद्धति ग्रंथानुकूल, कवि-अनुकूल और तद्भाषा के सहज उच्चारण माधुर्य से ओतप्रोत कर सुंदर मंजुल प्रभा बिखरेती हुई मंथर गति से चलती है। पूर्वी-पद्धति रूप ग्रंथ-भाषा के विकृत करने का उल्लेख डा० धीरेंद्र वर्मा ने अपने ‘ब्रजभाषा’ नामक ग्रंथ में किया है, यथा :

“स्वर्गीय जगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा संपादित बिहारी सतसई का सटीक संस्करण ‘बिहारी रत्नाकर’ प्राप्त ब्रजभाषा ग्रंथों में एक ऐसी रचना है जो अनेक हस्तलिखित पोथियों को सावधानी से देखकर संपादित की गई है। संपादक ने पाठों में एक रूपता ला दी है, यद्यपि प्राचीन हस्त-लिपियों में यह नहीं मिलती। उदाहरण के लिये उन्होंने समस्त अकारांत संज्ञाओं को उकारांत बना दिया है, यद्यपि ऐसे रूप पोथियों में कहीं कहीं ही मिलते हैं। क्योंकि कुछ ब्रज-परसगों में अनुनासिकता मिलती है, इसलिए उन्होंने समानता खाने के लिए समस्त परसगों को अनुना-

सिक कर दिया है और इस प्रकार हमें सर्वत्र “कौं, सौं, तैं, वै” ही मिलते हैं। मूल पाठ को बनाए रखने के स्थान पर इस प्रकार उन्होंने अपने संस्करण में एक कृत्रिम समानता ला दी है, जो कदाचित् सतसई के मूल रूप में वास्तव में विद्यमान न थी।”^१

स्व० रत्नाकर जी के संपादन-संबंध में कही गई यह टिप्पणी सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि उन्होंने ‘विहारी-रत्नाकर’ में ही नहीं, सूरसागर में भी शब्द, क्रिया और कारकों में कुछ ऐसी कतरव्योत की है, जिसे स्वानुकूल तो कह सकते हैं, ग्रांथानुकूल नहीं। किंतु यहाँ आप (वर्मा जी) ने अपने को और अपने अनुगामी पं० नंददुलारे लाल वाजपेयी (सागर) को भुला दिया है। आप लोगों ने भी अपने-अपने संपादित ब्रजभाषा-ग्रंथों—“अष्टछाप, ब्रजभाषा-व्याकरण, ब्रजभाषा, सूरसागर-सार, रामचरित मानस, सूरसागर और सूर-सुपुमा’ में वही ऊपर कही गयी बात बड़ी विशदता में की है, जिसके लिये आज रत्नाकर जी को बदनाम किया जा रहा है। उदाहरण के लिये पेरिस (फ्रांस) में डाक्टरेट के लिये दिया गया वह निबंध है, जो फ्रेंच में—“ला लांग ब्रज” और हिन्दी में ‘ब्रजभाषा’ नाम का है। हम यहाँ विषयांतर के कारण उक्त ग्रंथ की भूलें जो आदि से अंत तक प्रत्येक पंक्ति में भरी पड़ी हैं, दिखाना नहीं चाहते, अपितु आप-द्वारा उल्लिखित केवल चौबे गनपत खिलंदर के बयान के लिखने की भूलें बतलाना चाहते हैं, जो अकारण उस (चौबे) के सिर थोपी गई हैं। प्रथम पंक्ति यथा :

“एक मथुरा जी चौबे हे जो दिल्ली (दिल्ली) सहैर कौ चले। तो पैले रेल तौ ही नई, पैदल रस्ता ही,” इत्यादि...।

इस पंक्ति में ‘जी’ ‘सहैर कौ’ ‘पैले’ और ‘पैदल’ शब्द चौबे-जाति के अप्रयुक्त—उनकी बोल चाल की भाषा से विपरीत प्रयोग हैं। चौबे—जी के स्थान पर ‘के’, सहैर कौ के स्थान पर ‘सहैर कौं’ पैले के स्थान ‘पैलें’ और पैदल के स्थान पर ‘पैदर’ कहे-बोलेंगा, वर्मा जी द्वारा मान्य नहीं। इस लतीफे में दिये गये दोनों छंद भी अपने से—चतुर्वेद जाति में नित्य प्रति कहने-सुनने से अलग जा पड़े हैं, एक यथा :

“भीजत है तब रोझत है, और धोय धरो सब के मनमानी।
स्वाफी सफाकर, लौंग इलायची घोंट कै तयार करी रसधानी॥
संकर आय बिसंबर नैं जब ब्रम्ह कमंडल के जल छानी।
गंग से ऊँची तरंग उठै, तब हिंदूँ में आबत भंग भवानी॥”

प्रथम, द्वितीय और तृतीय पंक्तियों के 'हाले दिल' की बाबत तो क्या कहें, जो लौंग, बिसंबर और ब्रम्ह के विष को पान कर मर रही हैं, पर चतुर्थ पंक्ति ही संपादन की मार से अधिक कराह कर कह रही है कि श्रीमान् यह वर्माजी से मुझे बचा कर मेरा असली—प्राकृत रूप समझिये-बुझिये जो इस प्रकार है:

“गंग ते ऊँची तरंग उठै, जब अंग में आवत भंग भवानी ॥”

अस्तु, यह स्वानुकूल संपादन रूप ब्रजभाषा ग्रंथ संपादन का प्रथम सोपान है। हर दीवार कोठे और महल ऐसे अनेक उदाहरणों से भरे पड़े हैं, जो यदा-कदा नजर में आकर दिल दुखा जाते हैं।

वास्तव में 'रत्नाकर' जी के विचार ब्रजभाषा शब्दों के उकारांत बनाने के प्रति तो मान्य नहीं कहे जा सकते, किंतु वर्माजी निर्देशित परसर्गों की अनुनासिकता के प्रति केवल 'वै' को छोड़कर जिसका प्रयोग रत्नाकर जी ने भूल से भी नहीं किया है, वे ब्रजभाषा के देश जाति, कुलशील रूप ही कहे जा सकते हैं। यह परसर्गों की अनुनासिक रूप साम्यता लाने की प्रेरणा रत्नाकर जी को पश्चिमी लेख-पद्धति से प्राप्त हुई थी। पूर्वी पद्धति में इनकी स्थिति स्वानुकूल—भाषा-व्याकरण के अनुकूल नहीं थी। वे वहाँ कौं के स्थान पर को, सौं के स्थान सो, तैं के स्थान पर तैं बनने लगे, जिससे अर्थ की दुर्गमता में पड़ वे अपने मूल स्थान से च्युत हो गये। शब्दों की कर्ण-मधुर उच्चारण-विधि को भी इस पूर्वी लेखन पद्धति ने खूब बिगाड़ा। जो राँम, स्याँम, मोँहन, सोँहन शब्द उस (ब्रजभाषा) के अनुकूल थे, वही श्रुति-कटु रूप में—“राम, स्याम, मोहन, सोहन बन स्वभाषा-संस्कार विहीन-से हो गये, यह निर्विवाद है।

ब्रजभाषा के छह रूप देखने में आते हैं। इन छह रूपों में प्रथम—“ग्राम्या और नागरी दो रूप कहे-सुने जाते हैं, अन्य—ब्रजावधी (पूर्व), ब्रजबुंदेली (दक्षिण) जिसे 'ग्वाल्यरी' भी कहा जाने लगा है, ब्रजराजस्थानी, अर्थात् पिंगल (पश्चिम) तथा ब्रजहरयानी (उत्तर) कहे जाते हैं। अन्यरूपा ब्रजभाषा का क्षेत्र काफी विस्तृत है, जिसमें नागरी-रूप से वह अपनी सहोदरा ग्राम्या के साथ दूर-दूर तक खेती, वहाँ विविध भाषा-वसनों से उसने अपने को सजाया है, किंतु जो सहज देव-दुर्लभ रूप उसका :

“वाचः श्री माथुरीणाम् ।”

के निजी परिधान में विकसित हुआ, वह अन्यत्र नहीं। यह उसका स्वाभाविक वसन था, जिसके आवरण में वह बारहवीं शती से लेकर बीसवीं शती तक बड़ी साल-सँभाल के साथ निरंतर सँवारी गयी।

यह ऊपर लिखा विवरण ब्रजभाषा ग्रंथ-लेखन-संपादन-विधि के साथ उसके

शब्द, कारक और क्रियाओं का वह कटु-मधुर इतिहास है जो अभी अपने अंक में विस्तार की आकांक्षा-समोप अर्ध निद्रा में करवट बदल रहा है। विद्वज्जनों को इधर शीघ्र ध्यान देना चाहिये। अस्तु, इन उलफन-भरी समस्याओं के साथ जब “काव्यनिर्णय” संपादन की समस्या को लेकर बैठा तब सर्व प्रथम उसके मुद्रित संस्करणों की ओर ध्यान गया, फलतः :

“पं० नकछेदी तिवारी (अज्ञान-कवि) संपादित और वेंकटेश्वर प्रेस बंबई से प्रकाशित सं० १८८० की प्रति, बा० रामकृष्ण वर्मा द्वारा भारत जीवन प्रेस काशी से प्रकाशित सं०—१८९९ की प्रति^१, पं० महा-वीरप्रसाद मालवीय (वीर कवि) संपादित और वेल्डवीयर प्रेस प्रयाग से प्रकाशित प्रति और किसी अज्ञात-कुलशीलनामा संपादित तथा गुलशन अहमदी प्रेस प्रतापगढ़ (अवध) से प्रकाशित सं०—१८८७ की प्रति...”

के अतिरिक्त वे हस्त-लिखित पुस्तकें, जिनकी जानकारी कुछ निजी और विशेष “काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित” खोज-विवरणों से प्राप्त की गई, जिसका विवरण इस प्रकार है :

“राज्य पुस्तकालय अमेठी (अवध) सं० १९०४ की प्रति^२ ।
२, राज्य पुस्तकालय रामनगर (काशी) सं० १८७१ की प्रति, जिसकी बंध संख्या ३१ वीं है । ३, राज्य पुस्तकालय प्रतापगढ़ की प्रति । ४, राज्य-पुस्तकालय सूर्यपुरा की प्रति । ५, बा० ब्रजबहादुर लाल प्रतापगढ़ (अवध) सं० १८०३ की प्रति । ६, बा० रामबहादुर सिंह प्रतापगढ़ (अवध) सं० १८०३ की प्रति । ७, राज्य पुस्तकालय अयोध्या की प्रति । ८, रा० ललिता बक्स सिंह नीलगँव सुलतापुर (अवध) सं० १९०५ की प्रति । ९, पं० शिवदत्त बाजपेयी, बड़ा मोहनलाल गज, लखनऊ सं० १८०३ की प्रति । १०, ठा० गुरुदेव बक्स सिंह, अहयामड़ा, पो० गुसाईगंज (लखनऊ) की प्रति । ११, पं० कृष्ण विहारी मिश्र सिधौली (सीतापुर-अवध) सं० १८३३ की प्रति । १२, कुँवर नरहरिदत्त सिंह, संडीला, पो० मछरहटा (सीतापुर अवध) सं० १८०६ की प्रति । १३, पं० रामशंकर, खरगपुर (गोंदा) की प्रति । १४, कन्हैया लाल महापात्र, असनी फतेपुर की प्रति ...इत्यादि ।”

१, यह पुस्तक आनरेबुल सर महाराज प्रतापनारायण सिंह बहादुर के० सी० आई० ई० अयोध्या की अनुमति से उनके ही सरस्वती भंडार की प्रति तथा राजा राजेश्वरबली प्रसाद सिंह बहादुर सूर्यपुरा की प्रति के आधार पर छपी है ।

इन प्रतियों में चार ही जैसे—“बा० ब्रजबहादुर लाल और बा० रामबहादुर सिंह प्रतापगढ़, पं० शिवदत्त बाजपेयी मोहनलाल गंज लखनऊ तथा कुँवर हरिदत्त सिंह संडीला की प्रतियाँ ही ऐसी थीं जिनमें कुछ लेखन-साम्यता थी, जो अन्यो में नहीं थी। इनके अतिरिक्त उन मुद्रित संग्रह-ग्रंथों का भी सहारा लेना पड़ा जिनमें दास जी के विविध छंद सुशोभित हैं और जिनके नाम ये हैं :

१. अलंकार मंजरी—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, मथुरा । २. अलंकार-रत्न—बा० ब्रजरत्न दास, बनारस । ३. कविता कौमुदी—रामनरेश त्रिपाठी, प्रयाग । ४. काव्य कानन—राजा चक्रधरसिंह, रायगढ़ । ५. काव्य प्रभाकर—जगन्नाथ प्रसाद भानु बंबई । ६. छंदार्णव पिंगल—भिखारी दास (मु०) । ७. नखसिख संग्रह मथुरा । ८. नखसिख हजारा—परमानंद सुहाने, लखनऊ । ९. नवीन संग्रह—हफीजुल्लाह खाँ, लखनऊ का छपा । १०. भारती भूषण—अर्जुनदास केडिया, बनारस । ११. मनोज मंजरी भाग—१, २, ३, पं० नकछेड़ी तिवारी, काशी की छपी । १२. रसकुसुमाकर—दहुआ साहिब अयोध्या । १३. रसमीमांसा—पं० रामचंद्र शुक्ल, काशी की छपी । १४. शृंगार-निर्णय—भिखारीदास काशी का छपा । १५. शृंगार लतिका—सौरभ-द्विजदेव, अयोध्या स० जवाहरलाल चतुर्वेदी, । १६. शृंगार-संग्रह—सरदार कवि, लखनऊ का छपा । १७. शृंगार सुधारक—पं० मन्ना लाल, काशी का छपा । १८. षट्शत हजारा—परमानंदसुहाने, लखनऊ का छपा । १९. सुंदरी तिलक—भारतेंदु बा० हरिचंद्र, बाँकीपुर पटना का छपा । २०. सुंदरी सर्वस्व—पं० मन्नालाल, काशी का छपा । २१. सूक्ति सरोवर—ला० भगवान दीन, जबलपुर का छपा । २३. हफीजुल्लाह खाँ का हजारा, लखनऊ का छपा ।”

अस्तु, संपादक इन सबका और विशेषकर “सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुन दास केडिया, बा० ब्रजरत्नदास एवं डा० नगेंद्र आदि का अत्यधिक ऋणी है, जिनके सहारे इन महानुभावों की मधुर-तिक्त टीका-टिप्पणी करते हुए भी काव्य-निर्णय जैसे दुस्तर महासागर से पार पा सका । अतएव :

“ते सर्वेतु क्षमायांति.... ।”

ग्रंथ-संपादन के समय कितनी ही ग्रंथ-भाषा संबंधी अड़चनें सामने आ जाती हैं, जो स्वाभाविक हैं । ये अड़चनें—भाषा, शब्दोच्चारण-ध्वनि, क्रिया और कारकों-संबंधी होती हैं । जिसे काव्यनिर्णय की उल्लिखित प्रतियों ने और भी गहन बना दिया था । अतएव दासजी की भाषा के अनुरूप कुछ सिद्धांत स्थिर करने पड़े—उनकी अनुरणन-ध्वनि का सहारा लेना पड़ा । शब्दों, क्रियाओं तथा

कारकों को ब्रजभाषानुकूल बनाना उचित समझा गया । उदाहरण के लिये वही पूर्व-लिखित—“राँम, स्याँम, काँन्ह, धुँनि, पुँनि, आँनन, गँन, सँम,” के बाद कारकों के रूप ‘के, कें, कौ, कों, सों’ आदि-आदि निवेदन किये जा सकते हैं । ये ब्रजभाषा की प्राण कोमल अनुरणन-ध्वनि के साथ-साथ पश्चिमी लेखन पद्धति के अति अनुकूल और स्वानुभूत प्रयोगों से सज्जद हैं । सचमुच यदि ब्रजभाषा के सहज माधुर्य का रसास्वादन किया जा सकता है तो मोहन को मोहँन, सोहन को सोहँन, राम को राँम, स्याम को स्याँम की सानुनासिकता उच्चारण विधि के साथ ही किया जा सकता है, क्योंकि यह अनुरणन-ध्वनि ब्रजभाषा के अनुकूल है, उसकी प्राण है । हम भाषा-प्रणाली के विपरीत आकारांत शब्द घोड़ा को घोड़ौ^१ तथा सीता को सीताँ^२ बनाने के पक्षपाती नहीं, अपितु भाषा के माधुर्य-पूर्ण शब्दोच्चारण के अनुकरण रूप शब्द सुसज्जित करने के पक्ष में हैं ।

श्री दास जी कृत काव्य-निर्णय की पूर्व से लेकर पर तक के सभी इतिहास-कारों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है, फिर भी आपके अग्रगण्य प्रशंसकों में माननीय स्व० श्रीरामचंद्र शुक्ल का नाम लिया जा सकता है^३ और अंतिम प्रशंसक हैं डा० नगेंद्र^४ । फिर भी अभी तक इस धूल भरे हीरे की परख ठीक रूप से नहीं हो सकी है । आलोचना की ज़िलो बहुत कुछ बाकी है, जिसे इस ग्रंथ की ‘भूमिका’ रूप में डा० ‘सत्येंद्र’ ने बड़ी उद्दामता के साथ प्रस्तुत की है, अतः हादिक धन्यवाद... । वास्तव में वे इसके अधिकारी विद्वान हैं, हम जैसे हृधर-उधर से ले भगने वाले नहीं । इसलिये दास जी के प्रति जो भी उन्होंने साधिकार लिखा है, वह उत्तम है, सुंदर है और विद्वज्जनों को अनुकरणीय तथा मननीय है ।

स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा ने ‘बिहारी सतसई’ के भूमिका-भाग में उसका दोष-परिहार^५ लिखते हुए एक ‘शेर’ उद्धृत किया है :

“ऐब भी इसका कोई आखिर करो यारो बर्याँ ।

सुनते-सुनते खूबियाँ जो अपना मतलाने लगा ॥”

बात बहुत कुछ सत्य है । अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना तो सहज है, किंतु ऐब (भूल) बतलाना और वह भी अपना हरे...हरे..., फिर भी इतना तो कहा ही जायगा कि अनेक कवि-कोविदों की विविध सुंदर सूक्तियों के सँजोने में—उन्हें,

१. बिहारी, ले०—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, एम० ए० सं० २००७ वि० का सस्करण, पृ० १७७ । २. रामचरित मानस, (कल्याण का विशेषांक—मानसांक) सं०—नददुलारे वाजपेयी । ३. हिंदी साहित्य का इतिहास—पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० २७७ । ४. हिंदी में रीति-सिद्धांत डा० नगेंद्र, पृ० १५० । ५. बिहारी सतसई भूमिका पृ०—१०५ ।

यत्र-तत्र उद्धृत करने में पुनरुक्ति अवश्य हो गयी है। एक-दो छंद, दो-एक बार आवश्यकता से अधिक तो नहीं, पर उद्धृत अवश्य किये गये हैं। वे वहाँ फिट हैं, उनसे तत्तद् स्थानों की शोभा भी अवश्य बढ़ी है, पर भूल, भूल ही है। इसी प्रकार सांकेति-चिन्हों के बहुली करण के प्रति भी कहा जा सकता है। इनके अतिरिक्त अन्य भूलें विद्वज्जन प्रेक्षणीय और विचारणीय है.....।

अंत में पुनः उन ज्ञाताज्ञात स्वनामधन्य ग्रंथ-प्रणेताओं से क्षमा चाहता हूँ, जिनके उद्धरणों से,—अछूती सरस सूक्तियों से भली-बुरी आलोचना के साथ सँजोया है तथा संपादित ग्रंथ की शोभा में चार चाँद लगाये हैं। अतः इदं :

“पत्र-पुष्पांजलिस्तेन प्रीयंतां सर्वं देवता ।”

मथुरा

दान एकादशी

सं० २०१३

—जवाहरलाल चतुर्वेदी,

“कवि दास की जीवनी और रचनाएँ”

मध्य कालीन ब्रजभाषा-साहित्य के रीति (लक्षण ग्रंथ-नायिका भेद, अलंकारादि) प्रणेताओं में कविवर ‘श्री भिखारीदास’ का स्थान ऊँचा ही नहीं, निराला और सुंदर है, यह निर्विवाद है* । अस्तु आपके जाति, कुल, ग्रामादि का इतिहास जन्तक हिंदी-भाषा के इतिहास ग्रंथों में उल्लिखित अल्प ग्रंथ-नाम-सूची में ही निहित रहा, तब तक वह अंधकार से आवृत्त रहा और ज्यों-ज्यों वह आपकी नयी नयी रचनाओं के साथ खोज और प्राप्ति के बाद प्रकाशन के खुले क्षेत्र में आने लगा त्यों-त्यों आपका जीवन से संनद्ध इतिहास स्वच्छ होकर द्वितीया के चंद्र की भाँति निरंतर प्रकाशवान होता गया । अतएव अब कविवर ‘भिखारीदास’ उपनाम-‘दास’ के जाति, कुल और ग्रामादिका उल्लेख तथ्य रूप से निःसंकोच और वह भी आपके-ही शब्दों में, कहा जा सकता है कि श्री भिखारी दास जी—“जाति के बहीवार वर्ण के कायस्थ, पिता कृपालदास, पितामह वीरभानु प्रपितामह रामदास, भाई चैनलाल, जन्म-स्थान टोंगा (टैंउगा), अरवर प्रदेश के निवासी थे, जो प्रतापगढ़ (अवध) से तनिक दूर है, यथा :

“अभिलाषा करी सदा ऐसन का होय बृत्थ,

सब ठौर दिन सब याही संबा चरचाँन ।

लोभा लई नीचें ग्याँन चलाचल ही कौ असु,

अत है क्रिया पातल निंदा-रस-ही कौ खान ॥

सेनापती देबीके प्रभा गँनती कौ भूप,

पन्ना, मोँती, हीरा, हँम सौदा हास ही कौ जान ।

हीय पर जीब पर बदे जस रटे नाउँ,

खगासन, नगधर, सीतानाथ कौल पाँन ॥”

यह विवरणात्मक छंद (कवित्त) ‘काव्य-निर्णय’ के उन्नीसवें उल्लास में ‘चित्रालंकारों के साथ प्रस्तुत पुस्तक के पृ० ६१६ पर और ‘छंदार्णव’ (पिंगल) के आदि में मिलता है । विवरण चित्रात्मक है, जिसे कठिनता से एक-एक अक्षर क्रमशः बाद देकर दूसरे दूसरे अक्षर पढ़ने से जाना जाता है । इसलिये दासजी ने इस छंद की गूढ़ता-निवारणार्थ—अपने जाति, कुल, ग्राम और पिता-पितामह के नामादि की शीघ्र जानकारी के लिये इसके साथ एक

१, शिवसिंह-सरोज, पृ० ४११ । हस्त-लिखित ‘हिंदी’ पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, श्यामसुंदरदास, पृ० १११ । हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १४५ ।

‘दोहा तिलक (टीका) रूप में और दिया है, जिससे छंद-प्रयुक्त जीवन की इत्तवृत्तरूपी गुत्थी सहज ही खुल जाय—स्फुट हो जाय, वह दोहा इस प्रकार है :

“या कबित्त अंतर बरैन, लै तुकत द्वै छंड ।

दास-नाम, कुल-ग्राम कहि, राम-भगति रस-मड ॥”

इस कुंजी-रूप दोहे से प्रथम जो जीवन वृत्त-ज्ञापक छंद ऊपर दिया गया है, उसमें ‘यरवर’ देशज नाम आया है ! वह देशज संज्ञा ‘अरवर’ का चित्रालंकार के अनुरूप रूपांतर है और कुछ नहीं, फिर भी हिंदी इतिहासकारों को उसने खूब छुकाया है । फलतः किसीने आप (भिवारीदास) को बुंदेलखंडी, किसी ने बघेलखंडी और किसी ने कहीं अज्ञात ग्राम का मान लिया । खैर हुई कि किसी महानुभाव ने इस रूपांतर रूप देशज शब्द ‘अरवर’ के सहारे ‘अरव’ का नहीं मान लिया, यदि मान लेते तो ब्रजभाषा के विस्तार का एक नया विस्तृत पृष्ठ खुल जाता.. । अतएव यह सद्य—जाति-कुल ग्राम की जानकारी होते हुए भी अभी आपका जन्म-समय विवाद-ग्रस्त ही है, जिसे कोई सं० १७५१ वि०-१, कोई सं० १७६० वि०-२ और कोई सं० १७६१ वि०-३ या सं० १७६६ वि० के आस-पास मानते हैं । पिछले, अर्थात् सं० १७६१ तथा १७६६ जन्म-संबन्ध उपयुक्त ज्ञात नहीं होते, कारण सं० १७६१ वि० में आपने “रस-सारांश” की रचना की थी, यथा :

“सत्रह सै इक्याँनमें, नभ सुदि छठ बुधवार ।

अरवर देम प्रतापगढ़, भयौ ग्रंथ औतार ॥”

—रस-सारांश पृ० १३०,

इसी प्रकार आपका द्वितीय जन्म-समय सूचित करने वाला सं० १७६६ वि० भी गलत ठहरता है, चूँकि इस समय (संवत्) में आपने “छंदार्णव” (पिंगल) की रचना की थी, जैसा कि उक्त ग्रंथ की पुष्पिका से ज्ञात होता है, यथा :

“सत्रह सौ निन्याँन मे, मधु बदि नव इक बिंदु ।

‘दास’ कियौ ‘छंदारनौ’ सुमिरि साँमरौ इंदु ॥”

—छंदार्णव (पिंगल) पृ० १२२,

अतएव ये दोनों जन्म-संवत् अप्रामाणिक हैं । हाँ, पूर्व लिखित सं० १७५२ या ६० वि० जन्म-समय के सूत्रक हो सकते हैं, किंतु पक्के प्रमाण के रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता ।

१. मिश्रबधु-विनोद, पृ० ६३२ (द्वितीय भाग) । २. आचार्य भिवारीदास—
ले० डा० नारायणदास खन्ना एम० ए०, पृ० २५, (जीवन-वृत्त) । ३. हस्त लिखित
हिंदी पुस्तकों का सक्षिप्त विवरण, सं०—बा० श्यामसुंदरदास, पृ० १११ ।

दासजी कृत निर्विवाद विशिष्ट ग्रंथ-रचनाएँ इस प्रकार कही जा सकती हैं, वे रचना-क्रम के अनुसार निम्नलिखित हैं :

१. रस-सारांश (१० सं०—१७६१ वि०) । २. नाम प्रकाश—संस्कृत, 'अमरकोश' का अनुवाद (१० सं०—१७६५ वि०) । ३. छंदार्णव पिंगल (१० सं०—१७६६ वि०) । ४. काव्य-निर्णय (१० सं०—१८०७ वि०) । ५. शृंगार-निर्णय (१० सं०—१८०७ वि०) । ६ ।

इनके अतिरिक्त आप (दासजी) कृत "विष्णुपुराण" भाषा और कहा जाता है, जो सं० १७८७ वि० के लगभग रचा गया था तथा नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से सन् १८४८ ई० में छपकर प्रकाशित हुआ था । खोजरिपोर्ट (सं० १६-६-४० काशी नागरी-प्रचारिणी सभा) जो अभी प्रकाशित नहीं हुई है, के अनुसार 'शतरंज शतिका' आप कृत और कही गयी है । यह १० पृष्ठ की है तथा राजा साहिब प्रतापगढ़ (अवध) के सरस्वती-भंडार में सुरक्षित है । तेरिज रस-सारांश और तेरिज काव्य-निर्णय भी आपकी ही रचनाएँ हैं, पर ये पृथक् ग्रंथ नहीं, आप कृत रस-सारांश और काव्य-निर्णय में प्रयुक्त केवल उदाहरण-रहित लक्षणों के संग्रह हैं । ये पुस्तकें भी राजा साहिब प्रतापगढ़ (अवध) के सरस्वती-भंडार में सुरक्षित हैं । उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त नागरी प्रचारिणी सभा काशी की खोज-रिपोर्टों में तथा किन्हीं-किन्हीं हिंदी के इतिहास ग्रंथों में आपकृत निम्नलिखित रचनाएँ और लिखी मिलती हैं, जैसे :

"१. छंद-प्रकाश, २. बाग-बहार, ३. राग-निर्णय, ४. ब्रजमाहात्म्य-चंद्रिका, ५. पंथपारख्या, ६. वर्ण-निर्णय, रघुनाथ नाटक इत्यादि ।"

छंद-प्रकाश का दास-कृत उल्लेख ना० प्र० सं० काशी की 'खोजरिपोर्ट' (सं० १६०३ पृ०—३२) में किया हुआ मिलता है । बाद में इसका उल्लेख मिश्र-ब्रंधुओं ने भी अपने 'विनोद' में, ४ पं० रामचंद्र शुक्ल ने अपने 'हिंदी-साहित्य के इतिहास' में, ५ चतुरसेन शास्त्री ने अपने 'हिंदी भाषा और साहित्य

१. सत्रै सौ पिच्चानमें, अगहन कौ सित पच्छ ।

तेरस, मंगल कों भयौ, 'नाम-प्रकाश' प्रतच्छ ।

२. अट्टारह सौ तीन कौ, संबत आस्विनमास ।

ग्रंथ काव्य-निरनै रच्यौ, बिजै दसमि दिन दास ।

३. संबत बिक्रम भूप कौ, अट्टारह सौ सात ।

मार्घव सुदि तेरस गुरौ, अरबर-थल बिख्यात ।

४. विनोद, पृ०—६३२, (द्वितीय भाग) । ५. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ०—३८५ ।

का इतिहास' में,^१ डा० रसाल ने अपने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में, किया है^२। खोजरिपोर्ट में कहा गया है कि 'इस ग्रंथ के कर्त्ता कवि भिखारी-दास कायस्थ हैं^३। ये काशिराज उदितनारायण सिंह के आश्रित थे..... इत्यादि।' उक्त ग्रंथ जिसकी पृ० सं० ५ है, हमने भी काशिराज के सरस्वती-भंडार में देखा है। अस्तु, पुस्तक के अंत में एक सोरठा दिया गया है, जो इस प्रकार है :

“सुकवि भिखारीदास, कियौ ग्रंथ छंदारनौ।

तिन छंदन-परकास, भौ महाराज-पसंद हित ॥”

इससे ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ भिखारीदास जी के ग्रंथ 'छंदार्णव' (पिंगल) पर किन्हीं अन्य कवि-द्वारा रचित प्रकाश है—टीका है, जो भिखारीदास जी की मृत्यु के बाद, लिखी गयी है।

बाग-बहार का आप-कृत कथन केवल शिवसिंह ने ही अपने 'सरोज' (पृ० ४११) में किया है, अन्य किसी ने नहीं, अतः यह संदेहात्मक रचना है। फिर भी किन्हीं महानुभाव का कहना है कि बाग-बहार भिखारीदास कृत अमरकोश (संस्कृत) के अनुवाद 'नाम-प्रकाश' वा 'अमर-प्रकाश' का ही दूसरा नाम है। राग-निर्णय के प्रति इतना-ही कहा जा सकता है, कि यह दासजी-कृत कृति अल्प (खंडित) रूप में..... ग्राम साहीपुर नौलखा, पो० हड़िया, जिला प्रयाग से मिली है, जिसकी पत्र सं०-१८, तथा छंद सं०—१७५ है।^४ विषय, पुस्तक के नाम से स्पष्ट है। नाम-साम्य भी है, जैसे—“काव्य-निर्णय, शृंगार-निर्णय और राग-निर्णय।” भाषा भी मजी हुई साफसुथरी और सानुप्रास दास जैसी है। एक उदाहरण, जैसे:—

राग-काफी

“परी गरब गहेली हो, तन-जोबन गरब न कीजै।

जैसेँ कुसुँभ-रंग चटकीलौ, छलक-छलक छिन छीजै ॥

ज्यों तरुवर की छाँह मध्य दिन, तैसेँ हीं गुँनि लीजै।

कहत 'दास' पिय के मिलबे बिन, कैसेँ कै जिय जीजै ॥”

फिर भी उक्त ग्रंथ की जत्र तक कोई दूसरी प्रति न मिले तत्र तक दास जी वृत होने में संदेह ही है।

१. हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास, पृ० ३८५। २. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ०—४२०। ३. ह० लि० हिं० प्र० का संचित विवरण (श्याम सुंदर दास) पृ०—१११। ४. अप्रकाशित खोज-रिपोर्ट (प्र०—१९१६ से स०—१९३६) ना० प्र० स० काशी।

ब्रज-माहात्म्य चंद्रिका, छह प्रकाश (अध्याय) में बटा ग्रंथ है। पत्र संख्या— ७३ और संबत् १८०२ वि० का लिखा हुआ है, यथा :

“सिब-मुख* रव* बसु^८ सुधानिधि,^९ संवत्सर आधार ।

कार्तिक कृष्ण चतुर्दसि, ग्रंथ लिख्यौ रविवार ॥”

यह पुस्तक स्व० पं० ‘मयाशंकर’ याज्ञिक अलीगढ़ की विभूति है, जो अब उनके भाईयों—जीवनशंकर और भवानीशंकर की दानशीलता से ना० प्र० स० काशी के ‘आर्य-भाषा पुस्तकालय’ की शोभा बढ़ा रही है।^१ पुस्तक, अलीगढ़ में ही हमारे देखने में आयी थी। स्व० याज्ञिक जी से उक्त पुस्तक के दास-कृत होने में विवाद भी हुआ था, जो आज याद नहीं। उस समय पुस्तक पूर्ण थी और भरतपुर (मथुरा) से उन्हें प्राप्त हुई थी। पुस्तक-रचना साधारणतः अच्छी है, फिर भी उनके ग्रंथ—रस-सारांशादि को देखते हुए कहना होगा कि यह रचना उन जैसी सुष्ठु नहीं है। साथ ही एक बात और, वह यह कि दासजी कृत सभी ‘रस-सारांशादि कृतियों’ में उद्धृत छंदों का बहुत कुछ आपस में विनयम हुआ है। उसके छंद इसमें और इसके छंद उसमें उलटे-पलटे गये हैं। इस पुस्तक में कोई ऐसा विषय देखने में नहीं आया, अतः इसके दास कृत होने में शंका होती है और जी इसे आप-कृत मानने में हिचकता है। यह छंद—विनयम की बात दासजी पर ही लागू नहीं होती, अपितु आप से पूर्व और पर के सभी रीति-काल के आचार्यों के प्रति लागू होती है, जिन्होंने एतत्संबंधी ग्रंथों की रचना की हैं।

दास जी कृत कहा जाने वाला ‘पंथ-पारख्या’ भी स्व० याज्ञिक जी की निधि थी, जो अब उक्त सभा की है। पृष्ठ संख्या छह ६ है।^१ ग्रंथ में दादू-पंथियों के सिद्धांत और नियमों का वर्णन है। पुस्तक खंडित है और दासजी कृत होने में संदेह-प्रद है। कारण पुस्तक की भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव यत्र तत्र स्फुट है, यथा :

“माया, मोह करै सब दूरि, ‘पाँचनै’ इंद्री राषै पुर ।

‘भिन्ना कारण’ हठ न कराई, ‘अण बंझया’ आवै सो खाई ॥

यह उदाहरण मध्य पुस्तक का है, अस्तु, कोमांकित शब्द यह विचार उत्पन्न करते हैं कि “हम दास-प्रयुक्त नहीं हैं.....।

वर्ण-निर्णय अथवा कायस्थ-वर्ण-निर्णय दास जी कृत होने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता, केवल डा० माताप्रसाद गुप्त एम० ए० की पुस्तक ‘हिंदी-पुस्तक साहित्य’ के पृ० ५३६ पर मिलता है। यह सूचना उन्होंने ‘यू० पी० गजट’ २६ मई, स० १९१५ में प्रकाशित तिमाही रिपोर्ट के अनुसार दी है।

उक्त गजट में इसका मुद्रण स्थान—“बी० एल० पावगी हितचिंतक प्रेस बनारस” बतलाया गया है। पुस्तक कहीं देखने में नहीं आयी, अतएव इसका दास जी कृत होने—न होने के प्रति विचार नहीं किया जा सकता।

दास जी की रचनाओं का यह संक्षिप्त लेखा-जोखा है, जिसके प्रति आदि से लेकर अंत तक सभी इतिहास-ग्रंथ लेखकों में (दासजी कृत ग्रंथ-संख्या के लिये) मतभेद रहा है। श्री शिवसिंह सेंगरे से लेकर आधुनिक इतिहासकार चतुरसेन शास्त्री तक ने अपनी-अपनी मनमानी-परजानी की है। यदि इन सब इतिहासकारों के उल्लेखों पर गहरी दृष्टि से विचार किया जाय तो श्री भिखारी दास कृत ग्रंथ संख्या सात ठहरती है और उनका उल्लेख प्रथम में हो चुका है तथा उसकी तारीख ‘प्रताप सोमवंशावली के रचयिता कवि ‘द्विज बल्देव’ ने की है, यथा :

“इनके रचे ग्रंथ ए जो हैं, अंकित हिंदूपति-जस सो हैं।

प्रथम काव्य-निरनै^१ कों जानों, पुनि सिंगार-निरनय^२ तहँ ठाँनों ॥

छंदार्नव^३ अरु बिन्दु पुराना,^४ रस-सारांस^५ ग्रंथ जग-जाना।

अमरकोस^६ अरु सतरंज सतिका,^७ रची लहन हित मोद सुमतिका ॥

नृपति अजीतसिंघ खुजवाई, सचित कियौ अमित सुख पाई।

दासजी का मृत्यु-समय (संवत्) भी अनिश्चित-सा है, फिर भी ब्रज-भाषा-साहित्य से रुचि रखने वाले सज्जन विशेषों का कहना है कि “दासजी को मृत्यु ‘भभुआ’ जिला आरा, मानभूमि विहार में हुई थी। अस्तु, भभुआ में तो नहीं, आरा शहर में आपके नाम से एक मंदिर अब भी है, जहाँ प्रति वर्ष बैशाख शुक्ला त्रयोदशी को मेला लगता है तथा आपकी कविताओं का पाठ भी किया जाता है, किंतु यह सब ज्ञात होते हुए भी आपकी मृत्यु का समय अभी अज्ञात-ही है। यदि आपके ग्रंथ-निर्माण-संवत् को ध्यान में रखते हुए इस संबंध में कुछ कहा जा सकता है तो कहना होगा कि आप (दासजी) की शारीरिक मृत्यु “शृंगार-निर्णय की रचना (सं० १८०७ वि०) के कुछ वर्ष बाद ही हुई होगी, यह अति निश्चय है, ^१ क्योंकि इसके आगे आप-द्वारा रची गई फिर कोई रचना अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। हाँ, साहित्यिक यश:-शरीर अजर-अमर है, यथा :

“जयति ते सुकृति नो रससिद्धाः कवीश्वराः।

नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम् ॥”—भट्टहरि,

सांकेतिक रूप

- अ० म०, अलंकार मंजरी, सेठ कन्हैया लाल पोद्दार, मथुरा ।
- अ० र०, अलंकार रत्न, बा० ब्रजरत्न दास, काशी,
- आ० क० आँख और कविगण, जवाहरलाल चतुर्वेदी मथुरा,
- क० कौ०, कविता कौमुदी, रामनरेश त्रिपाठी प्रयाग, प्रथम भाग,
- का०, काशी, भारतजीवन प्रेम काशी,
- का० का०, काव्यकानन, राजा चक्रधर सिंह, रायपुर,
- का० प्र०, काव्यप्रभाकर, जगन्नाथ प्रसाद भानु, वैकटेश्वर प्रेस बंबई,
- का० सु०, काशी मुद्रित,
- छ०, छंदार्णव पिंगल, भिवारी दास, वैकटेश्वर प्रेम बंबई,
- न० मि० स०, नखसिख संग्रह, मथुरा का छपा.
- न० सि० ह०, नखसिख हजाग, परमानंद मुहाने, नवलकिशोर प्रेस लखनऊ,
- न० सं०, नवीन संग्रह, हफीजुल्लाह ग्वां,
- प्र०, प्रयाग, वेल्डवीयर प्रेम प्रयाग,
- प्र०,—२, साहित्य संमेलन प्रयाग की दूसरी प्रति,
- प्र०,—३, पुरातत्व विभाग प्रयाग की प्रति,
- प्र०,—१. प्रतापगढ़ — राज्य पुस्तकालय,
- प्र०,—२, प्रतापगढ़ — ब्रजब्रह्मादुर लाल की प्रति,
- प्र० भा० ना० भे०, ब्रजभाषा नायिका भेद, प्रभूदयाल, मथुरा,
- भा० जी०, भारत जीवन प्रेम काशी,
- भा० भू०, भारती भूषण, अर्जुन दास केड़िया, काशी,
- म० म० अ० द्वि० क०, तृ० व०, मनोजमंजरी अज्ञान कवि, द्वितीय, तृतीय कलिका, भारत जीवन प्रेम, काशी,
- र० कु०, रस कुसुमाकर, राजा साहित्य अयोध्या,
- र० र०, रहीम रत्नावली, मयाशंकर याज्ञिक, काशी से प्रकाशित,
- र० सा०, रस सारांश, साहित्य संमेलन प्रयाग की प्रति,
- रा० पु० का०, राज्य पुस्तकालय काशी, रामनगर,
- रा० पु० नी०, राज्य पुस्तकालय नीम गाँव—सीतापुर,

रा० पु० प्र०, राज्य पुस्तकालय, प्रतापगढ़,
 वें०, वैकटेश्वर प्रेम वंशई की मुद्रित प्रति,
 व्यं० सं०, व्यंग्यार्थ मंजूषा, ला० भगवानदीन,
 शृ० नि०, शृंगार निर्णय, भिखारी दाम, भारत जीवन प्रेस काशी,
 शृ० ल० सौ०, शृंगार लतिका सौगभ, द्विजदेव, इंडियन प्रेस प्रयाग,
 प० रि० ह०, पट् ऋतु हजारा, पद्मानंद सुहाने, नवल किशोर प्रेम लग्ननऊ,
 सं० पु० प्र०, संमेलन पुस्तकालय प्रयाग,
 सं० भा०, संजीवन भाष्य, (बिहारी सतसई की टीका) पं० पद्ममिह शर्मा,
 सु० ति०, सुंदरी तिलक, भारतेन्दु बा० हरिश्चंद्र संग्रहीत, खड्गविनाम
 प्रेम पटना,

सु० स०, सुंदरी संग्रह, मथुरा का छपा,
 सु० स०, सुंदरी सर्वस्व, पं० मन्नालाल कृत संग्रह, काशी का छपा,
 सु० म० सूक्ति सरोवर, ला० भगवान दीन,
 ह० ह०, हफीजुल्लाह खाँ का हजारा, नवल किशोर प्रेम लग्ननऊ,

विषय-निर्देशिका

१—प्रथम उल्लास :

१—१२,

वंदना (१), ग्रंथ-निर्माण का कारण (२), शुभाशीस, काव्य-प्रयोजन तथा कविता-भेद वर्णन (५) भाषा, रस, अलंकार, गुण, दोषों का स्थान वर्णन (६), भाषा-ब्रजभाषा लक्ष्ण (७) :

२—द्वितीय उल्लास :

१३—५४,

पदार्थ-निर्णय वर्णन (१३), गुण वर्णन, वाच्यार्थ वर्णन, अभिधा-वर्णन (१४), अभिधा-संयोग से, असंयोग से (१५), साहचर्य से, विरोध से, अर्थ-प्रकरण से (१६), प्रसंग-ज्ञान से, चिन्ह (लिंग) से, सामर्थ्य से, औचित्य से, (१७) देश-बल से, काल-भेद से, स्वर-फेर से, अभिनय से वर्णन (१८), लक्षणाशक्ति वर्णन (१९) रूढिलक्षणा लक्षण, उदाहरण (२०), प्रयोजनवती लक्षणा लक्षण तथा भेद (२१), शुद्धा-लक्षणा भेद, उपादान लक्षणा लक्षण, उदाहरण (२२), लक्षण-लक्षणा लक्षण, उदाहरण (२३), सारोपा लक्षणा लक्षण-उदाहरण (२४), साध्य-वसाना लक्षणा लक्षण, उदाहरण (२५), गौणी लक्षणा-लक्षण तथा भेद, सारोपा गौणी लक्षणा लक्षण, उदाहरण, साध्यवसाना गौणी लक्षणा लक्षण, उदाहरण (२६), व्यंजना वर्णन (२७), अभिधा मूलक व्यंग्य वर्णन, लक्षण-उदाहरण (२८), लक्षणामूलक व्यंग्य लक्षण-भेद, गूढ व्यंग्यमूलक लक्षणा-उदाहरण (३०), अगूढ व्यंग्यमूलक लक्षणा का उदाहरण (३२), व्यंजक (व्यंजना) वर्णन (३३), व्यक्ति-विशेष (वक्ता की दशा से) व्यंजना का उदाहरण (३४), बोधव्य व्यंग्य विशेष (बोधव्य की दशा से) व्यंजना का उदाहरण (३५), काकु विशेष से व्यंग्य (व्यंजना का) उदाहरण (३६), वाक्य-विशेष से व्यंग्य (व्यंजना) का उदाहरण (३८), वाच्य-विशेष से व्यंग्य (व्यंजना) का उदाहरण (४१), अन्य सान्निध्य से व्यंग्य (व्यंजना) का उदाहरण (४२), प्रस्ताव-विशेष से व्यंग्य (व्यंजना) का उदाहरण (४४) देश-विशेष से व्यंग्य (व्यंजना) का उदाहरण (४५), काल-विशेष से व्यंग्य (व्यंजना) का उदाहरण, चेष्टा-विशेष से व्यंग्य (व्यंजना) का उदाहरण (४६), मिश्रित-विशेष से व्यंग्य (व्यंजना) का उदाहरण (४८), व्यंग्य से व्यंग्य का उदाहरण (४९), लक्षणा मूलक व्यंग्य का उदाहरण (५०), व्यंग्य से व्यंग्यार्थ का उदाहरण (५२) :

३—तृतीय उल्लास :

५५—६६,

अलंकार-मूल कथन, उपमालंकार, अनन्वय वर्णन (५५), प्रतीपालंकार वर्णन, पाँचौ प्रतीप के उदाहरणों का वर्णन, अर्थान्तरन्यास-अलंकार वर्णन, निदर्शना का वर्णन (५६), तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, अपन्हुति, स्मरण, भ्रम, संदेह, व्यतिरेकादि अलंकारों का वर्णन (५७), रूपक, उदात्त, अन्योन्यादि अलंकार वर्णन, व्याजस्तुति वर्णन (५८), पर्यायोक्ति, आक्षेप, विरुद्ध, अविरुद्ध, विभावना, विशेषोक्ति, तद्गुण-अलंकार वर्णन (५९), मीलित, उन्मीलित, सम, भाविक, समाधि, सहोक्ति, विनोक्ति वर्णन (६०), परिवृत्त, सूक्ष्म, परिकर, स्वभावोक्ति, काव्यलिङ्ग, परिसंख्या अलंकार वर्णन (६१), प्रश्नोत्तर, यथासंख्य, एकावली, पर्याय वर्णन (६२), संसृष्ट अलंकार लक्षण-उदाहरण वर्णन (६३), संकर, संकर-भेद अंगों की संकर-उदाहरण, सम प्रधान संकर उदाहरण (६४), संदेहालंकार-उदाहरण वर्णन (६५) :

४—चतुर्थ उल्लास :

६७—१००,

रसंग वर्णन (६७); शृंगार रस और उसकी पूर्णता का वर्णन, हास्य रस वर्णन (६८), करुणा और वीर रस वर्णन (७१), रौद्र रस वर्णन, रसोत्पत्ति कथन, स्थायी विभाव, अनुभाव वर्णन (७२), व्यभिचारी भाव वर्णन (७३), पुनः शृंगार रस वर्णन, (७४), स्थायीभाव उदाहरण वर्णन (७५), विभाव उदाहरण वर्णन (७६), अनुभाव वर्णन (७७), व्यभिचारी भाव वर्णन (७८), शृंगार रस वर्णन, शृंगार रस-संयोग-वियोग वर्णन (७९), संयोग शृंगार वर्णन (८०), अभिलाषा हेतुक वियोग-उदाहरण वर्णन (८१), प्रवास हेतुक वियोग शृंगार वर्णन (८२), विरह हेतुक वियोग शृंगार वर्णन (८३), असूया (ईर्ष्या) हेतुक वियोग शृंगार वर्णन (८४), शाप हेतुक वियोग शृंगार वर्णन, बाल-विषय रति-भाव वर्णन, मुनि-विषय रति भाव वर्णन, हास्य रस वर्णन (८५), करुण रस वर्णन (८७), वीर रस वर्णन (८८), भयानक रस वर्णन (९०), बीभत्स रस वर्णन (९१), अद्भुत रस वर्णन (९२), व्यभिचारी संख्या वर्णन (९३), शांत रस वर्णन (९४), शांत रस उदाहरण वर्णन (९५), भाव-भासादि वर्णन, भाव-उदय-संधि वर्णन (९६), भावोदय उदाहरण, भाव-संधि उदाहरण वर्णन (९७), भाव सञ्जला उदाहरण वर्णन (९८), भाव-शांति, भावाभास, रसाभास उदाहरण वर्णन (९९) :

५—पंचम उल्लास :

१०१—११२,

रस—अपरांग वर्णन, रसावंतालंकार वर्णन, शांत-रसावंतालंकार वर्णन (१०१), अद्भुत-रसावंतालंकार वर्णन (१०२), भयानक-रसवंतालंकार वर्णन, प्रेयालंकार वर्णन, उदाहरण वर्णन, (१०३), ऊर्जस्वी अलंकार वर्णन, उदाहरण वर्णन (१०६), समाहितालंकार वर्णन, उदाहरण वर्णन (१०८), भाव संधिवत अलंकार वर्णन—उदाहरण वर्णन, भावोदय-वत्-अलंकार वर्णन (१०९), उदाहरण वर्णन, भाव स्रवण-अलंकार वर्णन उदाहरण वर्णन (११०) :

६—षष्ठ उल्लास :

११३—१४५,

ध्वनि वर्णन (११३), उदाहरण वर्णन (११४), ध्वनि-भेद वर्णन, अवि-वक्षित वाच्यध्वनि लक्षण और भेद वर्णन । (११५) अर्थांतर संक्रमित-ध्वनि लक्षण और उदाहरण वर्णन, अत्यंततिरस्कृतवाच्यध्वनि वर्णन (११६), उदाहरण (११७), विवक्षितवाच्य ध्वनि वर्णन, असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य वर्णन (११८), शब्दशक्ति ध्वनि वर्णन, भेद वर्णन, वस्तु से वस्तु व्यंग्य का लक्षण, उदाहरण, वस्तु से अलंकार व्यंग्य वर्णन (१२०) उदाहरण वर्णन (१२१), अर्थ शक्ति लक्षण वर्णन (१२२), स्वतः संभवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य वर्णन (१२४), स्वतः संभवीवस्तु से अलंकार व्यंग्य वर्णन, स्वतः संभवी अलंकार से वस्तु व्यंग्य वर्णन (१२५), स्वतः संभवी अलंकार से अलंकार व्यंग्य वर्णन (१२६), प्रौढोक्ति-वस्तु से वस्तु व्यंग्य वर्णन, उदाहरण वर्णन (१२७), कवि प्रौढोक्ति वस्तु से वस्तु से अलंकार व्यंग्य वर्णन (१२८), प्रौढोक्तिकर अलंकार से वस्तु व्यंग्य वर्णन (१२९), प्रौढोक्तिकर अलंकार से अलंकार व्यंग्य वर्णन (१३०), शब्दार्थ शक्ति वर्णन (१३२), अर्थांतर संक्रामित वाच्यप्रद पद-प्रकाश ध्वनि वर्णन (१३३), अत्यंत तिरस्कृत वाच्य-प्रद पद-प्रकाश ध्वनि वर्णन, असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य-रस उदाहरण वर्णन (१३४), शक्ति से वस्तु व्यंग्य वर्णन (१३५), शब्दशक्ति से अलंकार व्यंग्य वर्णन, स्वतः संभवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य, स्वतः संभवी अलंकार से वस्तु व्यंग्य वर्णन (१३६), स्वतः संभवी अलंकार से अलंकार व्यंग्य वर्णन (१३७), कवि प्रौढोक्ति वस्तु से वस्तु व्यंग्य, कवि प्रौढोक्ति वस्तु से अलंकार व्यंग्य वर्णन (१३८), कवि प्रौढोक्ति अलंकार से अलंकार व्यंग्य वर्णन (१३९), पुनः कवि प्रौढोक्ति अलंकार से अलंकार व्यंग्य, प्रसंग-ध्वनि वर्णन (१४०), उदाहरण वर्णन, स्वयं-लक्षित व्यंग्य वर्णन (१४१), स्वयंलक्षित शब्द से ध्वनि, स्वयं लक्षित

वाक्य से ध्वनि का वर्णन (१४२), स्वयंलक्षित पद-गत ध्वनि वर्णन (१४३), पुनः पद-गत ध्वनि वर्णन, ध्वनि-संख्या वर्णन (१४४) :

७—सप्तम उल्लास :

१४६—१५७

गुणीभूत व्यंग्य लक्षण और उसके भेद वर्णन (१४६), अगूढ व्यंग्य-लक्षण, उदाहरण वर्णन, अत्यंत तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि उदाहरण वर्णन (१४७), द्वितीय अपरांग व्यंग्य वर्णन, (१४८), उदाहरण वर्णन, तृतीय तुल्य प्रधान व्यंग्य और उदाहरण वर्णन (१४९), पुनः उदाहरण वर्णन, चतुर्थ अस्फुट व्यंग्य वर्णन, उदाहरण वर्णन (१५०), पंचम काकुक्षित व्यंग्य वर्णन (१५१), उदाहरण वर्णन, षष्ठ वाच्य-सिद्धांग व्यंग्य और उदाहरण वर्णन (१५२), द्वितीय भेद पर वाच्य व्यंग्य लक्षण—उदाहरण वर्णन (१५३), सप्तम सदिग्ध व्यंग्य वर्णन, उदाहरण वर्णन, असुंदर व्यंग्य लक्षण-उदाहरण वर्णन (१५४), अवर-काव्य वर्णन (१५५), काव्य-भेद वर्णन, वाच्य चित्र और अर्थ चित्र वर्णन (१५६) :

८—अष्टम उल्लास :

१५८—२००

उपमादि अलंकार वर्णन (१५८), उपमा-लक्षण वर्णन (१६०), प्रथम आर्थी-उपमा लक्षण और उदाहरण वर्णन (१६१), मालोपमा वर्णन (१६२), अनेक की एक से मालोपमा का वर्णन, एक की अनेक से मालोपमा का वर्णन, भिन्न धर्म की मालोपमा, एक धर्म की मालोपमा, (१६३), अनेक की अनेक से मालोपमा का वर्णन (१६४); लुप्तोपमा लक्षण, प्रथम धर्म-लुप्तोपमा वर्णन (१६५), उपमान-लुप्तोपमा, वाचक-लुप्तोपमा, उपमेय-लुप्तोपमा, वाचक-धर्मलुप्तोपमा (१६६), वाचक-उपमान-लुप्तोपमा, उपमेय-धर्म लुप्तोपमा, उपमेय-वाचक और धर्म लुप्तोपमा उदाहरण वर्णन (१६७), अनन्वय और उपमेयोपमा लक्षण वर्णन (१६८), अनन्वय उदाहरण, प्रतीप लक्षण वर्णन (१७०), प्रथम प्रतीप उदाहरण वर्णन (१७१), द्वितीय प्रतीप अनादर वर्णन का उदाहरण (१७२), अन्य प्रतीप वर्णन, द्वितीय प्रतीप उपमान के अनादर से प्रतीप का वर्णन, उदाहरण वर्णन (१७३), चतुर्थ प्रतीप उदाहरण वर्णन, पंचम प्रतीप लक्षण-उदाहरण वर्णन (१७४), श्रौती-उपमा लक्षण (१७५), उदाहरण वर्णन, श्रौती-मालोपमा धर्म से (१७६), श्लेष से उदाहरण (१७७), दृष्टांत-अलंकार लक्षण वर्णन, भेद वर्णन (१७८), साधर्म दृष्टांत का उदाहरण (१८०), साधारण दृष्टांत की माला, वैधर्म दृष्टांत का वर्णन (१८१), अर्थांतरन्यास लक्षण वर्णन (१८२), अर्थांतरन्यास—साधर्म

सामान्य की दृढ़ता से उदाहरण (१८३), साधर्म की माला वर्णन, वैधर्म की माला का वर्णन (१८४), साधर्म विशेष की दृढ़ता सामान्य से, वैधर्म विशेष की दृढ़ता सामान्य से वर्णन, विरुद्ध अलंकार वर्णन (१८५), उदाहरण वर्णन, निदर्शनालंकार लक्षण (१८६), प्रथम निदर्शना का उदाहरण—सत वाक्य की एकता से, वाक्यार्थ असत की एकता से, वाक्यार्थ सत-असत की एकता से निदर्शना का उदाहरण (१८६), पदार्थ की एकता से—उदाहरण (१८७), एक क्रिया की दूसरी क्रिया से एकता वर्णन (१८८), तुल्ययोगिता-अलंकार लक्षण (१८९), तुल्ययोगिता—यम वस्तुओं के एक वार धर्म का उदाहरण (१९०), द्वितीय तुल्ययोगिता—हिताहित के सम फल से उदाहरण (१९१), तृतीय तुल्ययोगिता—को मुख्य कहने से का उदाहरण (१९२), प्रतिवस्तुयमा लक्षण वर्णन, (१९३), उदाहरण वर्णन (१९४) :

६—तचम उल्लास :

२०१—२३४,

उत्प्रेक्षादि अलंकार वर्णन (२०१), वस्तुप्रेक्षा-भेद वर्णन, उक्त विषया वस्तुप्रेक्षा उदाहरण वर्णन (२०२), अनुक्त विषया वस्तुप्रेक्षा उदाहरण (२०५), हेतूप्रेक्षा लक्षण, सिद्ध विषया हेतूप्रेक्षा उदाहरण वर्णन (२०७), असिद्ध विषया हेतूप्रेक्षा उदाहरण (२०८), सिद्ध विषया फलोत्प्रेक्षा उदाहरण (२१०), असिद्ध विषया फलोत्प्रेक्षा उदाहरण (२१२), लुप्तोत्प्रेक्षा वर्णन (२१३), उत्प्रेक्षा माला वर्णन (२१४), अपन्हुति अलंकार वर्णन, अपन्हुति के छह भेद वर्णन (२१६), प्रथम शुद्ध अपन्हुति उदाहरण (२१८), हेत्वापन्हुति उदाहरण (२१९), पर्य-स्तापापन्हुति उदाहरण, भ्रांत्वापन्हुति उदाहरण (२२०), छेकापन्हुति उदाहरण (२२३), कैतापन्हुति उदाहरण, (२२४), अपन्हुति की संसृष्टि, स्मरण, भ्रम और संदेह-अलंकार वर्णन (२२५), स्मरण (सुमरन) अलंकार लक्षण-उदाहरण वर्णन (२३०), भ्रमालंकार उदाहरण (२३१), संदेहा लंकार उदाहरण वर्णन (२३३) :

१०—दशम उल्लास :

२३५—२६६,

व्यतिरेक रूपकादि अलंकार वर्णन, व्यतिरेक लक्षण (२३५), प्रथम व्यतिरेक-भेद वर्णन (२३८), व्यतिरेक दूषण-पोषण रूप दोनों का वर्णन, केवल पोषण-रूप का वर्णन, केवल दूषण रूप का वर्णन (२३९), व्यतिरेक शब्द-शक्ति से वर्णन (२४०), व्यतिरेक व्यंग्यार्थ से वर्णन, रूपक वर्णन (२४२), प्रथम तद्रूप रूपक अधिकोक्ति वर्णन, तद्रूप रूपक

हीनोक्ति का वर्णन (२४४), तद् रूप रूपक समासोक्ति से वर्णन, अमेद रूपक अधिकोक्ति से वर्णन (२४५), रूपक-अन्य भेद वर्णन (२४८), निरंग-रूपक उदाहरण, परंपरित रूपक लक्षण वर्णन (२४९), उदाहरण वर्णन, परंपरित रूपक की माला-उदाहरण (२५०), पुनः उदाहरण भिन्न पद से (२५१), माला रूपक उदाहरण (२५२), परिणाम रूपक लक्षण (२५४), उदाहरण वर्णन, समस्त विषय रूपक लक्षण (२५६), उपमा वाचक रूपक उदाहरण (२५७), उत्प्रेक्षा वाचक रूपक उदाहरण, अपन्हुति वाचक रूपक उदाहरण वर्णन (२६०), रूपक-रूपक उदाहरण (२६१), समस्त विषयक परिणाम रूपक उदाहरण, उल्लेपालंकार लक्षण वर्णन (२६२), उल्लेपालंकार उदाहरण एक में बहुतों का बोध होने पर (२६४), एक में बहु गुणों के होने का उदाहरण (२६५) :

११—ग्यारहवाँ उल्लास :

२६७ — २६६,

अतिशयोक्ति-आदि अलंकार तथा अतिशयोक्ति-भेद वर्णन (२६७), प्रथम भेदकातिशयोक्ति लक्षण वर्णन (२६८), उदाहरण वर्णन (२७०), द्वितीय संवधातिशयोक्ति लक्षण वर्णन, प्रथम योग्यायोग्य रूप में संवधा-तिशयोक्ति की कल्पना का उदाहरण (२७२), द्वितीय अयोग्य से योग्य की कल्पना रूप संवधातिशयोक्ति वर्णन (२७४), तृतीय चपलातिशयोक्ति लक्षण, उदाहरण वर्णन (२७६), चतुर्थ अक्रमातिशयोक्ति लक्षण-उदाहरण वर्णन (२७९), पंचम अत्युक्ति लक्षण-उदाहरण वर्णन (२८०), अत्यंततिशयोक्ति लक्षण (२८१), उदाहरण वर्णन (२८२), अतिशयोक्ति के अन्य भेद वर्णन, प्रथम संभावनातिशयोक्ति उदाहरण वर्णन (२८३), उपमा-अतिशयोक्ति लक्षण-उदाहरण वर्णन (२८४), सापेक्षवातिशयोक्ति लक्षण वर्णन (२८५), उदाहरण वर्णन (२८६), रूपकातिशयोक्ति लक्षण वर्णन (२८७), उदाहरण वर्णन (२८८), उत्प्रेक्षा में अतिशयोक्ति का वर्णन (२८९), उदात्त-अलंकार लक्षण (२९०), प्रथम उदात्त उदाहरण वर्णन, द्वितीय उदात्त—बड़ों के उपलक्षण में कथन (२९१), अधिक-अलंकार लक्षण-उदाहरण वर्णन, द्वितीय उदाहरण वर्णन—आधेय से आधार को अधिकता में (२९२), अल्पालंकार वर्णन (२९३), उदाहरण वर्णन (२९४), दूसरा उदाहरण विशेष का—एक ही से बहु की सिद्धता में.....(२९६) :

१२. बारहवाँ उल्लास :

२९७ — ३२४,

अन्योक्त्यादि अलंकार वर्णन, अन्योक्ति-अंतर्गत अप्रस्तुत-प्रशंसा

वर्णन (२६७), प्रथम प्रस्तुत-अप्रस्तुत वर्णन, अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति लक्षित प्रस्तुतांकुर वर्णन (२६६), व्याजस्तुति लक्षण, अप्रस्तुतप्रशंसा-वर्णन का प्रथम भेद—कार्य-मिस कारण का उदाहरण (३००), अप्रस्तुत-प्रशंसा का द्वितीय भेद कारण-मुख कार्य कथन, तृतीय भेद सामान्य मुख विशेष उदाहरण (३०२), विशेष मुख सामान्य का उदाहरण (३०३), तुल्यप्रस्ताव में तुल्य का उदाहरण (३०४), शब्द शक्ति से अप्रस्तुता-प्रशंसा का उदाहरण, प्रस्तुतांकुर रूप कार्य-कारण दोनों अप्रस्तुतों का उदाहरण (३०५), समासोक्ति लक्षण वर्णन (३०६), प्रथम समासोक्ति उदाहरण (३११), श्लेष से समासोक्ति का दूसरा उदाहरण (३१२), व्याजस्तुति लक्षण (३१३), व्याजस्तुति-भेद वर्णन (३१४), व्याजस्तुति, स्तुति-व्याज निदा का उदाहरण, स्तुति-व्याज स्तुति का उदाहरण-निदा-व्याज निदा का उदाहरण (३१५), व्याजस्तुति और अप्रस्तुत-प्रशंसा का संमिलित उदाहरण (३१६), आक्षेपालंकार वर्णन,—भेद वर्णन (३१७), प्रथम आक्षेप आयुष के व्याज से वरजना उदाहरण (३२०), द्वितीय आक्षेप रूप निषेधाभास का उदाहरण, तृतीय आक्षेप रूप—निज कथन के दूषण-भूषण का उदाहरण (३२१), पर्यायोक्ति-वर्णन (३२२), प्रथम रचना से वेणशब्दार्थानुरूप प्रकार का उदाहरण, दूसरा उदाहरण—व्याज से कार्य-साधन का (३२३) :

१३. तेरहवाँ उल्लास :

३२५—३५६,

विरुद्धालंकारादि वर्णन (३२५), प्रथम विरुद्धालंकार वर्णन,—भेद वर्णन (३२६), जाति-जाति से विरुद्धालंकार वर्णन, जाति से क्रिया रूप विरुद्धालंकार वर्णन, (३२७), तृतीय जाति से द्रव्य रूप विरुद्धालंकार वर्णन, चतुर्थ गुण से गुण विरुद्धालंकार वर्णन, पंचम—क्रिया से क्रिया रूप विरुद्धालंकार वर्णन (३२८), छठवाँ गुण से क्रिया रूप विरुद्धालंकार वर्णन, सप्तम—गुण से द्रव्य में विरुद्धालंकार वर्णन, अष्टम क्रिया से द्रव्य रूप विरुद्धालंकार वर्णन, नवम द्रव्य से द्रव्य रूप विरुद्धालंकार वर्णन, विरुद्धालंकार की संसृष्टि-उदाहरण—(३२९), विभावनालंकार वर्णन (३३३), विभावना-भेद वर्णन (३३३), प्रथम विभावना—कारण बिना कार्य कथन का उदाहरण, द्वितीय विभावना अल्प—अल्प कारण से विशेष कार्य होने का उदाहरण, तृतीय विभावना—कारण से रोकने पर भी कार्य होने का उदाहरण (३३४), चतुर्थ विभावना—अकारण वस्तु से कारण के होने का उदाहरण (३३५), पाँचवीं

विभावना—कुछ कारण से कुछ कार्य होने का उदाहरण, छठवीं विभावना—कार्य से कारण होने का उदाहरण (३३६), व्याघात अलंकार-वर्णन (३३८), प्रथम व्याघातरूप कार्य का अन्यथा होने का उदाहरण, द्वितीय व्याघातरूप किसी को विरुद्ध-ही शुद्ध का उदाहरण (३४०), विशेषोक्ति लक्षणा वर्णन (३४१), विशेषोक्ति उदाहरण वर्णन, असंगति अलंकार वर्णन (३४४), प्रथम-कार्य कारण विभिन्न स्थल रूप असंगति का उदाहरण (३४५), द्वितीय अन्य स्थल की क्रिया अन्य स्थल में होने के रूप में असंगति का वर्णन (३४७), तृतीय असंगति अन्य कार्यारंभ से अन्य कार्य होने का उदाहरण (३४९), विपमालंकार वर्णन (३५१), प्रथम विपम रूप अनमिल बातों का उदाहरण (३५३), द्वितीय विपम—कारण-कार्य विभिन्न का उदाहरण, तृतीय विपम—कर्त्ता को क्रिया फल न मिलने का उदाहरण वर्णन (३५४) :

१४—चौदहवाँ उल्लास :

३५७—३८४,

उल्लास—अलंकार वर्णन (३५७), उल्लासालंकार वर्णन (३५८), प्रथम उल्लास—गुण से गुण का उदाहरण (३५९), द्वितीय उल्लास—और के गुण से और को दोष का उदाहरण, तृतीय उल्लास—और के दोष से और को गुण होने का उदाहरण (३६०), चतुर्थ उल्लास—और के दोष से और के दोष होने का उदाहरण, संकर उल्लास लक्षण—उदाहरण, अवज्ञालंकार लक्षण (३६१), अवज्ञालंकार उदाहरण, द्वितीय अवज्ञारूप और के दोष से और को दोष-उदाहरण (३६२) तृतीय अवज्ञारूप दोष के न होने का उदाहरण, अनुज्ञालंकार (३६३), दूसरा उदाहरण (३६४), लेशालंकार वर्णन, प्रथम लेश का उदाहरण (३६५), द्वितीय लेश—गुण से दोष होने का उदाहरण (३६६), विचित्रालंकार लक्षण—उदाहरण (३६७), तद्गुण अलंकार लक्षण (३६८), उदाहरण वर्णन (३६९), स्वगुण उदाहरण वर्णन, अतद्गुण अलंकार लक्षण (३७०), उदाहरण वर्णन, पूर्वरूप-अलंकार लक्षण—उदाहरण वर्णन (३७४), अनुगुण अलंकार लक्षण, द्वितीय अनुगुण उदाहरण (३७६), मीलित और सामान्यालंकार लक्षण (३७७), मीलित अलंकार उदाहरण (३७९), पुनः मीलित उदाहरण, सामान्य उदाहरण वर्णन (३८०), उन्मीलित और विशेषालंकार लक्षण (३८१), उन्मीलित उदाहरण वर्णन (३८२) :

१५—पंद्रहवाँ उल्लास :

३८५—४३०,

समादिलंकार वर्णन (३८५), सम-अलंकार लक्षण (३८६), प्रथम सम

यथायोग्य का उदाहरण (३८८), सम का पुनः उदाहरण, द्वितीय सम-कार्य-योग्य कार्य कथन का उदाहरण (३८९), तृतीय सम उद्यम कर पाने में उत्तम का उदाहरण, पुनः उदाहरण, समाधि-अलंकार लक्षणा वर्णन (३९०), समाधि-उदाहरण, परिवृत्त अलंकार लक्षणा (३९२), परिवृत्त उदाहरण (३९४), भाविक अलंकार लक्षणा (३९५), भाविक भूत काल का उदाहरण, द्वितीय भविष्य काल का उदाहरण (३९७), प्रहर्षण-अलंकार लक्षणा (३९८), उदाहरण वर्णन (४००), द्वितीय प्रहर्षण उदाहरण, तृतीय प्रहर्षण उदाहरण (४०२), विपादन अलंकार लक्षणा, उदाहरण वर्णन (४०३), दूसरा उदाहरण (४०४), संभव-असंभव अलंकार लक्षणा (४०७), असंभव उदाहरण, संभव-संभावना उदाहरण (४०८), संभव दूसरा उदाहरण (४०९), समुच्चय अलंकार लक्षणा (४१०), प्रथम समुच्चय उदाहरण, द्वितीय समुच्चय उदाहरण (४१२), तृतीय समुच्चय उदाहरण (४१३), अन्योन्यालंकार लक्षणा (४१४), अन्योन्य के दूसरे-दूसरे उदाहरण (४१५), विकल्प अलंकार लक्षणा (४१७), विकल्प उदाहरण (४१८), सहोक्ति, विनोक्ति और प्रतिषेध अलंकार लक्षणा (४१९), सहोक्ति उदाहरण, विनोक्ति उदाहरण (४२३), प्रतिषेध उदाहरण (४२५), विधि अलंकार लक्षणा (४२६), विधि उदाहरण, काव्यार्थापत्ति अलंकार लक्षणा (४२७), काव्यार्थापत्ति उदाहरण (४२९) :

१६—सोलहवाँ उल्लास :

४३१—४५६,

सूक्ष्मादिलंकार वर्णन (४३१), सूक्ष्मालंकार लक्षणा (४३२), उदाहरण (४३३), पिहित-अलंकार लक्षणा (४३४), उदाहरण (४३५) युक्ति अलंकार लक्षणा-उदाहरण (४३६), गूढोत्तर अलंकार लक्षणा—उदाहरण (४३८), गूढोक्ति अलंकार लक्षणा (४३९), उदाहरण (४४०), मिथ्या-ध्वनसाय अलंकार लक्षणा (४४२), उदाहरण (४४३), ललित अलंकार लक्षणा (४४४), उदाहरण (४४५), विवृतोक्ति अलंकार लक्षणा (४४६), उदाहरण (४४७), व्याजोक्ति लक्षणा (४४८), उदाहरण (४५०), दूसरा उदाहरण (४५१), परिकर-अलंकार लक्षणा (४५२), उदाहरण (४५४), परिकरांकुर अलंकार लक्षणा-उदाहरण (४५५) :

१७—सत्रहवाँ उल्लास :

४५७—४६४,

स्वभावोक्ति-आदि अलंकार वर्णन (४५७), स्वभावोक्ति लक्षणा (४५८), प्रथम स्वभावोक्ति-जाति वर्णन का उदाहरण, द्वितीय स्वभावोक्ति-स्वभाव

वर्णन का उदाहरण (४६०), हेतु अलंकार (४६२), प्रथम हेतु-उदाहरण (४६३), द्वितीय हेतु कार्य-कारण एक उदाहरण, प्रमाणालंकार लक्षण (४६४), प्रथम प्रमाण—प्रत्यक्ष का उदाहरण (४६७), द्वितीय प्रमाण अनुमान उदाहरण (४६६), तृतीय प्रमाण—उपमान उदाहरण, चतुर्थ प्रमाण—शब्द उदाहरण (४७०), श्रुति-पुराणोक्ति प्रमाण उदाहरण, लोकोक्ति प्रमाण उदाहरण, पंचम प्रमाण—आप्ततुष्टि उदाहरण (४७१), षष्ठ प्रमाण—अनुपलब्धि उदाहरण, सप्तम प्रमाण—संभव का उदाहरण (४७२), अष्टम प्रमाण—अर्थोपपत्ति उदाहरण, अर्थोपपत्ति—वचन प्रमाण—उदाहरण (४७३), काव्यलिंग अलंकार लक्षण (४७४), काव्यलिंग—उदाहरण, पुनः उदाहरण (४७६), पुनः उदाहरण (४७७), निरुक्ति अलंकार लक्षण—उदाहरण (४७८), पुनः उदाहरण (४७९), लोकोक्ति, छेकोक्ति अलंकार लक्षण (४८१), लोकोक्ति उदाहरण (४८२), छेकोक्ति उदाहरण (४८३), प्रत्यनीक अलंकार वर्णन (४८४), उदाहरण (४८६), दूतरा उदाहरण—मित्र-पक्ष, परिसंख्यालंकार लक्षण (४८७), प्रथम परिसंख्या—प्रश्न-पूर्वक उदाहरण, द्वितीय परिसंख्या—प्रश्न-अप्रश्न उदाहरण (४८०), प्रश्नोत्तर-अलंकार लक्षण (४८२), उदाहरण (४८३) :

१८—अठारहवाँ उल्लास :

४८५—५२६,

दीपकादि अलंकार वर्णन (४८५), प्रथम यथासंख्यालंकार लक्षण (४८६), उदाहरण (४८८), एकावली-अलंकार लक्षण (४८९), उदाहरण (५०१), कारणमाला लक्षण (५०२), उदाहरण (५०३), उत्तरोत्तर अलंकार लक्षण (५०४), प्रथम उदाहरण, द्वितीय उदाहरण (५०६), रसनोपमालंकार लक्षण (५०८), उदाहरण, रत्नावली अलंकार लक्षण (५१०), उदाहरण (५११), पर्याय अलंकार लक्षण (५१२), प्रथम पर्याय उदाहरण (५१४), द्वितीय संकोच पर्याय का उदाहरण (५१५), तृतीय विकास पर्याय का उदाहरण (५१६), दीपक अलंकार लक्षण (५१८), उदाहरण (५२०), अर्थोपपत्ति दीपक उदाहरण (५२१), उभयावृत्ति दीपक उदाहरण, देहरी दीपक उदाहरण (५२२), पुनः देहरी दीपक उदाहरण, कारण दीपक लक्षण (५२३), उदाहरण (५२४), माला दीपक लक्षण (५२५), उदाहरण (५२६) :

१९—उन्नीसवाँ उल्लास :

५२७—५५८,

गुण निर्याय (५२७), प्रथम माधुर्य गुण लक्षण-उदाहरण, ओज गुण

लक्षणा (५३०), ओज गुण उदाहरण, प्रसाद गुण लक्षणा (५३१), उदाहरण, समता गुण लक्षणा-उदाहरण (५३३), कांति गुण लक्षणा-उदाहरण (५३४), उदारता गुण लक्षणा-उदाहरण, व्यक्त गुण लक्षणा (५३५), समाधि गुण लक्षणा (५३६), उदाहरण (५३८), श्लेष गुण लक्षणा (५३९), प्रथम श्लेष दीर्घ-समास उदाहरण, द्वितीय श्लेष मध्यम समास उदाहरण, तृतीय श्लेष लघु-समास उदाहरण, पुनरुक्ति प्रकाश गुण-लक्षणा-उदाहरण (५४०), पुनः माधुर्यादि गुण कथन, माधुर्य गुण विशेषता वर्णन, ओज गुण विशेषता वर्णन, प्रसाद गुण विशेषता वर्णन (५४२), अनुप्रास वर्णन (५४२), प्रथम छेकानुप्रास लक्षणा (५४३), आदि वर्ण की आवृत्ति से छेक का उदाहरण, अंत-वर्ण की आवृत्ति से छेक का उदाहरण, वृत्तानुप्रास लक्षणा (५४४) प्रथम आदि वर्ण एक की अनेक बार आवृत्ति का उदाहरण, द्वितीय आदि वर्ण अनेक की अनेक बार आवृत्ति का उदाहरण (५४५), तृतीय अंत वर्ण एक की अनेक बार आवृत्ति का उदाहरण, चतुर्थ अंतवर्ण अनेक की अनेक बार आवृत्ति का उदाहरण, वृत्ति और उनके भेद—(५४६), रचनागणिका वृत्ति उदाहरण, पक्षपा वृत्ति उदाहरण, कोमला वृत्ति उदाहरण (५४७), लाटानुप्रास लक्षणा—उदाहरण (५४८), वीप्सालंकार लक्षणा—उदाहरण (५४९), यमकालंकार लक्षणा (५५१), प्रथम यमक का उदाहरण, द्वितीय यमक उदाहरण (५५४), तृतीय यमक उदाहरण, चतुर्थ यमक उदाहरण, पंचम यमक उदाहरण, सिंहावलोकन (५५५), अलंकारों के अन्य भेद, रस-विन अलंकार उदाहरण (५५७) :

२८—वीसवाँ उल्लास :

५५९—५७४

श्लेष, विरुद्धाभासादि अलंकार वर्णन (५५९), प्रथम श्लेष शब्दालंकार लक्षणा (५६२), प्रथम द्वितीय-अर्थक श्लेष का उदाहरण (५६३), द्वितीय तृ-अर्थक श्लेष का उदाहरण, तृतीय चतुर्थ-अर्थक श्लेष का उदाहरण, श्लेष की सदेहालंकार से प्रथक्ता वर्णन (५६४), विरोधाभास लक्षणा (५६५), उदाहरण (५६७), मुद्रालंकार लक्षणा वर्णन, उदाहरण वर्णन (५६८), मुद्रा का दूसरा उदाहरण वर्णन (५६९), वक्रोक्तिशब्दालंकार-लक्षणा (५७०), प्रथम वक्रोक्ति उदाहरण, द्वितीय वक्रोक्ति उदाहरण, तृतीय उदाहरण (५७१), पुनरुक्तवदाभास लक्षणा (५७२), उदाहरण (५७३) :

२९—इक्कीसवाँ उल्लास :

५७५—६१८,

चित्रालंकार वर्णन (५८५), चित्रालंकार भेद-नाम वर्णन (५७६),

प्रथम गुप्तोत्तर चित्रालंकार लक्षणा—उदाहरण (५७७), पुनः उदाहरण, व्यस्त-समस्तोत्तर लक्षणा-उदाहरण (५७८), एकानेकोत्तर लक्षणा-उदाहरण (५७९), नागपासोत्तर लक्षणा—उदाहरण (५८०), क्रमसमस्त-व्यस्त लक्षणा-उदाहरण (५८१), कमल-बंध लक्षणा-उदाहरण (५८२), शृंखला-बंध-उत्तर लक्षणा—उदाहरण (५८३), द्वितीय शृंखला-बंध उत्तर लक्षणा—उदाहरण (५८४), त्रिओत्तर वर्णन उदाहरण (५८५), वहिर्लपिका उदाहरण (५८६), पाठांतर चित्रालंकार लक्षणा, वर्णन-लुप्त उदाहरण (५८७), मध्य-वर्ण लुप्त उदाहरण, वर्ण-विपर्यय उदाहरण (५८८), निरोष्ठमत्तादि चित्रालंकार लक्षणा (५८९), निरोष्ठ उदाहरण, अमत्त (मात्रा-रहित) चित्रालंकार लक्षणा-उदाहरण (५९०), निरोष्ठा-मत्त लक्षणा-उदाहरण, अजिह्वा लक्षणा-उदाहरण (५९१), नियमित वर्ण चित्रालंकार लक्षणा, एक-वर्ण नियमित उदाहरण, द्वि-वर्ण नियमित उदाहरण, तृ-वर्ण नियमित उदाहरण (५९२), चार वर्ण नियमित उदाहरण, पाँच वर्ण-नियमित उदाहरण, छह वर्ण नियमित उदाहरण, सात वर्ण नियमित उदाहरण (५९३), लेखनी चित्रालंकार वर्णन (५९४), प्रथम खड्ग-बंध चित्रालंकार उदाहरण, कमल-बंध चित्रालंकार उदाहरण (५९५), कंकन-बंध-उदाहरण, डमरू-बंध उदाहरण (५९६), चंद्र-बंध उदाहरण (५९७), द्वितीय चंद्र-बंध उदाहरण, चक्र-बंध उदाहरण (५९८), द्वितीय चक्र-बंध उदाहरण (५९९), धनुष-बंध उदाहरण (६०१), हार-बंध उदाहरण (६०२), मुरज-बंध उदाहरण, छत्र-बंध उदाहरण (६०३), पर्वत-बंध उदाहरण (६०५) वृक्ष-बंध उदाहरण (६०६), कपाट-बंध उदाहरण, अर्ध-गतागत चित्रालंकार लक्षणा (६०८), उदाहरण, द्वितीय उलटा-सीधा उदाहरण (६०९), पुनः उदाहरण, दो से उलटा-सीधा उदाहरण, पुनः सीधा-उलटा उदाहरण (६१०), त्रिपदी चित्रालंकार लक्षणा-उदाहरण (६११), द्वितीय त्रिपदी उदाहरण, मंत्र-गति उदाहरण (६१२), अश्व-गति उदाहरण, सुमुख-बंध चित्रालंकार वर्णन (६१३), सर्वतोमुख चित्रालंकार वर्णन (६१४), कामधेनु चित्रालंकार लक्षणा-उदाहरण, चरणा-गुप्त उदाहरण (६१५-१६), चित्र-काव्य मध्ये भूषण-अलंकार संख्या वर्णन (६१७) :

२२—चाईसर्वाँ उल्लास :

६१६—६२६,

तुक (अनुप्रास) निर्णय वर्णन (६१६), प्रथम सम-सर तुक उदाहरण (६२०), द्वितीय विषम-सर तुक उदाहरण (६२१), तृतीय कष्ट सर तुक

उदाहरण, मध्यम तुक वर्णन, प्रथम असंयोग मिलित तुक का उदाहरण, स्वर मिलित तुक का उदाहरण (६२२), दुर्मिल तुक उदाहरण, अधम तुक वर्णन, प्रथम आमिल-सुमिल अधम तुम का उदाहरण (६२३), द्वितीय आदिमत्ता आमिल मध्यम तुक का उदाहरण, तृतीय अंतमत्ता आमिल अधम तुक का उदाहरण, वीप्सा और लाट तुक लक्षण, प्रथम वीप्सा तुक का उदाहरण (६२४), द्वितीय यमक तुक उदाहरण (६२५), तृतीय लाटा तुक का उदाहरण (६२६) :

२३—तेइसवाँ उल्लास :

६२७—६६४,

काव्य-दोष वर्णन (६२७), प्रथम शब्द-दोष वर्णन (६३०), श्रुति-कटु दोष-लक्षण-उदाहरण (६३१), भाषा-हीन दोष लक्षण-उदाहरण (६३२), अप्रयुक्त शब्द दोष लक्षण-उदाहरण, असमर्थ शब्द दोष लक्षण-उदाहरण (६३३), निहितार्थ दोष लक्षण-उदाहरण (६३४), अनुचितार्थ शब्द दोष लक्षण-उदाहरण, निरर्थक शब्द दोष लक्षण-उदाहरण, अवाचक शब्द दोष लक्षण-उदाहरण (६३५), अरलील शब्द-दोष लक्षण-उदाहरण (६३६), ग्राम्य शब्द दोष लक्षण-उदाहरण, अप्रतीत शब्द-दोष लक्षण-उदाहरण (६३८), नेयार्थ शब्द-दोष लक्षण-उदाहरण (६३९), समास शब्द लक्षण, उदाहरण, क्लिष्ट शब्द दोष लक्षण-उदाहरण (६४०), पुनः उदाहरण, अविमृष्ट विधेय लक्षण-उदाहरण (६४१), पुनः उदाहरण, प्रसिद्ध विधेय युक्त दोष-उदाहरण, विरुद्ध मति-कृत शब्द-दोष लक्षण-उदाहरण (६४२), वाक्य-दोष वर्णन (६४३), प्रतिकूलान्तर दोष लक्षण, उदाहरण (६४४), विसंधि वाक्य-दोष लक्षण-उदाहरण, पुनः उदाहरण, न्यून-पद वाक्य-दोष लक्षण-उदाहरण (६४५), अधिक पद-दोष लक्षण-उदाहरण, पतत्प्रकर्ष दोष-लक्षण-उदाहरण (६४६), चरणांत दोष लक्षण-उदाहरण (६४७), अभिवनमत्त योग दोष लक्षण-उदाहरण, अकथनीय दोष लक्षण-उदाहरण (६४८), अस्थानस्थ पद दोष लक्षण-उदाहरण, संकीर्ण वाक्य दोष लक्षण-उदाहरण, गभित पद-दोष-लक्षण (६४९), अमित पदार्थ पद दोष लक्षण-उदाहरण, प्रकरणा-भंग दोष लक्षण-उदाहरण, द्वितीय प्रकरण भंग लक्षण-उदाहरण (६५०), तृतीय प्रकरण-भंग दोष लक्षण-उदाहरण, प्रसिद्ध-हत दोष लक्षण-उदाहरण, अर्थ-दोष वर्णन (६५१), प्रथम अपुष्टार्थ दोष लक्षण-उदाहरण, कष्टार्थ दोष लक्षण-उदाहरण (६५३), व्याहृत दोष लक्षण-उदाहरण, पुनरुक्ति दोष लक्षण-

उदाहरण, दुष्कर्म दोष लक्षण-उदाहरण (६५४), ग्राम्यार्थ दोष लक्षण-उदाहरण, संदिग्धार्थ दोष लक्षण-उदाहरण, निर्हेतु दोष लक्षण-उदाहरण, अनुवीकृत दोष लक्षण (६५५), उदाहरण, नियमानियम प्रवृत्ति दोष लक्षण (६५६), उदाहरण, विशेष प्रवृत्ति-लक्षण-उदाहरण (६५७), सामान्य प्रवृत्ति लक्षण, उदाहरण (६५८), साकांक्ष दोष लक्षण, अयुक्त-पद दोष लक्षण (६५९), उदाहरण, विधि-अयुक्त दोष लक्षण उदाहरण अनुवाद-अयुक्त-दोष उदाहरण (६६०), प्रसिद्ध विद्या-विरुद्ध दोष लक्षण उदाहरण, प्रकाशित विरुद्ध-दोष लक्षण (६६२), उदाहरण, सहचर-भिन्न दोष लक्षण-उदाहरण, अश्लीलार्थ दोष लक्षण-उदाहरण (६६२), त्यक्त-पुनःस्वीकृत दोष लक्षण-उदाहरण (६६३) :

२४—चौवीसवाँ उल्लास :

६६५—६७२,

दोषोद्धार वर्णन (६६५), दोषोद्धार प्रथम उदाहरण, पुनः उदाहरण (६६६), क्वचित् अश्लील अदोष गुण कथन (६६७), उदाहरण, क्वचित् ग्राम्य दोष-गुण कथन, उदाहरण (६६८), क्वचित्-अधिक-पद दोष गुण उदाहरण (६६९), दीपक-लायादि पुनरुक्त गुण वर्णन, उदाहरण (६७०), क्वचित् गर्भित-दोष गुण कथन, क्वचित् प्रसिद्ध विद्या-विरुद्ध गुण लक्षण, उदाहरण (६७१), क्वचित् सहचर-भिन्न दोष गुण कथन (६७२) :

२५—पच्चीसवाँ उल्लास :

६७३—६८८

रस-दोष वर्णन (६७३), प्रथम प्रत्यक्षा रस-कथन दोष-उदाहरण (६७५), व्यभिचारी भावों की शब्द-वाच्यता-युक्त दोष उदाहरण, स्थायी भावों की शब्द-वाच्यता-युक्त दोष उदाहरण, शब्द-वाच्यता से अदोषत्व कथन (६७६), अवर रस-दोष वर्णन, विभावों की कष्ट-कल्पना का उदाहरण (६७७), अथ अदोषता वर्णन, अनुभावों की कष्ट कल्पना का उदाहरण (६७८), अन्य रस-दोष वर्णन (६७९), पुनः उदाहरण (६८०), अदोषता गुण-लक्षण, उदाहरण, पुनः अदोषता का उदाहरण (६८१), दीप्ति (वार-वार) दोष लक्षण, असमय युक्ति-कथन उदाहरण (६८३), पुनः उदाहरण, पुनः अन्य रस दोष लक्षण, उदाहरण, अंगी का भूतना दोष उदाहरण (६८४), प्रसिद्धि-कथन दोष वर्णन (६८५), कविता विचार वर्णन, ग्रंथ-संपूर्णार्थ राम-नाम महिमा वर्णन (६८७) :

काव्य-निर्णय

बरनन को करि सकै अहो, तिहि भाषा कोटी ।
मचलि-मचलि माँगी, जाँमे हरि माँखन-रोटी ॥

—सत्यनारायण कविरत्न

॥ श्रीः ॥

काव्य-निर्णय

“कविवर भिखारीदास कृत”

वंदना

(छप्पय)

एक रदँन, द्वै मातु, त्रि चख, चौ बाहु पंच कर ।
षट् आनँन वर बंधु-सेव्य, सप्तर्चि^१ भाल धर ॥
अष्ट सिद्धि, नव निद्धि-दाँनि,^२ दस-दिसि जस बिस्तर ।
रुद्र इग्यारें सुखद,^३ द्वादसादित्य ओजवर ॥
जो त्रिदस-वृंद बँदित चरँन, चौधें बिद्यँन आदि गुरु ।
तिहि ‘दास’ पंचदस हूँ तिथिनि, धरिय षोडसौ^४ ध्यान उर ॥६॥

वि०—“इस छप्पय छंद-द्वारा दासजी ने तिथि रूप एक अंक से लेकर सोलह अंकों से षोडसोपचार रूप श्रीगणेशजी की वंदना की है। ये अंक कहीं संख्या-वाची और कहीं श्लेष से संयुक्त होकर दूसरे-दूसरे अर्थों की उत्पत्ति करते हैं, जैसे—“एक रदँन=एक दाँतवाले, द्वै मातु=दो माता श्री पार्वती और हथिनी, तीन नेत्र, चार बाहु, पाँच हाथ अर्थात् चार हाथ तो हैं ही पाँचवीं सूँड भी हाथ का कार्य ही करती है। षट् आनँन वर बंधु=षडानन-छह मुखवाले ‘कार्तिकेय’ के सुंदर बंधु (भाई) हैं इत्यादि.....।” अस्तु यह छंद जहाँ कवि की चतुराई के साथ-साथ उसकी कल्पना-शक्ति और साहित्यिक ज्ञान का परिचय देता है वहाँ वंश-देव को शोडषकला-पूर्ण बतलाने के लिये साहित्य-शास्त्र के प्रमुख अंग रत्नावली अलंकार-द्वारा अलंकृत कवि-प्रतिभा

पा०—(१)—१. (प्र०) (वै०) (सं० प्र०) (का० रा०) सप्तर्चि...। २. (सं० प्र०) अष्ट-सिद्धि-नवनिधि प्रदाँनि...। ३. (प्र०) (सं० प्र०) सुखद...। (सं० स०—म०) सुखद ..। ४. (सं० स०—म०) (सं० प्र०) (वै०) षोडसी...।

* सू० स० भगवानदीन, पृ० १।

भी सुन्दर चमक उठी है। रत्नावली अलंकार वहाँ होता है जहाँ—प्रस्तुत अर्थ के साथ-साथ अन्य प्राकरणिक अर्थ भी क्रम के साथ निकलें—प्रगट हों। क्योंकि रत्नावली का शब्दार्थ है रत्नों की पंक्ति। इसमें एक अर्थ के साथ-साथ दूसरे प्राकरणिक अर्थ भी रहते हैं। यथा—

“रत्नावलि प्रस्तुत अर्थ, क्रम ते औरों नाम ।”

—भाषाभूषण १६८ वाँ दोहा,

अथवा जैसा दासजी स्वयं कहते हैं—

“क्रमी वस्तु गनि बिदित जो, रचि राख्यौ करतार ।

सो क्रम आँनै काव्य मे, रत्नावली-प्रकार ॥”

“काव्य निर्णय १८ वाँ उल्लास”

पोद्दार कहैयालाल जी ने—“जिनका साथ कहा जाना प्रसिद्ध हो, ऐसे प्राकरणिक अर्थों के क्रमानुसार वर्णन को” रत्नावली अलंकार का विषय माना है। विशेष के लिये दे०—१८ वाँ उल्लास ।

ग्रंथ-निर्माण के कारण का कथन

(दोहा)

जगत-बिदित उदियाद्रि सो^१ ‘अरबर’ देस अनूप ।
रवि-लों पृथिवी-पति उदित, जहाँ^२ सौम-कुल-भूप ॥
सोदर^३ जिन^४ के ग्याँन-निधि, ‘हिंदूपति’ सुभ नाम ।
तिन^५ की सेवा ते^६ लखौ, ‘दास’ सकल सुख धाम ॥
अट्ठारें सौ^७ तीन है,^८ संबत, आस्विन मास ।
ग्रंथ ‘काव्य-निरनै’ रच्यौ, बिजै दसमि^९ दिन दास ॥
बूझि सु ‘चंद्रालोक’ अरु ‘काव्य-प्रकास’हु^{१०} ग्रंथ ।
समझि सुरुचि भाषा कियौ, लै औरों^{११} कवि-पंथ ॥

पा०—१. (रा० का०) सौ...। २. (भा० जी० का०) तहाँ...। ३. (भा० जी० का०) सहुंदर...। ४. (भा० जी० का०) ताके...।—(प्र०) तिन्ह के...। ५. (प्र०) ताकी से...।—(भा० जी० का०) (वै०) जिनकी...। ६. (प्र०) सों...। ७. (प्र०) (वै०) सै...। ८. (प्र०) कौ...।—(वै०) हो...। ९. (प्र०) दसों...। १०. (प्र०) सु...। ११. (प्र०) औरहुँ ।

वही बात सिगरो कहें, उलथा^१ होत इकंक ।
निज उक्ती करि बरनिऐं,^२ रहै सु कलपित संक ॥
ताते^३ दोउ^४ मिखित सज्यौ, छमि हैं कवि अपराध ।
बन्यों-अनबन्यों समझिऊँ, सोधि लेंहिगे साध ॥

पुनः कवि-कथन जथा—‘कवित’

मो सँम जु^५ ह्वै हैं ते बिसेस सुख पै हैं पुनि
हिंदूपति साहिब के नीकें मन-माँनों हैं^६ ।
एते पै ‘तोष’^७ रसरज ‘रसलीन’ बासुदेव-
से प्रवीन पूरे कविन बख्वाँनों हैं^८ ॥
ता ते यै उद्यम अकारथ न जै है.
सब भाँति ठहरै है भलौ^९ हों हूँ अनुमाँनों है^{१०} ।
आगे के सुकवि रोझि हैं तौ कविताई,
न तौ^{११} ‘राधिका-कँन्हाई-सुंमरन कौ बहाँनों है’^{१२} ॥

वि०—“कहा जाता है इस कवित्त में ‘दासजी’ ने अपने समकालीन चार कवि तोष, रसरज, रसलीन और वासुदेव का नामोल्लेख किया है। ये चारों कवि दासजी के समय ब्रजभाषा के उत्कृष्ट कवि माने जाते थे। कविवर ‘तोष’ का पूरा नाम अथवा कविता-नाम तोषनिधि था और ये जाति के ब्राह्मण शुक्ल, सिंगरौर-प्रयाग के निवासी थे। आपका ‘सुधानिधि’ ग्रंथ सं० १७६१ वि० में रचा गया तथा सन् १८५६ में काशी के भारतजीवन प्रेस से प्रकाशित हुआ।

रसरज अथवा रसरस (दोनों ही पाठ मिलते हैं) का इतिवृत्त कुछ नहीं मिलता। यदि ‘रसरस’ पाठ मान लिया जाय तो इनकी सुंदर रचना के कुछ नमूने कविवर नवनीति चतुर्वेदी मथुरावासी के “गोपी प्रेम-पोयूष-प्रवाह” में अवश्य मिलते हैं। आपका रचना-काल सं० १८१० वि० कहा जाता है।

पा०—१. (भा० जी० का०) उलथों... २. (भा० जी०) (वें०) सब निज उक्ति बनाई हूँ ।
३. (भा० जी०) (वें०) याते । ४.—(प्र०) (वें०) दुहुँ... ५. (प्र०) जे... ६. (रा० का०) माँन्यों हैं । ७. (वें०) याते परतोष... ८. (रा० का०) बख्वाँन्यों हैं । ९. (प्र०) (भा० जी०) यै... १०. (रा० का०) अनुमाँन्यों हैं । ११. (प्र०) न त... १२. (रा० का०) बहाँन्यों हैं ।

रसलीनजी का पूरानाम “सैयद गुलामनवी (उपनाम—रसलीन) बिलग्राम जिला हरदोई के रहनेवाले थे। आपने मुसलमान होकर भी ब्रजभाषा को सुंदर और प्रौढ़ रचना की है। इन जैसी सुंदर, सरस रचना को देखकर ही यह निम्नलिखित उक्ति बरबस याद आ जाती है कि “इन मुसलमान हरिजनन पर कोटैन हिंदू बारिऐ।”

रसलीनजी के दो “अंगदर्पण” (नखसिख, २० का० १७६४) और “रसप्रशोध” (नायिका भेद, २० का० १७६६) ग्रंथ मिलते हैं। ये दोनों ग्रंथ काशी के भारतजीवन प्रेस से सन् १८६६ और सन् १८८५ में क्रमशः प्रकाशित हो चुके हैं। कहते हैं आप सं० १८०३ वि० में विद्यमान थे।

वासुदेव या वासुदेवनाथ कायस्थ भी दासजी के समय अच्छे कवि कहे जाते हैं। इनकी रचना का अभी पता नहीं लगपाया है, पर दासजी ने जिस प्रकार से आपका नामोल्लेख किया है उससे जाना जाता है कि आप भी तत्समय ब्रजभाषा के उत्कृष्ट कवि ही नहीं उसके अति मर्मज्ञ थे, इत्यादि...।

एक बात और, वह यह कि “तोप, रसराज और रसलीन शब्दों के दूसरे अर्थ भी हो सकते हैं, जैसे—तोप=संतोप, रसराज=शृंगाररस और रसलीन अर्थात् रस में लीन इत्यादि। इन द्वितीय शब्दार्थों से कवि-इच्छित अर्थ की संगति नहीं बिगड़ती, अपितु कुछ अधिक चमत्कार ही बढ़ जाता है। फिर भी हमें—“महाजनोयेनगतः संपंथा.” के अनुसार यहाँ कविनामों पर ही सन्तोष करना पड़ा है—उन्हें ही मानना पड़ा है।”

दासजी के इस भाव को आपके परवर्ती कवि महाराज मानसिंह “द्विजदेव” (सं० १८७७) ने भी अपनाया है, यथा—

“रसिक रीझि हैं जाँनि, तौ हूँ है कविता सुफल ।

न तरु सदाँ सुख-दाँनि, श्रीराधा-हरि कौ सुजस ॥”

पं० महावीर प्रसाद मालवीय “बीर” ने अपने स्वसंपादित काव्य-निर्णय के इस कवित्त में “पतत्प्रकर्ष-दोष” बतलाते हुए लिखा है कि “अभी काव्य-निर्णय बना नहीं और (उक्त) प्रवीण कवियों ने उसकी तारीफ कर दी! संभव है ग्रंथ-निर्माण के अनन्तर यह कवित्त पीछे लिखकर संमिलित किया गया हो...।” कविता-पारखियों ने पतत्प्रकर्ष दोष—“जहाँ प्रस्तुत विषय के क्रमागत प्रकर्ष को कोई हेय-उक्ति कहकर विनष्ट कर दिया जाय, वहाँ कहा है। उदाहरण जैसे—

“रंघ्र-जाल हूँ देखियतु, प्रियतन-प्रभा बिसाल ।

चामीकर चपला लख्यौ, कै मसाल, मनिमाल ॥”

यहाँ 'प्रिय-तन की विशाल प्रभा (शोभा) का प्रकर्ष बतलाने के लिये चामीकर और चपला के बाद मसाल और मनि-माला का कहना उक्त दोष के अन्तर्गत आ जाता है क्योंकि स्वर्ण और विद्युज्ज्योति के आगे मणियों के समूह तथा मसाल की कोई विशात नहीं। दासजी ने पतत्प्रकर्ष दोष वहाँ बतलाया है" जहाँ अपनायी हुई रीति का निर्वाह न हो, यथा—

“सो है ‘पतत्प्रकर्ष’ जहँ, लई रीति निबहै न ।”

और उदाहरण—

“कान्ह, कृसन, केसव, कृपा, सागर राजिव नैन ॥”

अर्थात् ककारादि चार शब्दों को कहकर आगे उस (ककारादि) का निर्वाह नहीं किया गया है। अतएव हमारी तुच्छ बुद्धि में यहाँ उक्त दोष नहीं आता, भूल-चूक लेनी-देनी...।

शुभाशीषरूप—‘दोहा’

प्रथं काव्य-निरनै-हिं जो समझि करेंगे कठ ।

सदाँ बसैगी भारती, तिन्ह^१ रसनाँ उपकंठ^२ ॥

काव्य-प्रयोजन-‘सवैया’ जथा—

एक^३ लहै तप-पुंजैन कौ^४ फल, ज्यों ‘तुलसी’ अरु ‘सूर’ गुसाँई ।

एक लहै बहु संपत, केसव,—भूषैन ज्यों बर बीर बड़ाई ॥

एकैन कौं जस ही सों प्रयोजैन, है^५ ‘रसखान’—रहीम की नाँई ।

‘दास’ कबितैन की चरचा,^६ बुधिबंतैन कौं सुख देति सदाँई ॥*

कविता-भेद ‘सोरठा’ जथा—

प्रभु ज्यों सिखवें बेद, मित्र^७ कहै ज्यों सत-कथा ।

काव्य-रसैन कौं भेद, सुख-सिख दाँनि तियाँनि^८ ज्यों ॥

पा०—१. (प्र०) ता . । २. (सं० प्र०) सुभकठ ।—(ल०) अतिकंठ । ३. (भा० जी०) एकै... । ४. (प्र०) कौ ५. (ल०) त्यों... । ६. (का० प्र०) रचनाँ... । ७. (सं० प्र०) मित्र-मित्र ज्यों... । ८. (प्र०) तियासु... ।

* काव्य-प्रभाकर-भानु कवि, पृ० ६३ ।

वि०—“काव्य अथवा शब्द जैसा दासजी ने कहा है—‘प्रभु-संमित’, ‘सुहृद-संमित’ और ‘कांता-संमित’ रूप तीन प्रकार का कहा गया है। वेदेस्मृति प्रभु-संमित, पुराणादि इतिहास कथाएँ मित्र-संमित, तथा रस-भेद-युक्त काव्य कांता-संमित। यथा—

“काव्य यशसेऽर्थं कृते व्यवहारविदे शिवेतरत्तये ।
सद्यः परनिवृत्तये कांता संमिततयोपदेश युजे ॥”

—काव्य-प्रकाश (संस्कृत)

अथवा—

“सत्कविरसनासूरी निरतुषत्तर शब्दशालि पाकेन ।
तृप्तो दयिताधर्मपि नाद्रियते का मुधादासी ॥”

पुनः ‘सवैया’ जथा—

सक्ति कवित्त-बनाइवे की, जिन^१ जन्म-नछत्र में दीनीं विधातें^२ ।
काव्य की रीति लखी^३ जु कबीन सों, देखी-सुनीं बहु लोक की बातें^४ ॥
‘दास’ जू^५ जामें एकत्र ए तीनों,^६ बनें कविता मन-रोचक तातें^७ ।
एक-बिनां न चलै रथ जैसें धुरंधर सूत के चक्र-निपातें^८ ॥*

भाषा में रस, अलंकार, गुण, बरन औ दोष को स्थान

‘दोहा’ जथा—

रस कविता के अंग, भूषण हैं भूषण सदाँ^१ ।
गुण सरूप औ रंग,^{१०} दूषण करें कुरूपता ॥”

पा०—१. (प्र०) जिहि...। २. (सं० प्र०) विधातै।—(ल०) विधातहि। ३. (प्र०) (सं० प्र०) सिखी। ४. (सं० प्र०) बातै।—(ल०) बातहि। ५. (प्र०) है...। ६. (सं० प्र०) एतीन्यों।—(बै०) ए तीनों। ७. (सं० प्र०) तातै।—(ल०) तातहि। ८. (भा० जी०) (बै०) की। ९. (प्र०) (सं० प्र०) सकल। १०. (सं० प्र०) अंग...।

* सू० स०—भाग० पृ ३८३, २०।—का० का०—रा० च० सिं० पृ० ३१७।

भाषा-लच्छिन 'दोहा' जथा—

भाषा ब्रज-भाषा रुचिर, कहैं सुमति^१ सब कोइ ।
मिलैं संस्कृत-फारिसिहूँ,^२ सो अति प्रघट जु होइ ॥*
ब्रज-मागधी मिलैं अमर,^३ नाग जँमन-भाषाँनि ।
सैहैज पारसी हूँ मिलैं, षट विधि कहति बखाँनि ॥‡

वि०—“दासजी ने यहाँ सुंदर भाषा के लक्षण में काव्य-भाषा षडविधि-युक्त मानी हैं, अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के साथ ब्रज, मागधी तथा फारसी के सुंदर संयोग से उसे उत्कृष्ट माना है। आप से पूर्व महाकवि “चंद” ने भी अपने “रासो” की भाषा के प्रति इसी प्रकार कहा है, यथा—

“उक्ति धर्म विशालस्य राजनीतिं नवं रसम् ।

पडभाषा पुराण च कुरानं कथितं मया ॥”

पृथ्वीराज-रासो १।३६,

अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, राष्ट्रीय अपभ्रंश तथा तीनों प्रदेशों—“राजस्थान, ब्रज और अवध”, की तत्सामयिक प्रचलित भाषाओं के मेल से बनी भाषा ही उत्तम भाषा है ।”

पुनः ‘कवित्त’ जथा—

सूर, केसौ, मंडन. बिहारी, कालिदास, ब्रह्म,^४
चिंतामनि, मतिराम, भूषन^५ से ग्याँनिऐं ।
लीलाधर, सेनापति, निपट, निवाज, निधि,
नीलकंठ मिस्र सुखदेव, देव माँनिऐं ॥
आलम, रहीम, रसखाँन,^६ रसलीन औ
मुबारक से सुमति भए कहाँ-लों बखाँनिऐं ।
ब्रजभाषा^७-हेत ब्रज-बास हू न अनुमाँनों,
ऐसे-ऐसे कविन हूँ की बाँनी हूँ तें जाँनिऐं ॥

पा०—१. (प्र०) सुकवि । २. (का० प्र०) (सं० प्र०) (बे०) पारस्यौ ।—(ल०) फारसी...। ३. (ल०) अवर । ४. (भा० जी०) (वें०) सु...। ५. (सं० प्र०)...।—बिहारी, कालि चिंतामनि, ब्रह्म...। ६. (सं० प्र०) (वें०) रसखाँन सुंदरादिक, अनेकनि सुमति...।—(प्र०) रहीम रसखाँन और, सुंदर सुमति...। ७. (भा० जी०) ब्रजभाषा-हेतब्रज-लोक-रीति देखी-मुनीं, बहु भाँति कवित्त...।

*. का० प्र०—भानु पृ० ६७६ । ‡, संमेलन प्रयाग की प्रति में यह दोहा नहीं है ।

वि०—“भित्तारीदास जो ने इस कवित्त-द्वारा ब्रजभाषा-काव्य-रचना के लिए—सूरदास (अ० छा०, ज०-सं० १५३५ वि०), रसखान (२० ज०-सं० १५८३ वि०), ब्रह्म, पूरा नाम—‘महाराज वीरबल’ (सं० १६०० वि०), लीलाधर (२० सं० १६०६ वि०), केशवदास (ज० सं० १६१२ वि०), रहीम, पूरा नाम—‘अब्दुर्रहीम खानखाना’ (ज० सं० १६१० वि०), आलम (ज० सं० १६३६ वि०), सुवारक (ज० सं० १६४० वि०, २० सं० १६७० वि०), विहारी (ज० सं० १६६०), चिंतामणि (ज० सं० १६६६ वि०, २० सं०—१७७० के आसपास), सेनापति (ज० सं० १६४६ वि०)*, मंडन (२० सं० १७१६ वि०), सुखदेव मिश्र (२० सं० १७२० से १७६० वि०), नीलकंठ (२० सं० १७३० वि०), देव (ज० सं० १७३० वि०), निवाज (२० सं० १७३७ वि०)†, भूषण (ज० सं० १६७० वि०)‡, रसलीन पूरानाम—‘सैयद गुलामनवी’ (ज० सं० १७५६ २० और सं० १७६४ वि०), मतिराम (ज० सं० १६७४ और २० सं० १७१६ वि०), तोपनिधि (२० सं० १७६१ वि०) और निपट निरंजन (ज० समय अज्ञात) आदि को आदर्श मानते हुए इनकी रम्य-रचनाओं को ‘ब्रजभाषा’-ज्ञान-वर्द्धन का साधन कहा है। ब्रजभाषा के कमनीय कवि और उसकी शुद्धता के प्रतीक “श्रीनंददास” (अष्टछार) और प्रेम की पीर के नये चाहक “आनंदघन” (सं० १७४६ वि०) का नाम नहीं लिया है—इन्हें इस श्रेणी में नहीं गिनाया है। क्यों……, का कारण अज्ञात है। नंददासजी के लिये जहाँ काव्य-पारखियों ने—

“और कबि गढ़िया, नंददास जड़िया”

कहकर उनका नमन किया है, वहाँ “आनंदघन” के श्रीवृंदावन-निवासी स्व० श्री गो० राधाचरणजी ने—

“दिल्लीस्वर-नृप-निमित्त एक धुरपद नहिं गायौ।

पै निज प्यारी-कहँ, सभा कों रीझि-रिझायौ ॥

कुपित होइ नृप दिये निकासि, बिंदावन आए।

परम सुजाँन सुजाँन-छाप पद, कबित बनाए ॥

* सेनापति जी का जन्म समय अभी निश्चित नहीं उक्त संवत् के आस-पास आपका जन्म माना जाता है। सं० १७०६ में उन्होंने अपना सुप्रसिद्ध ग्रंथ “कवित्तरत्नाकर” लिखा। †, निवाज का जन्म-सं० अभी अज्ञात है। ‡, भूषण का समय शुद्ध जी संमानित है। उनका शिवराज भूषण सं० १७३० वि० में बना यह निर्विवाद सिद्ध है। इस ग्रंथ की जो सबसे पुरानी प्रति मिली है उसका लि० का० सं० १५१५ वै० है।

नादिरसाही रज मिले, कियौ न नेंक उचाट मन ।
हरि-भक्ति-बेलि सिंचन करी, घनानंद आनंदघन ॥”

यह कर अपनी श्रद्धा की मेंट अर्पित की है । यही नहीं, आप के काव्य के प्रति कहा गया है—

“नेही महा, ब्रजभाषा-प्रबीन, औ सुंदरताई के भेद कों जाँनें ।
राह बियोग की रीति के कोबिद, भावनाँ भेद सरूप कों ठाँनें ॥
चाह के रंग में भीख्यौ हियौ, बिछुरें-मिलें पीतम सांति न आँनें ।
भाषा-प्रबीन सुछंद सदाँ रहें, सो घन जू के कबित्त बख्खानें ॥”

अथवा—

“प्रेम सदाँ अति ऊँचौ लहै, सुकहै इहि भाँति की बात छकी ।
सुनि कें सब के मन लालच दौरै, औ बौरै लखें सब बुद्धि चकी ॥
जग की कबिताई के धोखें रहै, ह्यौ प्रबीनन की मति जाति जकी ।
सँमझै कविता ‘घन आनंद’ की जिन आँखिन प्रेम की पीर तकी ॥”

दासजी उल्लिखित कवियों की रचनाएँ इस प्रकार हैं—

“सूरदास”^१—सूरसागर, साहित्य-लहरी तथा नवीन खोज से प्राप्त—“सूर-सहस्रनामावली, सूर-गीता, सूर-सेवाफल । अन्य-अनुमोदित—सूरसारावली ।*

“रसखान”^२—“प्रेमवाटिका, फुटकल—कवित्त, सवैया तथा गेय पद...।”

“ब्रह्म”^३—“फुटकल”—कवित्त, सवैया तथा गेय पद...। ‡

“लीलाधर”^४—“फुटकल”—कवित्त, सवैया ।

“केशवदास”^५ “कवि-प्रिया, रसिक-प्रिया, रामचंद्रिका, वीरसिंह-चरित, विज्ञान-गीता, रतन-बावनी, जहाँगीर-जस-चंद्रिका...।”

“रहीम”^६—“रहीम दोहावली,” अथवा “रहीम सतसई,” बरवैनायिका-भेद, शृंगार सोरठ, मदनाष्टक, रासपंचाध्यायी, नगर-शोभा तथा फुटकल—कवित्त, सवैया, गेय पदादि....। +

*, ब्रजभाषा-साहित्य सूर्य श्री सूर-विरचित ग्रंथों के विषय में विभिन्न मत हैं, कोई कुछ, कोई कुछ मानते हैं । हमारे अभिमत से उक्त ग्रंथ ही सूर रचित हैं । इधर एक ग्रंथ—छोटी-रचना “पांडवगीता” और मिली है । ‡ ब्रह्म अर्थात् महाराज बीरबल का कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है और न उसका उल्लेख ही कहीं मिलता है । बहुत दिन हुए स्व० श्री हरिनारायण जी पुरोहित जयपुर ने इनके छंदों का संकलन किया था । भरतपुर स्टेट की लायब्रेरी (सरस्वती भंडार) में भी इनकी रचनाओं का एक संग्रह ग्रंथ है ।

+ , रहीम पर सबसे सुंदर पुस्तक स्व० श्री मयारंकर जी याज्ञिक बी० ए० संपादित हैं ।

“आलम”^{१०}—“आलमकेलि, माधवानल-कामकंदला (नाटक) ।”*

“मुबारक”^८—“अलकशतक, तिलशतक तथा फुटकल—कवित्त, सवैया ।”

“विहारी”^३—“विहारी सतसई ।”

“चिंतामणि”^{१०}—“कविकुल-कल्पतरु, काव्य-प्रकाश, काव्य-विवेक, छंद-विचार तथा रसमंजरी एवं रामायण ।”

“सेनापति”^{११}—“कवित्त-रत्नाकर, काव्य-कल्पद्रुम ।”

“मंडन”^{१२}—“रसरत्नावली, रसविलास, जनकपचीसी, जानकी जू कौ ब्याह, नैन-पचासा तथा—फुटकल कवित्त, सवैया ।

“मुखदेवमिश्र”^{१३}—छंद-विचार, फाजिलअली-प्रकाश, वृत्त-विचार, रमार्णव, शृंगारलता, अध्यात्म-प्रकाश ।

“नीलकंठ”^{१४}—“फुटकल छंद—“कवित्त, सवैया ।”

“देव”^{१५}—“भावविलास, अष्टयाम, भवानीविलास, सुजानविनोद, प्रेम-तरंग, रागरत्नाकर, कुशलविलास, देवचरित्र, प्रेमचंद्रिका, जातिविलास, काव्य-रसायन (शब्द रसायन), सुख-सागर तरंग, वृत्तविलास, पावसविलास, ब्रह्म-दर्शनपचीसी, तत्त्वदर्शनपचीसी, आत्मदर्शनपचीसी, जगद्दर्शनपचीसी, रसानंद-नहरी, प्रेमदीपिका, सुमिलविनोद, राधिकाविलास, नीतिशतक, नख-सिख-प्रेमदर्शन ।”

“निवाज”^{१६}—“शकुन्तला नाटक तथा फुटकल छंद कवित्त-सवैया ।”

“भूषण”^{१७}—“शिवभूषण या शिवराजभूषण, भूषणहजारा, भूषणोल्लास, दूषणोल्लास तथा अल्पमत से—“शिवावावनी” और “छत्रशाल दशक ।”

“रसलीन”^{१८}—रसप्रबोध, अंगदर्पण ।”

“मतिराम”^{१९}—रमराज, ललितललाम, छंदसार, साहित्य-सार, लक्षण-शृंगार, सतसई ।”

“तोपनिधि”^{२०} सुधानिधि, नखसिख, विनयशतक ।”

“निपटनिरजन”^{२१}—फुटकल छंद, कवित्त, सवैया ।

अस्तु, ये संपूर्ण कवि ब्रजभाषा साहित्य-सूर्य “आसूर” जो कि भक्त-कवि, संगीति के सृजक और गेय-पद-रचना के आदि गादक हैं, को छोड़कर अन्य सभी कवि “रीति-कालिन-कविता के प्रमुख आचार्य और उसके स्तम्भ हैं, इत्यादि...।”

* , आलम के लिये विशेष रूप से देखिये जवाहरलाल चतुर्वेदी संपादित “पोदार अभिनंदन ग्रंथ” जो ‘अ० भा० ब्रजसाहित्यमंडल मथुरा’ से प्रकाशित हुआ है । इनका ‘आलमकेलि’ ग्रंथ ला० भगवानदीन जी के संपादकत्व में काशी से प्रकाशित हो चुका है ।

दासजी के अनुसार ही 'अकबर'-काल के कवियों का पता निम्नलिखित छंद-द्वारा मिलता है, यथा—

“पाइ प्रसिद्ध पुरदर, ब्रह्म, सुधारस अमृत अमृत-बाँनीं ।
गोकुल, गोप, गुपाल, गनेस, गुनीं, गुनसागर गंग से ग्याँनीं ॥
जोध, जगन्ना, जगे, जगदीस, जगा मग, जैत जगत है जाँनीं ।
कोरे अकबर सों न कथी, हतने मिलिकें कबिता जु बखाँनीं ॥”

पुनः 'दोहा' जथा—

तुलसी-गंग^१दोऊ भए, सुकबिँन के सरदार ।
इन^२ के^३ काव्यनि में मिली, भाषा विविध प्रकार ॥*

वि०—“गो० तुलसीदास (ज० स० १५२४ वि०) और कविवर 'गंग' (समय १६वीं शताब्दी) को दासजी ने इस दोहे में अच्छे कवियों में प्रमुख माना है । इन्हीं दोनों के काव्यों में भाषा का विविध प्रकार बतलाया है । विविध प्रकार की भाषा का स्पष्टीकरण यहाँ नहीं है । गो० तुलसीदास का 'रामचरितमानस' तथा कुछ अन्य ग्रंथों में “ब्रजावधी” के विविधरूप कहे जा सकते हैं । खोजने से भाषा के अन्यरूप भी आपकी रचनाओं में मिलेंगे, पर 'गंग' के काव्य में भाषा का 'विविध प्रकार' बतलाना कुछ खोज चाहता है । कारण दासजी के समय आपकी रचना का कोई विशेष ग्रंथ मिलता हो जो आजकल प्राप्त नहीं है । आजकल तो आपके फुटकल कवित्त-सवैया विविध हस्तलिखित और मुद्रित संग्रह ग्रंथों में मिलते हैं, जिन्हे संगृहीत कर स्व० हरिनारायणजी पुरोहित जयपुर ने प्रकाशित किये हैं ।”

पुनः 'सवैया' जथा—

जाँनें पदारथ भूषन-मूल, रसांग परांगन में मति छाकी ।
त्यो^१ धुनि अर्थ^२ सु बाक्यन लै गुन सब्द अलंकृत सों रति पाकी ॥
चित्र कवित्त करै, तुक जाँनें, न दोषन-पंथ कहुँ गति जाकी ।
उत्तम ताके^३ कवित्त बनें, करै कीरत भारती यों अति ताकी ॥†

पा०—१. (का० प्र०)...गंगा दो भए ।—(प्र०—२) ..गंगा द्वै भए । २. (सं० प्र०) जिन्ह के... ३. (का० प्र०)...की... ४ (प्र०) सो...—(वें०) स्यो... ५. (प्र०) (वें०) अरथन... ६. (भा० जी०) (प्र०) (वें०)—ताकौ . ।

* का० प्र०—भानु, पृ० ६७६ । †. सू० स०—ला० भगवानदीन, पृ० ३८६, १ ।

वि०—“दासजी ने इस सवैया में काव्य के मूल अंगों का वर्णन किया है, जैसे—“पदार्थ, जो वाचक, लक्षक और व्यञ्जक कहे जाते हैं, भूषण-मूल अर्थात् अलंकारों का सार, रसांग=रस-सामित्री, परांग वा अपरांग=अंगांगीभाव, धुनि (ध्वनि)—वाच्यार्थ की अपेक्षा जब व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार हो, गुण (गुण)—माधुर्य, ओज, प्रसाद, अथवा ‘गुणीभूत व्यंग्य—वाच्यार्थ जब व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार न हो, समान वा न्यून चमत्कार हो, अर्थात् व्यंग्यार्थ प्रधान न हो और अलंकृत—अलंकार अर्थात् जहाँ व्यंग्य के बिना वाच्यार्थ में ही चमत्कार हो और चित्र काव्य इत्यादि...।

दासजी के इस सवैया को “काव्य-निर्णय” की ‘सूची’ भी कह सकते हैं, क्योंकि प्रायः उक्त कथन के अनुसार ही आपने काव्यनिर्णय के उल्लासों—भागों का निर्माण किया है।”

“इति श्री सकल कलाधर-कलाधर वंसावतंस श्रीमन्महाराज कुमार बाबू

“हिंदूपति” बिरचिते ‘काव्य-निरनए’ मंगलाचरण बरननं

नाम प्रथमोल्लासः ॥”

अथ-द्वितीयउल्लास

“पदार्थ-निर्णय”

‘दोहा’ जथा—

पद बाचक औ लाच्छिनिक, बिंजक^१ तीन बिधौन ।
ताते बाचक-भेद कौ, पैहलें करों बखौन ॥

बाचक-भेद ‘दोहा’ जथा—

जाति, जदिच्छा, गुन, क्रिया, नाँम जुचार प्रमाँन ।
सब की संग्या ‘जाति’ गनि, बाचक कहैं सुजाँन^२ ॥*

वि०—“प्रत्यक्ष संकेत किये गये अर्थ को बतलानेवाले शब्द ‘वाचक’ कहलाते हैं और ये—‘जाति, यदृच्छा, गुण और क्रिया-वाचक रूप से चार प्रकार के होते हैं ।”

उदाहरन ‘दोहा’ जथा—

जाति-नाँम ‘जदुनाथ’ गनि,^३ ‘कान्ह’ जदिच्छा धारि ।
गुन ते कहिये ‘स्यौम’ औ क्रिया-नाँम ‘कंसारि’ ॥‡

पा०—१. (प्र०) (वे०) बिंजन, व्यंजन । २. व्य० म० (ला० भगवानदीन) पृ० ३ में इसका यह रूप मिलता है । यथा—

“सब्द कहत प्रघटे अर्थ, बाचक सोइ प्रमाँन ।

जाति, जदृच्छा, गुन, क्रिया, नाम चार पैहचाँन ॥”

और समेलन-प्रयाग की हस्तलिखित प्रति जो ‘अमेंटी’—नरेश की है, उसमें डेढ़ दोहा ही लिखा मिलता है । यथा—

“जाति, जदृच्छा, गुन, क्रिया, नाम जु चार प्रमाँन ।

पद बाचक अरु लाच्छिनिक, व्यंजन तीन बिधौन ॥

ताते बाचक-भेद कौ, पैहलें कटों बखौन ।”

३. (प्र०) (सं० प्र०) अरु...।

* का० प्र०—भानु० पृ० ६७ । व्य० मं० (ला० म० दी०) पृ० ३ । ‡ का० प्र०—
भानु, पृ० ६७ ।

वि०—“जिससे किसी पदार्थ विशेष का सामान्य ज्ञान हो वह ‘जाति-वाचक, जिस शब्द से किसी के वल एक पदार्थ का ही बोध हो उसे यदत्ता-वाचक कहते हैं। इसी प्रकार गुण-वाचक उसे कहते हैं जिससे किसी जाति की विशेषता का ज्ञान हो और जिससे पदार्थ के साध्य-धर्म का बोध हो उसे क्रिया वाचक कहते हैं। उदाहरण के लिये दासजी-द्वारा प्रयुक्त ऊपर का दोहा दृष्टव्य है, अर्थात् भगवान् श्री कृष्ण जाति-वाचक से ‘यदुनाथ’, यदत्ता से ‘कान्ह’। गुण से ‘श्याम’ और क्रिया से ‘कंसारि’—कंस के अरि, मारनेवाले विदित हैं।”

प्रथम गुण वरनन ‘दोहा’ जथा—

रूप, रंग, रस, गंध^१ गनि, और जु निसचल धर्म ।
इन सब को ‘गुण’ कहत हैं,^२ गुनि राखौ^३ यै मर्म ॥

वाच्यार्थ वरनन ‘दोहा’ जथा—

ऐसे सबदँन सों जहाँ,^४ प्रघट होइ संकेत ।
तिहिँ ‘वाच्यार्थ’ बखौन-हीं, सज्जँन, सुमति, सचेत ॥

वि०—“वाचक शब्दों के अर्थ को ‘वाच्यार्थ’ कहा गया है, अतएव— जाति-वाचक में ‘जाति’, गुण-वाचक में ‘गुण’, क्रिया-वाचक में ‘क्रिया’ और यदत्ता-वाचक शब्दों में ‘यदत्ता’ रूप वाच्यार्थ होता है। नैयायिक ऐसा नहीं मानते, वे इन चारों प्रकार के शब्दों को केवल ‘जातिवाचक’ वाच्यार्थ ही मानते हैं और जैसा कि दासजी ने आगेवाले दोहे में कहा है। मुख्यार्थ तो इसलिये कहा जाता है कि ‘लक्ष्यार्थ’ और ‘व्यंग्यार्थ’ के पूर्व वाच्यार्थ वहाँ उपस्थित है और ‘अभिधायार्थ’ उसे इसलिये कहा जाता है कि यह अभिधा का व्यापार है— उससे वह बोध होता है।”

अथ अभिधा वरनन ‘दोहा’ जथा—

अनेकार्थ हू सबद में, एक अर्थ को भक्ति^५ ।
तिहिँ^६ ‘वाच्यार्थ’ को कहैं^७ सज्जँन ‘अभिधासक्ति ॥ *

पा०—(भा० जी०)...रंग...।—(स० प्र०)(वै०) रंगरूप रस गंध गंधि गनि,...। २. (भा० जी०) हों...। ३. (भा० जी०)(वै०) राख्यौ, । ४. (प्र०)(का० प्र०) ऐसे सबदँन सों फुरै, संकेतित जो अर्थ, ताको वाच्यार्थ कहैं, सज्जँन सुमति-समर्थ ।—(प्र०—२) ऐसे सबदँन प्रेते प्रघट,...। ५. (प्र०)(प्र०—२) व्यक्ति । ६. (प्र०—२) ता...। ७. (का० प्र०) कहत ।

* का० प्र० (भानु), पृ० ६७ ।

वि०—“अभिधा—‘साक्षात् सांकेतिक रूप से अर्थ का बोध करानेवाली क्रिया (व्यापार) को कहते हैं, जो कि कहीं संयोग से, कहीं असंयोग से, कहीं बहुअर्थ-सयुक्त शब्दों के साहचर्य से, कहीं विरोध से, कहीं अर्थबल से, कहीं अर्थ के प्रकरण-ज्ञान से, कहीं प्रसंग से, कहीं समस्त वा अन्वित पद के अर्थ-बल (चिन्ह) से, कहीं सामर्थ्य से, कहीं औचित्य वा योग्यता से, कहीं देश-बल से, कहीं काल-बल-भेद से और कहीं अन्य संनिधि से, लिंग से, तथा कहीं स्वर के फेर से और कहीं अभिनय से १४ प्रकार को जानी जाती है । इसमें मतभेद भी है । कोई इस ज्ञान को तेरह प्रकार का और कोई बारह प्रकार का ही मानते हैं, यथा—

“है संजोग, बियोग अरु साहचरज सु विरोध ।

प्रकरन-अरथ-प्रसंग पुनि, चिन्ह, सामरथ बोध ॥

औचित्यहु पुनि देस-बल, काल-भेद, सुर-फेर ।

द्वादस अभिधासक्ति के, भेद कहें कवि हेर ॥”

—काव्य-प्रभाकर-भानु,

किंतु दासजी ने अभिधा के तेरह भेदों का हो कथन किया है, यथा—

(१) संजोग ते ‘दोहा’ जथा—

कहुँ होत ‘संजोग’ ते, एक-हि’ अरथ प्रमाँन ।

संख-चक्र-जुत हरि कहें, विसमै^२ होत न आँन ॥ *

(२) असंजोग ते ‘दोहा’ जथा—

असंजोग ते कहुँ कहें, एक अर्थ कबिराइ ।

कहें धँननजै धूम बिन, पावक जाँन्यों जाइ ॥

वि०—“जब कि ‘अनेकार्थी’ शब्द के एक अर्थ का निर्णय किसी अभिन्न वस्तु के कारण किया जाय । जैसे ‘हरि’ के अन्य अर्थ भी होते हैं, पर शंख और चक्र के संयोग से यहाँ विष्णु भगवान ही अर्थ लिया जायगा । इसी

पा०—१. (प्र०) एकै । २. (का० प्र०) विष्णु होत नहि आँन । (भा० जी०) होत विष्णु कौ आँन । (वें०) विष्णौ होत न आँन ।

* काव्य प्र०—(भानु) पृ० ६८ ।

प्रकार जब अनेकार्थ वाचक शब्द के एक अर्थ का निर्णय किसी अभिन्न वस्तु के असंयोग (वियोग) से किया जाय वहाँ उक्त अभिधा होती है ।”

(३) साहचर्य ते ‘दोहा’ जथा—

बौहौत अर्थ कों एक कहूँ ‘साचरज’^१ ते जाँन ।

‘बेनीमाधौ’^२ के कहें, तीरथ ‘बेनी’ माँन ॥ *

वि०—“जहाँ अनेकार्था वाचक शब्द के एक अर्थ का निर्णय किसी सहचर वस्तु की सहायता से किया जाय, जैसे ‘माधौ’ (माधव) शब्द के वसंतादि कितने ही अर्थ होते हैं, पर वेणी (त्रिवेणी) के माध्यम से यहाँ तीर्थराज प्रयाग हो माना जायगा ।”

(४) विरोध ते ‘दोहा’ जथा—

कहूँ ‘बिरोध’ ते होत है एक अर्थ कौ साज ।

चंद्र-हिं^३ जाँन परै कहें, ‘राहु-प्रस्यौ’ ‘दुजराज’^४ ॥

वि०—“जब किसी प्रसिद्ध विरोध अथवा शत्रुता के कारण अनेकार्थी शब्द के एक ही अर्थ का निर्णय किया जाय, जैसे “दुजराज” (द्विजराज) के चंद्र और दंत-पंक्ति आदि कई अर्थ होते हैं, पर राहु के प्रसने के कारण यहाँ चंद्र अर्थ ही लिया जायगा ।”

(५) अरथ-प्रकरण ते ‘दोहा’ जथा—

अर्थ-प्रकोरन ते कहूँ, एक अर्थ पैहचाँन ।

बृच्छ-जाँनिऐं दल-भरें, दल-साजें नृप जाँन ॥

वि०—“जहाँ अर्थ के प्रकरण से—उसके बल से जब एक ही अर्थ जाना जाय, जैसे दल-पत्ते और सैन्य आदि समूह को कहते हैं, अस्तु वृत्त के

पा०—१. (प्र०) साहचरज । (प्र०—२) (वे०) साहचर्य । २. (प्र०) (वे०) बेनी-माधव । ३. (प्र०) चंद्र...। (वे०) चंद्र...। ४. (प्र०) (प्र०—२) (सं० प्र०) (वे०) द्विजराज । ५. (प्र०) (सं० प्र०) (वे०) अर्थ-प्रकरण...। (का० प्र०) अर्थ प्रकरण...।

* का० प्र० (मानु) पृ० ६६ । †, का० प्र० (मानु), पृ० ६६ । ‡, का० प्र० (मानु), पृ० ६६ ।

साथ जोड़ने से उसका अर्थ पत्ते और राजा के साथ संयुक्त करने से 'दल' का अर्थ सेना होगा ।”

(६) प्रसंग-ग्यान ते 'दोहा' जथा—

बाचक ते कहुँ पाईये, एक-हि अरथ निपाट^१ ।

‘सरसति’ क्यों^२ कहिये, कहैं, ‘बौनी’ बैठ्यौ हाट ॥ *

वि०—“जब किसी प्रसंग के कारण अनेकार्थी ‘वाचक’ शब्द के एक अर्थ का निर्णय हो, जैसे—‘बौनी’ (बाणी) शब्द के सरस्वती आदि अर्थ होते हैं, पर यहाँ ‘हाट-बाजार’ के प्रसंग से ‘बनियाँ’ ही अर्थ होगा ।”

(७) चिन्ह (लिंग) ते 'दोहा' जथा—

आँन सबद-द्विग ते कहुँ, पईये एक-हि^३ अर्थ, ।

सिखी-पिच्छ ते जाँनिऐं, केकी परै समर्थ ॥ †

वि०—“जब संयोग के अतिरिक्त किसी अन्य संबंध से शब्द के एक अर्थ का निर्णय किया जाय और उदाहरण जैसा यहाँ दासजी ने कहा है ।”

(८) सामर्थ्य ते 'दोहा' जथा—

‘दास’ कहुँ^४ सौमर्थ ते, एक अरथ ठैहरात ।

व्याल वृच्छ-तोखौ कहैं, कुंजर जाँन्यों जात ॥ ‡

वि०—“जहाँ किसी पदार्थ की सामर्थ्य के कारण अनेकार्थी—अनेकार्थवाची शब्द के एक अर्थ का निर्णय किया जाय । जैसे यहाँ व्याल हाथी और सर्प दोनों को कहते हैं, पर वृत्त तोड़ने की सामर्थ्य के कारण व्याल शब्द का अर्थ सर्प न मान हाथी ही जाना जायगा ।

(९) औचित्य ते 'दोहा' जथा—

कहुँ उचित ते पाईये, एक अर्थ की रीति^५ ।

तरु पै ‘द्विज’ बैठ्यौ कहैं, होत बिहंग प्रतीति ॥

पा०—१. (प्र०) कहुँ लिंग ते पाईये, एक अर्थ कौ ठाट । (का० प्र०) कहुँ लिंग ते जानिये, एकै अर्थ सु घाट । २. (प्र०) सरसइ क्यों...। (का० प्र०) सरस्वती कहिये कहुँ...। (वै०) सरस्वती को कहिये...। ३. (प्र०) एकै । ४. (का० प्र०) कहुँ-कहुँ...। ५. (प्र०—२) (वै०) एकै अर्थ सुरीति ।

* , †, ‡, +, का० प्र० (मानु), पृ०-६६, ७० ।

वि०—“जहाँ किसी औचित्य (योग्यता) के कारण किसी अनेकार्थवाची शब्द का एक अर्थ ही ग्रहण किया जाय । जैसा कि यहाँ... द्विज शब्द के कई अर्थ होते हैं, पर यहाँ तरु-वृत्त के कारण उसका ‘विहंग’ अर्थ ही उपयुक्त है ।

(१०) देस-बल ते ‘दोहा’ जथा—

कहूँ देस-बल कहत हैं, एक अर्थ कवि धोर ।

मरु में जीवन दूरि है,^१ कहैं जाँनियत^२ नीर ॥ *

वि०—“जब कि किसी देश विशेष के कारण किसी अनेकार्थी शब्द के अर्थ विशेष का निर्णय किया जाय, जैसा उदाहरण में दासजी ने कहा है ।”

(११) काल-भेद ते ‘दोहा’ जथा—

कहूँ काल ते होत है, एक अर्थ की बात ।

कुबलै निसि-फूल्यौ कहैं, कुमुद दिवस जलजात ॥ †

वि०—“जब कि काल (समय) प्रातः मध्याह्न, अपराह्न, सायं और रात्रि के कारण किसी अनेकार्थी शब्द का एक अर्थ निर्णय किया जाय ।”

(१२) स्वर के फेरते ‘दोहा’ जथा —

“कहूँ स्वरादिक-फेर ते, एक-हि^३ अर्थ प्रसंग ।

बाजी भली सु^{*} बाँसुरी, बाजी भलौ तुरंग ॥” ‡

वि०—“जब कि स्वर के फेर से किसी विविध अर्थ-संयुक्त शब्द का प्रसंगानुसार अर्थ लिया जाय, जैसा “बाजी भली सु०.....” रूप उदाहरण में ‘बाजी’ शब्द का ।”

(१३) अभिनय ते ‘दोहा’ जथा—

कहूँ अभिनयादिकन ते, एक-हि^४ अर्थ विचार ।

इतो देखियत देहरी, इते बड़े हैं बार ॥

वि०—“जहाँ अभिनय-द्वारा एक ही अर्थ का विचार किया जाय, जैसा दासजी के इस दोहे के उत्तरार्ध में ।

पा०—१. (भा० जी०) यै । २. (प्र०—२) जाँनिपैं... । ३. (भा० जी०) (प्र०) (वै०) एकै । ४. (प्र०) न... । ५. (प्र०) (वै०)—एकै ।

*, का० प्र० (भानु) पृ० ७० । †, का० प्र० (भानु) पृ० ७१ । ‡, का० प्र० (भानु) पृ० ७१ ।

पुनः 'दोहा' जथा—

जाँमें अभिधा-सक्ति-तजि,^१ अरथ न दूजौ कोइ ।
इहौ^२ काव्य कीन्हें बनें, न तौ मिस्रतै^३ होइ ॥

अभिधा सक्ति कौ उदाहरन 'दोहा' जथा

मोर-पच्छ^४ कौ मुकट सिर, उर तुलसी-दल-माल ।
जमुनाँ-तीर कदंब-ढिंग, मैं देखे^५ नँदलाल ॥

वि०— 'अभिधा में—रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है । 'रूढ़' शब्द वे जिनकी व्युत्पत्ति न हो, 'यौगिक' वे जिनका अर्थ उनके अवयवों से होता हो और 'योगरूढ़' वे जो यौगिक होते हुए भी रूढ़ हों—जिनसे किसी विशेष वस्तु के लिये ही प्रस्तुत किये जाने की प्रसिद्धि हो—रूढ़ि हो । जैसे—'मोर-पच्छ कौ०....' रूप उदाहरण में । 'मोर, पक्ष, दल, माल, तीर, कदंब, नंद और लाल' सब अनेकार्थी हैं, पर इन द्वारा यहाँ एक ही अर्थ 'अभिधेय' है ।"

लच्छना-सक्ति बरनन 'दोहा' जथा—

मुख्य अरथ कौ बाध करि,^६ सब्द^७ लच्छना होत ।
'रूढ़ि' और 'प्रयोजनवती',^८ है 'लच्छना उदोत ॥१॥

वि०—मुख्य अर्थ के बाध होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से संबंध रखनेवाला अन्य अर्थ लक्षित हो उसे "लक्षणा" कहते हैं और यह 'रूढ़ि' और 'प्रयोजनवती' नाम से दो प्रकार की होती है । लक्षार्थ-वाचक शब्द को 'लक्षक' और लक्षार्थ-निर्धारिणी शक्ति को 'लक्षणा' कहते हैं । मुख्यार्थ को ग्रहण न करने का कारण कवि या लोक-परंपरा माना जाता है, अथवा कोई प्रयोजन होता है । यथा—

"मुख्यार्थ बाधे तद्योगे रुढितोऽथ प्रयोजनात् ।

अन्यऽर्थो लक्ष्यते (तत्र) लक्षणारोपिता क्रिया ॥"

पा०—१. (प्र०) करि... २. (प्र०) (वें०) यहौ... ३. (भा० जी०) मिस्रतौ । (प्र०) ना तौ मिस्रित होइ । ४. (वें०) मोर-पख... ५. (प्र०) देख्यौ । (वें०) देखौ । (सं० प्र०) मैं देखी... ६. (प्र०) मुख्य-अर्थ के बाध ते । (वें०)...बाध सों । ७. (प्र०) शब्द लाच्छ-निक... । (वें०) सब्द लच्छनिक... । ८. (वें०) रूढ़ी-प्रयोजनवती । (रा० का०) रूढ़-प्रयो-जनवती ।

*, व्यं० सं० (ला० भ०) पृ० ६ ।

अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ ग्रहण करने में बाधा होने पर किसी रूढ़ि वा प्रयोजन के वश मुख्य अर्थ से संबंधित अन्य अर्थ को आरोपित कर 'बाधा' दूर कर दी जाय तो वहाँ लक्षणा का व्यापार समझना चाहिये ।”

रूढ़ि लच्छना-लच्छन 'दोहा' जथा—

मुख्य अरथ में^१ बाध पै, जग में बचन प्रसिद्ध ।

‘रूढ़िलच्छना’ कहति हैं, ता को^२ सुमति समृद्ध^३ ॥*

वि०—“जहाँ केवल रूढ़ि, अर्थात् लोगों के प्रयोग-ब्राहुल्य वा लोक-प्रसिद्धि के कारण मुख्यार्थ को छोड़ दूसरा लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय वहाँ ‘रूढ़िलक्षणा’ होती है ।”

उदाहरन 'दोहा' जथा—

फलो सकल मन-कामनाँ, लूट्यौ^४ अगनित चैन ।

आज अँचै हरि-रूप सखि, भए प्रफुल्लित नैन ॥†

अथवा पुनः ‘कवित्त’ जथा—

अँखियाँ हँमारी दर्ई-मारीं सुधि-बुधि हारीं,

मोहू तें जु न्यारी ‘दास’ रहै सब काल में ।

कोंन गहै ग्याँनें, काहि सोंपत सयाँनें,

कोंन लोक-लीक^५ जाँनें ए नहीं हैं निज हाल में^६ ॥

प्रेम-पगि रहीं, महा^७ मोह में उँमगि रहीं,

ठीक ठगि^८ रहीं, लगि रहीं बनमाल में ।

लाज को अँचै कें, कुल-धरम पचै कें,

बिथा-बुंदन^९ सँचै कें भई मगँन गुपाल में ॥‡

अस्य तिलक

मन-कामनाँ वृच्छ नाहीं, जो फलै, फलिबौ सब्द वृच्छँन पर होत है ।
लच्छनाँ-सक्ति ते मन की कामनाँ को फली बोलियतु हैं । ऐसे-ही-ऐसे सब्दँन कौ उपरले दोहा औरु या कवित्त में अधिकार है, सो जाननों ।

पा०—१. (प्र०) के...। (वें०) कौ ..। २. (प्र०—२) सों...। ३. (का० प्र०) कहत निरुद्धी लच्छना, जे कवि बाँनी सिद्ध । ४. (प्र०) लूटेउ । ५. (प्र०) ओक । (वें०) वोक । ६. (प्र०—२) ए नाहिं नित हाल में । ७. (का० प्र०) माया । ८. (भा० जो०) लगि...। ९. (प्र०) (प्र०—२) बधेन...।

*, का० प्र० (भातु) पृ० ७२ । व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० १० । †, का० प्र० (भातु) पृ० ७२ । व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० १० । ‡, मं० मं० (अजान) पृ० ३० । का० प्र० (भातु) पृ० १७३ । व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० ११ ।

(इस कवित्त में भी—लाज को पीना, कुल धर्म को पचाना, व्यथा-बंधन को संचित करना तथा गोपाल में डूबना, इन सब में मुख्यार्थ-द्वारा असंगति है, पर रूढ़ि के द्वारा संसार में ये अर्थ होते हैं ।)

वि०—“मनोजमंजरी (अज्ञानकवि) और काव्य-प्रभाकर (जगन्नाथ प्रसाद भानु) में यह कवित्त ‘ऊढा’ नायिका के वर्णन में दिया गया है । ऊढा नायिका का लक्षण कवि-कविदों—रीति-शास्त्रकारों ने इस प्रकार दिया है—

‘जो ब्याही तिय और की, करै और सों प्रीति ।

‘ऊढा’ तासों कहत हैं, राखि हिणें रस-रीति ॥”

और इसका उदाहरण कविवर ‘बेंनी’ पूरा नाम-वेनी प्रवीण, (१०१० १८७८ वि०) ने बड़ा सुंदर रचा है, यथा—

“सूखी-सी, खमी-सी, भ्रमी ब्याकुल-सी बैठी कहुँ,

नजर लगी है, त्रिन तोर - तोर नाख्यौ मैं ।

‘बेंनी कवि’ भोर हीं ते भोरी भई डोलति हों,

राज करौ जाइ ये काज अभिलाख्यौ मैं ॥

ललिकै हमारौ जिय, बोलै ना बिलोकै क्योंहुँ,

मुख-आँखें मूँदि रही यातें दीन भाख्यौ मैं ।

पलकें उधारों कैसे, कढ़ि जाइ आँखिन ते,

सोर ना करौ-री, चित-चोर मूँदि राख्यौ मैं ॥”

अथ प्रयोजनवती लच्छना-लच्छन ‘दोहा’ जथा—

प्रयोजनवती सु लच्छना^१, द्वै बिधि तासु बखौन^२ ।

एक ‘सुद्ध’ ‘गौनी’^३ दुतीय, भाखत सुमति^४ सुजान ॥*

वि०—“प्रयोजनवती लक्षणा उसे कहते हैं, ‘जहाँ किसी विशेष प्रयोजन के लिए लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाय । अथवा — ‘जहाँ किसी प्रयोजन के कारण शब्द के मुख्यार्थ में बाधा पड़े, वहाँ यह लक्षणा होती है और इसके ‘गौणी’ (गौनी-गौमनी) तथा शुद्धा (सुद्धा) दो भेद होते हैं ।”

पा०—१. (भा० जी०) लच्छ अप्रयोजनवती । (प्र०-२) लच्छिनऽप्रयोजनवती, ... (वै०) प्रयोजनवती तु लच्छना, ... । (का० प्र०)) प्रयोजनवति हू लच्छना, ... । (प्र०) (वै०) प्रमान । ३. (भा० जी०) (प्र०-२) गमनी... । ४. (प्र०) सुकवि... ।

* का० प्र० (भानु) पृ० ७३ ।

सुद्ध लच्छना-भेद 'दोहा' जथा-

'उपादान' इक सुद्ध में^१ दूजी 'लच्छन'^२ ठाँन ।

तीजी 'सारोपा कहें'^३, चौथी 'साध्यवसान'^४ ॥*

वि०—“शुद्धा-भेद, यथा—“उपादान-लक्षणा, क्षणल-लक्षणा, सारोपा-लक्षणा और साध्यवसाना-लक्षणा । कोई-कोई इन्हें—“अजहत्स्वार्था, जहत्स्वार्था, सारोपा तथा साध्यवसाना भी कहते हैं ।”

प्रथम उपादान लच्छना-लच्छन 'दोहा' जथा-

उपादाँन सो लच्छनाँ, पर-गुँन लीनें होइ ।

कुंत-चलत सब कोउ^५ कहें, कर-बिन चलत न सोइ ॥†

वि०—“अपने अर्थ की सिद्धि के लिये जब दूसरे अर्थ का आक्षेप किया जाय, अर्थात् प्रयोजनीय अर्थ की प्राप्ति के लिये मुख्यार्थ को न छोड़ते हुए किसी दूसरे अर्थ को ग्रहण किया जाय, जैसे इस दोहे के अर्थ भाग रूप उदाहरण में—“कुंत चलत सब कोउ कहें...”, “अर्थात् कुंत (भाले) चलते सब कोई कहते हैं, पर किसी योग-मनुष्य के चलाने पर ही वे चलते हैं, इत्यादि...”

उपादन-लच्छना उदाहरन अन्य 'दोहा' जथा —

जमुनाँ-जल कों जाति-हीं. डगरी गगरी जाल ।

बजी बाँसुरी काँन्ह की, गिरीं सकल ततकाल^६ ॥‡

पुनः उदाहरन 'दोहा' जथा —

खेलत ब्रज होरी सजें, बाजे बजें रसाल ।

पिचकारी चालति^७ घनीं, जहँ-तहँ उड़त गुलाल ॥ ×

अस्य तिलक

गागरि (गगरी) आपु सों नाहि जाति, कोऊ प्राँनी वाकों लिएँ जाइ तब जाति है, ऐसे मुख्यार्थ बोध (बाध) ते 'उपादाँन लच्छना' होती है, सो दोऊ दोहाँन के प्रति वाक्यन में उदाहरन हैं ।

पा०—१. (प्र०) उपादाँन इक जाँनिषें,...। २. (प्र०) लच्छित...। ३. (का० प्र०) अहै,...। ४. (प्र०) (वें०)जग...। ५. (प्र०) (वें०) (स० प्र०) तिहि काल । ६. (प्र०) (वें०) चलती...।

*. का० प्र० (भानु) पृ० ७३ । †. का० प्र० (भानु) पृ० ७३ । व्य० म० (ला० भ०), पृ० १२ । ‡ व्य० म० (ला० भ०) पृ० १३ । × व्य० म० (ला० भ०) पृ० १३ ।

वि०—“जैसा पूर्व में कहा गया है—‘भाले स्वयं नहीं चलते, गागर जल के लिये स्वयं नहीं जाती, बाजे स्वयं नहीं बजते, गुलाल स्वयं नहीं उड़ता, पिचकारियाँ स्वयं नहीं चलती, अपितु क्रमशः किसी के चलाने, ले जाने, बजाने, उड़ाने और चलाने पर ही चलते, जाते, बजते, उड़ते और चलती हैं, क्योंकि ये जड़ पदार्थ हैं, कोई कर्त्ता होना चाहिये इत्यादि...।”

लच्छन-लच्छना ‘दोहा’ जथा—

निज लच्छन औरें दिये, लच्छ लच्छनाँ जोग ।
गंगा-तट-बासी^१ कहे, गंगा-बासी लोग ॥*

पुनः उदाहरन ‘दोहा’ जथा—

सुंदरि, दियौ^२ बुझाइ कें, सोवति सोधि-मभार ।
सुनत बासुरी कान्ह की, कढ़ी तोरि-कें द्वार ॥†

अस्य तिलक

‘तोरिबौ किवार कौ सभवतु है, पै (यहाँ) ‘द्वार’ कछौ । बाँसुरी की धुनि सुनीं, पै (यहाँ) बाँसुरी कों कछौ ताते ‘लच्छन-लच्छनाँ’ कहिए ।

वि०—“जहाँ वाक्यार्थ की सिद्धि के लिये मुख्यार्थ को त्याग लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय वहाँ ‘लक्षण-लक्षणा’ कही जाती है । उपादान लक्षणा ‘अजह-स्थार्था’ है, वह अपना मुख्यार्थ नहीं छोड़ती और यह लक्षण-लक्षणा ‘जह-स्थार्था’ है जो अपना मुख्यार्थ छोड़ देती है । अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनि में भी यह लक्षणा होती है । अस्तु, दासजी के उदाहरण तो संस्कृत-काव्यानुसार सुंदर हैं ही, पर इस लक्षणा का ‘विहारीलाल कृत निम्नलिखित दोहा—रचना अनुपम उदाहरण है, यथा—

“कच-सँमेंटि कर, भुज-उलट, खए सीस पट-टारि ।

का कौ मन बाँधे नहीं, यै जूरौ-बाँधन-हारि ॥”

विहारी कृत यह दोहा किसी नायिका के जूरा (वेणी) बाँधते समय की चेष्टा—क्रिया का वर्णन है । बाँधै वा बाँधत शब्द का मुख्यार्थ है बाँधना, पर मन कोई स्थूल वस्तु नहीं जिसे बाँधा जाय, अतएव मुख्यार्थ का यहाँ बाध है और मुख्यार्थ को सर्वथा त्याग कर ‘मन’ को बाँधना—आसक्त करना, यह लक्ष्यार्थ

पा०—१. (का० प्र०) वासिन्ह...। २ (प्र०) (वै०) (का० प्र०) दिया...।

* का० प्र० (भानु०) पृ० ७४ । † का० प्र० (भानु०) पृ० ७४ ।

लेने से यह लक्षणा है। नायिका का अनुपम सौंदर्य सूचित करना ही यहाँ प्रयोजन है।”

अथ सारोपा लच्छना लच्छिन ‘दोहा’ जथा—

और थापिये और कों, क्यों हूँ समता पाइ।

‘सारोपा’^१ सो लच्छनाँ, कहें सकल कबिराइ ॥*

वि०—“संस्कृत-आचार्यों ने ‘सारोपा लक्षणा’ के प्रति कहा है कि” जहाँ आरोप्यमाण (विषयी) और आरोप के विषय दोनों को शब्दों-द्वारा कहा जाय—किसी वस्तु पर सादृश्यगुण के कारण किसी अन्य वस्तु का आरोप किया जाय, वहाँ यह लक्षणा होती है।

उदाहरन ‘दोहा’ जथा—

मोहन मो दग-पूतरी, बौ^२ छवि सिगरी प्राँन।

सुधा^३-चित्तोंन सुहावनी, मीच बाँसुरी-ताँन ॥†

अस्य तिलक

मोहन कों दग की पूतरी थाप्यौ, औ वाकी छवि कों प्राँन थाप्यौ, ताते ‘सारोपा-लच्छिना भई।

वि०—“दासजी ने इस उदाहरण रूप दोहा-द्वारा ‘मोहन’ को आखों की पुतली, उनकी ‘छवि’ को प्राण, चितवन को ‘सुधा’ और बाँसुरी की मधुर तान को मृत्यु बतलाया है—आरोप किया है, अतएव यह ‘सारोपा’ लक्षणा का मुख्य विषय है।

यहाँ अलंकार रूप में ‘द्वितीय निदर्शना’ भी कही जा सकती है, क्योंकि—

थापिय गुन उपमेइ कौ, उपमाँन-हि के अंग।

ता कहँ ‘द्वितीय निदर्शना’, भाषत सुमति उत्तंग ॥”

अर्थात् जहाँ किसी वस्तु विशेष में होने वाले गुण को दूसरी वस्तु में होना दिखलाया जाय, वहाँ यह अलंकार होता है।”

दासजी ने यह दोहा २४ वें उल्लास में ‘काव्यदोषोद्धार के प्रसिद्ध विद्या-विषद क्वचित् गुण के उदाहरण में भी दिया है और कहा है—“शब्द में

पा०—१. [सं० प्र०] [वें०] ‘सारोपित...।’ २. [प्र०] [व्यं० मं०] वा...। [वें०] वै...। [का० प्र०] वा सिगरी छवि प्राँन। ३. [प्र०—२] चितवन सुधा सुहावनी...।

*, का० प्र० [भानु] पृ० ७४। †, का० प्र० [भानु] पृ० ७४। व्यं० मं० [ला० भं०], पृ० १५।

बाँसुरी की तान को 'मींच' कहिनों असत् है वो विशेषोक्ति अलंकार भयो,
यै गुन है, इत्यादि।”

अथ साध्यवसाना लच्छना-लच्छिन वरनन 'दोहा' जथा—

जाकी सँमता कहँन कों, 'वहै मुख्य कहि' देख ।
'साध्यवसाना'^३—लच्छनाँ, विषै नाँम नहिं लेइ ॥ *

वि०—“जहाँ आरोप के विषय का शब्दों-द्वारा निर्देश (कथन) न होकर केवल आरोप्यमाण का ही कथन किया गया हो वहाँ 'शुद्धा साध्यवसाना-जन्तुणा' होती है। आरोप विषय—जिस पर आरोप किया गया हो, और आरोप्यमाण—जिन शब्दों से आरोप किया जाय...। साध्यवसाना 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार के अंतर्गत भी रहती है। यथा—

“रूपकातिशयोक्तिश्चेद्रूप्यं रूपक मध्यगम् ।”

रूपक में अंतर्हित रखकर जहाँ रूप्य का बोध कराया जाय, अर्थात् जहाँ केवल उपमान के द्वारा उपमेय का ज्ञान करा जाय, वहाँ 'रूपकातिशयोक्ति' कही जाती है। अस्तु, दोनों का विषय एक है ।”

157

अस्य उदाहरन 'दोहा' जथा—

बैरिन कहा बिछावतो, फिरि-फिरि सेज^४-कृसाँन ।
सुने^५न मेरे प्राँन-धँन, चँहत आज कहँ जाँन ॥ †

अस्य तिलक

बैरिन सखी कों, कृसाँन फूल कों और प्राँन-धँन पति कों कइयौ, पै सखी, फूल और पति सूधे न कह्यौ, जाते साध्यवसाना लच्छनाँ कहिए । “यहाँ केवल आरोप्यमान रहवे सों 'साध्यवसाना' और सादृश्य-संबंध के न रहवे के कारन 'शुद्धा प्रयोजनवती है ।”

पा०—१. (व्य० मं०) जाकी आरोपँन करै... । २. (प्र०) (भा० जी०) करि... ।
३. (का० प्र०) (व्य० मं०) (स० प्र०) साध्यवसान सु लच्छिना, । ४. [प्र०] सेल... ।
५. [प्र०] [वै] [का० प्र०] [व्य० मं०] सुन्यो... ।

*, का० प्र० (भानु) पृ० ७४ व्य० मं० (ला० भ०) पृ० १५ । †, का० प्र० [भानु] पृ० ७४ ।

गौनी (गौणी) लच्छना-लच्छिन तथा भेद बरनन 'दोहा' जथा —

गुँन-लखि 'गौनी-लच्छिनौ', द्वै बिधि^१ तासु प्रमाँन ।

'सारोपा' प्रथमें गँनों, दूजी साध्यवसाँन ॥ *

वि०—“सादृश्य के संबंध से जहाँ लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाय, वहाँ “गौणी-लक्षणा” होती है । सादृश्य—समान गुण, धर्म ।”

सारोपा गौनी लच्छना-लच्छिन-उदाहरन 'दोहा' जथा—

सगनारोप सु लच्छिनौ, गुन लखि करि आरोप ।

जैसे सब कोऊ कहै, वृषभै गँवई^२ गोप ॥ †

वि०—जब किसी वस्तु पर सादृश्य गुण के कारण किसी अन्य वस्तु का आरोप किया जाय—गुण लखकर तदनुसार आरोप किया जाय । जैसे—“वृषभै गँवई गोप” में गाँव के गोप को वृषभ (बैल, मूर्ख) कहा जाना ।”

पुनः उदाहरन 'दोहा' जथा—

सूर सेर-करि माँनिँ, कादर स्यार बिसेख ।

बिद्याबाँन त्रि नैन^३ है, कूर अंध करि लेख ॥

वि०—“यहाँ भी सूखीर को शेर (सिंह), कादर (कायर) को स्यार (गिदड़), विद्यान् को त्रिनेत्र और मूर्ख को अंधा कहा गया है, जो वास्तव में नहीं, पर गुण के कारण हैं ।”

साध्यवसाना गौनी लच्छना-लच्छिन-उदाहरन 'दोहा' जथा—

'गौनी साध्यवसाँन' सो^४, केवल-ही उपमाँन ।

कहा वृषभ ते करत^५ हौ, बातें ह्वै मतिमाँन^६ ॥ ‡

वि०—“जहाँ गुण-सादृश्य के कारण केवल लक्षक शब्दों के द्वारा-ही किसी वस्तु का कथन—वर्णन किया जाय, अथवा—केवल उपमान-वाची शब्दों से कथन किया जाय, वहाँ यह लक्षणा होती है । जैसा—“कहा वृषभ०”..... उदाहरण में कहा गया है, अर्थात् बुद्धिवान् होकर वृषभ (मूर्ख) से बात करना.....।”

पा०—१. [भा०जी०] [वे] ही...। २. [प्र०] [वें] त्रिनयन हैं...। ३. [प्र०—२] जहाँ । ४. [भा० जी०] [प्र०] [वें] कहत... । ५. [प्र०—२] मतिवाँन ।

* का० प्र० [भानु] पृ० ७५ । † का० प्र० [भानु] पृ० ७५ । व्य० मं० [ला० मं०] पृ० १६ । ‡ का० प्र० [भानु], पृ० ७५ । व्य० मं० [ला० मं०] पृ० १७ ।

इति लच्छनाँ-सक्ति निरनै

वि०—“दासजी ने लच्छणा-शक्ति के रूढि के अनंतर ‘प्रयोजनवती-लच्छणा’ के आठ भेद माने हैं। काव्यप्रकाश के कर्त्ता ‘मम्मटजी’ ने प्रथम—“लच्छणा-तेन षड्विधा” रूप छः भेद कह पुनः उन्हें बारह प्रकार का माना है। विश्व-नाथजी ने अपने ‘साहित्यदर्पण’ (संस्कृत) में शुद्धा के समान गौणी के भी ‘उपादान’ और ‘लच्छण’ लच्छणा भेद विशेष कहते हुए इनको ‘सारोपा’ और ‘साध्यवसाना’ में विभक्त कर ‘गौणी’ के चार भेद किये हैं। अतएव गौणी के चार, शुद्धा के चार फिर इन दोनों के ‘गूढ़’ और अगूढ़-व्यंग-भेद से सोलह इसके बाद इन सोलहों के भी ‘पदगत’ और ‘वाक्यगत’-भेद से बत्तीस फिर इनके भी ‘धर्मगत’ तथा ‘धर्मीगत’—भेदों-द्वारा चोसठ (६४) भेद किये हैं, पर मुख्य भेद इस प्रकार होते हैं, जैसे—“प्रयोजनवती—गौणी, शुद्धा। गौणी—सारोपा, साध्यवसाना। शुद्धा—उपादान, उपादान—सारोपा, साध्यवसान। लच्छण लच्छणा—सारोपा, साध्यवसान। रूढि-लच्छणा—शुद्धा, गौणी। शुद्धा-उपादान लच्छणा, गौणी-उपादान लच्छणा। अथवा—लच्छणा = रूढि, प्रयोजन-वती। रूढि - रूढि यौगिक, योग-रूढ। प्रयोजनवती - शुद्धा, गौणी। शुद्धा—उपादान, लच्छणा, सारोपा, साध्यवसान। गौणी—सारोपा, साध्यवसान इत्यादि....।”

अथ-बिजनाँ बरनन

बिजनाँ-निरनै बरनन ‘सवैया’ जथा—

बाचक-लच्छक भाजँन-रूप हैं, बिजक कों जल मँनत ग्याँनी।
जाँन परै न जिन्हें तिनके, सँमझाइवे कां यै ‘दास’ बखाँनी॥
ए दोऊ होत ‘अव्यंग’ ‘सव्यंग’, यों व्यंग इन्हें बिन लावै न बाँनी।
भाजँन लाउ न^२ नीर-बिहीन, न आइ सकै बिन-भाजँन पाँनी॥

पुनः ‘दोहा’ जथा—

‘बिजन’, बिजंक’ जुक्त पद,^३ व्यंग’ ता सु जो अर्थ।
ताहि बूझिबे की सकति, है बिजनाँ समर्थ॥ *

पा०—१. (सं० प्र०) सव्यंगि—व्यंगि...। २. (प्र०) भाजन लाईये...। (सं० प्र०)
(वै०) भाजन ल्याईये .। ३. (सं०—प्र०) व्यंजक व्यंजन-जुक्त है...।

*, व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० १८।

सूधौ अर्थ जु बचँन कौ, तिहिं तजि औरें बेंन ।

समझि परै तिहिं' कहति हैं, 'सक्ति-विंजन-ऐन ॥ *

वि०—“विंजन (व्यंजन), विंजक (व्यंजक) व्यंग (व्यंग्य) । व्यंजन (शब्द)—अपने-अपने अर्थ का बोध करा, ‘अभिधा’ और ‘लक्षणा’ के विरत (शांत) हो जाने पर जिस शक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध हो, यह ‘व्यंजना’ का स्पष्टार्थ है । व्यंजक—जिस शब्द का व्यंजना-शक्ति-द्वारा वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ प्रतीत हो, उसे व्यंजक कहते हैं और व्यंग्य—वाच्य तथा लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त एक तीसरे-ही प्रकार के, जिस अर्थ की व्यंजना-द्वारा प्रतीति हो, उसे कहते हैं, अर्थात्—वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त जिस अद्भुत अर्थ का बोध हो उसे “व्यंग्यार्थ” एवं जिस शब्द से यह अर्थ प्राप्त हो उन्हें “व्यंजक” तथा जिस शक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ का ज्ञान हो, उसे “व्यंजना” कहते हैं और यह दो प्रकार की होती है—“शाब्दी” और अर्थी” ।”

अथ अभिधामूलक व्यंग बरनन ‘दोहा’ जथा—

सबद - अनेकारथन - बल*, होइ दूसरौ अर्थ ।

‘अभिधा-मूलक व्यंग’ तिहिं, भौखत सुकवि समर्थ ॥†

वि०—“जहाँ अनेकार्थ वाची शब्दों का अभिधा-द्वारा एक अर्थ निश्चित हो जाने पर भी कोई अन्य अद्भुत-अर्थ निकले, उसे ‘अभिधामूलक व्यंग्य’ कहा जायगा ।”

अस्य उदाहरन ‘दोहा’ जथा—

भयौ ‘अपत’ कै ‘कोप-जुत,’ कै बौरौ इहि काल ।

मालिन आज कहै न क्यों, वा रसाल कौ^३ हाल ॥‡

वि०—दासजी के उक्त उदाहरण में ‘अभिधा’ से—रसाल (वृद्ध विशेष) का वर्णन निश्चित-सा है, किंतु—अपत, कोप-जुत, बौरौ, मालिन और रसाल शब्दों के भिन्नार्थ होने से वचन-विदग्धा नायिका की उक्ति जैसा अर्थ भी प्रगट

पा०—१. (भा० जी०) (वे०) समझि परे ते...। २. (का० प्र०) सबद अनेकारथ-बल-हि...। ३. [वें०] की...।

*, का० प्र० (भानु), पृ० ७६ । व्यं० मं० [ला० मं०] पृ० १५ ।—शृ० ल० सौ० (दि० दे०) पृ० ५१ । †, का० प्र० (भानु), पृ० ७७ ।—शृ० ल० सौ०—(दि० दे०) पृ० १५५—२२५ । ‡, का० प्र० [भानु] पृ० ७७ । शृ० ल० सौ० (दि० दे०) पृ० १५५, २२५ ।

हो रहा है, अतएव ‘अभिधा मूला शाब्दी व्यंजना’ कही जायगी, अर्थात् ‘रसाल’ शब्द से नायक की कुशलता पूछना—व्यंजित होना ‘अभिधामूलक’ व्यंग्य है।

पं० जगन्नाथ प्रसाद ‘भानु’ ने काव्य-प्रभाकर में दासजी के इस दोहे को ‘वचन-विदग्धा नायिका’ के उदाहरण में उल्लेख किया है। वचन-विदग्धा

“वचनन की रचनाँन सों, जो साथे निज काज।

‘वचन विदग्धा नायिका’ ताहि कहत कबिराज ॥”

—पश्चात्,

अर्थ स्पष्ट है, अस्तु—‘वचनविदग्धा नायिका’ का वर्णन “संगम” कवि ने बड़ा सुंदर प्रस्तुत किया है। यथा—

“तीर है न बीर कोऊ करै नाँ सँमीर धीर,
बाढ्यौ सँम-नीर अति रह्यौ नाँ उपाउ रे।
पंखा है न पास, एक आस तेरे आवन की,
सावन की रेंन मोहि मरत जियाउ रे ॥
‘संगम’ में खोलि राखी खिरकी तिहारे हेत,
होति हों अचेत तनै-तपत बुझाउ रे।
जाँन-जात जाँन क्यों न कीजिए उताल गोंन,
पोंन मीत मेरे भोंन मंद-मंद आउ रे ॥”

इसी भाव को कवि “राबराणा” ने भी अपनाया है, जैसे—

“पास परिचारिका न कोऊ जो करै बियारि,
मैहैल - टैहैल मेरी कैहैल मिटाउ रे।
‘राब’ कहें बात न सुहाती तेऊ हाती करी,
छाती ते छुआइ अति आँनद बढ़ाउ रे ॥
ऐरे मीत पोंन, तू परसि मेरी अंग आइ,
तेरे इतै आइवे कौ मेरे चित चाउ रे।
राखे बढी बरे ते किरार खोल तेरे काज,
ऐरे मेरे मंदिर में मंद-मंद आउ रे ॥”

इन माणिक-मोती रूप छंदों में किसे विशेषता दी जाय, यह सहृदय पाठकों के संवेद्य है।”

अथ लच्छना-मूलक व्यंग 'दोहा' जथा—

व्यंग-लच्छना-मूल सो, प्रयोजनन ते होइ ।
होत 'रूढि' 'अव्यंग' द्वै*, ये जौनत सब कोइ ॥*

गूढ़-अगूढ़-हु* व्यंग द्वै, होत लच्छना-मूल ।
छिप्यौ* गूढ़, प्रघट्यौ* कहौ, है अगूढ़ सम-तूल ॥†

वि०—“जहाँ लक्ष्यार्थ के द्वारा एक अर्थ निश्चित होते हुए भी कोई दूसरा अन्य विलक्षण अर्थ भी प्रकट होता हो, वहाँ यह लक्षणा कही जाती है और यह 'रूढि' तथा 'व्यंग्य' के कारण दो प्रकार की तदनंतर व्यंग्य भी— गूढ़ और अगूढ़ दो प्रकार का कहा जाता है । महावीर प्रसाद मालवीय संपादित प्रति 'काव्य-निर्णय' में पूर्व के और इस दोहे में काफी उलट-फेर तथा पाठांतर है, यथा —

“गूढ़-अगूढ़ौ व्यंग द्वै, होत लच्छना मूल ।
छिपी गूढ़ प्रघट-हि कहों, है अगूढ़ सम तूल ॥
कवि, सहदै जा कहँ लखें, व्यंग कहावत गूढ़ ।
जाकों सब कोई लखत, सो पुनि होइ निगूढ़ ॥”

अथ गूढ़-व्यंग मूलक लच्छना उदाहरन 'सवैया' जथा—

आँनन में मुसिक्यौनि सुहावनीं, बंकता नैनन-माँझि छई है* ।
बैन खुले-मुकले उरझात,^१ जकी बिथकी गति ठौन ठई है ॥
'दास' प्रभा उछिलै सब अंग, सुरंग सुवासता फैलि गई^२ है ।
चंदमुखी तन-पाइ नबीनों, भई तरुनाई अँनंद मई^३ है ॥ ‡

अस्य तिज्ञक

जब या नायिका के पाइवे ते तरुनाई को अँनंद भयौ है, तौ अब याइ कोऊ पुरुष (नायक) पावैगौ तौ कितनों अँनंद न होइगौ, अर्थात् 'अति अँनंद होइगौ' ये व्यंग है ।

पा०—१. [वै०] है । २. [का० प्र०] गूढ़-अगूढ़ौ व्यंग... ३. [भा० जी०] छिपी । ४. [भा० जी०] प्रघटै । [वै०] प्रघट-हि... ५. [भा० जी०] [वै०] बंकुरता अँखियाँन... ६. [प्र०] [वै०] [प्र०-२] [शृ० नि०], [र० कु०] उरझात... ७. [भा० जी०] तिय की... ८. [र० कु०] केलि-मई...।

*. का० प्र० (भानु) पृ० ७६ । †, का० प्र० (भानु), पृ० ७७ । ‡, शृ० नि० (भि० दा०) पृ० ४४ । र० कु० (अयो०) पृ० ६३ । ब्र० ना० मे० (मी०) पृ० २३१ ।

वि०—दासजी ने यह सबैया अपने 'शृंगार-निर्णय' नामक नायिका-भेद के ग्रंथ में "ज्ञातयौवना" नायिका के तथा 'रसकुसुमाकर' के संग्रह-कर्ता ददुवा साहिब अयोध्या ने 'मुग्धा' नायिका के उदाहरण में दिया है। वयः-क्रम के अनुसार 'मुग्धा' नायिका के 'ज्ञात' और 'अज्ञात' यौवना दो भेद होते हैं। ये दो भेद—ज्ञाताज्ञात यौवना ही मुग्धा के प्रसिद्ध हैं, फिर भी ब्रजभाषा के रीत्याचार्यों ने जिनमें—श्रीकेशव, चिंतमणि, देव और रसलीन प्रमुख हैं, 'ज्ञातयौवना के अन्य भेदोपभेद मानते हुए विविध मत दिये हैं, जैसे—

(१) केशवदास—“नवलबधू, नवयौवना, नवल अनंगा, लज्जाप्रायः।”

(२) चिंतमणि—“वयःसंधि, अविदित-यौवना, अविदित-कामा, विदित-मनोभवा-यौवना, नवोढा, विश्रब्धनवोढा।”

(३) देव—“वयःसंधि (अज्ञात-यौवना १२ से १३वें वर्ष के प्रारंभ तक) नवलबधू (१३वाँ वर्ष), नवयौवना (ज्ञातयौवना का १४वाँ वर्ष), नवल अनंगा (१५वाँ वर्ष), सलज्जा-रतिप्रिया (विश्रब्धनवोढा, १६वाँ वर्ष) रूप पाँच भेद।”

(४) रसलीन—“अंकुरित यौवना, शैशव यौवना, नव यौवना, नवल अनंगा, नवल बधू।”

नव-यौवना—अज्ञात यौवना, दीर्घात यौवना (ज्ञात यौवना)।

नवल-अनंगा—अविदित काम, विदित काम।

नवल बधू—नवोढा, विश्रब्धनवोढा, लज्जा-आसक्त-रतिकोविदा।

इनके अतिरिक्त कुछ कवि-कोविदों द्वारा 'मुग्धा' के नवलबधू आदि भेद मान फिर उस नवलबधू के ज्ञात और अज्ञात यौवना भेद भी स्वीकार किये गये हैं और कुछ कवियों ने मुग्धा को स्वकीया नायिका का ही पूर्व भेद स्वीकार करते हुए पृथक् वयःक्रम के अंतर्गत मान उसके परकीया मुग्धा, परकीया-अज्ञात-यौवना, परकीया-ज्ञात-यौवना, सामान्या-मुग्धा, सामान्या अज्ञात-यौवना सामान्या ज्ञात-यौवना-आदि भेद भी माने हैं। यही नहीं मुग्धा का 'सुरिबैठना,' उसकी सैन, सुरतारंभ, सुरति, सुरतांत का विशद वर्णन भी मिलता है। अस्तु “ज्ञातयौवना”—

“बिन-जाँनें “अग्यात” है, जाँनें जोबन ग्यात।

मुग्धा के है भेद ए, कबि सब बरनत जात ॥”

“निज तँन जोबन-आगमन, जाँन परत है जाहि।

कवि-कोविद सब कहत हैं, ग्यात-जोबना ताहि ॥”

—रसराज (भतिराम)

और 'मुग्धा'—

भलकत आवै तरुनई, नई जासु अंग-अंग ।

तासों 'मुग्धा' कहत हैं, जे प्रवीन रस-रंग ॥

मनोजमंजर (भजान)

ज्ञात यौवना-नायिका का उदाहरण कविवर "पद्माकर" से बड़ा सुंदर बन-पड़ा है, यथा—

“चौक में चौकी जराह जरी, तिहिं पै खरी बार-बगारत सोंधे ।

छोरि धरी हरी कंचु की न्हान कों, अंगन ते जगे जोति के कोंधे ॥

छाई उरोजन की छुबि यों “पद्माकर” देखत ही चकचोंधे ।

भाजि गई लरिकाई मनो लरिकें, करिकें दुहुँ दुंदभी ओंधे ॥”

और 'मुग्धा'—

“जल में दुरी है जैसे कमल की कलिका है,

उरजैन ऐसे दीनों सरुचि दिखाई-सी ।

‘गंग’ कहै साँझ-सी सुहाई तरुनाई

आई-लरिकाई-मध्य कछु मैं न लखि पाई-सी ॥

स्यामा कौ सलोंनों गात ता में दिन द्वैक

माँझ फिरी-सी चँहत मनमथ की दुहाई-सी ।

सीसी में सलिल जैसे, सुमन-पराग तैसें

सिसुता में झलमलै जोबन की भाँई-सी ॥”

कोई उर्दू शायर कहता है—

“गले मिलने के इन काफिर हसीनों से यही दिन हैं ।

ज़बानी जब गले मिलती हो आ-आकर लड़कपन से ॥”

अथ अगूढ व्यंगि वरनन उदाहरन 'दोहा' जथा—

धन-जोबन इन दुहुँन की, सोहत रीति सुबेस ।

मुग्ध नरन मुग्धन करै, ललित बुद्धि-उपदेस ॥

अस्य तिलक

धन के पाइवे ते मुख (नर) हू बुद्धिबंत है जात है औ धन-रूप जोबन के पाइवे ते नारी चतुर है जाति है, ये अगूढ व्यंग है । उपदेस-सबद लच्छुनाँ ते (सों) बाच्य हू में प्रघट है ।

अथ बिजक (व्यंजक) वरनन 'दोहा' जथा—

होत अरथ बिजकन कौ,^१ दस बिधि सुभ्र बिसेखि ।
 पैहलें, व्यक्ति, बिसेस पुनि,^२ है बोधव्य सु लेखि ॥*
 काकु-बिसेखौ वाक्य अरु,^३ वाच्य बिसेख गॅनाइ ।
 अन्नसंनिधि* प्रस्ताव पुनि^४ देस, काल नव^५ भाइ^६ ॥†
 है चेष्टा सु बिसेख पुनि,^७ दसँम-भेद कबिराइ ।
 इनके मिलै-मिलै करि,^८ भेद अनंत लखाइ ॥‡

वि०—“जैसा पूर्व में कहा गया है कि “अपने-अपने अर्थ का बोध कराकर जब अभिधा और लक्षणा विरत (शांत) हो जाती हैं तब जिस शक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है उसे व्यंजना कहते हैं, क्योंकि ‘व्यंजना’ का शब्दार्थ है— ‘विशेष प्रकार का अंजन ।’ असाधारण अंजन जिस प्रकार दृष्टि-मलिनता को दूर कर अप्रकट वस्तु को भी प्रकट करा देता है, उसी प्रकार यह व्यंजना अविद्या तथा लक्षणा से अप्रकट अर्थ को प्रकट करती है । व्यंजना से जाने हुए अर्थ को ‘व्यंग्यार्थ’, ‘सूच्यार्थ’, ‘आक्षेपार्थ’ और ‘प्रतीपमान’ रूप में चार प्रकार का कहते हैं । अभिधा और लक्षणा का व्यापार (क्रिया) केवल शब्दों में होता है, पर व्यंजना का व्यापार शब्द और अर्थ दोनों में । इस लिये इसके— शब्दो और आर्थी दो रूपों में भेद किये गये हैं । व्यंजना—आचार्यों ने प्रथम आर्थी व्यंजना के दश भेद माने हैं, जैसे—

“वक्ता की दशा से,^{१०} बोधव्य की दशा से,^{११} वाक्य से,^{१२} वाच्य से,^{१३} काकु से,^{१४} अन्य सान्निध्य से,^{१५} प्रस्ताव विशेष से,^{१६} देश विशेष से,^{१७} काल विशेष से^{१८} और चेष्टा विशेष से^{१९} ।”

पा०—१. (प्र०) अर्थ व्यजकन्ह कौ । (का० प्र०)—व्यंजन हूँ कौ; २. (का० प्र०) बक्ता गनिऐं प्रथम पुनि... ३. (का० प्र०) पुनि । ४. (का० प्र०) अन्य संनिधि... ५. (वे०) अरु । ६. (प्र०) (वें०) नौ० ७. (का० प्र०) दरसाइ । ८. (प्र०)... बिसेख-हू । ९. (प्र०) (वें०) क्रिय । (का० प्र०) उनहिं मिलाइ-मिलाइकै... १०. वक्तवैशिष्ट्य । ११. बोधव्यवैशिष्ट्य । १२. वाक्यवैशिष्ट्य । १३. वाच्यवैशिष्ट्य । १४. काकु-वैशिष्ट्य । १५. अन्यसान्निध्यवैशिष्ट्य । १६. प्रस्ताववैशिष्ट्य । १७. देशवैशिष्ट्य । १८. चेष्टावैशिष्ट्य ।

* का० प्र० (भानु) पृ० ७८ । † का० प्र० (भानु) पृ० ७८ । ‡ का० प्र० (भानु) पृ० ७८ ।

इन दसों के संस्कृत साहित्य-सृजेताओं ने—वाच्य-संभवा, लक्ष्य-संभवा और व्यंग्य-संभवा भेद और माने हैं। दासजी ने उपर्युक्त भेदों को मानते हुए ग्यारहवाँ भेद “मिश्रित” और माना है, पर उल्लेख (उदाहरण) दसों का ही किया है। जैसे—

(१) अथ व्यक्ति बिसेस कौ उदाहरन ‘दोहा’ जथा—

अति भारी जल-कुंभ लै, आई सदन उताल।

लखि खँम-सलिल-उसास अलि, कहा बूझती हाल ॥*

अस्य तिलक

इहाँ वक्ता नायिका है, सो अपनी क्रिया छिपावति है, सो व्यंग सों (ते) जाँन्यों जाति है।

वि०—दासजी का यह दोहा परकीया के अंतर्गत ‘वर्तमान-गुप्ता’ नायिका की उक्ति है—कथन है। अवस्थानुसार परकीया-वर्तमान-गुप्ता उसे कहते हैं, “जो पर-पुरुष-प्रेम-विषयक उपस्थित घटना—रति-चिन्हों को छिपाने की चेष्टा करे। यथा—

“जब तिय सुरति छिपाव ही, करि बिदग्धता बाँम।

भूत, भविष, व्रतमाँन सो, ‘गुप्ता’ ताकौ नाँम ॥”

—शृ० नि० (भिलारी दास) पृ० ३५

और “वर्तमान-गुप्ता” नायिका, यथा—

“करत सुरति-परतच्छ जो सब सों डारत गोइ।

‘वर्तमाँन गुप्ता’ सोई, अति प्रवीन तिय होइ ॥”

वर्तमानगुप्ता का उदाहरण महाकवि ‘ग्वाल जी’ का बड़ा सुंदर है, यथा—

“छूटि जाइ गैया कै बिलैया चाट-चाट जाइ,

कोंन दुःख-दैया दैया सोच उर-धारयौ में।

हों हीं जँमबैया औ धरैया निज-सैया-तरें,

कहाँ जो कहैया हास होइगौ बिचारयौ में ॥

‘ग्वाल कबि’ हौलें कौ अबैया निरदैया यही,

आज या सँमैया ओट पैयाँ-गहि पारयौ में।

मैया कों बुलाऔ या कँहैया कौ करैगौ हाल,
दधि कौ चुरैया मैया, पकरि पछारयौ में ॥”

—म० मं० (अज्ञान) पृ० ३५

अथवा—

“अलि, हों गुंजन कों गई, कुंजन-पुंजन आज ।
कँट अटेब सत्तर फटे, अंग कटे बिन काज ॥”

—र० प्र० (रसलीन) पृ० २६

रसलीन जी ने ‘रसप्रबोध’ नामक ग्रंथ में ‘वर्तमानगुप्ता’ के तीन—‘वर्तमान-सुरति गोपना,’ ‘प्रत्यक्ष मान-सुरति गोपना’ तथा ‘भुवि-भरत-वर्तमान-सुरति-गोपना’ विशेष भेद माने हैं ।”

(२) बोधव्य व्यंग विसेश ‘दोहा’ जथा—

चिंता, जूँभ, उँनीदता, बिहवलता * अलसौंनि ।
लह्यौ अभागिन हों अलो, तेहूँ^२ गही सुबाँनि ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ नायिका जासों कहति है, ताकी क्रिया (दशा) व्यंजित होती है, ताते ये विसेश बोधव्य है ।

(अर्थात् जिससे बात कही जाय उसकी अवस्था पर विचार करने से—“बोधव्य की दशा से” व्यंग्य जाना जाय । अतएव यहाँ नायिका की उक्ति सखी-प्रति है, वह (सखी) नायक को बुलाने के लिये जाकर स्वयं रति कर आई हैं, जिससे उसके तन—शरीर में चिंता, जूँभा, उँनीदता-इत्यादि रति-जन्य कारण—लक्षण प्रकट हो रहे हैं । उसका सदोषता व्यंग्य है । संस्कृत-रीतिकार इसे ‘बोधव्यवैशिष्ट्य’ कहते हैं ।

वि०—“दासजी का यह दोहा ‘अन्य-संभोग-दुःखिता’ नायिका का वर्णन है, उसकी अपनी सखी—दासी-प्रति यह उक्ति है । अन्यसंभोग दुःखिता—किसी अन्य स्त्री (सखी या दासी) के शरीर पर अपने प्रिय के संभोग-चिन्हों को देखकर दुःखित होनेवाली नायिका को कहते हैं । इसे ‘अन्यसुरति दुःखिता’ भी कहते हैं, यथा—

पा०—१. (प्र०) “जूँभा, नींद अरु, ब्याकुलता” । २. (का० प्र०), तेहूँ गही स्वह बाँन । (वै०) (सं० प्र०) तेहूँ गह्यौ*** । (व्यं० म०) तेहूँ गही सोई बाँन ।

* का० प्र० (भानु) पृ० ७६ । व्यं० म० (ला० भ०) पृ० २० ।

“निज पति-रति के चिन्ह लखि, और तियन के अंग ।

‘अन्यसुरति-दुखिता’ सोई, जिहिं दुख चढ़ै अनंग ॥”

—२० प्र० (रसलीन) पृ० ३४

अन्य संभोग-दुःखिता का उदाहरण ‘रामजी’ कवि का बड़ा सुंदर है,

जैसे—

“सेद-कँन-जाली, अं सुमाली की तपँन आली,

सुकी जाँन खंडे तो अघर-बिब बूझे हैं ।

बेनी जाँन स्याँपन सो चोथी है कलापिन नें,

बापुरी चकोरी को कपोलै चंद सूझे हैं ॥

‘रामजी सुकवि’ हों पठई तू तहाँ न गई,

बंद कंचुकी के काऊ झारँन पारुझे हैं ।

उरज उँचोहे ए सुयभू जाँन किसुक सों,

कुजन के कोने आज कोनें इन्हें पूजे हैं ॥

(३) काकु-विसेख ते बरनन ‘दोहा’ जथा—

दृग लखिहैं मधु-चंद्रिका, सुनिहैं कल-धुँ नि काँन ।

रहि हैं मेरे प्राँन तँन, पीतम करौ पर्याँन ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ काकु (एक प्रकार की कंठ-ध्वनि, ध्वनि का विकार—“काकुर्ध्वने-विकारः) ते (प्रियतम कौ) गँमन-बरजिवौ व्यंजित होती है, ताते ‘काकु-विसेप’ है ।

वि०—“जहाँ केवल ‘काकु-उक्ति’ से व्यंग्यार्थ प्रतीत हो, वहाँ ‘गूणीभूत-व्यंग्य’ होता है और जहाँ काकु-उक्ति की विशेषता से व्यंग्यार्थ प्रतीत हो, वहाँ ‘काकुवैशिष्ट्य’ है, यथा—

“भिननकंठध्वनिर्धारः काकुरित्यभिधीयते ।”

दासजी की यह रचना ‘प्रवत्स्यत्यतिका’—“प्रिय के विदेश-गमन के निश्चय से व्याकुल नायिका” की उक्ति है । अथवा प्रियतम के विदेश गमन से होने वाले वियोग की आशंका से दुखित होने वाली (प्रवत्स्यत्यतिका) नायिका की उक्ति है, जैसे—

पा०—१. (का० प्र०) (व्य० मं०) (वें०) मेरे प्राँन धँन, ...।

* का० प्र० (भानु) पृ० ७६ । व्य० मं० (ला० मं०) पृ० २१ ।

“होनहार पिय के बिरह, बिकल होइ जो बाल ।
ताहि ‘प्रवच्छत्प्रेयसी’, बरनत बुद्धि-विसाल ॥”

—२० रा० (मतिराम)

अथवा—

“प्रवच्छत्पतिका सोइ, चलै न चँहत परदेस पिय ।
अति-ही बिकल हिय होइ, भोर-हिं ते पिय-गँमन लखि ॥”

अस्तु, अवस्थानुसार कवियों ने प्रवत्स्यत्पतिका को—मुग्धा, मध्या, प्रौढा, परकीया और सामाग्या में भी माना है, तथा बड़े-बड़े सुंदर उदाहरण दिये हैं ।
दो उदाहरण जैसे—मुग्धा-प्रवत्स्यत्पतिका—

“उर गई बात, पिय-पर-पुर जाइबे की,
सुर गई, जुर गई, बिरहागि पुर गई ।
घुर गई ही जो खेल उमँग सों दुरि गई,
फुर गई पीर, मुख-दुति ह्वे अउर गई ॥
‘ग्वाल कवि’ अलि सों बिछुर गई, लुर गई,
नार-हूँ निहुर गई, नैन सों निचुर गई ।
दुर गई कोठरी में, सुर गई सासँ तक,
जुर गई लाज, लाजवंती-सी सिकुर गई ॥”

प्रौढा—‘प्रवत्स्यत्पतिका’, यथा—

“जौ पै कहों ‘रहिये तौ प्रभुता प्रघट होति,
‘चलै न’ कहों तौ हित-हाँनि नाहि सहने ।
‘भावै जो करौ’ तौ उदास-भाव प्राँन-नाथ,
‘साथ-ही चलौ’ तौ कैसे लोक-लाज बहने ॥
सोंह है तिहारी नेंकु सुनों अहो प्राँन-प्यारे,
चलै-ई बँनत तौ पै नाहीं लाज रहने ।
जैसैं-ई सिखावौ सीख, तुम हो सुजाँन पिय,
तुम्हरे चलत जैसी-जैसी मोहि कहने ॥

—श्रु० (मन्नालाल)

अथवा—

“पीतम इक सुमरँनियाँ मोहि दै जाहु ।
जिहि जपि तोर-बिरहवा; करब निबाहु ॥”

—२० रा० (मयाशंकर)

सुरत मिश्र ने अपने 'रसरत्न' नामक नायिका-भेद के विशिष्ट ग्रंथ में प्रवत्स्यत्पतिका का भेद "हर्षितृगच्छत्पतिका" और माना है ।

(४) वाक्य-विशेष ते बरनन 'दोहा' जथा—

अबलों-हीं^१ मोही लगी, लाल तिहारी दीठि ।
जात भई^२ अब अनंत कत, करत साँमुहें^३ नीठि ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ (नायिका) के वाक्य ते यै व्यंजित होत है कि नायक नें दूजी नायिका कों लख्यौ—वा सों प्रेम कियौ ।

वि०—“वाक्य में आये हुए किसी शब्द विशेष से अथवा संपूर्ण वाक्य की विशेषता से व्यंग्यार्थ का प्रतीत होना 'वाक्यवैशिष्ट्य' कहलाता है । दासजी के इस दोहे में आये हुए—“जात भई अब अनंत कत०”...से जाना जाता है कि नायक ने अब किसी अन्य नायिका से संबंध—प्रेम किया है ।

यह दोहा धीरा नायिका—स्वकीयांतर्गत स्वपति को अन्य नायिका (स्त्री) पर आसक्त देखकर कुपित होनेवाली की उक्ति है, यथा—

“कोप जनावै व्यंग सों, तजै न पति-सनमाँन ।

‘मध्याधीरा नायिका’ ता कों कहत सुजान ॥”

—ज० वि० (पद्माकर)

मुग्धा में 'धीरत्व' नहीं होता, कारण स्पष्ट है । केवल मध्या और प्रौढ़ा नायिकाओं में ही यह भेद होता है, जो—धीरा, अधीरा और धीराधीरा नाम से तीन प्रकार का है, अर्थात् “मध्या धीरा”—जिसका लक्षण ऊपर लिखा जा चुका है, “मध्या-अधीरा”—कटुक्तियों-द्वारा पति का अन्यादर का कोप प्रकट करनेवाली, “मध्या धीराधीरा”—जो नायक प्रति मुख से अप्रिय वचन न कह रोदन के द्वारा ही अपना कोप प्रकट करे, “प्रौढ़ाधीरा”—प्रकट रूप में कोप का प्रदर्शन न कर रति में उदासीन रहे, “प्रौढ़ा-अधीरा”—जो कटु भाषण

पा०—१. (प्र० ३) ती०... २. (प्र०) (भा० जी० (वें०) नई०... ३. (भा०-जी०) (वें०) साँमुहीं०...

* का० प्र० (भानु) पृ० ७ । व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० २१ ।

और ताड़न-द्वारा अपना रोष प्रकट करे, “प्रौढा-धीराधीरा”—जो वक्रोक्ति तथा भय-प्रदर्शन-द्वारा नायक को दुखित करती हुई मान-पूर्वक रति में उदासीन रहे—इत्यादि छह प्रकार की कही जाती हैं। यथा—

“बक्र-उक्ति पति सों कहै, मध्याधीरा नारि ।
धीराधीर उराहनों, बचन अधीरा गारि ॥
उदासीन अति कोप ते, पति सों प्रौढाधीर ।
तजै अधीराधीर अरु ताड़न करै अधीर ॥”

—भ० वि० (देव)

संस्कृत-साहित्य में लेकर ब्रजभाषा के रीति-साहित्य तक धीरादि नायिका-लेखन के स्थान निर्देश में विभिन्न मत हैं। अस्तु, कुछ कवियों ने इसे केवल स्वकीया-अंतर्गत मानते हुए संस्कृत रीति-शास्त्र के अनुसार ज्येष्ठा-कनिष्ठा—जो पति-प्रेम के न्यूनाधिक्य के कारण छोटी-बड़ी कही जाती हैं, के अंतर्गत लिखा है, क्योंकि इनका मत है कि नायक जब ज्येष्ठा के पास से कनिष्ठा के सामीप्य में जाता है, तब धीरादि भेदों की उत्पत्ति होती है। केशव ने यह बात नहीं मानी है। उन्होंने मध्या-प्रौढा के वर्णनों के साथ-साथ इसे भी लिखा है। देव ने मान-भेद के साथ धीरादि भेदों को लिखा है। दासजी ने इसे खंडिता—जो परकीया में भा माना गया है, के साथ वर्णन किया है और चितामणि, मतिराम तथा रसलीनजा ने अपने-अपने ग्रंथों में इन मध्या-प्रौढा-धीरादि भेदों को स्वकीयांतर्गत मान उनके साथ ही लिखा है—माना है। इनके उदाहरण भी बहुत सु-दर-सुंदर प्रस्तुत किये हैं। दो उदाहरण, जैसे—

“स्वारथ में रत हैं सब ही, परमारथ-साधत नाहिंन कोऊ ।
हैं परमारथ में रत लोय, ‘गुलाब’ कहै बिरले जस जोऊ ॥
जो परमारथ-स्वारथ-हीन, सो आरस-लोभित कीरति-खोऊ ।
हौ तुम नीति-निधौन लला, परमारथ-स्वारथ साधत दोऊ ॥”

—वृ० व्यं० चं० (गुलाब)

अथवा—

“कालिह न इकादसी-ही ताते कहूँ जागे आप,
जाप लागे कैधों काहु काँम के उँमाहे सों ।
कैधों दिग-भूलें भूले धुँमरि न पायौ घर,
कैधों कहूँ ठुँमरी सुँनत रहे लाहे सों ॥
‘ग्वाल कवि’ कैधों रहे चौसर के खेलन में
औसर बन्धों न किधों काहु मीत चाहे सों ।

मेरे प्राँन-प्राँन स्याँम परम सुजाँन सुनों,
आज अखसँम, अँगराँन कहौ काहे सों ॥”

—२० रं० (ग्वाल)

“लाल, एक दग-अगिन ते जारि दिथौ सिब में ।
करि लाए मो दहन कों, तुम द्वै पावक-नैन ॥”

—२० प्र० (रसलीन) पृ० २१,

एक बात और, वह यह कि “आजकल के काव्य-मर्मज्ञों ने, जिनमें डुमराँव के पं० नकछेदी तिवारी उपनाम ‘अजान कवि’ रचयिता-मनोज-मंजरी अति प्रमुख हैं, स्वकीया नायिका के मान-भेदानुसार धीरादि-भेद तथा खंडिता-भेद (जो स्वकीया-परकीया तथा सामान्या-तीनों में होता है) को एक मानकर लिखते हैं कि “धीरादि भेद और खंडिता में क्या अंतर है ? प्रायः उदाहरण शंकर देख पड़ते हैं और जिनसे पूछता हूँ, यथार्थ उत्तर न देकर चुपके हो बैठते हैं—इत्यादि……।” इसी प्रकार अन्य महानुभावों ने भी अपने-अपने विचार-विभ्राट् प्रकट किये हैं । अस्तु, यहाँ इन महानुभावों—काव्य-मर्मज्ञों ने यह बात जो बहुत बारीक नहीं, अपितु मोटी-सी है, भुला दी कि धीरादि नायिका के पास पति (नायक) को सापराध-प्रमाणित करने का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता, केवल अनुमान के सहारे वा कल्पना के बहाने ही कुछ या विशेष देरी से नायक के आने पर मान के कारण धीरादिभेदों में परणित हो जाती है । देरी से आने के अनेक उचित कारण हो सकते हैं, जैसा “मीर” ने कहा है—

“जिगर कावी, नाकामी, दुनिया है आखिर ।

नहीं आये जो ‘मीर’ कुछ काम होगा ॥”

—शे०-ओ०-सु० (गोयल) पृ० ४७

फिर भी नायिका अपने चंचल मन के कारण ‘नायक’ को अन्यत्र अनुरक्त मान उक्त भेद में रल--दुल मिल जाती है । खंडिता में यह बात नहीं, वहाँ नायिका पर-स्त्रो-संभोग-चिन्हों को देखकर ही नायक के प्रति कठोर होती है — उससे कहा-सुनी करती है, जैसे—

“अनैत रमे रति-चिन्ह लखि, पीतम के सुभ गात ।

दुखित होइ सो ‘खंडिता’, बरनन मति अवदात ॥”

—म० मं० (अजान) पृ० ६२,

खंडिता का उदाहरण रीति-काल से परे भक्ति-काल (पद-साहित्य) का भी देखें, कितना सुंदर है, यथा—

“जागे हौ रेंभ तुँ भू सब, नेंना अरुँन हँमारे ।

तुँ भू कियौ मधु-पाँन, धूँमत हमारौ मन, काहे ते जु नंद-दुलारे ॥

उर नख-चिन्ह तिहारें, पीर हमारें, कारँन कौन पियारे ।

‘नंददास’ प्रभु न्याह स्याँम-घँन, बरखे अनैत, हँम पै झूँम-झुँमारे ॥”

नंददास जी के इस पद पर रीति-काल के कविवर ‘विहारीलाल’ की यह उक्ति याद आ गयी है, जैसे—

“बाल, कहा लाली भई, लोयँन-कोयँन माँहि ।

लाल, तिहारे दगँन की, परी दगँन में छाँहि ॥”

—सतसई,

अस्तु—

“खुमार-आलूदा आँखें, बल जर्वी पर दर्द है सर में ।

रहे तुम रात-भर बेचैन किस कम्बख्त के घर में ॥”

—दाग,

(५) वाच्य-विशेष ते वरनन ‘सवैया’ जथा—

भौन-अँध्यार-हुँ चाँहि अँध्यारें^१ चँमेली के कुंज के पुंज बने हैं^२ ।

बोलत मोर, करें पिक सोर, जहाँ-तहाँ गुंजत भोर घने हैं ॥

‘दास’ रच्यौ अपने ही बिलास कों, मेंन जू हाथँन सों अपने हैं ।

कूल कलिंदजा के सुख मूल, लतौन के बृंद बितौन तँने हैं ॥*

अस्य तिलक

इहाँ वाच्यार्थ ते सहेट-जोग ठौर कों जनायौ (ताते) बिहार की इच्छा व्यंजित होत है ।

वि०—“उत्कृष्ट विशेषणों वाले वाक्य की विशेषता से व्यंग्यार्थ सूचित होना वाच्य-विशेष अथवा वाच्य-वैशिष्ट्य-ध्वनि कही जाती है । अतएव दासजी ने यहाँ संकेत-स्थल के प्रति सभी कामोद्दीपक विशेषणवाले वाक्यों-द्वारा रमणोत्सुक नायक की नायिका के प्रति ‘रति’ की प्रार्थना व्यंग्यार्थ है ।

पा०—१. (प्र०) भौन अँधारे हु चाहि अँध्यार । (शृ० नि०) भौन अँधरे हु चाहि अँधरे । (२० कु०) भौन अँध्यारौ-ही चाहि अँध्यारौ । (व्य० म०) भौन अँध्यार हु चाहि अँधेरौ । २. (प्र०—२) (भा० जी०),...के कुंजन पुंज...। (का० प्र०) (व्य० म०)...के कुंज के पुंज तँने हैं । (२० कु०) चमेली के पुंज के कुंज...।

*, शृ० नि (मिखारीदास) पृ०, ६ । २० कु० (अयोध्या नरेश) पृ० ५० । का० प्र० (भानु) पृ० ७९ । व्य० म० (ला० भ०) पृ० २२ ।

दासजी ने अपने नायिक-भेद रूप ग्रंथ 'शृंगार-निर्णय' में यह सवैया 'वचन-चतुर' नायक के और 'रसकुसुमाकर' के संग्रहकर्ता ने "विट्खला" के उदाहरणों में संकलित किया है। विट्, यथा—

“बहु नारिँन कौ रसिक पै, सब पै प्रीति समान ।

बचन-क्रिया में अति चतुर, 'दच्छिन,' लच्छिन जान ॥”

—शृ० नि० (दास) पृ० ५

और 'रसलीन' द्वारा कथन, यथा—

“निपुँन होइ सो सकल बिधि, सोई चतुर बखान ।

बचन-चतुर है एक अरु क्रिया-चतुर पुनि जान ॥”

- २० प्र० (रसलीन) पृ० ६६

इन दोनों लक्षणों से यद्यपि वचन-चतुर नायक-लक्षण स्फुट नहीं होता, क्योंकि प्रथम 'दक्षिण' नायक-लक्षण को व्यक्त करता है—दूसरा चतुर नायक को, जो वचन-चतुर का पूर्व रूप है और विट्, यथा—

“बिट जो जानत दूत-पँन, कै सब कला मिलाइ ।”

—२० प्र० (रसलीन) पृ० ८२,

(६) अन्य संनिधि बिसेख ते बरनन 'दोहा' जथा—

राज करौ गृह-काज दिँन,— बीतत याही माँझ ।

ईठ लहों कल एक पल, नीठ निहारें साँझ ॥

इहि निसि धाइ सताइ लै, सेद-खेद ते मोहिं ।

कालिह लाल-हूँ के कहैं, संग न स्वाऊँ^१ तोहिं ॥*

अस्य तिलक

इहाँ (दोनों उदाहरण में) उपपत्ति संमोप उपस्थित है, ताके कारन सुनाए ते 'परकीया' जानी जाति है—“संकेत की सूचना औ बिहार व्यंग है ।”

वि०—“वक्ता और संबोध्य (जिसको कहा जाय) के अतिरिक्त तीसरे व्यक्ति की समीपता के कारण व्यंग्यार्थ सूचित होना, अर्थात् किसी अन्य के निकट होने के

पा०—१. (आ० जी०) छाँड़ों...। (व्य० मं०) स्वाँजें...। (सं० प्र०) स्वाँजों ।

“प्रतापगढ़ और महावीरप्रसाद मालवीय-द्वारा संपादित पुस्तकों में इन दोहों में उलट फेर है, अर्थात् प्रथम का स्थान नीचे—और द्वितीय का स्थान पूर्व का दोहा है ।”

* , व्य० मं० (ला० भ०) पृ० २३ ।

कारण बात इस प्रकार कही जाय कि उससे व्यंग्य निकले उसे “अन्यसाम्निधि-वाच्य-ध्वनि” कहते हैं । अस्तु —

(अन्य की समीपता में नायिका की नायक के प्रति ये उक्ति है, बिहार कौ व्यंजित होंगे “अन्यसाम्निधि-विशेष” व्यंग्य है । इहाँ हूँ वाच्यार्थ ते ‘उपपत्ति’ कौ समीप होंगे सूचित होइ है, सो ‘धाय’ के बहाने अपर दिन में बिहार कौ सुअवसर व्यंजित करों “वाच्य-विशेष व्यंग्य” औ “अन्य साम्निधि-विशेष व्यंग्य” हू है)

“दासजी के ये दोनों दोहे परकीयांतरगत “वचन-विदग्धा नायिका” की उक्ति है । वचन विदग्धा—

“वचन की रचनाँ सों, जो साथै निज काज ।

‘वचनविदग्धा-नायिका’, ताहि कहत कवि-राज ॥”

—ज० वि० (पद्माकर)

और एक ‘उदाहरण’ जैसे—

“ठाड़ी बतरात-इतरात-ही परोसिन ते,

जैसी तिय दूसरी न पूरब-पछाँह में ।

दीठ परि गए तहाँ सुंदर सुजाँन काँह,

औरक-ही प्रघट सु पूछति परछाँह में ॥

‘सोमनाथ’ ल्यों हीं प्राँन-प्यारे कों सुनाइ कह्यौ,

तिय नें सखी सों तरुनाई के उछाह में ।

बंसीवट-निकट हमें मिलियो-री काल्ह अलि,

कातिक में न्हाँउगी तरैयँन को छाँह में ॥”

—२० पी० (सोमनाथ)

यहाँ भी—उक्त नायिका-भेद में भी, काव्य-लोलुपों ने धोरा-खंडिता की भाँति ‘वचन-विदग्धा’ और ‘स्वयं-दूतिका’ नायिकाओं को एक-ही नायिका के रूप में मान लिया है—संमिलित कर लिया है और लिखा है—“स्वयंदूती भी वचन विदग्धा ही है, अंतर केवल इतना है कि वचन-विदग्धा अन्योक्ति द्वारा अस्पष्ट शब्दोंमें और स्वयंदूती कुछ स्पष्ट शब्दों में अपना अभिप्राय प्रकट करती है ।”* हम इन—

“अज्ञानांतिमिरांधस्य.....”

के प्रति क्या लिखें और क्या कहें । यदि उपरोक्त कथन सत्य होता तो नायिका-भेद-विशारद इन दोनों को पृथक्-पृथक् रूप से वर्णन न करते —इनका अलग-

अलग स्थान-निर्देश क्यों करते। अस्तु, इन में भेद है और बड़ा अंतर है। श्रीमान्, वचन-विदग्धा का नायक (उसका) पूर्व परिचित है, वह जाना हुआ है, उसे बालापन का 'साथी' और 'यार' भी कह सकते हैं और 'स्वयंदूतिका' का नायक अपरिचित है, पहिले का लक्ष्य-लेश नहीं हैं, जो भी एकांत स्थान में मिल जाय उसी के प्रति अपनी कामेच्छा नायिका वचन-विदग्ध-द्वारा प्रकट कर सकती है, पर वचन-विदग्धा ऐसा नहीं करती, अपितु अपने पूर्व परिचित नायक को देख कर ही किसी अन्य के द्वारा व्यक्त करती है। जैसा पूर्व 'वचन-विदग्धा' के लक्षण में—

“जो तिय सैन-सँकेत की, करें मीत कों गोइ ।

काहू कों दै बीच तौ 'वचनविदग्धा' होइ ॥

करै सैन - संकेत वा रचै जाइ जो प्रीति ।

बिन अंतर तिय पुरुष सों, 'स्वयंदूतिका' रीति ॥”

—र० प्र० (रसलीन) पृ० ३१

और खंडिता उदाहरण, जैसे—

“मारग-बीच 'पयोधर' पेखि कें, कोंन कौ धीरज जो न गयौ है ।

'भजन जू' नँदिया बही 'रूप' की, नाउ नहीं, रबि हू अथयौ है ॥

पंथी, रैन बसौ इहि बेर, भलौ तुम कों उपदेस दयौ है ।

या मग-बीच मिलै वह नीच, जो पावक में जरि प्रेत भयौ है ॥”

—शृ० स० (मन्नालाल)

(७) प्रस्ताव बिसेख ते वरनन 'दोहा' जथा—

बौरी,^१ बासर-बीततें, पीतम आवनहार ।

तकै दुचित कति, सुचित ह्वै^२ साजै उचित सिंगार ॥*

अस्य तिलक

इहाँ उचित सिंगार के प्रस्ताव ते यै जाँन्यों जात है कै (नायिका) पर पुरुष पै जाँनि लगी है ।

वि०—“वक्ता के प्रस्ताविक शब्दों के अर्थ से व्यंग्य निकलना—इसे “प्रकरण वैशिष्ट्य”, अर्थात् विशेष प्रकरण होने के कारण जहाँ व्यंग्यार्थ सूचित हो, भी कहते हैं। अतएव यह दोहा उपनायक के पास अभिसार को जाने के लिए

पा०—१. (प्र०) बैरी...। २. (स० प्र०) तकै दुचित कित है सुचित, साजहि उचित...। (का० प्र०) (वै०) तकै दुचित है सुचित कत...।

*, का० प्र० (भानु) पृ० ८० । व्य० मं० (ला० भ०) पृ० २३ ।

उद्यत नायिका के प्रति उसकी अंतरंग 'सखी' की उक्ति है, अभिसार का रोकना व्यंग्यार्थ है ।”

“शृंगार रस के स्थायी उद्दीपन विभाव में 'सखा' और “सखी” का विशेष स्थान है । सखी, जैसा दासजी कहते हैं—

“तिय-पिय की हितकारिनी, 'सखी' कहें कविराउ ।”

— शृ० नि० (दास) पृ० ७०

और यह चार प्रकार की कही है, जैसे —“हितकारिणी, ज्ञान-विदग्ध, अंतरंगिणी और बहिरंगिणी”, एवं इनके कर्म भी—

“मंउन, सिच्छादेन अरु उपालंम, परिहास ।

र० प्र० (रसलीन) पृ० ७५

चार प्रकार के कहे हैं । दासजी ने सखि-कर्मों में वृद्धि की है । आपके मतानुसार सखि-कर्म—

“मंउँन, संदरसँन, हँसी, संघटन सुभ धर्म ।

माँन-प्रबरजँन, पत्रिका-दाँन, सखिन के कर्म ॥

उपालंम, सिच्छा, स्तुति, बिनै यहच्छा-उक्ति ।

बिरह-निवेदन-जुत सुकबि, बरनत हैं बहु जुक्ति ॥”

— शृ० नि० (दास) पृ० ७५

दासजी ने 'प्रस्ताव-वैशिष्ट्य' रूप यह अपनी उक्ति—“बौरी, बासर बीत तैं” को संस्कृत 'काव्य-प्रकाश'-कार के भाव से ली है । यथा—

“श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण ।

एव मेव किमित तिष्ठसि तत्सखि सज्जय करणीयम् ॥

—का० प्र० (मम्मट)

और कन्हैयालाल पोद्दार ने 'काव्यकल्पद्रुम—रसमंजरी के तृतीय स्तवक में इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—

‘सुनियत तव प्रिय आत हैं, साँझ-समें सखि आज ।

करत न क्यों उपकरन तू, क्यों बैठी बे काज ॥”

अतएव दासजी की परम मनोहर उक्ति के आगे यह अनुवाद कितना निष्प्राण है, यह कहने-सुनने की बात नहीं ।”

(८) देस-विसेख ते बरनन 'दोहा' जथा—

हों असक्त, ज्यों-स्यों इतै सुमँन-चुनोंगो चाहि ।

माँनि बिनै मेरी अली, और ठौर तू जाहि ॥

अस्य तिलक

इहाँ, यै ठौर (स्थान) सहेट-जोग्य (नायक से मिलने योग्य) है, ताते सखी कों टारिबौ (हटाना = अन्यत्र भेजना) व्यंजित होत है ।

वि०—“स्थान की विशेषता से व्यंग्यार्थ सूचित होना—‘देश-विशेष’ वा देश-वैशिष्ट्य ध्वनि कही जाती है । अस्तु दासजी की यह उक्ति महापंडित ‘मम्मट’ रचित ‘काव्य-प्रकाश’ के निम्नलिखित श्लोका सुंदर अनुवाद है । यथा —

“अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।

नाह हि दूरे भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽत्रलिवः ॥”

“नाहं हि दूरे भ्रमितुं समर्था”०—का कितना समर्थ अनुवाद है—‘हो असक्त ज्यों-त्यों इतै,’...।

(६) काल-विसेख ते ‘दोहा’ जथा—

हों जाँमिन, अलि^१ जाँनि दै, कहा रही गहि फेंटि ।

हरि^२ फिरि अइहें होति-ही, बँन-बागँन सों भेंटि ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ—बसंत रितु है, ताते मोहि (नायक कों काम) उद्दोषन कौ भरोसौ होत है, पुनः नायक के आगमन कौ भाव व्यंजित है ।

वि०—“अर्थात् काल (समय) विशेष के ज्ञान से व्यंग्यार्थ भासित होना—‘काल-विशेष’ वा “कालवैशिष्ट्य” कहा जाता है । इसीलिये सखी नायिका के प्रति भरोसे के साथ कहती है कि ‘जाने दे, मतरोक, बन-बागों को प्रफुल्लित देख ये अभी लोटे आते हैं, इत्यादि...।

(१०) चेष्टा-विसेख ते बरनन ‘सवैया’ जथा—

कसिबे मिस नीबी के छिन सो^३, अँग-अँगन ‘दास’ दिखाइ रही ।
अपनी-हीं भुजाँन उरोजँन कों गहि, जाँघ सों जाँघ मिलाइ रही ॥
ललचोंहें, लजोंहें, हँसोंहें चितै^४, हित सों चित-चाइ बढाइ रही ।
कँनखा^५ करि कँ, पग-सी^६ परिकँ, पुनि सूँने सँकेत में^७ जाइ रही^८ ॥

पा०—१. (प्र०) नहीं रहत तौ . । (प्र०-२) नाहि रहत . । (भा० जी०) (वें) हों जेमान हों जाँनिदै,...। २. (प्र०) घर...। *, का० प्र० (भानु०) पृ० ८० । व्यं० म० (ला० भ०) पृ० २५ । ३. (भा० जी०) (वें)...मिस नीबिन के छिन तौ, । (सु० ति०) (सु० स०)...मिस नीबि हि के छिन तौ...। ४. (शृ० न०)...हँसेहि, लजोहि, चितै, । ५. (सु० ति०) (सु० स०) कँनखी...। ६. (शृ० नि०) (सु० ति०) सों...। ७. (भा० जी०) कों...। ८. प्रतापगढ़ वाली हस्तलिखित प्रति में इस पूरे सवैया का पाठांतर इस प्रकार है—

अस्य तिलक

इहाँ चेष्टा सों नायिका (द्वारा) नायक कों बिहार के लिऐं बुलाइवौ व्यंजित होत है। अर्थात् बुलाइवौ चाँहति है, यै व्यंजित होत है।

वि०—“चेष्टा-द्वारा व्यंग्यार्थ सूचित होना—“चेष्टा वैशिष्ट्य व्यंग्य कहलाता है, जैसा इस उदाहरण में।

काव्य-प्रभाकर के रचयिता जगन्नाथ प्रसाद ‘मानु’ ने इस चेष्टा से व्यंग्य वर्णन के उदाहरण में दासजी के उक्त भाव-स्वरूप दोहा दिया है—

“अँग-अँगराइ, जँमाइ तिय, निरखि साँमुहँ रोंन।

मुरि मुसिकाइ, नचाइ दग, गँमनी सूँने भोंन ॥”

पर इस लक्षण के अनुसार चेष्टा से व्यंग्य का उदाहरण ‘बिदग्धा नायिका’ की यह सूक्ति बड़ी सुंदर है, यथा—

“न्हाइ, पैहैरि पट उठि कियौ-बेंदी-मिस परनाँम।

दग-चलाइ घर कों चली, बिदा किए घनस्याँम ॥”

दासजी ने अपने ‘शृंगार-निर्णय’ में तथा पं० मन्नालाल ने अपने ‘सुंदरी-सर्वस्व’ में इस सवैया को परकीयांतर्गत—‘क्रिया-विदग्धा नायिका के वर्णन में दिया है। क्रिया-विदग्धा—

“जो तिय साधै काज निज, करि कछु क्रिया सुजाँन।

‘क्रिया-विदग्धा नायिका,’ ताहि लीजिए जाँन ॥”

—म० मं० (अज्ञान) पृ० ३६,

रसलीनजी ने अपने ‘रस-प्रबोध’ में ‘क्रिया-विदग्धा’ के—‘पति’ और ‘दूती’ वंचता नाम से दो भेद और माने हैं, यथा—

“पति-देखति हूँ होइ जो, उपपति के रस-लीन।

ताहि कहत ‘पति-वंचिता,’ जे पंडित परबीन ॥”

“दूती सों सब तूति करि, मिलै न ताहि जताइ।

‘दूति-वंचिता’ ताहि कों, कहत सबै कबिराइ ॥”

—२० प्र० (रसलीन) पृ० ३२

“मुख-मोरत नैन की सेंहन दे, अग-अगन ‘दास’ दिखाइ रही।

ललचोप, लजोप, हँसोप चितै, हित से चित चात्र बढ़ाइ रही ॥

मुरिकें, अरिकें, दग सों भरिकें, जुग भोंहन भाव बताइ रही।

कँनखा करिकें, पग सों परिकें, पुनि सुँने निकेत में जाइ रही ॥”

महावीर प्रसाद मालवीय ने स्वसंपादित काव्य-निर्णय में अंतिम पंक्ति के स्थान पर निकेत के ‘संकेत’ पाठ माना है।

और उदाहरण यथा-क्रम, जैसे—

“रोग-ठौन कें ढोट तिय, निपुन बैद करि ईठ ।
बैठी पति सों पीठ दै, जोरि पीठ सों पीठ ॥
दूती, छलि जो आइ तू, मो सँग लायौ नेह ।
तुव अछेहपँन आँन कें, कियौ हिण में गोह ॥”

(११) मिश्रित बिसेख बरनन ‘दोहा’ जथा—

बक्ता अरु बोधव्य ते,^१ बरन्यों ‘मिलित’ बिसेस ।

यों-हीं औरों जाँनिऐं,^२ जिन को^३ सुमति असेस ॥

वि०—“जब कहीं एक, दो वा अनेक वैशिष्ट्यों के संयोग से एक ही व्यंग्यार्थ सूचित हो, वहाँ “मिश्रितवैशिष्ट्य” अथवा ‘मिश्रित विशेष-व्यंग्य’ कहा जाता है ।”

उदाहरन ‘दोहा’ जथा—

इहि सज्जा अज्जा^४ रहै, इहिं हों चाँहत सेंन^५ ।

अहो रँतौधिआ, बात यै,^६ सेंन-सेंमें भूलें न^७ ॥

अस्य तिलक

इहाँ बक्ता (कहनेवाले) की चातुरी है औ रँतौंधी के बहाँने ते बोधव्य हू की चातुरी है ।

वि०—“दासजी ने अपने इस दोहा में—‘बक्ता (नायिका) और बोधक (श्रोता पथिक) दोनों के कहने और सुनने व समझने के वैशिष्ट्य से नायिका के शयन-स्थल-सूचन के साथ रति-व्यंग्यार्थ प्रकट किया है, जो स्वयंदूतिका’ नायिका की सुंदर उक्ति है । स्वयंदूतिका—

“स्वय दूतिका, दूत-गँन करै जु अपने काज ।”

इत्यलं, क्योंकि इस संबंध में ‘विशेष’ आगे लिखा जा चुका है, (दे०—‘इहि निस धाइ०’ का विशेष)

दासजी का यह उदाहरण ‘गाथासप्तशती’ की इस गाथा का अनुपम अनुवाद है, यथा—

पा०—१. (प्र०) (वें०) सों... २. (प्र०) (वें०) जाँनि हैं । ३. (वें०) (भा० जी०) कें... ४. (वें०) इहि सैया अत्ता ... ५. (प्र०—२) इहाँ करति हों सेंन । ६. (प्र०) (वें०) हे रँतौधि... । (भा० जी०) है रँतौधी है बात... । (प्र०—२) अरे रँतौधिया बात यै । ७. (सं० प्र०) इहि हों, वह तुव सेंन ।

“एत्थ निमज्जह अत्ता एत्थ अहं एत्थ परिअणो सज्जलो ।
पंथिअ रत्तो अंध मा मह सअणे निमज्जहिसि ॥”

अर्थात् —

“हों इत सोबति, सास उत, लखि किन्हि लै दिन-माँहि ।
अरे पथिक, निसि-अंध तू, गिरियो जिन्हि कहूँ आहि ॥”

—गोविंद चतुर्वेदी, मथुरा,

व्यंग ते व्यंग वरनन ‘दोहा’ जथा—

त्रि-विधि व्यंग-हू ते कहै, व्यंग अँनूप सुजाँन ।
उदाहरँन ताकौ कहों, सुँनों सुमति दै कौन ॥

उदाहरन ‘दोहा’ जथा—

अबै^१ फेरि मोहि^२ कहैगी, कियौ^३ न तू गृह-काज ।
कहै सु^४ करि आँऊ^५ अबै, मुद्यै^६ चँहत दिनराज ॥*

अस्य-तिलक

इहाँ नायिका वा (माता) कौ आयुस मान निहोरौ दै कहूँ (उपनायक से मिलने) जायौ चाँहति है, यै व्यंगार्थ है । दिन-हीं में पर पुरुष सों बिहार कियौ चाँहति है, यै दूसरौ व्यंग है ।

वि०—“आर्थी व्यंजना का व्यंग्यार्थ कवि की इच्छा के अनुसार—‘वाच्य’, ‘लक्ष्य’ और ‘व्यंग्य’ रूप तीनों अर्थों में हो सकता है । अस्तु, उपयुक्त वैशिष्ट्य-द्वारा होने वाली व्यंजना —‘वाच्यसंभवा’, ‘लक्ष्यसंभवा’ और ‘व्यंग्य-संभवा’ नाम से तीन प्रकार की कही जायगी । इसलिये यहाँ (इस दोहा में) वाच्यार्थ-द्वारा वक्ता के वैशिष्ट्य से नायिका की अपने प्रेम-पात्र के पास जाने की —उससे रति की, इच्छा व्यंग्यार्थ है । अतएव यह ‘वाच्य-संभवा-व्यंजना’ अथवा “वाच्यारथ—व्यंग ते व्यंग” कौ उदाहरन कइयौ जायगौ ।”

कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी ‘रसमंजरी’ नामक पुस्तक में दासजी के इस दोहे को इस प्रकार अपनाया है, यथा—

पा०—१. अबै फिरि ०॥ ३. (भा० जी०) मुहि ००॥ ३. (प्र०—२) तू न कियौ गृह ००॥ ४. (प्र०—२) जौ ०॥ ५. (प्र०) मुदौ जात दिनराज । (सं० प्र०) जात मुँदौ ०॥

* व्य० मं० (ला० भ०) पृ० २५ ।

“गृह-उपकरँन जु आज कछु, तू न बतावत मात ।

कहहु कहा करतव्य अब, छौस चल्थौ यै जात ॥”

किंतु यहाँ उक्त वाच्यसंभवा-व्यंजना-द्वारा व्यंग्यार्थ नहीं बनता, क्योंकि इसमें नायिका के बाहर जाने की इच्छा का संकेत देनेवाला कोई शब्द वा उपकरण नहीं है ।

लच्छना-पूलक व्यंग ते व्यंग उदाहरन ‘दोहा’ जथा—

धँनि-धँनि सखि मुहिं^१-लागि तू, सहे^२ दसँन-नख देह ।

परँम हित् है^३ लाल सों, आई राखि सँनेह ॥*

अस्य तिलक

इहाँ नायिका सखी, सों धिक्-धिक् की ठौर धँनि-धँनि कहति है, यै ‘लच्छिर्ना’ मूलक व्यंग है, ताते सखी कौ अपराध-प्रकासन है, (सो) यै दूसरौ व्यंग है ।

वि—“दासजी का यह दोहा” लक्ष्य संभवा-व्यंजना का उदाहरण है । यहाँ वाच्यार्थ में सखी वा दूती की प्रशंसा है, पर उसके अंगों में रति-चिह्न—दशन और नखच्छत, देखकर और उनसे यह जान लेने पर कि यह मेरे प्रिय के साथ रमण कर आयी है, अतः उसके प्रति नायिका-द्वारा प्रशंसात्मक वाक्य कइना असंभव है । इसलिये यहाँ मुख्यार्थ का बाध है । इस वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) का लक्ष्यार्थ की विपरीति लक्षणा से यह प्रकट किया जाता है कि—“तूने (सखी ने) उचित कर्तव्य नहीं किया, अपितु मेरे प्रिय के साथ रमण कर विश्वासघात ही किया है । मुझसे स्नेह नहीं, शत्रुता करती है ।” इस लक्ष्यार्थ से बोधव्य-श्रोता—दूती वा सखी के वैशिष्ट्य से उस (सखी) का अपराध-प्रकाशन रूप व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, वही लक्षणा का प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ है । साथ ही नायिका के इस कथन में—अपने नायक के विषय में, अपराध-सूचन रूप व्यंग्यार्थ है, जो इस लक्ष्यार्थ-द्वारा सूचित होता है । जहाँ ‘लक्ष्यसंभवा’ आर्थी व्यंजना होती है, वहाँ लक्षणा-मूला-शब्दी-व्यंजना भी छिपी-लगी रहती है, क्योंकि जो व्यंग्य लक्षणा का प्रयोजन रूप होता है, वही

पा०—१. (प्र०-२) सखि धनि-धनि मो...। (प्र०) मोहि...। (प्र०-३)... मोहि काज...। २. (प्र०-३) ...दसँन नव देह । ३. (प्र०) है...।

* व्य० मं० (ला० मं०) पृ० २५ ।

लक्षणा-मूला-शाब्दी-व्यंजना का विषय है। जैसे उक्त उदाहरण-रूप सखी के विषय में विश्वासघात-सूचक व्यंग्य, जो लक्षणा का प्रयोजन रूप होते हुए भी लक्षणा-मूला-व्यंजना का विषय है और जो नायक के विषय में अपराध-सूचक व्यंग्यार्थ है, वह 'लक्ष्यसंभवा-आर्थी-व्यंजना का विषय है। अतएव यहाँ— दासजी कृत इस दोहे में, शाब्दी-आर्थी व्यंजनाओं का विषय-विभाजन स्पष्ट है।'

“दासजी की यह उक्ति नायिका-भेदानुसार—‘अन्य-सुरति-दुःखिता’ वा ‘अन्य-संभोग-दुःखिता’ नायिका की उक्ति अपनी सखी के प्रति कही जायगी। अन्य-सुरति वा संभोग-दुःखिता उसे कहते हैं—जो नायक के पास (उसे) बुलाने को भेजी गई, पर उस (नायक) के साथ रमण कर लौटी हुई सखी को देखकर दुःखित हो। यथा—

“पीतम-प्रीति-प्रतीत जो, और तिया-तँन पाइ।

दुःखित होइ सो दुःखिता, बरनत कवि-समुदाइ ॥”

—म० म० (अज्ञान) पृ० १०,

अथवा—

“निज पति-रति के चिह्न लखि, और तियँन के अंग।

‘अन्य-सुरति-दुःखिता’ सोई, जिहि दुख चढ़ै अनंग ॥”

—र० प्र० (रसज्ञान) पृ० ३६

स्वकीया की दशा-अनुसार ‘अन्य-संभोग-दुःखिता’ नायिका मानी जाती है जो कि मध्या और प्रोढ़ा का विशेष अंग है। कुछ कवियों ने इसे मुग्धा में वर्णन किया है, वह अग्राह्य है। कारण मुग्धा अधिक लज्जाशील है, अतः इस प्रकार कहने-सुनने में असमर्थ है। कुछ कवियों ने इसे परकीया और सामान्या में भी माना है। केशव और चिंतामणिजी ने इसका कथन—वर्णन नहीं किया है। दासजी ने अपने शृंगार-निर्णय में इसे ‘विप्रलब्धा’ नायिका के अंतर्गत माना है। यथा—

“मिलन आस दै पति छली, और-हि रत हूँ जाइ।

‘विप्रलब्ध’ सो दुःखिता, पर-संभोग’ सुभाइ ॥”

—शृ० नि० पृ० ६५,

अन्य-संभोग-दुःखिता का उदाहरण ‘हनुमान’ कवि ने बड़ा सुंदर प्रस्तुत किया है, जैसे—

“आई अँनमनी हूँ, बदन पियराई छाई,
 सुधि ना रही-री कुछ आपने-परारे की ।
 कहति कछु पै मुख-कदत कछु कौ कछु,
 देखति हों आज तेरी गति मतवारे की ॥
 नैक थिर हूँ कैं बैठि, राई-लौन वारों तोपै,
 तू तौ ‘हनुमँन’ मेरी साथिन है वारे की ।
 बजर परौ-री मो पै पठई कहाँ ते हाइ,
 नजर लगी-री तोहि जुलफँन वारे की ॥”

और दासजी-द्वारा कथन, यथा—

“ल्याई बाटिका-ही सों सिंगार-हार जाँनती हों,
 कंटकँन लागे हैं उरोजँन में घाब-री ।
 दौरि-दौरि टैहैल कै मैहैल हूँ कैं बादि-ही,
 बिगारयौ उर चंदन-दगंजन बनाव-री ।
 तेरौ कौन दोष ‘दास’ बात सब बूझि लीन्हों,
 अपनी-ही सूझि तू तौ भरि आई भावरी ।
 पीत-पटवारे कों बुलावँन पठाई में तौ,
 तू तौ पीत पट कों रँगाइ ल्याई भावरी ॥”

—शृ० नि० पृ० ६६

व्यंग ते व्यंगारथ वरनन ‘दोहा’ जथा—

निहचल^१ बिसनी-पत्र पै, उत बलाक^२ इहिँ भाँति ।
 मरकत-भाजँन पै मनोँ अँमल संख सुभ काँति ॥*

अस्य तिलक

बन निरजंन है, ताही ते बलाक (वक) निहचल (निशबल) है, ये व्यंग है, ताते चलि कैं बिहार कीजै ये पीतम (नायक) का सुनायौ (सो) ये व्यंग ते व्यंग है ।

वि०—“अर्थात् यहाँ निश्चल (निहचल) शब्द से जाना जाता है कि यह एकांत स्थल है—बेखटके का निर्जन प्रदेश है । अतएव नायिका उपपत्ति को

पा०—१. (वें०) निश्चल । २. (भा० जी०) बालक ।

*, व्यं० मं० (ला० मं०) पृ० २६ ।

सूचित करती है कि 'यही हमारे-तुम्हारे समागम का सुंदर संकेत-स्थल है। अथवा कोई परकीया नायिका अपने उपपति को उलाहना देती हुई कहती है कि 'तुम बड़े झूठे हो, वहाँ तुम गये-ही कब ? क्योंकि कमल-पत्र पर वक के निश्चल आनंद के साथ चुपचाप बैठे रहने से जाना जाता है कि—यहाँ पूर्व में कोई भी नहीं आया था। यथा—

“अथवा मिथ्या बद्दसि न त्वमत्रागतोऽभूरिति व्यंग्यते ।”

—का० प्र० (संस्कृत)

अस्तु, यह व्यंग्य से व्यंग्य है, अर्थात् व्यंग्य-संभवा व्यंजना है।

दासजी के इस दोहे में प्रथम वाच्यार्थ रूप वक की निर्भयता-सूचक व्यंग्यार्थ है, तदनंतर इस निर्भयता-सूचक व्यंग्यार्थ से उस स्थान के एकांत होने के कारण 'रति की प्रार्थना' दूसरा व्यंग्यार्थ है, अर्थात् एक व्यंग्यार्थ दूसरे व्यंग्यार्थ का व्यंजक है—सूचक है। इसलिये व्यंग्य-संभवा-आर्थो व्यंजना है। पहिले व्यंग्य को प्रतीत करानेवाली 'वाच्य-संभवा' है तो दूसरे व्यंग्य को बताने वाली व्यंग्य-संभवा ध्वनि है—व्यंजना है।

कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी 'रसमंजरी' में जो काव्यकल्पद्रुम का ही दूसरा भाग है, दासजी की इस सुमधुर सूक्ति को इस प्रकार अपनाया है—

“नलिनी-दल पै देखिए, लसत अचल बक-पाँति ।

मरकत-भाजन-मार्हि ज्यों, संख-सीप बिलसाति ॥”

—र० मं०

यहाँ पोद्दारजी का अपनी वाख्या में 'वक पंक्ति को शंख की फटोरी बताना' एक दम वाहियात-सा लगता है। दासजी के साथ पोद्दारजी ने यह उक्ति काव्य-प्रकाश (संस्कृत) से ली है, जो वहाँ 'व्यंग्य से व्यंग्य' के उदाहरण में प्रस्तुत की गयी है। साहित्य-दर्पण (संस्कृत) के रचयिता ने भी इसे 'अन्य-सान्निधि-वैशिष्ट्य' के उदाहरण में देने को अपनाया है, यथा—

“अत्र शिञ्जलिपिपदां भिसिणीपत्तंभि रद्देह बलाभ्रा ।

शिलभमरग अभाअण परिट्ठिषा संखसुत्तिव्व ॥”

अर्थात्

“पश्य निश्चलनिष्पंदा विसिनी पत्रे राजते बलाका ।

निर्मलमरकतभाजन परिस्थिता शंख शुक्तिरिव ॥”

—का० प्र०

यहाँ पोद्दारजी के साथ इस संस्कृत सूक्ति में 'भाजन' और 'शुक्ति' शब्द विचारणीय हैं, जिसे पोद्दारजी के प्रति वाहियात कह आये हैं। काव्य-प्रकाश

भाषा टीकाकार (काव्य प्रकाश-टीका—हरमंगल शास्त्री, पृ० ११) ने 'भाजन' का अर्थ 'पात्र' और 'शुक्ति' का अर्थ सुतुही (सीप) और साहित्य-दर्पण के टीकाकार (पं० शालिग्राम शास्त्री—विमला टीका पृ०) ने 'भाजन' का अर्थ 'धाली' और शुक्ति का अर्थ 'सुंदर' किया है। पोद्दारजी ने अपने दोहे में भाजन को भाजन ही मानते हुए शुक्ति का पर्याय—वा अर्थ, 'सीप' अर्थात् 'शंख के आकार की 'बनी कटोरी' किया है। दासजी इस बखेड़े में नहीं पड़े हैं। अस्तु, जब साम्य-रूपक रूप शंख के द्वारा ही अभीष्ट-अर्थ में विशेषता आ जाती है, तब 'शुक्ति' का अर्थ 'सीप' और सीप का अर्थ शंख के आकार की बनी 'कटोरी' कहाँ तक ठीक है और वह भी संस्कृत-काव्यों के एक अहमन्य मर्मज्ञ द्वारा, जो बड़े-बड़े संस्कृत-हिंदी के विद्वानों—काव्य-मर्मज्ञों पर अपनी नाक-भों सिकोड़ा करते हैं, किया गया अर्थ विचारणीय है।

काव्य-प्रकाश की 'उद्योत' कार ने यहाँ लिखा है—“शंख शुक्ति शुकत्याकारं शंखघटितं पात्रं । न तु मुक्ताशुक्तिः । तथा वलाकावच्छ्वे तत्त्वाभावात् । शंख-शुक्ति पदस्य तत्रा सामर्थ्याच्च । अत्र चा चेतनोपमयालेशतोऽपि क्षोभाभावः ।”

संस्कृत के कतिपय आचार्यों ने शब्द-शक्ति के अंतर्गत 'तात्पर्य-वृत्ति वा शक्ति के 'आकांक्षा,' 'सन्निधि' और 'योग्यता' नाम के तीन भेदों का और कथन किया है। क्योंकि इनके मतानुसार आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि-पूर्ण शब्दों से वाक्यों का अर्थ सहज संबोध्य हो जाता है, अकेला शब्द पूरा अर्थ देने में असमर्थ होता है। यह तात्पर्य-वृत्ति कही जाती है। आकांक्षा—जहाँ शब्दों के अर्थ की प्राप्ति के लिये दूसरे शब्दों की चाहना रहती है, वह और 'सन्निधि'—जहाँ शब्दों से अर्थ की प्राप्ति के लिये उससे संबंधित किन्हीं अन्य शब्दों के जोड़ने की—मिलावट की आवश्यकता होती हो वहाँ कही जायगी। इसी प्रकार—जहाँ दूरान्वित शब्दों का अन्वय उनके सहचर शब्दों के साथ करने के लिये उन्हें यथा स्थल रखने की आवश्यकता हो, वहाँ 'योग ता-शक्ति' कही जायगी, इत्यादि... अस्तु, अत्यावश्यक होते हुए भी दासजी ने इनका वर्णन नहीं किया है।”

“इति श्री सकलकलाधर-कलाधर बंसावतंस श्रीमन्महाराज कुमार बाबु-

‘हिंदूपति’ विरचिते ‘काव्य-निरणय’ वाचक-लाक्षणिक-

व्यंजक पदार्थ वरननं नाम द्वितीयोऽध्यायः ।”

अथ-तृतीयोल्लासः

अलंकार-मूल कथनं 'दोहा' जथा—

कहू बचन, कहूँ व्यंग में,^१ परें अलंकृत आइ ।

ता^२ ते कछु संक्षेप करि,^३ तिन्हें देति^४ दरसाइ ॥

वि०—“स्पष्ट व्यंग्य के बिना, अथवा उस (व्यंग्य) के सर्वथा अभाव में काव्य शब्द वा अर्थों द्वारा चमत्कारिक रचना हो उसे—‘अलंकार’ कहा जाता है । अथवा—किसी बात को अपनी स्वाभाविक साधारण बोलचाल से भिन्न शैली (प्रकार) के द्वारा अचूठे ढंग से—चमत्कार पूर्वक वर्णन करने से अलंकार-युक्त कहा जायगा । यह कहने का ढंग अनेक प्रकार का होता है, यथा—

“यश्चायमुपमाश्लेषादिलंकार मार्गः प्रसिद्धः स भणिति वैचित्र्यादुपनि निबध्यमानः स्वयमेवानबधिर्धत्ते पुनः शत शाखताम्.....।”

यद्यपि प्रथम मुख्यतया अलंकार—‘शब्दालंकार’, ‘अर्थालंकार’ और ‘उपमा-लंकार’ के नाम से तीन प्रकार के होते हैं और इनका वर्णन यथा-क्रम किया जाता है, पर ‘दासजी’ ने संस्कृत-साहित्यानुकूल इस पुरातन रीति-क्रम से भिन्न सूक्ष्म रूप से ही सही प्रथम शब्दालंकार का वर्णन न कर अर्थालंकारों का वर्णन किया है ।”

अथ प्रथम उपमालंकार वरनन 'दाहा' जथा—

कहुँ^५ काहूँ-सँम बरनिऐ,^६ 'उपमाँ' सोई जाँन^७ ।

बिमल बाल-मुख इदु-सौ,^८ यों-हीं औरों माँन^९ ॥

अनन्वै वरनन 'दोहा' जथा—

वासौ वडै 'अनन्वये',^१ मुख सौ मुख छवि देइ ।

ससि-सौ मुख, मुख-सौ ससी, सो^{१०} 'उपमाँ-उपमेइ' ॥

पा०—१. (प्र०—३) ते... २. (प्र०) तिहिं... ३. (प्र०—३) में । ४. (प्र०—३) कहों... ५. (भा० जी०) कछु... ६. (प्र०—२) (वै०) मान । ७. (प्र०—२) बाल-बिमल-मुख... ८. (प्र०—२) (वै०) जान । ९. (प्र०) (वै०) अनन्वया... १०. (प्र०—२) (वै०) यों...।

प्रतीप वरनन 'दोहा' जथा—

‘उपमाँ’ औ ‘उपमेइ’ कों,* सँम* न कहै गहि बैर ।

ता कों कहत ‘प्रतीप’ है, पाँच* प्रकार सु फेरि* ॥

वि०—‘प्रतीप का अर्थ है—विपरीत, प्रतिकूल । अतएव उपमान को उपमेय रूप में कल्पना करना आदि कई प्रकार की विपरीतता वा प्रतिकूलता होती है । दंडी ने प्रतीप को विलोमवाची शब्द मान कर—‘विपरीतोपमा’ अथवा ‘विपर्योपमा’ कहते हुए इसे ‘उपमा’ का ही भेद कहा है ।”

पाँचौ प्रकार के प्रतीप कौ उदाहरन ‘सवैया’ जथा—

चंद कहैं तिय-आँनन सौ,* जिन की मति बाँके बखॉन सों है रली ।

आँनन एकता चंद लखें, मुख के लखें चंद-गुमाँन-घटै अली ॥

‘दास’ न आँनन सौ कहैं चंद, दई सो भई यै बात न है भली ।

ऐसौ आँनूप बनाइ कें आँनन, राखिबे कों ससि-हू की कहा चली ॥

वि०—‘दासजी ने यहाँ संक्षेप में पाँचौ प्रकार के प्रतीपों का उदाहरण एक ही छंद (सवैया) में दिया है । जैसे—प्रथम चरण में प्रथम प्रतीप का उदाहरण, द्वितीय चरण में द्वितीय और तृतीय प्रतीप का उदाहरण, तीसरे चरण में चतुर्थ प्रतीप का उदाहरण और चौथे चरण में पाँचवे प्रतीप का उदाहरण दिया है ।”

दृष्टांत अलंकार वरनन ‘दोहा’ जथा—

सँम बिबँन-प्रतिबिंब गति, है ‘दृस्टांत’ सुदंग ।

तरुनी में मो मँन बसै, तरु में बसै बिहंग ॥

अर्थांतरन्यास वरनन ‘दोहा’ जथा—

सामान्न* ते बिसेस दृढ़, है ‘अरथांतरन्यास’ ।

तो रस-बिन औरें कहा, जल-बिन जाइ न प्यास ॥

निदर्सना वरनन ‘दोहा’ जथा—

द्वै सु एक-ही अरथ-बल, ‘निदरसनाँ’ की टेक ।

सतँन* असत सों माँगिबौ, औ मरिबौ है एक ॥

पा०—१. (प्र०—३) जब . । २. (प्र०—३) कहैं न सँम गहि... । ३. (प्र०) (वै०) पंच... । ४. (प्र०) सुफेर । ५. (प्र०) (वै०) सों... । ६. (प्र०) (वै०) सामान्य... । ७. (सं० प्र०) (वै०) सतनि... ।

तुल्लजोगता वरनन 'दोहा' जथा—

सँम सुभाइ हित-अहित पै 'तुल्लजोगता' चारु ।
सँम फल चाखै दाख सो, सीचँन-काटँन-हारु ॥

उत्प्रेच्छा अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

जहाँ कछू कछु सौ लगै, सँमभत-देखत उक्ति ।
'उत्प्रेच्छा' तासों कहै, पौन मनो बिष-जुक्त ॥

पुनः उदाहरन 'दोहा' जथा—

चंद मनो तँम हँ चलयौ, जँनु तिय-मुख ससि-हेत ।
'दास' जाँनियत दुरँन को, रंग लियौ सजि सेत ॥

अपन्हुति वरनन 'दोहा' जथा—

यै नहिं, यै कहियतु जहाँ, ततसँम बस्तु दुराइ ।
वहै 'अपन्हुति' अधर-छत, करत न पिय, हिम-बाइ ॥

सुमरन, भ्रम औ संदेह कथन 'दोहा' जथा—

लच्छँन नाम-प्रकास हैं, 'सुमरँन, भ्रँम, संदेह' ।
जदपि भिन्न-हूँ हैं तदपि उत्प्रेच्छा के' गेह ॥

उदाहरन 'सोरठा' जथा—

सँमभत नंद-किसोर, चंद-निरखि तो बढँन-छबि ।
लखि भ्रँम रहत चकोर, चंद किधों यै वदन है ॥

वि०—“दासजी ने इस छंद के पूर्वाद्ध में 'सुमरन (स्मरण) तथा उत्तरार्ध में 'भ्रम' तथा 'संदेह' अलंकार का वर्णन किया है—
उदाहरण दिया है ।”

व्यतिरेक अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

'वितरेक' जो गुँन-दोष गँनि, समँता तजै इकंक ।
क्यों सँम मुख निकलंक यै, बौ सकलंक मयंक ॥

वि०—“हिंदी साहित्य संमेलन की प्रति में ये दोहे पूर्व के स्थान पर और पर के स्थान पूर्ववाला दोहा है ।”

रूपक अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

आरोपँन उपमाँन कौ, ताकौ 'रूपक' नाँम ।
काँन्ह कुँमर कारी घटा, बिज्जु-छटा तू बाँम ॥

अतिसयोक्ति अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

'अतिसयोक्ति' अति बरनिऐं, औरें गुँन-बल-भार ।
दाबि सैल-महि निमिख में, कपि गौ सायर-पार ॥

वि०—“यहाँ दासजी का कथन है कि जिस पर्वत-शृंग से श्री हनुमान समुद्र उलाघने को उछले, वह धरणी (पृथ्वी) में धस गया, अतएव उनके बल-भार के वर्णन में यह अतिशयोक्ति रूप अलंकार है। 'दासजी ने यहाँ 'उल्लेखालंकार' का वर्णन नहीं किया, आगे 'उदात्त' का वर्णन किया है, क्यों...., इसका यहाँ कोई उल्लेख नहीं है, पर आगे के उल्लास में जहाँ यह अलंकार आया है, वहाँ अवश्य किया है।”

उदात्त अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

है 'उदात्त'-हूँ महत अति, गंपत कौ अधिकार ।
सुरपति-छरियादार और नगँन-जटित मग-द्वार ॥

अधिक अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

'अधिक' जाँन घट-बढ़ जहाँ, है अधार-आघेइ ।
जग जाके उदर^३-हिं बसै, तिहिं तू ऊपर लेइ ॥

वि०—“इससे आगे दासजी ने 'अल्प' और 'विशेषालंकारी' का वर्णन नहीं किया है, आगे के उल्लासों में किया है।”

अन्योक्त्यादि अलंकार बरनन 'दोहा' जथा—

'अन्योक्ती' और-हिं कहें, और-हिं के सिर-डार ।
सुक, संमर कौ सेइवो,^४ अज-हूँ तजै बिचार ॥

व्याज स्तुति बरनन 'दोहा' जथा—

'व्याज स्तुति' पैहचौनिऐं, स्तुति-निंदा के व्याज ।
बिरह-ताप वाकों दियौ, भल्यौ कियौ ब्रजराज ॥

पा०—१. (प्र०) है उदात्त मह व अरु.... २ (प्र०) छरीदार जहँ इंद है,.... ३. (प्र०) जाके वोदर बसै, (दे०) ओदर बसै । ४ (प्र०) सोइवो ।

परयायोक्ति वरनन 'दोहा' जथा—

‘परजा-उक्ति’ जहाँ नई, रचनाँ सों कछु बात ।
बंदों ब्याल-बिछावनों, जा’ तापस-द्विज-लात ॥

आच्छेप वरनन 'दोहा' जथा—

कहै कहँन की बिधि मुकरि, करि ‘आच्छेप’ सुबेस ।
बिरह-बरी कौ में नहीं, कहति^३ जु लाल संदेस ॥

विरुद्ध-अविरुद्ध वरनन 'दोहा' जथा

है ‘विरुद्ध-अविरुद्ध’ में, बुधि-बल सजें विरुद्ध ।
कुटिल कौन्ह क्यों बस कियौ, लली बौन तुव^३ सुद्ध ॥

वि०—“यहाँ तीन प्रतियों—(प्र०) (प्र०-२) (वें०) में केवल ‘विरुद्धा-लंकार-वरनन’ लिखा हुआ ही मिलता है । ‘साथ ही कई प्रतियों में—विरुद्ध, विभावना, विशेषांक्ति, उल्लास, तद्गुण, मीलित, और उन्मीलित-अलंकारों के पृथक् शीर्षक न देकर, विरुद्धालंकार के अंतर्गत ही मानकर लिखे गये हैं ।”

विभावनालंकार वरनन 'दोहा' जथा —

बिन-कारँन कारज प्रघट, ‘विभावनाँ’ विस्तार ।
चितबत-ही^४ घाइल करें, बिन-अंजन दृग चारु ॥

विसेसोक्ति-अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

‘विसेसोक्ति’ कारज नहीं, कारँन कौ अधिकाइ ।
महा-महाजोधा थके, टरथौ न अंगद-पाँइ ॥

उल्लास-अलंकार वरनन 'दोहा' जथा

गुँन-औगुँन कछु और तें और धरें ‘उल्लास’ ।
सत पर-दुख ते दुख लहैं, पर सुख ते सुख ‘दास’ ॥

तद्गुण-अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

अलंकार ‘तद्गुँन’ कहीं, संगत-गुँन गहि लेत ।
होत लाल तिय के अघर, मुक्त हँसत फिरि सेत ॥

पा०—१. (प्र०) जासु हूँ द्विज-लात । (वें) पाथौ हिय द्विज लात । २. (प्र०) (वें०) कहती लाल संदेस । (भा० जी०) कहत लाल संदेस । ३ (भा० जी०) तुम्ह... (सं० प्र०) तब . । ४ (प्र०) (सं० प्र०) चितबन-ही...

मीलित-अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

है, समौन 'मीलित' जहाँ^२ मिलत दुहूँ बिध^३ 'दास' ।
मिल्यौ^४ कँमल में कँमल-मुख, मिली सुवास सुवास ॥

उनमीलित अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

है, बिसेस 'उनमिलित' मिल, क्योंहूँ जाँन्यों जाइ ।
मिल्यौ कँमल-मुख कँमल-बँन, बोलति ही बिलगाइ ॥

सँम-अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

उचित बात ठैहराईये, 'सँम' भूषँन तिहिँ नाँम ।

इन^५ कजरारे दगँन-बसि, क्यों न होइ हरि स्याँम ॥

वि०—“प्रतापगढ़ 'सरस्वती-भवन' वाली प्रति में 'सम'-अलंकार के अंतर्गत—“भाविक, समाधि, सहोक्ति, विनोक्ति और परिवृत्त”—अलंकार एक ही शीर्षक के साथ लिखे हैं ।”

भाविक-अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

'भावी'-भूत प्रतच्छ ही, है 'भाविक' कौ साज ।

हँमें भयौ सुर-लोक-सुख, प्रभु-दरसँन ते आज ॥

समाधि-अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

सो 'सँमाधि' कारज सुगँम, और हेत मिल होत ।

मिलवे की^६ इच्छा भई, नास्यौ दिन उहोत ॥

सहोक्ति-अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

कछु है होई 'सहोक्ति' में, साथें परें प्रसंग ।

बढ़न^७ लगी नब बाल-उर, सकुच कुचँन के संग ॥

विनोक्ति-अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

है 'विनोक्ति' कछु बिँन कछू, सुभ कै असुभ चरित्र ।

माया-बिँन सुभ जोग-जप, असुभ सुहृद बिँन मित्र ॥

पा०—१. (भा० जी०) (प्र०) (वें०) मीलितौ । २. (भा० जी०) (प्र०) (वें०) गँनों ।
(प्र०—२) वहाँ । ३. (भा० जी०) दिसि । ४. (भा० जी०) मिली कँमल में कँमल-मुखि । (प्र०)
मिल्यौ कँमल-मुख कँमल-वन । ५. (प्र०) (वें०) या कजरारे ... । (भा० जी०) तो कजरारे ।
६. (सं० प्र०) मित्र-मिलन इच्छा... । ७. (भा० जी०) बढ़न... ।

परिवृत्त-अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

कछु-कछु कौ बदलौ जहाँ, सों 'परिवृत्त' करि दीठि ।
कहा कहीं मँन-मोहनें, मँन लै दीनीं पीठि ॥

सूच्छम अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

संग्या-ही बाते किये, 'सूच्छम' भूषन नाँम ।
निज-निज उर छवै-छवै करीं, सोहै स्यामा-स्याम ॥

परिकर अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

साभिप्राय त्रिसेसनन, 'परिकर' भूषन जाँन ।
देव चतुरभुज ध्याईये, चार पदारथ-दाँन ॥

वि०—“अन्य प्रतियों में, जिनमें प्रतापगढ़ और भारतजीवन प्रेस की प्रति प्रमुख हैं, 'सूक्ष्म' और 'परिकर' अलंकारों को पृथक्-पृथक् शीर्षक न दे कर एक ही शीर्षक 'सूक्ष्म' 'अलंकार वरनन' के साथ लिखा हुआ मिलता है ।”

सुभावोक्ति अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

सूधी-सूधी बात सों, 'सुभावोक्ति' पैहचाँनि ।
हरि आबत माँथें मुकट, लकुट लिये बर पाँनि ॥

वि०—“स्वभावोक्ति 'अलंकार शीर्षक' के अंतर्गत प्रतापगढ़ वाली प्रति में 'काव्यलिंग, परिसंख्या, पृष्णोत्तर'—आदि तीन अलंकार एक साथ लिखे हैं ।”

काव्यलिंग अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

हेतु-सँमर्थन जुक्ति सों, 'काव्यलिंग' कौ अंग ।
धिग, धिग, धिग, जग राग-बिँन, फिरि-फिरि रहत मृदंग ॥

परिसंख्या-अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

इहै एक नहिँ और कहि, 'परिसंख्या' निरसंक ।
एक राँम के राज में, रह्यौ चंद सकलंक ॥

पृसनोत्तर-अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

'पृसनोत्तर' कहिये जहाँ, पृसनोत्तर बहु बंद ।

बाल, अरु न क्यों नैन बिय, दिय प्रसाद नख-चंद ॥

वि०—“दासजी के ‘बाल, अरु न क्यों नैन बिय, दिय प्रसाद नख-चंद ॥’ पर ‘विहारी’ का निम्न-लिखित ‘दोहा’ बड़ा सुंदर है, यथा—

“बाल, कहा लाली भई, लोयँन-कोयँन माँहि ।

लाल, तिहारे दगँन की परी दगँन में छाँहि ॥”

अथवा—

“तरुणि, कुतस्तेनयनयुगमल्यतरं प्रतिभाति ।

मधुप, तवारुणदृक्प्रभा प्रतिबिंबं विदधाति ॥”

जथासंख्य अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

बस्तु अनुक्रम है जहाँ, 'जथासंख्य' तिहि नौम ।

रमाँ, उमाँ, बाँनी सदाँ, हरि-हर, बिध-सँग बाँम ॥

वि०—“तापगढ़ वाली प्रति में इसे 'संख्यालंकार' सज्ञा देकर—‘एकावली’ और ‘पर्याय’ के अंतर्गत माना है ।”

“दासजी ने इस दोहे के दोनों चरण बदल कर, जैसे—“जथा संख जहँ नहिँ मिलै, सोई 'प्रकरँन-भंग; रमाँ, उमाँ बाँनी सदाँ, बिध, हरि-हर के संग ।’ ‘प्रकरण-भंग’-दोष के अंतर्गत भी लिखा है ।”

एकावली-अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

किए जँजीरा जोरि पद, 'एकावली' प्रमौन ।

स्रुति-बस मति, मति-बस भगति, भगति-बस्य भगमौन ॥

परयाइ-अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

तजि, तजि आसइ करँन ते, जाँन लेहु 'परयाइ' ।

तनँ-तजि बाढ़ि दगँन गी, थिरता दग-तजि पौइ ॥

वि०—“इससे आगे ‘हिंदी साहित्य संमेलन’ की प्रति में ‘इति अलंकारः’ के बाद ‘अथ संसृष्टि लच्छन’ भी लिखा मिलता है ।”

संसृष्टि अलंकार वरनन 'दोहा' जथा—

एक छंद में जँह परैं, 'अलंकार' बहु दृष्टि ।
तिल-तंदुल-से हैं मिले, ताहि कहैं 'संसृष्टि' ।

उदाहरन 'कवित्त' जथा —

घँन-से सघँन स्याँम केस बेस भौंमिनि के,
ब्यालँन-सी बेंनी, भाल ऐसौ एक भाल-ही ।
भृकुटी कँमान दोऊ दोउँन कों उपमाँन,
नेन से कँमल, नासा कीर-भद घाल-ही ॥
गरब कपोलँन मुकर सँमता कों सीप-सोन-
आगें, ओठ आगें बिब'-पक्व-फल हाल ही ।
मौतिन की सुखमा बिलोकियत दंतँन में,
'दास' हास-बीजुरी कौ देख्यौ इक चाल ही ॥

अस्य तिलक—

इहाँ 'केस' पै 'पूरनोपमा', 'बेंनी' पै 'लुहोपमा' (धर्मलुहोपमा), 'भाल' पै 'अनन्वद्', 'भृकुटी' पै 'उपमानोपमेद्', 'नेन', 'नासिका' औ 'कपोलँन' पै तीन्यों 'प्रतीप', 'सोन-ओठ' पै चौथौ 'प्रतीप', कै 'दृष्टांत', कै 'तुल्लजोगता', 'दंत' औ 'हास' पै 'निदरसनौ', (आदि) भिन्न-भिन्न (अलंकार) पाईयतु हैं, ताते 'संसृष्टि' कहिए ।

अन्य 'कवित्त' जथा —

ती कौ मुख इंदु है औ सेदँन सुधा के बुंद,
मौतो-जुत नासा^२ मँनोलीनों^३ सुक चारौ है ।
ठोड़ी-रूप कूप है कि गढ़हा^४ अँनूप है कि
अभिराँम मुख-छबि-शाम कौ पँनारौ है ॥
ग्रीवा-छबि-सीवा में ललित लाल माल लखि,
आबत चकोर जाँने अँमल अँगारौ है ।
देखत उरोज सुधि आबत है साधँन^५ कों,
ऐसौई अचल सिब साहिब हँमारौ है ॥

पा०—१. (सं० प्र०) बिब-हि कहा लही । २. (भा० जी०) (वें०) (प्र०) नाँक... ।
३. (वें०) (प्र०) मँनों लीनें सुक... । ४. (प्र०) (वें०) (भा० जी०) गढ़ौई... । ५. (प्र०)
(वें०) साधुन के... ।

अस्य तिलक—

इहाँ 'मुख' पै 'रूपक', 'सेद' पै 'अगन्धुति', 'मोती-तुति नासिका' पै 'उत्प्रेक्षा', 'ठोड़ी' पै 'संदेह', 'मोबा' पै 'भ्रांति' (भ्रांतिमान), 'उरोजैन' पै 'सुमरैन' (स्मरण)-अलंकार पाईयत हैं, ताते (यहाँ हूँ) 'संसृष्टि' है।

संकर-अलंकार लच्छन बरनन 'दोहा' जथा—

द्वै कि तीन भूषन मिलें, छीर-नीर के न्याइ ।
अलंकार 'संकर' कहैं, तहँ प्रबीन कबिराइ ॥

संकर-भेद बरनन 'दोहा' जथा—

एक-एक कां अंग कहूँ, कहूँ सँम होइ प्रधाँत ।
कहूँ रहत संदेह में, 'संकर' तीन प्रमाँन ॥

अंगादि (अंगागी) संकर उदाहरन 'दोहा' जथा —

मिटत नाहिं निस-बासर हूँ, आँनन-चंद-प्रकास ।
बने रहैं जाते उरज, पंकज-कलिका 'दास' ॥

अस्य तिलक

इहाँ 'रूपकालंकार' 'काव्यलिंग' अलंकार कौ अंग है।

सम प्रधान संकर उदाहरन 'कवित्त' जथा—

सुजस गबाबै,^१ भगतैन-हीं सों प्रेम करें,
चित अति ऊजरे भजत हरि-नाम हैं ।
दीन के दुखैन देखें, आपने^२ न सुख लेखें,
बिप्र-पाँ^३ परत तन^४ मेंन-मोहे^५ धाँम हैं ॥
जग पर जाहर है धरँम निबाहि रहे,
देब-दरसन ते लहत विसराँम हैं ।
'दास जू' गँनाए जे असज्जन के काँम^६
सँमझि देखौ एई सव सज्जन के काँम हैं ॥ *

पा०—१. (क० कौ०) जनाबै ००। (का० का०) गनाबै। २. [का० का०] आप
हूँ सुख न लेखें। ३. [प्र०] [क० कौ०] [का० का०] पापरत। ४. [वें०] तैन में
जु मोह धाँम ००। ५. [का० का०] मोह ००। ६. [वें०] काँम, नहीं ००।

* क कौ० [रा० न० त्रि०] पृ० ४०३ [१]। का० का० [रा० च० सि०]
पृ० ३३३।

अस्य तिलक

इहाँ 'स्लेस', 'बिरुद्ध' औ 'निदरसनाँ' तीनों अलंकार प्रधान हैं, जाते संकर अलंकार जान्यों जात है ।

पुनः 'दोहा' जथा—

प्रंथ-गूढ़-बैन तरपनो, गौनी गँनिका बाल ।

इँन की सोभा तिलक है, भूमि, देव, भूपाल ॥

अस्य तिलक

इहाँ-ऊँ 'स्लेस' 'दीपक' औ 'तुल्लजोगता'—आदि तीनों अलंकार (सम) प्रधान हैं, ताते 'संकर' कहाँ जात है ।

संदेह-संकर अलंकार उदाहरन 'कवित्त' जथा—

कलप कँमल बर बिबँन के बैरी, बंधु-

जीवँन के बैरी' लाल लीला के धरँन हैं ।

संभा के सुमँन, सूर-सुअँन मँजीठ-ईठ,

कौहर मँनोहर की आभा के हरँन हैं ॥

साहब सहाब के गुलाब, गुड़हर, गुर,

ई'गुर-प्रकास 'दास' लाली लरँन^८ हैं ।

कुसुम अँनार कुरबिंद के अँकुरकारी,

निंदक-पँवारी प्राँन-प्यारी के चरँन हैं ॥

अस्य तिलक

इहाँ 'उपमा', कै 'प्रतीप', कै 'उल्लेख', कै 'बितरेक' चारों अलंकारन कौ 'संदेह संकर' है । याकों 'संकीरन उपमा' हूँ कहत हैं ।

पुनः उदाहरन 'दोहा' जथा—

बंधु, चोर, बादी, सुहृद, कल्प कल्पतरु जाँन ।

गुरु-रिपु-सुत प्रभु कारँन-हिं, 'संकीरँन' उपमाँन ॥

वि०—“दासजी ने अपने 'काव्य-निर्णय' के इस 'तृतीय-उल्लास' में 'अलंकारों' का सक्षिप्त (सूक्ष्म) रूप से (ब्रजभाषा के अन्य अलंकार-ग्रंथ 'भाषा-भूषण' जैसे—एक-ही छंद में लक्षण और उदाहरण) वर्णन किया है

और आगे—आठवें उल्लास से सत्रहवें-उल्लास तक विशद...। इन दोनों स्थानों के (तृतीय-उल्लास और आठ से सत्रहवें उल्लास तक) अलंकार-वर्णनों में साम्यता—एक-सा क्रम नहीं है, आगे-पीछे है। साथ ही आप (दासजी) ने यहाँ प्रथम—उपमा तदनंतर अनन्वय, प्रतीप, दृष्टांत, अर्थांतर-न्यास, निदर्शना, तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, अपन्हृति, स्मरण, भ्रम, संदेह, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति, उदात्त, अधिक, अन्वोक्ति, व्याजस्तुति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, विरुद्ध, विभावना, विशेषोक्ति, उल्लास, तद्गुण, मीलित, उन्मीलित, सम, भाविक, समाधि, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्त, शूद्धम, परिकर, स्वभावोक्ति, काव्यलिंग, परिसंख्य, पृष्णोत्तर, यथासंख्य, एकावली, पर्याय, संसृष्टि, संकर और अंगादि-संकर, समप्रधान संकर, तथा संदेह संकर अलंकारादि को संक्षिप्त करते हुए भी यथा क्रम वर्णन नहीं किया है। इनके अवांतर भेद भी यहाँ नहीं लिखे हैं। यह एक ही छंद में लक्षण-उदाहरण की भाषाभूषणी-पद्धति बाद के बहुत से आचार्यों ने अपनायी है, जो कंठस्थ करने में सहायक है और अलंकारों का ज्ञान-प्राप्त करने में अधिक आशाप्रद है।

इति श्री सकल कलाधर कलाधर बंसावतंस श्रीमन्महाराजाधिराज
कुँमार बाबू 'हिंदूपति' विरचिते काव्य-निरनए अलंकार-
वरननो नाम तृतीयोऽल्लासः ।

अथ चतुर्थोल्लासः

रसांग-वर्णन

(स्थायी भाव कथन)

‘प्रीति’, ‘हँसी’^१ वरु ‘सोक’ पुनि ‘रिस’ ‘उछाह’, मै^२ मित्त ।

‘विन’, विसमै थिर-भाव ए, आठ वसे^३ सुभचित्त ॥

वि०—‘दासजी ने (यहाँ) शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत-आदि आठ रसों के स्थायीभावों—अर्थात् जो भाव चिरकाल तक चित्त में स्थिर रहे और जिसको विरुद्ध अविरुद्ध भाव छिपा (दवा) न सके, साथ ही जो विभावोदि से संबद्ध होकर रस रूप में व्यक्त हो, उस आनंद-मूल-भूत भाव को ‘स्थायी-भाव कहते हैं, का उल्लेख किया है। नवम रस—‘शांत’ के स्थायीभाव—‘निर्वेद’ या ‘सम’ का नहीं। यों तो नाट्य-शास्त्र में भी नवम ‘शांत’ रस को नाटकों के उपयुक्त नहीं माना है, वहाँ आठ रसों का ही उल्लेख है, फिर भी ‘श्रव्य-काव्य के उपयुक्त होते हुए भी इस (शांत-रस) का दासजी-द्वारा वर्णन न होना—उसका उल्लेख न करना, विचारणीय है।

नाट्याचार्य श्री भरत मुनि से पूर्व भी आठ रस माने जाते थे, जैसा कि उनके इस कथन से पुष्ट है—“एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना ।” फिर भी आपने चार—शृंगार, रौद्र, वीर और बिभत्स रसों को ही मान्यता देते हुए कहा कि बाकी के हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक पूर्व-कथित चार रसों के अंतर्गत आ जाते हैं। जैसे शृंगार के अंतर्गत—‘हास्य’, रौद्र के अंतर्गत—‘करुण’, वीर के अंतर्गत—‘अद्भुत’ और बीभत्स के अंतर्गत—‘भयानक’। अस्तु, आपके मतानुसार पूर्व-कथित रसों से ही पर-कथित रसों की उत्पत्ति है। यही “अग्नि पुराण के रचयिता का मत है। भवभूति ने “एकोऽहि रसः करुण रसः” कहा है। कुछ साहित्याचार्यों ने ‘प्रेमान्, वात्सल्य, लौल्य’ और ‘भक्ति’ को भी रस माना है। विश्वनाथ चक्रवर्ती और भोजदेव ने—

पा०—१. (प्र०)...हँसी, अरु सोक रिस...। (वै०)...हँसी सोकै रिसौ, उत्साहो भय...।
 (प्र०—२)...हँसी औ सोकहू, रिस...। २. (प्र०) भव...। (सं० प्र०)...हँसी, सोकौ, रिसों, उत्साहो भय...।

“शृंगारहास्यकरुण रौद्र वीरभयानकाः ।

बिभत्सोऽद्भुतहृत्पटौ रसाः शांतस्तथा मतः ॥”

कहते हुए भी दसवें ‘वात्सल्य’ रस को भी स्वीकार किया है ।

कविवर ‘देव’ ने भी तीन—‘शृंगार’, ‘वीर’ और ‘शांत’ रस को ही मान्यता देते हुए कहा है—

“तीन मुख्य नौ-हू रसैन, द्वै-द्वै प्रथमैन लीन ।

प्रथम मुख्य तिन तिन-हुँ में, दोऊ तिहि आधीन ॥



हास्यरु भै सिंगार-अंग, रुद्र करुँ न-सँग-वीर ।

अद्भुत अरु बीभत्स-सँग, बरनत शांत सुधीर ॥”

अस्तु, रीति-ग्रंथों में अन्य स्थायी भाव और रसों के अतिरिक्त शृंगार रस के स्थायी भाव की मान्यता में भी भिन्नता है । अतएव कोई शृंगार रस का स्थायी भाव—‘प्रीति’, कोई—‘रति’ और कोई ‘प्रेम’ को मानते हैं, जो प्रायः एक ही वस्तु—अर्थ के द्योतक हैं । यह प्रीति उत्तम, मध्यम और अधम नामों से संबोधित की जाती है । उत्तम प्रीति तो वह जो ‘सदा एक रस रहे,’ कभी द्विधा की दुर्गंध से दूषित न हो और ‘मध्यम’—‘अकारण परस्पर प्रीति’ को कहते हैं तथा अधम-प्रीति केवल ‘स्वार्थ-वश’ होती है । देव ने ‘प्रेम’ को पाँच प्रकार का माना है, यथा

“सानुराग, सौहादं पुनि, भक्ति और वात्सल्य ।

प्रेम पाँच बिधि कहत हैं, कारणन्य बैकल्प ॥”

शृंगार-रस के स्थायी भाव ‘प्रीति’ के संबंध में यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि “स्त्री में पुरुष की और पुरुष में स्त्री की प्रीति ही शृंगार रस का स्थायी भाव है और गुरु, देवता तथा पुत्रादि के प्रति जो ‘प्रीति’ होती है वह शृंगार का स्थायी भाव न बन उसकी केवल संज्ञा है—भाव-संज्ञा है । संचारी भाव अपने अनुकूल वा विरोधी भावों के कारण घटते-बढ़ते, उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं, किंतु स्थायी भाव विकृत नहीं होते, क्योंकि संचारी भाव इनके अनुचर हैं—पोषक हैं । प्रीति वा रत्यादि की परिपक्वा-वस्था में ही स्थायी संज्ञा है—इसके बिना ये भाव मात्र हैं । इनके उदाहरण तत्-तत् रसों की परिपक्वावस्था में ही मिलते हैं, अन्यत्र नहीं । कारण—जहाँ स्थायी भाव रस-अवस्था को नहीं पहुँचते वहाँ वे भाव तो रहते हैं, पर उनकी ‘स्थायी’ संज्ञा नहीं बनती, केवल भाव-मात्र रह जाते हैं ।”

सिंगार-रस औ ताकी पूर्णता बरनन 'दोहा' जथा—

उचित प्रीति रचनों-बचन सो 'सिंगार-रस' जाँन ।

सुनत प्रीत-मैं चित द्रवै, तब पूरन परमन ॥

वि०—“संस्कृत-व्याकरणानुसार 'शृंगार' का अर्थ—‘काम-वृद्धि की प्राप्ति, अर्थात् कामी-जनों के हृदयों में प्रीति वा रति (स्थायी) भाव रस-अवस्था को प्राप्त हो कान की वृद्धि करना है, उसे 'शृंगार' कहा है और 'रस' का शाब्दिक अर्थ है—‘आनन्द’ ।

अग्नि पुराण में 'रस' काव्य का जीवन और विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसे काव्य की 'आत्मा' कहा है और इस 'रस की निष्पत्ति के लिये 'श्रीभरत मुनि' का यह कथन सर्वमान्य है, यथा—

“विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्ति ।”

इस 'रस-निष्पत्ति' को लेकर कितने ही विचार-वाद बने और बिगड़े, जिनमें—“भट्टलोल्लट का उत्पत्ति-वाद, शंकुक का अनुमिति-वाद, नायक भट्ट का मुक्ति-वाद और अभिनवगुप्त का अभिव्यंजना-वाद प्रमुख हैं । अतएव ध्वनिकार 'आनन्दवर्द्धनाचार्य' के कथनानुसार —

“दृष्टपूर्वाऽपि ह्यर्थाः काव्ये रस परिग्रहात् ।

सर्वे नवा इवा भांति मधुमास इव द्रुमाः ॥”

अर्थात् जिस प्रकार मधु-मास में वृक्ष अधिक चित्ताकर्षक और नवीन दीखने में आते हैं, उसी प्रकार काव्य में 'रस' का आश्रय-ग्रहण कर लेने से पूर्व दृष्ट अर्थ भी नवीन और सौम्य रूप धारण कर लेते हैं, यही सत्य है— निर्विवाद सत्य है ।”

अथ हास्य-रस बरनन 'दोहा' जथा—

हँसी-भरथौ चित हँसि उठै, जा^१ रचनों सुनि 'दास' ।

कबि-पंडित ताकों^२ कहैं यै पूरन 'रस-हास' ॥

वि०—“कौतुकार्थ अनुपयुक्त वचन अथवा विकृत-रूप-रचना से आह्लाद-युक्त मनोविकार को 'हास' एवं हास्य-रस कहते हैं । कविवर 'रसलीन' ने 'हास्य' का लक्षण सुंदर दिया है, यथा—

पा०—१. (सं०) (वें०) करि मान । २. (प्र०) (वें०) जौ... ३. (प्र०—२) तासों... ।

“परिपोषक जो हँसी बौ, सोई ‘हास-रस’ जान ।
बिकृत-वचन-कर्म-संग ते, नित उपजत है आन ॥”

—२० प्र०, पृ० १२६,

कोई ‘उदू-शायर’ कहता है—

“सलीके का मज़ाक अच्छा करीने की हँसी अच्छी ।
अजी, जो दिल का भा जाए, वही बस दिल्लगी अच्छी ॥”

पर यह ‘हास’ संस्कृत से लेकर ब्रजभाषा और हिंदी तक में नहीं है—
नहीं है, उसे उदाहरण-रचयिताओं ने फूहड़—गँवारु बना दिया है ।

अस्तु, शास्त्रकारों ने हास्य के प्रथम—‘उत्तम’, ‘मध्यम’ और ‘अधम’
भेद करते हुए उत्तम के—‘स्मित’ और ‘हसित’, मध्यम के—‘विहंसित’ और
‘उपहसित’ तथा अधम के—‘अपहसित’ और ‘अतिहसित’ भेद किये हैं । इन
भेदाभेदों के ब्रजभाषा-साहित्य में उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, जो
आज तक चुने नहीं गये ।

रसलीनजी ने हास्य (हास) के मंद, मध्यम और अति नाम के तीन ही
भेद माने हैं और इनका लक्षण इस प्रकार लिखा है, यथा—

“दसँन खुलत नहिं ‘मंद’ में, धुनि ‘मध्यम’ में होइ ।
बहु हँसिबौ ‘अति’ हास है, हास तीन-बिधि सोइ ॥”

—२० प्र०, पृ० १२६

इनके उदाहरण भी सुंदर दिये हैं, पर उन्हें न देकर ‘स्मित’ हास्य का
एक उत्तम उदाहरण यहाँ दे रहे हैं । देखिये कितना दर्शनीय हैं, जैसे -

“बाल के आनँन चंद लग्यौ नख, आली बिलोकि प्रभा अति हाँसी ।
आज न द्वैज है चंदमुखी, मतिमंद कहा कहें ए पुर-बासी ॥
बापुरौ जोतिसी जाने कहा, अरी, हों कहों जो पढ़ि आई हों कासी ।
चंद दुहँ-के-दुहँ इक ठौर हैं, आज है द्वैज औ पूरँनमासी ॥”

यहाँ हास शब्द की स्थिति ‘रस-दोष’ उत्पन्न कर रही है, फिर भी कवि-
कथन सुंदर है ।

“हज़रते ज़ाहिद हमारी छेड़ की आदत नहीं ।
गुदगुदी होती है दिल में पारसा को देखकर ॥”

—कोई शायर

अथ करुण-रस बरनन 'दोहा' जथा—

सोक' चित्त जाके सुँनत, करुनाँमइ ह्वै जाइ ।
ता कबिताई कों^२ कहैं, 'करुनाँ रस' कबिराइ ॥

वि०—“प्रिय-पदार्थ वा इष्ट के वियोग से उत्पन्न रति-रहित मनोविकार को 'शोक' और उससे उत्पन्न अनुभूति को 'करुण रस' कहते हैं ।”

अथ वीर रस बरनन 'दोहा' जथा—

जो उच्छाहिल^१ चित्त में, देत बढ़ाइ उच्छाह ।
सो पूरन रस 'वीर' है, रचें सुकवि करि चाह ॥

वि०—“जैसा कि दासजी ने कहा है कि 'वीर रस' का स्थायी भाव उच्छाह (उत्साह) है । बैरी, भिन्नक और दीन को देखकर उन्हें क्रमशः परास्त करना तथा उनके कष्ट निवारण करने की उत्तरोत्तर अभिलाषा में आनंदानुभूति को उत्साह कहा गया है । अतएव पराक्रम, शरीर-बल, आत्म-रक्षा, साहस, हिम्मत, बहादुरी, कार्य करने की शक्ति, निर्भयता और युद्धादि करने की तत्परता-आदि से 'वीर रस' का ग्रहण किया जाता है । अतएव वीर रस के संचारी-भाव—“गर्व, असूया, धृति, उत्सुकता, आवेश, श्रम, हर्ष और मरणादि,” स्थायी भाव—‘उत्साह’, आलंबन—“शत्रु, दीन, दुखीजन, सत्संग, धर्म-निष्ठा,” उद्दीपन—“मारू बाजों, का बजना, क्रंदन, शंखनादादि”, अनुभाव—“मारकाट, अंगों का स्फुरण, भृकुटि चढ़ाना, रोष करना, सैन्य-संचालन, शस्त्रादि के प्रयोग”, गुण—“ओज, प्रसाद, वृत्ति—पौरुष, कोमला”, रीति—“गौड़ी, पांचाली और लाठी”, सहचर रस “हास्य, अद्भुत, करुण बोधल और रौद्र” और विरोधी शृंगार, शांत और वात्सल्य रस कहे जाते हैं ।

संस्कृत के आचार्यों ने वीर तीन प्रकार का—युद्धवीर, सत्यवीर और दान वीर माना है । ब्रजभाषा-आचार्य 'रसलीन' ने-सत्य, दया, रण और दान रूप चार प्रकार के वीर माने हैं तथा उनके सुंदर उदाहरण भी दिये हैं । पद्माकरजी ने 'वीर' का उदाहरण बड़ा सुंदर दिया है, यथा—

“धनुष चढावत भे तब-हिं, लखि रिपु-कृत उत्पात ।
हुलसि गात रघुनाथ कौ, बखतर में न सँमात ॥

पा०—१. (सं० प्र०) सोकौ चित जाके सुनें । (वें०) (प्र० मु०) सुनें ।
२. (प्र०—२) सों..... ३. (वें०) उत्साहिल...। (प्र०—२) जब उच्छाहल....।

अथ रुद्र (रौद्र), भयानक औ बिभच्छ रस बरनन 'दोहा' जथा --

हैं रिस बाढ़ै 'रुद्र रस', भय-हिँ 'भयानक' लेख ।

घिँन ते हैं 'बिभच्छरस', 'अद्भुत' बिसमय देख ॥

वि०—“रिस रूप रस के आस्वादन से 'रौद्र-रस', जिस रस के आस्वादन में इंद्रिय-क्षोभ या भय उत्पन्न हो वह 'भयानक', जिस रसास्वादन से घृणा के भाव उत्पन्न हों वह 'बिभत्स रस' और जिस रसास्वादन से विस्मय, आश्चर्य प्रकट हो उसे अद्भुत रस कहा गया है। इन चारों के भी—संचारी, स्थायी, आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव, गुण, रीति, वृत्ति, सहचर और विरोधी रस हैं, जिन्हें विस्तार-भय से यहाँ उद्धृत नहीं किया गया है।”

अथ रस-उत्पत्ति कथन 'दोहा' जथा—

जा^१ हिय प्रीति न सोग, है, हँसो न उच्छह ठॉन ।

सो^३ बातें सुँनि क्यों द्रवै, दढ़ है रहै पखान^४ ॥

अथ थाई, विभाव, अनुभाव बरनन 'दोहा' जथा—

ता ते थाई-भाव कों, रस कौ बीज गँनाव ।

कारँन जाँन 'विभाव' अरु कारज है अनुभाव ॥

वि०—“स्थायी भावों की विशेषता का कथन पूर्व में आ चुका है, अतएव मन के भीतर सोती हुई भावनाओं को जो विशेष रूप से जाग्रत करें—प्रवर्तित करें, उन्हें 'विभाव' और जिन (चेष्टाओं) के उदय होने पर रस का अनुभव होने लगे वे 'अनुभाव' कहे जाते हैं। अतएव विभाव —

“रस उपजै आलंब जिहि, सो 'आलंबन' होइ ।

रस-हिँ जगावै दीप-ज्यों, 'उद्दीपन' कहि सोइ ॥

भा० वि० (देव)

रूप दो प्रकार का कहा जाता है। विभाव का अर्थ है 'कारण', अर्थात् जो रस-निस्पत्ति में कारण हैं, उन्हें ही विभाव कहते हैं और ये पूर्व-कथित—'आलंबन' और 'उद्दीपन' दो प्रकार के होते हैं।

अनुभाव तीन प्रकार के होते हैं—“कायिक, मानसिक” और ‘सात्विक’। इन्हें—‘यत्नज’ और ‘अयत्नज’ भी कहते हैं। शारीरिक गति सूचक क्रियाएँ

पा०—१. (स० प्र०) यों...। २. (भा० जी०) जा हिय प्रीतिन सों कहै, । ३. (वें०) (प्र० मु०) ते...। ४. (स० प्र०) हिय है रखी पखान ।

कायिक, मन के उद्वेगादि मानसिक और स्वाभाविक रूप से प्रकट होने वाले भाव 'सात्विक' कहे गये हैं। शारीरक-गति-सूचक क्रियाएँ स्वाभाविक नहीं होतीं, यत्न-पूर्वक प्रदर्शित की जाती हैं, इसलिये ये 'यत्नज' कहलाती हैं, बाकी मानसिक और सात्विक 'अयत्नज' कही जाती हैं। सात्विक-अनुभाव आठ प्रकार के होते हैं, यथा—

“स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कंप बैवर्न ।

अस्तु, प्रलाप ए सात्त्विकी, भाव के उदाहरण ॥”

श्र० नि (दास) पृ० ८०

आत्मा में निहित रस को प्रकाशित करने वाला अंतःकरण का धर्म-विशेष 'सत्त्व' कहा गया है, इसी सत्त्व से उत्पन्न शरीर के स्वाभाविक अंग-विकार को 'सात्त्विक' अनुभाव कहते हैं।

अथ विभचारी भाव वरनन 'दोहा' जथा—

विभचारी तेतीस ए, जहँ-तहँ होत सहाइ^१ ।

क्रँम ते रंचक, अधिक अति, प्रघट करें थिरताइ^२ ॥

वि०—“चित की चिंता-आदि विभिन्न वृत्तियों को 'व्यभिचारी' वा 'संचारी' भाव कहा गया है। ये संख्या में तैंतीस (३३) हैं, जैसे—

“कहि निरवेद,^१ ग्लानि,^२ संका,^३ त्यों असूया,^४ लज,^५

मद,^६ धृति,^७ आलस,^८ बिषाद,^९ मति,^{१०} माँनिऐं^१ ।

चिंता,^{११} मोह,^{१२} सुपँन,^{१३} बिबोध,^{१४} स्मृति,^{१५}

अँमरख,^{१६} गरब,^{१७} उतसुक्ता,^{१८} सु अबहित^{१९} ठाँनिऐं^२ ॥

दीनता,^{२०} हरष,^{२१} श्रीडा,^{२२} उग्रता,^{२३} सु निद्रा,^{२४} व्याधि,^{२५}

मरँन,^{२६} अपसमार,^{२७} आवेग^{२८}-हु आँनिऐं^३ ।

त्रास,^{२९} उनमाद,^{३०} पुनि जइता,^{३१} चपलताई,^{३२}

बितर्क,^{३३} तैंतीसौ नाम याही बिधि जाँनिऐं^४ ॥”

—ज० वि० (पद्याकर)

अतएव ये रस के सहकारी कारण हैं, जो रस में संचार करते—उठते और नष्ट होते रहते हैं। ये स्थायी भावों की भाँति रस की सिद्धि तक स्थिर नहीं रहते, अपितु अवस्था-विशेष में उत्पन्न होकर अपना प्रयोजन पूरा करने के उपरांत

स्थायी भाव को उचित सहायता दे कर लुप्त हो जाते हैं। इन व्यभिचारी भावों की स्थायी भाव और रस के समान जो व्यंग्यार्थ-द्वारा ध्वनि निकलती है, वही आस्वादनीय होती है, क्योंकि इनका स्पष्ट-कथन करना रीति-ग्रंथों में दोष माना गया है। साथ ही ये शब्दों-द्वारा कहे जाने पर आस्वादनीय नहीं रहते। साहित्य-दर्पण के कर्ता ने इनकी परिभाषा निम्न प्रकार से दी है, यथा—

“विशेषादाभिमुख्येन चरणादयमभिचारिणाः ।

स्वायिन्युन्मग्न निर्मग्नरस्यग्रिंशब्दो तद्भिदाः ॥”

अर्थात् संचारी भाव विशेष रूप से नवों रसों में आने-जाने के कारण व्यभिचारी कहलाते हैं, जो साधारणतया स्थायीभाव में निमग्न हो अंतर्हित होते रहते हैं।

रीति-शास्त्र-प्रणेताओं ने—उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा के अतिरिक्त शेष उन्नीस (२६) व्यभिचारी ‘शृंगार-रस’ के अंतर्गत गिनाए हैं। वहाँ इनकी ‘मन-व्यभिचारी’ संज्ञा भी पायी जाती है।”

अथ सिंगार-रस वरनन ‘दोहा’ जथा—

जाँनों नायक-नायिका, रस-सिंगार-बिभाव ।

चंद, सुँमन, सखि, दूतिका, रागादिकौ बनाव ॥

औरँन के न ‘बिभाव’ मैं प्रघट कहे’ इहि काज ।

सब के निरे’ बिभाव हैं, औरों हैं बहु साज ॥

सिंघ-बिभाव भयानकौ, रुद्र, बीर-हूँ होइ ।

ऐसी साँमिल रीति में, नेम कहै क्यों कोइ ॥

थंभ, सेद, रोंमांच सुर-भंग, कंप, बैबर्न ।

सब-ही के अनुभाव ए, सात्त्विक औरों अर्न ॥

वि०—“जैसा पूर्व में कहा गया है कि” सत्वोपन्न भावों को ‘सात्त्विक भाव’ कहा जाता है और ये आठ प्रकार के होते हैं। जैसे—

“स्तंभ, कंप, सुरभंग कडि, बिबर्न, अलू, सेद ।

बौहौरि प्रलै, रोंमांच पुनि, आठों सात्त्विक-भेद ॥”

—भा० भू० (जसवंतसिंह) पृ० १०

किंतु दासजी ने यहाँ छह का ही उल्लेख किया है। अंतिम—अश्रु और प्रलय का परित्याग किया है। यद्यपि—‘औरों अनर्न’ से उनका भी समावेश हो जाता है। सुप्रसिद्ध रीति-ग्रंथकार ‘श्री मम्मट’ ने इनका पृथक् उल्लेख न कर अनुभावों के अंतर्गत माना है तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भी साहित्य-दर्पण में इन्हें रस के प्रकाशक मानकर रति के आदि कारण होने से अनुभावों के ही अंतर्गत उल्लेख किया है, पर ‘गोवलीवर्दन्यायानुसार’ ये पृथक् भी कहे जा सकते हैं। महाराज ‘भोज’ कहते हैं—सत्त्व का अर्थ रजो और तमोगुण से रहित ‘मन’ है। इसलिये सत्त्व-योग से उत्पन्न भाव सात्त्विक कहे जाते हैं। कोई-कोई इन्हें ‘तन-व्यभिचारी’ भी कहते हैं।’

अस्तु—

भिन्न-भिन्न बरनन करें, इन कों सब कबिराइ ।
सब ही कों करि एक पुनि देत रसै^१ ठैहराइ ॥
लखि^२ बिभाव-अनुभाव ही, चर, थिर-भावै नैक ।
रस-साँमिग्री जो रमें, रसै गँनें धरि टेक ॥

अथ थाई भाव उदाहरन “कवित्त” जथा --

मंद-मंद गोंने सों गयंद-गति खोंने लगी,
बोंने लगी बिष सौ^३ अलक अहि-छोंने-सी^४ ।
लंक नबला की कुच-भारँन दुनोंने लगी,
होंने लगी तँन की चटक चारु सोंने-सी^५ ॥
तिरछी^६-चितोंने सों बिनोदन बितोंने लगी,
लगी^७ मृदु-बातँन^८ सुधा-रस-निचोंने-सी^९ ।
मोंनें^{१०} भोंनें सुंदर सलोंने पद ‘दास’ लोंने,
मुख की बँनक ह्वै लगँन लगी टोंने-सी^{११} ॥*

पा०—१. (सं० प्र०) रसौ...। २. (सं० प्र०) थिर...। ३. (शृ० नि०) सौ...। (वै) सों...। ४. (शृ० नि०) मंद-मंद गोंन सों गयंद-गति खोंन लगी, बोंन लगी बिष-सौ अलक अहि छोंन-सी । ५. (शृ० नि०)...कुच नारँन दुनों न लगी, होंन लगी तन चटक चारु सोंन-सी । ६. (सं० प्र०) तिरछें...। ७. (प्र०) लागी...। ८. (भा० जी०) बातँन सों सुधारस.. । ९. (शृ० नि०) तिरछी चितोंन सों बिनोदन बितान लगी...सुधारस निचोंन-सी । १०. (वै) मोंन माँन...। ११. (शृ० नि०)...टोंन-सी ।

*शृ० नि० (भि० दा०) पृ० ४४, १३२ । शृ० ति० (सं०) पृ० २०१ ।

वि०—दासजी ने यह कवित्त अपने 'शृंगार निर्णय' नामक नायिका-भेद के ग्रंथ में—'परकीया—ज्ञातयौवना नायिका' के उदाहरण में भी दिया है। ज्ञात-यौवना—जिसे अपने यौवन का ज्ञान होने लगे, जैसे—

“निज तँन जोबन-आगमन, जाँन परत है जाहि।
कवि-कोबिद सब कहत हैं, 'ग्यात-जोबना' ताहि ॥”

र० रा० (मतिराम)

और उदाहरण यथा—

“छाती लागी उचनि, सकोचँन सकाँन लागी,
खाँन लागी पाँनन, उताँन-रस-बतियाँ।
कटि लागी घटानि, अटनि-चढ़ि जाँन लागी,
बेँन लागी नटँन, जगँन लागी रतियाँ ॥
चारु लागी चलँन, सुधारँन अलक लागी,
जेब लागी जगँन, पगँन लागी गतियाँ।
नेँन लागी फेरँन, निहोरँन सखीँन लागी,
मन लागी चोरँन, पढ़ँन लागी पतियाँ ॥”

म० मं० (अजान) पृ० १२

अस्तु,—

“जवानी आदमी की मायये-इल्जाम होती है।
निगाहे-नेक भी इस उम्र में बदनाम होती है ॥”

—कोई शायर,

विभाव-उदाहरण 'कवित्त' जथा—

धीर^१ धुँनि बोलें, थँभि-थँभि मर खोलें,
मंडे करत किलोलें बारि-बाहक अकास में।
निरतत कलापी, मिल्ली-पिक हैं अलापी,
बिरही^२-जनँ बिलापी हैं मिलापी रस-रास में ॥
संपा कौ प्रकास, बक-अवली अकास,^३
औ बूढ़िँन-बिकास 'दास' देखिवे कौ पास^४ में।

पा०—१. (सं० प्र०) बीर...। २. (भा० जी०) बिरहा...। ३. (भा० जी०) (बे०)—
अवली कौ अवकास, बूढ़िँन०। ४. (बे०) या समें।

बनता-बिलास-मँन कीन्हे,^१ हैं मुनीसँन के,
नीप नीकी बास लखि फैली निज बास में ॥

वि०—“दासजी ने इस कवित्त-द्वारा ‘उद्दीपन-विभाव’ का वर्णन किया है।
उद्दीपन विभाव—‘रसहि जगावै दीप-ज्यों, ‘उद्दीपन’ कहि सोइ ।”

ये उद्दीपन दो प्रकार के होते हैं,—‘दैवी’ और ‘मानुषी’। अस्तु,—
सखा, सखी, दूती, श्रुतुएँ, वन-उपवन, केलि-कुंज, तड़ाग, एकांत-स्थल, पवन,
चंद, चाँदनी-रातें, चंदन, अमर-कोलिल, गान-वाद्य आदि-आदि अनेक प्रकार
के उद्दीपन कहे गये हैं।

अनुभाव उदाहरन ‘सवैया’ जथा—

जी बँधि-ही^२ बँधि जात है ज्यों-ज्यों
सु नीबी^३-तनीन के बाँधति^४-छोरति ।
‘दास’ कटीले है^५ गात कँपै, बिहँसोंही-^६
लजोंही लसै हृग सों^७ रति ॥
भोंह मरोरति, नाँक सिक्कोरति,
चीर निचोरति औ चित चोरति^८ ।
प्यारे गुलाब के नीर में बोरत,^९
प्रिया पलटें रस भीर में बोरति^{१०} ॥

वि०—“जिन चेष्टाओं के प्रादुर्भाव से रस की अनुभूति हो, उन्हें अनुभाव कहा गया है। अथवा—“आलंबन-उद्दीपनादि कारणों से हृदय में जाग्रत रति-भाव को प्रकट करने वाले—हाव-भाव, मुसिकयान, कटाक्ष और भोंहों का मरोड़ना-आदि शृंगार-रस के अनुभाव कहे जाते हैं। संस्कृताचार्यों ने इन्हें—सात्त्विक, कायिक और मानसिक अथवा कायिक, मानसिक और आहार्य-आदि तीन प्रकार का तथा ब्रजभाषा के आचार्यों ने—कायिक, मानसिक, आहार्य और सात्त्विक रूप चार प्रकार के कहे हैं। यथा—

पा०—१. (भा० जी०) कीन्ही हैं, मुनीप निसि... (वें०) कीन्हों हैं मुनीपनि, सु नी-पनि की बास। २. (भा० जी०) जीव धों-ही बँधि...। ३. (भा० जी०) नीवि .। ४. (वें०) बाँधती-छोरती। ५. (भा० जी०) है...। ६. (भा० जी०) बिहँसोंहि लजोहे...। ७. (वें०) लों रती। (सं० प्र०) लों रति। ८. (वें०)...मरोरती, नाँक सिक्कोरती, चीर निचोरती, औ चित्त-चोरती। ९. (प्र०—२) बोरी...। (वें०) (भा० जी०) बोरथी। १०. (वें०) बोरती।

“कहि बिभाव कों कहत हों, अब अनुभाव प्रकास ।
जो हिय ते रति-भाव अनु, प्रघट करै अनयास ॥”

‘कायक’ इक सो जाँनिऐ, ‘मानस’ दूसौ होइ ।
‘आहारज’ है तीसरौ, चौथौ ‘सात्त्विक’ जोइ ॥”

—२० प्र० (रसलीन) पृ० ८६

कवि पद्माकर ने अनुभावों का वर्णन बड़ा सुंदर किया है, जैसे—

“गोरस कौ लूटिबौ, न छूटिबौ छुरा कौ गँनें,
दूटिबौ गँनें न कछु मोतिनँ की माल कौ ।
कहै ‘पद्माकर’ गुवालिनि गुँनीली हेरि,
हरखै, हँसै यों करै झूठे-झूठ ख्याल कौ ॥
हाँ करति, नाँ करति, नेह की निसाँ करति,
साँकरी गली में रंग-राखति रसाल कौ ।
दीबौ दधि-दाँन कौ न कैसेँ ताहि भावत है,
जाहि मँन-भायौ भार-भगरौ गुपाल कौ ॥”

—ज० वि० (पद्माकर)

क्योंकि—

“बनने, बिगड़ने, रुठने, हँसने में लुप्त है ।
जब तक कि छेड़छाड़ न हो, कुछ मज़ा नहीं ॥”

बिभचारी भाव ‘अपस्मार’ वरनन ‘दोहा’ जथा—

को जाँनें, कैसेँ^१ परी, है बिहाल परबोन ।
कहूँ तार, तंबूर कहूँ कहूँ^२ सारी, कहूँ बीन ॥

वि०—“मानसिक संताप-जनित अति दुःख से उत्पन्न अवस्था-विशेष को ‘अपस्मार’ कहा जाता है । दासजी से पूर्व ‘कविवर विहारी’ ने इस भाव को और भी सुंदर रूप में वर्णन किया है, यथा

“कहा लड़ैते दग किए, परे लाल बेहाल ।
कहूँ मुरली, कहूँ पीतपट, कहूँ मुकट-बनमाल ॥”

पा०—१. (भा० जी०) (वें०) कैसी परी, कहूँ बिहाल...। २. (सं० प्र०) (वें०) कहूँ सारि...।

सिंगार-रस बरनन 'दोहा' जथा—

प्रीति नायिका-नायिक-हि, सो सिंगार-रस ठाउ ।

बालक, मुनि, महिपाल अरु देब-बिषै रति-भा ॥१

सिंगार-रस : संजोग-विजोग बरनन 'दोहा' जथा—

एक होत संजोग अरु, पाँच बिजोगै थाप^१ ।

सो अभिलाष, प्रवास बरु बिरह, असूया, साप^२ ॥

वि०—“सौंदर्य-अवलोकन से जो लोकोत्तर आनंद मिले, उसे 'शृंगार-रस' कहा गया है। इस शृंगार-रस के दो - 'संयोग' और 'वियोग' अथवा 'विप्रलंभ' भेद माने जाते हैं। दर्शन, स्पर्श, संभाषणदि से नायिका-नायक जिस इंद्रिय सुख को पाते हैं, वह 'संयोग-शृंगार' है। अतएव इसके संचारी भाव—“श्रम, चिंता, मोह, असूया, क्रीड़ा, मद, धृति, गर्व” स्थायी भाव—“रति”, आलंबन—“प्रेमासद-आदि”, उद्दीपन—संगीत, वसंतादि श्रुतुएँ, मलयानिल, कोकिल आदि पक्षियों का कलरव, कुमुद, सखी, चंद, चाँदनी और उपवन” आदि हैं, जिनका वर्णन आगे हो चुका है। अनुभाव—‘नायक-नायिका’, सहचर-रस—‘हास्य’ और ‘अद्भुत’, विरोधो—“करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, शांत और वात्सल्य रस”, गुण—“माधुर्य और ‘प्रसाद’, वृत्ति—“उपनागरिका, कोमला”, रीति—“वैदर्भी, पांचाली”, कही गयी है।

विप्रलंभ-शृंगार—नायक-नायिका में उत्कट प्रणय होते हुए भी समागम का न होना कहा गया है। इसके संचारी—“अग्रता, मरण, आलस्य, श्रम, चिंता, विचार, स्वप्न, व्याधि, उन्माद, चपलता, मोह, दैन्य, आमर्ष, शंका, अपस्मार”, स्थायी—“रति”, आलंबन—“नायिका-नायक” उद्दीपन—चंद, चाँदनी, पक्षियों का कलरव, मेघ, उपवन, कमल, कपूर, उवटन, शीतल-पवन तथा श्रुतुएँ आदि”, अनुभाव—‘नायक-नायिका’, गुण—“माधुर्य तथा प्रसाद”, वृत्ति—“उपनागरिका और कोमला”, एवं—रीति वैदर्भी तथा पांचाली कही गयी है। रति-शास्त्र के आचार्यों ने इसके—‘पूर्वानुराग’, ‘मान’, ‘प्रवास’ नाम से तीन भेद किये हैं। कोई-कोई करुण रूप से चौथा भेद भी मानते हैं। पूर्वानुराग को भी प्रत्यक्ष, चित्र, श्रवण और स्वप्न-दर्शनादि रूप चार प्रकार का कहा गया है। चित्र-दर्शन का एक उदाहरण, यथा—

पा०—१. इस से आगे वेंकटेश्वर बंबई की मुद्रित प्रति में—“सो सिंगार-रस दू प्रकार का १ संयोग २ वियोग ॥ संयोग १ प्रकार का । वियोग ५ प्रकार का । लिखा अधिक मिलता है ।
२. (वै०) थापु । ३. (वै०) सापु ।

“साँवरे-अंगैँन में नख ते सिख लों सुखमाँ के सँमूह सँने हैं ।
 याही बिसासिन बाँसुरी में, बस कीबे के ब्योंत न जात गँने हैं ॥
 ए-ई बड़े हग हैं जिन गोप-बधू-डर घाइल कीन्हे घँने हैं ।
 बाँके हैं जैसे कछु सुन राखे हैं, चित्र में वेई चरित्र बँने हैं ॥”

मान भी—लघु, मध्यम और गुरु रूप से तीन प्रकार का, एवं विरह—
 अभिलाष-हेतुक, ईर्ष्या-हेतुक, विरह-हेतुक, प्रवास-हेतुक और शाप-हेतुक पाँच
 प्रकार का कहा गया है । दासजी ने अपने शृंगार-निर्णय में इन्हें—अभिलाष,
 प्रवास, विरह, असूया (ईर्ष्या) और शापादि क्रमांतर रूप में माना है ।

नायक-नायिका के सौंदर्यादि गुणों के श्रवण से, प्रत्यक्ष वा चित्र अथवा
 स्वप्न-दर्शन से और परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका के प्रथम अनुराग रूप
 मिलने वा अप्राप्त समागम के कारण मिलने की उत्कट इच्छा से होता है और
 ईर्ष्या-हेतुक विरह मान-जनित कहा गया है । यह ‘प्रणय’ (अकारण नायक-
 नायिका का मान) और ईर्ष्या (नायक को अन्य नायिका-आशक्त जानकर
 कोप-भाव का होना) के कारण दो प्रकार का होता है । रीति-ग्रंथकारों ने
 ईर्ष्या-मान को भी दो भेदों के रूप में माना है—‘प्रत्यक्ष-दर्शन’ (नायक को
 प्रत्यक्ष अन्याशक्त देखने पर) और ‘अनुमान’ जो किसी के द्वारा सुनने पर
 होता है । समीप रहने पर भी गुरुजनों की लज्जा के कारण समागम का न
 होना भी विरह-हेतुक वियोग शृंगार कहा गया है । श्रीनंददास (अष्टाछाप)
 जी ने इसके प्रत्यक्ष, पलकांतर, वनांतर और देशांतर रूप से चार भेद
 किये हैं । प्रवास-हेतुक विरह—नायक-नायिका के दोनों में से एक के विदेश में
 रहने पर माना जाता है । यह भी—‘भूत, भविष्यत् और वर्तमान-नामक तीन
 प्रकार का कहा गया है । शाप-हेतुक वियोग की परिभाषा स्पष्ट है । वियोग-
 शृंगार में दश ‘काम-दशाएँ’—“अभिलाषा, चिंता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग,
 प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण, कही गयी हैं । इसी प्रकार पूर्व-
 कथित—शंका, औत्सुक्य, मद, ग्लानि, निद्रा, प्रबोध, चिंता, असूया, निर्वेद,
 स्वप्नादि संचारी भाव तथा संताप, निद्राभंग, कृशता, प्रलापादि अनुभाव
 होते हैं ।”

अथ संजोग सिंगार बरनन ‘सवैया’ जथा—

बिपरीति रची नँद-नंद^१ सों प्यारी, अँनंद के कंद सों पागि रही ।
 बिथुरी अलकें, लँम-कँन^२ मलकें, तँन-ओप अँनूपम जागि रही ॥

अति 'दास' अधांनीं अन्नंग-कला,^१ अन्नुरागन-हीं अन्नुरागि रही ।
तिरछें तकि कें, छवि सों छकि कें, थिर ह्वै थकि कें हिय लागि रही ॥

अथ अभिलाष-हेतु बियोग बरनन 'दोहा' जथा —

सुँनें^२ लखें जँह दंपति-हिं, उपजै प्रीति सुभाग ।
'अभिलाषा'^३ कोउ कहैं, कोउ^४ पूरब-अन्नुराग ॥

अस्य उदाहरन 'कवित' जथा—

आज वा^५ गोपी कौ न गुप्त^६ रह्यौ हाल कछु,
हाल बँनमाल के हिंडोरे आँन^७ मूलिगौ ।
अँखियाँ मुखांबुज में भोर-ह्वै सँमानीं,
भई बाँनी गदगद, कंठ^८ कदँम सौ^९ फूलिगौ ॥
जा मग सिधारे नँद-नंद ब्रज-स्वाँमी 'दास',
जिनकी गुलामी मकरध्वज कबूलिगौ ।
वाही मग लागी नेह-घट में गँभीर-भरी,
नीर-भरिबे कौ घट^{१०} घाट-ही में भूलिगौ ॥

वि०—“दासजी ने यह उदाहरण पूर्वानुराग रूप प्रत्यक्ष-दर्शन का दिया है । चित्र-दर्शन का उदाहरण पूर्व में दिया जा चुका है और 'स्वप्न-दर्शन', यथा—

“सपने-हूँ सोमनि न दई निरदई दई,
बिलपति रही जैसेँ जल-बिन मखियाँ ।
'कुंदन' सँदेसौ आयौ लाल मधुसूदन कौ,
सबै मिलि दौरी लेंन अँगन-बिलखियाँ ॥
बूझे सँमाचार ना मुखागर सँदेसौ कछु,
कागद लै कोरौ हाथ दयौ लैकें सखियाँ ।
छतियाँ सों पतियाँ लगाइ बैठी बाँचिबे कों,
जौलों खोलों खाँम तौलों खुलि गई अँखियाँ ॥”

पा०—१. [वे०] अन्नंद-कला । २. [प्र०—२] सुन... । ३. [प्र०] [भा० जी०]
(वे०) अभिलाषै ... । ४. (वे०) को पुरवा ... । ५. (प्र०) (ये०) आजु वहि गोपी
की न गोपी रही... । ६. (प्र०—२) गोप्यौ रख्यौ... । ७. (प्र०) मन... । (सं० प्र०)
मनु... । (वे०) आनि... । (प्र०—२) लाज ... । ८. (वे०) कद... । ९. (वे०) सो... ।
१० (वे०) घाट ।

दासजी ने भी स्वप्न-दर्शन का सुंदर उदाहरण अपने 'शृंगार-निर्णय' में प्रस्तुत किया है। साथ ही वहाँ आपने—“छाया-दर्शन, माया-दर्शन, चित्र-दर्शन और श्रुति (श्रवण) दर्शन के भी सुंदर उदाहरण दिये हैं ।”

अथ प्रवास-हेतुक वियोग वरनन जथा—

पीतम गए बिदेस जो, बिरह-जोर सरसाइ ।
वही 'प्रवास'-वियोग है, कहें सकल कबिराइ ॥^२

अस्य उदाहरण 'कवित्त' जथा—

चंद चढ़ि देखों^३ चारु अँनन प्रबीन गति,
लीन होत^४ माँते गजराजँन कों ठिल-ठिल ।
बारिधर-धारँन ते बारँन यों^५ ह्वै रहे,
पयोधरँन^६ छवै रहे पहारँन कों पिल-पिल ॥
दर्ई, निरदर्ई 'दास' दीनों हैं बिदेस तउ,
करोँ न अँदेस^७ तुव ध्याँन-हीं में हिल-हिल ।
एक दुख तेरे^८ हों^९ दुखारौ प्राँन-प्यारी मेरौ^{१०}—
मँन तोसों नित(ही) आवत^{११} है मिल-मिल ॥*

वि०—“दास जी ने यह कवित्त 'शृंगार-निर्णय' में 'प्रोषित नायक' के और रसकुसुमाकर के रचयिता ने 'प्रोषितगति' के उदाहरण में दिया है—संकलित किया है। प्रोषित पति—

“ब्याकुल होइ तु बिरह-बस, बसि बिदेस में कंत ।
ताही कों 'प्रोषित' कहें, जो कोबिद बुधिबंत ॥”

—म० मं० (अजान) पृ० ६८

प्रोषित-नायक का वर्णन 'पद्माकर' जी ने अपने नायिका-भेद के ग्रंथ 'जगद्विनोद' में बड़ा सुंदर किया है, यथा—

पा०—१ (वे०) प्रवाल .. । २. यह दोहा 'समेलन-प्रयाग' की प्रति में नहीं हैं ।
३. (प्र०) (भा० जी०) (वें०) देखै... । ४. (वे०) हो तो... । ५. (प्र०) (सं० प्र०) (वें०) (र० कु०) पै... । (श्र० नि०) पै... । ६. (वें०) पयोधनि कों ज्वै रहै... । ७. (श्र० नि०) अँदेसौ . । (र० कु०) अँनेस... । ८. (भा० जी०) (वें०) तेरौ... । ९. (श्र० नि०) है... । १०. (प्र०) (श्र० नि०) (सं० प्र०)... नत प्राँन-प्यारी । (वें०) दुखारी नित... । ११. (वें०) आवतो... ।

* , श्र० नि० [भि० दा०] पृ० ६६, २६८ । र० कु० (अ०) पृ० १६२, ४४३ ।

“मोद-मदमाँती, नख-रेखँन बिलोकि छाती,
 राती है नबोली चली सेज-तजि तैसँ कै ।
 कहै ‘पदमाकर’ कहाँ मैं कै कहाँ तू चली,
 यों कहि गहौई ऐंच अंचर अँनैसँ कै ॥
 ताही समें रोस करि अधर कँपाइ कछु,
 दग-भरि भावती सुबोलि उठी ऐसँ कै ।
 छोर, अरे छोर, मुख मोर कँ कहे जे बँन,
 वे अब बिसारे कहौ बिसरत कैसँ कै ॥”

विरह-हेतु उदाहरन ‘सवैया’ यथा —

नैनन कों तरसाईऐ कहाँ लों, कहाँ लों हियौ बिरहागि में तइऐ ।
 एक घरी न कहूँ कल-पइऐ, कहाँ-लगि प्राँनन कों कलपइऐ ॥
 आवै यही अब ‘दास’^१ विचार, सखी, चलि सौति हूँ के घर^२ जइऐ ।
 माँन घटे ते कहा घटि जइऐ^३, जुपै प्राँन-पियारे कों देखन पइऐ ॥*

वि०—“दास जी ने यह सवैया अपने ‘शृंगार-निर्णय’ में ‘सठ की कनिष्ठा’ नायिका के उदाहरण में भी दिया है, आप का वहाँ कहना है—

“इक अनुकूल-हि दच्छ, सठ, धृष्ट तिथँन अँग बाँम ।
 प्यारी ज्येष्ठा, प्यार-बिन कहें कनिष्ठा नाँम ॥

—शृ० नि० (दास) पृ० २४

अतएव आपने यहाँ प्रथम ‘साधारण ज्येष्ठा’, तदनंतर ‘दक्षिण की ज्येष्ठा-कनिष्ठा’, फिर सठ नायक की जेठा, सठ की कनिष्ठा, धृष्ट की ज्येष्ठा, धृष्ट की कनिष्ठा-आदि का वर्णन किया है ।

पति के प्रेम-परिमाण के अनुसार स्वकीया नायिका के ‘ज्येष्ठा-कनिष्ठा’ रूप दो-भेद रीति-काल के आचार्यों ने किये हैं । इनका कहना है— नायक की कई विवाहित स्त्रियाँ होने पर जिस पत्नी पर उसका अधिक प्रेम हो उसे ‘ज्येष्ठा’ और न्यून प्रेम वाली ‘कनिष्ठा’ कही जायगी, यथा —

पा०—१. (भा० जी०) (प्र०) (वें०) जी में अब दास, सखीन । २. (प्र०) (वें०) गृह... । ३ [प्र०] [भा० जी०] [वें०] घटि है, जुपै... ।

* शृ० नि० (भि० दा०) पृ० २५, ७२ । क० कौ० [त्रि०] पृ० ४०४ [१] । प्र० ना० भे० [मी०] पृ० २६०, २६६ । न० सं० [हफ्ती०] पृ० ७२, ६० ।

“जासों पति अति हित करै, सु तिय ‘ज्येष्ठा’ आहि ।
जा प्रति घट हित नाह कौ, कहत कनिष्ठा ताहि ॥”

—सु० शृ० (सुंदरदास)

आचार्य केशव ने यह भेद नहीं माना है। चिंतामणि, मतिराम, देव, रसलीन और पद्माकर आदि आचार्यों ने ‘ज्येष्ठा-कनिष्ठा’ पृथक्-पृथक् न मान एक ही उदाहरण में दोनों को संमिलित कर दिया है। कनिष्ठा का उदाहरण ‘ठाकुर’ कवि ने बड़ा सुंदर प्रस्तुत किया है, जैसे—

“रोज न आइए जो मन-मोहन, तोपै यै नैंक मतौ सुनि लीजिए ।
प्राँन हँमारे तिहारे अधीन, तुम्हें बिन देखें कहौ किम कै जीजिए ॥
‘ठाकुर’ लालँन प्यारे सुनों, बिनती इतनी पै अहो चित दीजिए ॥
दूसरें, तीसरें, पाँचएँ, सातएँ, नौअएँ तौ भला आइबौ कीजिए ॥”

अथ असूया (ईर्ष्या) हेतुक विरह उदाहरन जथा—

नींद, भूख, प्यास उन्हें व्यापत न तपसी^१-लों,
ताप-सी चढ़त तँन चंदन लगाए ते ।
अति-ही अचेत होत चैत-हूकी चाँदनी में,
चंद्रकँन^२ खाए ते, गुलाब-जल-न्हाए ते ॥
‘दास’ भौ जगत प्राँन, प्राँन कौ^३ अधिक औ—
कृसाँन ते अधिक भयौ^४ सुँमन बिछाए ते ।
नेह के बढाए^५ उन एते कछु पाए,
तेरौ पाइबौ सु जाँन्यों बलि^६ भोंहन चढ़ाए ते ॥*

वि०—“दासजी ने यह छंद शृंगार-निर्णय में ‘मान-वियोग’ के उदाहरण में भी दिया है। मान-वियोग—

“जहँ ईरषा-अपराध ते पिय-तिय ठाँने माँन ।
बढ़ि बियोग दस-हूँ दिसा, “मान-विरह” सो जाँन ॥”

—शृ० नि० (दास) पृ० ९८,

पा०—१. (प्र०) न घाँम-सीत...। (वें०) तापसी-लों,। (प्र०—३) तापस लों...।
२. (भा० जी०) (वें०) चंद्रक खवाए ते..। ३. (प्र०) प्राँन-हू कों...। ४. (शृ० नि०)
भए..। ५. (शृ० नि०) लगाए उन तोते कछु पाए..। (सं० प्र०)...बढाए उन एतौ कछु
पायौ,...। (भा० जी०) बढाए बौ न एते कछु ...। ६ (शृ० नि०) अब...।

*; शृ० नि० (दास) पृ० ९६, २६६ ।

मान वियोग—विप्रलम्भ शृंगार-रसांतर्गत है। अस्तु, दासजी ने यहाँ प्रथम—‘विरह’, तदनंतर ‘मान-वियोग’ और बाद में ‘प्रवास-विशोग का वर्णन किया है।

साप-हेतुक-वियोग वरनन ‘दोहा’ जथा—

सब ते माद्री-^१पाँडु कों साप भयौ दुख दाँनि ।

बसिबौ एक-हि^२ भोंन कौ, मिलत प्राँन की हाँनि ॥

“इति विप्रलम्भ शृंगार-रस वर्णन”

अथ बाल-विषै रति-भाव वरनन जथा—

चूँमिबे के अभिलाषन-पूरिकें,^३ दूरि ते माँखन-लीनें बुलावति ^४ ।

लाल गुपाल की चाल बकैयँन, ‘दास’ जू देखति हो बनि आवति ॥

ज्यों-ज्यों हँसैं बिकसैं दँतियाँ, मृदु-आँनन-अंबुज में छबि छावति ^५ ।

त्यों-त्यों उछंग लै प्रेम-उमंग सों नंद की राँनी^६, अँनंद बढावति ॥

अथ मुनि-विषै रति-भाव वरनन जथा—

आज बड़े सुकृती हँम-हीं भए^७, पातक-हाँनि^८ हँमारी धरा तें ।

पूरब-हूँ किए^९ पुन बड़े-ई^{१०} (जु) भयौ प्रभु कौ पद धारिबौ तातें ॥

आगँम^{११} है सब भाँति भलौ-ई, बिचारिऐ^{१२} ‘दास’ जू एती कृपा तें ।

श्रीरिषिराज, तिहारे मिले हँमें जाँन परीं तिहु-काल की बातें ॥

“इति श्री शृंगार-रस वर्णन”

अथ हास-रस उदाहरन जथा—

कोऊ^{१३} एक दास^{१४} काऊ साहब की आस^{१५} में,

कितेक दिन बोत्यौ^{१६} रीत्यौ सब भाँति बल है ।

पा०—१. (वे०) माद्री ... । २. (भा० जी०) जु ... । ३. (वे०) पूरक ... । ४. (प्र०—३) पुकारति । ५. (प्र०—३) छाजति । ६. (भा० जी०) राँनि ... । ७. (वे०) आजु ... । ८. (वे०) भयौ ... । ९. (सं० प्र०) हाते ... । १०. (सं० प्र०) (वे०) बड़ौई ... । ११. (सं० प्र०) (वे०) आपकी ... । १२. (वे०) बिचरिबौ ... । १३. (प्र०) (वे०) काहू ... । १४. (सं० प्र०) दासै ... । १५. (सं० प्र०) (वे०) आसै में । १६. (प्र०) बीते ... ।

बिथा जो^१ बिनें सों कहे^२ उत्तर^३ पैहलें-ई^४ लहे,
 सेवा-फल ह्वै-ई रह्यौ^५ या में नाहि चल है ॥
 एक दिन दास^६ सु तौ आयौ प्रभु-पास तँन
 राखे ना पुराँने^७ बास कोऊ एक थल है ।
 करत प्रनाँम सो बिहँसि बोल्यौ यै कहा,
 कह्यौ कर-जोरि देव सेवा- ई कौ फल है ॥ *

वि०—“रीति-ग्रंथ-कर्त्ताओं ने ‘हास्य-रस’—विकृत आकार, वाणी, वेश-भूषा और चेष्टा-आदि के देखने से उत्पन्न मान ‘आत्मस्थ’ और ‘परस्थ’ रूप से दो प्रकार का कहा है। आत्मस्थ हास्य वह जो हास्य का विषय देखने मात्र से उत्पन्न हो और ‘परस्थ’ वह जो दूसरे को हँसता देखकर प्रकट हो—उत्पन्न हो...। इसके संचारी—“चपलता, निद्रा, हर्ष, उत्सुकता, आलस्य, अवहित्य और अश्रु,” स्थायी—‘हास’, आलंबन—‘दूसरे की विकृत वेश-भूषा, आकार, निर्लज्जता, रहस्य-गर्भित वचनावलि, जिन्हें सुनकर हँसो आ जाये, ‘उद्बोधन’—हास्य-जनक चेष्टाएँ, विद्वेषक, नर्म-सचिव, बहु मूर्ति, दुर्वेष,’ ‘अनुभाव’—ओष्ठ, नाक और कपोलों का स्फुरण, नेत्रों का मिचन-खुलना, मुख का विकसित होना,” गुण—‘प्रसाद’, रीति—‘पांचाली,’ वृत्ति—‘कोमला,’ सहचर रस—‘संयोग-शृंगार, अद्भुत, शांत, विभत्स, रौद्र और वात्सल्य’ तथा विरोधी-रस—‘भयानक’ और ‘करुण’ कहा गया है। साथ ही इसके छह भेद—‘स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित तथा अतिहसित भी कहे गये हैं। इन भेदों का आधार हास की न्यूनाधिकता ही है, अन्य विलक्षणता नहीं। ब्रजभाषा के रीति-आचार्यों ने इस (हास्य) रस के पूर्व में जैसा कहा गया है प्रथम—‘उत्तम, मध्यम, अधम,’ तदनंतर—‘मंद, मध्यम’ और ‘अति’ के बाद ऊपर कहे गये छह भेद भी कहे हैं।

ब्रजभाषा में ही नहीं, उसकी जननी संस्कृत-ग्रंथों में भी हास्य के रस के चमत्कृत उदाहरणों की कमी है—अति अभाव है। यदि कहीं किसी कवि ने

पा०—१. (भा० जी०) औ ०० । २. (प्र०) करै ०० । ३. (वे) ऊतर । ४. (प्र०) याही सों ०० । (वे) यही तौ ०० । ५. (प्र०) (वे०) रहै ०० । ६. (प्र०) हास ०० । (सं० प्र०) हास-हित आयौ ०० । ७. (प्र०) (सं० प्र०) [वे०] पुराँनो ०० । ८. [सं० प्र०] सेव ०० ।

* २० कु० [अयो०] पृ० १२१, ४८६ । २० सं० [क० पो०], पृ० २४६ । का० प्र० [भानु] पृ० ४४१, १८ ।

इस पर उदाहरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है तो वह इतना फूहड़ हो गया है कि कुछ कहा नहीं जाता। दासजी का उक्त हास्य-रस-वर्णन वाला छंद कुछ जचता नहीं। साथ ही इसमें 'हास' का शब्द-द्वारा कथन करने से रस-दोष भी आ गया है। इस दोष के प्रति—काव्य-प्रकाश, काव्यानुशासन, साहित्य-दर्पण और रस-गंगाधर में काफी लिखा गया है। हास्य-रस की सफल मनोहर रचना गोस्वामी तुलसीदास जी की कही जा सकती है, यथा—

“बिंध के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिन-नारि दुखारे।
गौलँम-तीय तरी 'तुलसी,' सो कथा सुनि भे मुनि-बृंद सुखारे ॥
हैं हैं सिला सब चंदमुखी, परसैं पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हों भली रघुनाथक जू, करुनाँ कर कौनन कों पग धारे ॥”

यद्यपि गोस्वामीजी के इस छंद में श्रीराम-विषयक भक्ति-भाव की ही व्यंजना है, फिर भी वह प्रधान न होकर हास्य को पुष्ट कर उसमें एक विशेष चमत्कार उत्पन्न कर रही है, अतएव यहाँ हास्य-रस को ही अधिकता कही जायगी। हास्य-रस में पगा कविवर 'गाल' जी का निम्न-लिखित उदाहरण भी बड़ा रमणीय है—पढ़ने योग्य है, यथा—

“सुनिकें बिहंग-सोर भोर उठी नँद-राँनी,
श्रंग-श्रंग आलस के जोर जँमुहाँनीं वह।
धारी जरतारी सो न सूधी की सँम्हार रही,
कौन्ह कों बिराबत खिलावत सिहाँनी वह ॥
'गाल' कवि, पत की जु हीरा-धुकधुकी माँहि,
छवि सय आपनी अजूबा-ही दिखाँनी वह।
एक संग ऐसी खिल-खिल करि उठी भोरी,
आँसु आइ गए पै न खिलै न रुकाँनी वह ॥

अथ करुन-रस बरनन 'कवित्त' जथा—

बतियाँ हुतीं न सपने-हू सुनिबे की सो सुन्यों में,
जु हुती न कहिबे की सो कछौ-ई में।
सारे नर-नारी, पंछी-पसु देह-धारी,
रोंमें परँम दुखारी ऐसे सूलँन सखौ-ई में ॥

हाइ अपलोक-ओक^१ पंथ-हि गह्यौ पै^२—

बिरहागिन दह्यौ^३ में सोक-सिंध-हि^४ बह्यौ-ई में ।

हाइ प्राँन-प्यारे, रघुनंदन-दुलारे, तुँ म बँन कों—

सिधारे प्राँन-तँन^५ लै रह्यौ-ई में ॥ *

वि०—‘बंधु-वियोग, धर्म-अपघात’ एवं द्रव्य-नाशादि के अनिष्ट होने पर ‘करुण-रस’ की उत्पत्ति कही गयी है । इसके संचारी हैं—‘मोह, विपाद, अश्रु, अपस्मार, जड़ता, उन्माद, व्याधि, श्रम और निर्वेदादि...’^१ स्थायी—‘शोक,’ आलंबन—‘बंधु-वियोग, पराभव, दरिद्र वा मृतक व्यक्ति, दुखी पुरुष...’^२ उद्दीपन—‘प्रिय बंधुओं का दाह-कर्म, उनके स्थान, वस्त्र-भूषण, रुदन, चीत्कार, इत्यादि...’^३ अनुभाव—‘मूर्छा, विलाप, दीर्घ-स्वास, भूमि-पतन, विवर्णता, उच्छ्वास, मुख का सूखना, स्तंभ, प्रलाप,’ गुण—‘माधुर्य,’ रीति—‘वैदर्भी,’ वृत्ति—‘उपनागरिका,’ सहचर-रस—‘रौद्र, भयानक, शांत, अद्भुत, वीर, बीभत्स और वात्सल्य,’ विरोधी-रस—‘शृंगार और हास्य,’ देवता—‘वरुण,’ वर्ण—‘कपोत-चित्रित कहा गया है । रमलीनजी ने अन्य मतानुसार इसका देवता ‘यम’ माना है, यथा—

“पर-पोषक जो सोक कौ, सो ‘करुनाँ-रस’ होइ ।

इष्ट-नास, बिपतादि सब, ए बिभाव जिय जोइ ॥

अमँन, पतँन, बिपतँन, सुसँन, जाँन लेहु अनुभाव ।

‘जम’ सो देवता कहत हैं, बरँन कपोत-सहाब ॥”

—२० प्र० (रसलीन) पृ० १३०

करुण-रस का परिपाक गो० तुलसीदासजी के निम्न छंद में भी बड़ा सुंदर हुआ है, यथा—

“पुर ते निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दिष्ट मग में पग-ह्वै ।

झलकीं भरि-भाल कँनीं जल की, पट सूखि गए मधुराधर वै ॥

झुकि ब्रूकति है चलनों जु कितौ पिय, परँनकुटी करिहौ कित ह्वै ।

तिय की लखि आतुरता पिय की, अँखिधौं अति चारु चलौं जल च्वै ॥”

पा०—१. [२० कु०] ...अवलोकितो कुपथहि गह्यौ-ई, बिरहागिनि गह्यौई सोक-सिंधु निबह्यौई... २. [वे०] में । ३. [का० प्र०] ...दह्यौई सोकसिंध निबह्यौई... ४ [प्र०] सिंधुन बह्यौई... ५. [वे०] तन-प्राँन लै ... ।

* २० कु० [अयो०] पृ० १८२, ४६१ । का० प्र० [भानु] पृ० ४४६, १ ।

बीर' रस वरनन 'सवैया' जथा—

क्रुद्ध दसानन बीस भुजाँन^२ सों, लै कपि-रोछ^३-अँनी सर बटुत ।
लच्छन तच्छन रत्त^४ किए दृग, लच्छ बिपच्छन के सिर कटुत ॥
मार, पछार, पुकार दुहुँ दल, रुंड^५-मपट्ट, दपट्ट लपट्टत ।
दौरि^६ लरें भट-मत्थन लुटुत, जोगिन खप्पर ठट्टन-ठट्टत ॥

वि०—‘अत्यंत उत्साह से ‘वीर-रस’ की उत्पत्ति कही गयी है और इसके चार भेद—‘दान-वीर, धर्म-वीर, युद्ध-वीर और दया-वीर साहित्य-सृजेताओं ने कहे हैं। इन चारों का स्थायी भाव उत्साह ही होता है। अस्तु, जिन भावों से वैक्रांत वा वीरता प्रकट हो वह ‘वीर-रस’।

इन—दान, धर्म, युद्ध और दया वीरों में विशेषता ‘युद्ध-वीर’ की ही मानी जाती है, क्योंकि दया-वीर को दया-पात्र की रक्षा के लिये, धर्म-वीर को धर्म-रक्षा के लिये अनिवार्य रूप में कभी-कभी भगड़े मोल लेने पड़ते हैं—युद्ध में उतरना पड़ता है। इसी प्रकार दान और कर्म में भी युद्ध की संभावना रहती है, अतः इन सबसे विशेष युद्ध-वीरता ही मानी गयी है। इन चारों—दान, धर्म, युद्ध और दया वीरों का भूषण कवि ने एक छंद में बड़ा सुंदर वर्णन किया है, यथा—

दाँन-सँमें द्विज देखि मेरु-हुँ, कुबेर-हू की,
संपति लुटाइबे कों हियौ ललकत है ।
साहि के सपूत सिबसाहि के बदन पर
सिब की कथाँन में सनेह भलकत है ॥
‘भूपँन’ जहाँन-हिंदुवाँन के उबारिबे कों,
तुरकाँन मारिबे कों वीर बलकत है ।
साहिन सों लरिबे की चरचा चलत आँन,
सरजा के हाँन उछाह छलकत है ॥”

वीर-रस का देवता—“इंद्र वा शशि’ और वर्ण ‘गौर’ कहा गया है ।

पा०—१, प्रतापगढ़, समेलन प्रयाग की हस्तलिखि प्रतियों में यह ब्रह्म ‘रौद्र-रस’ के उदाहरण में उद्धृत किया गया है। साथ ही वेंकटेश्वर की मुद्रित प्रति में भी। २. [सं० प्र०] ...बीस कृपानन, लै ०० । ३. [वें०] रिच्छ । ४. [सं० प्र०]लै सर अच्छन, लच्छ ०० । ५. [सं० प्र०] दौरि ०० । ६. [प्र०] [भा० जी०] [वें०] रुंड ०० ।

रौद्र-रस वरनन 'कवित्त' जथा—

देखत मदंध,^१ दसकंध - अंधधुंध - दल,
 बंधु सों बलकि बोल्यौ राजा रॉम बरबंड ।
 लच्छन बिचच्छन सँम्हारें रहौ निज-पच्छ,
 देखि हों अकेलें हों-हीं अरि-अनीं परचंड ॥
 आज अधबाऊँ इन सवुँन के सोनितें,^२
 'दास' भँनि बाढ़ी मेरे बानँन तृषा अखंड ।
 जाँन पँन सक्कस, तरक्क उठ्यौ तक्कस,^३
 करक्क उठ्यौ कोदंड, फरक्क उठे^४ भुज-दंड ॥*

वि० — “रौद्र-रस,—“मान भंग, अपकार, शत्रु की चेष्टा और गुरुजन-निंदा से उत्पन्न कहा गया है। अतएव जिस रस के आस्वादन से क्रोध प्रकट हो उसे ‘रौद्र-रस’ कहते हैं। क्रोध, इसका स्थायीभाव और आलंबन — “शत्रु और उसके पक्ष वाले अथवा अवस्कंदक, अपराधी तथा दुर्जन माने जाते हैं। उद्दीपन—“शत्रु-द्वारा किये गये अनिष्ट कार्य, आक्षेप, कठोर वाक्यों का प्रयोग, शत्रु-सैन्य-वृद्धि”, अनुभाव — “नेत्रों की रक्तता, भृकुटि-भंग, दाँतों का भेंचना, होंठों का चबाना, कठोर-भाषण, स्वकार्यों की प्रशंसा, शस्त्रों का उठाना, क्रूरता से देखना, आक्षेप करना, आवेग, गर्जन-तर्जन, ताड़न, रोमांच, कंप और प्रवे-दादि...”, गुण— अोज’, रीति—“गौड़ी”, वृत्ति—“पौरुष”, सहचर-रस—वीर, बीभत्स, वात्सल्य, शांत, अद्भुत और कर्ण-रस,” विरोधी—“शृंगार, हास्य तथा भयानक”, वर्ण—“लाल”, और देवता—“रुद्र” कहा गया है।

वीर और रौद्र-रस के आलंबन-उद्दीपन प्रायः समान-ही देखे जाते हैं, पर ‘स्थायी-भाव’ में भेद है। नेत्र-मुख का आरक्त होना, कठोर वाक्यों का कहना, शस्त्र-प्रहार करना-आदि अनुभाव रौद्र-रस में ही होते हैं, वीर में नहीं।”

भयानक-रस वरनन 'कवित्त' जथा—

आयौ काँन्ह सुँनि भूल्यौ सकल साँयनपँन^१
 स्यार-पँन कंस कौ न कहत सिरात है ।

पा०—१. (वें०) महांध...। २. (वें०) सोनितें...। ३. (भा० जी०) (वें०) सक्कस...। ४. (भा० जी०) (वें०) उठ्यौ...। ५. प्रतापगढ़ और संमेलन प्रयाग की हस्तलिखित, महावीरप्रसाद मालवीय संपादित और वेङ्कटेश्वर प्रेस वाली मुद्रित प्रतियों में यह छंद ‘वीर-रस’ के उदाहरण के अंतर्गत लिखा है। ६. (प्र०) (भा० जी०) (वें०) दुस्यारपँन...।

ब्याल बर^१ पूरब चँडूर द्वार ठाड़े तऊ,
 भभरि^२ भगाइ भयौ भीतर-ही^३ जात है^४ ॥
 'दास'^५ ऐसी डर-डरी मति है तहाँ-हूँ ताकी,
 भरभरी लागी मँन, धरधरी गात है ।
 खरक^६ हूँ के खरकत, धकधकी धरकत,
 भौन^७-कोंन में सिकुरत सरकत जात है ॥*

वि०—“किसी बलवान का अपराध करने अथवा भयंकर वस्तु देखने पर ‘भयानक-रस’ की उत्पत्ति कही गयी है। अतएव जिस रस के आस्वादन में इंद्रिय-क्षोभ वा भय उत्पन्न हो वहाँ भयानक रस होता है। इसके संचारी—‘जुगुप्सा, रोमांच, अवहित्थ, विषाद, जड़ता, मति, स्मृति, निर्वेद”—आदि ., स्थायी—‘भय’, आलंबन—“व्याघ्रादि हिंसक जंतु, शून्य स्थान, वन, शत्रु”, उद्दीपन—अंधकार, निस्सहाय होना, शत्रु की भयंकर चेष्टा”, अनुभाव—“रोमांच प्रकंप, वैवर्ण्य, गदगद होना, आँख मूदना, स्वेद और आँसुओं का बहना”, गुण—“ओज”, रीति - “गौड़ी”, वृत्ति “पौरुष”, सहचर—“अद्भुत, करुण, विभत्स-रस”, विरोधी—“शृंगार, हास्य, वीर, रौद्र, शांत और वात्सल्य-रस”, देवता—“यम” तथा वर्ण—कृष्ण (काला) कहा जाता है ।”

विभत्स-रस वरनन ‘कवित्त’ जथा--

बरखा के सरे - मरे मृतक - हू खात,
 न घिनात खरे कृँमि-भरे मासन के कौर कों ।
 जीबत बराह कौ^८ उदर-फारि चूसत हैं,
 भावै दुरगंध बौ^९ सुगंध जैसेँ और कों ॥
 देखत - सुँनत सुधि करत हू आवै घिँन,
 साजे सब अंगँन घिँनाँमने,^{१०} हिँडोर कों ।
 मति के कठोर माँन धरँम कों तारे,
 करे करँम अघोर डरें परँम अघोर कों ॥

पा०—१. (प्र०) (स० प्र०) [वे०] ब्याल बल-पूर औ... २. [प्र०] भगत चली भीतर ... ३. [स० प्र०] भयौ ... ४. [का० प्र०] पूर और चून नर धार खेत ठाड़े तऊ, भभरि भगाइ भय... ५. [का० प्र०] ‘दास’ मति हेतु हाड, ताकी भरभरी लागु... ६. [प्र०] खर-हू के... [वे०] खर-हू के... ७. [स० प्र०] [वे०] भौन-कोंन सिकुरत... ८. [वे०] के... ९. [प्र०] सो... १०. [वे०] घिनाँमने-ही डोर... [प्र०] घिनाँमने-ही डोर... [प्र०—३] घिनाँमनी-ही डोर...

*, का० प्र० (भातु) पृ० ४१५, २ ।

वि०—“जिस रस के आस्वादन से घृणा के भाव पैदा हों, वहाँ ‘बीभत्स’ रस कहा जाता है, क्योंकि इस रस की उत्पत्ति-रुधिर, मांस-मज्जा-आदि घृणित वस्तुओं के देखने से ग्लानि के कारण होती है, जैसा कि दासजी के छंद में वर्णन है। इसके संचारी—“मोह, अपस्मार, जड़ता, आवेग, व्याधि, मरण, मति, ग्लानि, निर्वेदादि”...., स्थायी—जुगप्सा (ग्लानि)”, आलंबन—“घृणास्पद-पदार्थ, घिनोने दृश्य”, उद्दीपन—“शव, पुरीष, मांस, रक्तादि की सड़ाँयद, उसमें कीड़े आदि का पड़ना और दुर्गंधादि हैं।” इसी प्रकार अनुभाव—“थूकना, मूँह-फेरना, आँखें-मूँदना, रोमांचित होना”, गुण—‘अोज’, रीति “गौड़ी तथा ‘लाठी”, वृत्ति—“पौरुषा व कोमला”, सहचर—“हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, भयानक और शांत रस”, विरोधी—शृंगार तथा वात्सल्य-रस कहे गये हैं। देवता—‘महाकाल’ एवं वर्ण—‘नील’ कहा जाता है। बिभत्स-रस का उदाहरण किसी कल्पनातीत कवि का नीचे लिखा भी अच्छा है, यथा—

“आँत के तार जु मंगल कंगन, हाथ में बाँधि पिसाच की बाला ।
कॉनन हाड़न के झुमका, पैहरें, हिय में हियरॉन की माला ॥
लोहू की कीचर सों उबटे सब अंग बनाएँ सरूप कराला ।
पीतम के सँग हाड के गूदे की, मद्य पिये खुरीन के प्याला ॥”

अद्भुत-रस बरनन ‘कवित्त’ जथा--

सिब-सिब कैसौ हुतो^१ छोटौ-सौ छबीलौ गात,
कैसौ चटकालौ मुख चंद-सौ सुहावनों ।

‘दास’ कौन माँनि हैं प्रमाँन ए ख्याल-ही में,
सिगरौ जहाँन द्वै^२ कपार बीच ल्यावनों ॥

बार-बार आबै यही जिय^३ में बिचार यहै,
बिधि है, कि हर है, कि परमेस पावनों ।

कहिये कहा जू कह्यु कहत न बनि आबै
अति-ही अचंभे^४--भरयौ आयौ यै बावनों ॥

वि०—“जिसके आस्वादव से आश्चर्य प्रकट हो, उसे साहित्यकारों ने ‘अद्भुत-रस’ कहा है, क्योंकि इसमें आश्चर्य-जन्य वस्तुएँ देखने पर (इसकी)

उत्पत्ति होती है, जैसा कि दासजी ने 'श्रीवाचन भगवान' की पुण्य-गाथा में गूँथ कर यह छंद प्रस्तुत किया है। अद्भुत के संचारी—“हर्ष, शंका, वितर्क, मोह”, आवेगादि कहे जाते हैं। भांति भी इसके संचारी भावों में आता है। अतएव स्थायी—‘विस्मय’, आलंबन—“अलौकि-दृश्य, आश्चर्य-जनक वस्तुएँ व कार्य, उद्दीपन—“उनकी विवेचना अद्भुत वस्तु वा व्यक्ति का वर्णन, अथवा उनका गुण-कीर्तन” अनुभाव—रोमांच, स्तंभ, स्वर-भंग, प्रस्वेद अनिमिष देखना, संभ्रम—आदि...”, गुण—प्रसाद, रीति—‘पांचाली’, वृत्ति—‘कोमला’, सहचर-रस—“नवों रस”, ब्रह्मा देवता और वर्ण ‘पीत’ कहा गया है, यथा—

“परपोषक आस्चर्ज जहिँ, अद्भुत-रस वहि जाँनि ।

नई बात कछु देखि-सुनि, उपजत है जो आँनि ॥

बिन बूझें जो चकि रहै, वहै जाँन अनुभाव ।

पीत बरँन, अरु देवता-ब्रह्म चित्त में लाव ॥”

—२० प्र० (रसलीन) पृ० १३४

इस कवित्त के बाद प्रतापगढ़ की हस्त-लिखित और पं० महावीर प्रसाद मालवीय संपादित मुद्रित प्रतिभों निम्नलिखित दो ‘दोहा’ विशेष मिलते हैं, यथा—

“जे न बिमुख हैं ‘थाइ’ के, अभिमुख रहें बनाइ ।

ते ‘बिभचारी’ बरनिऐँ, कहत सकल कबिराइ ॥

रहत सदाँ थिर भाव में, प्रघट होत इहि भाँति ।

ज्यों कल्लोल समुद्र में, त्यों संचारी जाति ॥”

अथ तैंतीस बिभचारी (संचारी) भाव जथा—

निरबेद, ग्लानि,^१ संका,^२ असूया औ मद, लँम,^३

आलस, दीन,^४ चिंता, मोह, स्मृति, धृति जाँन ।

ब्रीड़ा, चपलता, हरख, आवेग* औ जड़ता,

बिखाद, उतकंठा, निद्रा, औ अपस्मार माँन ॥

पा०—१. (भा० जी०) ग्यान ... २. (शृ० नि०) संकर... ३. (वै०) भ्रम । ४. (वै०) (शृ० नि०) दीनता... ५. (शृ० नि०) आवेग जड़ता बिखाद...

सुपॅन, बिबोध, अँमरख, अबिहत्थ^१ गँनि,
 उपता औ मति, व्याधि, उँनमाद, मरँन आँन ।
 त्रास औ बितकं बिभचारी-भाव तेतीस, ए,
 सिगरे रसँन^२ के सहायक से पैहचँन ॥*

“दोहा”

नाटक में रस आठ-ही,^३ कहे^४ भरत रिषि-राइ ।
 अँनत^५ नवँम रस ‘सांत’ किय, तहँ ‘निरबेदे’^६ थाइ ॥

सांत-रस बरनन ‘दोहा’ जथा—

मँन-बिराग सँम सुभ-असुभ, सो ‘निरबेद’ कहंत ।

ताहि बदेते^७ होत है, संत-हिऐं रस-संत ॥

वि०—“दासजी कहते हैं कि मन में वैराग्य आने से वा तत्त्व-ज्ञान प्राप्त होने पर ‘सांत-रस’ उत्पन्न होता है । अतएव जब सब जीवों के प्रति समान भाव उत्पन्न हो किसी के प्रति राग-द्वेष का भाव उत्पन्न न हो तब ‘सांत-रस’ की उत्पत्ति कही जाती है ।

सांत-रस के संचारी भाव—“हर्ष, विपाद, स्मृति, धृति और निर्वेदादि”, स्थायी—“निर्वेद अथवा सम”, आलंबन—“अनित्य-संसार की असारता का ज्ञान, परमात्मा का चिंतन, नरक के महान् दुःखों का चिंतन, प्रभु के गुणों का कीर्तन, ईश्वर-ध्यान, उद्दीपन—“बुढापा, मरण, व्याधि, पुण्य-क्षेत्र, सत्संग, ऋषियों का आश्रम, गंगा-यमुना के पवित्र-तट, विविध तीर्थ, एकांत वन”, अनुभाव—“रोमांच, विलाप, योग-साधन, ईश्वर-भक्ति, संसार-भीरुता, शास्त्रों का अध्ययन” आदि, गुण—‘माधुर्य’, रीति—‘वैदभों’, वृत्ति—‘उपनागरिका’, सहचर—वात्सल्य, अद्भुत, करुण, बोधत्स-रस, विरोधी—“शृंगार, हास्य, रोद्र, वीर और भयानक”, वर्ण—‘श्वेत’ तथा देवता—‘श्रीनारायण भगवान्’ कहे जाते हैं ।

काव्य-प्रकाश (संस्कृत) में इसका स्थायी जैसा पूर्व में लिखा है—निर्वेद-ही माना गया है । वहाँ ग्रंथ-कर्त्ता कहते हैं —“तत्त्व-ज्ञान से जो निर्वेद उत्पन्न होता है वही स्थायी भाव है, इष्ट-नाश वा अनिष्ट की प्राप्ति के कारण ‘निर्वेद’ होने पर

पा०—१. (शृ० नि०) अबिहत्था...। २. (भा० जी०) रस नीं के...। ३. (भा० जी०) आठ है । ४. (भा० जी०) (वें०) कह्यौ । ५. (प्र०) (वें०) अँनत नवम किय सांत-रस । ६. (भा० जी०) निरबेद हि...। ७. (स० प्र०) चदेते...।

* , शृ० नि० (दास) पृ० ८१, २३५ ।

वह संचारी भाव होगा, स्थायी नहीं। साहित्य-दर्पण में विश्वनाथ चक्रवर्ती इसकी पुष्टिता के प्रति कहते हैं—

“न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागो न च काचिदिच्छा ।

रस स शांतः कथितो मुनिर्द्वैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥”

अस्तु यहाँ शंका होती है कि यदि इस रस का यह स्वरूप मान लिया जाय तो उसकी स्थिति मोक्ष की दशा में ही होगी और तब वहाँ विभावादि का ज्ञान असंभव हो जायगा, अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारी-भावों के द्वारा उसकी सिद्धि न हो सकेगी। अतएव साहित्याचार्यों ने—ऐसी दशा में कहा है कि युक्त (रूप-रस आदि विषयों से विरक्त ध्यान-मग्न योगी), वियुक्त (योग-बल से अणु-मादि संपूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त होकर, समाधि की भावना करते ही वाँछित-वस्तुओं का ज्ञान अंतःकरण में जिसे होने लगे) और ‘युक्त-वियुक्त’ (जिसकी इंद्रियाँ महत् और अद्भुत रूपादि प्रत्यक्ष ज्ञान के कारणों की अपेक्षा न कर सब अतीन्द्रिय विषयों का साक्षात्कार कर सके) की दशा में जो ‘शम’ वा ‘निर्वेद’ रहता है, वही स्थायी भाव होकर रस में परिणत हो जाता है और इसी अवस्था में विभावादि का ज्ञान संभव होता है। यहाँ ‘मोक्ष-दशा’ वा निर्विकल्प समाधि का ‘शम’ अभीष्ट नहीं है, क्योंकि संसार में जो विषय-जन्य सुख हैं अथवा स्वर्गीय महा सुख हैं वे तृष्णा के क्षय वा शांति से उत्पन्न सुख के अलगति-अलग भाग के बराबर भी नहीं हैं। एक बात और, वह यह कि—श्रीमम्मट ने शांत-रस के प्रति कुछ ग्रन्थमन्यस्ता दिखलाते हुए कहा है—“शांतोऽपि नवमो रसः।” अर्थात् शांत भी नववाँ रस है, यह ‘भी’ विचारणीय है। वैसे तो मम्मट-मतानुसार शांत रस की मान्यता है-हो और श्रीभरत मुनि (नाट्याचार्य) संमत है, फिर भी ‘अभिनवभागी’ कार आचार्य अभिनवगुप्त जिन पक्ष-विपक्ष रूप दो बातों का उल्लेख करते हैं, उनका श्रीमम्मट ने स्वागत नहीं किया, अपितु ‘अपि’ शब्द से उस मत-वैभिन्न्य की ओर संकेत करते हुए संकित हृदय से उसे स्वीकार किया है।

अस्य (शांत रस) उदाहरन ‘सवैया’ जथा—

भूँखे अर्चाने, रिसाँने, रसाँने, हितू-अ-हितून सों स्वच्छ मनै हैं ।
दृखँन भूषन, कंचँन-काँच, औ मृत्तिका-माँनिक एक गँने हैं ॥
सूल सौ फूल, सो^१ माल^२ प्रबाल सौ, ‘दास’ दिए सँम सुख सँने हैं ।
रौम के नाँम सों केवल काँम, ते ई जग जीवँन-मुक्त बँने हैं ॥

अथ भावाभासादि बरनन जथा—

सिंगारादिक भेद बहु औ^१ बिभचारी भाव ।
प्रघट्यौ रस-सारांस में, ह्यौ को करै बढ़ाव ॥

भाव उदै सांत^२-हु सबल. सांत-हु^३ भावाभास ।
रसाभास ए मुख्य कहूँ^४, होत रस-हिं लों 'दास' ॥

वि०—“देवादि विषयक रति-सामिग्री के अभाव में उद्बुद्ध मात्र रति-आदि स्थायी भावों को ‘भाव’ संज्ञा दी गयी है । अथवा जहाँ ‘रति’ वा ‘प्रीति’-आदि भाव उद्बुद्ध मात्र हों, अपुष्ट हों—विभावानुभावसंचारियों से पुष्ट न हों, वहाँ ये भाव कहे जाते हैं । प्रीति वा रति शृंगार-रस में तभी परणित होती हैं, जब कि नायक-नायिका रूप आलंबन होने पर भी विभाव, अनुभाव और संचारी-भावों से पुष्टि हो, जैसा कि विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपने साहित्य-दर्पण में कहा है —

“संचारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः ।

उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्याभिधीयते ॥”

—सा० द० (तृतीय परिच्छेद)

अस्तु, दासजी अब—“भाव-उदय, भाव-संधि, भाव-शवलता, भाव-शांति भावाभास और रसाभास” का वर्णन करते हैं । संस्कृत ग्रंथों में इनका क्रम—रसा-भास, भावाभास, भाव-शांति, भावोदय, भाव-संधि और भाव-शवलता—रूप से मिलता है ।

एक बात और, वह यह कि प्रथम दोहे के द्वितीय चरण में प्रयुक्त—“प्रघट्यौ ‘रस-सारांस’ में०”...के यहाँ दो अर्थ हैं—रसों का सार-अंश, संक्षिप्त और “रस-सारांस” ग्रंथ विशेष, जो दासजी को एक पृथक् रचना है ।”

अथ भाव-उदै-संधि लच्छिन ‘दोहा’ जथा—

उचित बात ततछिँन लखें, ‘उदै-भाव’ की होइ ।

बीच-हिँ में द्वै भाव के, भाव-संधि है सोइ ॥

वि०—“जहाँ किसी भाव की शांति के अनंतर किसी कारण से दूसरे भाव का उदय हो—‘उसमें विशेष चमत्कार हो, वहाँ ‘भावोदय’ और जहाँ समान चमत्कार वाले दो भावों की उपस्थिति एक साथ-ही हो, वहाँ ‘भाव-संधि’ कही

पा०—१. [भा० जी०] [वै०] अर...। ३ [प्र०] [स० प्र०] संध्य-हु ...। [वै०] संध्यौ ३. [वै०] सांत्यौ...। ४. [प्र०] हैं...।

जाती है। अस्तु, रसलीन जी ने अपने 'रस प्रबोध-ग्रन्थ' में भावोदय के साथ—
 "भावन की संधि-उदै-सांत-सबल प्रौढोक्ति, हरष-भाव, संका-भाव की संधि, त्रास-
 भाव-रोस-भाव की बिधि, बीड़ा-भाव-प्रीति-भाव की बिधि, गरब-भावोदय, मान-भाव की
 सांति, अंतरिज भावोदय सांति, सबल-लच्छन, धृतिभाव की प्रौढोक्ति, सुकीया
 बिधै भाव की प्रौढोक्ति" आदि का वर्णन किया है, इनके सुंदर उदाहरण दिये
 हैं। दो उदाहरण — धृति-भाव की प्रौढोक्ति और स्वकीया-बिधै-भाव की प्रौढोक्ति
 क्रमशः जैसे—

“पीतम बँसुरी की सरस, सब जगते करि ध्यान ।

अघर-लगे हरि के जियत, बिलुरें बिलुरें प्रान ॥

बिलुरें पिय सपने निरखि, तिय बिदेस अनुमाँनि ।

चोंकि परी, थैहरी खरी, पुरुष दूसरी जाँनि ॥”

—२० प्र० (रसलीन) पृ० १३७

अथ भाव-उदै उदाहरन 'सवैया' जथा—

देखि-री, देखि, अली-सँग जात^१ धों, कौन है, का घर में ठैहराति^२ है ।
 आँनन-मोरिकें. नॅनन^३-जोरिकें. अबै भई ओझल वौ^४ मुसिकाति है ॥
 'दास' जू जा मुख-जोति लखें ते, सुधाधर-जोति खरी सकुचाति है ।
 आगि-लिऐं चली जाति सु मेरे हिए-बिच आगि दिऐं चली^५ जाति है ॥*

वि०—'भावोदय के उदाहरण स्वरूप श्री रसखान-निर्मित यह सवैया भी
 बड़ा सुंदर है, यथा—

“जा दिन ते निरख्यौ नँद-नंदन, काँन तजो, घर-बंधन छूट्यौ ।

चारु बिलोकाँनि कीन्हीं सुमार, सँहार, गई मन मार नें लूट्यौ ॥

सागर कों सरिता जिमि धावै, न रोकी रहै कुल कौ पुल टूट्यौ ।

मत्त भयौ मँन संग फिरै, 'रसखान' सरूप अमीरस बूट्यौ ॥

अथ भाव-संधि-उदाहरन 'दोहा'—

कंस-दलैन कौ दौर उत, इत राधा-हित जोर ।

चलि-रहि सकै न स्याँम-चित, ऐँचि लगी दुहुँ ओर ॥ †

पा०—१. (प्र०) (वें०) जाइ...। २. (प्र०) बतरात । ३. (प्र०) (वें०) नॅनन जोरि
 अबै गई...। ४. (प्र०) कै...। (वें०) है...। ५. (वें०) चलि...।

*, २० मी० (शु०) २४१ । † २० मी० (शु०) १४६ ।

वि०—“अर्थ स्पष्ट है, फिर भी ‘श्याम’ के हृदय में हर्ष और विषाद दोनों भावों का सुन्दर वर्णन हुआ है।

अथ भाव-सबल बरनन ‘दोहा’ जथा—

बौहौत भाव मिलि कें जहाँ, प्रघट करें इक रंग ।

‘सबल भाव’ तासों कहै, जिनकी बुद्धि उत्तंग ॥

वि०—‘जब एक के पीछे दूसरे और दूसरे के पीछे तीसरे भावों का क्रमानुसार, एक ही स्थान पर संमिलन हो तो वहाँ ‘भाव-शबलता’ कही जाती है। यथा—

“भावस्य शांतिरुदयः शंधिः शबलता तथा ।

काव्यस्य कांचनस्येव कुंकुम कांतिसंपदे ॥”

—च० लो० (जयदेव) पृ० ७४,

अर्थात् भावोदय, भाव-संधि और भाव-शबलतादि भी काव्य की शोभा को वैसा ही बढ़ाते हैं, जैसे सोने में केशर की सुगंध...

अस्य-उदाहरन ‘दोहा’ जथा—

हरि-संगत सुख-मूल सखि, पै परपंची गाँउ ।

तू कहि, तौ तजि संक उत, दग-बचाइ द्रुत जाँउ ॥

अस्य तिलक—

इहाँ, उतकंठा, संका, दीनता, धृति और आवेग ‘अबिहित्य-भाव’ को सबल कारक है, जाते ‘भावसबलता’ भई ।

वि०—‘अबिहित्य—आकृति गोपन वहाँ कहते हैं, जहाँ चतुरता से दसा दुगयी जाय—छिपायी जाय, जैसा कि दासजी की इस कृति में वर्णित है। रस-लीन कहते हैं—

“संम गोपन व्यौहार कौ सो ‘अबिहित्य’ भाव ।

है बिभाव हिय कुटजई, वहि लावन भँनु भाव ॥”

और उदाहरण—

“सौत-सिंगार-बिहार तिय, घूँघट-पट मुख ल्याइ ।

खाँसी कौ मिस ठाँन कें, हाँसी रही दुराइ ॥”

—र० म० पृ० १०६,

अथ भाव-सांति-भावाभास लच्छिन जथा—

भाव-सांति सो' है जहाँ, मिटत भाव-अनयास ।

भाव जु अनुचित ठौर है, सोई 'भावाभास' ॥

वि०—'जब किसी एक भाव की व्यंजना हो रही हो, उसी समय दूसरे विरुद्ध भाव की व्यंजना होने पर प्रथम भाव की समाप्ति में जो चमत्कार होता है, उसे—'भाव-शांति' कहते हैं । इसी प्रकार जब अनौचित्य रूप से भाव का वर्णन होता है अथवा जहाँ भाव रसाभास का अंग बन जाता है, अर्थात् जहाँ भावों का वर्णन अनौचित्यपूर्ण हो, या जहाँ जो भाव प्रकट न होना चाहिये वहाँ वह भाव व्यक्त कर देने से 'भावाभास' कहा जाता है ।'

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है, वह यह कि जबतक व्यभिचारी-भाव किसी रस के पोषक होते हैं, तभी तक उनकी व्यभिचारी सजा है और जब वे प्रधान प्रतीत होते हुए भाव-अवस्था को प्राप्त होकर किसी दूसरे अभ्यास के अंग बन जाते हैं तब वे 'भावाभास' कहे जायेंगे ।

भाव-सांति उदाहरन 'दोहा' जथा—

बदन-प्रभाकर लाल लखि, बिकस्यौ उर अरविद ।

कहौ रहै क्यों निसि-बस्यौ, हुतो^२ जो मॉन-मलिद ॥

भावाभास उदाहरन 'दोहा' जथा—

दरपेन में निज छाँह-संग, लखि पीतम को छाँह ।

खरी ललाई रोस की, ल्याई^३ अखियन मॉह ॥

अस्य तिलक

इहाँ नायिका को नौहक को क्रोध-भाव (नायक प्रति) है, ताते भावाभास कहिए ।

अथ रसाभास बरनन 'दोहा' जथा—

सुरा सुरादर तुब नजर, तू मोहिनी सुभाइ ।

अछकेन देति छकाइ है, मार मरेन को ज्याइ ॥

अस्य तिलक

इक नायिका बौहौत (से) नायकन को बस (अपने बस) करै है, ताते 'रसाभास' है ।

वि०—‘दासजी ने यहाँ ‘रसाभास’ का लक्षण न देकर उदाहरण ही प्रस्तुत किया है। अस्तु, रसाभास वहाँ कहा जायगा जहाँ रस अनुचित रूप में हो, अर्थात् जब किसी काव्य में रस व्यञ्जना के होने पर भी रस न मानकर केवल उसका आभास मात्र माना जाय, वहाँ रसाभास कहा जायगा। अस्तु, साहित्य-सृजेताओं ने नवरसों में ‘रसाभास’ का इस प्रकार उल्लेख किया है।

“उपनायक वा अनेक नायकों में नायिका की, अथवा अनेक नायिकाओं में एक नायक की रति—प्रीति का होना, नदी-आदि निरिन्द्रियों में संभोग का आरोप, पशु-पक्षियों के प्रेम का वर्णन, गुरु-पत्नी में अनुराग, नायक-नायिका में उभय-निष्ठ प्रेम, जैसे—नायिका का प्रेम नायक के प्रति हो, पर नायक का प्रेम नायिका के प्रति न हो, अथवा इससे विपरीत नायक का प्रेम तो नायिका के प्रति हो, पर नायिका का प्रेम उस (नायक) के प्रति न हो—आदि....., तथा नीच व्यक्ति के प्रति प्रेम का होना—इत्यादि ‘शृंगार-रसाभास’ कहे जाते हैं। किसी-किसी आचार्य ने—अन्य प्रतिष्ठित नारी, जैसे—भावज, (भौजाई) तथा मित्र-गृहिणी, पर-पुरुष गृहिता और भिक्षुणी के प्रति अनुराग को भी ‘रसाभास’ का विषय माना है। इसी प्रकार—गुरुजनादि पूज्य व्यक्तियों को हास्य का विषय—आलंघन बनाना, ‘हास्य-रसाभास’, विरक्त में शोक का होना—‘करुण-रसाभास’, चोर, डाकू, दुर्जन-आदि नीच व्यक्तियों में उत्साह बताना—‘वीर-रसाभास’, ज्येष्ठ भ्राता, गुरु, पिता, माता, त्यागी, वृद्ध-आदि पूज्य व्यक्तियों के प्रति क्रोध जतलाना—‘रोद्र-रसाभास’ उत्तम व्यक्तियों में भय का होना—‘भयानक-रसाभास’, यज्ञ-पशु में ग्लानि—‘बीभत्स-रसाभास’, तंत्र, मंत्र और यंत्र आदि के प्रभाव से उत्पन्न विस्मय में—‘अद्भुत-रसाभास’ और नीच-व्यक्तियों में शम या निर्वन्द को स्थिति—‘शांत-रसाभास’ कहा गया है (साहित्य-दर्पण तृतीय परिच्छेद - २६२ × २६५)। वहाँ इनके क्रमशः उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं।

अस्तु, ‘दोहा’ जथा—

भिन्न-भिन्न जद्यपि सकल, रस-भावादिक ‘दास’।

रस-हिं व्यंग’ सब कोउ कह्यौ, धुनि कौ जहाँ प्रकास ॥

इति श्री सकल कलाधर-कलाधरबसावतंसश्रीमन्महाराज

कुँमार श्री बाबू हिंदूपति बिरचिते ‘काव्य-निरणय’

रसांग बरननो नाम चतुर्थोऽखण्डः ।

—*—

“अथ पंचमोल्लासः”

रस कौ अपरांग वरनन ‘दोहा’ जथा—

रस-भावादिक होत जहँ, और^१-और के^२ अंग ।

तहँ ‘अपरांग’ कहँ कोउ, कोउ ‘भूषेन’ इहि ढंग^४ ॥

रसवत, प्रेइस^५, उरजसी, सँमाहितालंकार ।

भाव-हु^६ दैबत, संधिवत, और सबलवत-धार^७ ॥

वि० “रस-भावादिक, अर्थात् रसभाव, रसाभास भावाभास और भावप्रशम (भाव-शांति) जब किसी के अंग हा जाते हैं, तब ये क्रम से रसवत्, प्रेयस्, उर्जस्वि तथा समाहित अलंकार कहे जाते हैं, यथा---

“रसाभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा ।

गुणोभूतत्त्वमायांति यदालंकृतय स्तदा ॥

रसवत्प्रेयज्जस्वी समाहितमिति क्रमात् ।”*

—सा० द० (विश्वनाथ) पृ० १० । ६५-६

अथ रसावन्तालंकार ‘दोहा’ जथा—

जहँ रस कौ कै^८ भाव कौ, अंग होत रस आइ ।

तहँ ‘रसवत’ भूषेन कहँ, सकल सुकवि सँमुदाइ ॥

वि०—“जहाँ कोई रस वा भाव किसी अन्य रस का अंग बन कर आए तब वहाँ ‘रसवदलंकार’ कहा जायगा । इस रसवदलंकारो के कई सुंदर उदाहरण दासजी ने क्रमशः दिये हैं ।”

सांत-रसवन्त अलंकार वरनन ‘सवैया’ जथा—

बादि छहों^{१०} रस-बिजँन खाइबौ, बाद नवों रस-मिखित गाइबौ^{११} ।

बादि जराइ^{१२} प्रजंरु बिछाइबौ, प्रसूँन घनेन प^{१३} पाँइ लुटाइबौ^{१४} ॥

पा०—१. (प्र०) जुगल परस्पर अंग । २. (भा० जी०) कौ ... ३. (स० प्र०) रस-भावादिक है जहाँ, आन-आन के... ४. (स० प्र०) तहाँ परांग कहँ कोउ, लहि भूषन कौ ढंग । ५. (प्र०) प्रेया-उरजसी । (भा० जी०) ..प्रेयोउरजसी । (प्र०-३) प्रेइस, रसवत उरजसि ... ६. (वें०) भावो ... ७. (प्र०) सार... ८. (प्र०-३) वा... ९. (भा० जी०) (वें०) तिहि... १०. (स० प्र०) (का० प्र०) छबौ... (वें०) नवौ... ११. (प्र०) (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) गैबौ । १२. (प्र०) (वें०) (भा० जी०) जराऊ । १३. (वें०) (का० प्र०) परि । १४. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) लुटैबौ । (स० प्र०) लठैबौ । (प्र०) परिगथ लुटैबौ ।

*, स०— प्रयाग, “रस कौ परांग वर्णन” ।

‘दासजू’ बादि जँनेस, मँनेस, धँनेस, फँनेस, गँनेस’ कहाइबौ^२ ।
या जग में सुखदायक एक, मयंक-मुखीन कौ अंक लगाइबौ^३ ॥*

अस्य तिलक

इहाँ “इक मयंक-मुखीन कौ अंक लगाइबौ” कहे ते सांत-रस सिंगार-रस के अंग मे है, ता ते रसबंत अलंकार कहिए ।

वि०—“रसकुसुमाकर के रचयिता अयोध्या-नरेश ने तथा ‘काव्य-प्रभाकर’ के कर्ता भानु ने यह छंद अपने-अपने ग्रंथों में ‘दक्षिण’ नायक (जिसका अनेक स्त्रियों पर समान प्रेम हो) के उदाहरण में संकलित किया है ।”

पुनः ‘दोहा’ जथा—

चंद-मुखिन्* के कुचँन पै, जिन कौ सदाँ बिहार ।

अहह करें ताही करँ, चखँन* फेरबरदार ॥

अस्य तिलक

इहाँ करुनाँ रस कौ सिंगार-रस अंग भयौ है, ताते ‘रसबंत अलंकार’ है ।

वि०—प्रतापगढ़ की हस्तलिखित प्रति में इस दोहे का शीर्षक—“करुन रसवत् अलंकार वरनन” लिखा है और प्रतापगढ़ नं० ३ की प्रति में “शृंगारवत् ..” लिखा है ।

अथ अद्भुत-रसवंत अलंकार वरनन ‘सवैया’ जथा—

जाहि दवानल-पाँन किए ते बढी^६ हिय में सरदी सरदे सों ।

‘दास’ अघासुर जोर-हत्यौ,^७ जु लह्यौ^८ बच्छासुर से^९ बरदे सों ॥

बूझति राखि लियौ गिरि लै, ब्रज-देस पुरंदर वेदरदे सों ।

ईस हँमें पर दे परदेसों, मिले^{१०} उड़ि ता हरि सों^{११} परदे सों ॥

अस्य तिलक

इहाँ चिंता-भाव कौ अद्भुत रस अंग है, ताते रसबंत अलंकार है ।

पा०—१. (र० कु०) रमेस . । २. (प्र०) (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) कहैबौ । ३. (भा० जी०) (प्र०) (प्र० मु०) (वें०) लगैबौ । ४. (सं० प्र०) चंद-मुखी . । ५. (प्र०) (प्र० मु०) चिरियँन फेरबरदार । (वें०) चरबनदार फेरबरदार । ६. (भा० जी०) बढ्यौ... । ७. (वें०) (प्र० मु०) (सं० प्र०) (सु० ति०) हर्यौ... । ८. (सं० प्र०) (प्र० मु०) (सु० ति०) लर्यौ । ९. (सं० प्र०) साँ... । १०. [प्र०—३] मिलाँ... । ११. (भा० जी०) कों ।

* , र० कु० (अयोध्या) पृ० १५६, ४२३ । का० प्र० (भानु), पृ० २४४, ४ । का० का० (च० सिंह) पृ० १२५ । †, सु० ति० (भा० ह०) पृ० १७१, ५८३ । म० ग० (अजान) पृ०-६१, २२६ ।

अथ भयानक-रसवंत अलंकार वरनन 'सवैया' जथा—

भूल्यौ फिरै भ्रम जाल में जीब, सु^१ ख्याल की खाल में फूल्यौ फिरै है^२ ।
भूत जु पाँच लगे मजबूत, सो^३ साँच अबूत कुं नाच नचै^४ है ॥
काँन में आँन रे 'दास' कही को नहीं ते तुही मँन^५ में पछितै^६ है ।
काँम के तेज निकाम तपै, बिन राँम-जपै बिसराँम न पै है^७ ॥*

‘अस्य तिलक’

इहाँ हैं, सांत-रस कौ भयानक रस अंग है ।

अथ प्रेयालंकार वरनन 'दोहा' जथा

जहँ भाव-हि है^८ जात है, रस भावादिक अंग ।
सो 'प्रेयालंकार' कहि^९, वरनत बुद्धि उतंग ॥

वि०—“जहाँ भाव जब किसी रस या भाव का अंग हो जाय, तो वहाँ वह अति प्रिय हो जाने के कारण 'प्रेयस्'-अलंकार कहा जाता है। अथवा जहाँ कोई रस या भाव किसी भाव का अंग बनकर आता है तब वहाँ प्रेयालंकार होता है।”

अस्य उदाहरन 'सवैया' जथा—

मोहन, आपनों^{१०} राधिका कौ, बिपरोति कौ चित्र विचित्र बनाइ कें ।
दीठि बचाइ सलोनी की आरसी, में चिपकाइ गयौ बैहराइ कें ॥
बूमि घरीक में आँन कही, कहा बैठी कपोलन चंदन^{११} लाइ कें ।
दरपन ज्यों^{१२} तिय चाँह्यौ तहीं, मुसिकाइ^{१३} रही दृग-मोरि-लजाइ कें ॥†

अस्य तिलक

इहाँ हास्य-रस कौ लज्जा-भाव अंग है, ताते प्रेयस् अलंकार ।

पा०—१. (सं० प्र०) कौ । (वें०) (प्र०) (भा० जी०) के...। २. (प्र०—३) फिरै है । ३. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) है...। ४. (प्र०—३) नचै...। ५. (सं० प्र०) ही...। ६. (प्र० मु०) पछितै...। ७. (प्र०—३) पइ...। ८. (प्र०) (प्र० मु०) भाव हि जँह है...। (सं० प्र०) (वें०) भावै जहँ...। ९. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) है...। १०. (भा० जी०) आप औ राधिका...। (वें०) आपने...। (प्र० मु०) आपन...। ११. (वें०) चंद तुलाइ...। १२. (प्र०) (वें०) त्यों...। १३. (श्रु० नि०) सिरनाइ रही मुसिकाइ लजाइकें ।

*, श्रु० नि० (दास) पृ० ७४, २२१ । † श्रु० नि० (दास) पृ० ७४, २२१ ।

वि०—दासजी ने यह सबैसा अपने 'शृंगार-निर्णय' नामक द्वितीय ग्रंथ में 'सखि-कर्म' 'परिहास' के उदाहरण में भी दिया है। सखी—जिससे नायक-नायिका किसी कार्य का गोपन (छिपाना) नहीं करते, उसे कहा है और उसके—'मंडन शिखा, उपालंभ और परिहास (दिल्लगी) आदि चार कर्म कहे गये हैं, यथा—

“जासों तिय निज हीय कौ, राखै कछु न दुराव ।

ताहि बखानत हैं सखी, जे रसग्य कबिराव ॥

और कर्म—

मंडन, सिच्छा करँन पुनि उपालंभ परिहास ।

चारि काज ए सखिन के, ते सब करत प्रकास ॥

—म० मं० (अज्ञान)

उक्त सखि-कर्म 'परिहास' का उदाहरण 'बेनी' कवि ने भी बड़ा सुंदर सुजा है, जैसे—

“साँवरे-गोरे कौ ओर ते संग, लगे मिलि दाँमिनी कौ घँन नीकौ ।

नील-निचोल मे गोरो जु गात, निसा अँधियारी में रूप ससी कौ ॥

हौ तुम गोरी, भल्यौ मिल्यौ संग, सो साँवरौ अग है मोहन पी कौ ।

यो सुनि 'बेनी' जु ओठँन-ऐठि, हँसी भुज-मूल अँमेठि सखी कौ ॥

—शृ० सं० (मन्नालाल)

पुनः 'दोहा' जथा—

दुरैं, दुरैं तकि दूरि ते, राखे आखे नैन ।

कॉन्ह-कपत^१ तो दरस ते, गिरि-डुगलात^२ गिरै न ॥

अस्य तिलक

इहाँ कंठ-भाव कौ संका-भाव अग है, जाते इहाँ हूँ 'प्रेयस्' अलंकार है ।

वि०—“दासजी के उपर्युक्त भाव पर किसी कवि की यह उक्ति—सूक्त भी अति सुंदर है, यथा—

“भृकुटी कँमान-ताँन फिरत अकेली बधू,

तापै ए बिसिख-कोर कज्जल-भरे हैं-री ।

तोहि देखि मेरे-हू गुब्बिद-मन डोल उठै,

मघबा निगोढ़ौ उतै रोस पकरै है-री ॥

पा०—१. (प्र०) (प्र० सु०) (वें०) कपें तुब... २. (प्र०) डिगलातु... ।
(प्र०—३) (प्र० सु०) (वें०) डगुलात... ।

बलि-बलि जाँउ वृषभानु की कुँमारी तेरी,
 नेकु कह्यौ मान तेरौ कहा बिगरै है-री ।
 चंचल चपल ललचोहे दग मूँदि राखि,
 जौ लों गिरिधारी गिरि नख पै धरें है-री ॥

पुनः उदाहरन 'सवैया' जथा—

पीत-पटी कटि में, लकुटी कर, गुंज को माल हिऐं दरसावै ।
 सौरभ-मजरी कौनन में, सिखि-पिच्छन सीस किरोट बनावै ॥
 'दास' कहा कहीं काँमरी-ओढ़ें, अनेक विधानन भोंह-नँचावै ।
 कारे डरारे निहारि* इन्हें सखि, रोम उठें, अँखियाँ भरि आवैं ॥

अस्य तिलक

इहाँ अबहिस्थ भाव (चतुरता पूर्वक किसी दशा व बात का छिपाना) को निंदा-भाव अंग है ।

वि०—“जैसा ऊपर कहा गया है, “चतुरता-पूर्वक किसी दशा व बात के छिपाने” को अवहिस्थ संचारी भाव कहते हैं, यथा—

“जो जहँ करि कछु चातुरी, दसा दुरावै आइ ।

ताही कों 'अवहिस्थ' पै भाव कहत कबिराइ ॥ ●

और संस्कृत-साहित्य-सृजिताओं का कहना है कि 'लज्जादि से उत्पन्न ईर्ष्यादि भावों का छिपाया जाना 'अवहिस्थ' है, अथवा—“न वहिस्थं चित्तं येन” अर्थात् जिससे चित्त वहिस्थ न हो वह अवहिस्थ । साहित्य-दर्पण (संस्कृत) के कर्ता कहते हैं—

“भयगौरवज्ज्वादे ईर्ष्याकार गुप्तिरवहिस्था ।

व्यापारांतर सक्यन्यथावभाषण विलोकनादिकरी ॥”

भय, गौरव-लज्जादि के कारण हर्षादि के आकार को छिपाना 'अवहिस्थ' है और उदाहरण, जैसे—

“एवं वादिनि देवषौ पाशवै पितुरधोमुखौ ।

लीला कमलपत्राणि गणपामास पार्वती ॥”

अर्थात् सप्तर्षियों-द्वारा विवाह की बात चलायो जाने पर पिता (हिमांचल) के पास बैठी हुई पार्वती नीची गर्दन कर लीला-कमल को पंखुड़िया गिनने लगीं ।

पा०—१. (स० प्र०) कलपुंज के पूंज करें दरसावै । २. (मा० जी०) निहारे .. ।

अवहित्य में, जो वचन-वैदग्ध्य का ही एक स्वरूप है, 'अनपेक्षित काम की ओर प्रवृत्ति, बात बराना, अन्य-ओर देखना आदि होता है। नायिका-भेदानुसार दासजी का यह छंद 'अज्ञात यौवना' (जिसे अपने यौवनागमन का ज्ञान नहीं) का उदाहरण माना गया है। अज्ञात यौवना का उदाहरण—“और कवि गड़िया, 'नंददास' जड़िया” 'ने अपनी 'रस-मंजरी' ग्रंथ में बड़ा सुंदर रचा है, यथा—

“सखि जब सर-अन्हवावन जाँहीं, फूले अमल्लन-कमलन-माँहीं ।

पोंछें डारति रोंम की धारा, माँनति बाल सिबाल की डारा ।

चंचल नैन चलत जब कोंने, साद-कमल-दल-हूँ ते लोने ।

तिन्हें सखन-बिच पकरयौ चहें, अबुज-दल से लागे कहें ।

इहि प्रकार बरसै छबि-सुधा, सो “अग्यात जोवना सुग्धा ।”

र० म० (नंददास)

अथवा—

“गाइकें बेंनु-बजाइ उठै, बरु आरसी-देखि सँवारत पागै ।

याही गलीन-कलान के उत्तर, आवत है वृषभाँन के बागै ॥

देह कटीली हूँ काँपि उठै, ववराइ रहै मँन क्यों हूँ न लागै ।

कोंन कौ है यै छोहरा साँवरौ, देखत मोहि डरावनों लागै ॥”

— शृ० स०

अथ ऊरजस्वी अलंकार बरनन—

काहू कौ अँग होत रस, भावाभास जु मित्त ।

‘ऊरजस्वि’ भूषन कहै, ताहि सुकवि धरि चित्त ॥

वि०—“जहाँ अनुचित (वलपूर्वक) रूप से प्रवृत्ति हुआ रसाभास और भावाभास अन्य रसों के अंग (सहायक या पोषक) हों वहाँ ‘ऊरजस्वि’ अलंकार कहते हैं, क्योंकि ऊर्ज का अर्थ ‘वन’ होता है ।”

अस्य उदाहरन ‘सवैया’ जथा—

ऊधौ, तहाँ-ईं चलौ लै हँमें, जहाँ कूबरौ-काँन्ह बसैं इकठौरी ।

देखिए ‘दास’ अघाइ-अघाइ, तिहारे प्रसाद अँनूपम’ जोरी ॥

कूबरौ सों कछु पाइए मंत्र, लगाइए काँन्ह सों प्रेम की डोरी ।

कूबरि-भक्ति बढ़ाइए बृंद. चढ़ाइए चंदन^२-बंदन रोरी ॥ *

पा०—१. (प्र०) (भा० जी०) (वे०) (प्र० मु०) मनोहर .. । २. (भा० जी०) (वे०) बंदन चंदन... ।

* र० कु० (अयो०) पृष्ठ ७५, ४७३० ।

अस्य तिलक

इहाँ सौति के मुख देखिबे की 'उत्कंठा', मंत्र लैबे की 'चिंता' औ कूबरि की भक्ति ए तीनों 'भावाभास के अंग हैं, जो बिभत्स-रस के अंग हैं ।

वि०—'रस-कुसुमाकर' के संग्रहकर्त्ता ददुवा साहिव अयोध्या ने, इस छंद की 'विप्रलंभ-शृंगाररसांतर्गत'-दशदशानुरूप 'अभिलाप' कथन के उदाहरण में संकलित किया है । अभिलाप—'मिलन चाँह उपजै हिऐ', सो 'अभिलाप' बखान ।"

पुनः उदाहरन 'सवैया' जथा —

चंदन-पंक लगाइ कें अंग,^१ जगावत^२ आगि सखी बरजोरें ।
ता पर 'दास' सुबासँन ढारिकें^३ देति है बारि बियारि भूकोरें ॥
पापी पपीहा न जीहा थकै तऊ^४ पो-पी^५ पुकारि-बकै^६ उठि भोरें^७ ।
देति कहा है दहे पै दाह, जु गई करि जाहु दई के निहोरें ॥*

अस्य तिलक

इहाँ पपीहा सों दीनता 'भावाभास' है, सो बिषाद भाव प्रलाप-दसा कौ अंग है ताते इहाँ हू 'ऊर्जस्वि' अलंकार है ।

वि०—“दासजी ने यह छंद शृंगार-निर्णय में प्रलाप के उदाहरण में और शृंगार-संग्रह के रचयिता सरदार कवि ने 'प्रोषित-पतिका-नायिका के उदाहरण में संकलित किया है । प्रलाप-दशा, यथा—

“सखिजैन सों, कै जड़न सों, तँन-मँन-भरयो सँताप ।

मोह बँन बकिबौ करै, ताकों कहत प्रलाप ॥”

—शृ० नि० (दास) पृ० १०५

रसलीन जी ने इस 'प्रलाप' का उदाहरण छोटा होते हुए भी बड़ा सुंदर दिया है, यथा—

“तो बिलुरत ही बिरह यै, कियौ लाल कौ हाल ।

पपिहा-बोलें यै कहत, मोहि बुलावत बाल ॥”

—र० प्र० पृ० १२३

पा०—१. (शृ० सं०) अक्र... २. (भा० जी०) (वै०) (प्र० मु०) जगावती । ३. (शृ०-सं०) घोरि कै... ४. (भा० जी०) (वै०) (प्र० मु०) तुअ... ५. (भा० जी०) पापी पुकारि... ६. (प्र०) (शृ० नि०) करै... ७. (सं० प्र०) (वै०) पी-पी पुकारि कै कै उठि भोरें ।

*. शृ० नि० (दास) पृ० १०५, ३१८ । सु० ति० (भा०) पृ० १८०, ६१५ । शृ० सं० (सरदार) पृ० ६३, ४० ।

पुनः कवित्त जथा---

दारिद-बिदारिबे की प्रभु कौं! तलास तौ—
 हँमारे ह्याँ* अँनगँन दारिद की खान है ।
 अघ की* सिकारी जौ है नजर तिहारी तौ—
 हों* तँन-मँन-पूरँन अघँन राखे* ठान हैं ॥
 'दास' निज संपत्ति जु^६ साहब के काँम—
 आएँ होत हरखित पूरौ भाग अनुमान है ।
 आपनी बिपत्ति कौं हाजिर हों करत लखि
 राबरे की बिपत्ति-बिदारँन की बाँन हैं ॥

अस्य तिलक

इहाँ दान--बीर कौ रसाभास दानता भाव कौ अंग है ।

अथ समाहित-अलंकार वरनन 'दोहा' जथा---

काहू के^१ अँग होत है, जहँ भावँन की साँति ।
 'समाहितालंकार' तहँ, कहँ सुकवि बहु भाँति ॥

वि०—“जहाँ भावों की शांति किसी दूसरे रस की अंग हो जाय, अथवा जहाँ कोई रस किसी भाव-शांति का अंग बन कर आए, वहाँ समाहित-अलंकार कहा जायगा । कोई-कोई जबकि किसी एक क्रिया के द्वारा किसी उभड़ते हुए भाव का प्रलय (विलीन) होना दिखलाय जाय, वहाँ 'समाहित' को मानते हैं । समाहित को 'समाधि' भी कहते हैं ।”

उदाहरन 'दोहा' जथा—

रौम-वनुष-टंकार^८ सुनि, फेल्यौ चहुँ^९ दिसि सोर^{१०} ।
 गरभ स्रबें रिपु - रौनियौ, गरब स्रबें रिपु - जोर ॥

अस्य तिलक

इहाँ भयानक रस कौ गरब-भाव सांति कौ अंग है, वा में समाहित है ।

पा०—१. (भा० जी०) केँ ... (वें०) केँ ... २. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) इहाँ...। (सं० प्र०) हमारे-ही ह्याँ...। ३. (वें०) (प्र० मु०) के...। ४. (भा० जी०) तौ, होत न चैन पूरँन अघँन ...। ५. (प्र०) (वें०) (प्र० मु०) राख्यौ...। (सं० प्र०) तौ हों तँन-वन पूरँन अघँन राख्यौ...। ६. [भा० जी०] [वें०] [प्र० मु०] सु...। ७. [भा० जी०] कौ...। ८. [भा० जी०] [वें०] [प्र० मु०] टकोर...। ९. [भा० जी०] [वें०] [प्र० मु०] सब जग सोर । १०. [वें०]...खोर ।

पुनः सर्वैया जथा—

जौ दुख सों प्रभु राजी रहै, तौ कहौ^१ सुख-सिद्धि^२ न दूर बहाऊँ ।
पै यै निच^३ सुनों निज स्रोन सों, कौन सों कौन सों^४ मौन गहाऊँ ॥
मैं या सोचि - बिसूरि - बिसूरि, करों बिनती प्रभु साँझ पहाऊँ^५ ।
तीन-हुँ लोक के नाथ समत्थ^६ हौ, मैं-हो अकेलौ अनाथ कहाऊँ ॥*

अस्य तिलक

इहाँ निदा सुनिबे कों कोष की सांति, चिंता भाव कौ अंग है ।

अथ भाव संधिगत अलंकार वरनन जथा—

भाव-संधि अंग होइ जो, काहू कौ अनयास
'भाव-संधिबत' तिहि कहै, पंडित बुद्धि-विलास ॥

वि०—“जहाँ दो भावों का एक साथ ही प्रादुर्भाव दिखलाया जाय, वहाँ भाव-संधि अलंकार होता है । यहाँ चंद्रालोक-कार का कहना है—

“भावानुमुदयः संधिः शबलत्वमिति त्रयः ।

अलंकारानिमान्सस केचिदाहुर्मनीषिणः ॥”

अस्य उदाहरन 'दोहा' जथा—

पियपराध तिल-आध तिय साध अगाध गनै न^१ ।

जाँन लजोहे^२ होइगे, सोहै करत न नैन ॥

अस्य तिलक

इहाँ उत्तमा नायिका में क्रोध, अबहिन्ध, उतकंठा औ लज्जा की संधि अप-
रांग (अन्य के अंग) हैं ।

अथ भावोदयवत अलंकार वरनन जथा—

रस-भावादिक कौ जु कहूँ भाव-उदै अंग होइ ।

'भावोदैबत' तिहि कहै, 'दास'^३ सुमति सब कोइ ॥

वि०—“जहाँ भावों का उदय होना मात्र दिखला कर रस पाक किया जाय—हो जाय, वहाँ 'भावोदयवत' अलंकार कहा जाता है ।

पा०—१. [स० प्र०] [र० सां०] तौ चहों सुख-सिद्धि सिंधु ..बहाऊँ । २. [भा० जी०] [वे०] निदा... ३. [प्र०—३] कों... ४. [भा० जी०] यहाँ क । ५. [स० प्र०] [वे०] समर्थ... ६. (प्र०) पिय-अपराध अगाध तिय, साध सुनैक गनै । ७. (स० प्र०) (वे०) ललोहे । ८. (वे०) भावोदयवत... (प्र०) भाव-उदै... ९. (स० प्र०) कवि पंडित सब...।

*, र० सा० (चिंता-भाव कथन)—दास, पृ०—२७ ।

अस्य उदाहरन 'दोहा' जथा—

चलत तिहारे प्राँन-पति, चलिहैं मेरे प्राँन ।
जग-जीबँन तुँम्ह-बिन हमें, धिग जीवन जग जाँन ॥

अस्य तिलक—

इहाँ प्रबन्धस्थेयसी (प्रियतम के होने वाले वियोग की आशका से दुखित होने वाली) नायिका को गलानि (ग्लानि) भाव अंग है ।

अथ भाव सबलवत अलंकार वरनन 'दोहा' जथा —

भाव-सबल कहि 'दास' जौ काहू कौ अंग होइ ।
'भाव-सबलवत' तिहिं कहैं, कवि, पंडित सब कोइ ॥
वि०—“जहाँ क्रम से एक के पीछे एक रूप से कई भावों का विकास होता जाय वहाँ 'भावशबलवत्' अलंकार माना जायगा ।”

अस्य उदाहरन 'कवित्त' जथा—

मेरे पग भाँवत^१ हो भावतौ सलोंनों एहो,^२
हँसि कहि बालँम बिताई कित रतियाँ ।
इतनों सुँनत रुसि^३ जात भयौ पाछें^४ पछिताइ-
हों मिलँन चली गोंऐं भेख भतियाँ* ॥
'दास' बिन-भेंट हों दुखित^५ फिरी आई सेज,
सजनी बनाई बूझि आईबे की घँतियाँ ।
बार-लागें^६ लागी मग जोहों हों किवार-लागी,
हाइ अब तिन्ह^७ की सँ देस हू न पतियाँ ॥*

अस्य तिलक

इहाँ आठों—“स्वाधीन-पतिका, धीरा, कलहंतरिता, अभिसारिका, अनुस-यना, लच्छिना, आगतपतिका और प्रोषितपतिका “नायिकाँन को सबल 'प्रोषित-पतिका' को अंग है ।

पा०—१. (स० प्र०) (बें०) (१० कु०) भाँवतौ हो... २. (स० प्र०) (बें०) (१०-कु०) सलोंनों हों हंसत हंसि... ३. (१० कु०) हँसि... ४. (प्र०) (बें०) पीछें... ५. (१० कु०) बतियाँ... ६. (१० कु०)...दुखित भई आई सेज, सजनी बनाइ बूझी । ७ (१०-कु०) लागी लगी मग ... ८ (१० कु०) उनकी...।

* १० कु० (अयोध्या) पृ० १३५, ३५६ ।

वि०—“दासजी ने यहाँ आठों नायिकाओं के वर्णन में प्रोषित-पतिका का सबल अंग कहा है, जो ठीक नहीं हैं। अपितु यहाँ सातों नायिकाओं का वर्णन ‘प्रोषितपतिका’ का सबलवत् अंग वर्णन है।

रस-कुसुमाकर के रचयिता ने दासजी के इस छंद को ‘प्रौढ़ा कलहांतरिता’ (नायक का अपमान कर पुनः पछुताने वाली) नायिका के उदाहरण में उद्धृत किया है।

“प्रथम कछु अपमान कारि पिय कौ किंगि पछिताइ ।

‘कलहांतरिता’ नायिका, नाहि कहत कविराई ॥”

पुनः उदाहरन ‘कवित्त’ जथा—

सुंमरि सकुचि न थिरात संक^१ त्रसित औ

तरकि^२ उग्र बाँन सु गिलाँन हरखाति है ।

उंनीदति^३ अलसाति सु^४ अति सधीर चौंकि,

चाँहि चित स्रमित सगर्व इरखाति^५ है ॥

‘दास पिय-नेह छैन^६-छैन भाव बदलति,

स्यामाँ स बिराग दीन मति कै भखाति है ।

जलपति, जकति^७, कहरति, कठिनाति मति,

मोहति, मरति, बिललाति, बिलखाति है ॥*

अस्य तिलक

इहाँ प्रवास—विरह के तेतीसों त्रिभचारी बियोग सिंगार के सबलवत् अंग है, ताते ये हू सबलवत् अलंकार कौ उदाहरन है ।

संमेलन-प्रथाग की प्रति में इस छंद के चरणों में निम्न परिवर्तन भी मिलता है । यथा—

“सुंमर सकुच न थिरात, संक, त्रसित, तरकि,

उग्र बाँन स गिलाँन मति हरखात है ।

‘दास’ पिय-नेह छैन-छैन भाव बदलति,

स्यामाँ स बिराग दीन मति कै भखाति है ॥

पा०—१. [शृ० नि०] संकि । २. [शृ० नि०] तरति.. । ३. [शृ० नि०] उंनीदति... । ४. [प्र०] सो अति (बै०) । (शृ० नि०) सोवति... । ५. (शृ० नि०) अँनखाति है । ६, [बै०] [प्र० मु०] छैन-छैन... । ७. [प्र०] [बै०]...जकति कैहरति... ।

*, शृ० नि० [दास] पृ० ८१, २३६ ।

जलपति, जकाति, कहराति, कठनाति अति,
 मोहति, मरति, बिललाति, बल-खाति है ।
 उँनदति, अलसाति सु अति सधोर चोंकि,
 चाहि चित स्रमित स गर्ब इरखाति है ॥

“इति श्री सकल कलाधर-कलाधरबंसावतसश्रीमन्महाराज
 कुँमार श्री बाबू हिंदूपति बिरचिते ‘काव्य-निर्णय’
 रसभाव अपरांग बरनन पंचमोल्लासः ।”

— — —

अथ षष्ठोल्लासः

धुनि-भेद बरनन 'दोहा' जथा—

वाच्य-अरथ ते व्यंग में चमत्कार अधिकार ।

धुनि ताही कों^१ कहत हैं,^२ उत्तम काव्य-विचार ॥*

वि०—“जहाँ वाच्यार्थ शब्द-जनित अर्थ से व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार हो, उसे “ध्वनि” कहते हैं। ध्वनि का अर्थ है - “अनुरणन्” (घंटे की टंकार के बाद होने वाली भंकार)। अतएव विरोप अर्थ या व्यंग्यार्थ से जब शब्द या अर्थ अपने स्व अर्थ को त्याग कर कुछ नयी विशेषता (चमत्कार) प्रकट करे उसे-ही विद्वज्जन “ध्वनि” कहते हैं, जैसा कि दासजी तथा निम्न-लिखित सूक्ति से जाना जाता है, यथा —

“यच्चार्यः शब्दो वा तमर्थम्रह सज्जनीकृत स्वार्थो ।

व्यक्तं काव्य विशेषः ध्वनिरिति सूरभिः कथितः ॥

रीतिकारों ने ध्वनि में व्यंग्यार्थ की-ही प्रधानता (चमत्कार) मानी है, क्योंकि चमत्कार के उत्कर्ष पर-ही वाच्य और व्यंग्य की प्रधानता निर्भर है। जहाँ वाच्य में अधिक चमत्कार हो वहाँ वाच्य की और जहाँ व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार हो, वहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता सम्भूति जाती है। वाच्यार्थ का तो शब्द के द्वारा कथन किया जा सकता है, व्यंग्यार्थ का नहीं, उसकी तो ‘ध्वनि’ ही निकलती है। ध्वनि-संप्रदाय के आचार्य आनंदवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ की महत्ता का गुण-गान करते हुए कहा है—

“प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीशु महा कवीनाम् ।

यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥”

अर्थात् महा कवियों-द्वारा कही गयी वाणी विशेष में वाच्यार्थ के अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ इस प्रकार प्रकाशित होता है—चमत्कता है, जिस प्रकार अंगना (स्त्री) के अवयवों (हाथ-पैर, कान, मुख, नासिका आदि) के अतिरिक्त उसका ‘लावण्य’ ।

पा०—१, (सं० प्र०) सों...। २, (वै०) सो...

*, व्यं० मं० (ला० मं० दी०) पृ० २७ ।

ध्वनि के अनेक भेद कहे जाते हैं, अस्तु प्रथम—‘अभिधा’ और ‘लक्षणा’ मूला नाम से दो भेद जिन्हें ‘विवक्षित अन्यपरवाच्य’ एवं ‘अविवक्षित-वाच्य’ भी कहते हैं, के सैंतालीस और लक्षणा-मूला (अविवक्षितवाच्य) के चार भेद कहे हैं। इसी प्रकार अभिधा—जनक विवक्षित अन्य-परवाच्य के—‘संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य’ के इकतालीस (४१) और असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्य के छह (६) भेद होकर पुनः संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य के ‘शब्द-शक्ति’, ‘अर्थ-शक्ति’ और शब्दार्थ-शक्ति मूलक तीन भेद कहे हैं। साहित्यकारों ने अर्थ-शक्ति-मूलक ध्वनि के भी छत्तीस ३६ भेद—‘कवि-निबद्ध-पात्र प्रौढोक्ति’, ‘कवि-प्रौढोक्ति’ और ‘स्वतःसंभवी’ के क्रमशः बारह-बारह भेद—‘वस्तु से वस्तु व्यंग्य’, ‘वस्तु से अलंकार व्यंग्य’ ‘अलंकार से अलंकार व्यंग्य’ जो कि ‘प्रबंध-गत’, ‘वाक्य-गत’ तथा ‘पद-गत’ मानते हुए शब्दार्थशक्ति-मूलक के ‘वस्तु व्यंग्य’ और ‘अलंकार-व्यंग्य’ फिर इन दोनों के पद-गत, वाक्य-गत भेद कहे हैं। असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के भी—पद, वाक्य, प्रबंध, पदांश, वर्ण और रचना-गत ‘छांसठ’ (६६) भेद कहकर रीति ग्रंथकारों ने ‘लक्षणा-मूला—‘अविवक्षित वाच्य ध्वनि’ के ‘अर्थोत्तर-संक्रमित’ और ‘अत्यंत तिरस्कृत’ रूप दो भेद कह फिर इन दोनों के पद और वाक्य-गत दो-दो भेद माने हैं।’

उदाहरन कवित्त जथा—

भोर तजि कचँन कहत मखतूल औ^१ कपोलन,
 कों कंबु ते^२ मधु कै^३ भाँति-भाँति है ।
 बिद्रुम बिहाइ सुधा अधरँन भाँखें कौल^४,
 बरजे कुचँन करि^५ श्रीफल की ख्याति है ॥
 कंचँन निदरि गने^६ गातँन कों चंप-पात,
 काँन्ह-मति फिरि गई काल्हि-ही को राति है ।
 ‘दास’ यों सहेली सों सहेली बतराति,
 सुनि-सुनि^७ लाजनि उत नबेली गड़ी जाति है ॥*

पा०—१. (२० कु०) वै . । (का० प्र०) (का० का०) . वै वपोलन कों कंबु कै मधु की भाँति...। २. (२० कु०) कै...। ३. (२० कु०) की...। ४. (प्र०) और बरनें कॅमल-कुच श्रीफल की...। (२० कु०) (का० प्र०) कज धरनें...। ५. (२० कु०) करें...। ६ (प्र०) गँने गात पात-चपक कौ...। (वै०) गँने गात कों चपक-पात...। (२० कु०) (का० प्र०) गँने चंपक के पात गात । ७ (प्र०) (वै०) (२० कु०) (का० प्र०)—सुँ न उत लाजनि नबेली...।

*, २० कु० [अयो०] पृ० ११२, २८७ । का० प्र० [भानु] पृ० १८४, २ । का० का० [रा० च० सि०] पृ० ६५ ।

वि०—‘दासजी का यह कवित्त रसकुसुमाकर (अयोध्या नरेश) और काव्य-प्रभाकर (भानु) के अनुसार ‘लक्षिता नायिका’ के रूप में वर्णन किया गया है, जो प्रायः व्यंग्य वा ध्वनि-प्रधान ही होता है। लक्षिता नायिका, यथा—

“लक्षिता सु जाकौ सुरत-हेत प्रघट हूँ जात ।

सखी व्यंग्य बोलैं कहै निज धीरज धरि बात ॥”

—शृ० नि० (दास) पृ० ३६

अर्थात् जिस नायिका का पर-पुरुष-प्रेम प्रकट हो जाय, उसे लक्षिता कहते हैं। दासजी ने इसके—सुरति-लक्षिता, हेतु-लक्षिता और ‘धीरत्व’ नामक तीन भेद कर सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। रसलीन ने भी इन तीनों भेदों को अपनाया है, जो नाम और क्रम भेद के साथ है। आपने—‘हेतु’, ‘सुरति’ और ‘प्रकाश-लक्षिता’ नाम दिये हैं।

प्रथम धुनि भेद ‘दोहा’ जथा—

धुनि कौ^१ भेद दु^२ भाँति है, भँनें भारती-धौम ।

‘अविवच्छित^३’ औ विवच्छित, बाच्य दुहुँन के^४ नाँम ॥

अथ अविवच्छित बाच्य* लच्छिन ‘दोहा’ जथा---

वक्ता की इच्छा नहीं बचन-हिँ कौ जु सुभाव ।

व्यंग्य कहै तिहिँ बाच्य सो^६ सो ‘अविवच्छित^३’ ठैहाराव ॥

वि०—“जहाँ प्रयुक्त शब्दों का वाच्यार्थ वक्ता की इच्छा न होने पर भी लक्षणा के द्वारा शब्द-स्वभाव के कारण कुछ और-ही हो, वहाँ ‘अविवक्षित-वाच्य ध्वनि’ कही जाती है।

पुनः भेद कथन ‘दोहा’ जथा—

‘अरथांतरसंकमित’ इक है अविवच्छित^३ बाच्य ।

पुनि^५ ‘अरथांतरतिरसकृति’ दूजौ भेद पराच्य ॥

पा०—१. (प्र०-३) के ... २. (स० प्र०) द्वि भाँति हैं, । (प्र०-३)...द्विभाँति सो । ३. (स० प्र०) (वै०) अविवक्षितौ-विवक्षितौ, । ४. (प्र०) (वै०) (भा० जी०) कौ... ५. (स० प्र०) (वै०) अविवक्षित बाच्य । ६. (भा० जी०) (वै०) कौ... ७. (स० प्र०) अविवक्षित ... ८. (स० प्र०) (वै०) है अविवक्षित... ९. (प्र०) पुनि अरथांतरतिरसकृति । (प्र०-३) (स० प्र०) पुनि अत्यंततिरसकृति । (वै०) पुनि अत्यंततिरसकृति ।

प्रथम अरथांतरसंक्रमित धुनि कथन जथा—

अर्थ बँनत^१ ऐसैं-हिँ जहँ, नाहि^२ ब्यंग की चाह ।

ब्यंग निकार^३ तौहू करै^४ चमतकार कवि-नाह ॥

वि०—“जैसा दासजी ने ऊपर के दोहे में कहा है कि “अविवक्षितवाच्य-ध्वनि’ के दो भेद ‘अर्थांतरसंक्रमित’ और ‘अर्थांतरतिरस्कृति’ (अत्यंततिरस्कृति) होते हैं। अर्थांतरसंक्रमित ध्वनि उसे कहते हैं जहाँ वाच्यार्थ अर्थांतर में संक्रमण करे—बदले, अर्थात् जहाँ शब्द का अर्थ प्रकरण के अनुसार अपने अभिधेयार्थ को त्याग कर अपने विशेष स्वरूप अर्थांतर में चला जाय। इसी प्रकार जहाँ वाच्यार्थ का संपूर्ण तिरस्कार किया जाय वहाँ ‘अर्थांतरतिरस्कृति’ वा ‘अत्यंततिरस्कृतिवाच्य ध्वनि’ कहते हैं।”

पुनः ‘दोहा’ जथा—

अरथांतर संक्रमित^५ सो वाच्य जु ब्यंग अतूल ।

गूढ़ ब्यंग या^६ में सही होत लच्छनौ-मूल ॥

अस्य उदाहरन ‘दोहा’ जथा—

सुमधु-प्याइ पीतम कह्यौ^७, प्रिया पिय-हि सुख-मूरि ।

‘दास’ होइ ता^८ सँमे में, सब इंद्रिय दुख-दुरि ॥

अस्य तिलक

इहाँ मधु छीबे ते तुचा कों सुख होइ, पीबे ते जीभ कों सुख होइ, बोल सुने ते कानन कों सुख होइ, देखिबे ते दगून कों सुख होइ, अरु गंध ते नाँक कों सुख होइ यों पाँचों इंद्रिय कौ दुख-दूरि होति है जो केवल “इंद्रिय-दुख-दूरि” ते अर्थांतरसंक्रमित धुनि सों जान्यों जात है ॥

अरथांतर^९तिरस्कृति वाच्य धुनि जथा—

है ‘अरथांतर’^{१०}तिरस्कृति, निपट तजें धुँनि होइ ।

समें लच्छ ते^{११} पाईऐ, मुख्य-अरथ कों गोइ ॥

पा०—१. (प्र०) (बँ०) अर्थ ऐस.ही बनत जह, । (सं० प्र०) अर्थ ऐसे बनतु जहँ, नहीं...। २. (प्र०) (बँ०) नहीं...। ३. (प्र०-३) निकारि...। ४. (प्र०-३) करै, । ५. (प्र०)... संक्रमित-वाच्य...। ६. (भा०जी०) (बँ०) वा में कही । ७. (भा० जी०) (बँ०) (प्र० मु०) कहै,...। ८. (प्र० मु०)...ताही समय, । ९. (प्र० मु०) (बँ०) अत्यंत...। १०. (सं० प्र०) (प्र०) (प्र० मु०) अत्यंत...। (बँ०)...अर्थांतरतिरस्कृति । (प्र०) . । तिरस्कृति...। ११. (बँ०) समय लच्छन...।

वि०—“जैसा पूर्व में कहा गया है कि अर्थांतर या अत्यंत तिरस्कृति ध्वनि—जहाँ वाच्यार्थ का सब प्रकार से तिरस्कार किया जाय वहाँ होती है और इसके ‘पद-गत तथा ‘वाक्य-ग’ दो भेद कहे जाते हैं। यह ध्वनि प्रयोजनवती लक्ष्ण-लक्षणा के साथ रहती है, क्योंकि वहाँ वाच्यार्थ का अत्यंत तिरस्कार किया जाता है, यहाँ भी लक्ष्ण-लक्षणा की भाँति वाच्य के अर्थ को एकदम त्याग दिया जाता है। साथ ही यह ध्वनि प्रायः वक्रोक्ति और आक्षेप-अलंकारों में तथा खंडिता और अन्य-संभोग दुःखिता, जिसे अन्य सुरति दुःखिता नायिका भी कहा जाता है, के कथनों—वननों में होती है, देखिये दासजी का निम्न उदाहरण।”

अस्य उदाहरन जथा--

सखि,^१ हों लई न सोच तब, तू किय मो सब काँम ।

अब आँनी^२ चित सुचितई, सुख पइहों^३ परनाँम ॥

अस्य तिलक

इहाँ ये ‘अन्यसंभोग दुःखिता नायिका’ की उक्ति सखी वा दूती के प्रति है, ताते उलटी सब बातें नायिका कहति है ।

वि० “अन्य संभोग दुःखिता नायिका—अन्य स्त्री (सखी वा दूती) के शरीर पर निज पति के रति-चिह्नों को देखकर दुःखित होने वाली जिसका पूर्व में उल्लेख हो चुका है कहते हैं, अतएव उक्त नायिका का उदाहरण “ईश्वर” कवि का रचा विशेष सुंदर है, यथा—

नाँतौ नभचर कौ बिचारु चारु चंद कुजै,

संजुत बिनोद मोद गोद बैठार्यौ है ।

संभु-सीस भूपैन बिराजै संभु-सीस-ही पै,

सोतौ सब जोग है सु लोगँन बिचार्यौ है ॥

‘ईसुर’ कहत पै अजोग इतनों-हीं तिय,

भौर एक कठिन कठोर प्रेन धार्यौ है ।

मथुप कहाइ कुल-कालिमा लगाइ हाइ,

बारिज-बिहाइ आइ बिद्रुँम-बिदार्यौ है ॥”

—श्रु० सं० (सरदार कवि)

पा०— १. (प्र०) (प्र० सु०) सखि, तू नैंक न सकुचि मन, किए सबै मम...। (बें०) सखी, हाल इन सोच तुव, । २. (बें०) आँनहि ...। (प्र०) आँने ...। ३. (प्र० सु०) (बें०) पै है...।

विवच्छित्तवाच्य धुनि भेद जथा--

कहैं^१ विवच्छित्तवाच्य धुँनि, चाँह करें कहि^२ जाइ^३ ।

‘असंलच्छक्रं’ ‘लच्छक्रं’ होत भेद द्वै ताइ^४ ॥

वि० - “जहाँ वाच्यार्थ ज्यों का त्यों रहते हुए भी दूसरा व्यंग्यार्थ निकले वहाँ --विवक्षितवाच्य धुनि होती है और इसके--“असंलक्ष्यक्रम” और संलक्ष्य-क्रमव्यंग्य दो भेद कहे जाते हैं ।”

अथ प्रथम असंलक्ष्यक्रम व्यंग जथा—

असंलच्छक्रं व्यंग जहँ, रस-पूरनता चारु ।

लखि न परै क्रम जहँ द्वै, सज्जन-चित्त-उदारु ॥

वि०—“जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य क्रम भली-भाँति प्रतीत न हो, वहाँ—“असंलक्ष्यक्रमव्यंग” कहलाता है और यह पूर्व कथित—

“रसभाव तथा भासतत्प्रशान्त्यादिक्रमः ।

ध्वनेराध्मांगिभावेन भासमाने व्यवस्थित ॥”

—ध्व० लो० पृ० ३, ३

अर्थात् - रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावमंथि और भावशबलता—आदि आठ प्रकार का होता है ।”

अस्तु...

रस-भावन के भेद की^५ गननाँ गनीं न जाइ ;

एक नाम सब कौ कह्यौ, रस^६ व्यंग ठैहराइ ॥

रस व्यंग उदाहरन ‘सवैया’ जथा—

मिस सोइबौ लाल कौ मौन सही, सु^७ हरें उठि मौन महा धरि कैं ।
पट-टारि लजीली^८ निहारि रही, मुख की रुचि कों रुचिकों^९ करि कैं ॥

पा०—१ (प्र०) (प्र० मु०) बहै...। (वै०) कहा विवांछित वाच्य...। २. (प्र०) (वै०) कावे...। (स० प्र०) वौ अविवांछित वाच्य धुनि...। ३. (भा० जी०) (वै०) (प्र० मु०) जाहि ४. (भा० जी०) (वै०) (प्र० मु०) ताहि । ५. (प्र०-मु०) कौ । ६. (स० प्र०) रस व्यंगी...। ७. (वै०) हरि-ही उठि...। (स० प्र०) (र० सा०), सु हरें-ही उठे मौन...। (प्र०-३), हरुपे उठी । ८ (प्र०) (वै०) (भा० जी०) रसीली ...। ९. (प्र०-३) सों ...।

पुलकावलि पेखि कपोलैन पै, खिसियाइ,^१ लजाइ मुरी अरि^२ कें ।
लखि प्यारे^३ बिनोद सों गोद-गह्यौ, सु^४ लह्यौ सुख^५ मोद हियौ^६ भरि कें ॥*

वि०—“दासजी का यह छंद ‘अमरुक’ कृत संस्कृत की निम्न-लिखित
सुमधुर सूक्ति का अनुवाद है, यथा—

“शून्यंवास गृहं विलोक्य शयनादुरथाय किञ्चिच्छनैः—
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युमुखम् ।
विश्रब्धं परिचुंब्य जात पुलकामालोक्य गंडस्थलीम्—
लज्जा नम्रमुखी प्रियेण हसता बालाचिरं चुंबिता ॥”

—अमरुशतक,

पर इन दोनों (दासजी की और अमरुक की) सूक्तियों से विहारीलाल
का यह दोहा बहुत ऊपर चढ़ गया है, जैसे—

“में मिसहा सोयौ समझि, मुख-चूम्बों ढिग जाइ ।
हँस्यौ, खिसाँनी, गर-गह्यौ, रही गरें लपटाइ ॥”

अथ असंलच्छक्रम व्यंग ‘दोहा’ जथा—

होत लच्छक्रम व्यंग में, तीन-भाँति की व्यक्ति ।

शब्द-अर्थ की शक्ति है,^७ औ सबदारथ-शक्ति ॥

वि०—“जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य-क्रम भले प्रकार—सुंदर
रीति से प्रतीत हो वहाँ ‘संलच्छक्रम व्यंग्य’ कहा जाता है और इसके—शब्द-
शक्ति से, अर्थ शक्ति से और शब्द-अर्थ-शक्ति से तीन भेद कहे गये हैं ।
ध्वन्यालोककार दो-ही भेद मानते हैं, यथा—

“क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽनुस्वानसंनिभः ।

शब्दार्थ शक्ति मूलत्वात्सोऽपि द्वैधा व्यवस्थितः ॥

—ध्व० पृ० २०, २० ।

इन्हें शब्दशक्ति-उद्भव अनुरण-ध्वनि, अर्थ-शक्ति-उद्भव अनुरण-ध्वनि
और शब्द तथा अर्थ उभय शक्ति उद्भव अनुरण-ध्वनि भी कहते हैं । शब्द-
शक्ति मूल ध्वनि भां वस्तु और अलंकार संयुक्त दो भेदों में विभक्त मानी
जातो है ।”

पा०—१. (प्र०-३) खिसियाई, लजाई .. । २. (२० सा०) लरि... । ३. (प्र०-३)
प्यारौ .. । ४. (भा० जी०) (वै०) (प्र० मु०) उँमह्यौ । ५. (२०—सा०) मुद .. ।
६. (२० सा०) हिऐ... । ७. (प्र०-३) ...औ, पुनि...

* २० सा० (दास) पृ० २४ ।

सब्द-सक्ति धुनि लच्छिन 'दोहा' जथा—

अनेकार्थ मैं सबद सों, सब्द-सक्ति पैहचाँनि ।
अभिधामूलक व्यंग जिहिं,^१ पैहलें कह्यौ बखाँनि ॥

याके भेद 'दोहा' जथा—

कहूँ बस्तुते बस्तु की, व्यंग होत कबिराज ।
कहूँ अलंकृत व्यंग है,^२ सब्द-सक्ति द्वै साज ॥

बस्तु ते बस्तु व्यंग लच्छिन 'दोहा' जथा—

सूधी कैहनाबत जहाँ अलंकार ठैहरै न ।

ता-हि बस्तु^३संजोग है, व्यंग होइ कै बंन ॥ *

वि०—“बस्तु उस अर्थ को कहते हैं जिसमें अलंकार न हो, अर्थात् जहाँ ऐसा व्यंग्यार्थ हो कि जिसमें कोई अलंकार न ठहरे ।”

अस्य उदाहरन 'दोहा' जथा—

लाल-चुरी तेरें अली^४, लागत निपट मलीन ।

हरियारी करि देंउगी, हों तो हुकूम-अधीन ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ एक अर्थ साधारन है, दूसरे अर्थ में 'दूतत्त्व' है, सो बस्तु ते बस्तु व्यंग है ।

बस्तु ते अलंकार व्यंग उदाहरन 'दोहा' जथा—

फैलि चली^५अगनित घटा, सुँनत सिंघ-घैहराँन ।

परै^६ भौर चहुँ ओर ते, होत तरुँन की हाँन ॥

अस्य तिलक

इहाँ घटा जो है गज-सँमूह की सो सिंघ की गरज ते भाग चली, ताते वृद्धन की हाँन हूँबौ उचित ही है सो 'समालंकार' व्यंग है ।

पा०—१. (भा० जी) (वें०) जहँ... । २. (वें०) ते ... । ३. (प्र०) (सं० प्र०) (सं० प्र०) (वें०) ताहि वस्तु संज्ञा कहै । ४. (भा० जी०) (प्र०) तेरें लली ... । (वें०) तेरी अली, । ५. (भा० जी० (वें०) चलयौ... । (वें०) परौ ... ।

* व्यं० मं० (ला० भ०) पृ० ३२ ।

पुनः उदाहरन 'कवित्त' जथा—

जाँनि कें सहेट गई कुंजँन-मिलँन^१ उन्हें,^२
 जाँन्यों ना सहेट के^३ बदैया ब्रजराज कों^४ ।
 सूनों^५ लखि सदैँन सिंगारौ^६ ज्यों अँगारौ भयौ,
 सुख देंनवारौ भयौ दुखद समाज कों ॥
 'दास' सुखकंद मंद सीतल पवन^७ भयौ,
 तैन ते जलँन उत कबँन इलाज कों ।
 बाल के बिलापँन बियोगानल^८ तापँन कों
 लाज भई मुकत, मुकत, भई लाजकों ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ सब्द-सक्ति ते अन्योक्ति-उपमालंकार करिकें अन्योन्यालंकार^९ व्यंग सों जथासंख्या है ।

वि०—दासजी की मान्यतानुसार यह छंद विप्रलब्धा नायिका का भी उदाहरण है । विप्रलब्धा-नायिका, केलि-स्थान में प्रिय को न पाकर व्याकुल होनेवाली को कहते हैं, यथा—

लखि सूनों सकेत जो पिय-बिन अति अकुलाइ ।
 ताहि 'विप्रलब्धा' कहैं, सुकबिन के सँमुदाइ ॥

— स० मं० (अजान) पृ० ६६

और दासजी कहते हैं—

“मिलन-आस दै पति छला औरहिं रति है जाइ ।

विप्रलब्ध सो दुखितता, पर-संभोग सुडाइ ॥

किंतु सर्व-संमत-मत 'अजान' वाला ही है । अतएव ब्रजभाषा-नायिका-भेद के आचार्यों ने इसे— मुग्धा, प्रौढा, परकीया और गणिका में भी माना है । इन आचार्यों के अनुसार यह छंद 'मुग्धा-विप्रलब्धा' नायिका का उदाहरण है ।

पा०—१. (प्र०) मिलै के लिपे... । २. (भा० जी०) (वें०) तुम्हें । ३. (वें०) कौ... । ४. (श्र० नि०) से । ५. प्र०) सु ने... । ६. (वें०) सिंगार ज्यों अँगार भयौ । (श्र० नि०) सिंगार ज्यों अँगार भए, सुख देंन वारे भए दुखद समाज से । ७. [श्र० नि०]... पवन भए, तन ते सु ज्वाल उपजावन इलाज से । ८. [वें०] बियोग लतापँन कों... । [श्र० नि०]... बियोग-तैन-तापन, सो लाज भई मुकत, मुकत भए लाज से । ९. [वें०] अन्योन्यालंकार, काव्यलिङ्गालंकार, यथासंख्यालंकार ।

* श्र० नि० [दास] पृ० ६५१, ६३ । संमेलन की प्रति में यह ब्रंढ नहीं है ।

विविध संकलन कर्ताओं ने इसे वहीं संकलित किया है। दासजी ने इसे स्वतंत्र भेद माना है। आप मुग्ध दि विप्रलब्धा के फेर में नहीं।

मुग्धा विप्रलब्धा का उदाहरण 'कवि सोमनाथ' जी ने बड़ा संमोहक प्रस्तुत किया है, यथा—

“खेलिहैं लाल के सग चलौ, कहिकें उर में मति और-हीं ठाँनी ।
 यों बेंहकाइ कें नेह-बढ़ाइ, मयंक-मुखी रति-मंदिर आँनी ॥”
 ह्माँ न लखे, ससिनाथ' सुजाँन, कळूक नहां ठिठकी ठकुराँनी ।
 है न सयाँन रतीभर-ऊ, अलबेली तऊ हिय में अकुलाँनी ॥”

—रसपीथूप,

✱

“मिल्यौ न कंत सहेटवा, लखेउ डराइ ।
 धँनियाँ, कँमल-बदनियाँ, गइ कुम्हिलाइ ॥”

—रहीम,

अस्तु, पं० महावीर प्रसाद मालवीय ने स्व-संपादित प्रति में यहाँ टिप्पणी करते हुए 'शब्द-शक्ति' से अन्योन्य उपमालंकार-द्वारा अन्योन्य, काव्य और क्रमालंकार व्यंग्य 'माना है।’

अथ अर्थ-सक्ति लच्छिन 'दोहा' जथा —

अनेकार्थ मइ सब्द-तजि, और सब्द जे 'दास' ।
 'अर्थ-सक्ति' सब कोइ^२ कहै, धुँनिमइ^३ बुद्धि-बिलास ॥

वि०—“अर्थ शक्ति से उत्पन्न अनुराग ध्वनि उसे कहते हैं, जहाँ शब्द के परिवर्तन होने पर भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो और इसके कोई दो भेद— 'स्वतःसंभवी' और 'कवि प्रौढोक्ति' तथा कोई तीन भेद—'स्वतःसंभवी, 'कवि-प्रौढोक्ति मात्र सिद्ध' और 'कवि निबद्ध पात्र की प्रौढोक्ति मात्र सिद्ध' मानते हैं। स्वतःसंभवी के भी—वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलंकार, अलंकार से वस्तु और अलंकार से अलंकार-व्यंग्य रूप चार भेद साहित्य सृजेताओं ने माने हैं।

कवियों ने कुछ वस्तुओं के 'वर्ण' और 'गुण' भी निश्चित कर रखे हैं, जैसे—“कीर्ति व यश का वर्ण उज्जल, पाप का काला, खुले बाल अंधकारमय, शांत और हास्य रस का वर्ण सफेद, शृंगार रस का काला, रौद्र का लाल,

पा०—१. [सं० प्र०] जो .. । २. [भा० जी०] [वे०] [प्र० मु०] को०... ।

३. [भा० जी०] [प्र०-मु०] ध्वनि में..... ।

भयानक का पीला, वीर का अरुण-इत्यादि, जैसा कि दासजी ने नीचे के दोहों में कहा है। अस्तु जब इन्हीं के सहारे कोई व्यंग्य निकले तब उसे 'कवि-प्रौढोक्ति-द्वारा व्यंजित ध्वनि' कहते हैं और यह भी जैसा कि दासजी ने अन्य साहित्य सृजेताओं के अनुसार जो ऊपर लिखे जा चुके हैं—वस्तु से वस्तु इत्यादि.....भेद आगे के दोहों में सोदाहरण प्रस्तुत किये हैं। पोथूखर्षी श्री जयदेव ने इन वस्तु से वस्तु-अलंकारादि चारों व्यंग्यों के "कवि-निर्मित, प्रौढ-निर्मित" और स्वसिद्ध रूप तीन-तीन भेद और माने हैं, यथा—

“चत्वारो वस्त्वलंकारमलंकारस्तु वस्तु यत् ।

अलंकारमलंकारो वस्तु वस्तु व्यनक्ति तत् ॥

वक्तुः कविनिबद्धस्य कवेर्वा प्रौढनिर्मितः ।

स्वसिद्धो वा व्यंजकाऽर्थश्चत्वारस्त्रिगुणास्ततः ॥

—चंद्रालोक ७, ७-८

अतः

बाचक-लच्छक^१ वस्तु कों, 'जग-कैहनावति जाँन ।

मुतःसंभवो कहत हैं, कवि पंडित मुख-दाँन ॥

×

जग-कैहनावति ते कछू, कवि-कैहनावति भिन्न ।

ताहि^२ कहैं प्रौढोक्ति सब, जिनकी बुद्धि अखिन्न ॥

×

उज्जलताई कीर्ति की, सेत कहत^३ संसार ।

तँम छायाँ जग में^४ कहैं, खुले तरुनि के बार ॥

×

कहत^५ हास औ सांतरस सेत वस्तु से^६ सेत ।

स्याँम^७ सिँगार औ पोत भय, अरुन^८ रौद्र गँन लेत ॥

×

पा०—१. (सं० प्र०) लच्छन...। २. (सं० प्र०) ताहि प्रौढोक्ती कहैं, सदाँ...। (वें०) (प्र०-मु०) तिहि प्रौढोक्ति कहैं सदाँ । ३. (सं० प्र०) (वें०) (प्र० मु०) कहैं...। ४. (वें०) मोँ...। ५. (प्र०) सं०) (वें०) (प्र० मु०) कहैं हास्यरस, सांतरस, । ६. (भा० जी०) ते.. । ७. (वें०) (प्र० मु०) स्याँम-सिँगारै प्रीति, भय । ८. (वें०) अरुन रद्र गेनि.. ।

बरनत^१ अरुन जु बीर कों, रबि सौ तप्त प्रताप ।
सकल तेज-मइ^२ ते अधिक, कहैं बिरह-संताप ॥

×

साँची बातें जुक्त-बल, मूँठी कहत बनाइ ।
मूँठी-बातें कों प्रघट, साँच देत ठैहराइ ॥

×

कहै-कहावै जड़न सों, बातें^३ बिबिध प्रकार ।
उपमाँ औ^४ उपमेइ कों, देंइ सकल अधिकार ॥

×

यो-ई औरों जाँनिऐं, कवि-प्रौढोक्ति बिचार ।
सिगरी रीति गिनावत^५-हिं, बाढै ग्रंथ अपार ॥

सोरठा जथा—

बस्तु व्यंग कहूँ चारु, सुतःसंभवी वस्तु ते ।
वस्तु-हि तेऽलंकार, अलंकार ते वस्तु कहि^६ ॥*

×

कहूँ अलंकृत बात, अलंकार व्यंजित करै ।
यो-ई पुनि गँन जात- चार भेद प्रौढोक्ति में ॥

सुतःसंभवी वस्तु ते वस्तु व्यंग 'दोहा' जथा—

सुँनि-सुँनि^७ पीतम आलसी, धूर्त, सूँम, धँनवंत ।
नबल बाल हिय में हरख, बाढत जात अनंत ॥†

अस्य तिलक

इहाँ--नायक आलसी है तौ कभु देस-बिदेस जाइगौ नहीं, धँनवंत है औ
सूँम हूँ है तौ दरिद कौ डरु नाहीं, धूर्त है तौ अति कामी हूँ होइगौ ए सब
नायिका की चित्त-चाँहीं बाते हैं, ये वस्तु ते वस्तु व्यंग है ।

पा०—१. (प्र०) (प्र० मु०) बरनत अरुन अवीर सौ, । (स० प्र०) बरनत करुन अवीर
सौ । (वें०) करुना अरुन अवीर सौ । २. (वें०) सकल तेज मते अधिक, । ३. (वें०)
जुक्ति... । ४. (वें०) में.. । ५. (वें०) गिनावते.. । ६. (वें०) कहैं । ७. (वें०) सुति... ।

सुतःसंभवी वस्तु ते अलंकार व्यंग जथा—

सखि, तेरौ प्यरौ भलौ, दिँन-न्यारौ ह्वै जात ।

मोते नहिँ बलबीर कौ, पल-बिलगॉन^१ सुहात ॥*

अस्य तिलक

इहाँ अपनी बड़ी बातें 'स्वाधीनपतिका नायिका' जनावति है, सो वस्तु ते व्यतिरेकालंकार (जहाँ उपमेय में उपमान से कुछ अधिकता बतलायी जाय) व्यंग है ।

वि०—“अर्थात् यहाँ नायिका-द्वारा अपने को स्वाधीन-पतिका (जिसका पति सदा आधीन रहे), का यह सूचित करना—दूसरी के पति से अपने पति की अधिक आधीनता बतलाना व्यतिरेकालंकार है, व्यंग्य है—ध्वनि है, जिससे नायिका (कथन करने वाली) यह जतलाती है कि मैं तुझ (जिसके प्रति यह उक्ति कही गयी है) से अधिक भाग्यवान् हूँ अथवा मेरा पति तेरे पति से कहीं अधिक प्रेमी है । स्वाधीनपतिका का किसी कवि का यह छंद बड़ा सुंदर है, यथा—

“लै परजंक धरै भरि अंक, निसंक है स्वाबत प्रेम-उपायँन ।

चोंकि परे ते परै उर लागि, हिये मों हियौ अँनुराग सुभायँन ॥

लाजँन हों लरजों गैहरी, बरजों गैहरी कैहरी कहि दायँन ।

जागति जाँनि कहाँनी कहै अरु सोबति जाँनि पलोटत पाँयन ॥”

सुतःसंभवी अलंकार ते वस्तु व्यंग 'कबित्त' जथा—

गिलि गए सेदँन, जहाँ-ई-तहाँ छिलि गए,

मिलि गए चंदँन भिरोहें^२ इहि भाइ सों ।

गाढ़े ह्वै रहे-ई^३ सहि सनमुख तुकाँन-लीक,

लोहित लिलार लागी छीटें^४ अरि घाइ सों ॥

श्री मुख-प्रकास तँन 'दास' रीति साधुँन की,

अज-हूँ लों लोचन तँमोले रिसताइ सों ।

सोहैं सब^५ अंग सुख-पलक सुहाए हरि,

आए जीति सँमर सँमर महाराइ सों ॥

पा०—१. (वे०) (भा० जी०) (प्र० मु०) पल बिलगात... २. (भा० जी०) (वे०)... भिरे हैं...। (प्र०) (प्र मु०) भरे हैं, ...भाइ...। ३. (प्र०) हैं, सहे सनमुख काँम लीक, । ४. (भा० जी०) (वे०) (प्र० मु०) छीट...। ५. (भा० जी०) सरबांग । (वे०) (प्र० मु०) सरबांग ।

* व्यं० म० (ला० म० दी०) पृ० ३४-३५ ।

अस्य तिलक

इहाँ (खंडिता) नायिका रूपक औ उत्प्रेच्छा अलंकार करि कें नायक कौ (पर-रति-रूप) अपराध जाहर करति है, सो यै (अलंकार ते) वस्तु व्यंग है ।

वि०—ऊपर का छंद खंडिता नायिका की उक्ति है । खंडिता नायिका (रात्रि में अन्यत्र किसी दूसरी नायिका के पास रम कर पति के प्रातःकाल आने पर, उसके तन पर उस स्त्री के संभोग-चिह्न देख ईर्ष्या वा मान करने वाली) यथा —

“अनंत रमे-रति-चिह्न लखि, पीतम के सुभ गात ।

दुखित होइ सो ‘खंडिता’, वरनत मति--अवदात ॥

—म० मं० पृ० ६२,

खंडिता नायिका के उदाहरणों में विहागीलाल का यह नीचे लिखा दोहा बहुत सुंदर है, यथा —

“प्रांत-प्रिया हिय में बसै, नख-रेखा-ससि-भाल ।

भर्यौ दिखायौ आँनि यै हरि-हर-रूप रसाल ॥”

—सतसई,

सुतः संभवी अलंकार ते अलंकार व्यंग जथा—

पातक तजि सब जगत कौ, मो में^१ रह्यौ सँमाइ ।

राम, तिहारे नाँम कौ, इहाँ न कछु^२ बसयाइ ॥*

अस्य तिलक

इहाँ (काहू भक्त कौ कथन है कि) मोही में सब जग कौ पातक बजाइ — विद्वारौ-पीट कें रहि रह्यौ है, यै परिसंख्यालंकार [जब किसी वस्तु को अन्य स्थानों से हटाकर किसी एक स्थान पर नियुक्त की जाय] है अरु तिहारौ नाँम समरथ है पै इहाँ वाकौ कछु नाहिँ बसात यै बिसेसोक्ति [जब कारण उपस्थिति रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति न हो] अलंकार व्यंग है अरु सब ते में ही बड़ौ पापी हों यै व्यतिरेकालंकार है, इन सब ते सुतःसंभवी अलंकार ते अलंकार व्यंग है ।

वि०—“यहाँ दासजी ने ‘परिसंख्यालंकार के द्वारा यह अर्थ निकाला है कि मैं बहुत बड़ा पापी हूँ और व्यंग्य यह कि आपका नाम मेरे पापों को दूर न कर सकेगा, यह विशेषोक्ति रूप अलंकार से अलंकार व्यंग्य है ।”

पा०—१. (स० प्र०) सों...। २. (भा० जी०) (वै०) (प्र० जु०) कछु बसाइ ।

*, व्य० मं० (ला० म० दी०), पृ० ३७ ।

प्रौढोक्ति-वस्तु ते वस्तु व्यंग्य जथा—

‘दास’ के ईस जबै^१ जस राबरौ, गाबती देव-बधू मृदु-तॉनन ।
जातो कलंक मयंक कौ मूँद^२, औ घॉम ते काहू सताबतो भॉन न ॥
सीरौ लगै सुँनि चोंकि चितै दिग-दंतिक^३ कै तिरछौ दृग-आँनन ।
सेत सरोज लगै कै सुभाइ^४, धुँमाइ कें सूँड^५ मलै दुहुँ^६ काँनन ॥*

अस्य तिलक

इहाँ (कवि कौ कथन है कि) तिहारी कीरति सरग औ दिगंत हूँ में पोंहची
सो सीतल-उज्जल है, यै कवि प्रौढोक्ति वस्तु ते वस्तु व्यंग्य है ।

वि०—यहाँ दासजी ने प्रथम ‘कवि-प्रौढोक्ति’-सिद्धवस्तु यह बतलाई कि
यश श्वेत है—शीतल है और स्वर्ग तथा दिगंत तक फैला हुआ है, उस यश को
देख-मुनकर दिग्गजों (हाथियों) को ईर्ष्या होती है कि हमारे दाँत सफेद होते
हुए भी यश जैसे श्वेत नहीं है, यह द्वितीय वस्तु व्यंग्य हुई, इसी से वे सूँड
सुमा-सुमाकर अपने कानों को मला करते हैं—इत्यादि.....।”

पुनः उदाहरन ‘दोहा’ जथा—

करत प्रदच्छँन बाड़बहि, आवत दच्छिन्न-पौन ।
बिरहिन-बपु बारति बरहि, बरजँनवारौ कौन ॥†

अस्य तिलक

इहाँ तिहारे बिरह मरति है, यै वस्तु ते वस्तु व्यंग्य है ।

वि०—“अर्थात् बिरह-संताप से व्यथित वाला बिरहणी को वसंत की,
दक्षिण की शीतल पवन भी बड़वाग्नि को छूकर आती हुई (सी अति तप्त)
जान पड़ती है, यह वस्तु से वस्तु व्यंग्य है ।”

वसंत-विभूषित पवन पर कवि सैयद गुलामनवी ‘रसलौन’ की दो सूक्तियाँ
भी देखिये, किम नाज से आप कहते हैं—

“सरवर-माँहि अन्हाइ अरु बाग-बाग बिरमाइ ।
मद मंद आवत पबँन, राजहंस के भाइ ॥

पा०—१. (वें०) जौ... २. (प्र०-३) मुँदि... ३. (प्र०)...दति... (व्य० मं०)...
दति तकै तिरछे... (वें०)...दतिक कै तिरछे... ४. (वें०) सुहाइ... (व्य० मं०) सेत सरोज
लै-लै कै सुभाइ ५. (वें०) सुँड... ६. (प्र०-३) दोउ...

*, व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ३६ । †, व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ४१ ।

या मधु-रितु में कौन कें, बढत न मोद अनंत ।
कोकिल गाबति हैं कुहुकि, मधुष गुंजरत तंत ॥”

—२० प्र० (रस०) पृ० ८४,

*

पीते हुए भिस्कते हो, फस्ले-बहार में ।
तुम भी ‘निसार’ आदमी हो किस खयाल के ॥

कवि-प्रौढोक्ति वस्तु ते अलंकार व्यंग्य जथा—

निज गुमाँन दै माँन कों, धीरज करि’ हिय-थाप ।
सुतौ स्याँम-छवि देखत-हिं’, पैहलें भाज्यौ’ आप ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ नायिका कौ बिनाँ मनाएँ-ही माँन छूझ्यौ यै ‘विभावना’ अलंकार वस्तु ते अलंकार व्यंग्य भयौ ।

वि०—“नायिका-द्वारा मान करने पर नायक नायिका को मनाने जाता है, यह कवि-प्रौढोक्ति है । अतएव नायक के नायिका को मनाने जाने पर नायक के बिना मनाए-हो—केवल नायक की छवि देखकर ही, नायिका का मान छूट गया यह विभावना तथा अतिशयोक्ति अलंकार की ध्वनि है—व्यंग्य है । विभावना—

“भयौ काज विन-हेतु-हीं, बरनत हैं जिहि ठौर ।

तहि ‘विभावना’ कहत हैं, ‘भूषन’ कवि सिरमौर ॥

—भूषण,

कुछ इसी भाव से मिलती जुलती ब्रजभाषा के अर्वाचीन श्रेष्ठ कवि स्व० रत्नाकरजी की एक सुंदर सूक्ति देखिये, यथा--

“न चली कछु लालची लोचँन सां, हठ-मोचँन कै चँहिनोई’ परयौ ।

‘रतनाकर’ बक-बिलोकँद-ब्रान, सहाए बिनाँ सहिनो-ई’ परयौ ॥

उत ते वे गात हुबाइ चले, तब तौ प्रँन कों ढहिनो-ई’ परयौ ।

भरि आहि, कराहि सुँनों जू-सुँनों, नँदलाल सां यों कहिनो-ई’ परयौ ॥”

—रत्नाकर-संग्रह,

पा०—१. [भा० जी०]...कीय-हि जथापि । [वे०] निज गुन-माँन समान हो, धीरज... । [प्र०-३] धीरज कर... । २. [भा० जी०] देखिकें । [वे०] [प्र० मु०]... देखितहि । ३. [भा० जी०] [वे०] [प्र० मु०] भाज्यौ... ।

* व्यं० मं० [ला० मं० दी०] पृ० ४१ ।

“दिल को खुद छेदे जो वह तिरछी नजर तो क्या करूँ ।
चैन से रहने न दे, दर्दे-जिगर तो क्या करूँ ॥”
—कोई शायर,

पुनः ‘दोहा’ जथा—

द्वार-द्वार देखति खरी, गैल छैल नन्द-नन्द ।
सकुचि बंचि दृग-पंच की, कसत कंचुकी-बन्द ॥

अस्य तिलक

इहाँ नायिका के हरख--प्रफुल्लता के कारन कंचुकी के बन्द ढीले परे तिन्हें
संकि करि छिपावति है, ये व्याजोक्ति अलंकार व्यंग है ।

वि०—“जहाँ अपनी गुप्त बात खुल जाने के भय से कपट-द्वारा प्रस्तुत रूप
पर कोई अन्य कल्पना गड़ ली जाय, वहाँ ‘व्याजोक्ति’ होती है ।”

प्रौढोक्ति करि अलंकार ते वस्तु व्यंग जथा—

कहा ललाई लै रहीं, अँखियाँ बे मरजाद ।
लाल, भाल-नख-चंद कछु*, दीन्हों इन्हें* प्रसाद ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ रूपकालंकार ते तुम पर-खी कें रहे हौ, ये अलंकार ते वस्तु व्यंग है ।

वि०—“नख-क्षत को चंद्र मानना’ कवि प्रौढोक्ति है, साथ-ही नख-चंद्र
में रूपकालंकार भी है । इस रूपक से दासजी ने नायक की सदोषता नायक-
नायिका के प्रश्नोत्तर रूप में वस्तु व्यंग्य का सुंदर वर्णन किया है । इस प्रकार का
प्रश्नोत्तर कविवर विहारीलाल का तो और भी सुंदर है—वर्णनातीत है, यथा—

“बाल, कहा लाली भई, लोयँन-कोयँन माँहि ।

लाल, तिहारे दगँन की, परी दगँन में छाँह ॥”

—सतसई,

इस पर टीका-टिप्पणी व्यर्थ है, प्रसिद्ध साहित्य-समालोचक स्वर्गाय पं०
पद्मसिंहजी शर्मा के शब्दों में—“बाल-लाल की जोड़ी रूप संबोधनों पर लालों
(ऐसे दोहों) की असंख्य जोड़ियाँ निछावर हैं ।

पा०—१. [प्र०] [सं० प्र०] [वे०] [प्र० मु०] दुति । २. [प्र० मु०] ये
प्रसाद ।

* व्यं० मं० [ला० भ० दी०] पृ० ४२ ।

कुछ ऐसी-ही मुहजोर-आजमाई अन्य कवियों की भी मिलती हैं, यथा—

“भोर-हीं भौन में भाँवतौ आबत, प्यारी चितै कें इतै दग-फेरें ।
बाल-बिलोकि कें लाल कइौ, कइौ काहे ते लाल बिलोचन तेरे ॥
बोलि उठी सुँनिकें तिय बोल, जु ‘देव’ कइौ यों कोप-करेरे ।
काहू के रंग रँगै दग रावरे, रावरे रग रँगै दग मेरे ॥”

वि० - विविध (संग्रह) पुस्तकों में प्रायः इस तीसरे चरण का पाठ—
‘बोलि उठी सुँनिकें तिय बोल सु ‘देव’ कहै अति कोप करेरे’ लिखा मिलता है, जो उपयुक्त नहीं, क्योंकि यह खंडिता वा धीरा की उक्ति नायक प्रति है, कवि-उक्ति नहीं। साथ ही ‘अति’ और ‘करेरे’ भी समानार्थी हैं। इधर एक प्राचीन हस्त-लिखित संग्रह मिला, जिसमें ऊपर लिखा पाठ है, जो अर्थ की दृष्टि से और भाव की दृष्टि से अनमोल है। अथवा—

मेरे नैन अँजँन, तिहारे अधानँ पर सोभा-
देखि गुँमर बढायौ सब मखियाँ !
मेरे अधरँन पर ललाई पीक लीक तैसँ,
रावरे कपोल गोल नोंखी लीक लखियाँ ॥
कबि ‘हरिजँन’ मेरे उर गुन-माल तेरें-
बिन-गुन माल-रेख देखि-देखि भखियाँ ।
देखौ लै मुकुर दुति कौन की अधिक लाल,
मेरी लाल चूँनरी, तिहारी लाल अँखियाँ ॥”

*

“खुमार-आलूदा आँखें, बल जबीं पर, दर्द है सर में ।
रहे तुम रात-भर बेचैन किस कंबख्त के घर में ॥”

—दाग

प्रौढोक्ति करि अलंकार ते अलंकार व्यंग जथा—

मरौ हियौ पखौँन है, तिय-दग तीछँन बाँन ।
फिरि-फिरि लागत-ही रहैं, उठैं बियोग-कृसाँन ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ रूपकालंकार ते सँमालंकार व्यंग है, ता सों अलंकार ते अलंकार व्यंग ।

वि० - “दासजी के इस दोहे में ‘तिथ-दृग’ कवि प्रौढोक्ति रूप ‘वाण’ है, हृदय पाषाण भी वही कवि प्रौढोक्ति है और ये दोनों रूपक-अलंकार से विभूषित हैं। अतएव ‘हिय-पाषाण’ और ‘दृग-वाण’ की टक्कर से अग्नि का पैदा हो जाना उचित ही है, इसलिये यहाँ रूपकालंकार से सम-अलंकार व्यंग्य है। सम-अलंकार—

“जहाँ दुहुँन अँनुरूप कौ, करिये उचित बखान ।

‘सँम’ भूँन ता सों कहत, भूँन सकत जहाँन ॥”

पुनः उदाहरन ‘सवैया’ जथा—

करै ‘दासै’ दया वौ बाँनी सदाँ, कवि-आँनन-कौल जु बैठी लसै ।
मैहमाँ जग-छाई^१ नवों रस की, तँन-पोपक नाँम धरें छै रसै ॥
जग जाके प्रसाद-लता पर सैल-ससो पर पंकज-पत्र बसै^२ ।
करि भाँति अनेकँन यों रचनाँ, जो बिरंचहु की रचनाँ कों हँसै ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ हँ रूपक-रूपकातिसयोक्ति करि कें व्यतिरेक-अलंकार व्यंग्य है ।

वि०—‘यहाँ भी दासजी ने कवि के मुख्य-कमल को रूपकालंकार से भूषित कर ‘कवि-प्रौढोक्ति’ का ही वर्णन किया है। साथ-ही तीसरे चरण में ‘रूपका-तिशयोक्ति’ (जिसमें उपमेय के बिना केवल उपमान का उपमेय से अभेद बतलाया जाय) का भी वर्णन है। इन दोनों रूपक और रूपकातिशयोक्ति के द्वारा यहाँ ‘व्यतिरेक-अलंकार’ व्यंग्य है, क्योंकि ‘ब्रह्मा-रचित सृष्टि से कवि-वाणी-द्वारा रची हुई सृष्टि (कविता) कहीं बढ़कर है। व्यतिरेक—

“व्यतिरेक जु उपमाँन ते, उपमेयाधिक देखि ।

मुख हँ अंबुज सौ सखी, गीठी बात बिसेखि ॥”

— भा० भू० (जसवंतसिंह) पृष्ठ ४२

पुनः सवैया जथा—

ऊँचे अवास-बिलास करै, असुवाँन कौ सागर कै चहुँ फेरयौ^३ ।
ताहू ते^४ दूरि-लों अंग की ज्वाल, कराल रहै निसि-बासर घेरयौ^५ ॥

पा०—१. (प्र०-३) छाई... । २. (प्र०) (वे०) लसै । ३. (प्र०) (स० प्र०) फेरे । (वे०) फेरै । ४. (प्र०) (प्र० म०) पै... । ५. (प्र०) (स० प्र०) (प्र० मु०) घेरे । (वे०) घेरै ।

* व्य० म० (ला० म० दी०) पृ० ४३ ।

‘दास’ लहे वौ क्यों अबकास, उसास रहै नभ-ओर अभेरयौ^१ ।
है कुसलात इती इहि^२ बीच, जु मीच न आवत पावत नेरयौ^३ ॥

अस्य तिलक

इहाँ हू काव्यलिंग अलंकार करि कैं बिसेसोक्ति अलंकार व्यंग है ।*

अथ सब्दार्थ-सक्ति वरनन जथा—

सब्द-अर्थ दुहुँ सक्ति मिलि, व्यंग कहुँ अभिराँम ।
कवि-कोविद तिहि कहत हैं, ‘उभै-सक्ति’ इहि नाँम ॥

उदाहरन कवित्त जथा—

सीवाँ^४ सुधरम जाँनों परंम किसानों माधौ,
पाप-पुंज^५ भाजे भ्रमि स्याँमारुन-सेत में^६ ।
देसी-परदेसी बबें हैंम, हय, हीरादिक,
कैस, मेद, चीरादिक सद्धा-सँम हेत में ॥
परसि हिलोरे^७ कै हिलोरें पैहलें-हीं ‘दास,’
रास च्यारि फलन की अँमर-निकेत में ।
फेरि जोति देखिबे कां हरबर दान^८ देति,
अदभुत गति है त्रिवेनी जू के खेत में ॥†

अस्य तिलक

इहाँ (शब्दार्थ) उभै सक्ति ते रूपक, समासोक्ति कौ संकर करिकें अतिसयोक्ति अलंकार व्यंग है ।

वि०—“अर्थात् दासजी ने यहाँ—जोत, हर, वरदा (वरध = बैल) और खेत शब्दों के श्लिष्टार्थ-बल से त्रिवेणी (गंगा) के क्षेत्र को खेत का रूपक दिया है, जिससे ‘उदात्त’ और अतिशयोक्ति अलंकार व्यंजित होते हैं। यदि इन श्लिष्ट शब्दों को पर्यायवाची शब्दों में बदल दिया जाय तो अभीष्ट रूपक बदल जायगा। इस लिये यहाँ “शब्दार्थ उभय शक्ति” व्यंग्य ध्वनि है। उदात्त, यथा—

पा०—१. (प्र०) (स० प्र०) (प्र० मु०) अमेरे । (वे०) अमेरे । २. (वे०) पहि... । ३. (प्र०) (स० प्र०) (प्र० मु०) नेरे । (वे०) नेरे । ४. (प्र०-३) सीमाँ... । ५. (स० प्र०) (वे०) जलु... । ६. (अ० स०) सीमाँ सुधरम जाँन, परम किसान माधौ पाप-जलु भागे भ्रम स्याँम-अरुन सेत में । ७. (प्र०) परसि हिलोरि कै हिलोरे भले लेत दास । (स० प्र०) पर सीख हलोरे के हलोरै... । (वे०) परसी हलोरै कै हलोरै... । ८. (व्य० मं०) हर बरदान... ।

* , समेलन प्रयाग की प्रति में इसके बाद—“इति अर्थ शक्ति । अथ शब्दार्थ-शक्ति लक्षण दोहा” यह और लिखा मिलता है । †, व्य० मं० (ला० मं० दी०) पृ० ४५ ।

“अति संपति बरनत जहाँ, तासों कहत ‘उदात’ ।

कै आँन सों लखाइऐ बड़ी आँन की बात ॥”

अथ एक पद-प्रकासित व्यंग बरनन जथा—

‘पद-समूह-रचनाँ न कौ, बाक विचारौ चित्त ।

तासु व्यंग बरनों’ सुनों, ‘पद-विजक’ अब भित्त ॥

छंद-भरे में एक पद धुँनि-प्रकास करि देइ ।

प्रघट करों क्रम ते बहुरि, उदाहरन सब तेइ ॥

अथ अरथांतरसंक्रमित वाच्यप्रद पद-प्रकास धुनि जथा—

उदाहरन जथा—

सुंदर, गुँन-मंदिर रसिक, पास खरौ ब्रजराज ।

आली, कौन सयाँन है, माँन-ठाँनिबौ ‘आज’ ॥*

अस्य तिलक

इहाँ (केवल) ‘आज’ शब्द ते घात (सुंदर मिलने के समय) की समे प्रकासित होती है, ता ते एक पद-प्रकासित व्यंग है ।

वि—“जहाँ वाच्यार्थ अर्थांतर में संक्रमण करता है—बदलता है, वहाँ यह ऊपर लिखी ध्वनि होती है, जो दोहा के केवल ‘आज’ शब्द से व्यंजित है ।

कविवर ‘देव’ निर्मित निम्नलिखित छंद, जो दासजी के दोहे की विस्तृत टीका-जैसा कहा जा सकता है, एक पद-गत वा शब्द-गत ध्वनि का सुंदर उदाहरण है, यथा—

“जोरति न दीठि रुसि बैठी हँसि पीठ दैकें,

कौन यै ‘देव’ स्याँन साँसुहें चहँन दै ।

जोबन नबेली, अलबेली तू समझि सोचि,

सौतिन गुमाँन-भरी बातें न कहँन दै ॥

ठाढ़ों पिय-पास, मन मिलबे की आस धरें,

ताहि रख रुखौ ना बियोग ते दहँन दै ।

होइ के निसंङ्ग, भरि अंक मनमोहन को,

‘आज’ रात माँन कों अमाँनत रहँन दै ॥

—शृ० सं० (सरदार)

एक उदूँ का शेर भी देखिये, इसमें भी एक लज्फ़ 'अज़ीज़' ने, जो शायर का नाम भी है, वही बात पैदा कर दी है, जैसे—

“बातों-बातों में किसी ने कह दिया मुझसे ‘अज़ीज़’ ।

ज़िंदगी की मुश्किलें दम-भर में आसाँ हो गईं ॥”

अथ अत्यंत तिरस्कृतवाच्यप्रद पद-प्रकास धुनि—

अस्य उदाहरन जथा—

भाल, भृकुटि, लोचन, अधर, हिऐं* हिऐ की माल ।

छला छिगुनियाँ-छोर कौ, लखि सिरात दृग लाल ॥*

अस्य तिलक

इहाँ (खंडिता नायिका ने) ‘सिरात’ सबद से जरिवौ बिजित करिकें (अपने नायक कौ) अपराध प्रकास्यौ ताते अति तिरस्कृत पद-गत वाच्य धुनि भई ।

वि०—‘जहाँ वाच्यार्थ का एक दम तिरस्कार किया जाय, वहाँ ‘अत्यंत-तिरस्कृत वाच्य ध्वनि’ होती है । जैसे दासजी द्वारा प्रयुक्त ‘सिरात’ शब्द से शांतल होना अर्थ न मान कर अधिकाधिक ‘जलना’ ही अर्थ सापेक्ष है ।

अब्दुलरहोम खानखाना का यह ‘बरवै’ भी अत्यंत तिरस्कृतवाच्य ध्वनि का सुंदर उदाहरण है, जैसे—

“अहो, सुधाधर प्यारे, नेह-निचोर ।

देखें-हीं कों तरसैं, नैन-चकोर ॥”

—बरवै नायिका-भेद

यहाँ भी नायिका, नायक को सुधाधर बतलाकर—उसे संबोधित कर उस (नायक) की कुटिलता-ही अधिक व्यंजित करती है, जब कि उस ‘सुधाधर’ का वाच्यार्थ चंद्रमा (सब को प्रसन्न करनेवाला) है, पर इस वाच्यार्थ की सर्वथा उपेक्षा कर दी गयी है ।”

असंलच्छक्रम रस-व्यंग उदाहरन कवित्त जथा—

जाति^२ है तू गोकुल गुपाल हूँ जइवी^३ नंक

आपनी जु^४ चेरी मोहि जाँनती^५ तू सही है ।

पा०—१. (प्र०-३) हियो । २. (स० प्र०) { वें० } जाती है तू... । (प्र०) { प्र० मु० } जाति हौ जो गोकुल ... । ३ (म० प्र०) जै... । { वें० } जै... । (प्र०-३) जै... । ४. (स० प्र०) जौ... । ५. (भा० जी०) जानति ... ।

* , व्य० म० (ला० भ०) पृ० ४८ ।

पाँइ-परि आप-ही सों पूंछबी^१ कुसल-छंम,
 मो पै निज ओर ते न जात कछु कही है ॥
 'दास'^२मधुमाँस-हू के आगँम न आए तबै,
 तिन सों सँदेसँन की बातें कहा रहो है ।
 ऐतौ^३ सखि, कीबी, यै अ'व^४-और दीबी,
 औरु कहिबी वा अँ मरैया^५रौम-रौम कही है ॥*

अस्य तिलक

इहाँ नायिका ने 'वा' सबद ते पाछिलौ संजोग प्रकासित कियौ ।

वि०—“जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य-क्रम असंलक्ष्य हो—
 लक्षित न हो, वहाँ यह ध्वनि कही जाती है । विशारोलाल का निम्न-लिखित
 दोहा भी इसी ध्वनि का उदाहरण है, यथा—

“सर्धन कुंज, छायाँ सुखद, सोतल, मद सँमीर ।
 मन हूँ जात अजों चहं, वा जमनाँ के तोर ॥”

—सतसई

यहाँ भी 'वहै' औ 'वा' शब्द वही ध्वनि प्रकट करते हैं ।”

शब्द-सक्ति ते बस्तु व्यंग जथा^६—

जिहि सुँमन-हिं तू राधिका,^७ ल्याई^८ करि अँनुराग ।
 सोई तोरत साँवरों, आपुन^९ आयौ बाग ॥

अस्य तिलक

इहाँ तोरत (तो-रति) शब्द ते तोसों आसक्त—तोपँ अति आसक्त है, यै
 बस्तु व्यंग है—“दूती-उक्ति नायिका-प्रति ।”

पा०—१ (प्र०) (प्र०-३) बूझियो .. । (वे०) पूछिबे ... २. (सं० प्र०)
 'दास' जू बसंत-हूके-आगम न आए तौ पतियँन सों सँदेसँन की बात कहा रहो है । (वे०) ..
 तौ, पतियँन सों सँदेसँन की बात कहा .. । ३. (वे०) एतौ ... । ४. (सं० प्र०) ...
 आँम-मौर ... । ५. (प्र०-३) अमरैया ने, रौम ... । ६. (सं० प्र०) अथ शब्द-सक्ति
 ते बस्तु ते बस्तु व्यंग । ७. (प्र०) राधिकहिं .. । (भा० जी०) (वे०) राधिके ।
 ८. (सं० प्र०) लायौ .. । ९. (वे०) आपुहिं ... ।

* सं० भा० (विहारी—प० सिं०) पृ० २२३ ।

सब्द-सक्ति ते अलंकार व्यंग जथा—

जल अखंड घन भंपि महि, बरखत बरखा-काल ।

चली मिलन मन मोहनें, मन-भई हूँ बाल ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ मन (काम और मोम) मई मोम को 'रूपक' व्यंग है ।

वि०—'शब्द-शक्ति से एक पद (शब्द) के द्वारा प्रकाशित वस्तु से अलंकार—जो 'मन-भई' श्लिष्ट पद (शब्द) से काम और मोम-मयी दोनों अर्थों को प्रकट करता है, पर वर्षा के संबंध से यहाँ मोम-मयी अर्थ ही अभीष्ट है, जो रूपक-अलंकार का अंग है, वही व्यंग्य है ।”

सुतःसंभवी वस्तु ते वस्तु व्यंग जथा—

मंद-अमंद गँनों न कछु, नंदनँदन ब्रज-नाँह ।

छैल-छबीले गैल में, गहौ न मेरी बाँह ॥ †

अस्य तिलक

इहाँ 'गैल' शब्द ते एकांत में मिलोंगी ये वस्तु व्यंग है ।

वि०—“इसे एक पद-प्रकाशित वस्तु से वस्तु ध्वनि भी कहा जाता है ।”

सुतःसंभवी अलंकार ते वस्तु व्यंग जथा—

मनसा, बाचा, करँमनाँ, करि काँन्हर सों प्रीति ।

पारवती, सीता-सती-रीति लई तूँ जीति ॥ ‡

अस्य तिलक

इहाँ (सखी-द्वारा नायिका-प्रति उक्ति रूप) काँन्हर शब्द ते व्यतिरेकालंकार व्यंग कह्यौ ।

वि०—“यहाँ भी स्वतःसंभवी एक पद-द्वारा प्रकाशित वस्तु से अलंकार—व्यतिरेक व्यंग्य है ।”

पा०—१. (प्र०) तुवँ ।

*, † व्यं० मं० (ला० भ० दी०), पृ० ५० । ‡ व्यं० मं० (ला० भ० दी०)

सुतःसंभवी अलंकार ते वस्तु व्यंग जथा'—

हँम-तुँम तँन द्वै, प्राँन इक, आज फुरथौ बलबीर ।
लग्यौ हिऐं नख राबरे, मेरे हिय में पीर ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ असंगति अलंकार ते आज तुम पर-न्त्री सों बिहार कियौ सो नई भई
यै अलंकार ते वस्तु व्यंग है ।

वि०—‘यहाँ एक पद प्रकाशित वस्तु से अलंकार ‘असंगति’ स्पष्ट है ।
‘आज’ शब्द विशेष व्यञ्जक है और नायक की सदोपतारूपी वस्तु व्यंग्य है, जो
खंडिता नायिका की नायक-प्रति उक्ति ‘असंगति’ अलंकार से पुष्ट है । असंगति-
अलंकार—

‘हेतु अँनत-हीं होत जहँ, काज अँनत-ही होइ ।
ताहि ‘असंगति’ कहत हैं, भूपन कवि सब कोइ ॥”

और उदाहरण—

“दग उरफूत, दूटत कुटुँम, जुरत चतुर-चित प्रीति ।
परत गाँठ दुरजंन-हिऐं, दई नई यै रीति ॥”

—विहारी,

सुतःसंभवी अलंकार ते अलंकार व्यंग जथा—

लाल, तिहारे दगँन कौ,* हाल कह्यौ नहिं जाइ ।
साबधान रहिये तऊ, चित्त-बित लेत चुराइ ॥ †

अस्य तिलक

इहाँ रूपक-विभावनाँ अलंकार करिकें चोर तेरौ यै अधिक है, ताते व्यतिरेक-
अलंकार व्यंग है ।

वि०—दासजी की यह सूक्ति ‘एक पद प्रकाशित अलंकार से अलंकार
व्यंग्य’ में है, क्योंकि विभावनालंकार स्पष्ट है, किंतु सावधान रहने पर भी चित्त-
रूप बित्त को चुरा लेने से व्यञ्जित होता है कि वह नायक अन्य चोरों से बड़ा-

१. यहाँ संपूर्ण ह० लि० प्रतियों में उक्त शीर्षक-ही लिखा मिलता जो ठीक नहीं हैं,
यहाँ... ‘वस्तु ते अलंकार व्यंग’ होना चाहिये, क्योंकि पीढ़े के दोहा में यह शीर्षक
आ चुका है ।

पा०—२. (भा० जी०) की, हाल कही नहिं .. । (प्र०) (वे०) हाल न बरन्यो .. ।
(सं० प्र०) की, चाल कही नहिं ... ।

*, † व्यं० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ५१ । सं० भा० (विहारी—पा० सि०) पृ० १५२ ।

चढ़ा है, अतएव व्यतिरेकालंकार व्यंजित है। विहारीलाल ने दासजी से पूर्व इसी बात को बड़े सुंदर ढंग से कहा है, यथा—

“चित-बित बचत न, हरत हठि, लालँन-दग बरजोर ।

साबधान के बटपरा, ए जागत के चोर ॥”

कवि-प्रौढोक्ति वस्तु ते वस्तु व्यंग जथा—

राँम, तिहारौ मुजस जग, कीन्हों सेत इकंक ।

सुरसरि-मग अरि-अजस सों, कीन्हों भेंट कलंक ।

अस्य तिलक

इहाँ ‘सुरसरि-मग’ ते ये व्यंजित भयौ, जो जस कों कलंक न धोइ सक्यौ ।

कवि-प्रौढोक्ति वस्तु ते अलंकार व्यंग जथा—

कहत^१ मुखागर बाल के, रहत^२ बन्यों नहिं गेहु ।

जरत बाँचि आई ललँन, बाँचि पाति-हू^३ लेहु ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ ‘जरत’ शब्द ते व्याधि प्रकाशित करी, संदेसे ते मुकरि गई ये वस्तु ते आच्छेप अलंकार व्यंग है ।

वि०—‘विरह को अति तप्त कहना ‘कवि प्रौढोक्ति’ है। अतः दूती वा सखी, जरत शब्द कहकर विरहणी नायिका के अति संताप की सूचना देती है, अतएव नायिका का विरह-संताप वस्तु जरत शब्द से—आक्षेपालंकार से कहा । आक्षेपालंकार—

आक्षेपन्तु प्रयुक्तस्य प्रतेपेधौ विचारणात् ।”

अर्थात् जहाँ प्रधान की अवहेलना कर (वही) दूसरे प्रकार से कहा जाय, वहाँ यह अलंकार होता है। इसी प्रकार कवि प्रौढोक्ति वस्तु से अलंकार व्यंग्य दिखलाने वाला ‘पद्माकरजी’ का निम्न छंद भी अति सुंदर है, यथा—

दूरि-हीं ते देखति बिथा में वा बिथोगिनि की,

आई भलें भाजि ह्यौ इलाज मढ़ि आवैगी ।

कहै ‘पद्माकर’ सुनों हो धनस्याँम जाहि,

चेतति कहूँ जौ इक आह कढ़ि आवैगी ॥

पा०—१. (प्र०) (प्र०-३) वचन कहत मुख बालके .. । (सं० प्र०) (वै०) ..
मुखागर बात के । २. (प्र०) बन्यों रहत नहिं .. । ३. (मा० जी०) (वै०) ही .. ।

* व्य० मं० (ला० भ० दी०) पृ० ५२ । २० सा० (दास) पृ० १३ ।

सर-सरतान कों न सूखत लगौगी बार,
एसी कछु जुलमिन ज्वाला बढि आवैगी ।
ताके तन-ताप की कहीं मैं कहा बात,
मेरे गात-ही छिए ते तुम्हें ताप चढ़ि आवैगी ॥”

कवि-प्रौढोक्ति अलंकार ते अलंकार व्यंग जथा—

हरि, हरि, हरि^१ ब्याकुल फिरै, तज सखाँन^२ कौ संग ।
लखि ए तरल कुरंग-दग, लटकन मुकत सुरंग ॥*

अस्य तिलक

इहाँ सुरंग पद (वस्तु) ते तद्गुण अलंकार व्यंग है, आसक्त हूँ वौ वस्तु व्यंग है, ऐसीई तेरी काम है यै दूती नायिका प्रति जनायौ ।

वि०—“दासजी की यह कृति पाठ-भेद से दो प्रकार की—सखी वा दूती की नायिका प्रति अथवा नायक प्रति उक्ति और दो शीर्षक, विविध प्रतियों के आधार स्वरूप मिलते हैं । पाठ भेद नीचे पाठांतर के स्थान पर प्रस्तुत हैं, उक्ति ऊपर लिखी है और शीर्षक—‘कवि प्रौढोक्ति अलंकार से अलंकार व्यंग्य’ अथवा ‘पुनः यथा, अर्थात् कवि-प्रौढोक्ति वस्तु से अलंकार व्यंग्य’ भी मिलता है । दोनों अर्थों में—‘शार्पकां में, ‘कुरंग-दग’ से लुप्तोपमा (वाचक-धर्म लुप्ता) और ‘सुरंग’ शब्द से तद्गुण-अलंकार कवि-प्रौढोक्ति से विभूषित व्यंग्य है । लाला भगवान दीन जी ने—“हरि, कहि-कहि ब्याकुल फिरै तजि सखियँन कौ संग” पाठ मान कर व्यंग्यार्थ मंजूषा में ‘इ’ (कवि प्रौढोक्ति में अलंकार से वस्तु) यह शीर्षक देकर लिखा है कि “हे चंचल मृगलोचनी, देख तो, तेरा यह लटकन का मोती तेरे ओठों के रंग से लाज है, अर्थात् तू बड़ी सुंदर है । सो तू ऐसी सुंदर होकर हरि-हरि पुकारती सखियों का संग छोड़ अकेली ब्याकुल फिरती है । व्यंग्य यह कि तू हरि पर आसक्त है, यह वस्तु ‘ब्याकुल’ शब्द से व्यंजित है । ‘कुरंग-दगी’ में लुप्तोपमा और ‘सुरंग’ पद से तद्गुण अलंकार है ही, यही कवि-प्रौढोक्ति है” और यदि यहाँ विशेष प्रतियों-द्वारा मान्य मूल पाठ के अनुसार उक्त विशेषताएँ दिखलायी जाय, तो जरा-सा अर्थ में उलट फेर किया जायगा । तब वहाँ अर्थ होगा—“हे सखि, तेरे कुरंग-सदृश चंचल नेत्रों और नथ के लटकन का सुरंग—

पा०—१ (व्य० म०) (प्र०-३) कहि । २. (प्र०) (प्र०-मु०) सखियँन...। (वे०) सखीँन...।

*, व्य० म० (ला० म० दी०) पृ०, ५३ ।

(अधर के कारण लाल) मोती देख कर हरि (नाक) सखाओं (इष्ट-मित्रों का) साथ छोड़ कर अति आर्तभाव से—हे हरि, हे हरि कहते हुए डोल रहे हैं, अतएव मान छोड़ उनसे मिल और उनकी इस व्याधि को दूर कर ।” किंतु इन दोनों अर्थों में ध्वनि वही रहेगी जो ‘लालाजी’ मान्य हैं, अर्थात् “कवि-प्रौढोक्ति अलंकार से वस्तु व्यंग्य” ही माना जायगा, दामजी अथवा विविध-प्रति शाही हैं—शीर्षक नहीं ।”

कुछ ऐसी-ही विशेषता-सयुक्त सूक्तियाँ ‘रमलीन’ जो ने अपने ‘रस-प्रबोध’ में कहीं हैं, यथा—

“जिहि मानक सौ मन दियौ, आइ तिहारे हाथ ।
तिहि पे अपनों रूप-हूँ चलि दरसैरे नाथ ॥”
सिर कलक कत लेति मुख, ससि निकलंकी पाइ ।
वह चकोर लौं दिन भरत, बिहत अंगारन-खाइ ॥
कहा कहां वाकी दसा, जब खग बोलत रात ।
‘पीय’ सुनति ही जियति है, ‘कहां’ सुनति मर जात ॥”

(पुनः) कवि-प्रौढोक्ति अलंकार ते अलंकार व्यंग जथा—

बाल, बिलोचन बाल तें, रख्यौ^१ चंद-मुख-संग ।
बिख बगारिबौ को सिख्यौ, कहां कहां ते ढंग ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ (कवि-प्रौढोक्ति रूप) ससि-मुख रूपक ता ते बिख-बगारिबौ बिषमाँ-लंकार व्यंग है ।

वि० —‘जिनका संबन्ध अनुचित हो, उन वस्तुओं के एक साथ वर्णन करने तथा साथ-ही सुंदर कर्मों के करने पर भी—विपरीति फल प्राप्ति का वर्णन करने पर भी यही अलंकार कहा जाता है ।”

अथ प्रसंग धुनि^२ जथा—

एक-हि सव्द-प्रकास में उभै सक्ति न लखाइ ।
यों^३ सुनि होत ‘प्रसंग-धुनि,’ कथा-प्रसंग-हि पाइ ॥ †

पा०—१. (व्य० म०) रहे .. । २. (सा० प्र०) (वे०) अप्रबध धुनि .. । ३. (प्र०) (५० मु०) (वे०) अम सुनि होत प्रबन्ध धुनि .. ।

* व्य० म० (ला० म०) पृ० ५४ । † व्य० म० (ला० म०) पृ० ५५ ।

वि०—‘काव्य-निर्णय की विविध हस्त-लिखित वा मुद्रित प्रतियों में यहाँ—
‘अप्रबंध-ध्वनि, अप्रसंग-ध्वनि, प्रबंध-ध्वनि और प्रसंग-ध्वनि आदि विविध शीर्षक मिलते हैं। प्रबंध (गत) ध्वनि—किसी एक वाक्य वा पद (शब्द) में नहीं हुआ करती, अपितु प्रबंध-ग्रन्थ के कई पद्यों अथवा किसी संपूर्ण कथा को अपने में समेटे हुए किसी एक रचना में हुआ करती है, जैसा कि ‘दासजी’ कृत इस दोहे के नीचे लिखे उदाहरण में भगवान् श्री कृष्णचंद्र की संपूर्ण-‘चीर-लीला’ का चल चित्र होते हुए भी ‘हास्य रस’ ध्वनित है। अतएव कथा-प्रसंग के बल से जहाँ कोई रस-भावादिक व्यंजित हो वहाँ प्रसंग वा प्रबंध ध्वनि कही जाती है। यह ध्वनि अर्थ-बल से स्फुटित (निकलती) होती है और इसकी उतनी-ही जातियाँ (प्रकार) होती हैं जितनी कि अर्थशक्ति-वद्भ्यः अन्य ध्वनियों की।”

अस्य उदाहरन जथा—

बाहर कढ़ि, कर-जोरिकें, रवि कों करौ प्रनॉम ।
मॅन-इच्छित-फल पाइकें, तब जइबौ^१ निज धॉम ॥ *

अस्य तिलक

जब न्हात सँमें गोपिन के बख्श श्रीकृष्ण नें हरे हे—लिए हे, ता समें श्रीकृष्ण कौ बचॅन—कथन जाते प्रसंग चीर-हरॅन कौ और हास्य व्यंग भयो ।

अथ सुयंलच्छित व्यंग वरनन जथा—

वाही कहें बॅनॅ जु बिधि,^२ वा-सँम दूजौ नाँहि ।
ताहि ‘सुयंलच्छित’ कहें, व्यंग सँमभि मॅन-माँहि ॥ †

पुनः भेद जथा—

सब्द, वाक, पद, पद^३ हूँ कों एक देस पद बर्न ।

होत सुयंलच्छित तहाँ, सँमभें सज्जॅन-कर्न ॥

वि०—“दासजी ने यहाँ ‘स्वयंलक्षितव्यंग्य’ के शास्त्रीत्यानुसार—“पद, वाक्य, प्रबंध, वर्ण और रचना-गत भेदों को शब्द, वाक्य, पद, एक देशी और वर्ण रूप से पाँच प्रकार का कहा है। ये एक शब्द, एक वाक्य, एक पद, एक देशी और एक वर्ण-गत भी होते हैं, जैसा कि ‘दासजी’ ने नीचे के कवित्त में वर्णन किया है।

पा०—१. (प्र०) जईयो ॥ (वे) जैयो ॥ २. (सं० प्र०) धुँनि ॥
३. (सं० प्र०) ॥ पद बिजकी, एक देस रस बर्न ।

*, † व्य० मं० (ला० भ०) पृ० ५५ ।

सुयंलच्छित सव्द ते धुनि जथा—

पात^१-फूल-दातन कों दीबे कों अरथ, धरम,
 काँम, मोच्छ, चारों फल मोल ठैहरावती ।
 देखौ 'दास' देब-दुरलभ-गति दैकें,
 महा पापिन के पापन की^२ लूट ऐसी पावती ॥
 ल्यावत कहूँ ते तँन-जात रूप कोउ ताको^३,
 जातरूप-सैल-हि की साहिबी सजावती* ।
 संगति में 'बाँनी' के कितेक जुग बीते देधि,
 गंगा-पै न सौदा की सरह* तोहि आवती ॥*

अस्य तिलक

इहाँ बाँनी सव्द में चमत्कार है, सरस्वती नाम लहेते नहीं ।

वि०—“अर्थात् दामजी कहते हैं कि यहाँ 'वाणी' शब्द जो वणिक् (बनिये) का अर्थ दे रहा है, वही सुंदर है, सरस्वती-संज्ञा वाची नहीं । अतएव यहाँ 'सुयंलच्छित' एक शब्द-गत ध्वनि है ।”

सुयंलच्छित वाक ते धुनि जथा—

सुनि-सुनि मोरन कौ^६ सोर चहुँ ओरन ते,
 धुनि-धुनि सीस पछितानी पाइ दुख कों ।
 लुनि-लुनि भाल-खेत बई बिधि बालन कों,
 पुनि^७-पुनि पाँनि मीडि मारती बपुख कों ॥
 चुनि-चुनि साजती सुमन-सेज आली तऊ,
 भुनि-भुनि जाती अबलोकि^८ वाही रुख कों ।
 गुनि-गुनि बालम कौ आइबौ जु अजहुँ दूरि,
 हुनि-हुनि देति^९ विरहानल में सुख कों ॥†

पा०—१. (प्र०) (प्र० मु०) पात-फूल दातन कों अरथ, धरम, काँम, मोच्छ, दीबे कहें चारि फल ..। (व्य० म०) पात फूल दातन कों अर, धरम, काम, मोच्छ, चार फल दीबे कों मोल ..। २. (स० प्र०) कों...। ३. (प्र०) (प्र० मु०) ताहि ..। (व्य० म०) ल्यावतो कहूँ ते कोऊ जातरूप फन ताहि जातरूप सैल-हि...। ४. (स० प्र०) करावती । ५. (स० प्र०) (वे०) तरह...। ६. (वै०) कौ...। ७. (स० प्र०) धुनि-धुनि सीस मीडि मारती...। ८. (वै०) अबलोकें...। ९. (वै०) देती...।

*, † व्य० मं० (ला० म०) पृ० ५०। ५५ ।

अस्य तिलक

इहाँ (सध्वँन) की पुनरुक्ति में ही चमत्कार है, और भाँति नहीं ।

वि०—“अर्थात् कवि का कथन है कि यहाँ—“सुँनि-सुँनि, धुँनि-धुँनि, लुँनि-लुँनि, पुँनि-पुँनि, चुँनि-चुँनि, भुँनि-भुँनि, गुँनि-गुँनि और हुँनि-हुँनि—आदि शब्दों में ही नायिका के विरह-जनित दुःख की अधिक अव्यक्ति लक्षित होती है—उक्त शब्दों की पुनरुक्ति में ही चमत्कार अधिक व्यंजित होता है, अन्य प्रकार नहीं । नायिका प्रोषितपतिका, यथा—

प्रिय जाकौ परदेस में, ‘प्रोषितपतिका’ सोइ ।

उदित उदीपँन तें जु तँन, सतापित अति होइ ॥”

—म० मं० (अजान) पृ० ५६,

प्रोषितपतिका का उदाहरण ‘शाल’ कवि का भी निरखने लायक है, यथा—

“मेरे मँन-भाबँन, न आए सखि साबँन में,

ताबँन लगी हैं लता लरजि-लरजि कें ।

बूँदें कबों रूँदें, कबों धारें हिय-फारें दैया,

बीजरी हूँ बारें हारी बरजि-बरजि कें ॥

‘शाल कवि’ चातकी परँम पातकी सों मिलि,

मोर-हूँ करत सोर तरजि-तरजि कें ।

गरजि गए जे धँन, गरजि गए हैं भला,

फेरि ए कसाई आए गरजि-गरजि कें ॥”

सुयंलच्छित पद-गत धुनि वरनन जथा—

बार-अँध्यारिन में भटक्यौ जु^१, निकार्यौ में नीँठि सुबुद्धिन सों घिरि ।

बूड़त आँनन-पाँनिप-नीर^२, पटीर की आड़ सों तोर लग्यौ तिरि ॥

मो मँन बाबरौ यां-ही हुतो^३, अधरा मधु-पाँन कै मूँद छक्यौ फिरि ।

‘दास’ कह्यौ^४ अत्र कैसैं कटै, निज चाँड़^५ सों ठोढ़ी की गाढ़ पर्यौ गिरि ॥*

अस्य तिलक

इहाँ पटीर की आड़ ही भली, जो बूड़ते कों काठ (काष्ठ—तरने का सहारा) मिलत है, केसर-रोरी की आड़ नहीं भली ।

पा०—१. (भा० जी०) डु । (प्र०) (प्र० मु०) स्व... { वे० } हों... । २. (सं०-प्र०) भीर... । ३. (भा० जी०) (वे०) हुयौ... । ४. (प्र०) (प्र० मु०) मने... । ५. (प्र०) (प्र० मु०) चाह... ।

* व्य० मं० (ला० भ०) पृ० ५६, ५७ ।

वि०—“अर्थात् इस छंद में—अँध्यारिँन, अटक्यौ, पटीर की आड़, बाबरी और मधु-आदि पद-वाक्यांश विशेष में ही चमत्कार है ।”

पुनः पद-गत (शब्द गत) धुनि जथा—

हों गँमारि, गौंस-हिं बसौ^१, कैसौ^२ नगर कहंत ।
पै जाँन्यों आधीन कै^३- नागरीन कौ कंत ॥*

अस्य तिलक

इहाँ ‘नागरीन’ बहु बचन-ही भल्यौ, एक बचन ‘नागरी’ नाँहीं ।

अथ सुयलच्छित रस-व्यंग वरनन जथा—

कूढ़ प्रचंडी चंडिका, तक्त नैन-तरेरि ।
मूर्च्छ, मूर्च्छ भूपर परे, खग^४ रहे जी घेरि ॥†

अस्य तिलक—

इहाँ रौद्र-रस है, जो उद्धत वरनन सों पघट है ।

धुनि-संख्या कथन जथा—

द्वै अबिबच्छित बाच्य औ रसै^५ व्यंग इक लेखि ।
सब्द-सक्ति है आठ पुनि, अर्थ-जुक्त^६ अबरेखि ॥

*

उभै सक्ति इक जोरि पुनि तेरह सब्द-प्रकास ।
इक प्रबंध-धुँनि पाँच पुँनि, सुयलच्छ गुँनि^७ ‘दास’ ॥

*

ए सब तेतीस जोरि दस, व्यक्त^८-आदि पुँनि ल्याइ ।
तेतालीस प्रकास धुँनि, दीनीं^९ मुख्य गिनाइ ॥

*

सब बातँन, सब भूषनँन, सब सकरँन मिलाइ ।
गुँनि, गुँनि गननाँ कीजिए, तौ अँनंत बढि जाँइ ॥

पा०—१. (सं० प्र०) (वै०) बसों...। २. (सं० प्र०) कैसे . । ३. (भा० जी०) (वै०) करि.. । ४. (प्र०) (सं० प्र०) गधर रहे जो...। (वै०) गधर रहें जु...। ५. (प्र०) (सं० प्र०) (वै०) रस-व्यंगी...। ६. (प्र०) (वै०) सक्ति...। ७. (वै०) गुरु...। ८. (वै०) बक्र...। ९. (वै०) दीन्हों मुख्य गैनाइ...।

*, † व्यं० सं० (ला० भ०) पृ० ५७-५८ ।

वि०—“दासजी ने इस उल्लास में ध्वनि के मुख्य ‘तैतीस’ (३३) भेद मानते हुए आर्थी व्यंजना के विधान से प्रस्फुटित दस ध्वनियों का उल्लेख कर कुल ‘तैतालीस’ (४३) मुख्य मान कर इन्हें ‘अलंकार’ और ‘संकर’ के भेदोप-भेद-द्वारा अनंत कहा है। ध्वनि के आचार्यों ने भी प्रथम इक्यावन (५१) भेद-‘लक्षणा मूला अविवक्षित वाच्य ध्वनि’ के—‘अर्थांतर संक्रमित वाच्य’ और ‘अत्यंत तिरस्कृत वाच्य’ के ‘पद’ और ‘वाक्य-गत रूप चार (४) भेद मान ‘अभिधामूला’—‘विवक्षित अन्य रवाच्य’ के सैंतालीस (४७) भेद जो प्रथम ‘असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य’ के—“पद, वाक्य, प्रबंध, पदांश, वर्ण और रचना-गत” छह (६) भेद कह कर ‘संलक्ष्यक्रमव्यंग्य’ के प्रथम तीन (३) भेद “शब्द-शक्ति उद्भव और शब्द तथा अर्थ रूप उभय उद्भव नाम के तीन (३) भेद कर, शब्द-शक्ति-उद्भव ध्वनि को ‘वस्तु’ तथा ‘अलंकार’ व्यंग्य में विभक्त कर पुनः इन्हें ‘पद’ तथा ‘वाक्य-गत’ भेदों में परिणत किया है। इसके बाद ‘अर्थ-शक्ति उद्भव ध्वनि’ को प्रथम—“स्वतःसमवी, कवि-प्रौढोक्ति, कवि निबद्धपात्र प्रौढोक्ति” भेदों के चार (४) भेद—“वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलंकार, अलंकार से वस्तु और अलंकार से अलंकार” को ‘प्रबंध-गत, वाक्य-गत’ और ‘पद-गत’ मान कर सैंतालीस (४७) भेद किये हैं। इस प्रकार ध्वनि के संपूर्ण इक्यावन (५१) भेद हुए। इन शुद्ध-भेदों को परस्पर एक के दूसरे के साथ मिलाने पर दो हजार छह सौ एक (२६०१) मिश्रित भेद होते हैं। इन दो हजार छ सौ एक को तीन प्रकार के संकर, यथा—“संशयास्पद, अनुग्राह्य-अनुग्राहक, एकव्यंजकानुप्रवेश (संकरों) को संपृष्टि के साथ गुणन करने पर दस हजार चार सौ पचपन (१०४५५) भेदों का कथन मिलता है, जिन्हें ‘दास’ जी ने अनंत संज्ञा दी है। श्री मम्मटाचार्य ने भी ध्वनि की यही संख्या अपने ‘काव्य-प्रकाश’ में स्वीकृत की है, यथा—

“भेदास्तदेकपंचाशत् तेषां वान्योन्ययोजने ।

संकरेण त्रिरूपेण ससृष्ट्या चैकरूपया ॥

वेदखान्धिवियञ्चद्राः शरेषु युगखेदवः ॥”

अर्थात्—वेद (४), ख (०), अन्धि (४), वि त् (०), चंद्र (१), शर (५), ईषु (५), युग (४), ख (०) और इन्द्र (१) के संयोग से १०४५५ की ही संख्या मानी गयी है।”

“इति श्री सकल कलाधर-कलाधरबंसावतंस श्री महाराज-

कुंमार श्री बाबू हिंदूपति बिरचिते ‘काव्य-निरनप’

ध्वनि-भेद-वरनोनाम षष्ठमोऽल्लासः ।”

—

अथ सप्तमोल्लासः

अथ गुणीभूत व्यंग-लच्छन बरनन जथा—

जा 'व्यंगारथ' में कछू,^१ चमत्कार नहिं होइ ।

'गुं नीभूत' सो^२ व्यंग है, मध्यम-काव्य^३ हिं सोइ ॥ *

वि०—“अर्थात् जिस व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ से अधिक चमत्कार न हो, उसके बराबर वा न्यून चमत्कार हां, वाच्यार्थ प्रधान हो और व्यंग्यार्थ गौण हो, उसे 'गुणीभूतव्यंग्य' कहते हैं, जो मध्यम काव्य है । गौण का अर्थ है, अप्रधान—और गुणीभूत का अर्थ है—'गौण' हो जाना - अप्रधान बन जाना । अतएव वाच्यार्थ से गौण होने का तात्पर्य है, और जैसा पूर्व में (ऊपर) कहा है कि 'व्यंग्य का वाच्यार्थ से अधिक चमत्कृत न होना । ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य में भेद दिखलाते हुए साहित्य-रीति के आचार्यों ने कहा है कि ध्वनि में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रधान होता है और गुणीभूत व्यंग्य में व्यंग्यार्थ से वाच्यार्थ की प्रधानता होती है, यथा—

“प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते ।

यत्र व्यंग्यान्वये वाच्यवास्त्व स्यात् प्रकर्षेवत् ॥”

—ध्व० पृ० ३५,

अतएव गुणीभूत-व्यंग्य के—‘अगूढ़, अपरांग, तुल्य प्रधान, अस्फुट, काकुत्सि वाच्य सिद्धांग, संदिग्ध और असुंदर आदि जैसा दासजी ने निम्न (नीचे) छंदों में कहा है, आठ भेद होते हैं । अगूढ़ व्यंग्य के दासजी ने दो भेद—‘अर्थीतर-संक्रमित’ और ‘अत्यंततिरस्कृत’ नाम से और माने हैं । इन्हीं को ‘लक्षणा मूलक’ तथा ‘अर्थ-शक्तिमूलक’ अगूढ़ व्यंग्य भी कहा है, जो शास्त्र-रीति से उचित है ।

अथ गुणीभूत व्यंग-भेद कथन जथा—

सोरठा

गुंन^४ अगूढ़, अपरांग, तुल्य प्रधान^५ औ अस्फुट-हिं^६ ।

काकु^७ वाच्य-सिद्धांग, संदिग्ध-हिं^८ औ असुंदर-हिं ॥

पा०—१ (प्र० मु०) व्यंगारथ में कछू । २ (सं० प्र०) खै । ३. (प्र०) (सं०) (प्र० मु०) (वै०) काव्यौ .. । ४. (प्र० मु०) गैनि... । ५. (सं० प्र०) (प्र० मु०) (वै०) तुल्य प्रधानों .. । ६. (सं० प्र०) तुल्य प्रधानों अस्फुटौ । ७. (प्र०) (प्र० मु०) (वै०) काकुवाच्य... । (सं० प्र०) वहुँ वाच्य-सिद्धांग । ८. (सं० प्र०) (प्र०) (प्र० मु०) संदिग्ध और असुंदरौ (वै०) संदिग्ध और असुंदरौ ।

* व्यं० मं० (ला० मं० दी०) पृ० ५६ ।

आठों भेद^१ प्रकासु, गुंनीभूत व्यंग-हि कहीं^२ ।
लगेँ सुहाए^३ जासु, वाच्यारथ^४ की निपुनता ॥

प्रथम अगूढ़ व्यंग जथा —

अर्थांतरसंक्रमित औ अति^५ जु तिरस्कृत होइ ।
'दास' अगूढ़े^६ व्यंग में, भेद प्रघट हैं दोइ^७ ॥

वि० — “दासजी ने पूर्वकथित अगूढ़ व्यंग्य (जब व्यंग्य अति स्पष्ट शब्दों में वर्णित मिले) के ‘अर्थांतरसंक्रमित’ (जहाँ अर्थ प्रसंगानुसार वाच्यार्थ छोड़ अन्यार्थ में संक्रमण—गमन करे) और ‘अत्यंत तिरस्कृत वाच्य (जहाँ वाच्यार्थ की अति उपेक्षा की जाय) रूप दो भेद किये हैं ।’

अथ उदाहरन ‘अगूढ़ व्यंग’ जथा—

गुंनबतैन में जासु सुत, पैहलें^८ गिन्यो न जाइ ।
पुत्रवती चौ मात, तौ^९ बंध्या को ठैहराइ ॥ *

अस्य तिलक

जाको पुत्र निगुनी (निर्गुणी) है, वही (माता = स्त्री) बंध्या है, ये अति स्पष्ट है, जाते अगूढ़ व्यंग है ।

वि० — “अर्थात् जिसका पुत्र गुणवानों में प्रथम न गिना जाय, वह स्त्री पुत्रवती है तो बंध्या किस कहा जाय ? अर्थात् वही स्त्री (माता) बंध्या है जिसका पुत्र गुणवतों में सबसे प्रथम न गिना जाय, यह—बंध्या को ‘ठैहराइ’ कहकर व्यंग्य को—अगूढ़ व्यंग्य को अधिक स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया गया है । यही अर्थांतरसंक्रमित वाच्यध्वनि है ।”

अत्यंत तिरस्कृत वाच्यधुनि उदाहरन जथा—

बंधु अंध^{१०} अबलोकि तुअ,^{११} जाँन परे सब ढंग ।
बीस-विसे^{१२} ये वसुमती, जैहै तेरे संग ॥ †

पा०—१ (मा० प्र०) भाँति ॥ २ (प्र०) (प्र० सु०) गनी । (वे०) कहे । (मा० जी०) गुनि सु भूति ॥ ३ (मा० जी०) (प्र०) (प्र० सु०) (वे०) सुहाई । ४ (मा० जी०) (वे०) वाच्यारवाहि का ॥ ५ (सं० प्र०) (प्र०) (प्र० सु०) (वे०) अत्यंत तिरस्कृत ॥ ६ (सं० प्र०) (वे०) (प्र० सु०) अगूढ़ी ॥ ७ (मा० जी०) सोइ । (प्र०-३) प्रघट ए मोइ । ८ (प्र०-३) अर्थात्तर सक्रमित अगूढ़ व्यंग उदाहरन ॥ ९ (वे०) (प्र० सु०) पहिली गनी ॥ १० (वे०) तव ॥ ११ (प्र०) (वे०) धधु । (मा०-जी०) बंधु ॥ १२ (प्र० सु०) तुव ॥ (वे०) तुऊ ॥ (प्र०-३) तौ ।

* का० प्र० (भानु) पृ० १२२ । व्य० म० (ला० भ० दी०) पृ० ५६ । † का० प्र० (मा०) पृ० १२२ । व्य० म० (ला० भ० दी०) पृ० ६० ।

अस्य तिलक

हे बंधु, भलाई करि, यै पृथवी काहू के संग नाहि गई, यै 'अत्यंत तिरस्कृत-
वाच्य धुनि रूप व्यंग है ।

वि०—‘दासजी की यह उक्ति संस्कृत के महाकवि ‘भोजराज’ (राजा भोज)
द्वारा अपने चचा ‘मुंज’ के प्रति कही गयी इस सरस सूक्ति के सहारे रची गयी
प्रतीत होती है, यथा—

‘मांघाता स महीपतिः क्षितितलेऽलंकार भूतो गतः,
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वास्तौ दशास्यांतकः ।
अन्ये चापि युधिष्ठिर प्रभृतयो यावंत एवाभवान्,
नंके नापि सम गता दसुमर्तं, मुंज त्वया या स्यति ॥’

— सुभाषित

अस्तु, श्री भोजराज के विराट् विचार रूप बारूद को दासजी ने अति सुंदर
ढंग से अपनी दोहे की दुनाली (बंदूक) में भरा है, जो कहते नहीं, देखते
बनता है ।”

अथ द्वितीय अपरांग व्यंग जथा—

रसबतादि बरनन किए, रस-बिजंक^१ जे आदि ।
ते सब मध्यम काव्य हैं, गुनीभूत कहि वादि ॥

*

उपमाँदिक हृद करन कों, सव्द-सक्ति जो होइ ।
ताहू कों ‘अपरांग’^२ गुनि, मध्यम भाँषत कोइ^३ ॥ *

वि—‘जहाँ कोई रस वा भाव किसी और रस का— भाव का अंग हो
जाय, अर्थात् जब व्यंग्यार्थ किसी दूसरे अर्थ का अंग हो जाय, तब वहाँ ‘अपरांग’
व्यंग्य कहा जाता है । अतएव यह अपरांग—“इसमें रस की अपरांगता, भाव
में रस की अपरांगता, भाव में भाव की अपरांगता रसाभास की अपरांगता,
भावभास की अपरांगता, भाव-शांति की अपरांगता, भाव-समाहित की अपरांगता,
भावोदय की अपरांगता, भाव-संधि की अपरांगता, भाव-शबलता की अपरांगता,
वाच्यार्थ में शब्द-शक्ति-मूलक संलक्ष्यक्रम व्यंग्य की अपरांगता और अर्थ-शक्ति

पा०—१. (मा० जी) रस बिंजन ... २. (मा० जी०) अपरांगनी ... ३. (प्र०)
(सं० प्र०) (वें०) (प्र० मु०) लोइ ... । (प्र०-३) सोइ ।

*, व्यं० म० (ला० भ० दी०) पृ० ६१-६२ ।

मूलक संलक्ष्यक्रम के वाचांगभूत होने की अपरांगता—आदि कई प्रकार का कहा जाता है ।”

अस्य उदाहरन जथा—

संग ले सीता^१-लच्छमन, देति कुबलय-हिं चाब ।
राजत चंद-सुभाव सौ, श्री रघुवीर-प्रभाव ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ ‘उपमा-अलंकार’ सवद-सक्ति सां दड करति (होत) है ।

वि०—“अर्थात् दासजी ने यहाँ श्री रघुवीर के प्रभाव की उपमा ‘चंद-सुभाव’ से देने के लिए सीता—चंद-संबंध में ‘शीतलता’ और राम-संबंध में ‘जनक-सुता’ तथा ‘लच्छमन’—चंद-संबंध में कलंक और राम-संबंध में भाई लक्ष्मण रूप शब्दों की शक्ति से काम लिया है, अतएव यह अपरांग नामक गुणीभूत-व्यंग्य है ।”

तृतीय तुल्यप्रधान व्यंग बरनन जथा—

चमत्कार^२ में वाच्य औ व्यंग बराबर होइ ।
बौ^३ ही ‘तुल्यप्रधान’ है, कहें सुमति सब कोइ ॥

उदाहरन जथा—

माँनों^४ सिर-धरि लंकपति, श्री भृगुपति की बात ।
तुम करि हौ तौ करहिं गे, वे हू^५ द्विज उतपात ॥†

अस्य तिलक

इहाँ ये व्यंग है कि तुम्ह (लंकपति-रावण) हूँ द्विज औ परसराम-हूँ द्विज (ब्राह्मण) सो मारेंगे, ये वाच्य-बराबर व्यंग भयौ, अर्थात् वाच्यर्थ ते व्यंग्यार्थ मे अधिक चमत्कार नाहीं—बराबर है ।

पा०—१. (वे० (प्र० मु०) सीत- हि, लच्छमन-हिं... । (सं० प्र०) सीता-लच्छमन हिं... । २. (सं० प्र०) (प्र० मु०) (वे०) चमत्कार में व्यंग अरु वाच्य... । ३. (प्र० मु०) तुल्य प्रधान सुव्यंग है, कहै सकल कवि लोइ । ४. (सं० प्र०) (वे०) (प्र० मु०) मानी... । ५. (वे०) वाऊ... ।

*, व्यं म० (ला० भ०) पृ० ६३ ।

पुनः उदाहरन कवित्त जथा —

आभरँन-साज बैठौ, ऐंठौ जिन भोंहैं लखि,^१
 लालँन कहौगे प्यारी कला जैसी चंद की ।
 सुंदरि सिँगारँन बनाइबे के ब्योतँन^२
 तिलोत्तमाँ-सी ठैहरै हों सोंहैं सुखकंद की ॥
 'दास' बर आँनन उदास में हूँ^३ देखिके, कहौगे
 ज्यों कमल सो है बाँनो नंद-नंद की ।
 यों-हीं परखति^४ जात उपमाँ की पंगति,^५ हों
 संगति अज-हुँ तजौ माँन मतिमंद की ॥
 अस्य तिलक

इहाँ नयिका काँ माँन-छुड़ाइबौ बाच्य औ वाकी सोभा बरनिबौ ब्यंग दोऊ
 प्रधान है, अर्थात् दाँनों बराबरि हैं, ताने 'तुल्य' प्रधान गुनीभूत ब्यंग है ।

अथ चतुर्थ अस्फुट ब्यंग बरनन जथा—

जाकी^१ ब्यंग कहे बिन, ब्यंग^२ न आवै चित्त ।
 जौ आवै तौ सरल^३ ही, 'असफुट' सोई मित्त ॥
 अस्य उदाहरन जथा—
 देखें दुरजँन संक^४ गुरुजँन संकन सों,
 हियौ अकुलात दग होत^५ ना तुखित हैं ।
 अँनदेखें होत^६ मुसकाँनि-बतराँनि मृदु,
 बाँनिऐं तिहारी दुखदाँनि बिमुखित हैं ।
 'दास' धनि ते हैं जे बियोग-ही में दुख पावें^७,
 देखें प्राँन-पी के होत जिअ में सुखित हैं ।
 हँमें तौ तिहारे नेह एक-हुँ न सुख-लाहु^८
 देखें हूँ दुखित, अँनदेखें हूँ दुखित हैं ॥*

पा०—१. (प्र०—३) लाल, लखि केँ कहौगे...। २. (भा० जी०) (वें०) ब्योत
 में...। ३. (भा० जी०) ..जु कै कहे-ही, जो कमल ..। (वें०) . जु देखिकेँ कहे-ही जो,
 कमल...। ४. (प्र० मु०) परसति...। ५. (प्र० मु०) पाँतिन्ह हाँ...। ६. (व०) जाकौ...। ७.
 (प्र०मु०) बेगि...। (प्र०—३) जहाँ न ब्यग कहे बिन, ब्यग न ..। ८. (प्र०—३) सहज-ही ।
 ९. (प्र० मु०) संग...। (प्र०—३) देखें गुरुजँन-संग दुरजँन-संकन सों...। (रा० स०) देखत
 दुर्जन संग गुरुजँन-संकन सों...। १०. (रा० प्र०) होती...। ११. (प्र० मु०) हूँ ते...।
 १२. (वें०) देखौ...। १३. (प्र०—३) लाल...।

*, व्यं० म० (ला० म०) पृ० ६४ ।

अस्य तिलक

इहाँ (विशेष ध्यान देने पर परकीया) नायिका निसंक (एकांत में) मिलवे के स्थान की बिनै करति है, यै 'अस्फुट व्यंग' है ।

वि०—“अस्फुट व्यंग—जहाँ व्यंग्य कठिनता से दिखाई पड़े” कहा जाता है । यहाँ “देखें हूँ दुखित, अँनदेखें हूँ दुखित हैं” का कारण स्पष्ट नहीं, विशेष ध्यान देने पर ही जाना जाता है कि यहाँ नायिका परकीया कहीं वा कभी एकांत में मिलने के लिए विनय कर रही है, यह अस्फुट है, कठिनता से जाना जाता है ।

दासजी का यह छंद 'काव्य-प्रकाश' (संस्कृत) के पाँचवे उल्लास श्लोक-संख्या १२८ वें का सुंदर अनुवाद है । यथा—

“अदृष्टे दर्शनोत्कंठा दृष्टे विच्छेद भीरुता ।

ना दृष्टेन न दृष्टेन भयता लभ्यते सुखम् ॥”

अस्तु, आप इस अल्प उक्ति को, जो अपने कहने के ढंग में सुंदर है, विशद बनाते हुए वह बाँकपन न ला सके जो संस्कृत सूक्ति में हैं । यह कार्य तो कवि विहारी ने ही किया है, उसने भी दो लाइन के इस (अनुष्टुप) छंद को अपनी दोहे की दुनाली में भरा है, और खूब भरा है, यथा—

“इन दुखिया अँखियाँनि कों, सुख सिरज्यौ ही नाँहि ।

देखत बनें न देखते, बिन देखें अकुलाँहि ॥”

— सतसई

अतएव विहारी के इस दोहा रूप रत्न को भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने स्व-निर्मित कुंडलिया रूप कुंदन (स्वर्ण) से कलित—खचित किया है, यथा—

“बिन देखें अकुलाँहि, बिरह-दुख भरि-भरि रोवें ।

खुली रहें दिन-रैन, कयहुँ सपने नहिं मोवें ॥

‘हरिचंद’ संजोग-बिरह-सन दुखित सदाँ-ही ।

हाइ, निगोड़ी अँखियाँनि कों सुख सिरज्यौ-हि नाँही ॥”

—भारतेंदु-ग्रंथावली भाग २

पंचम काकुल्लिप्त व्यंग बरनन जथा—

सही बात जहँ काकु ते^२, जहाँ नाँहि दरसाइ^३ ।

‘काकुल्लिप्त’ सो व्यंग है, जाँन लेउ कबिराइ ॥

- पा०—१. (भा० जी०) ते... । (वें०) सही बात ते काहु कों । (प्र० मु०) सँच बात कों काकु ते... । ३. (वें०) (प्र०) करि जाइ । (प्र०-३) कहि जाइ । ४. (वें०) काक्वक्षिप्त ... ।

अस्य उदाहरन जथा —

जहँ^१ मँन रँमें सु रँन-दिन, तहीं रहौ करि भोन ।
इँन बातँन पै प्रॉन-पति मॉन-ठॉनती हों न ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ नायिका मॉन किएँ-ही है, नाँह कियौ कथँन ते 'काकु' है ।

वि०—“सही बात को सुकरना ‘काकुक्षित गुणीभूत व्यंग्य’ कहा जाता है । काकु एक प्रकार की उक्ति है—कहने का ढंग है, जिसके द्वारा कहे हुए शब्दों का अर्थ वक्ता के कथन के साथ-ही वाच्यार्थ के विपरीति अर्थ में परणित हो जाता है । यह व्यंग्य इसलिए गौण है कि सहज-ही तत्काल जान लिया जाता है, जैसा कि ‘दासजी’ के उदाहरण में—‘मान नहीं करती... कहने पर भी उसा (नायिका) का मान सहज-ही भाषित हो रहा है । इसी प्रकार धीरा नायिक का उदाहरण ‘रघुनाथ’ कवि का भी सुंदर है, यथा—

“बहु नाइक हौ, सब लाइक हौ, सब प्यारिन के रस कों लहिऐं ।

‘रघुनाथ’ मनँ नहि कीजै तुम्हें, जिय-बात जु है सु सही कहिऐ ॥

यै माँगति हों पिय-प्यारे सदाँ, मुख देखिबे कों हमें चहिऐ ।

इतने के लिएँ इत आईऐ प्रात, रुचै जहँ रात तहाँ रहिऐ ॥”

—सुंदरी-सरोज (मन्नालाल)

षष्ठ वाच्य-सिद्धांग वरनन जथा—

जा लगि कीजतु व्यंग सो^२ बात-हि में ठैहरात ।

कहत ‘वाच्यसिद्धांग’ कों^३ अर्थ सुमति अवदात^४ ॥ †

अस्य उदाहरन जथा—

बरखा-काल न लाल गृह-गोंन^५ करौ किहि हेत ।

व्याल बलाहक बिष-बरखि, बिरहिँन कौ जिय लेत ॥ ‡

अस्य तिलक

इहाँ बिष जल-हूँ कों कह्यौ, औ व्याल-हूँ कों कह्यौ, ताते ‘वाच्य सिद्धांग’ है ।

वि०—“जहाँ व्यंग्य वाच्यार्थ की सिद्धि करता हो वहाँ वाच्य-सिद्धांग व्यंग्य कहा जाता है । इसके संस्कृत के आचार्यों ने वाच्यसिद्धांग” और ‘परवाच्य-

पा०—१. (प्र०) (प्र० मु०) (व्यं० मं०) जहाँ रमें मन रँन-दिन... (सं० प्र०) (वै०) जहीं मन-रमें... । २. (सं० प्र०) सोइ .. । ३. (प्र०) (प्र० मु०) तिहि । ४. (सं० प्र०) औदात । ५. (वै०) गोंन... ।

* †, ‡ व्यं० मं० (ला० मं० दी०) पृ० ६५ ।

सिद्धांग' नाम से दो भेद किये हैं। दासजी का यह उदाहरण 'वाच्य-सिद्धांग' का है, क्योंकि यहाँ बादल को सर्प बनाया गया है और इन दोनों (बादल और सर्प) के गुणों में समता लाने के लिये 'विष' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिससे बादल का सर्प होना सिद्ध हो और यह अर्थ तब तक सिद्ध नहीं होता, जब तक जल में विष की व्यंजना न हो। विष का अर्थ तरल होने के कारण जल बतलाकर अभिधा रुक जाती है, और व्यंजना से विषका व्यंग्यार्थ जल रूप 'जहर' प्रतीत होने पर वाच्यार्थ की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि विष सर्प में होता है, बादल के संबंध में विष का अर्थ जल होगा। अतएव यह विष रूप जल ही बादल का सर्प होना सिद्ध करता है, विरहणी का दुःख व्यंग्य है। अर्थात् मेघ रूप भुजंग का विष (जल) अत्यंत विषय है। वह वियोगिनियों को मारने वाला है, मरण का कारण है, शरीर को जला देता है। दासजी का यह दोहा संस्कृत 'काव्य-प्रकाश' की इस सरस सूक्ति का अनुवाद है, यथा—

“अमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् ।

मरणं च जलं भुजंगजं प्रसह्य कुरुते विष वियोगिनीनाम् ॥”

अस्तु, यहाँ भी विष शब्द का अर्थ हलाहल ही है, जो भुजंग रूप वाच्यार्थ की सिद्धि का उपकारक है।”

द्वितीय भेद 'परवाच्य' उदाहरण जथा—

र्याँम-संक पंकज-मुखी, जकै निरखि निसि-रंग ।

चोंकि भजै, निज छाँह तकि, तजै न गुरुजँन-संग ॥

अस्य तिलक

इहाँ र्याँमता की संका बिजित होत है, सो नायक की संका छोरि कें प्रयोजन नहि नायक परब च्यसिद्धांग है ।

वि० — “अर्थात् रात्रि, परछाँही और नायक (श्रीकृष्ण) तीनों का वर्ण श्याम है, अस्तु अपनी परछाँही और काली रात्रि को देखकर मुग्धा नायिका का भयभीत होना 'परवाच्य-सिद्धांग गुणीभूत व्यंग्य' है। किसी कवि का निम्न-लिखित छंद भी इस व्यंग्य का सुंदर उदाहरण हो सकता है, यथा—

“कोकिल कूंक सुँनें उँमगे मन, और सुभाइ भयौ अब ही कौ ।

फूले लता-टुँम, कुंज सुहात, लगै अलि-गुंजन भाँमतौ जी कौ ॥

कारँन कौन भयो सजनी, यै खेल लगै गुडियाँन कौ फीकौ ।
काहे ते साँवरौ-अंग छबीलौ, लगै दिन द्वैक ते नैनँन नीकौ ॥”

—सुंदरी-तिलक (भारतेंदु)

सप्तम संदिग्ध व्यंग्य वरनन जथा—

होइ अर्थ संदेह में, इन्हें^१ न कोऊ दुष्ट ।
सो संदिग्ध^२ प्रधान है, व्यंग कहे कवि पुष्ट ॥

उदाहरन जथा -

जैसे^३ चंद-निहारिकें, इकटक तकत चक्कर ।
त्यों मनमोहन तक रहति^४ तिय-बिवाधर-ओर ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ सोभा-वरनियों औ चूमिने की अभिलाषा दोऊ संदिग्ध प्रधान हैं ।

वि०—“जहाँ प्रधान अर्थ संदेह-विशिष्ट हो, अर्थात् ऐसा निर्णय न हो सके कि यहाँ वाच्यार्थ में अधिक चमकार है अथवा व्यंग्यार्थ में, वहाँ संदिग्ध-प्रधान व्यंग्य कहा जाता है । दामजी के इस उदाहरण में नायिका का शोभा वर्णन नायक-हृदय में चुंबन की प्रबल इच्छा दोनों ही और नायक-हृदय की प्रबल चुंबन-इच्छा का मन्त्रि-प्रति-मन्त्रि की उक्ति में संदिग्ध (यह कि वह) रूप में वर्णन है, जिसमें संदिग्ध-प्रधान व्यंग्य है ।”

अष्टम असुंदर व्यंग्य वरनन जथा

व्यंग कहे बहु जतन^३ पै, वाच्य-अरथ-संचार ।
ताहि ‘असुंदर कहत कवि, करिकें दिये बिचार ॥

उदाहरन जथा—

बिहंग-सोर सुँन-सुँन समझि, पिछबारे^४ के बाग ।
जाति परी पियरी खरी, प्रिया भरी-अनुराग ॥ †

पा०—१. (प्र०) (प्र० मु०) (वें०) पै नहि कोऊ .. । २. (प्र०) (प्र० मु०) (वें०) (व्यं० म०) रहे .. । ३. (प्र०) (वें०) (प्र० मु०) तर्कन पै... । ४. (वें०) (प्र० मु०) पछबारे की... ।

*, †, व्यं० म० (ला० म० दो०) पृ० ६६, ६७ ।

अस्य तिलक

नयक सों सहेट (मिलवे कौ स्थान) बदि राख्यौ हो, सो तहाँ (नायक कों) आयौ ये व्यंग कख्यौ सो बाच्यारथ ही है, ताते चारु (सुंदर) नाहीं ।

वि०—“जहाँ वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ की अपेक्षा अधिक सुंदर-चमत्कृत हो वहाँ उक्त व्यंग्य होता है ।

दासजी की यह उक्ति ‘अनुशयाना नायिका’ के प्रति है, अनुशयाना नायिका के लक्षण में रीति-शास्त्रकारों का कहना है—

“जो तिय सुरत-संकेत में रमँन-गमँन अँनुमाँनि ।

व्याकुल होइ सु तोसरी-अँनुसयनौ पैहचौनि ॥”

अतएव दासजी की यह उक्ति—“विहंग-सोर०” इस संस्कृत सूक्ति का अनुवाद है, जिसे निम्न प्रकार से श्री आचार्य मम्मट ने अपने ‘काव्य-प्रकाश’ में उल्लेख किया है, यथा—

“वानारकुंजोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वंत्याः ।

गृहकमव्यापृताया वध्वा सीदन्त्यंगानि ॥”

संस्कृत की यह सूक्ति सुंदर है, पर दासजी ने नायक के पास “गृहकर्म-व्यापृताया वध्वा”—गृह कार्य में अति तल्लीन होने के कारण तरुणी के वहाँ (संकेत स्थान) न जाने के कारण का स्पष्ट उल्लेख न कर अपनी सूक्ति में सुंदरता अधिक ही बढ़ा दी है ।

अनुशयाना नायिका का उदाहरण कविवर “शंभु” ने भी, जिसे भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने अपने ‘सुंदरी-तिलक’ में और कविवर ‘मन्नालाल’ ने अपने ‘सुंदरी-सरोज’ में संमिलित किया है, अधिक सुंदर है, यथा—

“दूती संकेत गई बँन कौ बदि, प्यारी पगी हरि के गुँन-गाथ में ।

गाय-दुहावँन कों कहीं ‘सभु’, खरी खिरका जु सखीन के साथ में ॥

केलि के कुंज बजी सुरली, बुधि गोप-बधू की बँधो ब्रजनाथ में ।

दोहनों हाथ की हाथें रही, न रखौ मन-मोहनी कौ मन हाथ में ॥”

अथ अवर काव्य जथा—

इहि विधि मध्यम काव्य के, जाँन लेहु ब्यौहार ।

जितने^१ हू सब भेद हैं, तितनी^२ धुनि-विस्तार ॥

पा०—१. (स० प्र०) तितने हू...। (वें०) तितने ही ...। (प्र० मु०) तितने या में...।
२. (वें०) (प्र०) जितने...। (प्र०—३) जितनी...।

बचनों थिर^१-रचनों जहाँ, व्यंग न नैक लखाइ ।
सरल जाँन तिहिँ काव्य को 'अवर'^२ कहैं कबिराइ ॥

अवर काव्य-भेद जथा—

अवर^३-काव्य-हू में करें, सुकवि^४ सुघरई मित्र ।
मँन-रोचक कर देति हैं, बचन-अर्थ के^५ चित्र ॥

वाच्य-चित्र^६ उदाहरन जथा—

चंद चतुराँनन चखँन कै,^७ चकोरँन को,^८
चंचरीक, चंडी-पति चित्त - चोंप कारिए ।
चहूँ चक्र^९ चारों^{१०} जुग चरचा चिराँनी चलै,
'दास' चारों^{११} फल देति पल-भुज चारिए ॥
चोंप दीजै चारु चरँनन चित्त चाँहिबे की,
चेरिनी कौ चेरौ चीन्हीं^{१२} चूकन^{१३} निबारिए ।
चक्रधर चक्रवे चिरैया^{१४} के चढ़ैया चित,^{१५}
चूहरी को चित ते चपल चूरि डारिए ॥

वि०—“जहाँ केवल वाच्यार्थ को प्रधानता होती है वहाँ ‘अवर’ (अश्रेष्ठ) काव्य कहा जायगा, जिसके ‘वाच्य-चित्र’ और अर्थ-चित्र दो भेद होते हैं । इसे शब्द चित्र भी कहते हैं । दासजी ने यहाँ चकार की आवृत्ति से अनुप्रास रूप सुंदरता के साथ शब्दालंकार प्रदर्शित किया है ।”

अर्थ-चित्र उदाहरन जथा—

नीर-बहाइ के नैन दोऊ, मिलनार्ह^{१६} की खेह करें सँनि गारौ ।
बातें कठोर लुगाई करें, अपनी-अपनी दिसि डेल^{१७} सौ डारौ ॥

पा०—१. (स० प्र०) (वें०) (प्र० मु०) बचनार्थ...। २. (वें०) और...। ३. (भा० जी०) (वें०) और .। ४. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) कवि सुघरई...। (प्र०—३) सुघरई कवि मित्र । ५. (वें०) (प्र० मु०) को...। ६. (स० प्र०) अथ अवर-काव्य चित्र कवित्त...। ७. (स० प्र०) (वें०) (प्र० मु०) के...। ८. (स० प्र०) (वें०) के...। ९. (भा० जी०) (वें०) चक्र..। १०. (स० प्र०) (प्र० मु०) चार्यों..। ११. (वें०) (स० प्र०) (प्र० मु०) चार्यों..। १२. (वें०) (प्र० मु०) चीन्हीं..। १३. (वें०) चूकन..। (प्र०) (स० प्र०) (प्र० मु०) चूक को...। १४. (भा० जी०) रचैया...। (प्र० मु०) चिरी के...। १५. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) चिंता...। १६. (भा० जी०) मिल नार्ह । (स० प्र०) (वें०) (प्र० मु०) मिलनार्ह...। १७. (भा० जी०) रेत...। (वें०) डेल...।

‘दास’ के ईस करें न मँनें,^१ जहँ बैरी मँनोज हकूमत बारौ ।

छाती के ऊपर ब्याधि कौ^२ भोंन उठावत^३ राज-सँनेह तिहारौ ॥

वि०—“दासजी ने यहाँ ब्याधि रूप भवन को उठाने-वनाने वाले स्नेह रूप राजमिस्त्री (कारीगर) का वर्णन कर ‘अर्थ-चित्र’ की रचना रची है ।”

“इति श्री कलाधर कलाधर बंसावतंस श्री मन्महाराजकुमार

बाबू हिंदूपति बिरचिते ‘काव्य-निरणय’ गुनीभूतादि

व्यंग बरननोनाम सप्तमोऽखण्डः ॥”

—

पा०—१. (सं०—प्र०)...करै न मनोज । (भा० जी०)...कौ ईस के रैन मनोज...

२. (भा० जी०) (प्र० मु०) के...। ३. (वै०) (प्र० मु०) उठावतो...

अथ अष्टमोल्लासः

उपमादि अलंकार वरनन जथा--

अलंकार-रचनों बहुरि, करों सहित बिस्तार ।
एक-एक के^१ होत हैं,^२ भेद^३ अनेक प्रकार ॥

*

कवि-सुघराई कों कहै, प्रतिभा सब कविराइ ।
ता^४ प्रतिभा के होत हैं, तीन प्रकार सुभ भाइ^५ ॥

*

सव्द-सक्ति, प्रौढोक्ति औ, सुतसंभवी चारु ।
अलंकार छवि पावते,^६ कीन्हें त्रिविध प्रकार ॥

*

बड़े छंद में एक-ही,^७ भूषण कौ बिस्तारु ।
करां घनरौ धरैम भनि,^८ कै^९ माला सजि चारु ॥

*

अवर^{१०} हेतु नहिं केवलै-हिं,^{११} अलंकार निरवाहि ।
कवि, पंडित गनि लेति हैं, अवर^{१२} काव्य में ताहि ॥

*

रुचिर हेतु रस कौ बहुरि, अलंकार-जुत होइ ।
चमत्कार जन^{१३} जुक्ति है, उत्तम कविता सोइ ॥

पा०—१ (प्र०) (स० प्र०) (वें०) (प्र० सु०) पर । २ (प्र० सु०) जहे ... ।
३. (स० प्र०) जुक्ति... । ४. (व०) (प्र० सु०) तिहि (तहि) प्रतिभा कौ होत... ।
(स० प्र०) तिहि प्रतिभा का कहतु हं । (भा० जी०) सो... । ५. वेकटेश्वर की प्रति
मे—‘अस्य तिलक’ रूप मे यह विशेष लिखा है—‘औ प्रतिभा जो हे गाकों ग्रथ-कर्ता तीन
प्रकार की कछो । एक प्रतिभा-सव्द-सक्ति न होनि है, दूसरी प्रतिभा कवि-प्रौढोक्ति करिकें
होति है, तीसरी प्रतिभा सुत-संभवी जानिए’ । ६. (भा० जी०) (वें०) (प्र० सु०)
पावते, कीन्हें । ७. (भा० जी०) एक कहि, ... । (वें०) छंद-भरे मे एक-ही... ।
८. (भा० जी०) (वें०) भनि... । (प्र० सु०) में ... । (प्र०-३) जो... । (स० प्र०)
(लो०) गनि... । ९. (प्र० सु०) इक... । १०. (वें०) और... । ११. (प्र०)
(वें०) (प्र० सु०) केवलै । १२. (वें०) और... । १३. (प्र०) (प्र० स०) (वें०)
(स० प्र०) गुन-जुक्त... ।

अपर मध्यम काव्य जथा —

अलंकार-रस-बात गुँन,^१ ए तीनों दृढ़ जाहि ।
अवर^२ व्यंग कछु नाहिँ तौ मध्यम कहिए^३ ताहि ॥

छप्पय जथा—

उपमाँ पूरन अर्थ,^४ लुप्त^५ उपमाँन, अनन्वइ ।
उपमेयोपमा,^६ प्रतीप, स्रोती उपमाँ चइ ॥
पुनि दिस्टांत बखौनि, जाँनि अरथातरन्यासहि ।
विकसुर अरु निदरसनौ,^७ तुल्यजोगिता प्रकासहि ॥
गँनि लेहु सु प्रतिवस्तूपमाँ, अलंकार बारह विदित ।
उपमाँन औरु उपमेइ कौ, है बिकार समझौ^८ सुचित ॥

वि०—“इस आठवें उल्लास से दासजी ने ‘ध्वनि’ के अनंतर अलंकारों का वर्णन प्रारंभ किया है, जो अठारवें उल्लास तक गया है। उपमाअलंकार ‘राज-शेखर’ के मत से ‘काव्य-संपदा का शिरोरत्न है, क्योंकि अलंकारों में सादृश्य-मूलक अलंकार-ही प्रधान है। सादृश्य-मूलक अलंकारों में—उपमेयोपमा, अनन्वय, प्रतीप, रूपक, स्मरण, भ्रांतिमान्, संदेह, अपन्हुति, उत्प्रेक्षा, अति-शयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, और समानोक्ति—आदि सभी अलंकार एक उपमा पर-ही निर्भर हैं। सादृश्य-ही उपमा है, इस लिये सभी साहित्य-सृजिताओं—अलंकार-आचार्यों ने ‘उपमा’ को अनेक अलंकारों का उत्पाक कहा है और यही दासजी ने इस छप्पय रूप छोटे-से छंद में वर्णन किया है। अतएव दासजी-द्वारा कहे गये इन अलंकारों में सादृश्य कही उक्ति-भेद से और कहीं व्यंग्य से जाना जाता है। उपमा के प्रति ‘चित्र-मीमांसाकार’ को यह उक्ति कितनी सुंदर और अर्थ युक्त है—

“उपमैवा शैलपि सप्राप्ता चित्रभूमिका भेदात् ।

रजयति काव्य रगे, नृवती तद्विदां चेतः ॥”

अर्थात् काव्य की रंगभूमि पर अनेक भूमिका-भेदों से—विविध रूपों से, उपमा रूप नये संपूर्ण काव्य-मर्मज्ञों का मनोरंजन करती है ।”

पा०—१. (भा० जी० (वें०) (प्र०-मु०) गुँनि, .. । २. (वें०) और... । ३. (प्र० मु०) कविता आदि .. । ४. (सं० प्र०) अर्थी .. । ५. (भा० जी०) लुप्तोपमा... । ६. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) उपमेयोपमा और । ७. (वें० मु०) विकसुरी निदरसन... । (सं० प्र०) विकसुरी निदर्शन... । ८. (सं० प्र०) समझौ... ।

औपम्यमूल इस सादृश्य के दो भेद—सादृश्य-वाच्य और सादृश्य-गम्यमान्, अर्थात् छिपा हुआ सादृश्य और माने गये हैं। सादृश्य-वाच्य अलंकार—‘उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, असम, स्मरण, रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रांति, उल्लेख, अपन्हृति, उत्प्रेक्षा (केवल भेदक, रु क और संबंध) तथा प्रतीप और इसी प्रकार ‘सादृश्य गम्यमान् अलंकार—‘तुल्ययोगिता, दोषक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, उदाहरण, निदर्शना, व्यतिरेक, समासोक्ति, अस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, अर्थोत्तरन्दास, व्याजस्तुति, आक्षेप, विकस्वर, सहोक्ति तथा विनोक्ति’ कहे जाते हैं। अस्तु, दासजी ने इन सादृश्य वाच्य और सादृश्य गम्यमान् उभयात्मक अलंकारों में मुख्य बारह अलंकारों को प्रधान मान प्रथम वर्णन किया है।

उपमा का प्रथम उल्लेख संस्कृत से लेकर विविध भाषाओं के सभी अलंकाराचार्यों ने किया है। यह क्यों ? इसके लिये कहा जाता है कि वह अनेकानेक अलंकारों में मूल-रूप से रहकर काव्य-सौंदर्य को अधिकाधिक सहायता पहुँचाती रहती है, जैसा अलंकार-सर्वस्व के कर्ता कहते हैं—

“उपमैवानकप्रकार वैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूता ।”

यही नहीं, यदि सत्यरूप से कहा जाय तो ‘उपमा’ कवि की वह भव्य दृष्टि है जिससे कवि को चराचर जगत का मधुर दर्शन प्राप्त होता रहता है। उपमा-साधना तो कवि की समदृष्टि-साधना है, जिससे सौंदर्य की सिद्धि होती है और यही उपमा का महा रहस्य है।

प्रथम उपमा लच्छन जथा—

जहँ^१ उपमाँ-उपमेइ है, सो उपमाँ-बिस्तार ।
होत आरथो-सौतियौ, ताके^२ द्वै जु प्रकार ॥

*

बरननीय उपमेइ है, संमता उपमाँ जाँन ।
जो ह्वै आई आदि ते, सो ‘आरथी’ बखौन ॥

वि०—“जब दो पदार्थों के समान-धर्मों को उपमान-उपमेय-भाव से कथन किया जाय—किसी प्रकार की भिन्नता प्रकट न करते हुए, सादृश्य दिखलाया जाय, तब वहाँ ‘उपमा’ अलंकार कहते हैं। इस उपमा के श्रोती (शाब्दी) और आर्थी नाम से दो भेद होते हैं।”

पा०—१. (भा० जी०) जहाँ .. । २. सं० प्र०) (प्र०) ताकी । (वें०) (प्र० मु०) ताकी दोइ ... ।

अथ प्रथम आर्थी उपमा जथा—

सँमता, सँम, बाचक, घरँम, बरँन च्यारि इक ठौर ।
ससि-सौ निरमल मुख जथा 'पूरँन उपमाँ' गौर ॥

*

ससि समता, सौ सँम बचँन, निरमलता है धर्म ।
बरनि सु मुख इहिँ भौँति सों, जाँनों च्यारों मर्म ॥

वि०—“जहाँ समता (जिसकी समता दी जाय) सम, वाचक और धर्म, अर्थात् उपमेय, उपमान्, वाचक तथा धर्म इन चारों का वर्णन किया जाय वहाँ पूर्णोपमा होती है, जैसा कि दास जी ने इन दोहों में वर्णन किया है । यहाँ मुख उपमेय, शशि उपमान, सौ वाचक तथा निर्मलता धर्म-आदि चारों का कथन है अतः पूर्णोपमा है ।”

उदाहरन जथा—

संपूरँन उज्जल उदित, सीतकरँन अँखियाँन ।
'दास' सुखद मँन कों प्रिया-आँनन चंद-समाँन ॥

वि०—“यहाँ दासजी ने प्रिया के आनन को चंद्र-समान वर्णन करते हुए— अति उज्ज्वल, शीतल कारक और मुख का देने वाला कहते हुए बहु धर्म से संयुक्त पूर्णोपमा का उदाहरण प्रस्तुत किया है ।”

अन्य उदाहरन 'कबित्त' जथा—

कढ़ि कें निस'क पेंठि जाति* अरि-भुङ्गँन में,
लोगँन कों देखि 'दास' आँनद'-पगति है ।
दौरि, दौरि जाहि*-साहि लाल करि डारति है,
अंक* लगि कंठ-लागिबे कों उँमगति है ॥
चँमकि-भँमकि बारी, ठँमकि-जँमकि बारी,
दँमकि* - तँमकि बारी जाहिर जगति है ।

पा०—१. (सं० प्र०) डौर । इससे आगे वेंकटेश्वर की प्रति में 'अस्य तिलक' शीर्षक के अंतर्गत—‘इहाँ 'ससि' उपमान, सौ बाचक, निरमल धर्म, मुख उपमेय ए चारों हैं, ताते पूर्णोपमा है’ आदि और लिखा मिलाता है जो नीचे के दोहे में आ गया है । २. (वें०) जाती ०० । (वें०) (भा० जी०) भुङ्ग-भुङ्गें में । (र० कु०) रुंड... । ३. (भा० जी०) आँनन... । ४. (वें०) जहाँ-तहीं । ५. (सं० प्र०) (वें०) (प्र०-मु०) अग... । (भा० जी०) व्यभि... । ६. (वें०) (र० कु०) रँमकि... ।

रौम, असि राबरे की रँन में, नरँन में,
निलज बनिता-सी होरी खेलँन लगति^१ है ॥*

वि०—“दासजी कहते हैं—म्यान-रूप घर से निकल कर राम-राजा की तलवार अरि रूप मदों (पुरुषों) के झुंडों में पैठती हुई अनेक मुखों से प्रेम करती है । जिसे पाती है दौड़ कर लाल करती हुई अंक-लग कर कंठ से लगने की चाहना करती है, क्योंकि उसमें बारबनिता (वेश्या) जैसे विविध गुण (धर्म)—चमकना, भमकना, ठमकना, जमकना, दमकना और तमकना आदि प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ते हैं ।”

दास जो की यह रचना ‘चंद्रालोक’ (संस्कृत) की निम्न-लिखित सूक्ति से सुरभित है, जैसे—

“कामिनीव भवत्खड्ग लेखाचारु करालिका ।

काशमीरसेकारक्तांगी शत्रुकंठांतिकाश्रिता ॥”

—चंद्रालोक २, १० ।

तथा रसकुसुमाकर के संग्रहकर्त्ता ने ‘रस-निरूपण’ के अंतर्गत और सूक्ति-सरोवर के संग्रहकर्त्ता ला० भगवानदीन ने तलवार वर्णन के प्रसंग में संग्रहीत किया है ।”

अथ मालोपमा लच्छन^२ जथा—

कहुँ अनेक की एक-ही^३ कहुँ^४ जु एक अनेक ।

कहुँ अनेक-अनेक की, ‘मालोपमा’ बिबेक ।

वि०—“जहाँ एक-ही उपमेय की अनेक उपमानों से सादृश्यता—बराबरी दिखलायी जाय, अर्थात् उपमानों की माला-सी पिरोयी जाय, वहाँ ‘मालोपमा’ कही जाती है । यह मालोपमा - एक की अनेक धर्मों से, अनेक की एक धर्म से, भिन्न-भिन्न धर्मों से, केवल एक धर्म से और अनेक की अनेक धर्मों से आदि पाँच प्रकार की कही गयी है । इसी प्रकार अलंकार-आचार्यों ने इसे ‘अभिन्नधर्मा (जब संपूर्ण उपमानों का एक-ही धर्म कहा जाय), भिन्नधर्मा (जहाँ प्रत्येक उपमान का भिन्न-भिन्न धर्म कहा जाय) और लुप्तधर्मा (जहाँ धर्म न कहा

पा०—१. (सं० प्र०) चलति... । २. (वें०) अथ पूर्णोपमा लक्षण । ३. (वें०) (भा० जी०) (प्र० मु०) है । ४. (सं० प्र०) (वें०) कहुँ एक की अनेक । (भा० जी०) (प्र० मु०) कहुँ है एक अनेक ।

* २० कु० (अयोध्या) पृ० ११, १२ । सू० स० (ला० भ० दी०) पृ० ४००, ३६ ।

जाय) नामक तीन प्रकार की वर्णन की है । कोई-कोई इसके 'एक धर्मा' और 'अनेक धर्मा' अथवा भिन्नधर्मा नाम से दोही भेद मानते हैं, किंतु दासजी ने पूर्व-लिखित पाँचों प्रकार की 'मालोपमा' का यथाक्रम वर्णन किया है ।”

उदाहरन अनेक की एक ते' जथा—

नेन, कमल-दल से बड़े, मुख प्रफुलित व्यों कंजु ।

कर-पद कोमल कंज-से^१, हियौ कंज-सौ मंजु ॥

वि०—“यहाँ दासजी ने नेत्र, मुख, कर, पद और हृदय को कमल पुष्प के विविध अवयवों—दल, प्रफुलित, कोमल और मनोहरता आदि की समता दी है, इसलिये 'अनेक की एक से मालोपमा है ।”

एक की अनेक ते लच्छन^३ जथा—

जहाँ एक की अनेक तहँ भिन्न धरँम ते जोइ ।

कहँ एक-ही धरँम ते, 'पूरन-माला' होइ ॥

भिन्न धरँम की मालोपमा जथा—

मरकत से दुतिबंत हैं, रेसँम से मृदु बाँम ।

निपट^४ महीन मुरारि-से, कच काजर से स्याँम ॥

वि०—“दासजी ने 'एक की अनेक' रूप मालोपमा के 'भिन्नधर्मा' और 'एक धर्मा' दो रूपों का कथन किया है । अतः आपने प्रथम 'भिन्नधर्मा' रूप मालोपमा का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए “कामिनी के कचों—बालों को मरकत (नील) मणि से श्रुतिवान्, रेशम से मृदु-कोमल, मुरारि (कमल-तंतु) से बारीक और काजल से भी श्याम (काले) रूप विभिन्न धर्मों से युक्त उपमा दी है ।” अतः भिन्नधर्मा मालोपमा है ।”

एक धरँम की मलोपमा यथा—

सारद, नारद पारद-अंग-सी, छीर-तरंग-सी, गंग की धार-सी ।
संकर-सैल-सी, चंद्रिका-फैल-सी, सारस-रैल^५-सी, हंस-कुमार-सी ॥
'दास' प्रकाश-हिमाद्रि-बिलास-सी, कुंद-सी, कास^६-सी, मुक्ति-भँडार-सी ।
कीरति हिंदुनरेस^७ की राजति, उज्जल चारु चँमेली के^८ हार-सी ॥

पा०—१. (वें०) अथ अनेक की एक...। २. (वें०) सौ...। ३. (वें०) एक की अनेक...।
(प्र० मु०) अनेक की एक मालोपमा । ४. (वें०) चिकन महिन...। ५. (प्र०) (प्र० मु०)
तार...। ६. (प्र०) (प्र० मु०) काम-सी...। ७. (वें०) (प्र० मु०) हिन्दू नरेश...।
८. (वें०) की...।

वि०—“यहाँ एक धर्म (श्वेत) वाले अनेक उपमानों की, हिंदू नरेश जो कवि के आश्रय-दाता हैं, की कीर्ति से समता दी गयी है, अतएव ‘एक धर्मा-मालोपमा’ है ।”

अनेके-अनेक की मानोपमा जथा--

पंकज-से पग लाल नबेली के, केदली-खंभ-सी जाँनु सुदार हैं ।
 चार के आँक-सी लंक लगी^१ तँन, कंज-कली-से उरोज उदार^२ हैं ॥
 पल्लव-से मृदु पाँनि, जपा के प्रसूनन-से अधरा सुकमार हैं ।
 चंद-सौ निरमल आँनन ‘दास’ जू, मेचक चारु^३ सिवार से बार हैं ॥

वि०—“यहाँ नायिका के विविध अंगों की विविध उपमानों से समता दी गयी है, जैसे—“कमल से लाल-लाल पग की, कदली (केला) थंभ से जानु (जाँघ) की, चार अंक के मध्य से सूक्ष्म कमर की, कंज-कली से उरोजों की, पल्लव से मृदु (कोमल) हाथों की, गुड़हर के फूल से लाल ओष्ठों की, चंद्र से स्वच्छ निरमल मुख की और सिवार से कोमल श्याम बालों की आदि....। अतएव ‘अनेकानेक धर्मा मालोपमा’ है ।

दासजी की इस सुमधुर सूक्ति के साथ-साथ ‘विजय’ कवि का निम्नलिखित छंद—सवैया भी पढ़ने योग्य है, जैसे—

“लखिकें दग मीन दुरे जल में, मन में अरबिद सँकाने रहैं ।
 बढि बेंनीं भुबंगम देखि चपे, कटि केहरि चाहि लजाँने रहैं ॥
 उकसोंहे उरोजैन देखि ‘बिजै’, मन देखन के ललचाँने रहैं ।
 मुख-चंद की देखि प्रभा दिन में, चित में चकवा चकबाँने रहैं ॥”

—नखसिख-हजारा

एक बात और, संस्कृत-साहित्य के आचार्यों ने ‘मालोपमा’ के—प्रथम “भिन्न, अभिन्न तथा लुप्त-धर्मा” रूप भेद माने हैं, तदनंतर ‘निरवयवा’ (जिसमें उपमान-उपमेयकी सामिग्री (अंग) नहीं हो, सावयवा (जहाँ उपमेय के अवयवों को उपमान के अवयवों-द्वारा उपमा दी जाय), समस्त वस्तु विषया (जहाँ उपमेय-उपमान के संपूर्ण अवयवों का शब्दों-द्वारा कथन किया जाय), एक देश विवर्तनी (जिसमें उपमान कहीं शब्दों से कथन किया जाय और कहीं नहीं), परंपरिता (जिसमें एक उपमा दूसरी उपमा का कारण बनती हो), श्लिष्टा, अश्लिष्टा,

शिलघा—शुद्धा, मालोपमा, अशिलघा—शुद्धा और मालारूपा—आदि भेद करते हुए इनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं ।

अथ लुप्तोपमा जथा—

सँमतादिक जे च्यारि हैं, तिँन^१ में 'लुप्त' निहारि ।

एक, दोइ औ तीन-लों,^२ 'लुप्तोपमों' बिचारि ॥

वि०—“उपमा के समतादिक जो चार—“उपमेय (वह वर्णनीय वस्तु जिसकी दूसरी वस्तु से समता दी जाय), उपमान (वे वस्तुएँ जिनसे उपमा दी जाय—समता दिखलायी जाय), वाचक (समता प्रकट करने वाले शब्द—सा, सी, से और सौ आदि...) अंग हैं, उनमें से जहाँ एक, दो वा तीन का वर्णन न किया जाय, वहाँ 'लुप्तोपमा' कही गयी है । अतएव लुप्तोपमा के—धर्म-लुप्ता, उपमान-लुप्ता, वाचक-लुप्ता, वाचक-धर्म-लुप्ता, धर्मोपमान-लुप्ता, वाचकोपमेय-लुप्ता, वाचक-उपमान-लुप्ता, धर्म-उपमान-वाचक-लुप्ता—आदि भेद होते हैं, जिन्हें आगे दासजी ने वर्णन किया है ।”

प्रथम धर्म-लुप्तोपमा—जथा—

देखि कंज-से बरबदँन,^३ दृग खंजँन-से 'दास' ।

पायौ^४ कंचन-बेलि-सी, बनिता-संग बिलास ॥^५

वि० “यहाँ नायिका के अंग से कंज (कमल), खंजन (पत्नी) और कंचन (स्वर्ण) का क्रमशः धर्म—कोमल, चंचल और सुंदर वर्ण का वर्णन नहीं किया है, इस लिये यह धर्मलुप्तोपमा का उदाहरण है ।

दासजी निर्मित इस दोहे के हस्त-लिखित प्रतियों में विभिन्न पाठ मिलते हैं, जैसे—“देखि कंज से बर-बदन”... और “देखि कंज से बदँन-बर”... तथा “देखि कंज से बदन पर”... आदि...। प्रथम एक-दो के पाठ-भेद में कोई विशेषता नहीं है, पर यदि तृतीय पाठ माना जाय तो कवि को इस सुमधुर सूक्ति में चार चाँद लग जाते हैं, क्योंकि कमल (मुख पर बैठे हुए खंजन (दृग) का दर्शन शकुन शास्त्र के अभिमत से सर्व श्रेष्ठ कहा गया है, जैसा कि महाकवि कालिदास (संस्कृत) कहते हैं—

पा०—१. (स० प्र०) ता में...। २. (प्र०—३) की...। (वें०) एक, दोइ के तीन-तौ,...। ४. (भा० जी०) बदँन बर । (वें०) (प्र० जु०) बदँन बर । ५. (प्र०—३) पाई...। ६. वेंकटेश्वर की प्रति में इस दोहा के अनंतर—“या में काव्यलिंग कौ सकर है” ये अधिक लिखा है ।

“ये-ये खंजन मेकमेव कमले पश्यन्ति दैवात्स्वचित्-

ते सर्वे कवयो भवन्ति सुतरां प्रख्यात भूमीभुजः ॥”

अर्थात् जो मनुष्य कमल पर बैठे हुए खंजन पक्षी को देख लेता है, वह प्रख्यात भूमीभुजः—राजा नहीं, महाराजा हो जाता है। अस्तु, यहाँ धर्मलुप्तो-पमा को काव्यलिंग ने संकर स्वरूप से द्विगुणित कर दिया है।”

उपमान-लुप्ता जथा—

सुबस-करँन बरजोर सखि, चपल चित्त कौ^१ चोर।

सुंदर नंद-किसोर-सौ,^२ जग में मिलै न ओर ॥

वि०—“यहाँ उपमान जिसकी उपमा दी जाय अथवा समता की जाय, लुप्त है, कथन नहीं किया गया है, इस लिये उपमान लुप्त है।”

वाचक-लुप्ता जथा—

अमल, सजल^१ घनस्यौम-तँन,^२ तड़ित-पीत-पट चारु।

चंद-बिमल मुख-हरि-निरखि, कुल की काहि सँभारु ॥

वि०—“यहाँ वाचक शब्द - ‘सा, सी, से वा सौ’ का कथन नहीं है, इस लिये ‘वाचक-लुप्ता’ है।”

उपमेय-लुप्ता जथा—

जपा-पुहुप-से अरुँन-मइ मुकतावलि-से स्वच्छ।

मधुर-सुधा-सी कढति है, तिनते हास^३ प्रतच्छ ॥

वि०—“यहाँ उपमेय, अर्थात् वर्णनीय वस्तु ओष्ठ, दंत और मुख का वर्णन नहीं, समता नहीं दिखलायी है, अतएव उपमेय लुप्ता है।”

वाचक-धर्म लुप्ता जथा—

लखि सखि^४-सखि सारस नयँन, इंद-बदँन घनस्यौम।

बिज्जु-हास, दारथों^५ दसनँ, बिबाधर अभिरौम ॥

वि०—“यहाँ भी वाचक शब्द—सा, सी, से वा सौ तथा धर्म (गुण) चंचल, आनंददायक, उज्ज्वल और अरुण का कथन नहीं किया है, अतः वाचक-धर्म लुप्ता है।”

पा०—१. (भा० जी०) की... २. (वें०) (भा० जी०) (प्र० मु०) से... ३. (प्र०—३), कमल... ४. (सं० प्र०) दुति... ५. (वें०) दास... ६. (सं० प्र०) (वें०) लखि-लखि... ७. (प्र० मु०) लखु लखि.. ८. (भा० जी०) दारिम...

वाचक-उपमाँन लुप्ता जथा—

हिय सियरावै बदन-छवि, रस बरसावै^१ केस ।

परम घाइ^२ चितबन करै, सुंदरि, इही अँदेस ॥ *

वि०—“अर्थात् यहाँ—‘बदन-छवि, केश, और चितवन के उपमानों और वाचक शब्दों का कथन न कर उपमेय तथा धर्म का कथन किया है, इस लिये यहाँ वाचक-धर्म लुप्ता है ।

काव्य-निर्णय की प्राप्त प्रतियों में यह दोहा ‘वाचक-लुप्तोपमा के उदाहरण’ शीर्षक के अन्तर्गत भी मिलता है । वाचक-लुप्ता का उदाहरण—‘अमल सजल धनस्याँम तँन’ पूर्व में आ चुका है, फिर इस दोहा में केवल वाचक ही नहीं उपमान भी लुप्त है, अतएव यह उदाहरण ‘वाचक-उपमान लुप्ता’ का ही है, वाचक-लुप्ता का नहीं ।”

उपमेइ-धरँम लुप्ता जथा—

मग-डारत ईगुर-पाँवड़े से, सुमनाँ से^३ बगारत आइ गई ।
जियरा^४ में ठगोरी-सी दैकें भलें^५, हियरा^६ बिच होरी-सी लाइ गई ॥
नहिँ जौनिऐं को है^७, कहाँ की है ‘दास’ जो^८ धन्न हिरन्न-लता-सी नई ।
ससि-सौ दरसाइ, सरे^९ सौ लगाइ, सुधा-सौ सुँनाइ कें जाति भई ॥

वि०—“यहाँ उपमेय और धर्म दोनों का कथन न होने से और केवल उपमान और वाचक का कथन करने से “उपमेय-धर्मलुप्तोपमा है ।”

उपमेइ, वाचक अरु धरँम लुप्ता जथा—

तिहूँ ‘लुप्त’ जहँ^{१०} कहत हैं, केवल-ही उपमाँन ।

ता^{११} ही कों ‘रूपातिसै’ उक्ति कहेँ मति-माँन ॥

अस्य उदाहरन जथा—

नभ-ऊपर, सर-बीच-जुत, कहा कहाँ ब्रजराज ।

ता पै बैठ्यौ हों^{१२} लख्यौ, चक्रबाक जुग^{१३} आज ॥

पा०—१. (वे०) (प्र० मु०) (भा० भू०) दरसावै.. । २. (प्र०—३) (वे०) घाव... ।
३. (वे०) (प्र० मु०) सै । (भा० जी०) सौ... । ४. (वे०) (प्र० मु०) जियरे... ।
५. (वे०) (भा० जी०) भली... । ६. (वे०) (प्र० मु०) हियरे-बिच... । ७. (वे०) (स० प्र०) को-ही.. । ८. (वे०) (प्र० मु०) जू... । ९. (प्र० मु०) मुरी मु सिकाइ.. । १०. (भा० जी०) (वे०)...ते और हैं... । ११. (प्र० मु०) रूपातिसै उक्ति तहँ, बरनत है... । १२. (प्र०) (वे०) मैं... । १३. (वे०) द्वै... ।

* भा० भू० (केड़िया) पृ० ६४ ।

वि०—“जब केवल उपमान का ही कथन करते हुए—उपमेय, वाचक और धर्म को न कहा जाय वहाँ ‘उपमेय-वाचक-धर्म-लुप्त’ उपमा कही जाता है, पर जैसा कि ‘दास’ जी का कथन है वहाँ “रूपकातिशयोक्ति” अलंकार भी बनता है। क्योंकि वहाँ भी इन तीनों—उपमेय, वाचक तथा धर्म का कथन - वर्णन नहीं किया जाता, यथा—

“जहँ केवल उपमान ते प्रघट होत उपमेइ ।

‘रूपकातिसै उक्ति’ तहँ, बरनत सुकवि अजेइ ॥”

अर्थात् जहाँ उपमेय (आरोप के विषय) को न कह केवल उपमान (आरोप्यमाण) के द्वारा उपमेय कहा जाता है, वहाँ ‘रूपकातिशयोक्ति’ होती है, क्योंकि यहाँ भेद में अभेद—उपमेय-उपमान दो पदार्थ होते हुए भी उपमेय को न कह केवल उपमान कहा जाता है।

कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी ‘अलंकार-मंजरी’ में इस—“नभ-ऊपर सर-बीच०...” धर्मोपमेयवाचक लुप्ता स्वरूप उदाहरण के प्रति लिखा है कि “काव्य-निर्णय में भिवारीदास जी के इस छंद में और लच्छीराम के ‘रामचंद्रभूषण’ रूप अलंकार ग्रंथ में—

“चपल-स्यामघन चपला सरजु तीर ।

मुकट-भाल-मइ बारिज, भँवर जँजीर ॥”

इत्यादि उदाहरण हैं, “इनमें धर्म, उपमेय और वाचक शब्द नहीं हैं, केवल उपमान हैं। केवल उपमान का होना रूपकातिशयोक्ति का विषय है, अतः न तो ये उदाहरण लुप्तोपमा के हैं और न धर्म, उपमेय तथा उपमा-वाचक शब्द के लोप में उपमा हो ही सकती है इत्यादि।”

दासजी ने यहाँ तक उपमा, आर्थी उपमा, पूर्णोपमा, मालोपमा और लुप्ता के भेद जैसे—“धर्म-लुप्ता, उपमान-लुप्ता, वाचक-लुप्ता, उपमेय-लुप्ता, वाचक-धर्म-लुप्ता जो रूपकातिशयोक्ति का विषय है, रूप आठ भेद कहे हैं। तदनंतर आगे (इसी उल्लास में) श्रौती उपमा, मालोपमा—अभिन्नधर्मा, भिन्नधर्मा, श्लेष से, प्रतिवस्तूपमा आदि का भी वर्णन किया है। संस्कृत-साहित्याचार्यों ने भी प्रथम ‘उपमा’ के दो भेद—‘पूर्ण’ और ‘लुप्त’ मानकर पूर्णोपमा के श्रौती और ‘आर्थी’ दो भेद कहे हैं। लुप्ता के भी एक लुप्ता, द्वि लुप्ता और तीन लुप्ता रूप भेद करते हुए प्रथम एक के—धर्म-लुप्ता, उपमान-लुप्ता तथा वाचक-लुप्ता तीन भेद कह धर्म और उपमान-लुप्ता को श्रौती-आर्थी दो-दो रूपों से और कथन किया है। वाचक-लुप्ता केवल ‘आर्थी’ कही गयी है। द्वि लुप्ता के भी वाचक-धर्म-लुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता, वाचकोपमेयलुप्ता और वाचक-उपमान लुप्ता रूप से चार

भेद कहे और माने हैं। धर्मोपमेय और उपमेयोपमान लुताएं नहीं मानी हैं, क्योंकि इन दोनों में क्रमशः केवल उपमान और वाचक शब्द के तथा केवल समान धर्म और वाचक-शब्दों के कथन मात्र में कोई चमत्कार नहीं होता। इसी प्रकार तीसरी लुतोपमा का केवल एक भेद धर्म-उपमान-वाचक लुता ही माना है। क्योंकि वाचक-धर्म-उपमेयलुता रूपकातिशयोक्ति का विषय है, जिससे वह एक स्वतंत्र अलंकार है। धर्म-उपमान-उपमेयलुता में केवल वाचक का तथा वाचक-उपमेय-उपमानलुता में केवल समान धर्म का कथन होने से वहाँ उपमा नहीं मानी है। इनके अतिरिक्त संस्कृत-आचार्यों ने—विंवप्रतिविंवोपमा, वस्तु-प्रति-वस्तु निर्दिष्टोपमा, श्लेषोपमा, शब्द श्लेषोपमा, वैधर्म्योपमा, नियमोपमा, अभूतोपमा वा कल्पितोपमा, समुच्चयोपमा, रसनोपमा, लक्ष्योपमा के बाद उपमा के—‘निरवयवा’, ‘सावयवा’ और ‘परंपरित’ नाम से तीन भेदों का उल्लेख करते हुए प्रथम निरवयवा के शुद्धा और मालोपमा दो भेद, फिर मालोपमा के तीन भेद भिन्न, अभिन्न और लुप्त-धर्मादि भेद कर द्वितीय सावयव के दो भेद ‘समस्त-वस्तु विख्या’ और ‘एकदेश विवर्तिनी करते हुए तीसरी ‘परंपरिता’ के प्रथम दो भेद ‘श्लिष्टा’ और ‘अश्लिष्टा’ जिसे कि ‘भिन्न शब्दा’ भी कहा गया है, मान श्लिष्टा के ‘शुद्धा’ और ‘माला’, एवं ‘अश्लिष्टा’ के भी शुद्धा और माला नाम के दो-दो भेद माने हैं—इत्यादि...।’

अथ अनन्वद् अरु उपमेयोपमाँ लच्छन जथा—

जाकी समता जाहि^१ कों, कहत ‘अँनवै’ भेव^२ ।

उपमाँ दोऊ दुहुँन की, सो उपमा-उपमेव^३ ॥

वि०—“एक-ही वस्तु को उपमान-उपमेय-भाव से कहने पर ‘अनन्वय’ और उपमेय तथा उपमान को परस्पर में एक-दूसरे के उपमान-उपमेयरूप कहे जाने पर ‘उपमेयोपमान’ अलंकार कहे जाते हैं। अनन्वय का शब्दार्थ है संबंध का न होना। इसलिये यहाँ उपमान का संबंध नहीं होता, उपमेय-ही उपमान होता है। एवं ‘उपमेयोपमा’ में उपमेय को उपमान की तथा उपमान को उपमेय की उपमा दी जाती है, अन्य को—तीसरी वस्तु की नहीं। काव्यादर्श के रचयिता ने उपमेयोपमालंकार को ‘अन्योन्योपमा’ नाम से उपमा का ही भेद माना है। संस्कृत-साहित्याचार्यों ने उपमेयोपमा’ के दो भेद—‘उक्त-धर्मा’ और ‘व्यंज-धर्मा’

भी माने हैं। उक्त-धर्मा के भी दो भेद—‘समान धर्मोक्ति’ (जिसमें समान धर्म का कथन हो) और वस्तु-प्रति-वस्तु निर्दिष्ट (जब कि एक ही धर्म दो वाक्यों में वर्णन किया जाय) और माने हैं। व्यंज-धर्मा में समान धर्म का शब्दों के द्वारा कथन न होकर व्यंग्य से प्रतीत होता है। उपमेयोपमा में जिनकी परस्पर उपमा दी जाती है उनके सिवा अन्य उपमान के निरादर किये जाने का उद्देश्य निहित रहता है। अतएव जहाँ अन्य (तीसरे) उपमान के तिरस्कार की प्रतीति न हो वहाँ यह अलंकार नहीं माना जाता। * संस्कृत में इसे ‘परस्पररोपमा’ भी कहा है और इसकी माला का भी कथन मिलता है।’

“अनन्वय को भी अलंकार-आचार्यों ने शाब्द, आर्थ, पूर्ण और लुप्त रूप से वर्णन किया है—इसके उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।”

प्रथम अनन्वै उदाहरन जथा—

मिली न और प्रभा-रती, करी भारती ओर* ।

सुंदर नंदकिसोर सौ,^२ सुंदर नंदकिसोर ॥^३

उपमेयोपमाँ उदाहरन जथा—

तरल नैन तुब कचँन-से, स्याँम ताम्ररस-तार ।

स्याँम ताम्ररस-तार से,^४ तेरे कच सुकमार ॥^५

प्रतीप-लच्छन जथा—

सो ‘प्रतीप’ उपमेइ कों. जब^६ कीजै उपमान ।

कै काहू बिधि बर्न्य कौ, करौ^७ अनादर ठाँन ॥

वि०—“जब उपमेय को उपमान बनाया जाय, जब प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के स्थान पर उलटकर वर्णन किया जाय, अथवा वर्य-विषय का जान-बूझ कर निरादर किया जाय तब ‘प्रतीप’ अलंकार माना और कहा जाता है। प्रतीप

पा०—१. (प्र०) (वे०) (प्र० मु०) दौर.. । २. (वे०) से...। ३. इसके नीचे वे कटेश्वर की प्रति में “अस्थ-तिलक” शीर्षक में लिखा है कि “जहाँ जा वस्तु कौ बरनन करै, तहाँ वा वस्तु कौ वाही के समान वाही कौ बरनन करै तहाँ उपमा-उपमेइ अलंकार होति है, जैसे—राम के समान राम ही हैं, सिव के समान सिव ही हैं—इत्यर्थ...।” ४. (सं० प्र०) ते.. । ५. यहाँ वे कटेश्वर की प्रति में लिखा है—“उपमान-उपमेइ अलंकार वाही कों कहति हैं, जहाँ वौ वस्तु वा वस्तु सों सोभा पावै, जैसे—रे नि मिले ते चंद्रमा सोभा पावतु है, जैसे—ई चंद्रमा ते चंद्रमा सोभा कों प्राप्त होत है। ६. (सं० प्र०) कीजै जो उपमान । (वे०) कीजै जब उपमान । ७. (वे०) करै...।

* दे० अलंकार-सर्वस्व (संस्कृत) विमर्शनी व्याख्या उपमेयोपमा-प्रवरण ।

का आधार साम्य है, फिर भी उपमेय-उपमान के क्रम उलट-पलट देने से ही यह जाना जाता है। उपमा में उपमेय को उपमान के समान कहा जाता है और प्रतीप में उपमान को उपमेय तथा उसके सदृश, अथवा उपमान को उपमेय द्वारा तिरस्कृत किया जाता है—उसे हीन बतलाते हुए उपमेय की अधिक उत्कृष्टता का वर्णन किया जाता है। व्यतिरेक अलंकार में भी उपमेय की उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया जाता है, पर वहाँ उपमेय उपमान-क्रम प्रतीप जैसा उलटा नहीं जाता, अपितु उपमेय की उसके किसी गुण के कथन-द्वारा स्थापना की जाती है। साथ-ही व्यतिरेक में साधर्म्य के साथ कुछ वैधर्म्यपना भी रहता है जो प्रतीप में नहीं, इसमें शुद्ध साधर्म्य-ही रहता है।

अस्तु, प्रतीप पाँच प्रकार का कहा गया है। प्रथम प्रतीप—“जब प्रसिद्ध उपमान को उपमेय कल्पित कर वास्तविक उपमेय के समान वर्णन किया जाय। इसी प्रकार द्वितीय प्रतीप वहाँ होता है, जहाँ उपमान को उपमेय बनाकर वर्णनीय उपमेय का तिरस्कार किया जाय। तृतीय प्रतीप—उपमेय को उपमान कल्पनाकर प्रसिद्ध उपमान का निरादर किया जाय। चौथा प्रतीप वहाँ होता है जहाँ उपमान को उपमेय की उपमा के योग्य न कहा जाय—स्पष्टरूप से सत्य उपमान-उपमेय को उपमान कल्पित कर उसके समान कहा जाय, अर्थात् जब उपमेय के आगे उपमान को अयोग्यता सिद्ध की जाय और पाँचवां ‘प्रतीप’ वहाँ—जहाँ उपमान को उपमेय के सम्मुख व्यर्थ-सा बहुत घटाकर वर्णन किया जाय, इस रीति से उपमान का तिरस्कार किया जाय कि जब उपमान का भार उपमेय ही उठाने में समर्थ है, तो उपमान की आवश्यकता... ? अर्थात् पाँचवें प्रतीप में आदरणीय उपमान का निरादर ही प्रतीपता है—विलोमता है।

अलंकार आचार्यों ने प्रतीप को स्वतंत्र अलंकार के रूप में ग्रहण किया है, पर पंडितराज जगन्नाथ का कहना है कि यदि प्रतीप के भेदों को तनिक सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाय तो प्रथम, द्वितीय और तृतीय प्रतीप के भेद उपमा के अंतर्गत समा जाते हैं। इसी प्रकार चतुर्थ-प्रतीप अनुक्त धर्मरूप से तो व्यतिरेक अलंकार का ही एक अंग है, फिर भी वह तथा पंचम प्रतीप एक प्रकार से आक्षेप अलंकार में समा जाते हैं—उसके अंतर्गत आ जाते हैं।”

अथ प्रथम प्रतीप उदाहरन जथा—

लख्यौ गुलाब-प्रसून में, मैं मधु-छक्यौ मलिंद ।

जैसौ तेरे^१ चिबुक में, ललित^२ जु लीला-बिंद ॥

पा०—(व०) तेरो... । २ (वे०) (प्र० मु०) ललिता लीला... ।

पुनः जथा—

छुटे सदाँ गति सँग लसेँ, पाँनिप-भरे अमाँन ।
स्याम-घटा सोहै अली, सुंदर कचँन-समान ॥

अस्य तिलक

“इहाँ प्रसिद्ध उपमान कों उपमेय रूप में कह्यौ, ताते प्रथम प्रतीप है ।”

अथ अनादर वर्ण्य प्रतीप उदाहरन जथा—

बिद्या बर बाँनी, दँमयंती की सयौनी,
मंजुघोषा-मधुराई प्रीति-रोति की मिलाई में ।
चख चित्रलेखा के, तिलोत्तमाँ कौ^१ तिल लै,
सुकेसी के सुकेस, सची-साहिबी सुहाई में ॥
इंदिरा की^२ उदारता औ माद्री की मनोहराई,
‘दास’ इंदुमती की लै सुकमारताई में ।
राधे के गुमाँन में समौन बनिता न ताके,
हेत ए^३ बिधान इक ठाँव ठैहराई में ॥*

अस्य तिलक

इहाँ उपमान सों उपमेय कौ अनादर कियौ है ।

वि०—रसकुसुमार के संग्रह कर्ता अयोध्या के राजा ददुवा साहिव ने दास जी के इस छंद (कवित्त) को आलंवन विभाव के अन्तर्गत ‘नायिका’ के वर्णन में संकलित किया है ।”

दूसरौ उदाहरन जथा—

महाराज रघुराज जू, कीजै कहा गुमाँन ।
दंड-कोस-दल के धँनी, सरसिज तुम्हें समौन ॥†

वि०—“यहाँ श्लेष से पुष्ट प्रतीप-द्वारा श्रीराम और कमल (पुष्प) का समान वर्णन करते हुए भी दंड, कोष, और दल के श्लेष-संयुक्त अर्थों-द्वारा कुछ न्यून वर्णन किया है—उपमेय कमल से उपमान श्रीरामचन्द्र जी को कुछ न्यून बतलाया गया है ।”

पा०—१. (भा० जी०) (वे०) (प्र० सु०) के...। २. (दे०) (प्र० सु०) इंदिरा-उदारता...।
३. (वे०) (प्र० सु०) या . । ४. (भा० जी०) (वे०) (प्र० सु०) तुम्हें... ।

* २० कु० (अयो०) पृ० मय, २२६ । † सू० सं०-(ला० भ०) पृ० ६१, ६४ ।

अन्य प्रतीप जथा—

उपमाँ को जु^१ अँनादरै, बरनि^२ आदरै देखि ।

सँमता देख न नाँम लै, तऊ 'प्रतीप'^३ अवरेखि ॥

वि०—“दास जी की यह सूक्ति 'द्वितीय प्रतीप' का लक्षण है, यथा —
“उपमेइ कौ उपमान ते, आदर जवै न होइ ।” अर्थात् उपमेय का उपमान द्वारा
अनादर किया जाय और जैसा कि दास जी ने नीचे उदाहरण कहा है ।”

द्वितीय-उपमान के अनादर कौ उदाहरण जथा—

बाग-लता मिल लेइ किँन, भौरँन प्रेम-सँमेत ।

आबति पदमिनि प्राम-दिँग, फिर न लहैगो सेत ॥

तृतीय सँमता न दियो उदाहरण जथा—

द्विज^४-गँन कौ आसै^५ बड़ौ, देवँन कौ प्रिय^६-प्रान ।

ता रघुपति-आगें कहा^७ सुरपति करै गुमान ॥

वि०—“यहाँ उपमेय श्री राम से उपमान सुरपति (इन्द्र) को कुछ हीन
वर्णन किया है, जिससे तीसरा प्रतीप है ।”

पुनः उदाहरण जथा—

अलक पै अलि-वृंद, भाल पै अरध चंद,

भों^८ पै धँनु, नैनन पै बारों कंज-दल में ।

नासा कीर,^९ मुकर कपोलँन,^{१०} बिंब अधरँन,

दार्यों^{११} बारों दसनँन,^{१२} ठोड़ी अंब-फल में ॥

कंबु कंठ, भुजँन^{१३} मृनाल, 'दास' कुच कोक,

त्रिबली-तरंग बारों भौर नाभि^{१४}-थल में ।

अचल नितवँन पै जघँन कदलि - खंब,

बाल^{१५}-पग-तल बारों लाल मखमल में ॥*

पा०—१. (सं प्र०) जो... २. (भा० जी०) वरन । (वे०) वर्ण...। (सं प्र०)
बर्न्य । ३. (भा० जी०) (वे०) (प्र० मु०) प्रतीपै लेखि । ४. (प्र०—३) (भा० जी०) दुज...।
५. (भा० जी०) आसै...। (वे०) आसन...। (प्र० मु०) आशय...। ६. (वे०) तिय...।
७. (वे०) कहै...। ८. (शृ० नि०) (र० कु०) (वे०) भ्रू...। (म० मं०) भू...। ९. (वे०)
करि...। १०. (वे०) (र० कु०) (शृ० नि०) (म० मं०) (न० सि०) कपोल-बिंब अधरँन ।
११. (वे०) (म० मं०) दारों...। १२. (शृ० नि०) 'दसँनि...। १३. (न० सि०) भुज...।
१४. (प्र० मु०) नाभि...। १५. (म० मं०-दि० क०) लाल मखमल बारों बाल-पडातल में ।

*, शृ० नि० (दा०) पृ० २१, ६० । म० मं० (अ०) पृ० ५, १३ । न० सि० ह० (प०
सु०) पृ० १५, १ ।

वि०—“यहाँ भी विविध उपमेयों से उपमानों को हीन बतलाया गया है, अतः तृतीय प्रतीपालंकार है ।”

“दासजी का यह छंद स्वरचित ‘शृंगार-निर्णय’ में नख-सिख-अंतर्गत वेणी वर्णन के, ‘रसुकसुमाकर’ के संग्रह-कर्त्ता तथा ‘मनोज-मंजरी’ रचयिता ने ‘नायिका-वर्णन’ के, एवं ‘नखसिख-हजारा’ में संपूर्ण अग वर्णन के अंतर्गत उल्लेख किया गया है ।

दासजी की इस उक्ति के साथ किसी उद्गू कवि की यह सुमधुर सूक्ति पढ़िये और कहिये—“कितनी सुंदर हैं ।” जैसे—

‘वे कफ़े-पा हमने सहलाए हैं नाज़ुक नर्म-नर्म ।
क्या जताती है तू अपनी नर्मी ऐ मखमल यहाँ ॥”

चतुर्थ प्रतीप उदाहरन जथा—

सही, सरस, चंचल बड़े, मड़े रसीली-बास ।
पै न द्विरेफ़न इन दग़न, सरस कहीं में ‘दास’ ॥

अस्य तिलक—

इहाँ उपमेइ की बराबरी में उपमाँन कौ बरनँन नाहीं है, ताते चौथौ प्रतीप है ।

पाँचव प्रतीप कौ लच्छन जथा—

जहँ कीजतु उपमेइ लखि, उपमाँन व्यर्थ बिचार ।
ता-हू कहत ‘प्रतीप’ हैं, सो ‘पाँचयौ’ प्रकार ॥

वि०—“अर्थात् जब उपमेय को उपमान का कार्य करने में समर्थ पाकर भी उस (उपमान) का अनादर कर दिया जाय—उसे व्यर्थ ठहरा दिया जाय, तब पाँचवाँ प्रतीप कहा जायगा ।”

अस्य उदाहरन जथा—

जहाँ प्रिया^२-आँनन उदित, निसि-बासर सानंद ।
तहाँ कहा अरबिंद^३ है, और^३ बापुरौ चंद ॥

पा०—१. (वें०) यों...। (प्र०-३) मों...। २. (वें०) त्रिया...। ३. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) कहा.. ।

पुनः जथा—

प्रभा-करँन, तँम-गुँन-हरँन, धरँन सहस कर राज ।
तब प्रताप-ही जगत में, कहा भौनु कौ काज ॥

अस्य तिलक—

इहाँ दोऊ दोहाँन में उपमेइ के साँमनें उपमान व्यर्थ कइयो है, ताते पाँचयो प्रतीप है ।

“इति आर्थी उपमाँ...।”

अथ स्रौती उपमाँ लच्छन जथा—

धरँम सैहैज असलेष लखि, सुकवि सरुचि सरि^१ देंइ^२ ।

‘स्रौती उपमाँ’^४ ताहि कों, सुँनत^३ सुँमति चित लेंइ ॥

वि०—‘जैसा पूर्व में कहा जा चुका है कि ‘पूर्णोपमा’ के दो भेद—श्रौती और आर्थी होते । श्रौती का अर्थ है—सुनते-ही बोध कराने वाली । अतएव—इव, यथा, वा, सी, से, सौ, लों और जिमि-आदि सादृश्य संबंध-वाचक शब्दों के प्रयोग में यह—श्रौती उपमा कही गयी है, क्योंकि ये इव-आदि शब्द समान-धर्म के संबंध को बतलाने वाले प्रस्तुत वाचक हैं । इन शब्दों में से कोई भी एक जिस शब्द के अंत में आ जाते उसे उपमान बनाकर अपनी अभिधा-शक्ति-द्वारा सादृश्य-संबंध का बोध करा देते हैं । यद्यपि ये उपमान से ही संबंध रहने के कारण उपमान के ही विशेषण है—उपमान में रहने वाले साधारण-धर्म के बोधक हैं, फिर भी शब्द-शक्ति की सामर्थ्य के कारण ये श्रवण मात्र से (पृष्ठी-विभक्ति की भाँति) उपमान-उपमेय का साधर्म्य-संबंध बोध करा देते हैं ।

एक बात और, जिस प्रकार “इव-आदि” शब्द श्रौती के उद्बोधक हैं, उन्ही प्रकार “आर्थी उपमा” के भी—तुल्य, तूल, सम, समान, सरिस, सदृश आदि उपमा-वाचक शब्द द्योतक हैं, क्योंकि ये भी समान धर्म वाले उपमान-उपमेय दोनों के वाचक हैं । ये कहीं उपमेय के, कहीं उपमान के और कहीं उपमानोपमेय दोनों के साथ संबंध रखते हैं । अतएव इनके प्रयोग में अर्थ पर विचार करने से ही समान-धर्म का बोध होता है, क्योंकि ये इव-आदि की भाँति साधर्म्य के

पा०—१. (प्र० मु०) करि, जहाँ सुकवि सरि...। (स० प्र०) धरँम सैहैज के स्लेष लखि ..। २. (स० प्र०) (वें०) कहिं...। ३. (प्र० मु०) देत । ४. (स० प्र०) (वें०) स्रौती उपमाँ पूरनें. सुनें सुमति...। ५. (प्र० मु०) कहत सदां सुभचेत ।

साक्षात् वाचक नहीं हैं। जिस प्रकार 'इवादि' शब्द जिस किसी के संग लगे रहते हैं - संबंध रखते हैं, उसे शब्द-शक्ति के कारण उपमान जान लिया जाता है यह निर्विवाद है, पर तुल्यादिवाचक शब्द जिससे संबंध रखते हैं, उसका उपमान होना जरूरी नहीं। इनके प्रयोग में उपमेय-उपमान का बोध अर्थ के विचार पर विलंब से होता है, यथा—

“आर्थ्यामुपमानोपमेयनिर्णये विलंबे नास्वादविलंबः तद्भावः श्रौत्यमिति...।”

- काव्यप्रकाश उद्योत टीका भा २

सौती उपमा उदाहरन यथा—

बुध अँगुनोंगुँन^१-संग्रहें, खोलें सहित विचार ।

ज्यों हर-गर गोऐं गरल, प्रघटै ससि-हिं लिलार ॥

पुनः उदाहरन जथा—

ज्यों अहि-मुख-विष, सीप-मुख-मुकत स्वाँति-जल होइ ।

बिगरत कुमुख, सुमुख बँनत, त्यों-हीं अच्छर सोइ^२ ॥

दूसरी उदाहरन जथा —

ऊपर-ही अँनुराग लसै^३ अरु^४ अंतर कौ रँग है कछु न्यारौ ।

क्यों न तिन्हें करतार करै, हरुऔ अरु गुँजँन लों मुख कारौ ॥

भीतर-बाहर-हूँ इक^५ 'दास', वही रँग, दूजौ जो^६ नाँहि सँचारौ ।

ते गुँनवंत गरु हूँ रहै^७, नित मूँगा ज्यों मोतिन-माँहि बिहारौ^८ ॥

अथ सौतीमालोपमाँ धरँम ते जथा —

‘दास’ फँनि मँनि सों ज्यों पंकज तरँनि सों,

ज्यों ताँमसी रजँनि सों त्यों चोर उँमहत है ।

मोर जलधर सों^९ ज्यों चकोर हिमकर सों,

ज्यों भौर इंदीवर सों, ज्यों कोबिद कहत हैं ॥

पा०—१. (प्र० मु०) बुध गुँन-अब गुँन...। २. (वें०) दोइ । ३. (वें०) लपेटे ते, अंतर...। (सं० प्र०)...लपेटे, औ अंतर ...। ४. (प्र० मु०) जिहि...। ५. (सं० प्र०) बाहर है जो 'दास' वही...। (वें०)...बाहर-हूँ यह 'दास' वही...। (भा० जी०) (प्र० म०) जहाँ... वही...। ६. (वें०) (भा० जी०) (प्र० मु०) कौं...। ७. (सं० प्र०) (वें०) करेँ । ८. (वें०) ते गुँनवंत गरु हूँ करेँ, नित मूँगा ज्यों मोतिन संग बिहारौ । (सं० प्र०)...करेँ, नित मूँगन-मोतिन-संग...। (प्र० मु०)...गुनवंत महा गरुये, जग मूँगा मोतिन संग...। ९. (वें०) (प्र० मु०)...जलधर सों, चकोर...।

कोकिल बसंत सों, ज्यों काँमिनि सुकंत सों,
ज्यों संत भगवंत सों, ज्यों नैम^१ निबहत हैं ।
भिच्छुक भुवाल सों, ज्यों मीन जल-माल सों,
ज्यों नैन नंदलाल सों ज्यों चायन^२ चहत हैं ॥

पुनः दूसरी उदाहरन जथा—

मित्र ज्यों नेह-निबाह करै, कुल^३ काँमिनि ज्यों परलोक सुधारँनि ।
संपति-दाँनी^४ सु साहिब ज्यों, गुरु-लोगँन ज्यों^५ गुरु-भ्याँन-पसारँनि ॥
'दास'जू भ्रातँन-सी^६ बल-दाइँन, मात^७ सी ज्यों बहु दुःख निवारँनि ।
या जग में बुधवंतँन कों^८, बर विद्या बड़ी बित^९ ज्यों हित-कारँनि ॥*

वि०—“कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी ‘अलंकार-मंजरी’ में इस छंद के प्रति लिखा है कि “यहाँ विद्या को मित्र, कुल-कामिनो आदि अनेक उपमाएँ दी हैं और उनके नेह-निवाहना, परलोक-सुधारना आदि पृथक्-पृथक् धर्म कहे गये हैं, इसलिये यहाँ “भिन्नधर्मा मालोपमा” है ।” ऊपर के कवित्त में भी यही बात है, वहाँ भी श्री नंदलाल के प्रेम-प्रति अनेक उपमाएँ दी हैं, अतः वहाँ भी ‘भिन्नधर्मा मालोपमा’ है ।”

तीसरी उदाहरन स्लेस ते जथा—

चंद की कला-सी, सीत-करँन हिए कों^१ गुँन,
पाँनिप - कलित मुकताहल के^२ हार - सी ।
बेनी बर बिलसै प्रयाग—भूमि ऐसी है,
अमँल छवि छजि^३ रही जैसे^४ कछु आर-सी ॥
'दास' नित देखिऐ सची-सी संग उरबसी,
काँमद अँनूप कलपद्रुम^५ को डार-सी ।

पा०—१. (वें०) नैम-ही गहा...। (प्र० मु०) नेमहिँ गहत...। २ (वे०) चापन बहत...। (भा० जी०)... नंदलाल सों त्यों चायन...। ३. (सं० प्र०) (वें०)...कुल-नारिन ज्यों...। (प्र० मु०) कुल-नारि ज्यों...। ४. (सं० प्र०) (वें०) (प्र० मु०) दाँन...। ५. (प्र०) (प्र० मु०) सों...। ६. (वें०) ज्यों...। ७ (सं० प्र०) (वे०) मातनि ज्यों बहु...। (प्र० मु०) मात-सी वौ...। (अ० सं०) मात-सी है नित...। ८. (सं० प्र०) (वें०) पित...। १०. (सं० प्र०) (वें०) (प्र० मु०) की...। ११. (सं० प्र०) की...। १२. (वें०) छाजि...। (प्र० मु०) छाइ...। १३. (वें०) जैसी...। १४. (वें०)...कल्पद्रुमन के...।

* अलंका० मं० (क० पो०); पृ० ७१ ।

सरस - सिंगार - सुबरँन बर भूषँन - सी,
बनिता ज्यों^१ फबिता है कविता उदार-सी ॥

वि०—“यहाँ” निरवयवा—(जहाँ एक उपमेय की अनेक उपमाएँ दी जाँय) मालोपमा है, क्योंकि कविता रूप उपमेय को अनेक उपमाओं से श्लेष-द्वारा अलंकृत किया गया है ।”

दृष्टांत अलंकार लच्छन जथा—

लखें,^२ बिंब^३ प्रतिबिंब-गति, उपमेयोपमाँन ।
लुप्त सन्द बाचक किये,^४ सो^५ ‘दृष्टांत’ सुजान ॥

पुनः भेद जथा —

साधरँमी^६-वैधरँम औ, वैसौई^७ कहु धर्म ।
कहुँ^८ दूसरी बात ते, जान परै सोई मर्म ॥

वि०—“जहाँ उपमेय-उपमान वाक्यों के साथ उनके साधारण धर्मों का विंब-प्रतिविंब-भाव हो—वैषम्य होते हुए भी भाव-साम्य हो, वहाँ “दृष्टांतालंकार” कहा जायगा । विंब-प्रतिविंब-भाव उसे कहते हैं जहाँ वास्तव में भिन्न उपमान-उपमेय सादृश्य गुण के कारण एक से प्रतीति होते हुए भी पृथक् पृथक् कथित हों । काव्य-प्रकाशकार महामहिम श्रीमम्मट कहते हैं—“दृष्टोडतो निश्चयो यत्र स दृष्टांतः ।” अर्थात् जिस उदाहरण में निश्चय रूप से साधारण धर्मादि का प्रमाण देख लिया गया हो उसका नाम “दृष्टांत” है ।” यह वहाँ—‘साधर्म्य’ और ‘वैधर्म्य’ नाम से दो प्रकार का कहा गया है । कोई-कोई इसकी ‘माला’ भी मानते हैं । अतएव दास जी ने इन—साधर्म्य, वैधर्म्य और साधर्म्य की माला तीनों का ही वर्णन किया है ।

श्री पंडितराज जगन्नाथ त्रिशूली ने अपने प्रमुख ग्रंथ ‘रसगंगाधर’ में कहा है कि “प्रतिबिंब-गति और दृष्टांतालंकार में अधिक भिन्नता नहीं है, अतएव इनको एक-ही अलंकार के दो भेद कहे जाने चाहिये, पृथक् पृथक् नहीं । किंतु प्रतिवस्तूपमालंकार में केवल साधारण धर्म का वस्तु-प्रति-वस्तु-भाव—एक धर्म शब्द-भेद-द्वारा दोनों में कहा जाता है और ‘दृष्टांत’ में—उपमेय, उपमान और साधारण धर्म इन तीनों का विंब-प्रति-विंब भाव रहता है, अर्थात् उपमेय तथा

पा०—१. (वें०) (प्र० मु०) की.. । २. (वें०) लखी.. । (प्र० मु०) लखि बिंबा-प्रतिबिंब... । ३. (वें०) (प्र० मु०) है... । ४. (वें०) (प्र० मु०) साधर्मो-वैधर्म सो, कहु... । ५. (प्र० मु०) कहु बिसेस है धर्म । (सं० प्र०) कहुँ बिसेसतई... । ६. (प्र० मु०) कहुँ होत सामान्य ते, जानत हैं जे मर्म ।

उपमान के दोनों वाक्यों में भिन्न-भिन्न समान धर्म कहे जाते हैं, इसलिये इसकी पृथक्ता परिपूर्ण है ।

अर्थांतरन्यास और दृष्टांत अलंकारों को भी कोई-कोई मिलने-जुलने अलंकार मान इनको एक ही अलंकार मानने का आग्रह करते हैं, किन्तु अर्थांतरन्यास में साधारण बात की विशेष बात से अथवा विशेष बात की साधारण बात से पुष्टि करायी जाती है, दृष्टांत में दोनों ही समान होती हैं, यहाँ दोनों बातों में समता होती है ।

कुछ संस्कृत-ग्रंथों के आधार पर भाषा के अलंकार-ग्रंथों में दृष्टांत अलंकार के साथ 'उदाहरण' अलंकार का भी उल्लेख किया है और उसका लक्षण लिखा है—

“ज्यों, यों, जैसे कहि करे, जुग घटना सँम तूल ।

‘उदाहरण’ भूपन कहैं, ताहि सुकवि बुधि-मूल ॥”

पर अलंकार आचार्य-विशेषों ने इन ज्यों यों,—आदि वाचकों का होना वा न होना उदाहरण की दृष्टांत से भिन्न गणना का पर्याप्त कारण नहीं माना है । इसलिये, दासजी ने उसे भिन्न अलंकार भी नहीं माना है ।

कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी अलंकार-मंजरी में बहु संस्कृत-ग्रंथों के आधार पर “उदाहरण” अलंकार के प्रति लिखा है कि “जहाँ सामान्य रूप से कहे गये अर्थ को भली प्रकार समझने के लिये उसका एक अंश (विशेष रूप) दिखला कर उदाहरण दिखाया जाय, वहाँ “उदाहरण अलंकार” होता है ।” अर्थात् कहे हुए सामान्य अर्थ का इव, यथा, जैसे, और दृष्टांतादि शब्दों के प्रयोग-द्वारा उदाहरण (नमूना) दिखाया जाना....।

आगे चलकर फिर आप लिखते हैं—“दृष्टांत अलंकार में उपमेय-उपमान का विषयप्रतिविम्ब-भाव होता है और ‘इव’-आदि उपमा-वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होता । उदाहरण अलंकार में सामान्य अर्थ को समझाने के लिये उसके एक अंश विशेष की दिग्दर्शन कराया जाता है । प्रायः साहित्यचार्यों ने इवादि के प्रयोग के कारण ‘उदाहरण’ को उपमा का ही एक भेद मान लिया है, पर पंडित-राज (जगन्नाथ त्रिशूली) के मतानुसार यह भिन्न अलंकार है । वहाँ उन (पंडित-राज) का कहना है कि उदाहरण अलंकार में सामान्य-विशेष-भाव होता है, उपमा में नहीं, और सामान्य विशेष भाव वाले ‘अर्थांतरन्यास’ में ‘इवादि’ शब्दों का प्रयोग नहीं होता, उदाहरण में होता है । इसलिये उदाहरण को भिन्न अलंकार मानना युक्ति-संगत है ।”

अथ साधर्म को उदाहरन जथा—

काँन्हर - कृपा - कटाच्छ की करै काँमनों 'दास' ।
चातक-चित में चेत^१ ज्यों,^२ स्वाँति-बूँद की आस ॥

पुनः दूसरी उदाहरन जथा—

और सों केतऊ बोलै-हँसै, पै पीतँम की तुही^३ प्यारी है प्राँन की ।
केतौ^४ चुनै चिनगी पै^५ चकोर कों चोंप है केवल चंद-छटाँन की ॥
जौलों न^६ तू, तब-ही लों अली, गति 'दास' के ईस पै और तियाँन की ।
भास तरैयन में तब लों, जब लों प्रघटै न प्रभा जग भाँन की ॥*

वि०—“दासजी के साधर्म्य-दृष्टांत के ये दोनों उदाहरण सुंदर हैं । प्रथम का अर्थ स्पष्ट है, दूसरे में मानिनी नायिका के प्रति सखी वा दूती-द्वारा यह कहा जाना कि “नायक का तुझ पर ही सर्वोत्कृष्ट प्रेम है । अरी बावली, जब तक तु उनके पास नहीं जाती तभी तक उस (नायक) की अनुरक्ति दूसरी स्त्रियों पर है—अर्थात् जब तक भानु की प्रभा नहीं फैलती तब तक ही तारागणों की क्षीण-छाया दिखलाई देती है आदि..., बहुत सुंदर सूक्ति है । इस सुमधुर सूक्ति के साथ किसी कवि की यह नीचे लिखी रचना भी देखिये, जैसे—

“हे ये नायक दृच्छिन छल, सुतौ अनुकूल कियौ चितचोर है ।

हे अभिमानी सो आपने रूप कौ, दीन है तोसों रहै निसि-भोर है ॥

हे तन साँवरों, गोरों रंगों मँन, तेरे ही प्रेम-परयौ झकझोर है ।

हे सुख-दायक नैनन-नागर, हे ब्रज-चंद, पै तेरो चकोर है ॥”

—सुदरी-तिलक

एक बात और, वह यह कि दास जी के इस सुमधुर छंद को ‘सुंदरी-तिलक’-कार भारतेन्दु जी ने मान के, ‘मनोज-मंजरी’-कार अज्ञान कवि ने मानिनी नायिका के और रसकुसुमाकर के कर्त्ता महाराज अयोध्या ने ‘सखी-कृत शिद्धा के अंतर्गत संग्रह किया है ।”

पा०—१. (भा० जी०) बसन ज्यों...। (प्र० सु०) बसत है...। २. (भा० जी०) त्यों...। (वे०) तौ...। ३. (वे०) (प्र० सु०) (सु० ति०)...की तू पियारी है...। (स० प्र०), प्रियपीतम की है पियारी तू...। ४. (वे०) (प्र०) (भा० जी०) केती । ५. (वे० प्र० सु०) (म० मं०) कों चकोर पै...। ६. (सु० ति०) नहीं तू तौलों...।

* सु० ति० (भारतेन्दु) १३१, ४४५ । र० कु० (अयो०) ५०, ५७, १३४ । म० मं० (अज्ञा०) ५० ५६, २०७ ।

साधारण दृष्टांत की माला जथा—

अरविंद प्रफुल्लित देखि कें भौर, अचानक जाइ अरें पै अरें ।
 बन-माल-थली लखि कें मृग-साबक, दौरि बिहारि^१ करें पै करें ॥
 सरसी-ढिंग पाइकें^२ ब्याकुल मीन, हुलास^३ सों कूदि परें पै परें ।
 अबलोकि गुपाल कों 'दास जू' ए, अखियाँ तजि-लाज ढरें पै ढरें ॥*

वि०—'दास जी प्रस्तुत इस सुंदर उदाहरण के चतुर्थ चरण में उपमेय वाक्य निहित है, पूर्व के तीनों चरणों में उपमानों का कथन है और उपमेय-उपमान वाक्यों का विव-प्रतिविव भाव भी है ।

काव्य-प्रभाकर रचयिता भानु ने दास जी के इस छंद को परकीया नायिकांत-गंत-'ऊटा नायिका' के और रमकुसुमाकर के संग्रहकर्त्ता ने आलंबन विभाव के अंतर्गत संकलित किया है । अतएव दास जी से पूर्व इस भाव पर रम की खान 'रसखान' कहते हैं—

‘अति लोक की लाज-समूह मे घेरि कें, राखि थकी भव-संकट सों ।
 पल में कुल-काँनि की मेंड़ नखी, नहिं रोक सकीं पल के पट सों ॥
 ‘रसखान’ सों केतो उचाटि रही, उचटी न सँकोच की औचट सों ।
 अलि कोटि कियौ हटकी न रही, अटकी अखियाँ लटकी लट सों ॥’

और श्री हरिराय जी कहते हैं—

“मुन राधे नवनागरी हो, हम न करें बिसवास ।
 पूरेन ससि कर-पाइकें, चकोर न धीर धरात ॥”

वैधर्म दृष्टांत उदाहरण जथा—

जीवन-लाभ हमें, लखै^{*} स्याम-तिहारो काँति ।
 बिनाँ स्याम-धन-छँन प्रभा, प्रभा लहै किहि भौँति ॥

वि०—“यहाँ पूर्वीर्ध में उपमेय वाक्य श्यामसुंदर की कांति और उत्तरार्ध के उपमान वाक्य में उसकी प्राप्ति का अभाव “बिना-स्याम-धन०” कहा गया है । इसलिये वैधर्म्य से विव-प्रतिविव भाव लक्षित है ।”

पा०—१. (का० प्र०) (का० का०) निहार । २. (का० प्र०) (का० का०) आइ कें .. ।
 ३. (सं० प्र०) बिलास... । (का० का०) बिलास ते कूद... । ४. (प्र०—३) लखे... ।

* , का० प्र० (भानु) पृ० १७३ । का० का० (च० सि०) पृ० ४३ । र० कु० (अ०) पृ० ४४, २१४ ।

अथ अर्थांतरन्यास लच्छन जथा—

साधारँन कहिऐ बचनँ, कहु अबलोकि सुभाइ ।
ता कों दृढ़ पुनि कीजिऐ, प्रघट बिसेसै^२ ल्याइ ॥

*

कै बिसेस-हीं दृढ़ करें^३ साधारँन कहि 'दास' ।

साधरमी^४ वैधरँम हूँ, सो 'अरथांतरन्यास' ॥

वि०--“अर्थांतरन्यास अलंकार के प्रति सर्वमान्य परिभाषा है कि “जहाँ सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से साधर्म्य किंवा वैधर्म्य से समर्थन किया जाय तो वहाँ उक्त अलंकार होता है, यथा

“सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येत समर्थ्यते ।

यत्तु सोऽर्थांतरन्यासः साधर्म्येण तरेण वा ॥”

और 'भाषा-भूषण' के रचयिता कहते हैं—

“सामान्य ते बिसेस दृढ़, तत्र अरथांतरन्यासु ।”

जो कि 'चंद्रालोक' संस्कृत का अनुवाद जैसा है । अस्तु, यहाँ साधारणतया— एक अर्थ सामान्य वा विशेष के समर्थन के लिये अन्य (विशेष वा सामान्य) अर्थ रखा जाता है—अर्थात् सामान्य वृत्तांत का विशेष वृत्तांत से और विशेष वृत्तांत का सामान्य वृत्तांत से समर्थन किया जाता है । इन सामान्य-विशेष में प्रायः एक प्रकृत और दूसरा अप्रकृत होता है । इसलिये इस अलंकार को आचार्यों ने—‘विशेष से सामान्य का साधर्म्य से समर्थन,’ ‘सामान्य से विशेष का साधर्म्य से समर्थन,’ ‘विशेष से सामान्य का वैधर्म्य से समर्थन’ और ‘सामान्य से वैधर्म्य का वैधर्म्य से समर्थन’ आदि चार भेद किये हैं । दासजी ने इन चारों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए इन (दोनों) की माला भी मानी है । विश्वनाथ चक्रवर्ती ने साहित्य-दर्पण (संस्कृत) के काव्यलिंग प्रकरण (दशम परिच्छेद ६३ वाँ श्लोक) में ‘काव्यलिंग’ और अर्थांतरन्यास अलंकारों की पृथक्ता का वर्णन करते हुए लिखा है कि “कई लोग कार्य-कारण भाव में अर्थांतरन्यास नहीं मानते, वाक्यार्थ-गत काव्यलिंग से ही उसे गतार्थ समझते हैं सो ठीक नहीं, क्योंकि हेतु (कारण)— जापक, निष्पादक और समर्थक तीन प्रकार का होता है । जहाँ जापक हेतु होता है वहाँ ‘अनुमान’ अलंकार होता

पा०—१. (वे०) (प्र० मु०) पुनि दृढ़...। २. (भा० जी०) बिसेस बनाइ । (वे०) बिसेस बनाइ । ३. (स० प्र०) (वे०) करौ...। ४. (स० प्र०) (वे०) साधरमहुँ वैधरम है...। (प्र० मु०) साधरमहि वैधर्म करि यह...।

है और जहाँ समर्थक हेतु होता है वहाँ अर्थान्तरन्यास । इसी प्रकार जहाँ निष्पादक हेतु होता है, वहाँ काव्यलिंग अलंकार समझना चाहिये । अतएव कार्य-कारण भाव के कारण अर्थान्तरन्यास काव्यलिंग से भिन्न होता है । यही बात आचार्य 'रुच्यक' ने अपने 'अलंकार-सर्वस्व' के काव्यलिंग प्रकरण में कही है । किंतु पंडितराज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' के अर्थान्तरन्यास प्रकरण में और काव्य-प्रकाश (संस्कृत) को टीका 'उद्योत'कार ने तथा अण्णय दीक्षित ने 'कुवलयानंद' के अर्थान्तरन्यास-प्रकरण में—'कार्य-कारण के संबंध-द्वारा समर्थन में 'काव्यलिंग अलंकार' ही माना है, अर्थान्तरन्यास नहीं । इन महानुभावों का वहाँ कहना है कि 'वाक्यार्थ चाहे कांत्तासहित हो वा रहित, यदि कार्य-कारण के संबंध में भी अर्थान्तरन्यास मान लिया जायगा तो काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास के उदाहरण दोनों आपसे धुल-मिल जायेंगे, इसलिये सामान्य-विशेष संबंध में अर्थान्तरन्यास और कार्य-कारण के संबंध में 'काव्यलिंग' मानना ही युक्ति-युक्त है । इसी प्रकार 'उद्भटाचार्य' के 'काव्यालंकार-सारसंग्रह' के फुटनोट में और बाबू ब्रजरत्न दास के 'अलंकार-रत्न' में अर्थान्तरन्यास तथा दृष्टान्तालंकार का पृथक्त्व दिखलते हुए कहा गया है कि 'अर्थान्तरन्यास में समर्थ-समर्थक दोनों में एक विशेष और दूसरा सामान्य होता है, अर्थात् सामान्य का विशेष से एवं विशेष का सामान्य से समर्थन होता है—समर्थ-समर्थक भाव प्रधान रहता है और दृष्टान्त में समर्थ-समर्थक दोनों सामान्य अथवा विशेष होते हैं । यहाँ सामान्य का सामान्य से और विशेष का विशेष से समर्थन होते हुए भी समर्थ-समर्थक भाव प्रधान न रहकर विव-प्रति-विव भाव प्रधान रहता है ।

साधारण सामान्य की दृढ़ता विसेश ते उदाहरन जथा —

जाकौ जासों होइ हित, वहै भलौ तिहि 'दास' ।

जगत ज्वाल-मै जेठ-ही, जी सों चहै जवास ॥

*

बरजत-हू जाचक जुरें, दानवंत की ठौर ।

करी करन-भारत रहै, तौऊ तजत न भौर ॥

वि०—“ये दोनों उदाहरण क्रमशः—विशेष से सामान्य का साधर्म्य से समर्थन और सामान्य से विशेष का साधर्म्य से समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास के हैं ।

पा०—१. (स० प्र०) तऊ भ्रमे तत भौर । (भा० जी०) तजत तऊ नहिं... ।
(वे०) तऊ भ्रमत हैं भौर ।

प्रथम स्वमन के दोष से सुंदर-असुंदर वस्तु भी असुंदर-सुंदर लगती है, इस सामान्य बात को यहाँ जेट-ज्वाल से प्रदर्शित की गयी है, अर्थात् जिससे जिसका हित हो वही भला है—सुंदर है, यह सामान्य बात जगत को जलानेवाले जेट-ज्वाल को जवासा-द्वारा जो से चाहने में कहा गया है। दूसरा उदाहरण भी स्फुट है।”

साधरँम की माला जथा—

धूरि चढ़ै नभ पोंन-प्रसंग ते, कीच भई जल-संगत पाई ।
 फूल-मिलें नृप पे पहुँचै कृमि, काठँन^१-संग अनेक बिथाई ॥
 चंदन-संग कुदारु सुगंध है, नीम प्रसंग लहै करुवाई ।
 ‘दास’ जू देख्यौ सही सब ठौरँन, संगत कौ गुँन-दोष न जाई ॥ *

बैधरँम ते जथा—

जासों^२ जाकौ होइ हित, बहै भलौ तिहि^३ ‘दास’ ।
 साँमन जग-ज्याँमन गुँनों, का लै करै जवास ॥

अथ माला जथा—

पंडित, पंडित सों मुख-मंडित, सायर, सायर के^४ मँन-मँन ।
 संतै, संत भँनंत भलौ, गुँनवंतन कों गुँनवंत बखानें ॥
 जा पर जाकौ^५ हेत नहीं, कहिए सु कहा तिहि की गति जानें ।
 सूर कों सूर, सती कों सती, अरु ‘दास’ जती कों जती पैहचौन ॥ †

“इससे पूर्व ‘वेंकटेश्वर’ की मुद्रित प्रति में ‘अस्य तिलक’ और—‘पंडित कों पंडित सों आनंद होत है, अरु साइर कों साइर सों आनंद होत है, संत ते संत कों हरष होत है, गुनवंत सों गुनवंत कों हरष होत है तथा जैसे सूर कों सूर ते आनंद होत है, सती कों सती ते आनंद होत है, तैसैं-हीं जिहि ते जिहिकौ संबंध नहीं है वाते वाकों का आनंद होइगौ, जैसे—पंडित और मूर्ख बेस्या और संतआदि।’ यह ग्रंथकार दामजी कृत ‘तिलक’ नहीं है, क्योंकि अन्यत्र के तिलकों को देखकर इसकी कृत्रिमता स्वयं लक्षित हो जाती है।”

पा०—१. (प्र० मु०) काँटन .. । (भा० जी०) काँटन संग अनेक बिथाई । २. (वें०) (भा० जी०) (प्र० मु०) जाकौ जासों .. । ३. (वें०) हित... । ४. (सं० प्र०) सों सुख माने । ५. (वें०) जा पहुँचै जा कहें... । (प्र० मु०) जापर जाकर .. ।

* क० कौ० (रा० न० त्रि०) पृ० ४०३ प्र० भा० । † क० कौ० (रा० न० त्रि०) पृ० ४०३—प्र० भा० ।

साधरैम 'बसेस की दृढ़ता सामान्य ते जथा—

कैसे फूले देखियतु' प्रात कँमल के गोत ।

'दास'^२ ज्यों मित्र-उदोत लखि, सबै प्रफुल्लित होत ॥

वि०—“दासजी की इस उक्ति पर रहीम की एक उक्ति याद आ गयी है, देखिये वह कितनी सुंदर है, यथा—

“सब ही कों सुख होत है, निरखि आपनों गोत ।

ज्यों बड़री अँखियाँनि लखि, अँखिन कों सुख होत ॥”

वैधरैम बिसेसकी दृढ़ता सामान्य ते जथा—

मूँढ़ कहा^३ गथ-हाँनि की, सोच करत मल हाथ ।

आदि-अंत भरि इंदिरा, रही कौन के साथ ॥

“इसके बाद वेंकटेश्वर प्रेसवाली प्रति मे ‘तिलक’ शीर्षक के अंतर्गत यह और लिखा मिलता है—‘हे मूर्ख, तुम क्यों सोच करते हो, यह संसार में पुरुष जन्मते हैं, धनवान होते हैं, उनके पास आदि अंत-भरि-लक्ष्मी नहीं रहती अतएव सोच करना अनुचित है ।’ यह भी पूर्व की भांति बेतुका है……।”

अथ विकस्वर अलंकार लच्छन जथा—

कहि बिसेस सामान्य पुँनि, कहिये बहुरि बिसेस ।

ताहि ‘विकस्वर’ कहत हैं, जिनकें^४ बुद्धि असेस ॥

वि०—विशेष का प्रथम सामान्य से समर्थन कर पुनः उस सामान्य का समर्थन विशेष किये जाने पर ‘विकस्वर’ अलंकार कहा गया है, यथा—

“यस्मिन्विशेष सामान्य विशेषाः स विकस्वरः ।

चंद्रालोक १।६६

विकस्वर का अर्थ है विकास और विकास का अर्थ है—“विकाशो विजने-‘स्फुटे” (विजय कोप शब्द कल्पद्रुम) । “अतएव किसी विशेष अर्थ का सामान्य-अर्थ से किया गया समर्थन संतोष-प्रद न मान कर फिर उसे भली भाँति स्पष्ट करने के लिये दूसरे विशेष को उपमा या अर्थांतरन्यास की रीति से समर्थन किया जाने पर उक्त अलंकार की स्थिति कही गयी है । सस्कृत-अलंकाराचार्यों ने भी उक्त विधि के अनुसार ‘विकस्वर’ के उपमा-द्वारा और अर्थांतरन्यास-विधि से दो भेद माने हैं । दासजी ने इसका एक ही भेद द्विरूप से माना है ।”

पा०—१. (भा० जी०) देखिये .. । २. (वे०) (प्र० मु०) दास मित्र-उद्योत (उद्योत) लखि । ३. (वे०) कहाँ गत .. । ४. (प्र०) (प्र० मु०) की... ।

उदाहरन जथा—

देति^१ सुकीया तू पो कों सुखै, निज काज^२ बिगारति है मति-मैली ।
 'दास जू' ए^३ गुन हैं जि^४न में, ति^५न-हां की रहै जग कीरति फैली ॥
 बात सही बिधि कीनी^६ भली, तिहि^७ यों-ही भलाइन^८ सों निरमैली ।
 काढ़ि अंगारन में गढ़ि^९ गेरें-हुँ, देति सुवासनाँ चंदन--चैली ॥

वि०—“यह माननी नायिका के प्रति मान-मोचन रूप में सखी वा दूती की उक्ति है कि “स्वकीया के विशेषार्थ (प्रियतम को नित्य-आनंद देने वाली) का “काज बिगारति है मतिमैली” के सामान्यार्थ से समर्थन करने को उपमा और अर्थांतरन्यास प्रयुक्त चंदन-चैली के विशेषार्थ से सुंदर समर्थन—अर्थात् क्रोध-छोड़ नायक से मिलने का वर्णन, कितने अच्छे ढंग से किया है ।

एक बात, यह कि इस अलंकार को कुवलयानंद (संस्कृत) की भाँति भाषा के अलंकार ग्रंथों में भी स्वतंत्र अलंकार रूप में गणना की गयी है, पर संस्कृत के अन्य अलंकार-सर्वस्वादि ग्रंथों में ऐसे उदाहरण अर्थांतरन्यास के अंतर्गत-ही बतलाये हैं । पंडितराज जगन्नाथ ने विकस्वर के उपमा संबंधित पूर्व रूप को उदाहरण अलंकार के और अर्थांतर-रीति से विकसित के द्वितीय रूप को अर्थांतरन्यास के अंतर्गत माना है । अस्तु, मुख्यतया यह अलंकार उदाहरण और अर्थांतरन्यास के अंतर्गत-ही कहा-सुना जाना चाहिये ।”

निदरसनाँ अलंकार लच्छन जथा—

एक क्रिया ते देति जहँ, दूजी क्रिया लखाइ ।
 सत-असत-हुँ ते^८ कहत हैं, 'निदरसनाँ' कबिराइ ॥

✽

सँम अनेक वाक्यर्थ कौ, एक कहै धरि टेक ।
 एकै पद^९ के अर्थ कौ, थापै यै वो एक ॥

वि०—“संस्कृत-अलंकाराचार्यों के ‘निदर्शना-लक्षण’ के प्रति विविध मत हैं, फिर भी बहु-मत संपादित रूप से कहा जा सकता है कि संभव-असंभव होते हुए भी

पा०—१. (स० प्र०) देती सुकीय...। २. (स० प्र०) (वे०) निज केती बगारत हू .।
 ३. (वे०) अवगुन...। ४. (स० प्र०) (वे०) (प्र० मु०) कीन्हों भली...। ५. (स० प्र०) तो हियोई भलाइन सों .। (प्र० मु०) तोहि...। ६. (वे०) भली इन सों...। ७. (स० प्र०)... गढ़ि डारे हैं, देति सुवासता...। (वे०)...गढ़ि गार हूँ, देति सुवासता...। ८. (भा० जी०) सों...। (वे०) कों...। ९. (स० प्र०) पद कर अर्थ कै...।

जब वस्तुओं का संबंध विव-प्रतिविव भाव से निदर्शन किया जाय—निश्चय रूप से दिखलाया जाय तो 'निदर्शना' होती है, यथा—

“संभवन्वस्तु संबंधोऽसंभवन्वाऽपि कुत्रचित् ।
यत्र विवानुविबत्वं बोधयेत् सा निदर्शना ॥”

अथवा—“असंभवन्वस्तु संबंध उपमापरिकल्पकः” (काव्य-प्रकाश) अर्थात्, वस्तुओं के असंभव संबंधों की उपमा जहाँ कल्पना की जाय वहाँ निदर्शना होती है । मम्मट की यह परिभाषा 'उद्भट' से ली हुई है और निदर्शना माला की मान्यता मुख्य-जन्य है, इत्यादि । ब्रजभाषा के भूषण भूषण कवि कहते हैं—

“सहस्र वाक्य जुग अरथ को, करिऐ एक आरोप ।
भूपन ताहि 'निदर्सनाँ', कहत बुद्धि दै ओप ॥

और इसके भेद —

“एक क्रिया सों निज अरथ, और अर्थ को ग्यौन ।
ताहू सों जु 'निदर्सनाँ', भूपन कहत सुजौन ॥”

तथा भाषा-भूषण रचयिता महाराज जसवंतसिंह जोधपुर कहते हैं—

“कहिऐ त्रिविव 'निदर्सनाँ', वाक्य-अर्थ-संम दोइ ।
एक बिसैं पुनि और गुन, और वस्तु में होइ ॥

*

कहिऐ कारज देखि कछु, भलौ-बुरौ फइ-भाव ।”

इत्यादि । अतएव संस्कृताचार्यों के अभिमत से निदर्शना के—जहाँ, वाक्य वा पद के अर्थ का असंभव संबंध उपमा का परिकल्पक हो वहाँ प्रथम और 'जहाँ स्वरूप तथा उस (अपने स्वरूप) के कारण का संबंध अपनी क्रिया-द्वारा बोध कराये—अपनी क्रिया द्वारा दृष्टांत रूप में उसका कारण दिखलाये जाने पर 'द्वितीय निदर्शना' कही गयी है । प्रथम निदर्शना में जिस प्रकार असंभव का संबंध उपमा की कल्पना के आश्रित है—उसे वह कराती है, उसी प्रकार द्वितीय में संभावित संबंध उपमा की कल्पना कराती है । अस्तु, प्रथम निदर्शना के वाक्यार्थ और पदार्थ रूप से दो भेद तथा उनकी माला भी कही गयी है । कुछ आचार्यों ने निदर्शना-भेद रूप में—संभव वस्तु-संबंधा और असंभव-वस्तु-संबंधा नाम भी दिये हैं और अंतिम—असंभव वस्तु संबंधा के पदार्थ-वाक्यार्थ-वृत्ति रूप से दो भेद किये हैं । ये भेद एक वाक्यगत तथा अनेक वाक्यगत के नामांतर हैं, कोई पृथक् संज्ञा नहीं । ब्रज-भाषा के अलंकार आचार्यों ने जैसा कि दास जी ने कहा है—संभव-वस्तु-संबंधा के सत्-असत् अथ प्रकट करने के कारण चतुर्थ

और पंचम निदर्शना भी मानी है। इसी प्रकार असंभव-वस्तु-संबंधा से भी प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम निदर्शना भी मानी है। सत्-सत् वाक्यार्थ की एकता में, असत्-सत् वाक्यार्थ की एकता में, पदार्थ की एकता में और क्रिया की दूसरी क्रिया की एकता में निदर्शना कही सुनी जाती है। मतिराम जी ने भी निदर्शना के प्रथम, द्वितीय, तृतीय भेद कह सत्-असत् रूप से पाँच भेद तथा पद्माकर जी ने—प्रथम, द्वितीय के अनंतर सदर्थ-असदर्थ रूप से चार-ही भेदों का उल्लेख किया है। अन्य आचार्यों ने निदर्शना के मुख्य भेद तीन ही माने हैं, जैसे—

“१. प्रथम निदर्शना—“जो, सो, जे, ने आदि शब्दों-द्वारा असम वाक्यों को सम करना।”

२. द्वितीय निदर्शना—“उपमान के गुण उपमेय में स्थापित करना।”

३. तृतीय निदर्शना—उपमेय के गुण उपमान में स्थापित करना।”

आगे इन आचार्यों का यह भी कहना है कि ‘दृष्टांत अलंकार’ में भी निदर्शना की भाँति उपमे-उपमान वाक्यों का परस्पर में विव-प्रतिविव भाव होता है, पर वे वहाँ निरपेक्ष होते हैं, अर्थात् वहाँ उपमानों के वाक्यार्थ में दृष्टांत दिखलाकर उपमेय के वाक्यार्थ की पुष्टि की जाती है और निदर्शना में उपमेय-उपमान-वाक्य परस्पर में सापेक्ष होते हैं, क्योंकि वहाँ उपमेय के वाक्यार्थ में उपमान-वाक्यार्थ का आरोप किये जाने के कारण दोनों का परस्पर संबंध रहता है, अर्थात् निदर्शना-दृष्टांत में यही भेद है कि प्रथम में वाक्य वा वाक्यों का अर्थ तब तक पूर्ण नहीं, जब तक कि विव प्रति-विव-भाव से साम्यता का आरोप न किया जाय, तब तक निदर्शना नहीं और दृष्टांत में अर्थ पूरा बैठ जाने के बाद विव-प्रतिविव भाव से साम्य ज्ञान होता है। निदर्शना में साम्य का आरोप इसलिए किया जाता है कि वहाँ दो वस्तुओं में संबंध स्थापित हो, तथा दृष्टांत में अर्थ पूरा होने पर साम्यता की प्रतीति होती है। दृष्टांत में दो स्वतंत्र वाक्य विव-प्रतिविव रूप में होते हैं, निदर्शना में वर्य-वाक्य का अर्थ दूसरे वाक्य के अर्थ से सामंजस्य मिलाने के लिये अन्य प्रकार से आरोपित किया जाता है।

अलंकार-आचार्यों ने रूपक और निदर्शना में भी भेद दिखलाते हुए कहा है कि “जहाँ कर्त्ताओं का अभेद शब्द-द्वारा कथन कर क्रियाओं का अभेद शब्दों से न कह कर अर्थ के द्वारा कराया जाय वहाँ निदर्शना और जहाँ कर्त्ताओं का अभेद-शब्द-द्वारा न कह कर अर्थ से बोध कराया जाय तथा क्रियाओं का अभेद शब्द द्वारा कराया जाय, वहाँ रूपक होता है।”

अथ प्रथम उदाहरन सत वाक्य की एकता ते जथा—

तीरथ तौ^१ मँन न्हाँमन कों, बहु दौनन दै तप-पुंज तपै तू ।
जोम के^२ साँमुहें जंग जुरे, दढ़ होंम कें सीस धरै अरि पै तू ॥
'दास' जू बेद-पूराँनन कों करि कंठ मुखागर नित्त लपै तू ।
द्यौस-तमाँम में जौ^३ इक जाँम-हूँ, रौम कौ नाँम निकौम जपै तू ॥

वाक्यारथ असत की एकता ते जथा—

प्राँन-बिहीन के पाँइ^४ पलोटि, इकेलें-हूँ,^५ जाइ घँने बँन रोयौ ।
आरसी अंध के आगे धरी,^६ बैहरे ते^७ मतौ करि उत्तर जोयौ ॥
ऊसर में बरस्यौ बहु बारि, पखाँन के ऊपर पंकज बोयौ ।
'दास' बृथाँ जिन^८ साहब सूँम के,^९ सेबँन में अपनों दिन खोयौ ॥*

वाक्यारथ असत-सत की एकता ते जथा—

जुगनू^{१०} हूँ जु भाँन के आगें भली-बिधि, आपनी जोतै^{११} 'कौ गुँन गइ'^{१२} है ।
माँखी हूँ^{१३} जाइ खगाधिप सों उड़िवे की बड़ी-बड़ी बात चलइ^{१४} है ॥
'दास'^{१५} जवै तुक-जोरँनहार, कविंद उदारँन की सरि पइ^{१६} है ।
तौ करतार-हु सों औ कुँम्हार सों, एक दिनाँ भगरौ ठनि^{१७} जइ है ॥

वि०—“वेकटेश्वर की प्रति में इसके बाद “अस्य तिलक” की पगड़ी बाँध कर लिखा गया है—“जुगनू जो है सो मार्तंड के सामने ज्योति की प्रशंसा करेगा, माखी जो है सो गरुड़ के सामने अपने उड़िवे की प्रशंसा करेगी, तुक जोरने वाले जितने हैं सो कवियों के सामने प्रशंसा करेंगे अपने बनाने की, तौ हे भाई करतार, जो है ब्रह्मा और कुम्हार जो है सो इनमें तकरार होगी ।”

पा०—१. (स० प्र०)...तोम नहामनि कै . । (प्र० मु०) तौ मन न्हाननि...। (वें०) तो मन हाननि कै...। २. (वे०) कै...। ३. (स० प्र०)...में आठ-हैं जाम में...। ४. (वें०) पाँइ पै लोट्यो...। (प्र० मु०) पाँइ पलोट्यौ. । ५. (प्र०) (वें०) है. । (प्र०—३) इकले है जाइ...। ६. (वें०) (प्र० मु०) धर्यौ । ७. (वें०) (प्र० मु०) सों...। ८. (स० प्र०) जस...। ९. (स० प्र०) की...। १०. (स० प्र०) जुगनू भाँनु.. । (वें०) जोगनू भाँनु . । ११. (स० प्र०) (वें०) ज्योतिन के गुन.. । (प्र० मु०) जोतिन्ह के ..। १२. (स० प्र०) (प्र०) (वें०) गै है । १३. (स० प्र०) (प्र०) (वें०) (प्र० मु०) माँखियौ जाइ.. । १४. (स० प्र०) (प्र०) (प्र० मु०) चलै है । १५. (स० प्र०) 'दास' जू पै तुक जोरनहार...। १६. (स० प्र०) (प्र०) (वें०) (प्र० मु०) पै है । १७. (स० प्र०) (प्र०) (वें०) (प्र० मु०) बनि ऐ है ।

*, क० कौ० (स० न० त्रि०) पृ० ४०३ प्रथ० भा० ।

पुनः उदाहरन जथा—

पूरब ते फिर पच्छिम-ओर, कियौ सुर^१ आपगा धारँन चाँहें ।
 तूलँन - तोपिकें^२ हे मति - मंद, हुतासँन - दंद प्रहारँन चाँहें ॥
 'दास' जू देखि कलाधर^३-कालिमा, छूरिँन^४ छील जु डारँन चाँहें ।
 नीति-सुनाइ केँ मो मँन^५ तें, नँदलाल कौ नेह-निबारँन चाँहें ॥*

वि०—“रसकुसुमाकर के रचयिता ने इस छंद को ‘सखी’ (जिससे नायक-नायिका अपनी गुप्त-प्रकट कोई बात नहीं छिपाते) के उदाहरण में संकलित किया है । सखी की व्युत्पत्ति के प्रति ‘यद्माकर’ का कथन जैसा ऊपर अंडर कोमा में लिखा जा चुका है—

“जिन सों नायक-नायिका, राखें कछु न दुराउ ।
 सखी कहावें ते सुघर, साँची सरल-सुभाउ ॥”

और इनके पूर्व-वर्णित कार्य—

काज-सखिन के चार हैं, मंडन, सिच्छा-दाँन ।
 उषालंभ, परिहास पुँनि, बरनैत सुकबि सुजाँन ॥



मडन तिय-हि सिगारिबौ, सिच्छा बिनै-बिलास ।
 उषालंभ सो उरहँनो हँसी-करँन परिहास ॥”

अस्तु, दासजी की यह उक्ति ऊपर कथित किसी विषय के अंतर्गत नहीं आती, क्योंकि यह सूक्ति स्पष्टतः नायिका की सखि वा दूती-प्रति है, सखी की नायिका-प्रति नहीं । अतः यह परकीया नायिका की उक्ति सखी-प्रति है, जो उसे लोक-रत्नक सलाह दे रही है । रसखान ने भी यही बात दड़े सुंदर ढंग से उद्धव के प्रति कहलाई है, यथा—

“लाज कौ लेप चढाइकें अंग, पचीं सब सीख कौ मंत्र सुनाइकें ।
 गारडू हैं ब्रज-लोग थक्यौ, करि औपद बेसक सोंह दिवाइकें ॥

पा०—१. (सं० प्र०) सुर पार गथरन...। (भा० जी०) सुर औ पग..। २. (वे०).. के हैं मति-अध..। (र० कु०) के ज्यों मति मंद, हुतासन दड...। (वे०).., हुतासन-धध...। ३. (वे०) दाम जू देख्यौ कलानिधि-कालिमाँ...। (सं० प्र०) (र० कु०) कलानिधि..। ४. (भा० जी०) (वे०) छूरीन सों छिल...। (सु० ति०) छूरी न ते छिल..। ५. (सु० ति०) (र० कु०) मन ते...।

*, सु० ति० (भा०) पृ० ५६, १८८ । र० कु० (अ०) पृ० ५५, १२६ ।

ऊधौ सों को 'रसखान' कहै, जिन चित्त धरौ तूँ म एते उपाइ कें ।
कारे-बिसारे कों चाहें उतारयौ, अरे बिष बाबरे राख लगाइकें ॥
सत्य है.....

“ददें-दिल का मजा वो क्या जाने ।
जिसका दिल उन्न-भर दुखा ही नहीं ॥”

पदारथ की एकता ते जथा —

इँन चौसँन^१ मँन-भाँमती, ठैहराए स विवेक ।
सूर, ससी, कंटक, कुसुँम,^२ गरल, गंधबह एक ॥

पुनः उदाहरन जथा —

व्याल, मराल^३ सुडाल कराकृति, सु भाँमते जू की भुजौँन में देख्यौ ।
आरसी, सारसी, सूर, ससी-दुति, आँनन आँनद-खौँन में देख्यौ ॥
पै मृग, मीन, ममोलन^४ की छबि, 'दास' उन्हीं अँखियाँन में देख्यौ ।
जो रस ऊख, मयूख, पियूख में, सो हरि की बतियाँन में देख्यौ ॥*

वि०—“भारती-भूषण के कर्ता 'केड़िया'जी ने इस छंद में 'द्वितीय-निदर्शना' मानकर कहा है—‘जिसमें उपमेय के गुण का उपमान में अथवा उपमान के गुण का उपमेय में अभेद रूप से आरोप किया जाय वहाँ उक्त अलंकार होता है ।’ अतः इस द्वितीय ‘निदर्शना’ को ‘पदार्थ-वृत्ति निदर्शना’ भी कहते हैं और इसके उपमेय के गुण का उपमान में आरोप तथा उपमान के गुण का उपमेय में आरोप रूप से दो प्रकार के कहे जाते हैं । अतएव यह छंद द्वितीय उपमान के गुण का उपमेय में आरोप रूप प्रथम चरण में—व्याल, मृनाल और सुंड आदि उपमानों का आकृति वाला गुण भुज उपमेय में, दर्पण, सूर्य, शशि उपमानों की द्युति का आरोप प्रिय-मुख के उपमेय में मृग, मीन और खंजन उपमानों का नायक की आँख उपमेय में तथा रस रूप ऊख, मयूख एवं पियूष उपमानों का आरोप हरि रूप नायक की बातों में स्थापित किया गया है । इसलिये यह उक्ति निदर्शना की ‘माला’ है ।”

पा०—१. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) दिवसन मन भाँवती, ठहरायौ र... ।
२. (प्र० मु०) सुकुम... । ३. (प्र० मु०) • मृनाल करीकर आकृति... । (वें०) बाल
मृनाल सुडाल कराकृति... । ४. (रं० प्र०) मृलानि... ।

* भा० भू० (के०) पृ० १७७ ।

एक क्रिया की दूजी क्रिया ते एकता जथा—

तजि आसा तँन प्राँन की, दोपै^१-मिलत पतंग ।
दरसाबत सब नरँन कों, परँम प्रेम कौ ढंग ॥ *

पुनः जथा—

पदमिनि-उरजन पै लसत, मुक्त-माल की^२ जोति ।
सँमभाबति यों सुथल गति, मुक्त^३नरँन की होति ॥

वि०—“दासजी के ये दोनों उदाहरण सुंदर हैं—समुचित हैं । कहने का ढंग और अंदा देखने लायक है । प्रेम पर कुछ कहना उचित नहीं, क्योंकि पतंगे का प्रेम उच्च है और बहुतों ने वर्णन किया है । द्वितीय दोहे पर विहारी का दोहा याद आ गया है, जैसे---

“अजों तरोंनाँ-ही रख्यौ, सुति-मेबत इक अंग ।
नाक बास बेसर लख्यौ, रहि मुक्तँन के सग ॥”

—सतसाई

एक बात और, यह कि—प्रथम दोहा—“तजि आसा तँन-प्राँन की०” को भारती-भूषण (केडिया) में तृतीय निदर्शना जिसमें अपनी सत्-असत् (भली-बुरी) क्रिया से अन्य को सत्-असत् व्यवहार की शिक्षा दी जाय के उदाहरण में उद्धृत किया है और कहा है कि “यहाँ भी पतंगे का प्राण-आशा त्याग कर दोषक से मिलने की क्रिया-द्वारा शुद्ध प्रेम के सदर्थ की शिक्षा देना है और इस उदाहरण में यही बात है ।

ऊपर उद्धृत विहारीलाल की उक्ति पर ये संस्कृत-सूक्तियाँ भी श्रेष्ठ हैं, जो नीचे दी गयी हैं, यथा—

“स्नेह परित्यज्य निपीयधूम कांताकचा मोक्षपथ प्रसन्नाः ।
नितंबसगात्पुनरेव बद्धा अहो दुरता विपयेषु सक्ति ॥”

अथवा—

“स्नेह संबंधितान्बालान्दृढं बध्नाति सुंदरी ।
करुणा हरिणाक्षीणां कुत कठिन चेतसाम् ॥”

अतएव संसार-सागर से पार होने के लिये जीवनमुक्त पुरुषों की संगति भी एक मुख्य उपाय है, यही बात इन दोहों और संस्कृत-सूक्तियों में सुंदर श्लेष

पा०—१. (भा० जी०) (वें०) (प्र० मु०) दीपहि... २. (सं० प्र०) (वें०)
जुत... ३. (भा० जी०) मुक्ति...

में लपेटकर निराले ढंग से कही गयी हैं.....‘इति, स्वर्गीय पं० पद्मसिंह-वचनात् ।’

अथ तुल्यजोगता अलंकार लच्छन जथा—

सँम वस्तुँन-गँनि बोलिऐ, एक बार-ही धर्म ।
सँम-फल-प्रद हित-अहित करै, काहू कौ यै कर्म ॥

*

जा^१-जा सँम जिहि कहँन कों वहै-वहै कहि ताहि ।
‘तुल्यजोगता’ भूषनें,^२ त्रिविध^३ जु देहि निबाहि ॥’

वि०—दासजी के अभिमत से तीन प्रकार को ‘तुल्ययोग्यता’ भाषा-भूषण की भाँति (१, जहाँ समवस्तुओं का एक ही धर्म कथन हो, २. जहाँ एक-ही कर्म द्वारा हित-अनहित दोनों का समान फल कहा जाय और ३. जिस-तिस को, उन-उन समान कहा जाय, होती है । यथा—

“तुल्यजोगता तीन ए, लच्छन क्रम ते जाँनि ।
एक सब्द में हित-अहित, बहु में एकै बाँनि ॥

*

बहु सों समता गुनँन करि, इहि बिधि भिन्न प्रकार ।
गुँन-निधि नीकें देति तू, तिय कों, अरि कों, हार ॥”

संस्कृत-अलंकार-आचार्यों का कहना है कि “जब अनेक प्रस्तुत-अप्रस्तुत पदार्थों का उनके औपम्य (उपमेय-उपमान भाव) के साथ एक धर्म से संबंध दिखलाया जाय वहाँ “तुल्ययोगिता” अलंकार होता है । यहाँ धर्म से गुण-कार्य दोनों का कथन है । यह केवल प्रस्तुत होने अथवा केवल अप्रस्तुत होने तथा उनके गुण वा क्रिया के कारण धर्मों की एकता होने से चार प्रकार की होती है ।

तुल्ययोगिता का अर्थ है—“तुल्य पदार्थों का योग । अतएव अनेक प्रस्तुत-अप्रस्तुतों का गुण वा क्रियारूप एक धर्म में योग (अन्वय) होने पर यह अलंकार माना जाता है । अनेक प्रस्तुतों (उपमेयों) अथवा अप्रस्तुतों (उपमानों) के एक ही धर्म कहे जाने पर प्रथम, हित-अनहित में तुल्य वृत्ति-वर्णन, अर्थात् शत्रु-मित्र के साथ एक-सा वर्त्ताव किये जाने में द्वितीय तथा प्रस्तुत (उपमेय) की उत्कृष्ट गुण वालों के साथ गणना की जाने पर तृतीय तुल्ययोगिता कही जाती

पा०—१. (प्र० मु०) जेहि-जेहि के सँम कहँन... । २. (वं०) (भा० जी०)
(प्र० मु०) भूषन-हि... । ३. (प्र० मु०), निरकर देहु निबाहि ।

है। प्रथम तुल्ययोगिता में उपमेय-उपमान-भाव छिपे रहते हैं—अनेक उपमेय-उपमानों का एक धर्म कहा जाता है, पर उपमा की भाँति वहाँ सादृश्य की योजना करने वाले साधारण धर्म-वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता। इसलिये प्रथम को प्रस्तुतों के एक धर्म तथा अप्रस्तुतों के एक धर्म वर्णन करने पर दो प्रकार की भी इसे कह सकते हैं।”

अथ उदाहरन समवस्तुन को एकवार धरम ते जथा—

साँझ-भोर निसि-बासर-हुँ, क्यों-हूँ छीन न होति ।

सीत-किरँन की कालिमा, बाल-बदन^१-छवि-जोति ॥

वि०—“सम वस्तुओं का एक धर्म—प्रस्तुतों (उपमेयों) का एक धर्म रूप दासजी का यह प्रथम निदर्शना का उदाहरण—चंद्र की कालिमा और बाल-बदन की छवि दोनों वर्णनीय होने के कारण प्रस्तुत हैं। इन दोनों का—“साँझ-भोर निसि-बासर-हुँ क्यों हूँ छीन न होति” रूप एक-ही क्रिया रूप धर्म का वर्णन किया गया है, अतः उक्त तुल्ययोगिता का उदाहरण है।”

पुनः उदाहरन जथा—

थाह न पाइये गँभीर बड़े^२ हैं, सदाँ-ही रहै^३ परिपूरन-पाँनी ।

एकै^४ बिलोकि कें श्रीजुत ‘दासजू’ होत उँमाहित^५ में अनुमाँनी ॥

आदि वही मरजाद लपें रहै, है जिनकी मेहमाँ जग-जाँनी ।

काहू के^६ क्यों-हूँ घटाएँ घटै नहिँ सागर औ गुँन-आगर प्राँनी^७ ॥*

वि०—“यहाँ भी वही पूर्व कथित बात है कि सागर और गुणों के आगर प्राणी रूप दोनों के प्रस्तुतों (उपमेयों) का एक धर्म—“काहू के क्यों-हूँ घटाएँ घटै नहिँ” आदि एक धर्म कहा गया है। इसे श्लेष-मिश्रित तुल्ययोगिता भी कह सकते हैं। साथ ही पूर्व उदाहरण को वर्णों की धर्म-एकता रूप तुल्ययोगिता कहा जा सकता है।”

पा०—१. (स० प्र०)—बदन की जोति । २. (सं० प्र०) (स० स०) बडै है... । ३. (स० स०) रहै... । ४. (स० स०) राकै.. । ५. (स० स०) उमाहित.. । ६. (वे०) कौ... । ७. वे० की प्रति में इस छंद के “भावार्थ” शीर्षक के नीचे—“विशेष क्या लिखू सागर जो है औ गुण आगर प्राणी है तिनकी महिमा किसी के घटाए कमती नहीं होती ।” और लिखा है ।

* , स० स० (ला० म० दो०) पृ० १४५, ११६ ।

द्वितीय तुल्यजोगता हिताहित के सम-फल ते जथा—

जे तट पूँजन कों बिस्तारे, पखारें जे अंगन की मलिनाई ।
जो तुष जीबँन लेति हैं* तिन्हें जीबँन देति है आप दिढ़ाई^२ ॥
'दास' न^३ पापी, सुरापी, तपी औ^४ जापी हितू-अहितू बिलगाई ।
गंग तिहारी तरंगँन सों, सब पावें पुरंदर की प्रभुताई ॥*

वि०—“हिताहित का समफल, अर्थात् शत्रु-मित्र दोनों के साथ समान वर्त्ताव किये जाने पर दूसरी तुल्ययोगिता कही गयी है । अतः यहाँ पूँजन करने वाले जपी-तपी और शरीर के मल धोने वाले पापी, सुरापी रूग्ण हित-अहित कर दोनों को श्री गंगा-द्वारा इंद्र की प्रभुता दी जाने पर समान वृत्ति कही गयी है । इसलिये द्वितीय तुल्ययोगिता का यह भेद महाराज भोजराज कृत ‘सरस्वती-कंठा-भरण’ के अनुसार ‘चंद्रालोक’ और ‘कुवलयानंद’ में भी कहा गया है और उदाहरण—

“संकुचंति सरोजानि स्वैरिणीवदनानि च ।
प्राचीनाचलचूडाय चुबिर्विवे सुधाकरे ॥”

—चंद्रालोक, १, १२ ।

यह भी श्लेष-मिश्रित होती है.....।”

पुनः उदाहरन जथा—

जे* सींचें सरपिष-सिता, अरु जे^१ हँनें कुठाल^२ ।
कटु लागै ति न दुहुँन कों, वहै^३ नीम की छाल ॥

वि०—“अर्थात् नीम की छाल घी-सक्कर से सींचने वाले और उसे काटने वाले दोनों को कड़वी लगती है, न कि सींचने वाले को मीठी और काटने वाले को कड़वी । सर्पिष-सिता = घी-चीनी । कुठाल = कुठार ।”

पा०—१, (सं० प्र०).. है. देति है, जीवन जे करि जाइ दिढ़ाई । (वें०) है जीवन देत है जे करि आप दिढ़ाई । २ (अ० म०) दिढ़ाई । ३. (अ० र०) जू... ४. (वें०) (प्र०) (अ० म०) (अ० र०) अरु । (प्र०-३) वरु... ५. (भा० जी०) (वें०) जो... ६. (भा० जी०) (वें०) जो... ७. (प्र०-३) कुठार । ८. (प्र०-३) इहै नीम की छार । (सं० प्र०) इहै नीम की चाल ।

*, अ० मं० (पो०) पृ० १६४ । अ० र० (अ० र० दा०) पृ० ४२ ।

तृतीय तुल्लजोगता सम ताकों मुख्य कहिवे ते जथा—

सोबति-जागति सुख-दुखी,^१ सोई नंद-किसोर ।
सोई व्याधि,^२ सोई बैद है, सोई साह, सोई चोर ॥

*

जाइ जुहारों कौन कों, कहा^३ काहु सों काँम ।

मित्र, मात, पित, बंधु, गुरु, साहिब मेरौ राँम ॥

वि०—“इस तृतीय तुल्ययोगिता के प्रति ‘बहु उत्कृष्ट गुणों की समता’ शीर्षक भी दिया गया मिलता है। अस्तु, जहाँ गुणों के कारण एक व्यक्ति की समता बहुतों से हो, अथवा बहुत से पदार्थों के उत्कृष्ट गुणों को एक ही पदार्थ में एकत्रित कर वर्णन किया जाय, वहाँ यह पूर्व लिखित तुल्ययोगिता कही जाती है। तुल्ययोगिता का यही भेद—‘प्रस्तुत (उपमेय) की उत्कृष्ट गुणवालों के साथ गणना करना’ मम्मट-आदि आचार्यों ने माना है, अन्य भेद (प्रथम-द्वितीय) नहीं। साथ ही उन्होंने इसे ‘प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों के एक धर्म कहे जाने के कारण दीपक-अलंकार के अंतर्गत कहा है।

जैसा प्रथम कहा गया है कि ‘केवल प्रस्तुत होने, वा अप्रस्तुत होने तथा उनमें गुण-क्रिया के कारण धर्मों की एकता होने के कारण यह चार प्रकार की है। प्रथम ‘जहाँ केवल कितने ही उपमेयों (प्रस्तुतों) में गुण-क्रिया द्वारा एक धर्म का,’ द्वितीय—‘जहाँ केवल कितने ही उपमानों (अप्रस्तुतों) में गुण-क्रिया-द्वारा एक धर्म का’ तृतीय—‘जहाँ एक-ही प्रस्तुत (उपमेय) के अनेक अप्रस्तुतों (उपमानों) के द्वारा सुंदर गुणों का’ और चतुर्थ—‘जहाँ एक-ही धर्म-द्वारा हित-अनहित दोनों का वर्णन किया जाय’ वहाँ क्रमशः उपरोक्त तुल्ययोगिताएँ होती हैं। प्रथम उदाहरण पर किसी उर्दू शायर की ये उक्तियाँ भी दर्शनीय हैं, यथा—

“उस मरज को मजें-इश्क कहा करते हैं ।

न दवा होती है जिसकी, न दुआ होती है ॥

अथवा—

मुहब्बत में नहीं है फकं जीने और मरने का ।

उसी को देखकर जीते हैं, जिस काफिर पै दम निकले ।”

पा०—१. (वें०) दुखद, (भा० जी०) दुखदुँ, २. (सं० प्र०) (वें०) ... व्याधि बैदो सोई... ३. (वें०) कहाँ कहूँ है... ।

पुनः उदाहरन जथा—

गुं बज मँनोज के मँहैल सुहाए सुच्छ,
 गच्छ छवि-छाए कंज^१-कुंभ गज-गौमिनी ।
 उलटे नगारे, तँने तंबू, सैल भारे,
 मठ-मंजुल सुधारे^२ चक्रवाक-गत जौमिनी ॥
 'दास' जुग संभु रूप, श्रीफल अन्नूप,
 मन^३-घाइल करत घाइलँन किल-कौमिनी ।
 कंदुक - कलस बड़े^४ संपुट सरस,
 मुकलित तौमरस हैं 'उरोज'^५ तेरे भौमिनी ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ (तृतीय तुल्यजोगिता के संग) लुप्तोपमा को संदेह संकर है ।
 वि०—“किसी उड़ू^१ शायर का यह कलाम भी देखिये, किस छुपे रूप से
 इन 'मनोज महल के गुं बजों' का वर्णन कर गये और पता भी न चला, जैसे—

“अँगड़ाई भी लेने न पाए वह उठाके हाथ ।

देखा जो मुझको, छोड़ दिये मुस्करा के हाथ ॥”

पर जाने दीजिये इसे, दासजी ने भी तुल्यजोगिता के साथ लुप्तोपमा का
 संदेह संकर मान, वर्णनकर एक सहज सुंदरता हो ला दी है ।”

प्रतिवस्तूपमा लच्छन बरनन जथा—

नाँम जु है उपमेइ कौ, सोई उपमाँ नाँम ।
 ताहि^१ 'प्रतीवस्तूपमाँ', कहत^२ सकल^३ गुँन-धौम ॥

*

जहँ उपमाँ-उपमेइ कौ, नाम-अरथ है एक ।

ताहू 'प्रतिवस्तूपमाँ', कहैं सुबुद्धि-बिबेक ॥

वि०—“दासजी कथित 'प्रतिवस्तूपमा' का लक्षण विशेष स्फुट है । अस्तु,
 संस्कृत-आचार्यों के अनुसार 'प्रतिवस्तूपमा' वहाँ कही गयी है, जहाँ—उपमेय-
 उपमान के पृथक्-पृथक् वाक्यों में शब्द-भेद के द्वारा एक-ही समान धर्म को कहा
 जाय, क्योंकि प्रतिवस्तूपमा का अर्थ है—‘प्रति-वस्तु अर्थात्, प्रत्येक वाक्यार्थ के

पा०—१. (सं० प्र०) (प्र०) (वें०) गज... । २. (प्र०-३) सुधारे... । ३.
 (वें०) (भा० जी०) मन-घाबरे करन घाव बरँन कि० । ४. (प्र०) बैठे... । ५. (प्र०)
 (वें०) (प्र० सु०) उरज... । ६. (सं० प्र०) ताकों... । (वें०) ताही । ७. (सं०
 प्र०) कहैं... । ८. (भा० जी०) सु कवि... ।

प्रति उपमा ।' यहाँ उपमा शब्द का प्रयोग भी 'समान धर्म (उपमेय-उपमान के दो वाक्यों में एक-ही समान धर्म का पृथक्-पृथक् शब्दों-द्वारा कहा जाना)' के लिये है, यथा—

“प्रति वस्तु-प्रतिवाक्यार्थमुपमा समानधर्मोऽस्याम् ।

अथवा—

“प्रतिवस्तु प्रति प्रति वाक्यार्थ उपमा सादृश्यं यस्यां सा—“प्रतिवस्तूपमा” ।”

—कुबलयानन्द (संस्कृत)

प्रतिवस्तुपमा में तीन बात आवश्यक कही गयी हैं—“प्रथम दो वाक्यों का उपमेय-उपमान-रूप में होना”, दूसरे—“दोनों में एक ही धर्म का होना” और तीसरे—“उस धर्म का भिन्न, पर एकार्थी-शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना” इत्यादि । यह अंतिम (तीसरा) नियम पुनरुक्ति-दोष दूर करने को आवश्यक कहा गया है । एक बात और, वह यह कि “इस अलंकार में कहीं-कहीं वैधर्म्य वा विरोध अथवा निषेध-वाचक शब्दों द्वारा धर्मों की एकता प्रकट की जाती है, पर वे शब्द वास्तव में उसी साधर्म्य के पोषक हो होते हैं ।

प्रतिवस्तूपमा की—उपमा, दृष्टांत, दीपक, विशेषकर ‘अर्थवृत्ति दीपक और तुल्य-योगिता से पृथक्ता दिखलाते हुए आचार्य वर्गों ने कहा है कि “उपमा में उपमा-वाचक शब्दों का प्रयोग होता है, यहाँ नहीं । दृष्टांत में यद्यपि उपमा-वाचक शब्द नहीं होते, पर उपमेय, उपमान और समान धर्म आदि तीनों का विव-प्रति-विव भाव अवश्य होता है, जब कि यहाँ एक-ही समान धर्म शब्द-भेद से कहा जाता है । इसी प्रकार दीपक और तुल्ययोगिता में समान धर्म का एक बार कथन होता है और यहाँ एक ही धर्म का पृथक्-पृथक् शब्द-भेद से दो बार कथन किया जाता है इत्यादि...

प्रतिवस्तूपमा वैधर्म्य भी होती है और माला रूप में भी । जैसा कि विविध उदाहरणों द्वारा दास जी ने वर्णन किया है ।”

प्रतिवस्तूपमा-उदाहरण जथा—

मुक्त नर-हु^१ घने जाँ में बिराजत, राते^२-सिता-सित भ्राजत ऐनीं ।
मध्य सुदेस ते हैं बिरम्हांड-लों, लोग कहैं सुर-लोक-निसैनीं ॥
पावन पानिप सों परिपूरन, देखत दाहिं दुखै, सुख-देनीं ।
‘दास’ भरै हरि के मन काँम को^३, बस बिसै यै बेनी सी बेनीं ॥

पा०—१ (सं० प्र०) (वे०) (प्र० मु०) नरौ बने...। २ (वे०) रात...। ३ (भा० जी०) सों...।

वि०—“दासजी की इस “बेंनी-सी-बेंनी” पर कविवर “चिंतामणि” जी की चिरजीवी उक्ति भी देखिये, यथा—

“बारें की रचनाँ रची है प्राँन-प्यारी एरी, भजी तेरी पुरब-जनम कछु देंनी है ॥
पाँठि पै सोहत यों सुबरन-भूमि पर दीनों धों सिँ गार-रूप रस की थलेंनी है ॥
‘चिंतामनि’ मानों अंग सैदैज सुबास-आस, कनक-लता पै लिपटाँनी अलि-सँनी है ।
मानसो के फूलन ललित लाल-मुँन-गुँथी, बेंनी-सी लसति मृग-नँनी तेरी बेंनी है ॥

अनु—

“बड़े गुस्ताख हैं झुककर तेरा मुँह चूम लेते हैं ।
बहुत-सा तूने ज़ालिम गेसुओं को सर-चढ़ाया है ॥”

पुनः उदाहरन जथा—

छूटि गये नारी भई,^१ मोहँन की गति सोइ ।
छूटि गये नारी जु गति^२, और नरँन की होइ ॥

वि०—इस दोहा का ‘तिलक’ रूप—“नारी नाम स्त्री के छूटते मोहन जो कृष्णचंद्र हैं तिन की गति ऐसी होती है कि जैसे हाथ की नाड़ी है, इसके छूटते जैसे मनुष्य की गति होती है, वैसी ही उनकी होती है तात्पर्य विह्वल हो जाते हैं ।” यह वेंकटेश्वर की प्रति में लिखा है ।

पुनः उदाहरन जथा—

बाल^३-बिलोचँन अध खुले आरस संजुत प्रात ।
निंदत अरु न प्रभात काँ बिकसत सारस-पात ॥
दूसरौ लच्छन जथा—
जहाँ बिंब-प्रतिबिंब नहिं, धरम-हिं ते सब ठाँन ।
तहँ प्रतिबस्तुपमाँ^४ कहें^५ दिष्टांत-हु^६ में जाँन ॥

अस्य उदाहरन जथा

काँन अचंभौ जो पावक जारै, गरु गिरि है तौ कहा अधिकाई ।
सिंध-तरंग सदैव खराई, नई नहिं^७ सिंधुर-अंग-कराई ॥
मीठौ पियूष, करु बिष^८ ‘दास जू’, है यै रीति न निंद-बढ़ाई ।
भार चलावत^९ आए धुरीन, भलेन के अंग सुभावै भलाई ॥

पा०—१. (प्र०) नारी छूटि गये भई... । (वें०) नारी छूटि गये जु भौ... । २. (प्र०) नारी छूटि गये जु गति... । (वें०) नारिन छूटि गये जु गति... । ३. (सं० प्र०) लाल... । ४. (सं० प्र०) (वे०) प्रतिवस्तूपमा तहि कहैं । ५. (भा० जी०) (वे०) दिष्टांत हि... । (प्र०-३) दिष्टांतौ .. । ६. (वे०) कछु... । ७. (सं० प्र०) (वे०) बिष रीति है दास जू या मैं न निंद... । ८. (वे०) चलाईह आए... ।

वि०—“दासजी का यह दवैया छंद आगे कुछ पाठ-भेद के साथ तेईसवें (२३) उल्लास में अड़सठवीं (६८) संख्या के “अनविकृत” उदाहरण रूप शब्दार्थ-दूषणों के वर्णन में भी आया है।”

वेंकटेश्वर की प्रति में “अस्य तिलक” रूप यह और लिखा है कि “भले का अंग जो है सो स्वभाव ही से जान पड़ता है, जैसे अग्नि जो है सो कोई वस्तु को जार डारै तिस में आश्चर्य क्या है, इसका तो स्वभाव ही है और बड़ी गरु जो वस्तु है वह गिर पड़ै इसमें क्या अयोग्य है ? इसका तो यही धर्म है गरु है, और रत्नाकर का जल खारा है तिसमें क्या असंभव है और पियूष जो अमृत है सो जो मीठा है तिसमें क्या आश्चर्य और विप जो है सो कडुआ है तिसमें क्या आश्चर्य है तैसे मैं कहता हूँ भले पुरुष जो हैं तिनका ऐसा ही धर्म है, इसमें क्या अयोग्य है, नीच का धर्म नीच ही है।”

“इति श्री सकलकलाधर-कलाधरबंसावतंस श्री मन्महाराज कुंमार
श्री हिंदूपति बिरचिते-काव्य-निरनष्ट उपमादि-
अलंकार’ बरननं नाम अष्टमोऽल्लासः ।”



अथ नवमोल्लासः

उत्प्रेच्छादि व्रनन

उत्प्रेच्छा औ अपन्हुत्यौ,^१ सुँ मरन, भ्रँ म, सँ देहु ।
इनके भेद अनेक हैं, पै^२ पाँचौ गनि लेहु ॥

उत्प्रेच्छा अलंकार लच्छन जथा --

वस्तु-निरखि कें हेतु लखि, कै आगम-फल-काज ।
कवि कै बकता कहति यै, लगै अवर-से^३ आज ॥

*

सँ म वाचक कहुँ परत बहु,^४ 'माँनों' 'मेरे जाँन' ।
'उत्प्रेच्छा'-भूषन कहे, इहि विधि बुद्धि-निधान ॥

वि० — “जब प्रस्तुत (उपमेय) की अप्रस्तुत (उपमान) रूप में संभावना की जाय तब ‘उत्प्रेक्षा’ अलंकार कहा जाता है, यह संस्कृताचार्यों का अभिमत है । यहाँ संभावना का अर्थ है—‘एक कोटि का प्रबल ज्ञान’ और उसके द्योतक शब्द हैं—“इव, मँनु, जँनु, माँनों, जाँनों, माँनहुँ, जाँनहुँ, मँनहु, सा, सी, से, सौ, निश्चय तथा मेरे जाँन” . आदि...., जैसा दासजी ने कहा है । यही चंद्रा-लोक-कर्त्ता कहते हैं कि “किसी के धर्म का निषेध न करते हुए अपने हेतु-वितर्क का आरोपण स्पष्ट रूप से दूसरे पर किया जाय तो वहाँ उत्प्रेक्षा कहते हैं (५-२६) । अतएव जहाँ इन वाचक शब्दों का प्रयोग हो वहाँ “वाच्योत्प्रेक्षा” और जहाँ इनका अभाव हो वहाँ “प्रतीयमानोत्प्रेक्षा” कहो — मानी जाती है । यहाँ यह ध्यान में रखना होगा कि सादृश्य—उपमेयोपमान-भाव के बिना केवल संभावना-संबद्ध वाचक शब्द होने पर उत्प्रेक्षा नहीं कही जायगी, क्योंकि उत्प्रेक्षा में भेद का ज्ञान रहते हुए—उपमेयोपमान को दो वस्तु समझते हुए, उपमेय में उपमान का आहार्य-आरोप (जब वस्तुतः अभेद न होने पर भी अभेद मान लिया जाय) किया जाता है । रूपक में भी यह आरोप होता है, पर वहाँ उपमेय-उपमान के अभेद में होता है । उत्प्रेक्षा का सीधा अर्थ है—“शंका विशेष के

पा०—१ (प्र० मु०) उत्प्रेक्षा औ अपन्हुति.. । २. (का०) (वें०) (प्र०) ये । (प्र० रा०) (का० रा०) ७ । ३. (वें०) और सों... । ४. (वें०) हैं । (प्र०) यह ।

साथ देखना, वर्णन करना।” अतएव उपमेय (प्रकृत वस्तु) में उपमान (अप्रकृत अवर्ण्य) का भेद ज्ञानपूर्वक उक्ति-वैचित्र्य के साथ संभावना करना उत्प्रेक्षा-लंकार का विषय है। यह संभावना कल्पित है—अकल्पित नहीं। निश्चय, प्रेम, संदेह वा विकल्प तथा संभावना ये वस्तु-ज्ञान के भेद हैं। किसी वस्तु को वही वस्तु समझना ‘निश्चय’ है और उसे निश्चितरूप में दूसरी समझना ‘भ्रम’ वा ‘भ्रांति’ है। भ्रम के दूर होने पर ही उस भ्रम का—उस वस्तु का, पता लगता है और जब किसी वस्तु में इस प्रकार शंका हो कि यह वही वस्तु है या दूसरी, तब ‘संदेह’ वा ‘विकल्प’ होता है, किंतु जब उसके दूसरी वस्तु होने की विशेष शंका होती है तब ‘संभावना’ कही जाती है। भ्रम, संदेह तथा संभावनादि कोटियाँ हैं—वस्तुएँ हैं। भ्रम में असत्य को निश्चित रूप से सत्य, संदेह में दोनों सत्यासत्य का समरूप से विकल्प और संभावना में एक—विशेष कर असत्य वस्तु का अधिक प्रबल होना है।

संस्कृताचार्यों-द्वारा लक्षण-ग्रंथों में ‘उत्प्रेक्षा’ के अनेक भेद कहे गये हैं, जो विशेष स्पष्ट नहीं हैं। साथ-ही वे चमत्कार-पूर्ण भी नहीं कहे जा सकते। पंडित-राज जगन्नाथ ने अपने ‘रस-गंगाधर’ में कहा है कि “उन सब का विवरण देना व्यर्थ है, कारण चमत्कार की विलक्षणता केवल हेतु, फल और स्वरूप में होती है। फिर भी उत्प्रेक्षा के वहाँ ‘वाच्या’ और ‘प्रतीयमाना’ दो भेदों का वर्णन करते हुए ‘वाच्या’ के वस्तुत्प्रेक्षा, हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षादि तीन भेद, तथा ‘प्रतीयमाना’ के हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा रूप से दो भेद माने हैं। वस्तुत्प्रेक्षा के प्रथम ‘उक्त विषया’ और ‘अनुक्त विषया’ दो भेद करते हुए इनके गुण, जाति, क्रिया और द्रव्य-गत भेदों का भाव-अभाव रूप में भी वर्णन मिलता है। वाच्या के हेतुत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा और प्रतीयमाना के हेतुत्प्रेक्षा एवं फलोत्प्रेक्षा को प्रथम सिद्ध-विषया तथा असिद्ध-विषयादि भेद मान इनके गुण, जाति, क्रिया और द्रव्य-गत भेदों को भावाभाव रूप से प्रथक्-प्रथक् भेद माने गये हैं। दासजी ने भी वाच्या रूप वस्तुत्प्रेक्षा के प्रथम उक्ता-अनुक्ता भेदों को कह फिर हेतुत्प्रेक्षा के सिद्धासिद्ध-विषयादि भेदों का वर्णन किया है। यही नहीं, फलोत्प्रेक्षा के भी उक्त भेद मान कर वर्णन किया गया है। दासजी ने लुप्तोपमा की भाँति लुप्तोत्प्रेक्षा और उसकी माला का भी यथा स्थान वर्णन किया है। अस्तु, “एक वस्तु की दूसरी वस्तु के रूप में संभावना की जाने पर, अर्थात् जहाँ उपमेय में उपमान की संभावना की जाय वहाँ वस्तुत्प्रेक्षा और यह उक्त विषया—जहाँ उत्प्रेक्षा का विषय कह कर संभावना की जाय होती है, जैसा कि दासजी के निम्न-लिखित तीनों लक्षणों—उदाहरणों में कहा है, यथा—

वस्तुप्रेच्छा भेद वरनन जथा—

वस्तुप्रेच्छा दोइ^१ विधि, उक्ति-अनुक्ति विषेन ।
उक्ति-विषे जग अँन-उक्ति, होत कविन^२ के बेंन ॥

उक्तविषया वस्तुप्रेच्छा उदाहरन जथा —

रेंन ति-मैहले धँन^३ चढा, मुख-छवि लखि नँद-नंद ।
घरी तीन उदयादि^४ ते, 'जनु' चढ़ि आयौ चंद ॥

अस्य तिलक

“चंद्रमा कौ चढ़िबौ अचरज नाही, ताते यै उक्ति (उक्त) विषया उत्प्रेच्छा कहिये ।”

वि०—“वस्तुप्रेक्षा के उक्त उदाहरण रूप दासजी की इस सुमधुर सूक्ति के साथ “विहारीलाल जी” का यह दोहा भी बड़ा सुंदर है, जैसे—

“तू रहि सखि, हों हीं लखों, चढ़ि न अटा बलि बाल ।

क्योंकि—

“बिन-हीं उगें ससि समझि, दैहैं अरघ अकाल ॥”

—विहारी सत्सई

अथवा—

“आज की रात तू जो मह के मुक़ाबिल हो जाय ।

चाँदनो हो मैली, धुलवाने के क़ाबिल हो जाय ॥”

—कोई शायर,

पुनः उदाहरन जथा—

लसे^{*} बाल-बच्छोज यों, हरित-कंचुकी-संग ।

दल-तल-दवे पुरेंन के, मनो^६ रथांग बिहंग ॥

अस्य तिलक

पुरेंन (कमल) के दल-तरें (नीचे) रथांग—चकवा कौ दबिबौ अरच नाही ताते यहाँ हूँ उक्त विषया-उत्प्रेच्छा है ।

पा०—१. (सं प्र०) होइ । २. (का०) (वें०) (प्र०) कवि-हि की... । ३. (का०) (वें०) (प्र०) (सं प्र०) तिय... । ४. (का०) (वें०) (प्र०) (सं प्र०) उदयादि... । ५. (रा० श० गौ०) लसौ । ६. (का०) मनो रथांग... । (वें०) मनो रथांग... ।

वि०—‘दासजी के इस उदाहरण पर भी निम्न-लिखित आलम कवि की यह रचना भी बड़ी सुंदर है, यथा—

“रजनी-मधि प्यारी गोंन कियौ, निरखी पिय-अँखियाँ रंग-भरी ।
कवि ‘आलम’ रंभन कों ललक्यौ, रति-लालच है हिय लाइ हरी ॥
खरी खीन हरे-रँग की अँगिया, दर की प्रघटी कुच-कोर-सिरी ।
उरमे जुग जार-सिवारँन में, चकवाँन की चोंच मनोँ निकरी ॥”

अथवा—

“सबज कंचुकी के बिषै, यों कुच-छुबि ठैहरात ।
मानों पुरहँन-पात-छिपि, चक्रवाक दरसात ॥”

पुनः उदाहरन सवैया जथा—

स्याँम सुभाइ में, नेह-निकाइ में, आप-हूँ है गए^१ राधिका-जैसी ।
राधे करै अब राधे^२ जु माधौ, प्रेम^३-प्रतीति भई तनमै-सी ॥
च्याँन-ही-ध्याँन में^४ ऐसौ कहा^५ भयौ, कोऊ कुतर्क करै यै ऐसी^६ ।
जाँनत हों^७ इन्हें ‘दास’ मिल्यौ कहूँ मंत्र महा पर-पिंड-प्रबेसी ॥ •

अस्य तिलक

परपिंड (दूसरे की काया में) प्रबेसी—मंत्र (प्रवेश करने वाला मंत्र) कौ मिलबौ अचरज नाहीं, ताते यहाँ हूँ ‘उक्तविषया उत्प्रेच्छा’ है ।

वि०—‘दासजी कृत इस तृतीय उदाहरण स्वरूप—, ‘स्याँम-सुभाइ में०’...के साथ किसी कवि का यह सवैया भी बड़ा सुंदर है, यथा—

“आपनी ओर की चाँहँ लिख्यौ, लिखिजाति कथा उत मोंहन-ओर की ।
प्यारी, दया-करि आँनि मिलौ, सहिजाति बिथा नहिँ मेंन-मरोर की ॥
आपु-हीं बाँचि लगावति अंग, अहो किन आँनी चिठी चित-चोर की ।
राधिके, राधे रही जकि भोर तें, है गई मूरति नंद-किसोर की ॥

साथ-ही, दासजी ने इस छंद का प्रयोग—अपने ‘शृंगार-निर्णय’ में “स्मृति-दशा” के उदाहरण में किया है । स्मृति-दशा—

पा०—१. (सं० प्र०) गयौ । २. (का०) (वें०) (प्र०) अब राधौ... । (शृ० नि०) अब राधे... । ३. (का०) (वें०) (प्र०) मैं रीति... । (शृ० नि०) प्रेम-प्रतीति भई तन-जैसी । ४. (सं० प्र०) सो... । ५. (शृ० नि०) अब... । ६. (का०) (वे०) (प्र०) कैसी । ७. (सं० प्र०) है... ।

* शृ० नि० (दास) पृ० १०३, ३११ ।

“जहाँ इकाग्र-चित करि धरै, मन भावन कौ ध्यान ।
इसस्मृति-दसा तिहि कहत हैं, लखि-लखि बुद्धि-निधान ॥”

स्मृति-दशा प्रवास-विरह के अंतर्गत-दस दशाओं में एक प्रधान दशा है ।
ये दस ‘दशा’ इस प्रकार हैं—

आलस, चिंता, गुन, कथन, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप ।

उनमाद-हि, व्याधि-हि गनों, जड़ता, मरन, संताप ॥

—शृ० नि० पृ० १०२, १०१

अस्तु, इन दस दिशाओं में ‘मरन’ दशा का वर्णन—कथन, साहित्यकारों ने नहीं किया है, कारण स्पष्ट है । स्मृति का उदाहरण “आलम” कवि कथित बड़ा सुंदर है, ब्रज-साहित्य में इसकी जोड़ नहीं है, यथा—

“जा यत्र कीने बिहार अनेकँन, ता थल काँकरी बैठि चुन्यों करें ।
जा रसना सों करी बहु बात, सु ता रसनाँ सों चरित्र गुन्यों करें ॥
‘आलम’ जौन से कुंजन में करी केलि तहां अब सीस धुन्यों करें ।
नैनन में जे सदाँ बसते, तिनकी अब काँन कहाँनी सुन्यों करें ॥”

अथ अनुक्त-विषया वस्तुत्प्रेक्षा-उदाहरन सबैया जथा—

चंचल लोचन चारु बिराजत, पास लुरी अलके थैहरै ।
नाँक मनोहर औ नथ’ मोंतिन की कछु बात कही न परै ॥
‘दास’ प्रभाँन-भरथौ तिय-आँनन, देखति ही मन जाइ अरै ।
खंजन, स्याँप, सुवा-सँग तारे, मनोँ ससि-वीचि बिहार करै ॥*

अस्य तिलक

“खंजन, स्याँप (सर्प) सूवा (तोता) अरु तारागन इन सब कौ चंद्रमा के बीच (एक सग) बिहार करिबौ अनुक्त (अयुक्त) है । ऐसौ नाहीं ब्दे सके है, ताते यहाँ “अनुक्तविषया वस्तुत्प्रेक्षा है ।”

वि०—“जहाँ उपप्रेक्षा का विषय न कहकर उसकी संभावना का वर्णन किया जाय, तब वहाँ “अनुक्त, विषया वस्तुत्प्रेक्षा” बनती है, अर्थात् जहाँ विषय (उपमेय) का वर्णन हो वहाँ “उक्त विषया” और वहाँ विषय (उपमेय) का वर्णन

न किया गया हो वहाँ 'अनुक्त विषया' उत्प्रेक्षा कही जायगी, जैसा कि दासजी ने इस छंद में वर्णन किया है ।”

“अलंकार-मंजरी में कन्हैयालाल पोद्दार ने दास जी के इस उदाहरण के प्रति “अनुक्त विषया उत्प्रेक्षा” अलंकार इस छंद में न मान कर “उक्त विषया-उत्प्रेक्षा” का उल्लेख करते हुए लिखा है कि “छंद के चौथे चरण में चंद्र-मध्य खंजन, सर्प, शुक और तारागणों की उत्प्रेक्षा की गयी है और उसके विषय (उपमेय) जो नायिका के नेत्र, अलकावलि, नासिका और नथ के मोती आदि का कथन छंद के पहिले चरणों में किया गया है, इसलिए यह उदाहरण उक्त अलंकार का नहीं होता, जैसा दासजी ने अपने इस छंद की व्याख्या में कहा है। क्योंकि असंभव वस्तु की कल्पना करना ही ‘अनुक्त-विषयोत्प्रेक्षा’ का विषय नहीं होता।

पुनः उदाहरन सवैया जथा—

‘दास’ मनोहर आँनन बाल कौ, दीपत जासु^१ दिपें सब दीपै^२ ।
 स्नान सुहाए बिराज रहे, मुकताहल-संजुत तासु^३ समीपै^४ ॥
 सारी महीं मों^५ लीन बिलोकि, बखानत हैं कवि जे^६ अबनी पै^७ ।
 सोदर^८ जाँनि ससी-हिं मिल्यौ^९ सुत संग लिये मनो सिंध में सीपै^{१०} ॥*

अस्य तिलक

“इहाँ सीप कौ ससि (चंद्रमा) सों मिलबौ अचरज (पूर्ण) है—कवि-कथन मात्र है, ताते “अनुक्त विषया उत्प्रेक्षा” है। सोदर (सहोदर) जाँनिबौ हेतु समर्थन है।

वि०—‘दासजी तथा नख-सिख संग्रहकर्त्ता ने इस छंद को ‘शृंगार-निर्णय’ एवं ‘नख-सिख हजारा’ में नायिका के ‘श्रवण-वर्णन’ में संकलित किया है। श्रवण-वर्णन रूप ‘देव कवि’ का यह निम्न-लिखित छंद भी विशेष दृष्ट्य है, यथा—

पा०—१. (का०) (वै०) (प्र०) जाकी..। २. (रा० पु० प्र०) (रा० पु० का०) दीप-हि।
 ३. (का०) (वै०) (प्र०) (शृ० नि०) (सु० ति०) (सु० सं०) (न० सि० ह०) ताहि...।
 ४. (रा० पु० प्र०) (रा० पु० का०) समीपहि। ५. (का०) (वै०) (प्र०) सों...। ६. (का०) को। (वै०) के...। (शृ० नि०)। (सु० ति०) (सु० सं०) विचरति हैं कवि के..। ७. (रा० पु० प्र०) (रा० पु० का०) अबनी पहि। ८. (सं० प्र०) सहोदर...। ९. (सं० प्र०) (सु० ति०) (सु० सं०) मिली..। १०. (रा० पु० प्र०) (रा० पु० का०) सीप-हि।

* शृ० नि० (भि० दा०) १० १७, ५०। (सु० ति०) (भारते दु) २८६, ६८७।
 सु० सं० (मन्नालाल) २३, २१। न० सि० ह० (ह० जु०) १४६, १३।

“बसि बीस हजार पयोनिधि में बहु भाँतिनि सीत की भीत सही ।
कबि ‘देव’ जू त्यों चित चाँह घँनी, सुचि संगति-मुक्त न-हूँ की गही ॥
इहि भाँति जु कीन्हों सबै तप-जाज, सो रीति कछूक न बाकी रही ।
अजहूँ न इते पर सीप सबै, इन काँनन की सँमता न लही ॥”

हेतुत्प्रेच्छा लच्छन बरनन दोहा जथा—

हेतु-फलन के^१ हेतु है-सिद्ध-असिद्ध-बखौन^२ ।
‘हौंनि सिद्ध’ असिद्ध कों, अँनहौंनि पैहचौन ॥

अथ सिद्ध-विषया हेतुत्प्रेच्छा उदाहरन जथा—

जौ कहों काहू के रूप ते^३ रीमे, तौ और कौ^४ रूप रिक्तावनँ बारौ ।
जौ कहों काहू के प्रेम-पगे हैं तौ और कौ प्रेम-पगावनँ बारौ ॥
‘दास’ जू दूसरौ^५ भेव न और, इतौ अबसेर लगावनँ बारौ ।
जाँनति हों गयौ भूलि गुपालै, अहो पंथ इतै करि आवँन बारौ ॥*

अस्य तिलक

इहाँ पंथ (मार्ग, रास्ता) भूलिबौ सिद्ध-विषया है, अवरज (युक्त) नहीं ।

वि०—“जब अहेतु को हेतु (जो उत्प्रेक्षा का कारण न हो उसे कारण) मान कर उत्प्रेक्षा की जाय, तब वहाँ उक्त उत्प्रेक्षा कह इसके सिद्ध-असिद्ध विषय-रूप दो भेद किये जाते हैं । सिद्धा, अर्थात् उत्प्रेक्षा का विषय - उसका आस्पद आधार रूप विषय सिद्ध हो—संभव हो, तथा असिद्धा—जहाँ उत्प्रेक्षा का आधार-रूप विषय असिद्ध हो—असंभव हो, तब वहाँ ये दोनों ‘उत्प्रेक्षा’ कही जाँयगी । अलंकार-मंजरी के रचयिता पोद्दारजी ने यहाँ “जाँनति हों” इस वाक्यांश को केवल संभावना-वाचक शब्द विशेष मान कर तथा उपमेय-उपमान-भाव न होने के कारण उक्त ‘उत्प्रेक्षा’ नहीं मानी है । उनका कहना है कि “लक्षण में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का कथन लक्षण-मात्र है, क्योंकि हेतुत्प्रेक्षा और फलत्प्रेक्षा में उपमेय-उपमान-भाव के बिना भी उत्प्रेक्षा होती है जो कि यहाँ नहीं है, इत्यादि...,” पर आपका यह कथन यहाँ कुछ समझ में नहीं आता । दासजी ने

पा०—१. (सं० प्र०) ‘कौ’ । २. (सं० प्र०) विधान । ३. (का०) (वे०) (प्र०) ‘शृ०’ नि०) सों । ४. (प्र०) (सु० स०) (र० कु०) के । १. (शृ० नि०)...दूसरी बात...

*, शृ० नि० (दास) पृ० १७२ । र० कु० (अयो०), पृ० १३८, १६६ । सु० स० (म० ला०), पृ० १४६, ४ । अ० म०, (क० पो०) पृ० १३३, २२० ।

यहाँ हेतु का सिद्ध-विषय “भूलना”—“आश्चर्य नहीं” रूप से स्फुट कर दिया है, जो उचित है और उक्त अलंकार का पोषक है।

दासजी ने इस छंद (सबैया) को अपने “शृंगार-निर्णय” में “उत्कंठिता” का संक्षिप्त नामांतर “उत्का” (कहे हुए संकेत-स्थल में प्रिय (नायक) के न आने के कारणों पर वितर्क—शंका करने वाली) नायिका के प्रथम उदाहरण में दिया है और ‘रस-कुसुमाकर’ के कर्त्ता ने “मध्या उत्कंठिता के उदाहरणों में संकलित किया है। दासजी के ‘प्रथम’ से यहाँ—मुग्धा उत्कंठिता का संकेत मिलता है, क्योंकि नायिका-भेद के ग्रंथों में उत्कंठिता वा उत्का—मुग्धा, मध्या, प्रौढा, परकीया और गणिका-रूप से पाँच प्रकार की मानी गयी है। मुग्धा नायिका रति-सुख से अबोध होने के कारण लज्जा-वश किसी से भी अपने मन की कोई बात नहीं कहती...। अतएव इसे लक्ष्य कर रस-कुसुमाकर के संग्रह कर्त्ता ने दासजी के इस छंद को “मध्या उत्कंठिता” के उदाहरणों के साथ संग्रह किया है। नायिका-भेद के ग्रंथों से जाना जाता है कि मध्या नायिका भी काम-विवश होते हुए लज्जा का पल्ला नहीं त्यागती और—

“मन-हीं-मन पीर पिरैबौ करै”

के अनुसार उसी में घुली-मिली रहती है। स्वजन-सखी आदि से भी अपने मन की बात कहने में संकोच का अनुभव करती है, जैसा निम्न उदाहरणों में—

उझिकै झुकि झूमि झरोखँन-झौकि, झकै गुरु लोगँन-पँठति भोंनँ ।
कवि ‘बेनी’ उठै छिन पँठि भुजा, छिन भँटति मोंहन के भ्रम पोंनँ ॥
अति व्याकुल मँन-मई तँन में, दुख बूझँ सखीन के हँ रही मोंनँ ।
दई हाइ रझौ धौं लुभाइ कहुँ, चित सोचति लाल लट्ट करयौ कोंनँ ॥”

अथवा -

“बिरमे, कहुँ कोऊ प्रबीन मिली तिय, कै तौ मिल्यौ ‘कबिराज’ समाज है ।
काहु की चातुरी में चित लाग्यौ, किधौं उरभयौ कहुँ काहु के काज है ॥
जौ न कहौं तौ रझौ न परै, जु कहौं तौ कहे पर आवति लाज है ।
आइवे कौं इहि ओर धौं काहे ते, आज अवार करी बजराज है ॥”

अस्तु,—

“करार कर के न आया वो संग-दिल काफिर ।
पड़े करार पै क्रुत्तर, ये कुछ करार हुआ ॥”

—कोई शायर

दासजी के इस छंद के दासजी-मतानुसार ही पाठ रूप दो मत हैं । प्रथम पाठ जो मूल में दिया गया है, आपके ग्रंथ 'काव्य-निर्णय' की प्रतियों के अनुसार है । दूसरा पाठ दासजी ने अपने द्वितीय ग्रंथ 'शृंगार-निर्णय' में, और न कुछ थोड़े-से शब्द-परिवर्तन के साथ 'रस-कुसुमाकर' और 'सुंदरी-सर्वस्व' में दिया गया है, वे इस प्रकार हैं । 'शृंगार-निर्णय,' यथा —

‘जौ ‘कहो’ काहू के रूप-‘सों’ रीझ तौ और ‘कौ’ रूप-‘रिझावँनवारी’ ।

जौ कहों काहू के प्रेम-पगे हैं, तौ और ‘कौ’ प्रेम-‘पगावँनवारी’ ॥

‘दास’ जू दूसरी बात न और, इती ‘बड़ी’ बेर बितावँनवारी ।

जाँनति हों गई भूलि ‘गुपाल’, गली ‘यहि’ ओर की आवँनवारी ॥”

“रसकुसुमाकर”—

जौ ‘कहो’ काहू के रूप-‘रिझैए’ तौ और ‘के’ रूप-‘रिझावँनवारी’ ।

जौ ‘कहों’ काहू के प्रेम-पगे हैं, तौ और ‘के’ प्रेम-‘पगावँनवारी’ ॥

‘दास’ जू दूसरी बात न और, इती ‘बड़ी’ बेर बितावँनवारी ।

जाँनति हों गई भूलि ‘गुपाल’, गली ‘यहि’ ओर की आवँनवारी ॥”

‘सुंदरी-सर्वस्व’—

‘जो कहूँ’ काहू के रूप-से रिझे, तौ और ‘के’ रूप-‘रिझावँनवारी’ ।

‘जो कहूँ’ काहू के प्रेम-पगे हैं तौ और ‘के’ प्रेम-‘पगावँनवारी’ ॥

‘दास’ जू दूसरी बात न और इती ‘बड़ी’ बेर बितावँनवारी ।

जाँनति हों गई भूलि ‘गुपाल’, गली ‘इहि’ ओर की आवँनवारी ॥

इन कोम-संनद्ध शब्दों में तनिक-ही अंतर है, मौलिक अंतर नहीं, जैसे—
‘बारो’ और ‘बारी’ में । अंतिम चरण का एक सुंदर पाठ और भी मिलता है, यथा —

“जाँनति हों गई भूलि उन्हें, गली इहि ओर की आवँनवारी ॥”

*

“थमा न अरक, न नोंद आई, ना पलक झपकी ।

बसा है जब से वह खानाखरात्र आँखों में ॥”

असिद्ध-विषया हेतुत्प्रेच्छा उदाहरन जथा—

फूंस^१-दिनन में हूँ रहै अगिन-कोंन में भौन ।

जाँनति^२हों जाड़ौ बली, तासों डरे निदाँन ॥

पा०—१. (सं० प्र०) पूस... २. (सं० प्र०) मैं जान्यों जाड़वै बली, सोऊ डरे... ।

अस्य-तिलक

इहाँ भाँन (सूर्य) कौ जाड़े (सर्दी) सों डरपिबौ असिद्ध रूप है ।

वि०—“दासजी के इस ‘असिद्ध-विषया-हेतुत्प्रेक्षा’ के उदाहरण के साथ किसी कवि की यह सूक्ति भी बड़ी सुमधुर है, यथा—

“का अचरज हँमत में जो दिन छोटे होइ ।

सरदी के संसरग ते, सिकुरति हैं सब कोइ ॥”

यहाँ सर्दी के डर-से—कारण से, दिनों का छोटा होना, ऊपरवाली उत्प्रेक्षा को प्रकट करता है ।”

पुनः उदाहरन जथा—

बिरहिँन के अँसुवान ते, भरँन लग्यौ संसार ।

मैं जाँन्यों मरजाद-तजि, उँमग्यौ सागर-खार ॥

अस्य तिलक

इहाँ हूँ सागर कौ उँमगिबौ असिद्ध हेतु है ।

वि०—“दासजी के इस कथन के साथ-साथ किसी उर्दू शायर का निम्न-लिखित शेर भी काबले-दीद है, यथा—

“समंदर कर दिया नाम उसका नाहक सबने कह-कहकर ।

हुए थे कुछ जमाँ आँसू, मेरी आँखों से बह-बहकर ॥”

अथ सिद्ध-विषया फलोत्प्रेक्षा उदाहरन जथा—

बाल, अधिक छबि-लागि निज नैनन अंजन देति ।

मैं जाँन्यों मो हँनन कों, बाँनन-बिष भरि लेति ॥

अस्य तिलक

इहाँ बाँनन में बिष-भरि कें मारिबौ फल-सिद्ध है ।

वि०—“अफत में फल की संभावना मानने को फलोत्प्रेक्षा कहते हैं । यह भी पूर्व की भाँति “सिद्धा” और “असिद्धा”—सद होती है । अतएव जहाँ उत्प्रेक्षा का विषय आस्पद—आश्रय रूप विषय संभव हो वहाँ ‘सिद्ध-विषया’ और जहाँ उत्प्रेक्षा का आश्रय रूप विषय असिद्ध हो—असंभव हो, वहाँ “असिद्ध-विषया फलोत्प्रेक्षा” कही-सुनी जाती है । दासजी के इस उदाहरण के साथ भारतेन्दुजी का निम्न-लिखित दोहा भी देखें, यथा—

“जिय-रंजन, खंजन हगँन, अंजन दियौ बनाइ ।
मनों साँन फेरी मदन, जुगल बाँन जिय-लाइ ॥”

अथवा —

“एक तौ नेंना मद-भरे, दूजें अंजन-सार ।
बूझि बाबरी देति को, मतबारेन हथियार ॥”

क्योंकि—

“रह गए लाखों कलेजा थाम कर ।
आँख जिस जानिब तुम्हारी उठ गई ॥”

— कोई शायर

पुनः उदाहरन जथा—

बिरहिँन-अँसुवन-बिधि^१ रहै, दरसाबँन^२ नित सोध ।
‘दास’ बढाबँन कों मनो, पूनों दिनँन पयोध ॥”

अस्य तिलक

इहाँ पून्यों के दिनँन में पयोध (सागर, समुद्र) कौ बढिबौ ‘सिद्ध फल है ।

वि०—“अश्रु-प्रवाह पर ब्रजभाषा के कवियों ने दृष्ट-वरपा कर दिया है, सैकड़ों नहीं, हजारों-ही अनमोल सूक्तियाँ रच डाली हैं । यहाँ हम केवल ब्रज-भाषा के अंतिम श्रेष्ठ कवि बा० जगन्नाथदास ‘रत्नाकर’ की एक रम्य-रचना देकर ही संतोष करते हैं, यथा—

“जस, रस, मधुर, लुनाई ‘रतनाकर’ कों
काँनन-बरसि घटा-घट लों नदी चली ।
बहि तृन, पात-लों तँमाम कुल-काँनि गई,
गुरु-गिरि-रोक-टोक हूँ जिमि रदी चली ॥
लाख-अभिलाख-भोरँ आँमन गँभीर लगी,
उँमगि, उँमगि बढि करति बदी चली ।
धीरज-करार फोरि, लज्जा-दुम-तोरि, बोरि,
नोकदार नैनन सों निकसि नदी चली ॥”

*

“अश्रु आँखों से पल नहीं थमता ।
क्या बला, दिल-ही-दिल में आब हुआ ॥”

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) बिधु...। २. (का०) (वे०) दरसावत...।
(प्र०) बरसावत...।

अथ असिद्ध-विषया फलोत्प्रेक्षा जथा—

खंजरीट नहिँ लखि परत, कछु दिँन साँची बात ।
बाल-दृगँन-सँम होन कों, मनोँ* करँन-तप जात ॥*

अस्य तिलक

इहाँ खंजन (पच्छीन) कौ तप करिबे जैबौ असिद्ध विषय है ।

वि०—“यहाँ तक ‘दासजी’ ने ‘वाच्योत्प्रेक्षा’ के उदाहरण-ही प्रस्तुत किये हैं । इन सभी में उत्प्रेक्षा-वाचक शब्द—“जनु, मनु, मनोँ” अथवा ‘से, सो आदि उपस्थित हैं, इसलिये ये संपूर्ण उदाहरण वाच्योत्प्रेक्षा के ही हैं । इन वस्तु, हेतु और फल-रूपी तीनों वाच्योत्प्रेक्षाओं में कहीं जाति उत्प्रेक्ष्य है, कहीं गुण और कहीं क्रिया उत्प्रेक्ष्य है तो कहीं द्रव्य । कुछ आचार्यों का मत है कि द्रव्य-गत उत्प्रेक्षा ही वस्तुत्प्रेक्षा बन सकती है, हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा नहीं । पर रसगंगाधर के कर्त्ता पं० राज जगन्नाथजी ने द्रव्य-गत हेतु और फलोत्प्रेक्षा को भी माना है और इनके उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं । वाच्योत्प्रेक्षा रूप इन तीनों भेदों के जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य भेद से चार-चार भेदों का उल्लेख हो चुका है । उनमें कहीं ‘भाव’ और कहीं ‘अभाव’ उत्प्रेक्ष्य होता है । उत्प्रेक्षा के द्वितीय स्वरूप “प्रतीयमाना” के विषय में ‘विश्वनाथ चक्रवर्त्ती’ अपने साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में कहते हैं कि प्रतीयमाना-फलोत्प्रेक्षा और हेतुत्प्रेक्षा तो हो सकती है, किंतु वस्तुत्प्रेक्षा नहीं । कारण वस्तुत्प्रेक्षा में यदि उत्प्रेक्षा-वाचक शब्दों का प्रयोग न किया जाय तो वहाँ अतिशयोक्ति की प्रतीति होने लगती है, यथा—

“प्रतीयमाना भेदाश्च प्रत्येकं फलहेतुगाः ।”

और जैसा इस व्याख्या में वहाँ कहा गया है । यही नहीं, आपका यह भी मत है कि “यदि उक्त उत्प्रेक्षा के तत्तद् उदाहरणों में उत्प्रेक्षा वाचक शब्द हटा दिये जाँय तो वहाँ-वहाँ असंबंध में संबंध वाली ‘संबंधातिशयोक्ति’” बन जायगी, किंतु पंडितराज जगन्नाथ जी ऐसा नहीं मानते । आप उत्प्रेक्षा-वाचक शब्दों के अभाव से अलंकृत ऐसे उदाहरणों में भी गम्योत्प्रेक्षा—लुप्तोत्प्रेक्षा ही मानते हैं, संबंधातिशयोक्ति नहीं । आपका मत है कि “संबंधातिशयोक्ति वहीं होती है, जहाँ उत्प्रेक्षा की सामग्री न हो...इत्यादि...” ।”

पा०—१. (सं० प्र०), करन मनोँ तप...।

*, सू० सं० (भ० दी०) पृ० ५०, १६ ।

अथ लुप्तोत्प्रेच्छा जथा—

‘लुप्तोत्प्रेच्छा’ तहँ* कहें, वाचक-बिन जो होई ।
जाकी विधि मिल जाति है, काव्यलिंग में सोइ* ॥

वि०—‘दासजी कहते हैं कि “जहाँ मनु, जनु-आदि पूर्व कथित उत्प्रेक्षा-वाचक शब्दों के बिना उत्प्रेक्षा की जाय वहाँ “लुप्तोत्प्रेक्षा” कही जाती है और इसकी विधि काव्यलिंग (काव्यलिंग—जब बुक्ति सों, अर्थ-प्रमर्थन होइ) से मिल जाती है। इस लुप्तोत्प्रेक्षा को—गम्योत्प्रेक्षा, प्रतीयमाना-ललितोत्प्रेक्षा, गुप्तोत्प्रेक्षा और व्यंग्योत्प्रेक्षा भी कहते हैं।’

अस्य उदाहरन जथा—

विँन-हिं* सुँमन-गँन बाग में, भरे देखियतु* भोर ।
‘दास’ आज* मन-भाँभती, सैल करीइ इहि ओर ॥*

वि०—‘दासजी कृत लुप्तोत्प्रेक्षा के इस उदाहरण को कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी अलंकार-मंजरी (पृ० १४६) में उक्त अलंकार का उदाहरण नहीं माना है। आपका कहना है कि “दासजी ने इसके पूर्व लक्षण वाले दोहे में—“जाकी विधि मिल जाति है, काव्यलिंग में सोइ” अर्थात् गम्योत्प्रेक्षा काव्यलिंग में मिल जाती है, इस लिए गम्योत्प्रेक्षा का विषय दासजी नहीं समझे और उदाहरण भी असंबद्ध दिया है। ऐसे उदाहरणों में गम्योत्प्रेक्षा नहीं होती, क्योंकि इसमें न तो स्वरूप की उत्प्रेक्षा है और न हेतु वा फल को। पुष्पों के बिना भौरों की भीड़ देखकर बागमें नायिका के आने की संभावना-भाव है। अतएव पूर्वाद्ध* में पुष्पों के होने का कारण के अभाव में भौरों के होने का कार्य का होना कहे जाने से “उक्त निमित्ता प्रथम विभावना” अथवा उत्तरार्ध के वाक्य का पूर्वाद्ध* में जापक कारण होने से “अनुमान” अलंकार हो सकता है, गम्योत्प्रेक्षा नहीं।” किंतु पोद्दार जी शायद इस दोहे में प्रस्तुत ‘आज’ शब्द को देखकर भी अनदेखा कर गये हैं। यह आज शब्द ही बाग में नायिका की उपस्थिति और भौरों की भीड़ का डंका बजा रहा है, जिसे पोद्दार जी अपनी वाक्पटुता से नहीं दबा सकते।

पा०—१ (का०) (वे०) तिहि...। २ (का०) (वे०) (प्र०) कोइ । ३. (सं० प्र०) (प्र०) (का०) (वे०) हुँ...। ४. (सं० प्र०) देखिये । ५. (रा० पु० का०) मनो । ६. (वे०) किये...।

* अ० सं० (क० पो०) पृ० १४६ ।

‘दासजी’ से पूर्व ऐसा ही लक्षण और उदाहरण मतिगम जी (ललित-ललाम) तथा पद्माकर जी (पद्मामरण) ने भी दिये हैं, यथा—

“उत्प्रेच्छा-वाचक जहाँ, सबद कह्यौ नहि-होइ ।

‘गुप्तोत्प्रेच्छा’ कहत हैं, तहाँ सुकबि सब कोई ॥”

—ललित-ललाम

उत्प्रेच्छा-द्योतक जु पद, जहाँ कह्यौ नहि होइ ।

अर्थ-करति में ल्याइऐ, ‘गम्योत्प्रेच्छा’ सोइ ॥”

—पद्माभरण

पुनः उदाहरन जथा—

बालँम कलिका-पत्र औ खौर सजे^१ सब गात ।

लाल,^२ जोहिवे जोग ए, चित्रित चंपक-पात ॥

अस्य तिलक

इहाँ मनो (आदि उत्प्रेक्षा-वाचक) सबद लुप्त हैं, ताते लुप्तोत्प्रेक्षा है ।

अथ उत्प्रेक्षा की माला

चौखंडे^३ उतरि बड़े ही भोर वाल आई,

देब-सरि आई^४ मनो देवी कोऊ व्योम ते ।

सोभा सों सफरि^५ खरी तट सोहै भीजे पट,

बलित बरफ^६ सों कँनक - बेलि मोंम ते ॥

धोए ते दिठोंनौ^७दिक आँनन अँमल भयौ,

कढ़ि गयौ माँनों सो^८ कलंक पूरे सोम ते ।

अलकँन^९ जल-कँन छाए^{१०} धाए अध आवैं,

चली आवै पाँति तारँन को माँनों तँम-तोंम ते ॥

वि०—“दासजी ने उत्प्रेक्षा के विविध भेदों व उदाहरणों को प्रस्तुत करते हुए उसकी ‘माला’ पर “उत्प्रेक्षालंकार” की इति श्री कर दी है । संस्कृत के अलंकार-आचार्यों ने प्रतीयमाना फलोत्प्रेक्षा के पूर्व कथित भेदों के साथ उत्प्रेक्षा

पा०—१. (सं० प्र०) (का०) (प्र०) सजे... २. (सं० प्र०) (वे०) (५०) बाल चाहिए जोग यह । ३. (का०) (वे०) (प्र०) चौखंडे ते... ४. (सं० प्र०) मनो आई । ५. (५०) सफरि... ६. (सं० प्र०) सरफ ... ७. (का०) (वे०) (प्र०) मानहुँ कलक... ८. (सं० प्र०) अलकँन जल-कन छायाँ मनो आवै चली, हरख नली ताए तँम-तोंम ते । (का०) अलकन जलकन धावै मनो आवै चली, पति पै हरख-रली तारा तम तोंम ते । (वे०) ..धायाँ मनो आवै चली पति पै हरख-रली तारा... ९. (प्र०) धाए अध आवै चले ।

को-श्लेष-मूला और सापन्हवी भी माना है। इनके सुंदर हृदयग्राही उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। मालोत्प्रेक्षा का वर्णन करते हुए पं० राज जगन्नाथजी ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

द्विनेत्र इव वासवः करयुगो विवस्वानिव--

द्वितीय इव चंद्रमाः श्रितवपुर्मनोभूरिव ।

नराकृतिरिवांबुधिगुरुरिवक्षमाभागतो-

जुतो निखिज भूसुरैर्जयति कोऽपि भूमीपतिः ॥

अर्थात् “मानों दो आँख वाला इंद्र हो, मानों दो कर (हाथ और किरण) वाला सूर्य हो, मानों दूसरा चंद्र हो, मानों देहधारी काम हो, मानों मनुष्य के से आकार वाला समुद्र हो, मानों पृथ्वी पर आए वृहस्पति हों, ऐसा सभी ब्राह्मणों से प्रशंसित एक—अनिर्वचनीय राजा सर्वोत्कृष्ट है (२० गं० पृ० ६०६) ।” इसके अतिरिक्त आपने श्लेषमूला तथा सापन्हव के भी उदाहरण दिये हैं, यहाँ हम केवल सापन्हव-उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण देते हैं, यथा—

“नहिंन ए पावक प्रबल, लुपें चलत चहुँपास ।

माँनों बिरह बसत के, ग्रीष्म लेत उसास ॥”

रूपक-मिश्रित उत्प्रेक्षा के भी उदाहरण मिलते हैं, यथा—

“चपल-नुरंग-चख, भृकुटी जुवा के तारे, धाइ-धाइ मरत पिया के हेत पथ है ।

तरल-तराँनों चक्र, आसन कपोल-लोल, आयुध अलक-बंक बिकस्यो सुगथ है ॥

सारथी सिंगार हाव-भाव करि रोर लिए, मन से मतंगन की गति लथ-पथ है ।

बिबिध बिलास साज साजे कवि ‘उरदाँम’ मेरे जाँन मुख मकरधुज कौ रथ है ॥”

यही नहीं इन साहित्याचार्यों ने—भ्रांतिमान्, संदेह और अतिशयोक्ति अलंकारों से उत्प्रेक्षा की पृथक्ता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि भ्रांतिमान् अलंकार में एक वस्तु में अन्य वस्तु की कल्पना की जाने पर सत्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता, अपितु कवि के कथन द्वारा ही सत्यवस्तु का वर्णन किया जाता है और उत्प्रेक्षा में वस्तु के सत्य-स्वरूप का ज्ञान भी रहता है। संदेह अलंकार में ज्ञान की दोनों कोटियाँ समकक्ष प्रतीत होती रहती हैं, उत्प्रेक्षा में केवल एक कोटि जिसकी उत्प्रेक्षा की जाती है, प्रबल रहती है। इसी प्रकार अतिशयोक्ति अलंकार में अध्यवसाय सिद्ध होता है—उपमेय का निगरण होकर उपमान का ही कथन होता है, उत्प्रेक्षा में ऐसा नहीं। वहाँ उस (उपमान) का अध्यवसाय साध्य रहता है—उपमान का अनिश्रित रूप से कथन होता है।

उर्दू-कवियों—शायरों ने भी उक्त उत्प्रेक्षा के सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जैसे—

“समाँ ये कहती है”, किस जाँ न हम पै जुलम हुए ।
खुदा के घर में भी देखो जलाये जाते हैं ॥”

अथवा—

“चिराग़ सुबह ये कहता है, आफ़ताब को देख ।
ये बज्र तुम को सुबारक़ हो, हम तो चलते हैं ॥”

अथ अपन्हुति अलंकार बरनन यथा—

और धरँम जहँ थापिऐ, साँचौ धरँम-दुराइ ।
औरें दीजै जुक्ति-बल, औरु हेतु ठैहराइ ॥

*

मेंटि और कौ^१ गुँन जहाँ, करै और कौ^२ थाप ।
भ्रँम काहू कौ हँ गयौ, ताकों मिटबत आप ॥

*

काहू बूमथौ^३ मुकरि कें^४, औरें कही^५ बनाइ ।
मिस-करि औरों कथन छै^६ विधि होति “अपन्हुति” भाइ ॥

अपन्हुति के षट भेद कथन यथा—

‘सुद्ध’, ‘हेतु’, ‘परजस्त’, ‘भ्रँम’, ‘छेक’; ‘कैतवै’^७ देखि ।
बाचक एक ‘न’कार है, सब में निसचै लेखि ॥

वि०—“प्रकृत (उपमेय) का निषेधकर अन्य (उपमान) के आरोप (स्थापना) किये जाने पर—सत्य-धर्म को छिपाकर अन्य धर्म के स्थापन (आरोप) किये जाने पर, “अपन्हुति” अलंकार कहा जाता है । सादृश्य के कारण गुण-विशेष-द्वारा उपमेय का अग्रहव (छिपाने) करने पर, अर्थात् निषेध कर, और उसके स्थान पर उपमान को स्थापित किया जाय तब उक्त अलंकार माना जायगा । क्योंकि अपन्हुति का अर्थ है छिपाना—गोपन करना, अथवा निषेध । अतएव यहाँ उपमेय का निषेध कर उपमान की स्थापना की जाती है । लक्षण में उपमेयोपमान का कथन उपलक्षण मात्र है, उपमेयोपमान-भाव के बिना भी अप-

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) सोँ...। २. (स० प्र०) (का०) (वे०) में...। (प्र०) की ।
३. (वे०) पूछै । (स० प्र०) पूछ्यौ...। ४. (स० प्र०) (का०) तिहि...। (वे०) करि ।
५. (स० प्र०) (का०) (वे०) कहै...। ६. (स० प्र०) (प्र० मु०) षट...। ७. (का०) (वे०)
धरँम...। ८. (वे०) कहलहि...।

न्हुति कही जाती है। अपन्हुति में निषेध कहीं पहिले कर अन्य का आरोप किया जाता है और कहीं पहिले आरोप कर पीछे निषेध किया जाता है। दास जी ने ऊपर लिखे गये तीन दोहों में उनका लक्षण लक्षितकर पुनः चौथे दोहे में अपन्हुति को “शुद्धधर्मी”, “हेत्वा” “पर्यस्त” “भ्रांत्य” “छेक” और “कैतव” नाम से छह प्रकार का कहा है।

संस्कृत- अलंकाराचार्यों ने अपन्हुति के प्रथम ‘शब्दी’ और ‘आर्थी’ विभेदकर पुनः इन्हें ‘निरवयवा’ और ‘सावयवा’ मानकर ‘हेत्वापन्हुति’, ‘पर्यस्तापन्हुति’ तथा ‘भ्रांतापन्हुति’ (भ्रांतापन्हुति) के बाद सावयवा आर्थी के अंतर्गत ‘छेकापन्हुति’ का वर्णन करते हुए पर्यस्तापन्हुति के ‘हेतुपर्यस्तापन्हुति’ ‘शुद्धा’ तथा भ्रांतापन्हुति के “संभव भ्रं . . .” कल्पित भ्रांतापन्हुति रूप दो भेद करते हुए छेकापन्हुति के भी ‘शुद्धा’ और ‘श्लेषधर्मीदि’ भेद किये हैं। अतएव जब ‘आरोप में से धर्म (उपमेय) को छिपा लिया जाय—उसका निषेध कर दिया जाय, तब धर्म वा अपन्हुति कही जाती है, जैसा कि दास जी के प्रथम-उदाहरण रूप—‘चौहरे चौक० ...’ में वर्णित है। हेत्वापन्हुति उसे कहते हैं, “जब कारण-सहित उपमेय का निषेध कर उपमान की स्थापना की जाय, अर्थात् जिसमें अन्हव (निषेध) करने का हेतु साथ-साथ दिखा दिया जाय। अथवा शुद्धापन्हुति में कारण दिखलाये जाने पर उक्त अपन्हुति कही जायगी। उदाहरण, यथा—

‘अरी घुँमरि घैरात घँन, चपला चमक न जाँन।’

और जब प्रकृत वस्तु के धर्म का अप्रकृत वस्तु के धर्म पर आरोप करते हुए प्रकृत वस्तु का निषेध किया जाय, अथवा किसी अन्य वस्तु के धर्म का आरोप करने के लिये दूसरी वस्तु के धर्म का निषेध किया जाय तब “पर्यस्तापन्हुति” कही जाती है। इसी प्रकार “भ्रांतापन्हुति” भी जब सत्य बात प्रकट करके किसी की शंका दूर की जाय—किसी के भ्रम को दूर करते हुए अपन्हव किया जाय, असत्य का सत्य बतलाया जाय, तब होती है। उदाहरण, यथा—

‘आँनन है, अरबिंद न फूले, अली-गँन भूलें कहा मझरात हौ।’

और स्वकथित अपने गुप्त रहस्य को किसी प्रकार प्रकट होते जानकर (यदि) उसे मिथ्या-समाधान-द्वारा छिपा दिया जाय—युक्ति पूर्वक किसी दूसरे व्यक्ति से अपनी बात छिपा ली जाय, वहाँ ‘छेकापन्हुति’ कहते हैं। छेक का अर्थ है—“चातुर्य”। अस्तु सत्य, पर गोपनीय बात को कहकर उसे श्लेष से, वा अन्य प्रकार से युक्ति-पूर्ण असत्य के द्वारा चातुर्य से छिपा लिया जाय, तब वहाँ उक्त अपन्हुति होती है। भ्रांतापन्हुति में असत् कहकर भ्रम दूर किया जाता है तथा

छेक में कहा हुआ सत्य, असत्य उक्ति के कथन से छिपाया जाता है। कैतवाप-
न्हुति वहाँ होती है—“जहाँ उपमेय का निषेध ‘कैतव’ (छल-कपट), ‘व्याज’
और ‘मिस’-आदि शब्दों के अर्थ-द्वारा किया जाय। वक्रोक्ति में दूसरे के द्वारा
कही गयी बात का अन्य अर्थ लगा लिया जाता है और यहाँ अपनी ही कही
हुई बात को स्वयं छिपाकर दूसरी बात बना दी जाती है। व्याजोक्ति में भी गुप्त बात
किसी प्रकार प्रकट होने पर उसे छिपानेवाला छिपाता है, पर यहाँ वह (वक्ता)
स्वयं कह कर उसका निषेध करते हुए युक्ति-द्वारा छिपाता है, इत्यादि...।

अपन्हुति ‘सादृश्य-मूलक’ है वा ‘औपम्य-गत’ इस पर शास्त्र-ध्येताओं का
मतभेद है। फिर भी अधिक मत इसके “औपम्य-गत” का ही है। कुछ शास्त्रकारों
का यह भी मत है कि अपन्हुति के कितने ही भेद औपम्य-गत हैं, और कितने
ही नहीं, पर वास्तव में देखा जाय तो बिना किसी प्रकार का साम्य किये किस
प्रकार एक का निषेध कर उसके स्थान पर दूसरे का आरोप किया जा सकता है,
क्योंकि अपन्हुति में शुद्धतः उपमेशोपमान का संबंध न होते हुए भी दोनों में कुछ
न कुछ साम्य तो रहता ही है।

रसगंगाधर-कार ने ‘पर्यस्तापन्हुति’ को ‘दृढारोप-रूपक’ बतलाते हुए कहा
है कि “यहाँ उपमान का जो निषेध किया जाता है वह उपमेय में उसका दृढ़ता
पूर्वक आरोप करने के लिए ही होता है, इसलिए यह अपन्हुति नहीं। काव्य-
प्रकाश (संस्कृत) में कहा गया है कि ‘अपन्हुति’ कहीं शब्द-द्वारा प्रकट होता है
और कहीं अर्थ के द्वारा ‘ऊह्य’ होता है, जिन्हे क्रमशः शाब्दी और आर्थी कहा
जा चुका है। साथ-ही आर्थी अपन्हुति कहीं कपटार्थक और कही परिणामार्थक
शब्दों-द्वारा एवं कहीं अन्य प्रकार से भी बनती है।” श्री मम्मट का यह अपन्हुति-
निरूपण रुद्रट का संक्षिप्ति-करण है, साथ-ही रुच्यक-मान्य “विषयस्यापन्हुवेऽ-
पन्हुतिः” जिसमें अप्रकृत के साधन वा स्थापन का खुला निर्देश नहीं है, की
आलोचना भी है। मम्मट जी ने अपन्हुति के भेद-प्रभेद निरूपण का विशिष्ट-
सिद्धांतिक आधार न होने—पर भी “एवमियं मंगयंतरैरप्यूह्या” कहते हुए दंडी के
“इत्येपन्हुतिभेदानां लक्ष्यो लक्ष्येषु विस्तरः” भाव को ही प्रकट किया है।”

प्रथम सुद्ध (धरमाँ) अपन्हुति उदाहरन जथा—

चौहरे चौक ते (देखि) कलाधर' पूरब ते कढ़्यौ आबत है-री ।
ठाढ़ौ सँपूरन चोखौ भरथौ, बिष सों लहि घायन' घूम घनै-री ॥

पा०—१. (सं० प्र०) चौहरी चौक सी देख्यौ कला-मुख । (का०) (वे०) चौहरी चौक
सों देख्यौ कला-मुख । २. (का०) घायरि ।

मौजि-मिसीजि^१ सुजोरि दियौ, सोई 'दास' बिचों-बिच स्याँमता है-रो ।
चाइ^२, चबाइ-बियोगिनि कों द्विजराज नहीं द्विज-राज है बैरी ॥

वि०—“द्विजराज शब्द के कई अर्थ उसके श्लेष-संयुक्त होने के कारण होते हैं, यथा— द्विजराज=चंद्रमा, ब्राह्मण, दंत-पंक्ति-आदि, यथा—

“केकिताच्यांवहिभुजौ दंतविप्रांडजा द्विजाः ।”

—अमरकोश (नानार्थ-वर्ग)

अथवा—

“द्विज पंछी, द्विज कहत ससि, द्विज कहिए पुनि दंत ।

तीन-बरैन ते द्विज बड़ौ, सेबत कमला—कंत ॥”

— नंददास (अनेकार्थ-मंजरी)

अस्तु, “द्विजराज” शब्द के एक श्लेषार्थ के सहारे रीति-काल के प्रख्यात कवि पद्माकर की सुमधुर सूक्ति देखें, यथा—

“सिंधु कौ सपूत-सुत, सिंधु-तनया कौ बंधु,

मंदिर अमंद सुभ सुंदर सुघाई के ।

कहै ‘पद्माकर’ गिरीस के बसे हौ सोस,

तारैन के ईस, कुल-कारैन कन्हाई के ॥

हाल-ही की बिरही बिचारी ब्रजबाल-ही पै

ज्वाल से जगाबत जुवाल-सी जुन्हाई के ।

एरे मति मंद चंद, आबति न लाज तोहि,

हैं केँ ‘द्विजराज’ काज करत कसाई के ॥”

अथ हेत्वापन्हति उदाहरन जथा —

अरी, घुँमरि घैहरात घँन,^३ चपला-चँमक न जाँन ।

काँम-कुपित काँमनीनि पै, धरत साँन किरबाँन ॥*

वि०—“यहा बात किसी दूसरे कवि ने इस प्रकार कही है, यथा—

“यै चपला चमकति नहीं, डारि धँनुष औ बाँन ।

बिरहिन पै अति कोप सों, कादी काँम कृपाँन ॥”

पा०—१. (रां० प्र०) मिसी जसु जोर द्यौ । (का०) मिसी जम जोर द्यौ... । (वे०)
मिसी मुँह जोर द्यौ... । (प्र०) मिसी द्विज-माँफि दर्ई सोइ... । २. (का०) चाई-चवाई... ।
(प्र०) चाब-चबाव... । ३. (रां० प्र०) हैं... ।

*. का० प्र० (भानु०) पृ० ५०४, ४२ । सु० स० (ला० भ० दी०) पृ० २२७, १०१ ।

अन्य उदाहरण, यथा—

“बाल-बदन-प्रतिबिम्ब-बिधु, उयौ रझौ तिहिँ संग ।

उयौ रहत अब रजनि-दिन, तपन तपावत अंग ॥”

— मतिराम (ललित-ललाम)

अथ परजस्तापन्हुति उदाहरन जथा—

कालकूट बिष नाहिँ, बिष है केवल इंदिरा ।

हर जागत छकि याहि,^१ वा^२ संग हरि नीदौ न तजै ॥*

वि०—“पर्यस्तापन्हुति (जब एक के गुण—धर्म का आरोप दूसरे में किया जाय—उपमान के गुण (धर्म) का आरोप उपमेय में कहा जाय) का उदाहरण श्री सोमनाथ का भी बड़ा सुंदर है, यथा —

“हिणें लाल के चुभति-ही, बेसुध किए निदौन ।

तीखे मनमथ-सर, नहीं तिय-दग तीछन-बाँन ॥”

रसपीयूष (सोमनाथ)

पं० राज जगन्नाथ जी और अलंकार-सर्वस्व की टीका विमर्शनीकार ने इस अपन्हुति (जैसा पूर्व में कह आये हैं) को “दृढारोप रूपक” बतलाया है । उनका कहना है कि पर्यस्तापन्हुति में उपमान का निषेध किया जाता है, जो उपमेय में दृढ़तापूर्वक आरोप (रूपक) करने के लिये होता है, इसलिये अपन्हुति नहीं बनती ।”

अथ भ्रांतापन्हुति उदाहरन यथा —

आँनन है, अरविंद न फूले,^३ अलोगँन भूलें कइ मँड़रात हो^४ ।

कीर, तुँ^५हें^६का बाइ लगी,^७भ्रम बिंब के ओठन कों ललिचात हो^८ ॥

‘दास’^९जू व्याली न, बेनी-बँनाव है, पापी-कलापी कहा इतरात हो^{१०} ।

बोलती^{११} बाल, न बाजता बीन, कहा सिगरे मृग घेरति जात हो^{१२} ॥†

प०—१. (प्र०).. जाहि । (सू० स०) बाहि .। २. (सू० स०) यहि..। ३. (ह० ह०) फूल्यौ । ४. (ह० ह०) हैं । ५. (ह० ह०)...कहा तोहि बाइ भई । ६. (र० कु०) से । ७. (ह० ह०) हैं । ८. (र० कु०)...व्याली न बेनी रच्यौ तुम पापी..। ९. (ह० ह०) हरखात है । १०. (स० प्र०) बोलत...। (ह० ह०) बाजत बीन न, बोलति बाल.....। ११. (ह० ह०) हैं ।

* सू० स० (ला० भ० दी०) पृ० ६४, ६७ । † र० कु० (अयो०) पृ० ८८, २२७ । ह० ह० (ह० जु०) पृ० २६१, २० । अ० र० (पो०) पृ० १३०, २०६ । आ० भू० (के०) पृ० ११६ ।

वि० — “जब उपमेय में उपमान का होने वाला भ्रम दूर किया जाय तब यह अलंकार बनता — कहा जाता है । शुद्ध-अपन्हुति-आदि में प्रकृत (उपमेय) का निषेध किया जाता है, यहाँ उपमान का । इसलिये साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने इसे एक स्वतंत्र अलंकार “निश्चय” नाम से माना है । दंडीजी ने भी इसे “तत्त्वाख्यानोपमा” नाम से उपमा का ही एक भेद विशेष कहा है । अस्तु, भ्रांतापन्हुति का उदाहरण कविवर ‘लच्छीराम’ का भी सुंदर है, यथा —

“भाँवरें भरत भौर भूलें अरबिंदन के,
हाथ गजरारे और नारे की लगँन में ।
कबि ‘लच्छीराम’ कब दाँमिनी फिरति भूँमि,
भूमत मयूर मतबारे मोद मँन में ॥
माँनसर मोतिया न, सेद-बिंद गोरे—गात,
पीछें परी नाँहक मराल मुरछँन में ।
बासर में चंद है न, प्यारी कौ अमंद मुख,
फूले मति मंद क्यों चकोर मधुबँन में ॥”

अथवा—

“गंग नहीं, मुक्ता-भरी माँग है, चंद नहीं ये उज्जल बाल है ।
भूति नहीं, मलयागिरि सोहत, सेस नहीं, सिर बेंनी बिसाल है ॥
नील नहीं, मखतूल के पुंज हैं, बिजया है नहीं, बिरहा सों बिहाल है ।
एरे मनोज, सँहारि कें मारियो, ईस नहीं ये कौमल बाल है ॥”
भ्रांतापन्हुति के अंतर्गत भानु (जगन्नाथप्रसाद भानु) कवि ने ‘परिहासापन्हुति’ भी मानी है और उदाहरण में भारतेन्दु बा० हरिचंद्र जो का निम्न-लिखित ‘पद’ दिया है—

“होरी में सँमधिन आई, अहो फाँगुन-त्यौहार मनाई ॥
जया-सक्ति कीन्हों सब-ही नें, सँमधिन कौ सतकार ।
सँमधिन जू नें ‘बौहौत करायौ’, आदर-सिस्टाचार ॥
सँमधिन जू की ‘चिकनी-चुपरी’, चोटी सोंधौ लाइ ।
सँमधिन कों लखि, ‘रपटि-परति’, सँमधी कौ मन धाइ ॥”

—भा० प्र० पृ० ३७६

अस्तु, इस प्रकार की रचना भारतेन्दु जो से प्रथम “सूरदास जी” की भी मिलती है, जैसे—

“रहसि घर सँमधिन आई, ए सब सुजनन के मँन-भाई ॥
सँमधिन सों सँमध्यौरौ कीजै, कीरति ये मँन भाई ।

नंद गाँठ ते मैहैरि जसोधा, सँमधिन न्योति हुत्ताई ॥
 सँमधिन आई, सब-मँन भाई, निसि सँमधी-सँग खेजी ।
 'खोलि' हुत्तास आइ दिँग बैठी, मौहरँन की सी थैजी ॥
 अति सुरंग 'सारी' सँमधिन की, लहँगा अति-ही सुदर ।
 'फाटि' रही 'सगरी' सँमधिन की, चोजी, जोबँन-भार ॥
 सँमधिन कों 'हाथी कौ भावै', आछौ, नीकौ, पूरौ ।
 रंग रँगौली, औ चटकीलौ हाथ भरे कौ चूरौ ॥
 सँमधी तौ 'दीयौ-ही चाँहें, खोलि' डबा की गाँठि ।
 अपने सँमधी के नेगिनि कों, हीरा पन्ना बाँटि ॥"

—संत-धमार, पृ० ८०

इन दोनों पदों में कोमा की पगड़ी के भीतर भिन्न टायप के शब्दों की बहार देखने लायक है कि कवि किस प्रकार न कहने योग्य वाक्यों-द्वारा अश्लीलता को अपनी उपस्थित बुद्धि से बदल कर भाव को कहाँ-से-कहाँ ले जा कर हास्य का सुंदर स्वरूप स्पष्ट कर देता है ।

भारती-भूषण में केड़ियाजी ने दास जो के इस छंद में आनामनुहि की माला मानी है, क्योंकि इस—आनन है, अरविंद न फूले...के चारों चरणों में उक्त अप्रनुहि है । एक दूसरा उदाहरण भी 'माता' का वहाँ दिया है, यथा—

“हे पच-प्रायक मार, मत पुष्प केसर मार ॥
 असि-गदा-सूल चलाव, पुनि देख मेरे दाव ।
 मत जाँन तू बिधु-बाल, है खौर चंदन भाल ॥
 नहीं जटा मेरे सीस, मंदील आहि रतीस ।
 नहि जान्हवी की धार, है मुक्त-हारि-हार ॥
 है सर्प नाहि अनंग, यह पर्यौ सेला अंग ।
 मैं अहहु राजकुमार, सिब जाँन मोहि न मार ॥

—रा० दे० प्र० पूर्ण

संस्कृत में भी एक ऐसी सुंदर सूक्ति मिलती है, जो वही भाव व्यक्त करती है, यथा—

जटा नेयं वेशीकृतकचकलापो न गरलं,
 गले कस्तूरीयं शिरसि शशिलेखा न कुसुमम् ।
 ह्यं भूतिनां मे प्रियविरहजन्मा धवलामा,
 पुराराति आत्मा कुसुमशर किं मां व्यथयसि ॥"

—सुभाषित १६८, ४४

अथ छेकापन्हुति उदाहरन जथा—

दच्छिन जा तँन^१के बिच ह्वैकें, हरें, हरें चाँदनी में चलि आयौ ।
बास-बगारि कें ढारि रसै, लगि सोरौ कियो^२हियरौ मँन भायौ ॥
‘दास’ जू या बिन या उदबेग सों, प्राँन वही यै जाँन हों पायौ ।
भेँथ्यौ कहूँ मँनरोँन अलो, नहिँ-री सखि, राति कौ पोंन सुहायौ ॥

वि०—“छेकापन्हुति जुक्ति करि, पर सों बात दुराइ०”...अर्थात्, जहाँ युक्ति पूर्वक (किसी) दूसरे व्यक्ति से अपनी बात छिपाई जाय वहाँ होती है । इस अमन्हुति का उदाहरण ‘गोकुल’ कवि का बड़ा सुन्दर बन पड़ा है, यथा —
“साँवरौ सलोंनों गात पीत-पट सोहत सौ, अंबुज से आनन पै परै छबि ढरकी ।
मंत्र ऐसी, तंत्र जैसी, जंत्र-सी तरकि परै, हँसनि, चलनि, चितवनि त्यों सुघर की ॥
‘गोकल’ कहत बँन-कुंजन कौ बासी लखें, हाँसी-सी करति है री, काँम कलाधरकी ।
इतने में बोली अरी, मिजे हरि सुख-दाँनों, नाँही में कहाँनी कही राम-रघुवर की ॥
और ‘खुशरो’ की कहमुकरियाँ, यथा—

“अरध-निसा वह आयौ भोंन, सुन्दरता बरनें कवि कोन ।

निरखति-ही मन मँन भयौ अँनंद, क्यों सखि साजन, ना सखि चंद ॥

*

“राति-दिनाँ हैं जाकौ गोंन, खुलें द्वार आबै मो भोंन ।

वाकौ हरख बताऊँ कोन, क्यों ‘सखि’ साजन, ना सखि पोंन ॥”

भारतेंदु जी ने भी इस विषय को अपनाया है, और खूब अपनाया है, आपकी नई-मुकरियाँ साहित्य को अनूठी देन है, यथा—

“सब गुरुजन कों बुरौ बतावै, अपनी खिचड़ी अलग पकावै ।

भीतर तत्त न, झूठी तेजी, क्यों सखि साजन, ना अँगरेजी ॥”

*

“भीतर-भीतर सब रस चूसै, हँसि-हँसि कें तन, मन, धन मूसै ।

जाहर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन, ना अँगरेज ॥”

अलंकार-आचार्यों ने छेकापन्हुति को श्लेष-मिश्रित भी माना है । उदाहरण, यथा—

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) जातिन (न्ह) के...। २. (का०) (वें०) के हीरौ कियो मन...।

“काले पयोधराणामपतितयानैव शक्यते स्थातुम् ।

उत्कंठितासि बाले नहि-नहि सखि पिच्छिलः पंथाः ॥

—सुभाषित पाठः

अर्थात्—

रहि न सकत कोउ अपतिता, सखि पावस रितु माँइ ।

भई कहा उत्कंठिता, नहि पथ फिसलत पाँइ ॥”

—गो० (अलंकार-मंजरी) १३१,

छेकापन्हुति से वक्रोक्ति और व्याजोक्ति के उदाहरणों को प्रथक्करण करते हुए शास्त्रज्ञों का अभिमत है कि “वक्रोक्ति में अन्य की उक्ति का अन्यर्थ कल्पित किया जाता है, छेकापन्हुति में अपनी उक्ति का । व्याजोक्ति में उक्ति का निषेध नहीं होता, केवल सत्य का गोपन मात्र है, छेकापन्हुति में निषेध करने के बाद सत्य छिपाया जाता है । साथ ही इन आचार्यों ने अपन्हुति को ध्वनि भी मानी है ।”

अथ कैतवापन्हुति उदाहरन जथा—

‘दास’ लख्यौ टटकौ^१ करिकें, नट कोऊ कियौ मिस कौन्हर केरौ ।

याकौ अचंभौ न ईठि^२गनों, याहि दीठि कौ बाँधिबौ आबै घनेरौ ॥

मो चित में चढ़ि आप रह्यौ, उतरै न उपाइ कियौ बौहतेरौ ।

तूहँ^३कह्यौ औ होंहँ लख्यौ, इहिं ऊपर चित रह्यौ चढ़ि मेरौ ॥

वि०—“जहाँ कैतव—मिस, छल वा व्याज-आदि के शब्दों-द्वारा सत्यवस्तु (उपमेय) का निषेध कर असत्यवस्तु (उपमान) की स्थापना की जाय, वहाँ ‘कैतवापन्हुति’ होती है ।

दासजी के इस उदाहरण के साथ ‘दूलह’ कवि का यह निम्न-लिखित छंद वरवस याद आ जाता है, जैसे—

“अ.यौ, सुहायौ, सो मँन-भायौ, कछौ सुख सास न नंद ते भारौ ।

मोते जुदौ कबहूँ न रख्यो, कबि ‘दूलह’ मोमन प्राँन अवारौ ॥

कोक-कलान के सीखति हूँ, रब होत है पाइल का मँन-भारौ ।

सोजा सखी, भर में मति-री, यै खोजा हँमारे ई मायके बारौ ॥”

पा०—१. (वें०) टटकौ...। २. (का०) भौ नई ठिगनौ...। (वें०) नई ठिगनौ...। ३. (वें०) तो-हू । (प्र०) तैहूँ । ४. (का०) रहै ।

अथ अपन्हुति की संसृष्टि जथा—

एक रद है न सुभ्र-साखा बढि आई
 लंबोदर में बिबेक-तरु जो है फल^१ बेस कौ ।
 सुंढादंड कैतव हथ्यार है उदंड बौ,^२
 राखत न लेस अघ - बिघँन - असेस कौ ॥
 मद कहै भूलि ना भरत सुधा-धार यह,
 ध्यान-हीं ते ही कौ दृढ़ हरँन कलेस कौ ।
 'दास' यै बिजँन बिचारयौ तिहुँ तापँन कौ,
 दूरि कौ करँन वारौ करँन गनेस कौ ॥

वि०—“विघ्नेश गणराज पर 'रत्नाकर' जी ने भी बड़ी-बड़ी चमत्कृत सूक्तियाँ कहीं हैं, एक जैसे—

“ठेले कछु दंत सों, सकेले कछु सुंड-माँहि,
 मेले कछु आँनन गजाँनन परात हैं ।
 कहै 'रतनाकर' जगत में न रंच कहुँ,
 भगत - बिघँन के प्रपंच दरसात हैं ॥
 धाड़-धाड़ पारत फनी के मुख-मडल में,
 लाइ-लाइ सोऊ जीभ चल करि जात हैं ।
 उत तौ उमाँ के उर उठत अनेस,
 इत भेस देखि मुदित महेस मुसिकात हैं ॥”

अथ सुमरँन, भ्रँम अरु संदेह अलंकार बरनन जथा—

सुँमरन, भ्रँम, स'देह के^३ लच्छँन प्रघटें नाम ।
 उत्प्रेच्छादिक में नहीं, तदपि मिलें अभिराम ॥

वि०—“भाषा-भूषण के कर्त्ता जसवंत सिंह जी ने भी इन 'भेद-प्रधान 'सुमरन' (स्मरण) और अभेद-प्रधान 'भ्रम' तथा 'संदेह' अलंकारों को एक साथ-ही वर्णन करते हुए लिखा है—

“सुँमरन, भ्रँम, संदेह ए, लच्छन नाम प्रकःस ।”

अस्तु, किसी पूर्वानुभूत वस्तु के समान किसी अन्य वस्तु के देखे जाने पर उस (पूर्वानुभूत वस्तु) की स्मृति-कथन को 'सुमरन' (स्मरण) अलंकार कहते

पा०—१. (का०) (वें०) सुभ्र...। २. (वें०) यै...। ३. (का०) (वें०) यै ।

हैं। अर्थात् किसी सादृश्य वस्तु (उपमान) के देखने वा अनुभव होने के बाद वैसी-ही दूसरी वस्तु (उपमेय) का स्मरण आने पर यह अलंकार बनता है।

अनुभव, ज्ञान का एक भेद है और ज्ञान, अनुभव तथा स्मृति-रूप द्विविध है। जिस प्रकार घड़े को देखने पर प्रथम अनुभव हुआ कि ऐसी-ही वस्तु घड़ा कहलाती है तो यह अनुभव-ही मस्तिष्क में एक स्थान बना लेता है, जिसे संस्कार भी कह सकते हैं। अतएव जब कभी फिर वैसी-ही वस्तु सामने आती है तब इस संस्कार का अनुभव उस वस्तु का स्मरण करा देता है। इस प्रकार मस्तिष्क क्रमशः अनुभव, संस्कार और स्मृति के रूप में कार्य करता है। जब नेत्रों-द्वारा किसी सदृश वस्तु का हृदय में अनुभव होता है तो संस्कार वैसी-ही दूसरी वस्तु का, जिसका प्रथम अनुभव प्राप्त कर चुका है, स्मरण करा देता है और वह 'स्मरण-ही साहित्य में अलंकार कहा जाता है। अनुभव के अंतर्गत जैसा कि आगे के दोहे में दासजी ने कहा है—देखना, सुनना, याद आना, सोचना-आदि मस्तिष्क की सभी क्रियाएँ आ जाती हैं, क्योंकि अनुभव, प्रत्यक्ष तथा स्वप्नादि में भी होता है और इनमें भी उक्त क्रियाओं का स्मरण होता रहता है, पर जैसा अनुभव चाहिये वैसा अनुभव उसके सदृश-वस्तु ही के अनुभव पर हुआ है, या (उसे) स्पष्ट में देखकर, यह निश्चय नहीं हो पाता। क्योंकि कभी-कभी उससे संबंधित वस्तु के अनुभव से भी स्मरण हो सकता है और जब कभी एक सदृश वस्तु का स्मरण हो जाने पर वैसी-ही दूसरी वस्तु का स्मरण हो आता है, तो उस अवस्था में अनुभव के अंतर्गत यह स्मरण नहीं आता। क्योंकि कभी-कभी विरोधी वस्तु के ज्ञान होने पर भी प्रथम देखी हुई वस्तु का स्मरण हो आता है.....।

सुमरन वा स्मरण का द्वितीय नाम स्मृति भी है, और वह इसके अनुप्राण-व्यभिचारी या संचारी-भावरूप 'सुमरन' वा स्मृति जैसी नहीं है। सुमरन वा स्मृति-संचारी का वर्णन ब्रजभाषा कवि-कोविदों ने इस प्रकार किया है—

“मन-भावेन की बात कों बिछुरि करै जब याद।

ता कों “सुँ मरन” कहत हैं, रस-ग्रंथें अविबाद ॥”

अर्थात् वियोग-समय प्रिय की पूर्व चेष्टाओं का ज्ञान होकर जब चित्त-व्यथित हो—उन्हें याद कर-कर पल्लताने लगे, तब उन—“सुँ मरन” वा “स्मृति” को विप्रलम्भ-शृंगारांतर्गत दशा-विशेष कहते हैं। साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में विश्व-नाथ चक्रवर्ती कहते हैं—

“सदृश ज्ञान चिंताद्यैर्भू समुन्नयनादि कृत।

‘स्मृति’ पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते ॥”

अर्थात्, सदृश वस्तु के अवलोकन तथा चिंतनादि से पूर्वानुभूत स्मरण को उक्त दशा कहते हैं। अतएव इ० स्मृति वा सुमरन संचारी भाव का सुमरन (स्मरण वा स्मृति) अलंकार से भेद प्रकट करते हुए संस्कृत-शास्त्रकारों ने कहा है कि “जब सदृश-वस्तु को देख वा अनुभव कर दूसरी वैसी-ही वस्तु का स्मरण हो आए तब वहाँ स्मरण-अलंकार है और यदि किसी अन्य कारणों — चिंतन-उद्वेगादि से वैसा स्मरण हो तो वहाँ यह अलंकार न होकर ‘स्मृति’ वा ‘सुमरन’-भाव ही कहा जायगा। यह कथन युक्ति-युक्त है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्थायी-भावों के रहते हुए विशेष कारणों से उत्पन्न तथा विलीन होने वाले — अलसता, जड़ता, लज्जा, हर्ष, स्मृति—आदि ही ‘व्यभिचारी’ या ‘संचारी’—भाव कहलाते हैं, जो स्वात्मक वाक्यों से विकसित होते हैं। जैसे कहा जाय कि “मैं उसके उन मलज्ज, चंचल एवं आनंद-विस्फारित कटाक्ष-पूर्ण नेत्रों की याद किया करता हूँ, जिनसे वह औरों की दृष्टि-वचाकर (मुझे) देखा करती थी।” तब यहाँ—केवल वियोग-जन्य ‘स्मरण’-भाव-ही कहा जायगा, अलंकार नहीं। क्योंकि यह स्मरण किसी कारण-विशेष-वश एकाएक उद्बुद्ध नहीं हुआ है, वह तो हृद्यस्थ भाव को एकाएक प्रकट कर रहा है। इसलिये बिना-कारण किसी का एकाएक—सुमरन करना, याद आ जाना वा करना ‘सुमरन’ (स्मृति) भाव-ही है, अलंकार नहीं। अलंकार तो उक्ति-वैचित्र्य वा वर्णन शैली की विचित्रता द्वारा सरस भाव-पूर्ण वाक्यों को विशेष अलंकृत (चमत्कृत) करता है, क्योंकि उसका कार्य रस-भावादि पूर्ण वाक्यों के पुष्ट हो जाने पर-हो पड़ता है। अस्तु, उपरोक्त उदाहरण को यदि इस प्रकार कहा जाय कि “इस नाटक की नायिका के वैसे-ही ठीक हाव-भाव को देख कर मुझे पूर्व-दृष्टा नायिका के उन सलज्ज, चंचल और आनंद-विस्फारित कटाक्षपूर्ण नेत्रों की बार-बार याद आ रही है, जिनसे वह औरों की दृष्टि वचाकर (मुझे) देखा करती थी” तो यहाँ वक्ता का हृद्यस्थ-भाव उक्त वाक्यों-द्वारा नटी के पूर्व दृष्टा नायिका को भाँति वैसे-ही आचरणों को देख कर उद्बलित हो उठने के कारण जो एकाएक प्रकट हो रहा है, अतः वह यहाँ ‘सुमरन’ (स्मृति) भाव न होकर अलंकार बन गया है। इसकी विवेचना यहाँ केवल इतना कह देने पर-ही अवलंबित नहीं है कि ‘इन वाक्यों’ में सुम न—स्मृति भाव है अथवा अलंकार, अपितु सदृश वस्तु के अनुभव न होने पर जब वैसी-ही-तद्रूप वस्तु का स्मरण होजाय तब स्मरण (सुमरन) अलंकार है और किसी अन्य प्रकार से सुमरन होने पर वह ‘भाव’ है। अतएव काव्य के तद्-तद् स्थानों पर देखना होगा कि यह सुमरन बिना किसी अलंकरण के आया है, अथवा कुछ उक्ति-वैचित्र्य के द्वारा, और तब निश्चय करना होगा कि वह अलंकार है

वा भाव, क्योंकि भाव सदा हृदय में रहता है और कोई अवसर-विशेष पाकर ही प्रकट होता है तथा अलंकार-रूप में उसकी इससे कुछ विशेष विशेषता की आवश्यकता रहती है। यों तो विदेश-गये प्रियतम अथवा मित्र की स्मृति सदा-ही हृदय में बनी रहती है। उसके चित्रादि के अतिरिक्त अन्य संबंधित वस्तुएं देख-देख कर भी स्मरण रूप विविध भाव उठते-बैठते रहते हैं, किंतु जब उक्त भावों के विकसित होने का वर्णन उक्ति-वैचित्र्य के द्वारा सदृश वस्तु के अनुभव से अथवा अन्य प्रकार से किया जाय तब वे अलंकार कहे जायेंगे, जैसा कि दासजी के इस अलंकार के उदाहरणों अथवा कविवर की विहारीलाल के निम्नलिखित दोहे में

“सघन कुंज, छायाँ सुखद, सीतल-मंद-सँमीर ।

मन है जाति अजों वहै, वा जमुनाँ के तीर ॥

है। यहाँ गोपियों ने भगवान् व नायक कृष्ण के साथ जो-जो लीलाएँ की हैं, उनकी स्मृति तो उन्हें बनी-ही है, पर वह हृदयस्थ स्मृति कभी-कभी उन लीलाओं के स्थानों—“यमुना-तीर की सीतल-मंद-समीर-संयुक्त सघन कुंजों की सुखद छाया देख—उनका अनुभव कर, (उनका) मन एकाएक उदबुद्ध हो उठता है”—उन लीलाओं के आनंद का स्मरण कर मग्न हो जाता है। अतएव यहाँ सुमरन, भाव न बन कर अलंकार हो गया है।”

भ्रम—“अप्रकृत (उपमान) के समान प्रकृत (उपमेय) के देखे जाने पर, अप्रकृत उपमान की भाँति होने पर, एक वस्तु को भ्रम के कारण दूसरी वस्तु समझ लेने पर, अथवा किसी वस्तु में उसके सदृश अन्य वस्तु का कवि-प्रतिभा-द्वारा उत्थापित चमत्कार ‘भ्रम’, ‘भ्रांति’ वा ‘भ्रांतिमान्’ अलंकार कहा जाता है, क्योंकि यहाँ सादृश्य के कारण वर्य-वस्तु में अवर्य-वस्तु की भ्रांति वाक्-वैचित्र्य के साथ होती है।

भ्रम-अलंकार में दो बातें आवश्यक हैं, प्रथम यह कि भ्रम का कारण कुछ साम्यता लिये हुए होना चाहिये और दूसरे इसके वर्णन में कवि-प्रतिभायुक्त कुछ वैचित्र्य भी। इसलिये जब उपमेय में अति साम्यता के कारण उपमान का निश्चित भ्रम हो जाय, तब यह अलंकार होता है। जब तक एक-ही वस्तु का भ्रम वर्णन किया जाय तब तक ही यह अलंकार कहा जायगा, कई भ्रमों वा भ्रांतियों के वर्णन किये जाने पर वह ‘उल्लेखालंकार’ का विषय बन जायगा। जैसे रूपक में उपमान का उपमेय पर भार होता है वैसा-ही इस भ्रमालंकार में भी होता है, पर प्रथम (रूपक) में दोनों (उपमानोपमेय) को विभिन्न वस्तु जानते हुए भी सादृश्य के कारण एक माना जाता है, भ्रम में दोनों को भिन्नता न रहते हुए भी प्रत्युतः उपमेय में उपमान की भ्रांति मान ली जाती है। यहाँ यह याद रहे कि वह भ्रम

अज्ञानता का कारण न हो, जैसा कि 'कविकुल तिलक गो० तुलसीदास' जी की इस उक्ति में—

“जो जिहि मन-भावै मो लेंहीं, मनि मुख-मेलि डारि कपि देहीं ॥

यहाँ वानर समूह अज्ञान वश मणियों को फल समझ मुख में रख तो लेते हैं, पर उनमें किसी प्रकार का स्वाद न पा और दाँतों से टूटने वाला भी न समझ उन्हें थूक देते हैं—उगल देते हैं। अस्तु, यह भ्रम वानरों की अज्ञानता के कारण है, इसलिए यहाँ वह अलंकार के रूप में भी नहीं हैं (का० क० पो०)। भ्रमा-लंकार का निम्न-लिखित छंद सुंदर उदाहरण कहा जायगा। यथा—

‘सीख-सिखाई न माँनति है, बर-हूँ बस सग सखीन के आवै ।
खेलति खेल नए जल में, बिन-काँम वृथाँ कत जाय वितायै ॥
छाँड़िकें संग सहेलिन कौ, रहि कें कहि काँन सबाद-बढावै ।
काँन परी यै बाँनि अरी, नित नीर-भरी गगरी ढरिकावै ॥’

अथवा—

देखकर बह आइना को, अक्स से कहता है शोख ।
हुस्न का दावा है कुछ, तो निकल बाहर आओ ॥

—कोई शायर

अस्तु, इसी प्रकार ‘जब वर्य वस्तु (उपमेय) में किसी अन्य वस्तु (उपमान) का चमत्कार पूर्ण वर्णन हो, उपमेय को देखकर यह तर्क उठे कि यह उपमेय है कि उपमान अथवा अन्य कुछ तब ‘संदेहालंकार’ कहा जाता है।

संदेह का शब्दार्थ स्पष्ट है, फिर भी यहाँ कवि-कल्पित चमत्कार पूर्ण संदेह को—किसी वस्तु के विषय सादृश्य मूलक संशय को, उक्त अलंकार कहा जायगा, साधारण लौकिक संशय होने पर नहीं। अतएव अलंकाराचार्यों ने इसे ‘शुद्ध’, ‘निश्चय-गर्भ’ और ‘निश्चयांत’ तीन प्रकार का माना है। कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी अलंकार-मंजरी में श्री मम्मटाचार्य के अनुसार संशय को भेद की उक्ति-में और अनुक्ति में मान कर प्रथम भेद की उक्ति के—निश्चय-गर्भ और निश्चयांत भेद माने हैं, किंतु श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपने साहित्य-दर्पण में उपर्युक्त तीनों भेद मानते हुए लिखा है—

“संदेहः प्रकृतेऽन्यस्य सशयः प्रतिभोत्थितः ।

शुद्धो निश्चगर्भोऽसौ निश्चयांतः इति त्रिधा ॥”

यही नहीं, पोद्दार जी ने दासजी-द्वारा वर्णित संदेहालंकार के उदाहरण “लखें वहि टोल में नौल-बधू०” में यह अलंकार भी नहीं माना है, आपका कहना है कि ‘नायिका के सिर-पाँ से लेकर कौन-कौन से अंगों के सोदर्य की

प्रशंसा करूँ—किन-किन को सराहूँ । इत्यादि सादृश्य-मूलक संदेहालंकार नहीं है और न ऐसे वर्णनों में उस—संदेह का चमत्कार ही है, वकौल श्री रस-गंगाधर-कर्ता के ।” दासजी-द्वारा दर्शित शुद्ध संदेह का-‘लखें वहि टोल में नौल बधू०’, निश्चय-गर्म का “तैम-दुख-हारन रवि कि हग०” और निश्चयांत का “चारु मुख-चंद कौ चढ़ायौ बिधि किसुक कै०” के सुंदर उदाहरण बन पड़े हैं । शुद्ध-संदेह का कवि श्री विहारीलाल का यह दोहा भी अति प्रशंसित है, यथा—

“हों-हीं बौरी बिरह-बस, कै बौरौ सब गाँउ ।

कहा जाँनि ए कहत हैं, ससि-हिं सतिकर नाँउ ॥”

अथ सुमरँन लच्छन जथा—

कछु लखि, सुनि, कछु सुधि किएँ*, सो ‘सुँ मरन’ सुख-चंद ।

“सुधि आवति ब्रज-चंद की, निरखि सँपूरन—चंद ॥”

उदाहरन जथा—

लखें सुधि-दाँन पखौँ^२ ते जाँन, मयूरन देति भगाइ-भगाइ^३ ।

मने* कै दियौ पियरे पैहराव कों^५, गाँउ में प्यादे लगाइ-लगाइ^६ ॥

मुलावति^७ वाके^८ हिए ते हरी^९, कथौन में ‘दास’ पगाइ-पगाइ^{१०} ।

कहा^{११} कहिए पिय^{१२} बोलि पपीहरा^{१३} बिथा तँन^{१४} देति जगाइ-जगाइ^{१५} ॥

वि०—“दासजी के इस छंद को भारतेन्दु जी ने ‘सुंदरी-तिलक’ में तथा ‘रसकुसुमाकर’ के संग्रह-कर्ता ने ‘मध्या प्रोषित्तिका’ के उदाहरणों में, भानुजी ने ‘स्मरण’ अलंकार के उदाहरण में और ‘काव्य-कानन’ के संग्रहकर्ता ने फुट-कल, बिना किसी शीर्षक के संग्रह किया है ।

पा०—१. (का०) (वें०) करीय...। २. (वें०) पर्याँन ते...। (२० कु०) लखें सुख-दाँनि पखौँन सौ जान...। (सु० ति०) जाँन पखानन की सुधि हेत । (का० प्र०) लखें सुख-दाँन पयान ते...। ३. (वें०) (का० प्र०) भगाई । ४. (२० कु०) मना . । ५. (सु० ति०) सु...। (वें०) (का० प्र०) लगाई । ७. (सु० ति०) मुलावती । ८. (का०) (वें०) (का० प्र०) वाके . । ९. (का०) (वें०) (प्र०) (का० प्र०) हरी-हि, कथान...। (२० कु०) हरेँ ही, कथान...। १०. (वें०) (का० प्र०) पगाई । ११. (प्र०) का । १२. (सु० ति०) . यह पापी पपहिरा, बिथा हिय देतु ...। १३. (प्र०) (का०) (वें०) (२० कु०) (का० प्र०) पपीहा...। (२० पु०-का०) पपैया । १४. (का०) (वें०) (२० कु०) (का० प्र०) जिय । (सु० ति०) हिय ...। १५. (वें०) (का० प्र०) जगाई ।

* २० कु० (अ०) पृ० १२६, ३२६ । सु० ति० (भा०) पृ० १५१, ६१६ । का० प्र० (भा०) पृ० ५०१ । का० का० (च०) पृ० १०५ ।

अलंकाराचार्यों ने 'सुमरन' को ध्वनि मानते हुए उदाहरण में 'हनुमत्ताटक' का यह श्लोक दिया है, यथा—

“सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलं चंडाशुरुज्जृम्भते,
चंडांशोर्निशि का कथा रघुपते चंद्रोऽयमुन्मीलति ।
वत्सैतद्विदित कथं नु भवता धत्ते कुरंगं यतः,
क्वाऽसि प्रेयसि हा कुरंगनयने चंद्रानने जानकि ॥”

यह श्री राम-लक्ष्मण की उक्ति-प्रत्युक्ति है। श्रीराम ने कहा— लक्ष्मण वृत्त के नीचे चलो, क्योंकि सूर्य उदय हो रहा है। लक्ष्मण ने कहा रघुपते, रात के समय सूर्य की क्या बात, यह तो चंद्रोदय हो रहा है...। श्री राम ने कहा—वत्स, तुमने यह कैसे समझ लिया कि यह चंद्र है? लक्ष्मण ने कहा—क्योंकि वह मृग को धारण कर रहा है। यह सुनते ही श्रीराम ने कहा—हाय, मृग-नयनी चंद्र मुखी प्रियतमे जानकी, तुम कहाँ हो?

श्लोक प्रयुक्त स्मरणालंकार की यह कितनी सुंदर ध्वनि है, ध्वन्य है, ध्वन्य है सूक्ति और रचनाकार को और उसके समझने वालों को...। लक्ष्मण-मुख से यह सुन कर कि 'यह तो मृगलालन संयुक्त चंद्र है, वियोगी श्रीराम को मृगके समान नेत्रों वाली और चंद्र के समान मुखवाली श्री सीता का "स्मरण" होना शब्दों-द्वारा कथन न होते हुए भी कितने सुंदर रूप से ध्वनित है, यह साहित्य-मर्मज्ञ ही जान सकते हैं, क्योंकि यह स्मृति व्यंग्य है और अलंकार्य है।”

अथ भ्रमालंकार उदाहरन यथा—

ओढ़े सारी^१ जरद लखि^२, कंचन-बरनी-बाल ।
चतुर चिरी चित फँद गयौ, भ्रँ^३में भूलि रँग^४जाल^५ ॥

अस्य तिलक

इहाँ भ्राँति (भ्रम) के संग रूपक सकलित है ।

पुनः उदाहरन यथा—

बिर^{*} बिचारि प्रबसँन लग्यों, करी^{*} सुंङ में व्याल ।
ता हूँ करी^{*} जु ऊख-भ्रँम, लियौ उठाइ उताल ॥

पा०—१. (का०) (वै०) (प्र०) जाली । २. (प्र०) की । ३. (वै०) (प्र०) रंग । ४. (प्र०) भ्रँमें भूलि रँग जाल । ५. (वै०) बिन । (प्र०) (का०) बिल... । ६. (वै०) (प्र०) व्याल । ७. (का०) (वै०) (प्र०) करी उख... ।

अस्य तिलक

इहाँ अँम के संग अन्योक्ति संकलित है ।

पुनः उदाहरन जथा—

पँअन की किरनें^१ लैहरें-री, हरी-री लताँन कों तूलि रही है ।
 नीलँम, मौँनिक-आभा अँनूप,^२ सोँसन^३-लालँन हूलि रही है ॥
 हीरँन, मौँतिन की दुति 'दास'जू बेला-चमेली-सी फूलि रही है ।
 देखि जराव कौ आँगन राव कौ, भौरँन की मति भूलि रही है ॥

अस्य तिलक

इहाँ अँम के संग उदात्त अलंकार कौ सकर है औ फुलवारी कौ रूपक व्यंगि है ।

पुनः उदाहरन जथा—

देखत ही जाके बैरी-वृंद गजराजँन के,
 धीर न धरत^४ जस जाहर जहाँन है ।
 गज-मुकताँन कौ खिलोंनाँ करि डारत है,
 उँमगि उछाह सोँ करत जब^५ दाँन है ॥
 बाँहन भवौनी कौ पराक्रम बसत और^६
 अंगन में सूरता कौ प्रघट प्रमाँन^७ है ।
 हिंदूपति साहब के गुँन में बखाँने,
 मृगराज जिय-जाँने कै^८ हमारौ गुँन-गाँन है ॥

अस्य तिलक

इहाँ सबद को सक्ति ते अँमालंकार है, प्रतीपालंकार व्यंगि है ।

वि०—“अलंकाराचार्यों ने वाधित भ्रम के रूप में भी यह अलंकार माना है । वाधित—“किसी वस्तु में अन्य वस्तु का भ्रम होकर फिर उसके निवारण हो जाने पर” कहा है और कन्हैयालाल पोद्दार ने इसका निम्न-लिखित उदाहरण दिया है—

जानकर कुछ दूर से फल-पत्र छाया ताप हर ।

शुष्क-वट के निकट आये भ्रमित हो कुछ पथिक, पर—

पा०—१. (का० (वें०) किरनाली-खरी-री, हरी.. । २. (का०) (वें०) (प्र०) अनूपम... । ३. (का०) सोसनी... । ४. (का०) (वें०) (प्र०) रहत . । ५. (वें०) (प्र०) जबै.. । ६. (का०) (वें०) औरै... (प्र०) उर । ७. (का०) गुमान है । ८. (वें०) की... ।

शब्द उनका सुन सभी शुक-वृन्द तरु से उड़ गया,

पथिक भी यह देख कौतुक फिर गया हँसता हुआ ॥

इन आचार्यों ने भ्रम की माला और ध्वनि भी मानी है और उनके प्रथक्-प्रथक् उदाहरण भी दिये हैं। भ्रमालंकार संयुक्त विहारीलाज का यह दोहा भी देखने-सुनने लायक है, यथा—

“अंत मरेंगे, चलि जरें, चदि पलास की डार।

फिरि न मरें मिलि है अली, ए निरधूम अँगार ॥”

अथ संदेहालंकार उदाहरन जथा—

लखें^१ बहि टोल में नील-बधू, इक साँस^२ भए दृग मेरे अडोल।

कहों कटि खीन कौ डोलनों डोल, कै^३पीन-नितंब-उरोज की तोल ॥

सराँहों^४ अलौकिक बोल अमोल, कै^५आनंद-कौल^६ में रंग तँमोल।

कपोल सराँहों^७ कै^८ नील-निचोल, किधों बिब-लोचँन लोल^९-कपोल ॥*

पुनः उदाहरन जथा —

तँम-दुख हारिन रवि-किरनि,^{१०} सीतल-कारन चंद।

बिरह-कतल-काती किधों, पाती आनंद-कंद ॥

पुनः उदाहरन जथा—

चारु मुख-चंद कों चढ़ायौ बिधि किसुक कै^१

सुकँन^{१०} यों बिबाधर^{११} लालच उँमंग है।

नेह-उपजावन अतूल तिल-फूल किधों,

पाँनिप-सरोवर की उरमी^{१२} उतंग है ॥

‘दास’ मनमथ साही कंचन-सुराही मुख,

बंस-जुत पाँन^{१३} की कै^{१४} खौन सुभ रंग है।

एक-ही में तीनों पुर ईस कौ है अस किधों,

नाँक नबला की सुर-धाम सुर-संग है ॥†

पा०—१. (का०) (वें०) लखै...। (प्र०) लखे...। २. (वें०) दास...। (प्र०), मृदुदास में मेरी भयो मन डोल। ३. (वें०) की...। (प्र०) कि...। ४. (वें०) सराहें...। ५. (प्र०) कोष ६. (वें०) सराहें...। ७. (वें०) लोलक-लोल या लोल कलोल। ८. (का०) कि दृग...। ९. (वें०) किसुकन, किसुक यों...। १०. (न० सि० सं०) सुक नथौ बिबाधर...। ११. (शृ० नि०) बिबा-फल...। १२. (वें०) उरमि...। १३. (वें०) पालकी कि पाल सुभ...। (प्र०), बाँसजुत पालका कौ पाल सुभ...। (न० सि० सं०) बंस-जुत पालकी कै पाल...।

* अ० म० (पो०) पृ० १२४। † शृ० नि० (मि०) पृ० १५, ५१। न. सि० सं०, पृ. १०६, ३५५।

वि०—“संस्कृत के साथ ब्रजभाषा के साहित्य-महारथियों ने भी ‘संदेह’ की माला और ध्वनि का वर्णन किया है । प्रथम माला, यथा—

कैधों रूप रासि में सिँ गार-रस अंकुरित,
 संकुरित कैधों तम-तद्धित जुन्हाई में ।
 कहैं ‘पदमाकर’ किधों यै काँम मुनसी नें,
 नुकता दियौ है हँम-पाटी सुखदाई में ॥
 कैधों अरबिंद में मलिंद-सुत सोयौ आज,
 राज रहयौ तिल कै कपोल की लुनाई में ।
 कैधों परयौ इंदु में कलिंदी-जल-बिंदु आँनि,
 गरक गुबिंद किधों गोरी की गुनाई में ।

और ध्वनि, यथा—

थी, शरद-चंद की ज्योति खिली, सोवै था सब गुन-जुटा हुआ ।
 चौका की चमक अधर-बिहँसन, रस-भीजा-दाड़िम फटा हुआ ॥
 इतने में गहन-समे बेला, लख ख्याल बड़ा अटपटा हुआ ।
 अवनी से नभ, नभ से अवनी, अध उछलै नट का बटा हुआ ॥
 अस्तु, दासजी ने यह — “चारु मुख०” छंद अपने शृंगार-निर्णय में नायिका का नख-सिख वर्णन करते हुए उसकी नासिका की प्रशंसा में उद्धृत किया है और “नख-सिख-संग्रह”कार ने भी आपका अनुकरण करते हुए वही नासिका के वर्णन में संग्रह किया है ।”

“इति श्री सकलकलाधर वंसावतंस श्रीमन्महाराजकुमार श्रीबाबू
 हिंदूपति विरचिते ‘काव्य-निरनए’ उपरेच्छादि अलंकार
 बरननोनाम नवमोऽह्लासः ॥”

अथ दशमोल्लासः

अथ बितरेक, रूपकालंकार वरनन जथा

बितरेकौ-रूपकौ के,^१ भेद अनेक प्रकार ।

‘दास’ इन्हें उल्लेख-जुत, गँनों तीन निरधार ॥

वि०—“दासजी ने इस दशवें उल्लास में” (भेद-प्रधान) व्यतिरेक, (अभेद प्रधान) रूपक, परिणाम और उल्लेख नाम के चार अलंकारों का उनके भेद-विभेद-सहित वर्णन किया है । इन चारों में ‘व्यतिरेक’ और रूपक सर्वमान्य हैं और परिणाम तथा उल्लेख के आदि-जनक आचार्य स्य्यक हैं । परिणाम और उल्लेख का वहाँ नामोल्लेख नहीं है । हाँ, स्य्यक ने अभेद प्रधान वर्ग के अंतर्गत आरोप-मूलक अलंकार की श्रेणी में रूपक, परिणाम और उल्लेख को मानते हुए व्यतिरेक की गम्यमान-औपम्य वर्ग की तीसरी श्रेणी—भेद-प्रधान में गणना की है । विशेष रूप से देखने पर ये चारों अलंकारों जैसा कि दासजी ने माना है—औपम्य-मूल वर्ग की शोभा हैं, कारण—रूपक, परिणाम और उल्लेख में ‘सादृश्य वाच्य’ है और व्यतिरेक में वह (सादृश्य) गम्यमान है—छिपा हुआ है, इसलिये इनका आप-द्वारा एक स्थान पर उल्लेख है ।

संस्कृत-साहित्य में रूपक का प्रथम तदनंतर व्यतिरेकादि का वर्णन आता है । दासजी ने रूपक से प्रथम व्यतिरेक का कथन - वर्णन क्यों किया, वह अज्ञात है । फिर भी इसके प्रथम वर्णन का हेतु—उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष-कथन का कारण हो सकता है । अर्थात्, इसमें उपमान की अपेक्षा उपमेय के गुणों का आधिक्य होता है । अस्तु, “प्रथम”—

अथ बितरेक लच्छन जथा—

पोषन करि उपमेइ कौ, दोषन करि^२ उपमाँन ।

नहिँ समान कहिये तहाँ, हैं ‘बितरेक’ सुजाँन ॥

वि०—“अर्थात् जहाँ उपमान को अपेक्षा उपमेय का अधिक उत्कर्ष-पूर्ण वर्णन हो, वहाँ यह अलंकार होता है । व्यतिरेक (बितरेक) का अर्थ “विशेष-

पा०-१. (१० पु० प्र०) व्यतिरेकौ औ रूपकौ, भेद...। (नो० सु०) बितरेक अरु रूपकौ, भेद ...। (का०) (वै०) (प्र०) व्यतिरेक रूपक के...। २. (प्र०) दे...।

अधिक” के अतिरिक्त “विभिन्नता” भी है। अतएव उपमेयोपमान में विभिन्नता प्रकट करने के कारण इसका नाम ‘व्यतिरेक’ और ब्रज-भाषानुसार ‘वितरेक’ अति समीचीन है। संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने इसके चौबीस (२४) भेदों का वर्णन किया है, यथा —

“हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते ।

शब्दार्थभ्यामथान्विते श्लिष्टे तद्वत्त्रिरष्ट तत् ॥”

—काव्य-प्रकाश (सं०) १०, १६०

प्रथम में—“उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के निकर्ष के कारण का कहा जाना”, द्वितीय में—उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के निकर्ष के कारण को न कहा जाना”, तृतीय में—“केवल उपमान के अपकर्ष के कारणों का कहा जाना” और चौथे में—“केवल उपमेय के उत्कर्ष के कारणों का कहा जाना” - आदि भेदों को “शब्दी उपमा-द्वारा”, “अर्थी उपमा-द्वारा” और “आक्षिप्तोपमा-द्वारा” बारह भेदों को पुनः—“श्लेष-संयुक्त” और “श्लेष-रहित” द्विधा रूप से चौबीस भेद कहे गये हैं।

श्री मम्मटाचार्य कहते हैं कि “व्यतिरेक के हेतु — ‘उपमेय-गत उत्कर्ष-निबंधन’ और ‘उपमान-गत उत्कर्ष निबंधन रूप से दो प्रकार के हो सकते हैं। इन दोनों हेतुओं का शब्दों से जहाँ उल्लेख किया जाय, वा इन हेतुओं में से किसी एक का अथवा बारी-बारी से दोनों का अनुल्लेख होने पर व्यतिरेक के प्रथम तीन भेद होते हैं। इस रीति से एक उक्त-हेतु वाला और तीन अनुक्त-हेतु वाले मिला कर चार भेदों की सृष्टि होती है। तदनंतर इन चारों में उपमानोपमेय भाव कहीं शब्दों से और कहीं अर्थ से तथा कहीं आक्षेप से सिद्ध होने पर पूर्व के चारों भेद इन पिछले तीनों भेदों में संमिलित होने के कारण व्यतिरेक-भेदों की संख्या बारह मानी गयी है। इसके बाद इन बारहों भेदों को श्लिष्टा-श्लिष्ट-शब्द-वैशिष्ट-द्वारा परिगणित करने पर इस (व्यतिरेक) के चौबीस भेद हो जाते हैं। साहित्य-दर्पण के कर्त्ता श्री विश्वनाथ चक्रवर्त्ती कहते हैं

“व्यतिरेकः एक उक्तऽनुक्ते हेतौ पुनस्त्रिधा ।

चतुर्विधोऽपि साम्यस्य बोधनाच्छब्दतोऽर्थतः ॥

आक्षेपाच्च द्वादशधारलेपेऽपीति त्रिरष्टधा ।

प्रत्येकं स्यान्मिलित्वाष्ट चत्वारिंशद्विधः पुनः ॥

—साहित्य-दर्पण, १०, २३, २४,

इन (२४) चौबीस भेदों के अतिरिक्त—“उपमान से उपमेय की हीनता में भी चौबीस और होते हैं तथा इन दोनों को संयुक्त करने पर अड़तालीस बनते हैं।”

एक बात और, वह यह कि “व्यतिरेक के स्वरूप और भेद-निरूपण में आचार्य मम्मट की अपने-से प्राचीन अलंकार-आचार्यों की अपेक्षा कुछ भिन्न दृष्टि रही” क्योंकि व्यतिरेक का ‘भामह’ कृत रूप था — उपमान की अपेक्षा उपमेय में विशेष-अपादन...। अतः दंडी को व्यतिरेक के इन दोनों रूप—जिसमें उपमेय का स्पष्टतः उत्कर्ष और उपमान का अपकर्ष यत्किंचित् ही सही, अभिप्रेत अवश्य थे । उद्भट मान्य—व्यतिरेक में उपमानोपमेय दोनों के विशेष-अपादान का स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता ही है और रुद्रट तथा रुच्यक को भी व्यतिरेक की रूप-रेखा निर्धारित करने में उपमेयोपमान दोनों का यथा-संभव आधिक्य बतलाना अभीष्ट था । अस्तु, मम्मट ने इन प्राचीन दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए व्यतिरेक के प्रति अपना नया दृष्टिकोण उपस्थित किया — अर्थात्, उन्होंने व्यतिरेक में उपमान की अपेक्षा उपमेय के आधिक्य की अथवा उत्कर्ष की योजना की और इन्हीं की विविध संभावनाओं अर्थात् उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष के निमित्तों को, उपादान और अनुपादान के विरलेषण से (व्यतिरेक को) चौबिस प्रकार का बतलाया । राजानक ने भी यही परिपाटी अपनायी, इन्होंने भी श्री मम्मट का अनुसरण किया । फिर भी न कहना होगा कि श्री मम्मट को रुद्रट-निर्दिष्ट “उपमानाधिक्य” रूप के खंडन में ही (उन्हें) व्यतिरेक निरूपण की नयी प्रेरणा मिलीइत्यादि ।

भारती-भूषण-रचयिता ‘केडिया’ जी व्यतिरेक के “उपमेयोपमान में उत्कर्षा-पकर्ष-रूप से दो-ही प्रमुख भेद मान अन्य भेदों की अनावश्यकता बतलाते हुए अपनी टिप्पणी में कहते हैं कि “यद्यपि किसी-किसी ग्रंथ में उपमेय की अपेक्षा उपमान को उत्कर्षता तथा उपमेयोपमान वाक्यों में किंचित् (न्यूनाधिक) विलक्षणता के वर्णन में भी ‘व्यतिरेक’ माना है और कहा है कि प्रस्तार-भेद से इसके शतशः प्रकार हो सकते हैं तथा ‘अलंकार-आशय में इसके बीस (३२) प्रकार के लक्षण एवं उदाहरण भी लिखे हैं, तथापि इन्हें अनपेक्षित समझते हुए हम (केडिया जी) ने इतना अधिक विस्तार न कर प्रायः प्राचीन ग्रंथों के अनुसार यहाँ मुख्य दो-ही भेद लिखे हैं (भा० भू० पृ० १८२) ।” दासजी ने भी व्यतिरेक के प्रथम पोषन-दोषन रूप दो भेद और उनके लक्षण—उदाहरण कह कर ‘शब्द-शक्ति से’ तथा ‘व्यंग्यार्थ से’ चार प्रकार का माना है, यथा—

“चारि भाँति बितरेक है, यै जाँनत सब कोइ ॥”

पर ब्रजभाषा-रीतिकाल के कवि “चिंतामणि” ने अपने “कवि-कुल-कल्पतरु” नामक ग्रंथ में व्यतिरेक के संस्कृतानुसार चौबीस भेद-ही मानते हुए कहा है—

“अधिक जहाँ उपमेय कबि, घट बरनत उपमाँन ।
तहँ बितरेक बनाइकें, बरनत सुकबि सुजाँन ॥”

कवित्त—

“उपमेइ-गत उतकरख, औ अपकरख जहँ उपमाँन कौ ।
जहँ होत है इन दुहुँन कौ इत कथँन सुकबि सुजाँन कौ ॥
कहुँ कथनँ होइ दुहुँन कौ, कहुँ एक-ही कों जाँनिऐं ।
कहुँ सबद ते, कहुँ अरथ ते, आच्छेप ते कहुँ माँनिऐं ॥
ए चारि-चारि-जुत होत हैं, बारह-चार बिसलेस सों ।
ए भेद सबै ‘बितरेक’ के मन जाँनि लेहु सु बिसेस सों ॥”

अस्तु, भाषा-भूषण (जसवंत सिंह) तथा ‘ललित-ललाम’ (मतिराम) में एक और पद्माभरण (पद्माकर) में तीन भेदों का उल्लेख मिलता है। पद्माभरण, यथा—

“जहँ अबन्य औ बन्य में, कुछ बिसेस—“बितरेक” ।
अधिक, न्यून, सँम-भेद सों, त्रिविध कहत कबि नेक ॥”

यही नहीं ‘व्यतिरेक’ और ‘प्रतीप’ की भिन्नता प्रदर्शित करते हुए इन आचार्यों का अभिमत है कि “व्यतिरेक में जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुण की अधिकता वर्णन की जाती है, वहाँ ‘प्रतीप’ में उपमेय को उपमान कल्पना कर उपमेय के उत्कर्ष का वर्णन किया जाता है। इसकी ‘माला’ का भी वर्णन मिलता है और ध्वनि का भी।

पुनः एक बात और वह यह कि ‘आचार्य रुद्रट’ और ‘रुद्रक उपमेय को अपेक्षा उपमान के उत्कर्ष में ‘व्यतिरेक’ मानते हैं और विश्वनाथ चक्रवर्ती इनके अनुयायी हैं। काव्यादर्श और कुवलयानंद के कर्त्ताओं ने भी अनुभय पर्यवसायी, अर्थात् उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष-बिना भी उपमेयोपमान में किसी प्रकार के भेद कथन करने मात्र में उक्त अलंकार माना है।”

अथ प्रथम बितरेक-भेद बरनन जथा—

कहुँ पोखँन, कहुँ दूखनों^१ कहें कहुँ नहिं दोइ^२ ।
चारि भाँति ‘बितरेक’ सो^३ यै जाँनत सब कोइ^४ ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) दूखनँ...। २. (का०) (वें०) (प्र०) दोउ। ३. (का०) (वें०) (प्र०) है। ४. (का०) (वें०) (प्र०) कोउ।

अथ पोखँन-दोखँन दुहँन कौ कथन जथा--

लाल-लाल अँनुमाँनि^१ कें, उपमाँ दीजै और ।

“मृदुल अधर-सँम होइ क्यों, बिद्रुम निपट कठोर ॥

पुनः उदाहरन जथा—

सखि, वामें जगै छँन-जोति-छटा, इत पीत-पटा दिँन-रँन मड़ौ ।

वौ नीर कहू बरसै, सरसै, यह तौ रस-जाल सदाँ-हों अड़ौ ॥

वौ सेत ह्वे जात^२ अपानिप ह्वै, ये रंग अलौकिक रूप-गड़ौ ।

कहि^३ ‘दास’ बराबरी कौन करै, घन-सों घँनस्याँम-सों बीच बड़ौ ॥

वि०—“इन दोनों—“लाल-लाल अँनुमाँनि कें०” और “सखि, वामें जगै छँन-जोति छटा” ...छंदों—उदाहरणों में उपमान से उपमेय में अधिक गुण कहा गया है ।”

अथ केवल पोखँन कौ कथन जथा—

प्रघट^४ तीन-हूँ लोक में, अचल प्रभा करि थाप ।

जोत्यौ ‘दास’ दिबाकरै, श्री रघुवीर-प्रताप ॥

पुनः उदाहरन जथा—

सरस, सुवास, प्रसन्न अति, निसि-बासर सानंद ।

ऐसे मुख कों कमल-सौ^५, क्यों^६ भाँखत मति-मंद ॥

वि०—“इन दोनों दोहों में भी केवल उपमेय का गुण वर्णन ‘दासजी’ ने किया है ।”

पुनः दूखँन-ही कौ उदाहरन जथा—

घटै-बढ़ै सकलंक लखि, जग^७ सब कहैं ससंक ।

बाल-बढ़ँन-सँम है नहीं, रंक, मयंक, इकंक ।

पुनः दूजौ उदाहरन जथा —

बारिद देखत^८ हों नित-ही, जग में तजि कें जल देति न आँन है ।

पारस कों^९ अँनुमाँनति^{१०} हों, पैहचानति हों सो^{११} निदाँन पखाँन है ॥

पा०—१. (का०) (प्र०) उनमानि...। २. (का०) (वें०) (प्र०) जाने...। ३. (का०) (प्र०) कठ...। ४. (वें०) ‘प्रबल’...। ५. (वें०) (प्र०) सों...। ६. (का०) को...। ७. (नी० सु०) सब जग कहै...। ८. (का०) (वें०) (रा० पु० प्र०) (‘रा० पु० का०’) लेखन-हों परि देखत हों तजि कें...। ९. (वें०) कोऊ न मानति हों...। १०. (का०) उनमानत...। ११. (का०) (वें०) (प्र०) तौ...।

है पसु-जाति की^१ काँमदुहा, कलपद्रु^२म बापुरौ काठ निदाँन^३ है ।
और में काहि कहीं प्रभु दूसरौ, दाँन-कथान^४ में न तोहि समान है ॥

वि०—“इन दोनों—दोहा और सवैया में भी उपमान की हीनता का-ही वर्णन है । पद्माकर जो ने भी अपने पद्माभरण में ऐसा हो कहा है—

“वाकौ जस कित-हुँ न जाग्यौ परतच्छ पै ही,
याकौ धाँम-धाँम फैलि-फैलि रह्यौ जरु है ।
वाकौ सुन्यो एक देश-लोक में दरस होत,
या कौ तो दिखात तिहुँ लोक में दरस है ॥
कहै ‘पदमाँकर’ सु दाँन वो माँग देति,
यै तो बिन माँगें-ही देति सरबस है ।
आछौ अभिराम कहैं पुरँन सकल - काँम,
गंगा जू कौ नाँम काँम-तरु ते सरस है ॥”

यहाँ व्यतिरेक-छटा भी दरसनोय है—पठनीय है ।”

सब्द-सक्ति ते उदाहरन जथा—

आबै जित^५ पाँनिप-सँमूह सरसात तित,
माँनों^६ जलजात सो तौ न्याइ-ही कुंमति है^७ ।
‘दास’ जा^८ दरप^९ कों दरप-कंदरप सोहै,
दरपँन-सँम ठाँनें कैसे^{१०} बात यै सति है^{११} ॥
और^{१२} अवलान में राधिका के आनन को,
बराबरी कौ बल कहैं सुकवि कूर अति है^{१३} ।
पैपे निस - बासर कलंक^{१४} अंक जाके तँन,
बरनें मयंक कबिताई को अपति है^{१५} ॥*

पा०—१. (का०) को . । २. (का०) (वें०) (प्र०) प्रमान है । ३. (वें०) (प्र०)—कथान में तोह समान... । ४. (प्र०) आवत.. । ५. (शृ० नि०) (न० सि० सं०) माने... । ६. (वें०) (प्र०) (शृ० नि०) (न० सि० सं०) होइ । ७. (का०) (वें०) (शृ० नि०) या... । (प्र०) दास कंदरप के दरप दौ है आदरस दरपन समान कहैं कैसे बात सत होइ । ८. (का०) दरम... । (न० सि० सं०) दास या दरप को दरप कंदरप कौ है, दरपन समान ठाँनें...होइ । ९. (शृ० नि०) होइ । १०. (प्र०) राधिका के आनन समान और नारिन के आनन-कहत कौन कवि कूर अति होइ । (शृ० नि०)—अवलान में राधिका कौ आनन बराबरी कौ कहैं...होइ । ११. (वें०) होइ । १२. (शृ० नि०)... कलंकित न अक ताहि... । १३. (वें०) (प्र०) (शृ० नि०) (न० सि० सं०) होइ ।

*. शृ० नि० (भिखा०) पृ० २०, ५६ । न० सि० सं० पृ० १४६, ५०२ ।

वि०—“दासजी ने “शृंगार-निर्णय” में इस छंद को नायिका के नख-सिख-रूप” मुख-मंडल के वर्णन में भी दिया है और “नख-सिख-संग्रह” में भी उक्त शीर्षक के अंतर्गत ही यह छंद संग्रहीत है। शृंगार-निर्णय में दासजी ने इसका पाठ-भेद इस प्रकार किया है—

“आवै जित पाँनिप-सँमूह सरसात ‘नित’,
 ‘माने’ जलजात ‘सुतौ’ न्याइ-ही कुमति ‘होइ’ ।
 ‘दास’ जा दरप कों दरप कंदरप को है,
 दरप-सँम ठाँनँ कैसेँ बात यै सति ‘होइ’ ॥
 और ‘अवलानन’ में राधिका ‘कौ’ आँनन,
 ‘वरोवरी’ कौ बल कहै ‘कवि’ कूर अति ‘होइ’ ।
 पैऐ निस-बासर ‘कलंकित न अंक ताहि’,
 बरनेँ मयंक कबिताई की अपति ‘होइ’ ॥”

यहाँ कोमांकित शब्द पाठ-भेद के सूचक हैं। नख-सिख-संग्रह कर्ता ने भी यही पाठ माना है।

ब्रज-साहित्य में ‘चंद्र’-प्रति बड़ी-बड़ी सुंदर सूक्तियाँ कही गयी हैं, यद्यपि ये सब संस्कृत-सूक्तियों की छाया से अनुनाग्नि हैं, फिर भी कोई-कोई तो उससे भी आगे बढ़ अपनी प्रभा से ब्रज-साहित्य को जगमगा रही हैं। उदाहरण, यथा—

अमृत कों ऐँचि धरौ राधिका के होठन मे,
 चंद्रिका-छिनाइ दीनीं देखौ दसनाद कों ।
 सोइस कलान काटि बत्तिस बनाए दंत,
 वाही कों बिलोकि हीरा पावत प्रमाद कों ॥
 पोषन-सकति छीनि धरी है बचन मौहिं,
 ऐसैं सब छीनि लियौ मेंटि मरजाद कों ।
 ‘गोबिंद’ भनत तब काइ में कलेस-पाइ,
 चंद लै कलंक नभ फिरत फिराद कों ॥

पुनः उदाहरन जथा—

सब सुख सुखमाँ-सों मन्थौ,^१ तेरौ बदन सुबेस ।
 ता-सँम ससि क्यों^२ बरनिऐं, जाकौ नौम कलेस ॥

वि०—“दासजी की इस अनूठी उक्ति के साथ निम्न-लिखित कुछ दोहे जो विविध कवियों ने कहे हैं, देखिये, यथा—

पा०—१. (प्र०) भर्यौ...। २. (का०) कों...।

“बढ़ि-बढ़ि मुख-सँमता लएँ, चढ़ि आयौ निरसंक ।
ताते रंक मयंक-री, पायौ अंक कलंक ॥

*

जगमगात है होंन कों, या आँनन-लों चँद ।
ताही तें पूरँन-भएँ, मंद परै तँम फंद ॥

*

निस-दिँन पूरन जगमगै, आबै धोइ कलंक ।
तौ वाके मुख की प्रभा, पाबै सरद-मयंक ॥”

—सूक्ति-सरोवर (ला० भ० दी०) ८४

व्यंगारथ-वितरेक जथा—

कहा कंज, केसर तिन्हें, किती^१ केतिकी बास ।

‘दास’ बसैं जो^२ एक पल, वा ‘पदमिनि’ के पास ॥

वि०—“यहाँ ‘पदमिनि’ शब्द के सहारे ‘संत’ कवि की एक सुंदर सूक्ति नायिका-वर्णन के अंतर्गत याद आ गयी है, जैसे—

“जमना के आगमन, मारग मे भार-तँन,
भौरँन की भीर निपेटी-सी लखि पायौ है ।

‘संतन’ सुकबि सुख-खाँनि पदमिनि तेरे,
रूप की तरंगनि अनंग दरसायौ है ॥

बाहर कढ़ँन कहै तो सों सो अयाँनी कोंन,
लैहै बढनाँमी घेर घर-घर छायाँ है ।

पट की लपट लपटाति ता दिनाँ ते आज,
माँनों उन गलिँन गुलाब छिरकायौ है ॥”

गालिव (उर्दू) कहते हैं—

“करता है जाके बाग मे तू वेहिजाबियाँ ।

आने लगी है नगहते गुल से सबा मुझे ॥”

अथ रूपक-वरनन जथा—

उपमाँ औ^३ उपमेइ ते, वाचक-धरँम मिटाइ ।

एकै करि आरोपिए, सो ‘रूपक’ कहि जाइ^४ ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) कितिक...। २. (का०) (वें०) (प्र०) जे...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) अरु...। ४. (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) कदिराइ...।

भेद, जथा—

कहुँ कहिए ये दूसरौ, कहुँ^१ न राखिए भेद ।

अधिक, हीन, 'सँम'^२ तीन-विधि, ए 'तदरूप' अन्वेद'^३ ॥

वि०—“दास जी ने रूपक का लक्षण—“उपमानोपमेय से वाचक-धर्म को हटाकर ऐक्य रूप से आरोप” को, अर्थात् उपमेय में उपमान के निषेध-रहित आरोप को रूपक अलंकार कहा है । आरोप—‘एक वस्तु में दूसरी वस्तु की कल्पना को कहते हैं । अस्तु, जहाँ निषेध के बिना उपमेय को उपमान रूप से कहा जाय वहाँ उक्त अलंकार कहा जायगा ।

रूपक का शब्दार्थ है—रूप-धारण करना । अतएव उक्त अलंकार में उपमेय उपमान का रूप धारण करता है और निषेध-विना या रहित शब्दों द्वारा इसका अपन्हुति से प्रथक्त्व दिखलाना है, क्योंकि अपन्हुति में भी उपमेय को उपमान-रूप से कहा जाता है—उपमेय में उपमान का आरोप निषेध-गर्वक किया जाता है, रूपक में नहीं । इसी प्रकार ‘परिणाम’ और रूपक की पृथक्ता दिखलाते हुए ‘पंडितराज जगन्नाथ कहते हैं,—“जहाँ उपमान स्वयं किसी कार्य के करने में असमर्थ होने के कारण उपमेय से एक रूप होकर—उपमेय द्वारा होने योग्य कार्य को कर सकता हो, तब वहाँ परिणाम और जहाँ उपमान स्वयं किसी कार्य को करने में समर्थ हो, तब वहाँ रूपक कहा जायगा । पंडितराज की इस व्याख्या को अलंकार-सर्वस्वकार नहीं मानते, वे कहते हैं—जिसे पंडितराज रूपक का विषय मानते हैं वह तो परिणाम का विषय है, क्योंकि जहाँ उपमान उपमेय का रूप धारण कर वह कार्य करता हुआ हो जो वास्तव में उपमेय करता है, तो वहाँ रूपक, रूपक न रहकर ‘परिणाम’ बन जाता है, रूपक नहीं,.... इत्यादि । अतएव रूपक (ब्र० भा०) के ‘भाषा-भूषण’ के रचयिता महाराज यशवंतसिंह जी की भाँति—

‘हे ‘रूपक’ द्वै भाँति कौ, मिलि तदरूप-अभेद ।

अधिक, न्यून, सँम, दुहुँन के, तीन-तीन ए भेद ॥

दास जी ने भी रूपक के “अधिक, हीन और सम” को प्रथम ‘तदरूप’ तथा ‘अभेद’ के साथ विभक्त कर उस (रूपक) के निम्नलिखित भेद, जैसे—“निरंग, परंपरित, परंपरित-माला, माला भिन्नपद से, रूपक-माला, परिणाम-रूपक साम्य-विषयक रूपक, उपमावाचक, उपप्रेक्षावाचक और अपन्हुति-युक्त रूपक आदि

पा०—१. (का०) (वै०) (प्र०) कहुँ-राखिए-न भेद । २. (प्र०) सब विधि पुनि, ते तदुप अभेद । (का०) (वै०) (सं० पु० प्र०) विविधि पुनि, ते तदरूप अभेद ।

अनेक भेदों का वर्णन किया है। संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने भी 'रूपक' के निम्न प्रकार से भेद माने हैं। उन्होंने प्रथम रूपक के "अभेद" और 'तदरूप' दो भेद कर इन दोनों के जैसा कि दासजी ने भी स्वीकार किया है, सम, अधिक और न्यून मानकर पुनः सम-अभेद 'सावयव (सांग), निरवयव (निरंग) और परंपरित" रूप से तीन भेद और किये हैं। सावयव के भी 'समस्त-विषयक और एक देशविवर्ति दो भेद किये हैं। इसी प्रकार 'सम-अभेद' के द्वितीय भेद रूप निरवयव रूपक के 'शुद्ध' और 'माला' रूप में दो भेदों का कथन कर पुनः तीसरे 'परंपरित' रूपक के श्लिष्ट-शब्द और भिन्न-शब्द से दो भेदमान पुनः इन्हीं को शुद्ध और माला रूप में विभक्त किया है। इस प्रकार संस्कृतज्ञ महानुभावों ने जहाँ 'अभेद-रूपक' का वर्णन किया है, वहाँ दास जी ने 'तदरूप' रूपक का जो केवल वाक्यल है, अर्थ-भेद वा भाव-भेदादि नहीं। अन्य भेद यथा स्थान उपयुक्त हैं।"

*

प्रथम तदरूप रूपक अधिकोक्ति उदाहरन जथा—

सत कों काँमद, असत कों भै-प्रद सब दिस-दौर ।

‘दास’ जाँचिबे जोग पै कलपबृच्छ है और ॥

वि०—“तदरूप-रूपक में उपमेय को उपमान का जहाँ भिन्न (दूसरा) रूप कहा जाय, अर्थात् यहाँ उपमेय को उपमान से भिन्न रखकर भी उसी (उपमेय) का रूप कहा जाता है। अधिक तदरूप में—“उपमेय पर उपमान का आरोप करने के अनंतर उसे उसी उपमान से बड़ा कर कहा जाता है, जैसा दासजी के इस उदाहरण में। यहाँ उक्त रूपक के साथ व्याघात (जहाँ एक ही क्रिया से दो विरोधी कार्य हों) की 'संसृष्टि' भी है।”

*

तदरूप रूपक-हीनोक्ति को उदाहरन जथा—

लखि, मुनि जाइ न ज्वाब दै, सहेँ परै कृत-नीच ।

बास खलँ के बीचि कौ, बिनाँ मरे को मीच ॥

वि०—“जब कि उपमेय पर आरोपित उपमान को उसी उपमान से हीन, घटाकर कहा जाय तब उक्त अलंकार वनता है।”

तदरूप-रूपक-समोक्ति कौ उदाहरन जथा—

दृग कैरब के^१ दुख हरँन, सीत-करँन मँन-देस ।

यै बनिता भुबलोक की, चँद-कला सुभ-वेस ॥

वि०—“जहाँ दोनों उपमान सम (बराबर) हों वहाँ “तदरूप रूपक समोक्ति (सम-तदरूप रूपक) कहा जाता है, क्योंकि ‘तदरूप’ का अर्थ है—उसका रूप । अस्तु, जब उपमान की अपेक्षा उपमेय में कुछ विशेषता दिखलाई जाय तब वहाँ ‘अधिक’ और यदि कुछ कमी दिखलाई जाय तब ‘न्यून’ तथा जब दोनों समान बतलाये जायँ तब ‘सम-तदरूप-रूपक’ कहा जाता है ।”

पुनः उदाहरन जथा —

कँमल-प्रभा नहिं हरत^२ हैं, दृगन देति आँनंद^३ ।

कै न सुधाधर तिय-बदँन, क्यों गरबत वौ^४ चंद ॥

अस्य तिलक

यहाँ, प्रतीप (जब प्रसिद्ध उपमेय को उलट कर उपमान बना दिया जाय) कौ (अंग) व्यंगि है ।’

अथ अभेद रूपक अधिकोक्ति उदाहरन जथा—

है, रति कों^५ सुख-दायक मोहन,^६ यों मकराकृत-कुंडल-साजै ।

चित्रित फूलँन कौ धँनु-बाँन, तन्यों गुँन भोर की पाँति^७ कों भ्राजै ॥

सुभ्र सरूपँन में गँनों एक, बिबेक हँनें तिय - सँन - सँमाजै ।

‘दास’ जू आज बने ब्रज में, ब्रजराज सदेह-अदेह बिराजै ॥

वि०—“जहाँ उपमेयोपमान ऐसे—इस प्रकार अभिन्न हों कि किसी विशेषता के कारण-हीं वे (उपमेय उपमान से) प्रथक् जान पड़ें, तब वहाँ “अभेद रूपक अधिक,” अथवा “अधिक अभेद रूपक” कहा जाता है, जैसा इस उदाहरण में । यहाँ ‘ब्रजराज’ और ‘काम’ में अभेद रूपक है ।”

पुनः उदाहरन जथा —

बंधँन^८-डर^९ नृप कौ^{१०} करै, सागर कहा बिचारि ।

इँन कौ पार न सत्रु है, औ^{११} श्री-संग-निहारि ॥

पा०—१. (का०) कौ । (वें०) की । २. (स० प्र०) (वें०) हनतु कै... ३. (वें०) दृगनि न देति अनंद । ४. (वें०) कहु... ५. (का०) (वें०) (प्र०) को... । (स० पु० प्र०) की.. । ६. (स० पु० प्र०).. मोह भयौ मकरा० .. । ७. (स० पु० प्र०) (का०) (वें०) आति... । ८. (स० पु० प्र०) बाँधन... । ९. (का०) डर ... । १०. (वें०) (प्र०) सों... । ११. (वें०) (प्र०) अरु हरि गई न नारि...

अस्य तिलक

इहाँ व्यंगारथ (राम औ बिस्तु कौ) रूपक है, बस्तु ते अलंकार ।

अथ अमेद रूपक हीनोक्ति उदाहरन जथा—

सब के देखत व्योम-पथ, गयौ सिंध के पार ।

पच्छिराज^१ बिँन-पच्छ कौ, बीर सँमीर-कुँमार ॥

वि०—“जहाँ उपमेयोपमान अभिन्न होते हुए भी किसी हीनता से प्रथक् जान पड़े, वहाँ अमेद रूपक हीनोक्ति कही जायगी ।”

पुनः उदाहरन जथा—

कंज के संपुट हैं पै^२ खरे, हिय में गड़िजात ज्यों कुंत^३ की^४ कोर हैं ।
मेरु हैं पै हरि-हाथ में^५ आवत, चक्रवती पै बड़े^६-ही कठोर हैं ॥
भाँमती, तेरे उरोज में^७ गुँन ‘दास’^८ लखें तिन आति न ओर हैं ।
संभु हैं, पै उपजावें मनोज, सुवृत्त^९ हैं, पै पर-वित्त^{१०} के चोर हैं ॥*

अस्य तिलक

इहाँ ‘वितरेक’ (जहाँ उपमेय में उपमान से अधिकता वा न्यूनता दिखलाई जाय) और रूपक कौ संकर (जहाँ दो अलंकार जल और दूध के समान मिले हुए हों) है ।

वि०—“दासजी कृत यह उदाहरण भी “हीन अमेद रूपक” वा है। कन्हैयालाल पोद्दार ने अलंकार-मंजरी (१०२, १४८) में कहा है कि “स्तनों में जिन

पा०—१. (रा० पु० प्र०) (रा० पु० नी० सु०) पच्छिराज ज्यों पच्छ-विन । २. (का०) (प्र०) ए.. । (सं० प्र० प्र०) पै खरी... । ३. (सु० ति०) (सु० सं०) (न० ह०) कुतल-कोर है । ४. (म० म० तु० क०) के... । ५. (प्र०) (र० कु०) (का० प्र०) न... । ६. (सं० प्र०) बड़ौई करे... । ७. (न० ह०) के.. । ८. (का०) (वे०) (प्र०) दास लख्यौ सब और-ई और हैं । (सु० ति०) (सु० सं०) (न० ह०) (र० कु०) (का० प्र०) (म० म० तु०) (का० का०).. दास लखे सब और-ही और ह । (सं० पु० प्र०).. लखे सब और-ही और... । ९. (न० ह०) सु वित्त हैं... । (म० म० तु०) (का० का०) सु वित्त हैं... । १०. (रा० पु० प्र०) वित्त...

* , न० सि० ह० (परमानंद सुहाने) पृ० ५२, ११ । सु० ति० (भारतेन्दु) पृ० २५६, ८७ । सु० सं० (मन्नालाल) पृ० १०८ । म० म० (तु० क०—अज्ञान कवि) पृ० १५, ६६ ।—दि० सं०, पृ० १६, ८२ । र० कु० (अयोध्या) पृ० १४२ । का० प्र० (मानु) पृ० २८० । अ० म० (पोद्दार) पृ० १०२, १४८ । सु० सं० (ला० म०) पृ० २७७, ३४ । का० का० (चक्रवर्तिसिंह) पृ० ११ ।

कमल-संपुटादि का आरोप है, उनके साथ स्तनों का विलक्षण वैधर्म्य दिखा कर (जो) विरोध दिखलाया या बताया गया है, वे सभी आरोप प्रायः विरोध की-ही पुष्टि करते हैं, इसलिये यहाँ (दासजी के इस छंद में) “न्यूनतद्रूप (हीन अभेद) रूपक नहीं है, अपितु विरोधालंकार प्रधान है ।” लाला भगवान दीन ने भी “सूक्ति-सरोवर” (२७७, ३४) में दासजी के इस छंद की व्याख्या करते हुए पोद्दारजी के कथन की-ही पुष्टि कर लिखा है—“उक्ति तो सुंदर है ही, विरोधाभास अलंकार का उत्कृष्ट उदाहरण भी है ।” दासजी ने भी इसका ‘तिलक’ करते हुए व्यतिरेक और रूपक का संकर माना है ।

“सुंदरी तिलक” के संग्रह-कर्त्ता भारतेन्दुजी ने, “सुंदरी-सर्वस्व,” “नख-सिख-हजारा” और “सूक्ति-सरोवर” के संग्रहकर्त्ताओं वा रचयिताओं पं० मन्नालाल, परमानंद सुहाने तथा ला० भगवानदीन ने ‘दासजी के इस छंद को नायिका के नख-सिख वर्णन के अंतर्गत “स्तन-वर्णन” में संकलित किया है । इसी प्रकार “मनोज-मंजरी” के संग्रहकर्त्ता “अज्ञान कवि” ने “दूती पट्-कर्मांतर्गत”—निंदा” में तथा “रस-कुसुमाकर” के रचयिता अयोध्या नरेश ददुआ साहिब ने “मुग्धा-स्वाधीन पतिका” के उदाहरणों में संकलित किया है । दूती-पट्-कर्मांतर्गत—“निंदा”, यथा—

“अस्तुति औ निंदा, बिनै, बिरह निवेदन आइ ।

औ परबोध मिलाइबौ, दूती जान सुभाइ ।”

कविवर ‘रसलीन’ ने निंदा—‘नायिका की निंदा’ और ‘नायक की निंदा’ दो भेदकर सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं । जैसे नायिका-निंदा—

“कहा आपने रूप की, फूलि कहि रही हाल ।

तोहू ते अति आगरी, नगर नागरी बाल ॥”

और नायक-निंदा, यथा —

“सीस मुकट, कटि काछिनी, फाटी-साटी हाथ ।

मिलन चँहत या रूप सों, राधा जू के साथ ॥”

एवं स्वाधीन-पतिका, यथा —

“जा तिय के आधीन हूँ, पीतम रहै हँसेस ।

स्वाधीन पतिका नायिका, भाँखत कला-असेस ॥”

—म० मं० (अ०)

इस स्वाधीन-पतिका विभेद को ब्रजभाषा-रीति आचार्यों ने मुग्धा, मध्या प्रौढ़ा, परकीया और गणिका (सामान्य) में भी मान सुंदर उदाहरण प्रस्तुत

किये हैं। ब्रज-साहित्य-जगत् में 'परकीया स्वाधीन-पतिका' का यह उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है—

“उभकि भरोखा हूँ भँमकि खुकि भाँकी बाँम,
 भूलि गई स्याँम जू की खबर तमासा की।
 'कहै पद्माकर' चहुँघाँ चैत-चाँदनी-सी,
 फ़ैलि रही तैसिये सुगंध सुभ स्वाँसा की॥
 तैसी छवि तक्त तँमोर की, तरौनँन की,
 वैसी छवि बसँन की, बारन की, बासा की।
 मोतिन की, माँग की, मुख-हू की, मुसिक्याँन-हूँ की,
 नैनँन की, नथ की, निहारिबे की, नासा की॥”

अस्तु

“बन के तस्वीर 'हिज़ाब' उसका सरापा देखो।
 मुँह से बोलो न कुछ, आँख से तमाशा देखो॥”

एक बात और—वह यह कि दासजी कृत इस छंद के विविध 'पाठ' विविध संग्रह ग्रंथों में मिलते हैं, जिससे इसकी लोक-प्रियता प्रकट होती है। यहाँ सर्वमान्य एक पाठ दिया जाता है, यथा—

“कज के सपुट है, पै खरे हिणै गड़ि जाति ज्यों कुंतल-कोर हैं।
 मेरु हैं, पै हरि-हाथ में आबत, चक्रवती पै बड़े-ही कठोर हैं॥
 भाँवती तेरे उरोजन के गुँन 'दास' लखे सब और-ही ओर हैं।
 संभु हैं, पै उपजाबें मनोज, सुव्रत हैं, पै पर बित्त के चोर हैं॥”

अथ रूपक-भेद कथन जथा—

रूपक होत 'निरंग' पुनि 'परंपरित' 'परिनाँम'।

अरु 'समस्त-विषयक' कहें^१, बिबिध भाँति अभिराँम॥

वि०—“जैसा पूर्व में रूपक की परिभाषा के साथ कहा जा चुका है कि” रूपक प्रथम 'अभेद' तथा 'तद्रूप' दो शाखाओं में विभक्त होकर फिर 'सम,' अधिक, और 'न्यून' जिसे हीन भी कहते हैं, में पल्लवित होता है और तब 'सम-अभेद रूपक' के 'सावयव' (सांग), 'निरवयव' (निरंग) और 'परंपरित' रूप बनते हैं। इसके बाद सावयव के 'समस्त-विषयक' वा 'समस्त वस्तु-विषयक'

तथा 'एकदेश विवर्त्तिक' रूप और होते हैं। दासजी ने जहाँ निरंग (निरवयव) और परंपरित, परंपरित की माला, भिन्न पद (शब्द) रूपक, रूपक की माला, परिणाम रूपक, समस्त-विषयादि रूप रूपक के जहाँ विविध भेद कहे हैं, वहाँ सावयव का एक भेद—'एक देश विवर्त्तिरूपक', निरवयव (निरंग) के दो भेद 'शुद्ध', और 'माला' रूप तथा परंपरित के दोनों 'शिष्ट शब्दात्मक' तथा 'भिन्न शब्दात्मक' में से 'श्लिष्ट शब्द रूपक' और इस श्लिष्ट-शब्द-रूपक के शुद्ध और माला-रूप भेदों को त्याग दिया है, उनका वर्णन नहीं किया है। अस्तु, जहाँ अवयव-रहित केवल उपमान का उपमेय में आरोप हो, अर्थात् अवयवों के बिना उपमान का उपमेय में आरोप किया जाय, अथवा उपमान का मुख्य उपमेय अंगी पर ही आरोप हो, अन्य अंगों का सांगोपांग आरोपण न हो, वहाँ 'निरंग' रूपक कहा जाता है, जैसा कि दासजी के नीचे लिखे उदाहरण में...।"

निरंग रूपक-उदाहरण जथा—

हरि-मुख पंकज, भों^१ धँनुष, खंजन-लोचन मित्त ।

बिबाधर,^२ कुंडल मकर, वसे रहत मो चित्त ॥

अथ परंपरित-रूपक लच्छन जथा—

जहाँ वस्तु^३ आरोपिऐ, और वस्तु के हेत ।

स्लेष होइ कै भिन्न-पद, 'परंपरित' सो चेत ॥

वि०—“जहाँ एक आरोप (रूपक) दूसरे आरोप (रूपक) का कारण हो, एक रूपक का आधार दूसरा रूपक हो—उसे पुष्टि करता हो, अर्थात् कार्यकारण रूप से आरोपों (रूपकों) की परंपरा हो, अथवा एक उपमेय में किसी उपमान का आरोप तभी हो जब एक आरोप दूसरे आरोप का कारण हो—दूसरे उपमेय में दूसरे उपमान का आरोप किया जा चुका हो, तो वहाँ परंपरित रूपक कहा जायगा, क्योंकि इसमें एक रूपक का दूसरा रूपक आधार-भूत होने के कारण हो यह उक्त अलंकार कहलाता है। यथा—

“नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्पर यः ।

तत्परंपरितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा ॥”

—काव्य-प्रकाश (सं०) १०, ६१,

पा०—१. (का०) (प्र०) भ्रू... । (वै०) भ्रुव... । २. (का०) (वै०) (प्र०) विव अथर... । ३. (सं० पु० प्र०) (प्र०) विषय...

अर्थात्, जहाँ वर्ण्य-विषय के लिये अवश्य अपेक्षित आरोप (साधारण धर्म के प्रकाशक) कारणभूत किसी अन्य पर हो तब वह कार्य-कारण रूप आरोप परंपरा के साथ होने से 'परंपरित रूपक' कहलाता है और इसके वाचक-शब्द के श्लिष्ट (भिन्न-अर्थी) होने, वा न होने से दो प्रकार का तथा शुद्ध और माला रूप होता है, जैसा नीचे दासजी के छंद में.....।'

उदाहरन जथा—

सब तजि 'दास' उदासता, रॉम-नाँम उर-आँन ।
ताप-तिनूँका तोम कों,^१ अगिन-किनूँका जाँन ॥

अथ परंपरित रूपक की माला-उदाहरन जथा—

कुबलइ-जीतिवे कों बीर-बरबंड राजें,
करँन पै जाइवे कों^२ जाचक निहारे हैं ।
सितासित-अरुनारे, पाँनिप के राखिवे कों,
तीरथ के पति हैं^३ अलेख लखि हारे हैं ॥
'बाँधिबे कों सर, मारि^४ डारिवे कों महा विप,
मीन कहिवे कों 'दास' मानस विहारे हैं ।
देखति ही सुवरँन-हिय^५ हरिवे कों पसि-
तोहर, मनोहर ए लोचँन तिहारे हैं ॥^६

वि० - ““दास जी कृत यह उदाहरण—‘कुबलइ, करन, सितासित-अरुनारे युक्त तीरथ-पति (तीर्थ-पति = प्रयाग), अलेख, मानम, सुवरन-हिय और पस्यतो-हर (सुनार) आदि शब्द श्लिष्ट-परंपरित होने के कारण उस (परंपरित रूपक) की माला है । श्लिष्ट परंपरित रूपक की ‘माला’—जहाँ श्लेष से दो अर्थ लेते हुए कई रूपकों के आधार पर अन्य रूपक सिद्ध किया जाय,” जिस प्रकार ऊपर के उदाहरण में ।

एक बात और, वह यह कि...सावयव रूपक और परंपरित रूपक का प्रत्यक्ष-करण करते हुए अलंकार-आचार्यों का अभिमत है—“सावयव रूपक में एक प्रधान आरोप होता है और अन्य (आरोप) उसके अंगीभूत । प्रधान आरोप

पा०—१. (का०) कै . । २. (स० पु० प्र०) कै . . । २. (वें०) के . . । (स० पु० प्र०) कै . . । ३. (वे०) मोहि मारिवे कों महा... । ४. (का०) (वें०) (प्र०) हीरा.. ।

* सू० स० (भ० दी०) पृ० ३४६-३४७ । भा० भू* (के०) पृ० ६२ ।

सुप्रसिद्ध होता है, वह अन्य आरोपों के न होते हुए भी सिद्ध होता है, उसके लिये दूसरा आरोप आवश्यक वा नियत नहीं होता, पर परंपरित में एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है, अर्थात् एक आरोप दूसरे आरोप के बिना सिद्ध नहीं होता, इत्यादि.... (दे० वामनी व्याख्या—काव्य-प्रकाश, रस-संग्राहक तथा साहित्य-दर्पण) ।

नयनों पर—विशेष कर 'नायिका के नयनों पर, ब्रजभाषा-कवियों ने अपने-अपने सूक्ति-रत्नों-द्वारा गागर में सागर-भरने का सुंदर प्रयास किया है, और उसमें वे सफल ही नहीं, अधिकाधिक सफल हुए हैं। यहाँ हम केवल 'गुलाब कवि की एक सुंदर सूक्ति देते हैं, यथा—

‘आबरवाँ’ लखि होत ‘गुलाब’, की चीकन ‘मलमल-हूँ सों दराज है ।
‘डोरिया’ लाल परी है मुलाइम, जो तनजेव बढ़ावँन काज है ॥
‘मलमल’ हाथ रहे लखि लाखँन, गाढ़े फसाब-फँसे तजि लाज है ।
आबत है कमख्वाब बिलोकति, नैन नहीं नए नोखे बजाज हैं ॥’

यहाँ, कवि-प्रयुक्त—आबरवाँ (आव-रवाँ = आव (शोभा) रवाँ = फीकी पड़ जाती है, गुलाब (कवि-नाम व पुष्प-विशेष), डोरिया (आँख के लाल डोरे, व वस्त्र विशेष) तनजेव (तन-जेव = तन (शरीर) को जेव (शोभा), मलमल (वस्त्र-विशेष व मलना) और कमख्वाब (कमख्वाब = कम (न्यून), ख्वाब (निद्रा) नींद का न आना आदि श्लिष्ट शब्द-संयुक्त नेत्ररूप बजाज (वस्त्र-विक्रेता) का सुंदर रूपक है, जो मुद्रालंकार से मझकर अति-घन-सवर गा है। वकौल ‘नूहनारवाँ’—

‘वही है इक निगाहे नाज़ लेकिन अपने मोके पर ।
कभी नस्तर, कभी नावक, कभी तलवार होती है ॥’

पुनः उदाहरन भिन्न-पद ते जथा—

नीति-मग-मारिबे कों ठग हैं सुभग, मन^१—

बालक-बिकल करि डारिबे कों टोंना^२ हैं ।

दीठि-खग फाँसिवे^३ कों लासा-भरे लागें हिय-

पीजरा^४ में राखिबे कों खंजन के छोंना^५ हैं ॥

पा०—१. (वें०) मनु...। (प्र०) जिय...। २. (सं० पु० प्र०)-(का०) (वें०) (प्र०) टोने ।
३. (का०) (वें०) (प्र०) फाँदिवे कों...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) पीजरे...। ५. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) (प्र०) छोंने...।

‘दास’ निज प्राँन-गथ अंतर ते बाहर न-

राखत, हैं क्योंहूँ कौन्ह कृपँन^१ के सोंना^२ हैं ।

ग्याँन-तरुबर-तोरिबे कौं करिबर, जिय^३-

रोचन तिहारे बिय^४-लोचन सलोंना^५ हैं ॥

वि०—“दास जी कृत यह उदाहरण--‘भिन्न (अश्लेष = श्लेष-रहित) परंपरित रूपक’ की ‘माला’ का है । भिन्न परंपरित-रूपक-माला—“जहाँ बिना श्लेष-शब्दों के कई रूपकों-द्वारा अन्य (एक) रूपक सिद्ध किया जाय ।” यहाँ विय (दो) सलोंने लोचनों पर ‘नीति-मग-मारिबे कौं ठग०’...से लेकर ‘ग्याँन-तरुबर तोरिबे कौं करिबर०’ आदि श्लेष-रहित शब्दों द्वारा रूपक के रम्योद्यान में कितने ही अभिधोग लगाये गये हैं, जो दृष्टव्य है, क्योंकि—

‘है दफ़ीना हुस्न का जेरे ज़मीं ।

*

सूरतें क्या-क्या मिली हैं झाक में ।

है दफ़ीना हुस्न का जेरे ज़मीं ॥

माला-रूपक उदाहरन जथा—

जच्छिनी सुखद मो उपासनाँ किए की सिरी,

सरस^१हिए की दारु-दुख की जु^२ आगि है ।

बपुस वरत की जु बरफ बनाई सीत-

दिन की तुराँई^४ जो गुँनन रही तागि है ॥

‘दास’ दग-मीनन की सरित सु सीली, प्रेम-

रस की रसीली कब सुधा^५ के रस पागि है ।

हाइ, मो^{१०} गेह तँम-पुँज की उजियारी प्राँन--

प्यारी उतकंठा^{११} सों कबै कंठ लागि है ॥

वि०—“जहाँ अनेक उपमानों का (एक) उपमेय पर आरोप किया जाय वहाँ रूपक की ‘माला’ कही जाती है, जैसी इस छंद में । दासजी के इस उदाहरण पर किसी कवि की यह सूक्ति भी सुंदर है—सरस है, यथा—

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) कृपिन.. । २. (सं०) (का०) (वें०) (प्र०) सोने... । ३. (प्र०) मन.. । ४. (का०) तिय... । ५. (सं० पु० प्र०) । (का०) (वें०) (प्र०) सलोंने । ६. (वें०) (प्र०) सारस... । ७. (प्र०) सु... । ८. (प्र०) रजई... । ९. (का०) (वें०) (प्र०) कब सुधा-रस-पागि है । १०. (का०) (वें०) (प्र०) मम... । ११. (का०) (वें०) उतकंठ . ।

“लाल-प्रवाल से ओठ रसाल, अमीरस पाँन के ताप बुझ हैं ।
श्रीफल से बरजोर, कठोर,—उरोज को कोरें काँम-जगड़ हैं ॥
कुंदन-कांति से लोल-कपोल,—अमोलन चूमि के दाह-बढ़ हैं ।
फूलन के परजंक पै पौढ़ि, मयंक-मुखी कब अंक लगड़ हैं ॥”

पुनः उदाहरन जथा—

अब तौ बिहारी के वे बाँनिक गए-री,
तेरी तँन-दुति-केसर कौ नैन-कसमीर भौ ।
खान तुब^१ बाँनो खौंति-बूँदँन कौ चातक भौ,
साँसन कौ भरिबौ सो द्रोपदी^२ कौ चीर भौ ॥
हिय कौ हरख मरु-धरनी कौ नीर भौ-री,
जियरा^३ मनोभव^४-सरँन कौ तुनीर भौ ।
एरी, बेगि करि केँ मिलाप-थिर-थापि न तौ
आप अब चाहत अर्तन कौ सरीर भौ ॥*

वि०—“दासजी ने यह छंद अपने द्वितीय ग्रंथ “शृंगार-निर्णय” में “ऊढा” नायिका (अपने विवाहित पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष से प्रेम करने वाली) के अंतर्गत—“दुःख-साध्या” (कष्ट से मिलने वाली) के उदाहरण में भी उद्धृत किया है । ऊढा, यथा—

“जो व्याही तिय और की, करे और सों प्रीति ।”

—जगद्विनोद (पञ्चाकर)

किंतु, हमारी अल्प-मति के अनुसार नायिका के प्रति नायक का दूती-द्वारा विरह-निवेदन है,—मिलने की उत्कंठा जाग्रत करना है और यही दासजी ने अपने “दुःख-साध्या” के लक्षण में कहा भी है, यथा—

“साध्य करै पिय-दूतिका, बिबिध-भाँति सँमझाइ ।

‘दुःख-साध्या’ ता कोँ कहँ, परकीर्यन में पाइ ॥”

—शृंगार-निर्णय, ३२

दासजी को इस रचना पर किसी कवि की यह रचना भी अजर-अमर है, यथा—

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (शृ० नि०) तो...। २. (का०) (वें०) (प्र०) द्रुपदजा कौ ...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) जियरौ...। ४. (रा० पु० प्र०) (रा० पु० का०) (ग० पु० नी० सु०) मनोभव के सरँन...। (प्र०) (सं० पु० प्र०) (शृ० नि०) मदन-तीर गँन कौ...।

*. शृ० नि० (मि० दा०) पृ० ३३, ६७ ।

“अहिन - खिलावतु है, मृगन - लरावतु है,
 सुकन-पदावतु है नकु . ना टरतु है ।
 कबहुँ कै संख-पुरि ‘संभु’ जू की पूजा करै,
 कबहुँक कै कुंड - बूड़ि सिंघन धरतु है ॥
 कबहुँ कै कदली के खंभ ते लपेटि जंघ,
 कबहुँ कै कंज सिर - राखि बिहरतु है ।
 जा दिँन ते न्हात चार-आँखें भई ता दिँन ते,
 बाबरौ-सौ भाँति-भाँति भावनाँ करतु है ॥”

अथ परिनाम रूपक लच्छन जथा—

करत जु है उपमाँन है, उपमेएँ कौ काँम ।
 नहिँ दूषन अनुमानिएँ, है भूषन ‘परिनाम’ ॥

वि० - “जब उपमान होकर उपमेय का कार्य करे, अर्थात् किसी कार्य के करने में जहाँ उपमान उपमेय से अभिन्नरूप होकर उस कार्य के करने को समर्थ हो, तब ‘परिनाम’ (परिणाम) अलंकार कहा गया है। दासजी, — “जहाँ उपमान होकर उपमेय का कार्य करे, वहाँ उक्त अलंकार मानते हैं। संस्कृत-साहित्य के अलंकाराचार्य - विशेष कर पंडितराज जगन्नाथ ‘परिणाम’ और ‘रूपक’ के समान उदाहरणों में रूपक और परिणाम को प्रथक्ता बतलाते हुए कहते हैं कि “जहाँ उपमान स्वयं किसी कार्य के करने में असमर्थ होने के कारण उपमेय से एक रूप होकर उस कार्य (उपमेय-द्वारा होने योग्य कार्य) को करे तब वहाँ ‘परिणाम’, और जहाँ उपमान स्वयं ही (अपने) किसी कार्य को (उपमेय की बिना सहायता के) करने में समर्थ हो, वहाँ रूपक होता है—“विपयिणः प्रकृतोपयोगितायाअवच्छेदकीभूतं विपयाताद्रूप्यं परिणामः । विपयी यत्र विपयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातंत्र्येण स परिणामः । अत्र च विपयाऽभेदो विविच्युत्पद्यते रूपके तु नैवमिति रूपकादस्य भेदः—(रस-गंगाधर) ।” पर अलंकार-सर्वस्व (संस्कृत) के रचयिता इस मत के विपरीत हैं। आपने पंडितराज के रूपक के विषय को परिणाम का विषय मान इन दोनों के भेद में कहा है कि “रूपक में उपमेय के स्वयं समर्थ रहते हुए भी आरोप्यमाण (उपमेय) का किसी कार्य करने में औचित्य-मात्र होता है, और परिणाम में बिना उपमान के आरोप-बिना उपमेय कार्य नहीं कर सकता। इस लिये पंडितराज के युक्ति-संगत मत रूपक और

परिणाम के विषय-विभाजन में औचित्य प्रतीत नहीं होता इत्यादि...।” यहाँ दासजी ने रूपक के अंतर्गत परिणाम का उल्लेख “काव्य-प्रकाश”—मम्मट (संस्कृत) की टीका ‘उद्योत’ से लिया है । वहाँ भी इसे स्वतंत्र अलंकार न मान कर रूपक के अंतर्गत-ही उल्लेख किया है ।

काव्य-प्रकाश में श्रीमम्मट ने ‘रशनोपमा’ की भाँति ‘रसनारूपक’ नाम से रूपक का एक विशेष भेद और माना है, तथा दासजी की भाँति अन्य उपमा-वाचकादि रूपकों का नहीं । रसनारूपक के प्रति वे कहते हैं—“इत्यादि, रशनारूपकं न वैचित्र्यं वदिति न लक्षितम् ।” रसनारूपकादि जैसे अलंकारों में विशेष चमत्कार न होने से नहीं कहे गये । साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में भी —“अधिका-रूढवैशिष्ट्य-रूपक” (जिस रूपक में वैशिष्ट्य—विशेषण अधिक आरूढ हो, अर्थात् आरोप्यमाण की अपेक्षा भी आरोप-विषय में कुछ विशेषता अधिक दिखलाई जाय) नाम का एक भेद और कहा गया है । साथ-ही वहाँ परिणाम के भी—

“परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा ।”

—सा० द० १०, १५

✱

“तुल्याधिकरण-परिणाम” और ‘अतुल्याधिकरण-परिणाम’ नामक दो भेद और लिखे मिलते हैं । दासजी ने भी परिणाम का एक भेद ‘समस्त-विषयक-परिणाम’ और माना है, एवं संस्कृत ग्रंथ-रचयिताओं ने इसकी माला ।”

सच तो यह है कि रूपक में उपमेय पर उपमान का आरोप मात्र होता है, उसका वास्तविक कार्य से कोई संबंध नहीं रहता । उदाहरण-रूप में कहा जा सकता है—“उसके मुखचंद्र को देखता हूँ ।” यहाँ देखना कार्य है, किंतु उसका चंद्र से कोई संबंध नहीं । चंद्र यहाँ केवल मुख की समानता (सुंदरता) प्रकट कर केवल शोभा वतलाता है और यदि यह कहा जाय—“वह नेत्र-कमल से देख रही है” तब वह परिणाम का विषय बन जायगा, क्योंकि यहाँ नेत्र के देखने का कार्य उपमान कमल के द्वारा होना कहा गया है । रूपक में केवल समानता-ही रहती है और परिणाम में एकात्मता-सी लाई जाती है, जिससे उपमान उपमेय का कार्य भी करने लगता है जो उसका कार्य नहीं । परिणाम—एक विशिष्ट प्रकार का रूपक ही है, क्योंकि रूपक होते हुए भी वह उपमेय तथा उपमान में तादात्म-स्थापित कर उपमेय का प्रकृत कार्य उपमान के द्वारा कराता है । जैसे दासजी द्वारा कथित निम्नलिखित उदाहरण में ।’

उदाहरन जथा—

कर कंजँन, खंजँन-टगँन, ससि-मुखि-अंजँन-देति ।
बिज्जु'-हास ते 'दास' जू, मँन-बिहंग गहि लेति ॥

*

अथ समस्त-विषयक रूपक लच्छन जथा—

सकल वस्तु ते होत जहँ,^१ आरोपित उपमान ।
तिहि 'समस्त-विषयक' कहै, 'रूपक' बुद्धि-निधान ॥

❀

कहूँ 'उपमा', 'वाचक' कहूँ, 'उत्प्रेच्छादिक (ते) होइ ।
कहूँ लिऐं 'परनाम', कहूँ रूपक रूपक सोइ ॥

वि०—“जैसा पूर्व में कहा गया है कि 'रूपक के प्रथम—'अभेद' और 'ताद्रूप्य दो भेद होते हैं, इसके बाद इन दोनों के 'सम', 'अधिक' और 'भ्यून' नाम के तीन-तीन भेद । तदनंतर 'सम-अभेद' के तीन-भेद—'सावयव' अथवा 'सांग' (अवयवों—अंगों के सहित उपमेय में उपमान का आरोप किया जाना), 'निरवयव' या 'निरंग' (अवयवों वा अंगों से रहित केवल उपमान का उपमेय में आरोप करना) तथा 'परंपरित' और कहे जाते हैं । अतएव सावयव के 'समस्त-विषयक' वा 'समस्त-वस्तु-विषयक' (संपूर्ण आरोप्यमान और आरोप के विषयों का शब्द-द्वारा स्पष्ट कथन करना) और 'एक देशविवर्त्ति' आदि दो भेद संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने किये हैं । दासजी ने भी यही ऊपर लिखित दोहों में कहा है । साथ-ही आपने रूपक के 'उपमा-वाचक', 'उत्प्रेक्षा-वाचक', 'परिणाम-रूपक' और 'रूपक-रूपक' के साथ 'अपन्हुति-संयुक्त रूपक' 'उल्लेख-युक्त-रूपक'—आदि अन्य भेद भी किये हैं और इनके सफल उदाहरण भी दिये हैं । संस्कृत-ग्रंथों में—'रूपक-रूपक' (उपमेय में एक उपमान का आरोप कर फिर एक और आरोप करना), 'युक्त-रूपक', 'अयुक्त-रूपक', 'हेतु-रूपक' और रूपक की ध्वनि—आदि अन्य भेद भी कहे गये हैं । 'आगे यह भी कहा गया है कि “जिस रू क में विशिष्टता अधिक आरूढ़ हो तब उसे 'अधिकारूढ़ वैशिष्ट्य रूपक' कहा जाता है, जैसे—'यह मुख निष्कलंक चंद्र है ।' यहाँ मुख पर चंद्र का आरोप है, किंतु मुख की विशिष्टता चंद्र से अधिक उस (मुख) के निष्कलंक (कलंक-रहित) होने के कारण बतलायी गयी है,

अस्तु, ऐसी अवस्था में यहाँ 'व्यतिरेक' अलंकार क्यों न माना जाय ? क्योंकि 'उपमान को अपेक्षा उपमेय में कुछ अधिक उत्कृष्टता दिखलाना-ही 'व्यतिरेक' है और यही ध्येय वा लक्ष्य 'अधिकारूढ वैशिष्ट्य-रूपक' का भी है। और यदि यह कहा जाय कि उक्त ध्येय (लक्ष्य) इस अलंकार का नहीं है, तब इस प्रकार के नये भेदों की आवश्यकता ही नहीं रहती, वहाँ शुद्ध रूपक मात्र है, क्योंकि उपमेय पर उपमान का आरोप-ही 'रूपक' है और उपमानोपमेय में किसी गुण का प्रकृत्या अधिक वा कम होना उनके आरोपण में कोई बाधा नहीं डालता। ऐसी अवस्था में प्रधानतः रूपक होते हुए भी उनके अधिक, न्यून और समादि भेद भले-ही कर लिये जाय, पर वे रूपक अवश्य रहेंगे और जब वे मूलतः रूपक न हों तथा उपमानोपमेय में अधिकता वा हीनता दिखलाई जाय, तब वहाँ अन्योन्य अलंकार हो सकते हैं। उदाहरण जैसे—“उसका मुख चंद्र-सा है” अथवा “उसका मुख चंद्र है”, यहाँ “उपमा-रूपक” अलंकार कहे जायेंगे। इसी प्रकार “निष्कलंक होने के कारण उसका मुख सकलंक चंद्र से बड़कर है” में ‘व्यतिरेक’ कहा जायगा। “उस (नायिका) का मुख-चंद्र आकाश में उदय होने वाले चंद्र से निष्कलंक होने के कारण बड़कर है”—कहने पर “अधिकतद्रूप रूपक” होगा और “उसका मुख मानों चंद्रमा है”, यह उत्प्रेक्षा है। इन सभी उदाहरणों में “मुख का चंद्र से साम्य लेकर ही वर्णन किया गया है। सभी वर्णनों में कुछ-न-कुछ भिन्नता है और इसी भिन्नता से तद्-तद् स्थानों पर विविध अलंकार संयुक्त हो गये हैं, वे सब स्पष्ट हैं। व्यतिरेक और अधिकतद्रूप-रूपक में क्या अंतर है, विशेष यही जानने योग्य है, क्योंकि प्रायः दोनों के विषय (भाव) एक-ही हैं, जो कुछ भिन्नता है, वह उनके वर्णनों में है। व्यतिरेक-वर्णन में उपमान चंद्र से उपमेय मुख में अधिकता वा वैशिष्ट्य दिखलाना मात्र है, एक का दूसरे पर आरोपण नाम मात्र को भी नहीं किया गया है। पर अधिकतद्रूप रूपक में मूलतः मुख पर चंद्र का आरोप है और उस आरोप के अनंतर-ही मुख-चंद्र को आकाशगामी सकलंक चंद्र से बड़कर कहा गया है, मुख्यतः यही इन दोनों अलंकारों में भेद है।”

उपमा-वाचक रूपक उदाहरन जथा—

नैम, प्रेम साहि,^१ मति-बिमति सचिव चाहि,

कुलकी जु^२ सीव हाब-भाव-पील-सरि जू।

पा०—१. (रा० पु० का०) सतराज, बिमति...। २. (का०) (वे०) सील...।
(प्र०) डुकूल...

पति औ सुपति नैन-गति ज्यों^१ तरल-तुरी^२,
 सुभासुभ मनोरथ^३ रहे हैं अति लरि जू ॥
 आठों गोठ धरम की, आठों भाव सात्विक^४ की,
 त्यों^५ प्यादे 'दास' दुहुँ घाँ प्रबल भिरे अरि जू ।
 लाज औ मनोज दोऊ चतुर खिलार उर-
 वाके, सतरंज कैसो बाजी धरो^६ भरि जू ॥

वि०—“दासजी का यह “उपमा-वाचक रूपक” का उदाहरण रीति-शास्त्र के “नायिका-भेद” के अनुसार “मध्या” नायिका का उदाहरण कहा जा सकता है, मध्या—

“नव जोबँन पूँनबती, लाज-मनोज समान ।
 ता सों ‘मध्या’ नायिका, बरत सुकवि-सुजान ॥”

— शृ० नि० (भि० दा०)

अतएव नायिका-भेद के ग्रंथों में मध्या के चार भेद विविध नामों से कहे गये हैं । केशव और चिंतामणि ने—आरूढ यौवना, प्रगल्भवचना, प्रादुर्भूत मनोभवा और सुरति-विचित्रा, इन्हीं को ‘देव कवि’ ने वयक्रमानुसार रूढ़यौवना (१७ वर्ष), प्रादुर्भूतमनोभवा (१८ वर्ष), प्रगल्भ-वचना (१९ वर्ष) और विचित्र-सुरता (२० वर्ष) नाम से माने हैं । ये भेद केशव-चिंतामणि-प्रयुक्त (कहे गये) भेदों को वयक्रमानुसार बनाकर आगे-पीछे करना मात्र है । रसलीन ने भी मध्या के—उन्नतयौवना, उन्नतकामा, प्रगल्भवचना और सुरति-विचित्रा-रूप चार भेदों को ही प्राथमिकता देते हुए ‘लघुलज्जा’ नाम का पाँचवाँ भेद और कहा है । आप “केशव-चिंतामणि-एण्ड को०” से प्रथक् नहीं गये, किंतु मध्या के केशव-चिंतामणि-प्रयुक्त आरूढ-यौवना रूप प्रथम भेद को ‘उन्नत यौवना’ और तीसरे भेद ‘प्रादुर्भूतमनोभवा’ को “उन्नतकामा” देकर अन्य द्वितीय-चतुर्थ भेदों को यथानाम-रूप-ही रहने दिया है । मतिराम और पद्माकर ने उपर्युक्त भेद नहीं माने हैं । मान-प्रादुर्भूत मध्या के ‘धीरादि’ तीनों भेद नंददास (अष्टछाप) कृत ‘रस-मंजरी’ के अनुसार अवश्य माने हैं और इनके सुंदर उदाहरण भी दिये हैं ।

साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में विश्वनाथ चक्रवर्ती ने ‘मध्या नायिका’ के विचित्र-सुरता^१, प्ररूढस्मरा^२, प्ररूढ़ यौवना,^३ ईषत्प्रगल्भवचना^४ और मध्यम-

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) औ...। २. (वे०) तुरै...। ३. (का०) (वे) (प्र०) मनोरथरथ रहे लरि जू । (सं० प्र० प्र०)...रहे हैं लरि । ४. (का०) (वे०) सात्विकी...। ५. (वे०) (सं० प्र० प्र०) ज्यों...। ६. (सं० प्र० प्र०) (वे०) रखी...। (का०) (प्र०) रखी...।

ब्रीडता^५ नाम से पाँच भेद कहे हैं, किंतु उदाहरण—‘विचित्रसुरता’ और ‘प्ररूढस्मरा’ के-ही दिये हैं। दासजी ने अपने नायिका भेद के ग्रंथ शृंगार-निर्णय में—साधारण मध्या, स्वकीया मध्या और परकीया मध्या भेद भी मान इनके सुंदर उदाहरण दिये हैं। यही नहीं, ब्रज-रीति-ग्रंथों में मध्या के अवस्था-भेदानुसार—प्रोपिपतिका, आगत्यतिका, आगच्छत्यतिका, आगमप्यतिका, खडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीन पतिका, अभिसारिका, प्रवत्स्यतिका भेद कहकर सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। दासजी ने ये भेद नहीं माने हैं, पर अन्य साहित्यकारों ने मध्या का सुरवैटना, मान, सुरतारंभ, रति, विपरीति और सुरतांत का भी वर्णन बहुत सुंदर रूप से किया है। वात्स्यायन ने कामसूत्र की द्वितीय-मंजरी में नायिका के अवस्थानुसार तीन विकल्पमान मध्या को ‘तरुणी’ संज्ञा दी है। यथा—

“यावच्छोडशसंख्यमन्दमुदिता बालाततस्त्रिशतम्,
यावत्स्यात्तरुणीति बाण विशिख प्रख्यं तु यावद्भवेत् ।
सा प्रौढेत्यभिधीयते कविवरैर्वृद्धातदूर्ध्वं स्मृता,
निद्या कामकजाकलापविधिपुत्याज्या सदा कामिभिः ॥”

—का० सू० ३, २

वास्तव में ‘उपमा-वाचक रूपक’ के रत्न-जटित डब्बे में प्रस्तुत दासजी का यह रमणीय-रत्न रूप उदाहरण बहुत सुंदर है। भारतीय प्रसिद्ध खेल ‘शतरंज’ का—‘काले-सफेद’ या लाल-हरे रंगों से रंजित मुहरों का लज्जा और मनोज के रूप में सुंदर ही नहीं—‘सुंदर’ किन्तु सुंदरम्’ है। ‘मध्या के ब्रज-साहित्य में एक से एक बढ़कर मनोरम उदाहरण हैं, जिन्हें श्री नंददामजी की इस मनोहर सूक्ति के सहारे—

‘भरे भवन के चोर भए, बदलत-ही हारे।’

हार जाते हैं—यह अच्छा, कि यह अच्छा, कह-समझ कर ही थके जाते हैं, फिर भी दो उदाहरण देने का लोभ संवरण नहीं कर सके, वे उदाहरण निम्न हैं—

“मेरी कुल-पूज सदाँ राँनी-ठकुराँनी तुही,
तोहि नित आँखिन औ हिय में भरति-हों ।
तेरे-ही सँजोग हित दृच्छिन रसीले अग,
माँनि-माँनि आँखिन की सीख निदरति हों ॥
आँनि बन्यों जोग अब मेरे बड़े भोगँ ते,
या-ही ते अधीनता लै दीनता करति हों ।

हेरँन दै नैक प्राँन - प्रीतँम - मुखारबिंद,
हा-हा लाज आज तेरे पाँइन परति हों ॥”

*

‘बिधि कौन-हूँ बासर कों बितबै, मँन नाह की चाह लगी है नई ।
कवि ‘भानु’ सजाइ सँमँटति सेज, सजाबति फेरि सुगंध मई ॥
कभू दीप-कपूर जराबै बुझाइ कें, फेरि जराबति रंग-रई ।
परी लाज-मनोज के मोह तिया, जुग चुंबक-बीच की लोह भई ॥”

*

“इस अंदाजे-हया से और चोरी खुल गया, दिल की ।
कहा था उन से किसने ? भेंपकर तिछीं नज़र कर लो ॥”

अथ उत्प्रेच्छा-वाचक रूपक जथा—

धूसरित धूरि मानों लिपटी^१ बिभूति भूरि,
मौंती माल माँनों लगाए^२ गंग गल^३ सों ।
नील-गुँन गूँथे^४ मनिवारे आभरँन कारे,
डोरू कर^५ धारे जोरि द्वैक उतपल सों ॥
बंक-बघ-नखुनों^६ बिराजै उर^७ ‘दास’ मनो,
बाल-बिधु राख्यौ जोर दैकें^८ भाल-थल सों ।
ताकें कँमला के पति गोह जसुधा के फिरे,
छाके गिरिजा के ईस माँनों हलाहल सों ॥

अस्य तिलक

इहाँ ‘माँनों’ उत्प्रेच्छा-वाचक ते रूपक प्रत्यच्छ है ।

वि०—“वैकटेश्वर प्रेस बबई से प्रकाशित प्रति’ में—दूसरी लायन (पंक्ति)
तीसरी के स्थान पर और तीसरी दूसरी के स्थान पर है ।”

अथ अपन्हुति वाचक रूपक जथा—

धाबें धुरवारो, नँदवारी, असवारी किये^१
कारी-कारो घटा ना मतंग मद-धारी हैं^२ ।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) लपटी .. । २. (वें०) (प्र०) जल... ।
३. (का०) (वें०) गूदे... । ४. (का०) (वें०) उर... । ५. (का०) (सं० पु०
प्र०) (वें०) विमल बघनहाँ... । (प्र०) बंक बघ नहियाँ... । ६. (सं० पु० प्र०)
रसमाल मानों... । ७. (सं० पु० प्र०) (वें०) द्वैकें... । ८. (का०) (वें०) (प्र०),
(सं० पु० प्र०) की है । ९. (सं० पु० प्र०) (का०) (प्र०) है ।

न्यारी-न्यारी दिसि च्यारी^१ चपला-चँमतकारी,
 बरनेँ अनारी^२ ए कटारी-तरबारी हैं^३ ॥
 केकी-किलकारी 'दास' बूँदँन सरारी पौन-
 दुंदभि^४ धुँकारी तोप^५ गरज डरारी हैं^६ ।
 बिन^७ गिरिधारी, भर भारी मिस मेंन ब्रज-
 नारी-प्राँनहारी देव-दलँन उतारी हैं^८ ॥

अस्य तिलक

इहा हूँ...ना, मतः मद-धारी है ते अपन्हुति व्यंगि है ।

अथ रूपक-रूपक जथा—

गिल गए सेदँन,^१ जहाँ-ई-तहाँ छिल गए,
 मिल गए, चंदँन भिरे हैं इहि भाइ सों ।
 गाढ़े ह्वै रहे हैं^२ सहे सनमुख तुकान-लोक,
 लोहित-लिलार लागी छींट अरि घाइ सों ॥
 श्रीमुख-प्रकास तँन 'दास' रीति साधुँन की,
 अज-हूँ लो लोचँन तँमीले रिसि-ताइ सों ।
 सोहै सब^३ अंग सुख-पुलक सुहाए हरि,^४
 आए जीति सँसर सँसर महाराइ सों ॥

वि० —“दासजी ने इस 'रूपक-रूपक' के उदाहरण को प्रथम छठवे उल्लास में 'स्वत संभवी अलंकार ते वस्तु व्यंगि' के उदाहरण में भी दिया है, और वहाँ तिलक रूप में कहा है कि 'इहाँ नाइका रूपक-उत्प्रेक्षा अलंकार करिके नाइक कौ अपराध जाहर करति है, यै (अलंकार) ते वस्तु व्यंगि है ।' खंडिता नायिका की उक्ति ।’

खंडिता नायिका के प्रति पाँछे बहुत कुछ उसके भेदादि के साथ लिखा जा चुका है । यहाँ उक्त नायिका का उदाहरण-स्वरूप 'अष्टछाप' के प्रमुख कवि 'और कवि गढ़िया, 'नददास' जड़ियां की रचना उद्धृत करते हैं, यथा—

पा०—१. (का०) (वै०) (प्र०) चारी । २. (वै०) अन्यारी । ३. (स० पु० प्र०) (का०) (प्र०) है । ४. (वै०) (प्र०) (का०) दुंदुभी । ५. (प्र०) तेवै । ६. (स० पु० प्र०) (का०) (प्र०) है । ७. (का०) (वै०) (प्र०) बिना । ८. (स० पु० प्र०) (का०) (प्र०) है । ९. (का०) (वै०) (प्र०) स्वेदन । १०. (स० पु० प्र०) (वै०) ही । ११. (वै०) (स० पु० प्र०) सर्वांग, सुख । १२. (वै०) हरी ।

“जागे हौ रैन तुँम सब, नेंनाँ अरहैन हँमारे ।
 तुँम्ह कियौ मधु-पाँन, घूँमत हँमारौ मैं, काहे तें नंद-दुलारे ॥
 उर नख-चिन्ह तिहारें, पीर हँमारें, कारैन कौन पियारे ।
 ‘नंददास’-प्रभु न्याइ स्याँम घँन, बरखे अँनत जाइ हम पै भूँमभुँमारे ॥”

पुनः उदाहरन जथा—

केलि-थल कुँड-साजि, सँमधा^१-सुँमन-सेज,
 बिरह की ज्वाल बाल बरै प्रति रोम है ।
 उपचार आहुति कै बैठौ सखी आस^२-पास,
 स्र बा पल-नेन^३ नेंह-अँसुवा अधौम है ॥
 बलि-पसु मोद भयौ, बिलपेन - मंत्र ठयौ,^४
 अबधि को आस गँनि लयौ दिँन नौम है ।
 ‘दास’ चलि बेगि किन कीजिए सफल-कौम,
 रावरे - सदैँन स्याँम, मदँन कौ हौम है ॥

वि० — “यह बिरह-निवेदन रूप रूपक में रूपक का उदाहरण अति उत्तम है, इस पर कुछ लिखना—टीका-टिप्पणी करना इसके रूप (सौंदर्य) को धुँधला करना है । फिर भी एक लोभ संवरण नहीं कर सके हैं, और मथुरा-निवासी कविवर “नवनीत” जो का एक छंद इसके साथ दे रहे हैं । पाठक देखें दोनों रत्नों में कौन अधिक उज्ज्वल है । अस्तु—

“सरस सुधारि करि बेदी प्रेम-वेदनाँ की,
 मदँन प्रधौन पूँजा-पाठ-ध्यान धरि है ।
 ‘नवनीत’ मडप सुहायौ अपवाद-ही कौ,
 रोदँन - रिचाँन के प्रयोगँन उचरि है ॥
 पूरित बियोग - आँच हृदै-कँमल के कुड,
 एक तंत्र गोपिन के जूथ अनुँसरि हैं ।
 सकल सँजोग-सुचि नैन के सुबाँन-भरि,
 घृत-अँसुवाँन बैठि प्राँन हौम करि हैं ॥

*

“घृत-अँसुवा, नेंना-स्रुबा, रोदँन-रिचा बिभाग ।
 तँन आहुति बिरहागि में, करें कौमिनी जाग ॥”

पा०—१. (वे०) (प्र०) समिध...। २. (का०) आँन...। ३. (वे०) हुने...।
 ४. (प्र०) ठये...।

समस्त-विषयक परिनाम रूपक जथा—

अनी नेह नरेस की माधौ बँने, बँनी राधे^१ मनोज की फौज खरी ।
भटभेरौ भयौ जमुनाँ-तट 'दास' जू साध^२ दुहूँ की साँन^३-धरी ॥
उर जात चँडोलैन गोल-कपोलैन, जौ लों मिलाप-सलाह करो ।
तब लों-हीं^४ हरौल-भटाच्छैन सों, री कटाच्छैन की तरबार परी ॥

अथ उल्लेखालंकार लच्छन जथा—

एकै में बहु बोध कै, बहु गुँन सो^५ 'उल्लेख' ।

परंपरित - मालाँन सों, लीनों भिन्न बिसेख ॥

वि०—“संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने” अभेद-प्रधान आरोपमूलक अलंकार “उल्लेख” (उल्लेख) के लक्षण के प्रति कहा है कि “जहाँ एक वस्तु वा व्यक्ति को निमित्त-भेद से—ज्ञाताओं अथवा विषय-भेद के कारण अनेक प्रकार से “उल्लेख” (वर्णन) किये जाने पर होता है। क्योंकि उल्लेख का अर्थ है—“लिखना, उत्कृष्ट रूप से वर्णन करना।” इन्होंने उल्लेख को “प्रथम” (अनेक व्यक्ति एक-ही वस्तु वा व्यक्ति को अपने-अपने अनुभव और रुचि के साथ कितने ही रूपों में देख उसका अनेक प्रकार से वर्णन करे) और “द्वितीय”—(एक-ही वर्ण्य-वस्तु का एक-ही व्याख्याता कई प्रकार से उसके गुणों के अनुसार वर्णन करे) दो रूपों में—भेदों में भी माना है। यही नहीं, आप महानुभावों ने इसके “शुद्ध” (जिसमें किसी अन्य अलंकार का मिश्रण न हो) और “संकीर्ण” (अन्य अलंकारों से मिश्रित) दो भेद और माने हैं तथा आतिमान-मिश्रित, रूपक-मिश्रित, रूपक के स्वरूप, फल और हेतु मिश्रित एवं इसकी ध्वनि के भी सुंदर उदाहरण दिये हैं। दासजी ने इन प्रथम और द्वितीय रूप दोनों-ही उल्लेखालंकारों का लक्षण इस छोटे-से दोहे में किया है।

उल्लेख का विषय दासजी के मतानुसार “परंपरित माला-रूपक” अथवा “निरवयव-माला रूपक और आतिमान से कुछ-कुछ मिल-सा जाता है, पर उसकी विशेषता—भिन्नता दिखलाते हुए साहित्यकारों का कहना है कि “निरवयव-माला रूपक में ग्रहण करने वाले व्यक्ति अनेक नहीं हुआ करते, उल्लेख में हुआ करते हैं। इसी प्रकार एक वस्तु में दूसरी वस्तु के आरोप होने पर ‘रूपक’ होता है, उल्लेख नहीं, किंतु एक वस्तु का उसके वास्तविक धर्मों-द्वारा अनेक प्रकार से

पा०—१. (का०) राधौ...। २. (वे०) (प्र०) सान...। ३. (वे०) जु साँन .।
(सं० पु० प्र०) ज्यों साँन...। ४. (का०) तौलों वीर हरौल...। (वे०) तौलों हरौल...।
(सं० पु० प्र०) तौलों वाके भटाच्छन...। ५. (का०) (वे०) सों...।

ग्रहण अवश्य किया जाता है। भ्रांति में भ्रम होता है, शुद्ध वा प्रथम उल्लेख में नहीं, किंतु यहाँ सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो इसमें भ्रम का समावेश अस्पष्ट रूप से-ही सही, पर रहता अवश्य है। जैसा कि दासजी के नीचे लिखे 'प्रथम' उदाहरण में। यहाँ नायिका एक ही है, पर उसे देखनेवाले अपने-अपने अनुसार भ्रम-वश कई रूपों में देखते हैं। श्रीमद्भागवत के दशम-स्कंध में भगवान श्री कृष्ण के मथुरा आने पर लोगों ने उन्हें क्या-क्या समझा, यह उल्लेख से अलंकृत अत्युत्तम उक्ति है, यथा—

“मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्,

गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।

मृत्युर्भोजपतेर्विराड्विदुषां तत्त्वं परं योगिनाम्,

वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः साग्रजः ॥”

—दशम पूर्वा० ४३, १७



“मल्ल ब्रज जानें, औ नर जानें नर-वर,

नारि जानें यही काँम-मूरति रसाल है ।

गोप जानें सुजैन, सु जादव कुल-देव जानें,

असैन नृपति जानें साँसता कराल है ॥

पंडित विराट जानें, जोगी पर-तत्त्व जानें,

रग-भूमि राँम-कृष्ण गणें ऐसौ हाल है ।

नद जानें बालक, ‘गुब्बिद’ प्रतिपाल जानें,

साल सत्रु-बस जानें, कंस जानों काल है ॥”

अस्य उदाहरण एक में बौद्धतन कौ बोध जथा—

पीतम प्रीति-मई अनुमानें,^१ परोसिन जानें सु^२ नीतिन सों ठई ।

लाज-सँनी^३ बड़ी निभनी, बर नारिनि में सिरताज गँनी गई ॥

राधिका कों ब्रज की जुबती कहैं याहि^४ सुहाग-सँमूह दई दई ।

सौति^५ हलाहल-सी^६ तो कहैं, सखी^७ कहैं सुंदरि-सील-सुधा-मई ॥*

पा०—१. (का०) (वै०) (शृ० नि०) उन्मानें... । २. (शृ० नि०) सुनी तिहि सों... । ३. (का०) (वै०) (प्र०) सनी है... । ४. (वै०) वाही... । ५. (का०) सौती... । ६. (का०) (वै०) (प्र०) मौ ती... । ७. (का०) (वै०) (प्र०) औ-सखी कहैं... ।

* शृ० नि० (भि० दा०) पृ०-८८ ।

वि०—दासजी ने प्रथम उल्लेखालंकार के इस उदाहरण को अपने ‘शृंगार-निर्णय’ में भी ‘स्वकीया के माधुर्य-वर्णन’ में दिया है। आपसे पूर्व ‘मतिराम’ जी ने भी अपने ‘रम-राज’ में स्वकीया के वर्णन में कहा है—

“जाँनति सौति अनीति है, जाँनति सखी सु नीति ।

गुरुजन जानत लाज है, पीतम जानत प्रीति ॥”

यों तो स्वकीया-नायिका के वर्णन का उदाहरण कवि ‘मंचित’ का भी हृदय-हारी है, जैसे—

“तुँम नाँव लिखावती हौ हँम पै, हँम नाँव कहा कहि लीजिए जू ।

अब नःव चलै सिगरे जल में, थल में न चलै कहा कीजिए जू ॥

कवि ‘मंचित’ औसर जौ अकतीं, सकती नहिं, हाँ पर जीजिए जू ।

हँम तौ अपनों ‘बर’ पूजती हैं, सपने-हूँ न ‘पीपर’ पूजिए जू ॥”

छंद यह भी सुंदर है, साहित्य में बेजोड़ है, पर ‘दासजी’ के ‘पीतम-प्रीतिमई अनुमाँ०’...के बराबर नहीं, फिर भी—

“अपनी तो आशकी का किस्सा ये सुखतसिर है ।

हम जा मिले खुदा से, दिलबर बदल-बदल कर ॥”

पुनः उदाहरन ‘एक में बहु गुँन जथा—

साधुँन कों सुख-दाँनि है, दुरजन-गँन दुख-दाँनि^१ ।

बैरिन^२ बिक्रम-हाँनि^३ प्रद, राँम तिहारौ पानि^४ ॥

वि०—“जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है कि : : : : : , रूपक मिश्रित और रूपक में भी ‘फल’ तथा ‘हेतु’ मिश्रित के अनंतर इसकी ‘ध्वनि’ भी होती है। उपमा-मिश्रित उल्लेख भी मिलता है, जैसे—

“अवनी की भाल-सी, सुबाल-सी दिनेस जाँनी,

लाल-मी हैं काँह करी बाल सुख-थाल-सी ।

नरकँन कों हाल-सी, बिहाल-सी करैया भई,

धरमँन कों उद्धत सुदाल-सी विसाल-सी ॥

‘ग्वाल’ कवि भक्तँन कों सुर-तरु-जाल-सी है,

सुंदर रसाल-सी, कुकर्मन कों भाल-सी ।

दूतँन कों साल-सी, जु चित्त कों हुसाल-सी है,

जँम कों जँजाल-सी, कराल काल-ब्याल-सी ॥”

पा०—१. (वै०) दाम । २. (प्र०) विप्रन... । ३. (प्र०) दाँन... । ४. (वै०) नाम... ।

पर ऐसे उदाहरण 'द्वितीय उल्लेख रूप 'संकीर्ण'—अन्य अलंकारों से मिश्रित के ही भेद हैं। रूपक और उपमा-मिश्रित उल्लेख का उदाहरण नीचे लिखा भी अति सुंदर है, यथा —

“बदैन-मयंक पै चकोर है रहत नित,
 पंकज-नयन देखि भोर-लों भयौ फिरै ।
 अधर-सुधा-रस के चखिबे कों सुमन सु-
 पतरी है नैन के तारन फयौ फिरै ॥
 अग-अंग गहन अनंग सुभटन होत,
 बाँनी-गाँन सुनि ठगे मृग-लों ठयौ फिरै ।
 तेरे रूप-भूप आगें पिय कौ अनूप, मन,
 धरि बहु-रूप बहुरुपिया भयौ फिरै ॥

किंतु, आचार्य दंडी ने 'बदैन-मयंक' रूप ऐसे उदाहरणों में 'हेतुरूपक-अलंकार को ही माना है, संकीर्ण अथवा अन्य अलंकार-मिश्रित उल्लेख नहीं।'।

“इति श्री सकलकलाधर कलाधरबलावतंस श्रीमन्महाराजकुमार
 श्री बाबू हिंदूपति-विरचिते काव्य-निरनए' वितरेक-
 रूपक अलंकार बरननो नाम दसमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथ ग्यारहवाँ उल्लासः

अथ अतिसयोक्ति-आदि अलंकार वरनन जथा—

‘अतिसयोक्ति’ बहु भाँति की, औ’ ‘उदात्त’ तहँ लाइ ।
‘अधिक’, ‘अल्प’ ‘सविसेसनों’, पाँच’ भेद ठैहराइ ॥

अतिसयोक्ति-भेद कथन जथा—

जहँ अत्यंत सराहिऐ, सो^३ अतिसोक्ति’ कहंत ।

‘भेदक’ ‘संबंधौ’ ‘चपल’, ‘अक्रमाति’^४ अत्यंत ॥

वि०—“दासजी ने इस (दशवें) उल्लास में—अतिशयोक्ति’ और उस (अतिशयोक्ति) के ‘विविध भेद’—भेदकातिशयोक्ति, संबंधातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, अतिक्रमातिशयोक्ति-आदि, भेदाभेदों के साथ वर्णन करते हुए ‘उदात्त’, ‘अधिक’, ‘अल्प’ और ‘विशेष’—अलंकारों का कथन किया है । संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने अतिशयोक्ति’ को अभेद प्रधान अध्यवसायमूलक-अलंकार माना है और ‘उदात्त’ को वर्णन वैचित्र्य-प्रधान तथा ‘अधिक’, ‘अल्प’ और विशेष’ को—विराधमूलक अलंकार ।

अतिशयोक्ति के स्वरूप तथा भेद-निर्माण में प्रथम सर्वोत्कृष्ट स्थान ‘उदभट्’ का है, क्योंकि भामह और दंडो-द्वारा अतिशयोक्ति लक्षण का वह निखरा हुआ स्वस्थ स्वरूप नहीं मिलता जो उदभट् ने प्रस्तुत किया है । आचार्य मम्मट ने अतिशयोक्ति का उदभट्-जन्य स्वरूप ही अपनाया है, पर अपनी धारणा—“निर्गीयाध्यवसानंतु प्रकृतस्य परेणयत्”—रूप अपने रंग में रँगकर... । बाद के अलंकाराचार्यों ने इसे ही हृदय से अपनाया और अतिशयोक्ति को रूप-रेखा अब यही मानी जाने लगी, जो पं० राज जगन्नाथजी कृत रसगंगाधर के अतिशयोक्ति-लक्षण से स्पष्ट है, यथा—

“विषयणाविषयस्य निगरणमतिशयः तस्योक्तिः—अतिशयोक्तिः ।”

इसी प्रकार ‘भामह’-द्वारा निर्मित ‘उदात्त’ अलंकार’ के स्वरूप में भी महा-पुरुषों की वही महत्ता प्रतिपादित होती है, जिसे उनके समकालीन अज्ञात-नामा

पा०—१. (का०) (वे०), उदात्तौ तहँ ल्याइ । (प्र०), अरु उदात्त... । २. (का०), (वे०) (प्र०) पच... । ३. (का०) (वे०) (प्र०) अतिसयोक्ति सुकहंत । ४. (का०) अक्रमाति ... ।

अलंकाराचार्य विभूति-पूर्ण समझते थे। दंडी ने इन दोनों मान्यताओं को उदात्त-निरूपण रूप में शीर्ष स्थान दिया और बाद में भी यही द्विधा प्रतिपादित होती रही। मम्मट ने इसे स्वीकार नहीं किया, अपितु उद्भट की उदात्त-परिभाषा का अनुगमन किया, क्योंकि उदात्त में जो वस्तु-वर्णन उन्हें अभिप्रेत था वह आरोपित वस्तु-वर्णन है। इसलिये स्वभावोक्ति से—जिसमें यथा-वद् वस्तु का वर्णन हुआ करता है, उससे प्रत्यक् है तथा 'भाविक' से भी जिसमें यथावद् वस्तु वर्णन कवि-हृदय के संवाद से प्रकाशित हुआ करती है—भिन्न है।

अतिशयोक्ति-लक्षण के प्रति दासजी ने संस्कृत के अन्य अलंकाराचार्यों के साथ मोटे रूप में—“अत्यंत सराहनेवाली” उक्ति को कहा है। संस्कृताचार्यों ने इस स्थूल-लक्षण के साथ ‘लोक-मर्यादा को उल्लंघन करनेवाली उक्ति’ और जोड़ दिया है, क्योंकि अतिशय का शब्दार्थ—“अतिक्रांत” (उल्लंघन) है। कोई-कोई अतिशयोक्ति का अर्थ—‘लोकोत्तर’ उक्ति भी मानते हैं। ऐसा वर्णन, जो संसार की सामान्य बातों का उल्लंघन कर गया हो, ‘लोकोत्तर’ कहा जाता है। अतिक्रांत का भी यही ध्येय वा कथन है। अतएव जहाँ प्रस्तुत की अत्यंत प्रशंसा के लिये लोक-सीमा का उल्लंघन कर कोई ‘उक्ति’ कही जाय, अर्थात् जहाँ विषय (अप्रस्तुत, या उपमान) विषयी (प्रस्तुत, वा उपमेय) को निश्चित रूप से अपने में लीन कर एकदम अभेद-प्रतीति होने लगे—उसका अभ्यवसाय हो जाय, तो वहाँ ‘अतिशयोक्ति’ कही जाती है और इसके मुख्य भेद हैं—“रूपकातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, संवधातिशयोक्ति, असंवधातिशयोक्ति तथा कारणातिशयोक्ति।” दासजी ने इन नाम और क्रम में उलटफेर कर ‘अतिशयोक्ति’ के प्रथम—“भेदकातिशयोक्ति, संवधातिशयोक्ति,” संवधातिशयोक्ति के दो—“योग्य से अयोग्य की तथा अयोग्य से योग्य की कल्पना”, भेद कहते हुए “चपलातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति” और “अत्यंतातिशयोक्ति”—आदि कह कर, तदनंतर—“संभवनातिशयोक्ति, उपमातिशयोक्ति, सापन्हवातिशयोक्ति, रूपकातिशयोक्ति” तथा “उत्प्रेक्षातिशयोक्ति आदि वारह भेद कहे हैं। संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने—जैसा पूर्व में उल्लेख हो चुका है। अतिशयोक्ति के प्रथम—“रूपकाति०, भेदकाति०, संवधाति०” और “कारणाति०” रूप पाँच भेद मान कर फिर “रूपकातिशयोक्ति” के भेद “शुद्ध” तथा “सापन्हव”, संवधातिशयोक्ति के भेद “संभव्यमाना” व “निर्णयमाना”, एवं कारणातिशयोक्ति के भेद “अक्रमाति०, चपलाति० तथा अत्यंतातिशयोक्ति भेद भी कहे हैं। ब्रजभाषा के आदि-रीति-ग्रंथकार ‘चिंतामणि’ ने-अपने “कवि-कुल-कल्पतरु” में इस (अतिशयोक्ति) के चार प्रकार ही माने हैं, यथा—

“अतिसयोक्ति” है चारि बिधि, मंमट-कथन-प्रकार ।

वरनत ‘चित्तमनि’ सुकवि, निज मति के अनुसार ॥”

पर “भाषा-भूषण” में जसवंत सिंह जी ने—“रूपकाति०, सापन्हवाति०, भेदकाति०, संबंधाति०, अन्वयान्वाति०, जिसे “जोग से अजोग” रूप में वर्णन किया गया है, के अनंतर अक्रमाति०, चपलाति०” और “अत्यंताति० रूप आठ प्रकार—भेदकाति०, सापन्हवाति०, भेदकाति०, संबंधाति०, संबंधाति० (द्वितीय), अक्रमाति०, चपलाति० और अत्यंताति०” मानी है। दूलह कवि (कविकुल-कंठाभरण) भी आपके अनुगामी हैं और अंतिम रीति कालिक कवि पद्माकर भी इसी पथ के पथिक हैं।

अतिशयोक्ति का विषय अति व्यापक है। शब्दार्थ की जो भी विशेषताएँ हैं, वे सब इसके आश्रित मानी गयी हैं। इसलिये अतिशयोक्ति के विभिन्न चमत्कारों की विशेषताओं के कारण इस अलंकार के विभिन्न नाम निर्दश किये गये हैं, किंतु जहाँ किसी चमत्कार-युक्त युक्ति में किसी विशेष अलंकार का नाम नहीं दिया गया है, तो वहाँ अतिशयोक्ति कही जा सकती है। इसलिये-ही आचार्य दंडी (संस्कृत) ने—“संदेह, निश्चय, मीलित और अधिक”-आदि अनेक अलंकार प्रथक्-प्रथक् निर्धारित न कर अतिशयोक्ति के अंतर्गत-ही लिखे हैं। अतिशयोक्ति के उपसंहार में दंडी कहते हैं—

“अलंकारांतराणामप्येकमाहुः परायणम् ।

वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयम् ॥”

—काव्यादर्श (स०) २।२२०

अर्थात् “अतिशयोक्ति” अधिकाधिक अलंकारों की आश्रयभूत होने के कारण ‘वाचस्पति’-द्वारा पूजित है।”

अथ प्रथम भेदकातिसयोक्ति लक्षण वरनन तथा—

‘भेदकातिसै’ उक्ति जहँ सुभा-मई सब बात ।

जग ते यै कह्य और-हीं सकल ठौर कहि जात ॥

वि०—“दासजी ने भेदकातिशयोक्ति के लक्षण में—“जगत से भिन्न कुछ और ही कहने” को कहा है। यह लक्षण अव्यापक है, अस्तु “उपमेय के अन्यत्त्व वर्णन में जहाँ अमेद रहते हुए भी भेद प्रकट किया जाय—जिनमें

पा०—१. (स० प्र० प्र०) (का०) सुबह मही सब...। (वै०) सुन हम-ही सब...। (प्र०) मग में है सब...। (प्र-२) के तहँ जु मही ।

अभेदता है, उनमें अन्य सब का एक-ही में अध्वनाय कर (उसका) सब से भेद प्रकट किया जाय, वहाँ होती है। श्रीजयदेव का कहना है—

“भेदकातिशयोक्तिश्चेदेकस्यै वान्यतोच्यते ।”

—चंद्रालोक, २. ४२

जहाँ केवल कहने का ढंग बदल कर कहने के कारण कही हुई बात में जोर लाने की इच्छा से जो बात कही जाय”, वहाँ भेदकातिशयोक्ति होती है। भेदकातिशयोक्ति में “अभेद में भेद” और रूपकातिशयोक्ति में “भेद में अभेद” होता है ।”

भेदकातिसयोक्ति उदाहरन जथा—

भाबी, भूत, वर्तमान माँनबी न होइ^१ ऐसी,
 दैवी-दाँनबीन-हूँ सो न्यारौ^२ इक डौर-हीं ।
 या बिधि को बनिता जो बिधिनाँ बनायौ चहें^३,
 “दास” तौ सँभझिए प्रकासै निज बौर^४-हीं ॥
 कैसे^५ लिखै चित्र कों चितेरौ चकि जात लखि,
 द्वैक दिन बीतें दुति और-और दौर-हीं ।
 आज भोर और-हीं,^६ पैहर होत और-हीं^७ है,
 दुपहर और-हीं^८, रजनि होत और-हीं^९ ॥

वि०—दासजी का यह उदाहरण “अभेद में भेद”—रूप भेदकातिशयोक्ति का है जो “औरें” शब्द से प्रकट हो रहा है। भेदकातिशयोक्ति के उदाहरण पद्माकर और “द्विजदेव”—पूरा नाम “महाराज मानसिंह” अयोध्या के बहुत सुंदर कहे जा सकते हैं, यथा—

“औरें भाँति कुँजें में राग-रत भोर-भीरि,
 औरें भाँति भौरन में बौरन के व्रै गए ।
 कहै ‘पद्माकर’ सु औरें भाँति गलियाँन,
 छलिया-छबीले-छैल औरें छबि छवै गए ॥

पा०—१. (सं० प्र० प्र०) (का०) (वे०) है है...। २. (सं० प्र०- प्र०) न्यारें ये डौर...। (का०) (वे०) न्यारौ यह डौर है। ३. (वे०) चाहें...। ४. (का०) (वे०) बौर है। ५. (का०) (सं० प्र० प्र०) चित्रित करै धों क्यों चितेरौ यह चालि कालि, परों दिन-बीतें दुति औरे और दौर है। (वे०) चित्रित करै क्यों है चितेरौ यह चालि-कालि-परों दिन बीते दुति औरें और दौर है। ६. (का०) (वे०) (प्र०) और है। ७. ८, ९. (का०) (वे०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) और है ।

औरें भाँति बिहँग-सँमाज में अबाज होति,
 अबै रितुराज के न आज दिन-द्वै गए ।
 औरें रस, औरें रीति, औरें रंग, औरें राग,
 औरें तँन, औरें मँन, औरें बँन ह्वै गए ॥”

*

औरें भाँति कोकिल-चकोर ठौर-ठौर बोलें,
 औरें भाँति सबद पपीहँन के व्यै गए ।
 औरें भाँति पल्लव लए हैं वृंद-वृंद-तरु,
 औरें छबि - पुंज - कुंज - कुंजें उँन गए ॥
 औरें भाँति सीतल-सुगंध-मंद डोलै पॉन,
 “द्विजदेव” देखत न ऐसे पल द्वै गए ।
 “औरें रति, औरें रंग, औरें साज, औरें संग,
 औरें बँन, औरें छँन, औरें मँन ह्वै गए ॥”

ये दोनों उदाहरण वसंत-आगमन के हैं तथा “औरें” शब्दों के द्वारा वन-कुंजादि में भेद न होते हुए भी भेद कहा गया है । इन्हें हम भेदकातिशयोक्ति की ‘माला’ भी कह सकते हैं, क्योंकि दोनों छंदों में “औरें” शब्द-द्वारा वास्तविक-सामिग्री रूप उपमेयों की भिन्नता कही गयी है । ये दोनों-ही छंद उत्तम हैं, पर दास जी का उदाहरण—

“आज भोर और-हों, पैहर होति और-हीं, दुपहर और-हों, रजँनि होति और-हीं ॥”
 का जवाब नहीं है, दोनों ही इसके सम्मुख दुपहर के दीपक-से हैं । उदू के महा-कवि ‘अकबर’ ने ठीक-ही कहा है—

“लहज़ा-लहज़ा है तरक्की पर तेरा हुस्नोजमाल ।
 जिसको शक हो, तुझे देखे तेरी तस्वीर के साथ ॥”

पुनः यथा—

अन्नन्वयौ की व्यंग में,^१ भेदकातिसै - उक्ति ।
 उतै कियौ स्थापित निरखि, परबीनँन की जुक्ति ॥

वि०—“दासजी ने अन्नन्वय (एक-ही वस्तु को उपमानोपमेय-भाव से कहना) के व्यंग्य से भी ‘भेदकातिशयोक्ति’ मानी है, पर उदाहरण नहीं दिया है ।

द्वितीय संबंधातिसयोक्ति-लच्छन जथा—

संबंधातिसै-जुक्ति कों, 'द्वै-विधि' बरनत लोग ।

कहूँ जोग ते अजुग है, कहूँ अजोग ते जोग ॥

वि० — “दासजी ने ‘संबंधातिशयोक्ति’ को “योग्य में अयोग्य” “और अयोग्य में योग्य” रूप दो प्रकार की बतलाया है । अर्थात्, जहाँ योग्य (वस्तु वा पदार्थ) में अयोग्यता दिखलायी जाय वहाँ ‘संबंधातिशयोक्ति’ का पूर्व भेद और जहाँ अयोग्य (वस्तु वा पदार्थ) में योग्यता स्थापित की जाय वहाँ संबंधातिशयोक्ति का दूसरा भेद कहा जायगा ।

संस्कृत में—अयोग्य में योग्यता वर्णन को, संबंधातिशयोक्ति (जहाँ उपमेयोपमान में वास्तविक संबंध न होने पर भी संबंध बतलाया जाय) और दूसरे अयोग्य में योग्यता रूप वर्णन को “असंबंधातिशयोक्ति (जब किसी को योग्य होने पर भी अयोग्य बतलाया जाय, अथवा संबंधित प्रति वस्तुओं का प्रतिषेध किया जाय) कहा है, जो दासजी से भिन्न पड़ता है । भाषा-भूषण में भी संस्कृत-अनुसार प्रथम संबंधातिशयोक्ति के विषय में “अयोग्य में योग्यता और दूसरी संबंधातिशयोक्ति में—योग्य को अयोग्य कहना-ही लक्षण बतलाया है, यथा—

“संबंधातिसयोक्ति जहँ, देत अजोग-हि-जोग ।”

*

“अतिसयोक्ति दूजी वहै, जोग अजोग-बखान ॥”

अस्तु, असंबंध में संबंध-कल्पना किये जाने पर “संबंधातिशयोक्ति” कही जाती है और इसके संस्कृत में “संभाव्यमाना (यहाँ—‘यदि’, ब्रजभाषा में ‘जो’ आदि शब्दों के प्रयोग-द्वारा असंभव कल्पना की जाय) और “निर्णयमाना” (जहाँ निश्चित रूप से असंभव की कल्पना की जाय—निर्णयित रूप से असंभव वर्णन किया जाय) दो भेद किये हैं ।

प्रथम उदाहरन जोग ते अजोग की कल्पना को जथा—

छामोदरी, उरोज तुब,^२ होत जु^३ रोज उत्तंग ।

अरी, इन्हें या^४ अंग में, नहिँ सँमान कौ ढंग ॥

पा०—१. (प्र०), कहूँ अजोगै जोग । २. (वें०) तू...। ३. (वें०) उरोज उत्तंग । ४. (वें०) ये...।

पुनः उदाहरन जथा—

घाँघरे^१ भीन-सों, सारी महीन-सों,^२ पीन-नितंबन-भार उठै^३ खचि^४ ।
‘दास’ सुबास सिँगार-सिँगायन, बोभन-ऊपर-बोभ उठै मचि ॥
सेद^५ चलें मुख-चंद ते^६ चवै, डग द्वैक धरें महि^७ फूलन सों सचि ।
जात है पंकज-पात^८-बियार सों, वा सुकमारि कौ लंक लला लचि ॥*

अस्य तिलक

(प्रथम उदाहरन में) कुचन कौ अंग में माइबौ (समाइबौ = समानों)
जोग है, (पै) अमाइबौ (नहीं समानों) अजोग कह्यौ (अरु या सवैया में)
नायिका चलिबे जोग है, (पै) कह्यौ न चलि सकैगी, सो जोग-बोंत में अजोग
की कलपनाँ करी ।

वि०—“दासजी ने इस छंद में “घाँघरे” के साथ महीन—हलकी-फुलकी
पतली साड़ी का वर्णन किया है । ब्रज में अथवा अन्यत्र लँहगे (घाँघरे) के
साथ साड़ी नहीं पहनी जाती, अपितु “ओढ़ना” ओढ़ा जाता है । अस्तु,
दासजी ओढ़ने का सारी (साड़ी) जैसा दो अक्षर वाला पर्यायवाची शब्द न पाकर
भीन, महीन और पीन की बहिया में बह गये-से मालूम देते हैं ।

दासजी ने यह छंद - उदाहरण, अपने ‘शृंगार-निर्णय’ में कुछ पाठ-भेद
के साथ नायिका की सुकुमारता-वर्णन में भी दिया है—उद्धृत किया है । सुक-
मारता—नजाकत के वर्णन में अकबर साहिब—इलाहाबाद का एक शेर बहुत
अच्छा है, जैसे—

“नाज कहता है कि जेबर से हो तजईने—जमाल ।

नाजुकी कहती है, सुर्मा भी कहीं बार न हो ॥”

दासजी के उक्त उदाहरण के साथ यह निम्न-लिखित किसी कवि की उक्ति
भी पठनीय हैं—

“लहलही लहरें लुनाई की उदित अंग,

उचके कुचन कैसी कंचुकी यों गचिकी ।

मंद पग धरति मरु कै गयंद - गति,

चंद-मुखी चाँदनी चकित चाह सचिकी ॥

पा०—१. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) (प्र०) (शृ० नि०) घाँघरौ...। २.
(शृ० नि०) सी...। ३. (शृ० नि०) उठ्यौ । ४. (सं० पु० प्र०) हचि । ५. (का०)
(वें०) (प्र०) स्वेद...। ६. (शृ० नि०)...चदन चवै । ७. (प्र०) मग...। ८. (शृ०
नि०) बारि...।

* शृ० नि० (भि० दा०) पृ० ८६, २५३ । प्र० ना० मे० (मी०) पृ० २११, ११ ।

कैसें घनस्याँम वौ बाँम बँन - धाँम आबै,
 धाँम के लगे ते काँम-लता जाति पिचिकी ।
 अति सुकमारि लिसकति भार - हारन के,
 बारन के भार कैऊ बार लंक लचिकी ॥

कविवर लच्छीराम ने भी यही बात और भी सुंदर रीति से कही है, यथा -

“अंग - राग धरत मरोरति है भौहें,
 पग जाबक रचत संक हियरें अपार-सी !
 सीबी करै लाजँन - लपेटी बाइ-मंद-हू में,
 आँनन अमंद - आब ऊपर में भार-सी ॥

कबि ‘लछिराम’ स्याँम-सुंदर तिहारी सोंह,
 आबै सुकमारि कैसें कँमल के हार-सी ।
 बार - घँन - भारँन सों, उरज - पहारँन सों,
 लंक परजंक - हू पै लचकति तार - सी ॥”

पुनः उदाहरन अजोग ते जोग की कल्पना जथा—

कोकँन अति सब लोक ते, सुख-प्रद राँम-प्रताप ।
 बँन्यों रहत जिँन दंपतिँन, आठौँ पैहैर मिलाप ॥

पुनः उदाहरन जथा—

कंचँन - कलित नग लालँन बलित सोंध,^१
 द्वारिका ललित जा की दीपति अपार है ।
 ताकी बर^२ बल्लभी बिचित्र अति ऊँची
 जासों निपटै नजीक सुरपति कौ अगार है ॥

‘दास’ जब-जब जाइ सजनीं सयाँनीं संग,
 रुकमिनि राँनी तहँ करति बिहार है ।
 तब - तब सची, सुर- सुंदरीन संग^३ लहि,
 कल्पतरु - फूल लै - लै देति उपहार है ॥*

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) सौध । २. (स० पु० प्र०) (वे०) ताके
 पर...। ३. (स० पु० प्र०) (का०) करु लै, कल्पतरु-फूल लै मिलत उपहार...। (वे०)...
 सुंदरी निकर लै कल्पतरु फूल लै मिलत...। (प्र०)—सुंदरीन संग में कल्पतरु फूल...।
 (२० कु०)...सुंदरी निकर लै कल्पतरु फूलहि मिलत उपहार है ।

* २० कु० (अ०) पृ० १८८, ५०८ ।

वि०—“दासजी का यह उदाहरण प्रथम “संबंधातिशयोक्ति (जहाँ असंबंध वस्तुओं में संबंध दिखलाते हुए अतिशयोक्ति की जाय) का है । द्वारिका के कलशों (भवनों के कलसों) का स्वर्ग-लोक के अमरों के आगारों से कोई ! संबंध नहीं है, यह इस लोक की विभूति है और वह स्वर्ग-लोक की, फिर भी संबंध दिखलाकर उनको ऊँचाई की अतिशयोक्ति की गयी है... इत्यादि...।

एक बात और, वह यह कि इस संबंधातिशयोक्ति के दोनों भेदों के प्रति बा० ब्रजरत्न दास (अलंकार-रत्न) का कथन है कि “कुछ लोगों ने योग्य को अयोग्य तथा अयोग्य को योग्य कह कर संबंधातिशयोक्ति के भेद माने हैं, पर वे ठीक नहीं ज्ञात होते...” कारण कुछ नहीं लिखा है, किंतु ब्रजभाषा में संबंधातिशयोक्ति के विषय (लक्षण) के प्रति प्रायः सभी अलंकार-ग्रंथ-रचयिताओं ने इसी ‘योग्यायोग्य’ को कसोटी ठहराया है । श्री यशवंत सिंहजी के ‘भाषा-भूषण’ का आदेश संबंधातिशयोक्ति-व्युत्पत्ति के साथ दिया जा चुका है । अन्य, यथा—

“जहँ अजोग है जोग में, जहँ अजोग में जोग ।

संबंधातिसयोक्ति यै, भाँखत सब कवि लोग ॥”

— लज्जित लला० (मतिराम)

“संबंधातिसयोक्ति बरनें अजोगै-जोग—जोग में अजोग भेद दूसरौ बिसेख्यो है ॥”

—क० क० भ० (दूल्हा)

संबंधातिसयोक्ति सु जाँनों, जहँ अजोग में जोग बखानों ।

दूजी ताहि कहति कवि लोगू, जहाँ जोग में भनत अजोगू ॥

—पद्मा० (पद्माकर)

इस सूची में आधुनिक अलंकार-ग्रंथ रचयिता भी जैसे—पं० जगन्नाथ प्रसाद ‘भानु’ (काव्य-प्रभाकर), कन्हैयालाल पोद्दार (काव्यकल्पद्रुम-अलंकार-मंजरी), अर्जुनदास केडिया (भारती-भूषण) इत्यादि..., भी यही व्युत्पत्ति (विषय) मानते हैं । संस्कृत में भा—

“संबंधातिशयोक्तिः स्यादयोगेयोगकल्पनम् ।

*

“योगेऽप्ययोगः संबंधातिशयोक्तिरतिर्यते ।”

—आदि सूत्र “योग्यायोग्य” के समर्थन-रूप में मिलते हैं ।” अस्तु, दासजी के इस छंद को “रस-कुसुमाकर” रचयिता महाराज प्रतापसिंह ददुआ साहिब अयोध्या ने “अद्भुत-रस” के उदाहरण में संकलित किया है ।

तृतीय चपलातिसयोक्ति लच्छन जथा —

निपट उताली^१ सों जहाँ, बरँनत हैं कछु काज ।

सो 'चपलातिस'-उक्ति^२ है, सुनों सुकवि सिरताज ॥

वि०—“जहाँ निपट (अति, एकदम) उताली (शीघ्रता) से किसी कार्य का वर्णन किया जाय, वहाँ सुकवियों के सिरताजों ने 'चपलातिशयोक्ति' कही है । दूसरा लक्षण है—“जब कारण के बाद विद्युत्गति से शीघ्र-ही कार्य का होना कहा जाय—कारण का नाम लेते ही कार्य हो जाय, वहाँ चपलातिशयोक्ति होती है ।”

उदाहरन-जथा—

काहू कह्यौ आइ कंसराइ के मिलँन-काज,^३

लेँन आयौ कँन्हें कोऊ मथुरा की^४ लंग ते ।

त्यों-हीं कह्यौ आली सों^५ न गयौ हरि, ज्वाब दियौ

मिलें हँम कहा ऐसे मूँढ़ बिन-ढंग ते ॥

'दास' कहै ता-सँमें सुहागिँन कौ कर भयौ,

बलया - बिगत दुहँ बातँन - प्रसंग ते ।

आधिक^६ ढरकि गई^७ बिरहा की छाँमता ते,

आधिक^८ तरकि गई^९ आँनद - उमंग ते ॥

वि०—“दासजी द्वारा दिया गया “चपलातिशयोक्ति” का यह उदाहरण नायिका-भेद के अनुसार “प्रवत्स्यत्प्रेयसी-नायिका” (जिस नायिका का प्रिय प्रदेश—दूसरे देश जाने को प्रस्तुत हो) का भी उदाहरण है । प्रवत्स्यत्प्रेयसी—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, परकीया और गणिका भी होती हैं । गच्छुत्पतिका भी इसे कहते हैं । यही नहीं, इन नायिका-भेद-निष्णातों ने प्रवत्स्यत्प्रेयसी—‘प्रियतम के होने वाले वियोग की आशंका से दुःखित होनेवाली’ को भी माना है, यथा—

“होंनहार पिय के बिरह, बिकल होइ सो बाल ।

ताहि 'प्रबच्छतिप्रेयसी,' बरनत बुद्धि-बिसाल ॥”

—रसराज (मतिराम)

पा०—१. (प्र०) शीघ्रता... २. (सं० पु० प्र०) (का०) (वे०) काहू सोध दयौ कंसराइ के मिलाइबे कों, लेँन... ३. (का०) (प्र०) मथुरा-अलग ते... (वे०) (सं० पु० प्र०) द्वारिका-अलगते । ४. (सं० पु० प्र०) (प्र०) सोतौ गयौ वह-अब दैब, मिलें हम कहा ऐसी मूँढ़... (का०) (वे०)...कहा ऐसी... ५. (सं० पु० प्र०) आधी सो...आधी...।

अस्तु, चपलातिशयोक्ति का कवि 'गंग' प्रणीत उदाहरण अति सुंदर है, ब्रजभाषा के छंदों में अग्रगण्य है, यथा—

“बैठी-ही सखिन-संग पिय कौ गँमन सुन्यों,
 सुख के सँमूह में बियोग-आगि भरकी ।
 'गंग' कहै त्रिविध सुगंध लै बह्यौ सँमीर,
 लागत-ही ताके तँन भई बिथा जरकी ॥
 प्यारी कों परसि पौन गयौ मॉन-सर पै
 जु लागत-ही औरें गति भई मानसर की ।
 जलचर जरे औ सिवार जरि छारि भई,
 जल-जरि गयौ, पंक-सूख्यौ, भूमि दरकी ॥”

और प्रवस्यत्प्रेसी के दो उदाहरण, यथा—

“बाल सों लाल बिदेस के हेत, हरेँ हांसिकें बतियाँ कछु कीनीं ।
 सो सुनि बाल गिरी मुरझाइ, धरी हरि धाइ गरें गहि लीनीं ॥
 मोंहन-प्रेम-पयोध भयों, जुरि दीठि दुहँ की गई रस-भीनीं ।
 माँगै बिदा को, बिदा को करै, मिलि दोऊ बिदा कों बिदा करि दीनीं ॥

*

मिस-ही-मिस जाँन की बात कही, सो सुनें न बिथा सहिजाति भई ।
 उर-लाड़िली के बिरहागि-जरी, सुधि औ बुधि-हू दहि जाति भई ॥
 ठगि-से रहे 'सेबक' स्याँम लखें, रसनाँ-गति की गहि जाति भई ।
 इमि नैन ते नोखी नदी प्रघटाँ, बलिहारी, बिदा बहि जाति भई ॥

*

“उलझन थी, इज्तराब था, काहिश थी, दर्द था ।
 जाना तुम्हारा रात क्यामत हुआ सुझे ॥”

पुनः उदाहरण यथा—

तेरे जोग काँम यै, राँम के सँनेही, जाँमबंत कछौ,
 औध-हू के द्यौस दस^१ द्वै रह्यौ ।
 एती बात सुनत^२ अधिक^३ हँनुमंत गिरि-
 सुंदर तें कूदि कें सुबेल पर ह्वै रह्यौ ॥

पा०—१. (वें०) दसा ०० । २. (का०) एती बात अधिक सुने ते ०० । (वें०)
 प्र०) एती बात अधिक सुनत ०० ।

‘दास’ अति गति की चपलता कहाँ लों कहों,
 भालु-कपि-कटक अचंभे^३ जकि ड्वै रह्यौ ।
 एक छिन बार-पार लागी पारावार^४ के,
 गगँन-मध्य कंचँन-धँनुष ऐसौ ड्वै रह्यौ ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ चपलातिसै-उक्ति में उपमाँ कौ अंगागी-भाव संकर है ।

वि०—“दासजी के इस छंद को रस-कुसुमाकर-रचयिता ने ‘स्थायी-भावांतर्गत
 ‘आश्चर्य’ के उदाहरण में संकलित किया है ।” आश्चर्य वा विस्मय अद्भुत-
 रस का स्थायी-भाव है, यथा—

“जाकौ थाई ‘आचरज’, सो उद्भुत-रस गाव ।
 असंभवित जेते चरित, तिन कों लखत बिभाव ॥”

—जगद्विनोद (पद्माकर)

अतएव जिम रस के आस्वादन से आश्चर्य प्रकट हो, वहाँ ‘अद्भुत रस’
 कहा जाता है । इसके संचारी—हर्ष, शंका वितर्क, मोह, आवेग, स्थायी —
 विस्मय (आश्चर्य) इत्यादि... हैं, ‘जो चौथे उल्लास’ में लिखे जा चुके हैं । इस
 अतिशयोक्ति के उदाहरण में ‘रत्नाकर’ बा० जगन्नाथदास का निम्नलिखित
 छंद भी सुंदर है, यथा—

“बोध-बुधि-बिधि के कंमंडल-उठावत-ही,
 धाक सुर-धुँनि की धँसी यों घट-घट में ।
 कहै ‘रतनाँकर’ सुरासुर ससंक सबै,
 बिबस बिलोकत लिखे-से चित्रपट में ॥
 लोकपाल दौरँन दसों दिसि हहरि लागे,
 हरि लागे, हेरँन सुपात-वरबट में ।
 असँन नदीस लागे, खसँन गिरीस लागे,
 ईस लागे कसँन फनीस कटि-तट में ॥”

यह ध्यान रहे, चपलतिशयोक्ति ‘कारण के ज्ञान, अर्थात् देखने-सुनने मात्र
 से ही तत्क्षण कार्य के होने के वर्णन में होती है, अन्यत्र नहीं ।’

पा०—३. (का०) (वें०) (प्र०) अचंभा ** । ४. (र० कु०) बारापार कीं... ।

* र० कु० (अ०) पृ० २०, ३७ ।

पुनः उदाहरन जथा—

चकि-चोंकती चित्र-हु के कपि सों, जकि क्रूर-कथाँन सुँनें जो डरै ।
सुँनि भूत-पिसाचँन की चरचाँन, विमोहित है अकुलाइ परै ॥
चलिबौ सुँनि पाँइ दुखें तँन धाँम^१ के, नाँम-हिं सों सँम-भूरि भरै ।
सो^२ सोय^३ चह्योँ बँन कौ चलिबौ, हिय-रे^४ धिग तू न अजों बिहरै ॥

वि०—“यहाँ भी वही बात है, ‘जो’ सीया (श्रीजनक-नंदिनी जानकी) चित्र-लिखित कपि (बंदर) के देखने से एकाएक चोंक पड़ती हैं, क्रूर-कथाओं के सुनने मात्र से-ही डर जाती हैं, भूत-पिशाचों की चर्चा सुनकर-ही जो विमोहित होकर अकुला जाता है, घर में ही तनिक चलने का नाम सुनकर सम से (जिनके) पाव दुखने लगते हैं, वही वन को गमन करना चाहती हैं... ? रे हृदय, तुझे धिक्कार है (जो यह देखकर भी) नहीं फटता... । इसे चपलातिशयोक्ति की माला भी कह सकते हैं ।”

चतुर्थ अतिक्रमातिशयोक्ति लच्छन जथा—

अतिक्रमाँतिसै-जुक्ति^६ जहँ, कारज-कारँन साथ ।

भू^७ परसत हैं साथ-ही, तो सर औरि^८ अरि-माथ ॥

वि०—“जहाँ कार्य-कारण दोनों एक काल (समय) में ही साथ-साथ हों, वहाँ ‘अतिक्रमातिशयोक्ति’ अलंकार बनता है, जैसा लक्षण-रूप दोहे की अर्धाली में—‘सर (वाण) और अरि (शत्रु) माथ (मस्तक) साथ-साथ पृथ्वी का स्पर्श करते हैं ।’ अक्रम का शब्दार्थ है—‘क्रम-हीन’ । अतएव इस अलंकार में कार्य-कारण का उचित क्रम—आगे-पीछे नहीं रहता, दोनों साथ-साथ ही कहे जाते हैं ।”

द्वितीय उदाहरन जथा—

राम, असि तेरी अस बैरिन के^९ कीने^{१०} हाल,^{११}

ताते दोऊ काज इक साथ-हीं सजत हैं ।

ज्यों हीं यै कोस कों तजति है दयाल त्यों-हीं-

वे हू सब निज-निज कोस कों तजत हैं ॥

पा०—१. (वै०) धाँम... । २. (स० पु० प्र०) (का०) (वै०) तिहि । ३. (प्र०) तेहि सोप चह्यो... । ४. (प्र०) हियरौ... । (रा० पु० का०) हियरा... । ५. (का०) (वै०) (प्र०) उक्ति... । ६. (वै०) जा... । ७. (का०) (वै०) (प्र०) अरु... । ८. (का०) (वै०) (प्र०) कौ... । ९. (का०) (वै०) (प्र०) कीन्हों । १०. (वै०) हाथ... ।

‘दास’ ये धारा कों छजत^१ जब-जब, तब-तब-
 वे^२ हूँ सब अस्त्रुन की धारा कों छजत^३ हैं ।
 या कों तू कँपाइ कै भँजावत है ज्यों-ज्यों, त्यों-त्यों,
 वे हूँ काँपि^४-काँपि ठौर-ठौरन भजत हैं ॥*

पंचम अत्युक्ति-लच्छन बरनन जथा—

जहाँ दीजिए जोग^५ कों, अधिक जोग^६ ठैहराइ ।

अलंकार ‘अत्युक्ति’ तहँ^७, बरनत है कबिराइ ॥

वि०—“जहाँ योग्य को अधिक योग्य ठहराया—बताया जाय, वहाँ “अत्युक्ति” अलंकार कहा गया है। कोई-कोई आचार्य शौर्य तथा औदार्य-आदि के अत्यंत मिथ्या-पूर्ण वर्णन होने पर भी इस अलंकार को मानते हैं। साथ-ही—औदार्य, प्रेम, सौंदर्य, विरह-आदि की अनेक अत्युक्तियाँ कही-सुनी गयी हैं।

काव्य-प्रकाश (संस्कृत) में “अत्युक्ति-अलंकार” नहीं माना गया है, पर उसकी टीका—‘उद्योत’-कार का मत है कि यह ‘उदात्त’-अलंकार के अंतर्गत कहा जा सकता है। कुवलयानंद के कर्ता का यह अभिमत है कि जहाँ “समृद्धि का अतिशय वर्णन किया जाय वहाँ ‘उदात्त’ और जहाँ शोभीदि का अतिशय वर्णन हो वहाँ ‘अत्युक्ति’-अलंकार मानना चाहिये। सम्यक् रूप से देखा जाय तो अत्युक्ति का अतिशयोक्ति वा उदात्तालंकार से पृथक् वर्णन करने का कोई औचित्य प्रतीति नहीं होता, अपितु दासजा को भाँति उसे अतिशयोक्ति के दायरे में-ही रखना उचित प्रतीत होता है।”

उदाहरन जथा—

एती अँनाकँनी कीजै^८ कहा, रघु के कुल में^९ कौ कहाइ कँ नाइक ।
 आपनों मेरौ धों नाँम बिचारौ,^{१०} हों दीन^{११} अधीन तू दीन कौ दाइक ॥
 हों^{१२} तौ अँनाथ अँनाथँन में, इक^{१३} तेरौ-ई नाँम, न दूजौ सहाइक ।
 मंगँन तेरे^{१४} के मंगँन सौ, कलपद्रुम आज है माँगिबे लाइक ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) सजति, (सजत) .. २. (का०) (वें०) (प्र०) वै सकल... ३. (का०) (वें०) (प्र०) सजत .. ४. (का०) (प्र०) कँपि कँपे... (वें०) कपि-कपि... ५.-६.; (का०) (वें०) (प्र०) जोग्य... ७. (वें०) तिहि... ८. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) (प्र०) कीवौ... ९. (प्र०) . कुल बीच कहाइ... १०. (वें०)...बिचारि हो... ११. (का०) हीन । १२. (का०) मैं तौ.. (वें०) मैं हों... १३. (का०) (वें०) तजि... १४. (का०) तेरो को मगन.. । (वें०) तरे यों मगन...।

* सू० सं० (भ० दी०) पृ० ४०१. ३७ ।

वि०—“दाजी प्रणीत यह सवैया “श्रौदार्य की अत्युक्ति कहा जा सकता है ।”

पुनः उदाहरन जथा—

सुँमन-मई महि में करै, जब सुकमारि बिहार ।

तब सखियाँ सँग-ही फिरे, हाथ लिएँ कच-भार ॥

वि०—“सौंदर्य की ‘अत्युक्ति’ है । सौंदर्य को—नायिका-सौंदर्य वर्णन में अत्युक्ति अलंकार को, विविध भाषा के कवि कविदो ने बहुत कुछ अपना कर (इसके सहारे) कहा-मुना है, यथा—

‘गोल-गोल गोरी गरबीली की बिलोकि ग्रीब,

सख सकुचाइ जाइ सिंध में तच्यौ करै ।

पीक-लीक-दीखति गिलति गल-गोरे कल-

कठसँमता-लों कूकि कोकिल पच्यौ करै ॥

बिँन-हीं बिचारे सुनि सैहजे उचारे मृदु-

बचँन-बिचारे-कवि रचनाँ रच्यौ करै ।

भारी भई भीर वा अहीर वृषभान-भान,

वीर, बरसाँने स्याँम-वेद सौ बच्यौ करै ॥

*

“छाले-परिवे के डरँन, सकै न हाथ छिवाइ ।

भिक्षकति हिणें गुलाब के, भँवा भँवावति पाँइ ॥”

*

“शानों पै ज़ुलू, ज़ुलू में दिल, दिल में हसरतें ।

इतना तो बोझ सर पै, नजाकत कहाँ रही ॥”

अथ अत्यंतातिसयोक्ति लच्छन जथा—

जहँ कारज^१ पैहलें सधै,^२ कारँन पीछें होइ ।

‘अत्यंतातिसै-जुक्ति’ तहँ,^३ बरँनत हैं सब कोइ ॥

वि०—“जहाँ कार्य प्रथम और कारण तदनंतर हो, कार्य के बाद कारण उत्पन्न हो—कारण के प्रथम-ही कार्य हो जाय, वहाँ “अत्यंतातिसयोक्ति” कहा जाती है । स्वभावतः कारण के बाद कार्य हुआ करता है, पर इसमें विपरीत कार्य के बाद कारण का होना दिखलाया जाता है ।”

पा०—१ (का०) (वें०) (प्र०) जहाँ काज...। २. (रा० पु० प्र०) सरै...। ३. (का०) (वें०) तिहि । (प्र०) तेहि.. ।

उदाहरन जथा—

जात^१ सबै हुते माघ की रात, निदाघ^२ के द्यौस कौ साज-सजावते ।
 फेरि बिदेस कौ नाँम न लेते, जो^३ स्याँम दसा यै देखँन पावते ॥
 'दास' कहा कहिए सुनि-हीं-सुनि, पीतम आवते, पीतम आवते ।
 जात भयौ^४ पैहलें तँन^५-ताप, औ पीछें मिलाप भयौ मँन-भावते ॥

वि०—“दामजी का यह उदाहरण जहाँ “अत्यन्त।तिशयोक्ति” का उत्तम उदाहरण है, वहाँ नायिका-भेदानुसार “आगमभ्यत्पतिका नायिका” (जिसका प्रियतम विदेश से आनेवाला हो, अथवा उसके आने की बात सुन कर प्रसन्न होने वाली) का है । इसे आगच्छत्पतिका नायिका भी कहते हैं । आगमभ्यत्पतिका वा आगत्यत्पतिका नायिका के प्रति ब्रजभाषा-रीति ग्रंथों में मतभेद है । कोई इन्हें प्रथक्-प्रथक् और कोई इन्हें एक-ही मानता है । इन प्रथक् मानने वाले आचार्यों में—सैय्यद गुलाम नवां ‘रसलीन’ प्रधान हैं । दासजी भी इसी मत के अनुयायी हैं । अतएव रसलीन ने “आगत्यत्पतिका” नायिका के आगमभ्यत्पतिका, आगच्छत्पतिका एवं आगत्यत्पतिका रूप तीन भेद माने हैं । यही नहीं, आपने इस नायिका के साथ—‘संजोग-गर्विता आगत्यत्पतिका’ रूप से एक नया भेद और माना है तथा लक्षण दिया है—

“प्रिय आयौ परदेस ते, गरब करति जो बाल ।

सो “संजोगिनिगरबता”, बरनत बुद्धि-बिसाल ॥”

—रस-प्रबोध

अस्तु, जिस (नायिका) का प्रियतम विदेश से आकर मिल गया हो, वह ‘आगत्यत्पतिका’ जो प्रियतम को (केवल) आया हुआ-ही सुने, वह- आगच्छत्पतिका’ और जिसका प्रिय विदेश से आनेवाला हो—जिसके आने की बात-ही सुनी हो, वह “आगमभ्यत्पतिका” नायिका कही गयी है । उदाहरण, यथा—

“प्रिय-आगम सुनि पथिक-मुख, उँमग्यौ अंग सँनेह ।

नख ते सिख लों बाल की, भई चीकनीं देह ॥”

और सामान्या (गणिका) आगमभ्यत्पतिका नायिका का उदाहरण और भी सुंदर है, जैसे—

“आबत सुनि परदेस ते, धनीं मित्र अति आस ।

बारबिलासिनि कैं भयौ, बारबार बिलास ॥”

—रस-प्रबोध

पा०—१. (का०) (प्र०) जाते...। २. (का०) निदाह...। ३. (वे०) सु...।
 ४. (सं० पु० प्र०) (वे०) भई...। ५. (वे०) वह ताप तौ, पीछं...।

रसलीन-कृत ये दोनों दोहा वास्तव में 'अत्यन्तातिशयोक्ति' अलंकार से अलंकृत ब्रजभाषा-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। द्विजदेव ने भी इस अलंकार से अलंकृत उक्त नायिका का वर्णन किया है, और खूब किया है, यथा—

“बादि-ही चंदन चारु घसै, घनसार घनों घिसि पंक बनावत ।
बादि उसीर-सँमीर चँहै, दिन-रैन पुरेन के पात-बिछावत ॥
आप-ही ताप मिटी 'द्विजदेव' मुनाय-निनाय की कौन कहावत ।
बाबरी, तू नहिँ जाँनति आज, मयंक-लजावत मोहँन-आवत ॥”

✱

“न पृछो कुछ शबे-बादा, बला की इन्तज़ारी है ।

सदा पर काँन, दर पर आँख, दिल में बे करारी है ॥”

कोई शायर

अतिसयोक्ति के अन्य-भेद कथन जथा—

“अतिसयोक्ति' संभावनाँ, संकर करें-हुँ^१ निबाहु ।

उपमा और अपहृत्यौ, रूपक-उत्प्रेच्छाहु ॥

अथ प्रथम सभावनातिसैजुक्ति उदाहरन जथा—

सागर-सरित-जल^२ जहँ-लों जलासै जग,

सब में जौ क्यों^३ हूँ कल-कज्जल रलाब-हीं^४ ।

अबनि-अकास भरि^५ कागर गँजाइ कल्पतरु^६

कल्लम सुँमेर-सिर बैठक बनाब-हीं^७ ॥

‘दास’ दिन-रैन कोटि-कल्प लों सारदा सहस-

कर है जौ लिखबे में^८ चित्त कों चलाब-हीं ।

होइ हृद काजर - कल्लम - कँगारन^९ कौ,

तऊ^{१०} गुपाल-गुँन-गँन कौ हृद नहिँ पाब-हीं ॥

पा०—१. (का०) (वै०) करौ... । (प्र०) करहु... । २. (का०) (वै०) (प्र०) सर... । ३. (का०) (वै०) (प्र०) के हूँ किल कज्जल... । ४. (का०) (वै०) (प्र०) रलाबई । ५. (वै०) भरी... । ६. (का०) कमलकूस मेरु सिर... । (वै०) कलमकूस मेरु सिर... । (प्र०) ...अकास होइ कागद कल्पतरु—कलम सुमेर... ; ७. (का०) (वै०) (प्र०) बनावई । ८. (का०) (वै०) ही चित्त लावई । (प्र०) ...चितलावई । ९. (का०) कागजन की । (वै०) कागजन कौ... । (प्र०) कागरन कौ । १०. (का०) (प्र०) तऊ न हृद पावई । (वै०) तऊ न हृद पावई ।

वि०—‘यह दासजी का उदाहरण ‘संभावना’ को लेकर अतिसै (अतिशय) उक्ति कही गयी है। यह सूक्ति, संस्कृत की—

“असति गिरिसमस्या कजले सिंधुपात्रे,
सुरवरतश्शाखा लेखनीपत्र मूर्वाम् ।
लिखितयदि गृहीत्वा शारदा सर्वकाले,
तदपि तव गुणानामीशपरं न याति ॥”

सूक्ति के सहारे, जरा-से हेर-फेर—‘ईश के स्थान पर गोपाल,’ को लेकर हुई है, फिर भी अपने बाँकपन में कम नहीं है। संभावना की पराकाष्ठा है।

अथ उपमा-अतिसयोक्ति लच्छन जथा—

बुधि-बल ते उपमाँन पै, अधिक-अधिकई होइ ।
सो ‘उपमाँतिसै-जुक्ति है,’ ‘प्रौढ-उक्ति’ है सोइ ॥

वि०—‘जहाँ बुद्धि-बल से उपमान पर अधिकाधिक बल (जोर) दिया जाय, अर्थात् उत्कर्ष के जो कारण न हों उन्हें भी कारणों की कल्पना की जाय, तब वहाँ ‘उपमातिशयोक्ति’ अथवा ‘प्रौढोक्ति’ कहा जाता है। प्रौढोक्ति में उक्ति प्रौढ़ होती है—बढ़कर कही जाती है। यहाँ बढ़ाकर कहने के लिये उत्कर्ष के अहेतु को उत्कर्ष का हेतु कहा जाता है। किसी वस्तु के उत्कर्ष-वर्णन में जो हेतु न हो उसे भी हेतु मानकर वर्णन किया जाता है, जैसा दासजी के निम्न-लिखित उदाहरण में।’

उदाहरण-जथा -

‘दास’ कहै लसै^१ भादों-कुहू की, अँधारी-घटा-घँन-से कचकारे ।
सूरज-बिंब में ईंगुर बोरे, बँधूक-से हैं अधरा अरुनारे ॥
बाड़ब^२ आँच ते ताए-बुभाए, महा बिष के जँम जी-कै सँवारे ।
मारँन-मंत्र से बीजुरी-साँन, लगाए^३ नराच से नैन तिहारे ॥ *

वि०—‘यहाँ दासजी-द्वारा वर्णित कामिनी (नायिका) के कच (बाल), उसके अरुणारे अधर और नयनों का वर्णन है, उत्कर्ष के तद्तद कारण—बाल, अधर और नयनों के वे नहीं जो कहे गये हैं, अपितु उनसे उपमान

पा०—१. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) तब उपमा-अयुक्ति है। २. (का०) (वें०) (प्र०) लगे। ३. (का०) बाड़ों की आँच ते ताप .. । (वे०) बाड़ों की आँच .. । (म० म०) बाड़ों की आँच के ताए-बुभाए... । ४. (का०) (प्र०) लगे ये... ।

* म० म० द्वि०-कलिका (अजा०) पृ० ६, १७ ।

(बाल-अधर-आँख) कहीं अधिक काले, अरुण और वाण से (पैने) हैं, फिर भी उन्हें—भादों कुहू की०...आदि को, उनके उत्कर्ष के कारण कल्पना किये गये हैं, जो वास्तव में नहीं हैं ।’

‘दासजी ने यह अलंकार रसगंगाधर और कुवलयानंद के अनुसार प्रथक् रूप से माना है । काव्यप्रकाश की टीका उद्योत्कार का कहना है कि इस अलंकार का विषय संबंधातिशयोक्ति के अंतर्गत आ जाता है, इसलिए इस (उपमातिशयोक्ति) का प्रथक् वर्णन उचित नहीं, क्योंकि—

“मखतूल, नीलमनि, चंचरीक, सबकी उपमा को पेलें हैं ।
मुख-सरद-चद से लगी हुई क्या संबुल की-सी बेलें हैं ॥
लहराती हुई नजर आईं दिल में जहरों की रेलें हैं ।
रखसार-हेम के थालों पर, दो चढ़ी नागनी खेलें हैं ॥”

*

कामिनियों के नेत्र-कमलों पर कवियों ने बड़ी-बड़ी उड़ाने भरी हैं, कलेजे निकाल-निकालकर रख दिये हैं । दो उदाहरण, यथा —

“कजँन-खजँन-गजँन हैं, अलि अजँन-हूँ मद-मजँन वारे ।
ए कजरारे, डरारे, पियारे, बिसारे न जात बिसारे, बिसारे ॥
अंचल-ओट अखारे में खेलत, तारे निहारे हैं चंचल-तारे ।
सौम-सुधा-सर के मधि डोलत, माँनों मीन भए मतवारे ॥”

*

“ऐसे दीवाने हों, सर संग से फोड़ें अपना ।
कभी बादाम जो देखें तेरी प्यारी आँखें ॥”

*

‘अमी-हलाहल - मद-भरे, सेत-स्याँम - रतनार ।
जियत-मरत-भुकभुक परत, जिहि चितबन इक्वार ॥’

सापह्वातिसयोक्ति लच्छन जथा—

जह दीजे गुँन और कौ, औरहिं में ठहराइ ।
‘सापह्वाति-अत्युक्ति’ तहँ, बरँनत हैं कबिराइ ॥

वि०—‘जहाँ और के गुणों को और—अन्य में ठहरा दिया जाय, अपह्व (छिपाने) के लिये जहाँ अतिशयोक्ति की जाय (कही जाय), वहाँ “सापह्वातिशयोक्ति” कहते हैं ।

पा०—१. (वे०) अत्योक्तितिहिं .. । २. (का०) ..तिहिं । (प्र०) अतिशयोक्ति सापह्व तिहिं... ।

अस्य उदाहरन जथा—

तेरे-ही^१ नीके लसें^२ मृग-नैन^३, औ^४ तो-ही कों नीकें^५ सुधाधर माँनें ।
तो-ही ते^६ होत निसा हरि कों^७, वे^८ तोहिऐ कलानिधि काँम की जाँनें ॥
तेरे^९ अनूपम-आँनन की, पदवी सब^{१०} वाहि कों देति अयाँनें^{११} ।
तू-ही है बाँम गुबिंद कों रोचक^{१२}, चंदै तौ मति-मंद बखाँनें ॥*

अस्य तिलक

पजस्यापह्नुति 'हेतु' प्रघट करत है, इहाँ नाहीं ।

वि०—“दासजी का यह उदाहरण “मानिनी नायिका” के प्रति सखी की उक्ति है । मानिनी—अपने प्रिय को अन्य नायिका की ओर आकर्षित जान ईर्ष्या से मान करने वाली को कहते हैं । इसे साहित्य-रसिक “मानवती” भी कहते हैं, यथा—

“लखि नाइक-औगुँन, करत, जो इरखा-करि माँन ।

‘मानवती’ ता कों कहत, जे कबि बुद्धि-निधान ॥”

—रसिक-विनोद

अस्तु, मान तीन प्रकार से प्रकाशित किया जा सकता है, यथा—

“तीन-भाँति पिय सों करति, माँन-कोप परकास ।

मुख-परि, कै पीछें, किधों चुप हूँ रहै उदास ॥”

—रसलीन

मानिनी नायिका नहीं, अपितु उस (नायिका) के मान की शोभा पर अष्ट-छाप को छाप से अलंकृत श्रीनन्ददास जी का एक पद निरखिये । ओह. ...कितना सुंदर है, कि कुछ कहा नहीं जाता, यथा—

“पैहलें तौ देखौ आइ मानिनी की सोभा लाल,

पाछें तें मनाइ लीजो प्यारे-हो गुबिंदा ।

कर पर धर कर कपोल, प्यारी रही नैन-मूँदि,

कँमल-बिछाड़ माँनों सोयौ सुख चंदा ॥

पा०—१. (का०) (प्र०) तेरौ-ई.. । २. (वे०) (र० सा०) लख्यौ... । ३. (मा०) (वे०) (प्र०) नैनन... । ४. (का०) (वे०) (प्र०) तोही काँ... । (रा० पु० नी० सी०) जु तोही कों... । ५. (प्र०) सत्र । (र० सा०) सत्य... । ६. (का०) (वे०) (प्र०) सों... । ७. (र० सा०) की.. । ८. (का०) (वे०) (प्र०) हम... । ९. (का०) (प्र०) तेरौ .. । १०. (का०) (वे०) (प्र०) (र० सा०) वोहि कों सब देति .. । ११. (वे०) (र० सा०) सयाने । १२. (का०) (वे०) (र० सा०) लोचन । (रा० पु० नी० सी०) रोचन ।

* र० सा० (भि० दा०) पृ० १५ ।

रिस-भरी भोंह उथों भोंरा-से अरबरात,
इंद-तर आयो मकरंद-हित अरबिंदा ।
'नंददास'-प्रभु ऐसी काहे कों रुसैये बाल,
जाके मुख देखे ते मित्त दुख-दंदा ॥”

पद की व्याख्या अनावश्यक है, राग ‘अङ्गाने’ की जोरदार स्वाभाविक ऐंड़ पद-पद और शब्द-शब्द से बरस रही है ।

“सर उठाओ, लुत बने बैठे हो क्यूं ?
मानो, मान जाओ, खुदा के वास्ते ॥”

जैसा कि पूर्व में ‘रसज्ञान’ ने कहा है—मान प्रकट करने के तीन—“मुख-परि, कै पीछें, किधों चुप हूँ रहै उदास” प्रमुख प्रसाधन हैं । उसी प्रकार मान भी “लघु, मध्यम और गुरु रूप से तीन प्रकार का होता है और उसके निवारण के उपाय भी तीन-ही होते हैं, यथा—

“सैहजै हाँसी-खेल में, बिनै-बचँन सुँन काँन ।
पाँह-परें तिय के मिटै, लघु, मध्यम, गुरु-गाँन ॥

—भाषा-भूषण

लघु मान के वर्णन में किसी कवि की यह अति अनूठी उक्ति है, ब्रज-भाषा-साहित्य में इसकी जोड़ नहीं है, जैसे—

माँनी न माँनवति भयौ भोर, सु सोच ते सोइ गयौ मन भाँवन ।
तिहिँ ते सास कही, दुलही, भई बार कुँमार कों जाहु जगावँन ॥
माँन कौ रौस, जगैवे की लाज, लगी पग नूपुर पाटी बजावँन ।
सो छबि-हेरि हिराइ रहे हरि, कौन कौ रुसिवौ काकौ मनावँन ॥”

रूपकातिसयोक्ति लच्छन जथा—

विदित जाँन उपमाँन^१ कों, कथँन काव्य में देखि ।
‘रूपकातिसै-जुक्ति’ सो, बर्न^२ एकता लेखि ॥

वि०—“जहाँ उपमेय का कथन न कर केवल उपमान के कथन-द्वारा उपमेय का वर्णन किया जाय, उपमेयोपमान दो पदार्थ होने के कारण और उनमें भेद होते हुए भी उपमेय का कथन न कर केवल उपमान का-हो कथन—वर्णन

पा०—१. (स० पु० प्र०) (का०) (व) उपमाहि...। २. (रा० पु० प्र०) (रा०-पु० का०) बर्न...।

किया जाय, वहाँ—“रूपकातिशयोक्ति” कही जाती है। दासजी का कहना है कि “जहाँ प्रसिद्ध काव्य-गत उपमान का ही कथन हो, उसी के द्वारा उपमेय का लक्ष्य कराया जाय वहाँ उक्त अलंकार कहा जायगा।

रूपकातिशयोक्ति और रूपक के सामंजस्य (समानता) पर अलंकाराचार्यों का कहना है कि “रूपक में उपमेयोपमान दोनों कहे जाते हैं, वहाँ अभेद न होने पर अभेद मान लिया जाता है, रूपकातिशयोक्ति में केवल उपमान के कथन से अभेद न होने पर भी अभेद निश्चय-सा होता है, क्योंकि यहाँ केवल उपमानों का ही उल्लेख होता है, उन्हीं में उपमेयो का निगरण (निगल जाना) हो जाता है। अभेद-ज्ञान निश्चयात्मक यहीं है।

रूपकातिशयोक्ति के साहित्यकारों ने दो भेद माने हैं—“शुद्ध, और साप-हव”। जहाँ अपहव की रीति के बिना उपमान का उल्लेख हो, वहाँ “शुद्ध” और जहाँ अपहव की रीति से उपमान का उल्लेख हो—वर्णन हो, तब वहाँ “सापहव” कही जायगी। यही नहीं, साहित्यकारों का यह भी कथन है कि “कभी-कभी रूपकातिशयोक्ति और चन्द्र-उपमान के उदाहरणों में भी अधिक-तया साम्यता नजर आ जाती है, अस्तु “रूपकातिशयोक्ति” में जहाँ उपमान प्रसिद्ध और उसका वर्णन लोकोत्तरता पूर्वक रहता है, वहीं वाचकोपमेयलुता में उपमान का धर्म के साथ उल्लेख रहता है। यही इनकी भिन्नता है।”

अस्य उदाहरन जथा—

‘दास’ देव-दुरलभ सुधा, राहु-संक निरसंक।

सकल-कला कब ऊगि है, बिगत कलंक मयंक ॥

वि०—“दासजी का यह शुद्ध रूपकातिशयोक्ति” का उदाहरण है, बिना अपहव की रीति के उपमान चंद्र का कथन है, उपमेय ‘मुख’ का नहीं, अतएव शुद्ध है।

पुनः उदाहरन जथा—

चंद में ओप अँनूप बढ़ै, लगी, रागँन में^१ उँमड़ी अधिकाई।

सो ती कलिंदजा की कछु होती,^२ जो कोकँन के दरम्याँन लखाई ॥

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) की... २. (का०) (वे०) (प्र०) होती है, कोकन...

दास जू' कैसी चँमेली खिली,^१ लगी फैलि^२ सुवास-हु की रुचि राई ।
खंजँन काँनन - ओर चले, अबलोकत - ही^३ हरि साँभ सुहाई ॥

वि०—“रूपकातिशयोक्ति का उदाहरण महाराज रघुराज सिंह रीवाँ का भी बड़ा सुंदर है, यथा—

“जुगल कुहू के बीच देखो रेख जोंन्ह-ही की,
ताके अध-अरध इंदु-अंक में अबनि जात ।
सायक - भुजंग जुग जोहत जुगल ओर,
जलचर जुगल जलूस के न ठैहरात ॥
‘रघुराज’ आरसी द्वै ताके बीच बारिज द्वै,
सुक-सुख लीनेँ एक मध्य में सु जलजात ।
बिबफल - भीतर बिलोके हैं अनार - बीज,
कौतुक सकल ससि - मंडल में दरसात ॥”

अथवा—

“रावरे बिरह सुनों साँवरे - सँलोंने गात,
जो-जो ब्रज जात तिन्हें कौतुक मिलत हैं ।
काकली न सुनीं परै कुंज की गली के बीच,
बिब - मुरझाई कुंद - कली न खिलत हैं ॥
देखिए अचंभौ चलि चंद - बंम के बतंस,
हस हारि रहे कहुँ नैंक न हिलत हैं ।
कँनक-लता पै कंज सूखि रझौ कृपा-पुंज,
ता पै खंजरीट बैठि मोती उगलत हैं ॥”

अथ उत्प्रेच्छा में अतिसयोक्ति जथा—

‘दास’ कहाँ-लों कहाँ में बियोगिँन के तँन-तापँन की अधिकाई ।
सूखि गए सरिता, सर, सागर, सर्ग, पताल^४ धरा-अकुलाई ॥
काँम के बस्य भयौ^५ सिगरौ जग, जाते भई मँनों संभु-रिसाई ।
जारि कें फेरि सँवारन कों, छिति के हित पाबक-ज्वाला बढ़ाई ॥

वि०—“दासजी का यह छंद “दूती” कृत कर्म विरह-निवेदन का उदाहरण भी कहा जा सकता है । दूती—

पा०—१. (वे०) खुली । (प्र०) खुलै ..। २. (का०) फैलै । (वे०) (५०) फैली...। ३. (सं० पु० प्र०) (का०) है । (वे०) हों...। ४. (का०) (वे०) अकास...। (सं० पु० प्र०), औनि-अकास-थरा...। ५. (का०) (वे०) भये सिगरे जग ।

“जो तिथ है दूतत्त्व में, अतिसै परँम प्रवीन ।”

और कार्य, यथा—

“उभै काज दूतीन के, सब कबि किए बखानँ ।

बिरह - निबडँन एक अरु संवटँन सुखदाँन ॥”

—शृंगार-सुधाकर

दासजी के इस छंद की भाँति, किसी अज्ञात कवि का यह छंद भी ‘विरह-निवेदन’ रूप सुंदर है, जैसे—

“आज बरसाँने हों बिलोकिबे कों गई सोतौ,

नई दसा देखी में अनंग आगि-बोरी की ।

लूक-सी लगति पोहँचति परिसर पास,

पेंडि भोन-भीतर जरै सो भाँति होरी की ॥

राज करौ गोकुल मिजाज रावरे कौ यह

अकह-कहाँनी-सी करी है चित-चोरी की ।

जरिजाइ हलक, फलक परें ओठँन में,

बिरह-बिथा की कथा कहों जो किसोरी की ॥”

अथ उदात्त अलंकार लच्छन जथा—

संपत्ति की अत्युक्ति कों, सब कबि कहै ‘उदात्त’ ।

जहँ उपलच्छन बड़ेन कौ; ताहू को^२ यै वात ॥

वि०—‘जहाँ संपत्ति की अत्युक्ति कही जाय, लोकोत्तर समृद्धि का वर्णन किया जाय, अथवा महान् पुरुषों का चरित्र दार्य-वस्तु का अंग मात्र कहा जाय, तब वहाँ ‘उदात्त’ अलंकार कहा जाता है। उदात्त का शब्दार्थ है—उच्च, श्रेष्ठ, विशद और दशावान ।

उदात्त अलंकार में संपत्ति का वर्णन इतना श्रेष्ठ हो कि वह इह लोक में संभाव्य न हो, अर्थात् लोकोत्तर हो और महान् पुरुषों का उच्च चरित्र वर्णनीय वस्तु का अंगमात्र होकर उसकी लोकाश्रयता प्रकट करे, इत्यादि...। अस्तु, इस प्रकार ‘उदात्त’ दो प्रकार का - साहित्य-मर्मज्ञों ने कहा है। प्रथम उदात्त—‘अतिशय समृद्धि वा संपत्ति के वर्णन में’ और दूसरा ‘महान् आत्माओं के चरित्रों को अंगीभूत बनाकर कहने में’। दासजी ने दोनों के ही उदाहरण क्रमशः दिये हैं ।

पा०—१. (का०) (गें०) सुकबि कहैं उदात्त । २. (गें०) कौ... ।

प्रथम उदात्त कौ उदाहरन जथा—

जगत-जँनक बरनों कहा, जँनक-देस कौ ठाठ ।
सैहैल-मैहैल हीरँन बने, हाट, बाट, करहाट ॥

दूसरौ उदात्त बड़ेन कौ उपलच्छुन जथा—

भूषित-संभु-स्वयंभु-सिर, जिनके पग की धूर ।
हठिकर पाँइ भँवावती,^१ तिन सों तिय मगरूर ॥

वि०—‘उदात्त अलंकार के उदाहरण रूप ‘रसखान’ और कवि लच्छीराम के छंद भी सुंदर हैं, यथा—

“ब्रह्म में दृष्ट्यौ पुराँनन-बेदेन, छद् सुँने चित चौगुने चायँन ।
देख्यौ-सुँन्यो न कबों-कित-हूँ, वौ कैसौ सरूप, औ कैसे सुभायन ॥
हेरत-हेरत हारि गयौ, ‘रसखान’ बतायौ न लोग-लुगायँन ।
देख्यौ अहा, वौ कुंज-कुटीर में, बैद्यौ पलोटत राधिका-पायँन ॥”

*

“जा मेहमाँ कों सँवारें बिरंच, महेस हू बेद न ब्रह्म-बिचारौ ।
सारद, नारद, सेस, गँनेस, सुरेस-हु कौ मन हेरत हारौ ॥
माँनस-संजु मुनीसँन के, ‘लछिराँम’ मराल सरूप सँवारौ ।
ता हरि कों गुजरैटी कहैं, मिल्यो काँमरी बागै अहोर कौ बारौ ॥

पुनः उदाहरन जथा—

महाबीर पृथवी-पति-दल के चलत,
ढलकत वैजंती^२खलकत जो^३सुरेस कौ ।
‘दास’ कहै बलकत महाबल-धीरँन^४कौ,
धलकत^५उर में महीप देस-देस कौ ॥
फलकत बाजिन^६के भूरि धूरि-धारा उठै,
तारा ऐसौ भलकत (जु) मंडल दिनेस कौ ।
थलकत भूँमि, हलकत भूँमिधर,^७
छलकत सातों सिंध (औ)दलकत फँन सेस कौ ॥

पा०—१. (वै०) बुवावती ०० । २. (सं० पु० प्र०) (का०) (वै०) वैजयंत...।
३. (का०) (वै०) ज्यौ...। (रा० पु० प्र०) ज्यौ...। ४. (वै०) बल-धीरन के। (सं० पु० प्र०)
बलकत बल महावीरन के...। ५. (प्र०) धरकत...। ६. (प्र०) पारन...। ७. (वै०) पर...।

अथ अधिक अलंकार वरनन जथा—

अधिकाई^१ आधेइ की, जहँ आधार ते होइ ।

औ आधार आधेइ ते, 'अधिक' अधिक ए जोइ^२ ॥

वि०—“जहाँ बड़े आधेय और आधार की अपेक्षा क्रमशः अल्प आधार और अधिक आधेय का वर्णन किया जाय, वहाँ 'अधिक' अलंकार कहा जाता है । यह दो प्रकार का—“आधेय की अपेक्षा आधार, तथा आधार की अपेक्षा आधेय का अधिक वर्णन-रूप” होता है । अर्थात्, जहाँ कवि-प्रतिभा की कल्पना से—चमत्कार से, न्यूनाधिकता का वर्णन हो वहाँ यह अलंकार होगा, अन्यत्र—वस्तुतः न्यूनाधिकता के वर्णन में नहीं ।

दंडी ने अपने काव्यादर्श में इस अलंकार को अतिशयोक्ति के “अंडर-ग्राउंड” माना है, तदनुसार दासजी ने भी ।”

प्रथम अधिक उदाहरन जथा—

सोभा नंद कुमार को, पारावार अगाध ।

‘दास’ ओछरे^३ दृगन-मधि,^४ क्यों भरिऐ भरि साध ॥

वि०—‘दासजी से पूर्व गो० तुलसीदासजी भी इसी अलंकार की ओट में एक बड़े मार्क की बात कइ गये हैं, जैसे—

“व्यापक ब्रह्म निरंजित-^५, निगुन बिगत विनोद ।

सो अज प्रेम आं भक्ति-बस, कौसल्या की गोद ॥”

द्वितीय अधिक उदाहरन आधेइ ते आधार अधिक—

बिस्वामित्र^६ मुँनीस की, मैहमाँ अपरंपार ।

करतल-गत आँमलक-सँम, जा^७ कों सब संसार ॥

पुनः उदाहरन जथा—

सातों समुद्र घिरी बसुधा, औ^८ सातों गिरीस धरे सब ओरें ।

सातों^९ ही दीप^{१०} सबै^{१०} दरम्याँन में, होंइगे खंड किते तिहिँ ठोरें ॥

‘दास’ चतुरदस^{११} लोक प्रकासित, हैं ब्रह्मंड इकीस ही जोरें ।

एते-हिँ^{१२} में भजि जइहै कहाँ खल, श्री रघुनाथ सों बैर-बिथोरें ॥

पा०—१. (वें०) अधिकारी... २. (का०) (वें०) (प्र०) दोइ । ३. (वें०) बोछरे... ४. (का०) (वे०) (प्र०) मधि । ५. (वें०) बेस्यामित्र... ६. (का०) (वें०) जिन... ७. (प्र०) जिनके... ८. (का०) (वें०) (प्र०) यह... ९. (का०) (वें०) (प्र०) सात... १०. (का०) (वें०) (प्र०) दीप... १०. (का०) (वें०) धरे... ११. (का०) (वें०) चतुरदसै... १२. (का०) ही...

अस्य तिलक

इहाँ ब्यंगारथ ते राम कौ अमल जस जगते अधिक है, कही ।

पुनः उदाहरन जथा—

सुँनियत जा के उदर में, सकल लोक-विस्तर ।

‘दास’ बसैं तो उर सदाँ, सोई नंद-कुमार ॥

वि०—“दासजी के इस दोहे के साथ ‘रसलीन’ कवि के निम्न-लिखित दोहे भी देखते योग्य हैं—

“तीन पेंड जाके अहो, त्रिभुवन मे न सँमाहिँ ।

धँनि राधे, राखति तिन्हें, लोयँन-कोयँन-माँहिँ ॥

*

तुँम गिरि लै नख पै धर्यौ, हँम तुँम कों दग-कोर ।

इन द्वै में तुम-हीं कहौ, अधिक कियौ को जोर ॥

*

घट - बड़ इनमें कौन हैं, तुही साँवरे ऐन ।

तुम गिरि लै नख पै धर्यौ, हँम गिरिधर लै नैन ॥”

और हठीजी कहते हैं—

गिरि-पति लागी मेरु, मेरु-पति लागी भूँमि,

भूँमी-पति लागी कौल-कच्छप के चारी सों ।

दिग-पति लागी दिगपालन के हाथ ‘हठी’,

सुर - पति लागी सुरराज छत्रधारी सों ॥

दाँन-पति करँन, करँन - पति लागी बलि,

बलि-पति लागी कैलास के बिहारी सों ।

तीनों लोक-पति की लगी है बीर व्रज-पति सों,

व्रज-पति की लगी है वृषभाँन की दुलारी सों ॥”

अथ अल्प अलंकार बरनन जथा—

अल्प-अल्प आधेइ ते, सूच्छँम होइ आधार ।

“छला छगुनियाँ-छोर कौ, पोंहचेन^२ करत बिहार ॥”

वि०—“जहाँ अति अल्प (सूक्ष्म) आधे से बड़े आधार को अल्प

(छोटा) वर्णन किया जाय, वहाँ “अल्प” अलंकार कहा गया है। यहाँ लक्षण के अनुसार ‘आधार’ और ‘आधेय’ की अल्पता (छुटाई) वर्णन की जाती है।

कुवलयानंद (संस्कृत) में ‘अल्प’ स्वतंत्र अलंकार माना है, और अन्यत्र दासजी की भाँति “अधिक” के अंतर्गत। अतएव यह अलंकार पूर्व कथित ‘अधिक’ के द्वितीय भेद के विपरीत बनता है।”

उदाहरन जथा -

‘दास’ परम-तँन^१ सुतँन-तँन, भौ परमौन-प्रमौन ।

तहाँ बसत^२ हौ साँवरे, तुँम ते लघु^३ को आँन ॥

*

कोऊ कहै करहाट के^४ तंतु में, कोऊ^५ परागँन में अनुमाँनी ।

ढूँढ़ि फिरे^६ मकरंद के बुंद में, ‘दास’ कहै जलजात न जाँनी^७ ॥

छाँमता-पाइ रमाँ है गई परजंक कहा करै राधिका राँनी ।

कौल में दास निवास किए हैं, तलास किऐँ-हूँ न पावत प्राँनी ॥*

वि०—“दासजी के अल्प-अलंकार-लक्षण के साथ दिये गये उदाहरण—
“छला छुगुनियाँ-छोर कौ०” के साथ किसी कवि की निम्न उक्ति भी अति अल्प है, यथा—

“काहि बतावति मुद्रिके, काहि करति परनाँम ।

कँकन की पदवी दई, तुँम-बिँन या कहँ राँम ॥”

दासजी ने “कोऊ कहै करहाट के तंतु में०” वाला छंद अपने ‘शृंगार-निर्णय’ में नायिका की “छामता”—(सूक्ष्मता=दुबली-पतली, कोमल) के उदाहरण में भी दिया है। अतएव उक्त ‘छामता’ के साथ अन्य कवि का यह ‘विरह-निवेदन’ रूप छंद अवश्य देखें। कितना सुंदर है, यथा—

“एक हती खीनीं पै ऐते एतौ माँन डाँन,

भई अति दूबरो बिरह - ज्वाल - जरती ।

पास धरौ चंदन सुबास-ही ते बाढ़ै ताप,

हो तो जो सँमीर तौ उसासँन उसरती ॥

पा०—१. (वें०) लघु...। २. (सं० पु० प्र०) तहाँ न बसिए साँवरे...। ३. (सं०-पु० प्र०) तनु...। ४. (वें०) करहाटक-तनु...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) काहू...। ६. (का०) (वें०) (शृ० नि०) ढूँढ़ुरी मकरंद...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) ग्यानी । (शृ० नि०) जलजा-गुन ग्यानी ।

* शृ० नि० (मि० दा०) पृ० १०८, ३२५ ।

चंदन की रेख रही आभा अबसेस सु तौ,
देखत बँत पै न कहत बनें रती ।
ल्याबती गुबिंद, अरबिंद की कली में राखि,
जौ न मकरंद - बीच डूबवे ते डरती ॥”

अथ विसेस अलंकार वरनन जथा—

अनाधार आधेइ औ एकै ते बहु सिद्ध ।

एकै सब थल वरनिऐं, त्रि-विधि ‘विसेसन’ बृद्ध ॥

वि०—“जहाँ आधार के बिना आधेय की स्थिति विलक्षणता के साथ वर्णन की जाय, वहाँ ‘विशेषालंकार’ बनता है । विशेषालंकार तीन प्रकार का होता है । अस्तु, जहाँ ज्ञात आधार के बिना आधेय का (प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति का) वर्णन किया जाय तब वहाँ प्रथम विशेष और ‘जहाँ एक-ही वस्तु की अनेक स्थानों में एक-ही समय स्थिति का वर्णन किया जाय तब वहाँ द्वितीय विशेष” तथा ‘जहाँ कोई कार्य करते हुए देवात अशक्य कार्य के भी हो जाने का वर्णन किया जाय,” वहाँ तृतीय विशेषालंकार माना जाता है ।

ब्रज-साहित्य के अलंकार-ग्रंथों में प्रायः “पर्याय” और “विशेषालंकार” के उदाहरण मिले-जुले से मिलते हैं. क्योंकि इन दोनों में एक-ही वस्तु की अनेक स्थलों में स्थिति का वर्णन किया जाता है, किंतु यह ठीक नहीं, पर्याय में एक वस्तु की स्थिति अनेक स्थलों में क्रमशः एक दूसरे के अनंतर वर्णन की जाती है तथा “विशेष” में वह एक-ही काल में कही जाती है—यहाँ एक काल में एक-ही स्वभाव से किसी आधेय की अनेक आधारों में स्थिति वर्णन की जाती है, यथा—

“एकात्मायुगपद्वृत्तिरेकस्यानेक गोचरा ।”

—काव्य-प्रकाश (संस्कृत) १३५

प्रथम विसेस उदाहरन अनाधार ते आधेइ जथा—

सुँम,^१ दाता, सूरौ, सुकवि, सेत फरे^२ आचार ।

बिनाँ देह-हूँ ‘दास’ ए, जीबत^३ इहि^४ संसार ॥

वि०—“प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति-वर्णन किये जाने को “प्रथम विशेषालंकार” का विषय माना गया है, अतएव यहाँ सुँम से लेकर सुकवि-

पा०—१. (स० पु० प्र०) (वे०) सुभ...। २. (का०) (वे०) (प्र०) करै...।
३. (का०) जीब तरहि...। ४. (प्र०) ऐहि...।

आदि की स्थिति देह के बिना भी संसार में कही गयी है, इस लिये यहाँ प्रथम विशेषालंकार है ।

दासजी के इस दोहे के कई पाठांतर मिलते हैं, प्रथम जैसे—

“सुभ दाता, सूर-हुँ सुकवि, सेत करें आचार ।

बिना देह के ‘दास’ ए, जीब तरे संसार ॥”

और दूसरा —

सूरवीर, दाता, सुकवि, सेत करावै न हार ।

बिना देह-हू ‘दास’ ए, जीबत इहि संसार ॥”

पर, बहु हस्तलिखित प्रतियों-द्वारा मान्य पाठ ऊपर मूल में दिया गया है ।

दूसरी उदाहरन बिसेस को एक-ही ते बहु सिद्ध जथा—

तिय, तुव तरल-कटाच्छ-सर,^१ सहैं धीर उर-वारि ।

सही माँनियो^२ तिन सहे, तुपक, तीर, तरवारि ॥

तीसरे बिसेस को उदाहरन एकै सव थल बरनिवौ जथा—

जल में, थल में, गगँन में, जड़-चेतन में ‘दास’ ।

चल-अचलन^३ में एक-ही, परमाँतमाँ परकास ॥

“इति श्रीसकल कलाधर कलाधरवंसावगंत श्रीमन्महाराज कुँमार श्रीबाबू हिंदूपति

विरचिते ‘काव्य-निर्णय’ अत्युक्तादि-अलंकार बरनन नाम

एकादशोऽध्यायः ।” (११,

— — —

पा०—१. (का०) (सं० पु० प्र०) (वें०) जे । (प्र०) ये... । २ (का०) (वें०) सही मान ते सहि जुके, । (प्र०) सही माँनिणें तिन... । ३. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) चर-अचरन में... ।

बारहवाँ उल्लास

अथ अन्योक्ति-आदि अलंकार बरनन जथा—

अप्रस्तुत परसंस औ प्रस्तुत अंकुर लेखि ।

समासोक्ति, व्याजस्तुत्यौ, आच्छेपै अबरेखि ॥

*

परनाजोक्ति-समेत क्रिय, पट भूषन इक ठौर ।

जौनि सकल 'अन्योक्ति' में, सुनों सुकवि सिर-मौर ॥

वि०—“दास जी ने इस बारहवें उल्लास में अन्योक्ति-प्रधान—“अप्रस्तुत-प्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, समासोक्ति, व्याजस्तुति, आच्छेप और पर्यायोक्ति-आदि कुछ अलंकारों का, उनके भेदों-सहित वर्णन किया है। संस्कृत-अलंकार-साहित्य में ‘समासोक्ति’, जो वहाँ ‘अर्थ-वैचित्र्य प्रधान मानी गयी है, के अतिरिक्त अन्यों को “अभेद-प्रधान अध्यवशाय-मूलक अलंकारों के प्रथम भेद—“भेद प्रधान” अलंकारों के बाद “गम्य-प्रधान” अलंकारों में गिनाया गया है। इन अन्योक्ति-अलंकृत अलंकारों में दासजी ने प्रथम ‘अप्रस्तुत-प्रशंसा का वर्णन किया है, जो पाँच प्रकार का है।”

अथ अन्योक्ति-अंतर्गत अप्रस्तुत-प्रशंसा भेद जथा—

कारज-मुख कारन-कथन कारन के मुख काज ।

वहुँ सामान्य-बिसेस द्वै, होत ऐस-हो साज ॥

*

कहूँ सहस^२-सिर डारि के, कहत सहस^१ सों बात ।

‘अप्रस्तुत-परसंस’ के पाँच—भेद औदात ॥

वि०—“जैसा दासजी का कथन है—अप्रस्तुत-प्रशंसा (जहाँ अप्रस्तुत की प्रशंसा, उसका वर्णन—प्रस्तुताश्रय अप्रस्तुत का वर्णन करना, अप्रस्तुत का इस प्रकार वर्णन करना कि प्रस्तुत स्पष्ट लक्षित हो जाय-इत्यादि...) के पाँच भेद—कार्य-मुख से कारण, कारण-मुख से कार्य, सामान्य का विशेष से, विशेष का सामान्य से

पा०—१. (वें०) (प्र०) द्वै ..। २. (का०) (वें०) (प्र०) सरि। ३ (का०) (वें०) (प्र०) सरिस...।

और सदृश का सदृश से बोध कराने के कारण होते हैं। संस्कृत-साहित्य में इन्हें पूर्वोपर-क्रम से—कारण-निबंधना, कार्य-निबंधना, विशेष-निबंधना, सामान्य-निबंधना और सारूप्य-निबंधना, जिसे “अन्योक्ति” भी कहते हैं, नाम दिये हैं।

अप्रस्तुत-प्रशंसा में प्रस्तुत वर्णन के लिये अप्रस्तुत का कथन किया जात है—प्रसंग-गत बात को न कह कर अप्रासंगिक बात के वर्णन-द्वारा प्रसंग-गत बात का बोध कराया जाता है। यह अप्रस्तुत-द्वारा प्रस्तुत का बोध किसी संबंध के बिना नहीं होता, इसलिये अप्रस्तुत-द्वारा प्रस्तुत-बोध के लिये संबंध तीन प्रकार के—(सामान्य-विशेष संबंध, कार्य-कारण संबंध और सारूप्य संबंध) कहे गये हैं। संस्कृत “अलंकार-सर्वस्वकार” का कहना है कि “सामान्य-विशेष संबंध” अर्थात्त-न्यास-नामक अलंकार में भी होता है, किंतु वहाँ इन दोनों (सामान्य-विशेष) का कथन शब्द-द्वारा स्पष्ट किया जाता है और “अप्रस्तुत-प्रशंसा” में इन दोनों में से एक का।

संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में अप्रस्तुत-प्रशंसा के और भी—इन पाँचों के अतिरिक्त भी, भेद किये हैं, जैसे प्रथम—“कारण, कार्य, सारूप्य, विशेष और सामान्य-निबंधनादि”...। सारूप्य-निबंधना के—“श्लेष-हेतुक, सादृश्य-मात्र, श्लिष्ट-विशेषण”। इसी प्रकार सादृश्य-मात्र—“अध्यारोप से, अनध्यारोप से और अंशारोप से कही गयी है। अतएव अप्रस्तुत प्रशंसा के ग्यारह भेद होते हैं, किंतु मुख्यतः तीन (सामान्य-विशेष, कार्य-कारण और सारूप्य) अथवा पाँच (सामान्य, विशेष, कार्य, कारण और सारूप्य अथवा—सामान्य, विशेष, हेतु, कार्य और सारूप्य-निबंधना) भेद-ही माने हैं। ये सारे भेद काव्य-प्रकाश-कर्त्ता श्रीमम्मट मान्य हैं, जिन्हें परिष्कृत रूप में उन्होंने उद्धृत से लिया था। भामह और उद्धट ने कहने को तो अप्रस्तुत की प्रशंसा में प्रस्तुत के अभिधान-द्वारा किसी नये कारणों की गवेषणा नहीं की, अपितु वही धिसे-पिटे मार्ग की अपनाया, जिसे पूर्व के आचार्य प्रशस्त कर गये थे। हाँ, उद्धट के टीकाकार “प्रतिहारेंदुराज” ने ‘काव्यालंकार-सार-संग्रह-वृत्ति’ में अप्रस्तुत-वर्णन से प्रस्तुत के प्रत्यायन में एक नये संबंध का उल्लेख अवश्य किया है। जो आगे चलकर प्रशस्त बना—अप्रस्तुत के भेदों का कारण बना। वह संबंध क्या था? उसका विशद निरूपण ‘अलंकार सर्वस्व’-कार ने किया। जो तीन प्रकार का था—“०...त्रिविधश्च संबंधः—सामान्यविशेष भावः सारूप्यं चेति” वचनात्।” बाद में इसी त्रिवृत्ती संबंध को पकड़ कर आचार्य रुच्यक ने ‘अप्रस्तुत-प्रशंसा’ के—१, सामान्यविशेष-भावरूप के संबंध में, २, कार्य-कारणभावरूप संबंध में, ३, सारूप्य संबंध में तीन भेद और इन तीनों के उपभेद क्रमशः—१, सामान्य से विशेष की प्रतीति में, विशेष से सामान्य की प्रतीति में,

२, कार्य से कारण की प्रतीति में, कारण से कार्य की प्रतीति में, ३. साधर्म्य पूर्वक तुल्य से तुल्य की प्रतीति में, वैधर्म्य पूर्वक तुल्य से तुल्य की प्रतीति में” और निर्माण किये । आचार्य मम्मट ने इन्हीं भेदों को अपनाया, इन्हीं का परिस्कार किया, किंतु अप्रस्तुत से प्रस्तुत के विधान में रुचक मान्य ऊपर लिखे विभाजन रूप-त्रिविध संबंधों का उल्लेख नहीं किया । तुल्य से तुल्य की प्रतीति रूप अप्रस्तुत प्रशंसा के विवेचन में आपने कुछ विशेषता अवश्य दिखलायी, जो रुचक की परिभाषा में अस्पष्ट थी—प्रस्फुट नहीं थी । ब्रजभाषा-रीति-ग्रंथ-रचयिताओं ने, जिनमें भाषा-भूषण के कर्ता महाराज जसवंत सिंह और मतिराम (ललित-ललाम) आदि प्रमुख हैं, इसके दो-ही भेद माने हैं, यथा—

“अलंकार द्वै भाँति कौ, अप्रस्तुत-परसंस ।

इक बरनत प्रस्तुत-बिनाँ, दूजौ प्रस्तुत अंस ॥”

—भाषा भूषण

पर चितामणि (कविकुल-कल्पतरु), दूलह कवि (कविकुल-कंठाभरण) और पद्माकर (पद्माभरण) ने ऊपर लिखे पाँच भेद माने हैं । दामजी ने प्रथम-प्रस्तुत-अप्रस्तुत, समासोक्ति, लक्षित प्रस्तुतांकुर, व्याजस्तुति-लक्षित प्रस्तुतांकुर, तदनंतर ऊपर लक्षित “अप्रस्तुत-प्रशंसा के-कार्य-करण, सामान्य-विशेष और सादृश्य से निबंधित पाँचों भेद, पुनः प्रस्तुतांकुर और व्याजस्तुति, समासोक्ति, व्याजस्तुति के लक्षण-उदाहरण, अप्रस्तुत-प्रशंसा से व्याजस्तुति की भिन्नता आदि का वर्णन किया है ।’

प्रथम प्रस्तुत-अप्रस्तुत वरनन जथा—

कवि-इच्छा जिहि कथन की, ‘प्रस्तुत’ ताकों जाँन ।

अँन चाँह्यौ^१ कहिबौ परै^२, सो ‘अप्रस्तुत’ माँन ॥

अतः अप्रस्तुत-प्रसंसा जथा—

अप्रस्तुत के कहति-ही^३, प्रस्तुत जाँन्यों जाइ ।

‘अप्रस्तुत-परसंस’ तिहि, कहत^४ सकल कबिराइ ॥

समासोक्ति-लच्छित प्रस्तुतांकुर* जथा—

दोऊ प्रस्तुत देखिके^५, ‘प्रस्तुत-अंकुर’-लेखि ।

सँमासोक्ति प्रस्तुत-हिं ते, अप्रस्तुत अबरेखि ॥

पा०—१. (का०) अनचहि हूँ सु कहे परै... । (वें०) अनचाहित-हूँ कहि परै... ।

२. (प्र०) कहिये परी... । ३. (का०) कहत जहँ । ४. (का०) (प्र०) कह-हिं... ।

* का० मु०—‘प्रस्तुतांकुर समासोक्ति लच्छन ।’ ५. (प्र०) होत जहँ... ।

व्याजस्तुति-लच्छन जथा—

इँन में स्तुति-निंदा मिलें, 'व्याजस्तुति' पैहचान ।

सब में ए^१ जोजित किये, होत अ^२नेक विधान ॥

वि०—'दामजी ने ऊपर लिखे दोहों में 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' के विभेद बतलाते हुए प्रथम 'प्रशान्त-अप्रशान्त', फिर 'अप्रस्तुत-प्रशंसा', तदनंतर 'प्रस्तुतांकुर' 'और उस से विकसित 'समासोक्ति' तथा 'व्याजस्तुति' की (मोटे रूप से) उपत्ति कहो है, जो उनकी नयी सूक्त-वृक्त को—अलंकारों के वर्गीकरण की सुंदर परिभाषा को, बतलाती है ।'

आचार्य मम्मट ने आपने काव्य-प्रकाश में 'प्रस्तुतांकुर' अलंकार का उल्लेख नहीं किया है, समासोक्ति और व्याजोक्ति का वर्णन किया है । समासोक्ति और व्याजस्तुति प्राचीन अलंकाराचार्य संमत हैं । अस्तु, भामह और उद्भटाचार्यों ने समासोक्ति को परिभाषा—'समान विशेषण के सामर्थ्य से पृक्त-परक-वाक्यों के द्वारा अपृक्त अर्थ के अभिधान' को माना है । रसिक उक्त लक्षण से विपरीत हैं, वे—

“विशेषाणां साम्पाद प्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः ।”

मानते हैं । मम्मट ने सूक्त-लक्षण को ही अपनाया है—उसी से प्रभावित हुए हैं । व्याजस्तुति के प्रति भी आचार्य मम्मट के अलग विचार हैं, वहाँ भी वे भामह—उद्भटादि प्राचीन अलंकाराचार्यों का अनुगमन न कर एक नया मार्ग ही प्रमस्त करते हैं ।'

अथ अप्रस्तुत-प्रशंसा कौ प्रथम भेद कारज-मिस

कारन कौ उदाहरन जथा—

न्हात^३सँमें 'दाम' मेरे पाँइन परथौ हो^३सिंध-

तट^४ नर-रूप कोऊ^४ निपट बेकरार में ।

मैं क्हाँ^५ को है तू, क्हाँ^५ बूझत^५ कृपा-कर^५ तौ-

सहाइ कछु करौ ऐसे संकट अपार में ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) यह... । २. (का०) (वें०) (प्र०) न्हान... । ३. (का०) (वें०) (प्र०) है... । ४. (र० कु०) ...सिंधु, नटवर है के... निपट विकार में । ५. (वा०) (वें०) (प्र०) (सु० स०) (भा० भू०) है... । ६. (का०) (प्र०) (भा० भू०) कही तू कोहै, (वें०) (सु० स० (र० कु०) क्हाँ तू को है... । ७. (का०) (वें०) बूझती... । ८. (वा०) (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) (र० कु०) (सु० स०) (ग० भू०) कै... ।

हों^१ तौ बड़वानल बसायौ हरि-ही कों, मेरी-
बिनती सुनाओ द्वारिकेस^२-दरबार में ।
ब्रज की अहीरिनि^३ के आसुवा बलित आइ
जमुनाँ जराति^४ मोहि महानल-भार में ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ “न्हात-सँमे ते लै कें बड़वानल कौ जमुनाँ सों अपनों जरिबौ आदि सब कारज जो कहे सो अप्रस्तुत हैं, गोपिँन कौ बिरह कारँन है सोई प्रस्तुत है, सो कह्यौ ।

वि०—“दासजी का यह छंद—उदाहरण, “अप्रस्तुत-प्रशंसा” का (दासजी-द्वारा माना गया) प्रथम भेद—“कारज-मुख कारँन कथँन०...” (कार्य से कारण-कथन करने का—अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण के बोध कराने) का है । व्याख्या, “अस्य तिलक” रूप में दासजी-द्वारा स्पष्ट है । गोपी-विरह-संताप की कितनी बड़ी-चढ़ी यह उक्ति नहीं, ‘अत्युक्ति’ है, जिसकी प्रशंसा में कुछ कहा नहीं जा सकता । ब्रज से बहे (उत्पन्न) विशद आँसू जमुना-जल में घुल-मिल कर गंगा और गंगा-द्वारा सागर में मिलने के बाद उस (समुद्र) की तरंगों-द्वारा बड़वानल के पास पहुँचना और उसे जलाने लगना, अर्थात् “ब्रजांगनाओं का कृष्ण-विशोग-रूप प्रस्तुत कारण न कह उन (ब्रजांगनाओं) के अश्रु-मिश्रित जल से बड़वाग्नि के जलने का अप्रस्तुत कार्य का कहना—“कार्य-द्वारा कारण-कथन करना कितनी सुंदर उक्ति है कि वाह...”

“इस इश्क़ो-आशकी के मजे हम से पूर्ण्ये ।

दौलत लुटाई, रंज सहे, खो दिया सबाव ॥”

रस-कुसुमाकर संग्रह-कर्त्ता महाराज ददुआ साहिब अयोध्या तथा “सूक्ति-सरोवर” के संग्रह-कर्त्ता ला० भगवानदीन ने दासजी के इस छंद को “आँसुवों” तथा अर्जुनदास केड़िया ने “भारती-भूषण” (अलंकार-ग्रंथ) में संस्कृतानुसार अप्रस्तुत प्रशंसा के द्वितीय भेद “कार्य-निबंधना (जहाँ अप्रस्तुत कार्य का वर्णन कर प्रस्तुत कारण का बोध कराया जाय) के उदाहरणों में संकलित किया है ।”

पा०—१. (वा०) (पु०) (भा० भू०) मैं हौं ... । २. (र० कु०) (स० स०) द्वारिका के... । ३. (का०) (प्र०) (स० स०) (भा० भू०) अहीरिनी... । ४. (वा०) (वें०) (५०) (स० स०) (भा० भू०) जरावै... । (स० पु० प्र०) (र० क०) सतावै ... ।

* र० कु० (३०) पृ० ४०, ८८ । स० स० (४० दी०) पृ० ३७३, २ । भा० भू० (के०) पृ० १६७ ।

अप्रस्तुत-प्रशंसा द्वितीय भेद-कारँन-मुख कारज-कथन को उदाहरन जथा —

जोति के गंज ते^१ आधौ बराइ, बिरंचि^२ रची बृषभाँन-दुलारी^३ ।
आधौ रह्यौ सो ताहू ते आधौ लै, सूरज-चंद-प्रभाँन में डारी ॥
'दास' द्वै^४ भाग किए उबरे के,^५ तरैयँन में छबि एक की सारी ।
एक-ही भाग ते तीन-हूँ लोक को, रूपबती-जुबतीन सँवारी ॥

अस्य तिलक

इहाँ या कथा कारँन ते कारज जो है नायिका की सोभा सो बरनी ।

वि०—“दासजी-द्वारा वर्णित यह छंद अप्रस्तुत-प्रशंसा का द्वितीय-भेद”—
“कारँन के मुख काज” (कारण से कार्य-कथन) और संस्कृतानुसार अप्रस्तुत-
प्रशंसा के प्रथम भेद “कारण-निबंधना (अप्रस्तुत कारण का वर्णन कर प्रस्तुत
कार्य का बोध कराना) का उदाहरण है । अर्थात्, नायिका से नायक को मिलाने
रूप प्रस्तुत कार्य का वर्णन न कर नायिका के अति स्वरूपवती रूप अप्रस्तुत कारण
का वर्णन कर—उसके सौंदर्य का बोध कराना है । अस्तु, ठाकुर कवि-रचित यह
छंद भा इस अलंकार का सुंदर उदाहरण है, यथा—

‘कौमलता कज ते, सुगंध सब गुलाबँन ते,
चंद ते प्रकास लीनों उदित उजेरौ है ।
रूप रति-आँनन ते, चातुरी सुजाँनन ते,
नीर निरबाँनन ते कौतुक निबेरौ है ॥
‘ठाकुर’ कहत ए मसाला बिधि कारीगर,
रचनाँ निहारि क्यों न होत चित चेरौ है ।
कंचन कौ रंग लै, सबाद लै सुधा कौ,
बसुधा-सुख लूटि कें बनायौ मुख तेरौ है ॥

अथ तृतीय भेद सामान्य-मुख (मिस) विसेस को उदाहरन जथा—

या जग में तिन्हें धन्य गिनों, जे सुभाइ पराए भले कहँ दौरें ।
आपनों^१ कोऊ भलौ करै ता कौ, सदाँ गुँन-माँनि^२ रहें सब ठौरें ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) में...। २. (वें०) विरचित रज, बृषभाँन
कुमारी । ३. (का०) (प्र०)...कुँमारी । ४. (प्र०) दुभाग...। ५. (का०) (प्र०)
(स० पु० प्र०) कौ...। (वें०)...भाग कियौ उबरे कौ...। ६. (का०) (वें०) आपनऊ
सो भलौ करै...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) माँनै...।

‘दास’ जू हैं जो सकै तौ करै, बदलें उपकार के लाख^१-करोरें ।
काज हितू के लगें तैन-प्राण, जो^२ दाँन ते नैंक नहीं मुख^३-मोरें ॥

वि—“दासजी-द्वारा प्रस्तुत यह उदाहरण अप्रस्तुत-प्रशंसांतर्गत तृतीय, अथवा संस्कृताचार्यों-द्वारा वर्णित चतुर्थ भेद “सामान्य-निबंधना” (सामान्य अप्रस्तुत-द्वारा विशेष प्रस्तुत की बात स्पष्ट करना) का है । माननी नायिका-प्रति सखी वा दूती की प्रार्थना-संयुक्त उक्ति-द्वारा विरह-संतप्त नायक से मिलने रूप विशेष का स्पष्टीकरण है ।

दासजी के इस छंद के छल-स्वरूप कुछ ऐसी-ही उक्ति “जैनदी महम्मद” की याद आ गयी है, जैसे—

“अनरस-औसर औ रुसे में जु आबै काँम,
ता सों जो दुराबै दीठि ऐसौ को कठोर है ।
हाथ - हू धरेंगे, अंकमाल - हू भरेंगे,
मँन-माँन सो करेंगे, या मे तुम्हें का मरोर है ॥
“जैनदी मुहम्मद” न माँनि कैं हँमारौ क्यौ,
राखौ वाही ओर तौ चलै न कछु जोर है ।
पीठि है तिहारी, पै हँमारी है हँमारे जाँनि,
काहे तें ! रिसाँने तें हँमारी होत ओर है ॥”

विसेस मुख (मिस) सामान्य कौ उदाहरण जथा—

‘दास’ परसपर लखौ, गुँन छीर के नीर मिलें सरसात है ।
नीर^४ बिकावत आपने मोल जहाँ-जहाँ^५ जाइकें आप बिकात है ॥
पाबक जारें छीर लगै, तब नीर जरावत आपनों गात है ।
नीर की पीर-निबारिबे कारँन, छीर घरी-ही-घरी उफनात है ॥

वि—“दासजी का यह छंद आपके अनुसार अप्रस्तुत-प्रशंसा के अंतर्गत चतुर्थ और संस्कृत-अलंकाराचार्यों-द्वारा वर्णित तृतीय भेद “विशेष-निबंधना” जिसमें अप्रस्तुत विशेषार्थ—जो बात किसी खास से संबंध रखती हो, के वर्णन-द्वारा प्रस्तुत सामान्यार्थ (जो बात सर्व साधारण से संबंध रखती हो) को सूचित किया जाय, का है ।”

पा०—१. (का०) (का०) (वें०) (प्र०) आपु... २. (का०) (वें०) के...।
३. (का०) (वें०) मुह...। (प्र०) मँन...। ४. (का०) नीरौ बँचावन...। ५. (का०)
जह...। ३. (वें०) लग्यौ...।

तुल्य प्रस्ताव में तुल्य को उदाहरन जथा—

तुहीं बिसद जस भाद्रपद, जग को जीबैन देत ।

रुचै चातकै कातकै, बूंद-स्वाँति के हेत ॥

वि०—‘संस्कृत-अलंकार-चायों-द्वारा वर्णित दासजी का यह छंद “सारूप्य-निबंधना” का उदाहरण है, जो “तुल्य प्रस्ताव में तुल्य” वा “कहूँ सहस (सरिस) सिर डारिकैं, कहत सहस (सरिस) सौ वात” का-ही नामांतर है । सारूप्य-निबंधना “प्रस्तुत को न कह उसके समान अप्रस्तुत को कहा जाय, समान अप्रस्तुत का वर्णन कर प्रस्तुत का बोध कराया जाय”, अर्थात् किसी वस्तु के प्रस्तुत रहने पर उसके तुल्य किसी अप्रस्तुत वस्तु का वर्णन किया जाय, को कहते हैं, यथा—

“तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च.....।”

— काव्य-प्रकाश (संस्कृत) १०, १६ ।

और इस “तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने...” (काव्य प्रकाश, संस्कृत १०वाँ उल्लास) अर्थात् “तुल्य के प्रस्तुत रहने पर किसी तत्तुल्य अन्य पदार्थ के कथन के” — “श्लेष-हेतुक, समासोक्ति-हेतुक और सादृश्य-हेतुक” तीन प्रकार (भेद) रहे हैं । कोई-कोई इन तीनों के “श्लेष-हेतुक (विशेषण-विशेष्य दोनों का श्लिष्ट होना), श्लिष्ट-विशेषण (केवल विशेषण का श्लिष्ट होना) और सादृश्य-मात्र (श्लिष्ट शब्द के प्रयोग-बिना अप्रस्तुत का ऐसा वर्णन जो प्रस्तुत से समानता रखता हो) नाम भी कहते हैं । साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में इसके दो ही रूप — “तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने च द्विधा” अर्थात्, “तुल्य के प्रस्तुत होने पर तुल्य के अभिधान में दो ही भेद मानते हुए उन्हे “श्लेषमूला, सादृश्यमात्र मूला च” कहा है । वहाँ (साहित्य-दर्पण में) “श्लेषमूला” के भी —

“श्लेषमूला पि समासोक्तिवद्विशेषणमात्रश्लेषे, श्लेषवद्-विशेष्यस्यापि श्लेषे भवतीति द्विधा ।”

अर्थात्, “श्लेषमूलक सारूप्य-निबंधना” भी समासोक्ति की भाँति केवल विशेषणों के और श्लेष की भाँति विशेष-विशेष्य दोनों के श्लिष्ट होने पर भी होती है”, कहते हुए इसके भी दो भेद माने हैं । कोई-कोई इस सारूप्य-निबंधना के तृतीय भेद “सादृश्य-मात्र-निबंधना” के भी — “अनध्यारोप-द्वारा” (आरोप के बिना), ‘आरोप-द्वारा’ (आरोप के साथ) और “आरोप-अनारोप-द्वारा” (आरोप-अनारोप के बिना) तीन भेद और कर इनके उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं ।

अथ सब्द-सक्ति ते अप्रस्तुत-प्रसंसा कौ उदाहरन जथा—

गुँन-करनीं गज कौ धँनीं, गरें^१ धरें सुभ साज ।

अहै^२ प्रही तिहिँ राज सों, सजै^३ आपनों काज ॥

पुनः उदाहरन जथा—

‘दास जू’ जाकौ^४ सुभाव यहै, निज अंक में डारि कितै^५ नहिँ मारै ।
को हरुवौ अरु को गरुवौ, को भलौ, को बुरौ, कबहुँ न विचारै ॥

ओर कों चोट सहाइवे काज, प्रहार सहै अपने उर भारै ।
आइ परयौ खल खाल के बीच, करै अब को तुब छोह-छुहारै ॥

अथ प्रस्तुताङ्कुर (रूप) कारज-कारन दोऊ अप्रस्तुत कौ

उदाहरन जथा—

‘दास’ उसासँन होत हैं, सेत कँमल-बँन नील ।

राधे-तँन-आँचन अली, सूखत अँसुवा-भील^६ ॥

अस्य तिलक

इहाँ विरह कौ तेज ओ अँसुवान कौ (आधिक्य) दोऊ बरनत हैं, दोऊ अप्रस्तुत हैं ।

वि०—“दासजी के इस दोहे में नायिका की विरह-जन्य उसासों से श्वेत-कमलों का नीला पड़ जाना — मुरझा जाना और विरहाग्नि-तचित तन से आँसुवों को “भील” (बहुलता) का सूख जाना कार्य-कारण आदि अप्रस्तुत होते हुए भी, अर्थात् ‘अन्योक्ति’ के अंग होते हुए भी, प्रस्तुत रूप से कहे गये हैं, पर नायक के प्रति दूती-द्वारा कथित नायिका के विरह-ताप का वर्णन प्रत्यक्ष उपालंभ है, जो प्राकर्णिक होते हुए भी प्रस्तुत है ।”

पुनः उदाहरन जथा—

आरज आइबौ आली कह्यौ, भजि साँमुहें तें गई ओट में प्यारी ।
एक-ही एड़ी महाबरी^७ ही, सँम ते दुहुँ फैली खरी^८ अरुनारी ॥
‘दास’ न जाँनें धों कौन है दीबौ, चितै दुहुँ पाईन नाईन^९ हारी ।
आप^{१०} कह्यौ अरी दाँहिने दै, मोहिँ जाँन परै पग बाँस है भारी ॥

पा०—१. (वे०) (प्र०) गरौ धरै सुसाज । २. (का०) (वे०) (प्र०) अहो...। ३. (का०) (प्र०) सधै...। (वे०) (स० पु० प्र०) सधै...। ४. (स० पु० प्र०) (का०) (वे०) यकै...। ५. (प्र०) कितेकन्ह मारै । ६. (वे०) हील...। ७. (वे०) महाबर...। (प्र०) महाबर दै...। ८. (रा० पु० नी० सी०) फली..। ९. (का०) (वे०) नाँइ विहारी...। १०. (का०) आपी...। (वे०) आली ।

अस्य-तिलक—

इहाँ हूँ अंग की सुकुमारता (औ) पाँइ की ललाई प्रस्तुत हैं, पर अप्रस्तुत-रूप सों कही है ।

वि०—“कुछ ऐसी-ही बात “कविवर विहारीलाल” दूसरी तरह से कहते हुए एड़ी का वर्णन करते हैं, यथा—

“कौहर-सी ‘एबीन’ की, लाली निरखि सुभाइ ।

पाँइ महाबर देहि को, आप भई बे पाँइ ॥

अथवा—

पाँइ महाबर दें कों, नाँइन बैठी आइ ।

फिरि-फिरि जाँनि महाबरी, एबी-मीजति जाइ ॥”

और ‘पग बाँम है भारी’ पर किसी शायर का नीचे लिखा शेर कोई और ही संदेश दे रहा है—कुछ और ही गूढार्थ बता रहा है, जैसे—

“सोच इसका न होगा मुझको, तो फिर किसको हो ।

जानती तू नहीं क्या...पाँव है भारी अज्ञा ॥”

पुनः उदाहरन जथा—

सिंघनी औ मृगनी की ता ढिंग जिकर कहा,

बार औ* मुरार-हू ते*खीनी* चित्ता धरि तू ।

दूरि-हीं ते* नेंसुकि नजर-भर* पाबत-ही ।

लचकि-लचकि जात जी में ग्याँन करि तू ॥

तेरौ परमाँन परमाँन कौ* प्रमाँन है, पै

‘दास’ कहै गरुआई आपनी सँभरि तू ।

तू तौ मँन है रे*, बौ निपट-ही तँन है रे*,

लक पै दौरत कलंक सों तौ डरि तू ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ हूँ छीन कटि-बरनन के सग भारी मँन कौ, वा पै दौरिबौ—ललचाइबौ
बोझ अप्रस्तुत होत-हू प्रस्तुत रूप सों बरनन हैं ।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) बार-हू... । (न० सि० ह०) भार हू... । २. (न० सि० ह०) सों... । ३. (का०) (वें०) (प्र०) खीन... । ४. (न० सि० ह०) सों... । ५. (वें०) भाव... । (प्र०) भार... । ६. (वा०) (वें०) (प्र०) के । ७. (प्र०) री... । ८. (प्र०) री... ।

* शृ० नि० (भि० दा०) ११, ३५ । न० सि० ह० (प० सु०) पृ० २२, ६८ ।

॥० स० (भ० दी०) २६६, २३ ।

वि०—दासजी ने पूर्वोक्त 'दास उसासैन०', 'आरिज आइबौ०' और 'सिधनी औ मृगनी की०' इन तीनों उदाहरणों के शीर्षकों में 'प्रस्तुतांकर का नामोल्लेख भी किया है तथा इनसे भी पूर्व—'दोऊ प्रस्तुत-देखिकें, प्रस्तुत-अंकुर लेखि'०.....भी कहा है। अस्तु, प्रस्तुतांकुर—'एक प्रस्तुत के वर्णन से दूसरे प्रस्तुत का वर्णन होने पर माना जाता है। यहाँ दोनों ही एक दूसरे से अंकुरित होते हैं, क्योंकि इस अलंकार में प्रायः ऐसा भी होता है कि कोई अलंकृत वाक्य किसी दूसरे को सुनाकर किसी अन्य से कहा जाय तो वे दोनों अपने-अपने ऊपर घटा मान अपना-अपना भाव समझ लेते हैं।

कुवलयानंद (संस्कृत) के कर्ता ने 'प्रस्तुत के द्वारा किसी अन्य वांछित प्रस्तुत के वर्णन में प्रस्तुतांकुर अलंकार मानते हुए कहा है कि 'अप्रस्तुत-प्रशंसा में अप्रस्तुत-द्वारा प्रस्तुत का वर्णन होता है और प्रस्तुतांकुर में प्रस्तुत-द्वारा अप्रस्तुत का। वास्तव में अप्रस्तुत-प्रशंसा और प्रस्तुतांकुर में बहुत अल्प (सूक्ष्म) भेद है, जो सहज नहीं जाना जा सकता, फिर भी अलंकाराचार्यों का कहना है कि 'अप्रस्तुत-प्रशंसा में अप्रस्तुत का वर्णन और प्रस्तुत का तात्पर्य सम-बल से होता है तथा प्रस्तुतांकुर में प्रस्तुत के प्रति मुख्य भाव प्रकट होता है किंतु, प्रथम प्रस्तुत पर भी द्वितीय प्रस्तुत के समान घटना चाहिये। गूढोक्ति और प्रस्तुतांकुर में भी जरा-सा भेद है। गूढोक्ति में जहाँ दूसरा सुननेवाला आप्रह-युक्त उस उक्ति से लाभ उठाता है, वहाँ प्रस्तुतांकुर में वह आप्रह स्पष्ट नहीं होता।

प्रस्तुतांकुर को कुछ आचार्यों ने (दासजी की भाँति) भिन्न अलंकार नहीं माना, इसे अन्योक्ति ही समझा है, पर अप्रस्तुत में कभी-कभी व्यंजना वा शब्द-शक्ति से प्रस्तुत के अंकुर दिखलायी पड़ ही जाते हैं, जिससे इस अलंकार का भिन्न असत्त्व मानना ही चाहिये..., फिर भी पंडितराज जगन्नाथ अपने रस-गंगाधर (संस्कृत) में इसकी पृथक् मान्यता के प्रति कहते हैं कि 'ध्वन्यालोक' (संस्कृत) में दिये गये उदाहरण विशेष में ध्वन्याकार अप्रस्तुत-प्रशंसा-ही मानते हैं, प्रस्तुतांकुर नहीं। अन्य उदाहरणों (सखि जनों द्वारा कही गयी उक्ति में कमलनी और हंस के) में अप्रस्तुत के वृत्तांत-द्वारा अप्रस्तुत (नायिका के रति-आदि) वृत्तांत का ही कथन किया गया है, इस लिये यहाँ भी अप्रस्तुत प्रशंसा है, प्रस्तुतांकुर नहीं। अप्रस्तुत-प्रशंसा में मुख्यार्थ (मुख्य-तात्पर्य) के अतिरिक्त जो कुछ वर्णन होता है, वह सब अप्रस्तुत-शब्द के ही प्रयोग हैं, जो कहीं अति अप्राकरणिक हैं और कहीं प्राकरणिक, इसलिये प्रस्तुतांकुर-अलंकार प्रथक् नहीं माना जा सकता, अपितु उस (प्रस्तुतांकुर) का अप्रस्तुत-प्रशंसा में ही गतार्थ हो जाता है, इत्यादि....।'।

दासजी का यह छंद—‘सिंघनी-औ-मृगनी की०’ दासजी के ‘शृंगार-निर्णय’, परमानंद सुहाने के ‘नखसिख-संग्रह’ और ला० भगवानदीन के ‘सूक्ति-सरोवर’ में नायिका की कटि-वर्णन के अंतर्गत दिया गया है। नायिका की कटि के वर्णन में संस्कृत से लेकर ब्रजभाषा-साहित्य में ही नहीं, खड़ी बोली के साहित्य में भी बड़ी-बड़ी सुंदर सूक्तियाँ कही गयी हैं। एक-एक क्रमशः जैसे—

“देहं हेमद्युति परिहृतांभोजवृष्टिं च दृष्टि,
राशीभृतभ्रमरपटलीचारुवेषं च केशम् ।
दृष्ट्वासद्यो विपुल हृदयानंदमूढेन धात्रा—
सारगाध्याः किमु रचयितुं विस्मृतो मध्यदेशः ॥”

*

“सुमँन में बास जैसें सु-मँन में आबै कैसें,
‘नाँ’ कह्यौ चँहत सो तो ‘हाँ’ कह्यौ चँहत है ।
सुरसरि-सूर-तनया में सरसुति जैसें,
बेद के बर्चन-बाँचें साँचें निबहत है ॥
परिबा के इंद्रु की कला ज्यों रहै अंबर में,
पर वाकौ अच्छ परतच्छ ना लहत है ।
बुद्धि-अनुमान के प्रमान परब्रह्म जैसें,
ऐसें कटि छीन कबि ‘मीरँन’ कहत है ॥”

*

“सिंघ न जीता लंक-सरि, हारि लीन्ह बँन-बास ।
तिहि रिस रक्त-पियत फिरै, खाइ मारि कें माँस ॥”

*

“कै जान बाल की गिरह पड़ी, खोले-से होवे अमर कहीं ।
कैसी कल-कंजन की दिलवर, तनधारी बैठा समर कहीं ॥
कै लीक भावई की सोहै, नभ में निश्चै का अमर कहीं ।
उसको दो दीन दरस होवै, जो देखै तेरी ‘कमर’ कहीं ॥”

*

“मूँ से बारीक बताते हैं ‘कमर’ उस गुल की ।
मैं तो कहता-हूँ उस गुल के ‘कमर’ है ही नहीं ॥”

*

“हरचंद जुस्तजू में रहे, साहबे-निगाह ।
देखा जो दूरबीं से न आई नजर ‘कमर’ ॥”

अंत में, 'कमर' का नाम कटि क्यों पड़ा 'इस पर 'रसनिधि' की एक सूक्ति, यथा—

“नेही-मैन कटि जात लखि, पीतम-कटि-अभिराम ।

कर-कर ऐसौ काट ये, पायौ है 'कटि' नाम ॥”

मन (भारी) अर्थ से विपरीति 'रसनिधि' की यह उक्ति भी सुंदर है, जथा—

“उडत फिरत जो तूल-सँम, जहाँ-तहाँ बेकाँम ।

ऐसे दुरुप कौ धरयौ, कहा जाँन 'मन' नाम ॥”

अथ सँमासोक्ति लच्छन जथा—

जहँ प्रस्तुत में पाइये, अप्रस्तुत कौ ग्यौन ।

कहुँ वाचक, कहुँ स्लेस ते, 'सँमासोक्ति' पैहचान ॥

वि०—“जहाँ प्रस्तुत (जिसका स्पष्ट वर्णन किया जाय) के कथन में अप्रस्तुत (समता से जिसपर उस व्यवहार का आरोप किया जाय) का ज्ञान पाया जाय—उसका वर्णन किया जाय, अथवा अप्रस्तुत का वर्णन भी निकलता हो, वहाँ दास जी के अनुसार “समासोक्ति” अलंकार होता है और उसकी पहचान कहीं वाचक से और कहीं श्लेष से होती है। चंद्रालोक (संस्कृत) कर्ता का कहना है—“जहाँ किसी प्रस्तुत विषय को उठाकर उसी वाक्य में लिंग-क्रिया आदि के रूप में गर्भित किसी अन्य अप्रस्तुत-विषय की झलक दिखलायी जाय” अथवा संचित-रूप में कहा जाय—“जहाँ प्रस्तुत के वर्णन द्वारा समान विशेषणों से अप्रस्तुत का भी बोध कराया जाय, तो वहाँ 'समासोक्ति' अलंकार होता है ।

समासोक्ति—समास, अर्थात् 'थोड़े में बहु कथन' को कहते हैं। अतएव 'समासोक्ति' में संक्षेप से कही गयी उक्ति होती है, अर्थात् एक प्रस्तुत-अर्थ के वर्णन द्वारा दो (प्रस्तुत-अप्रस्तुत) अर्थों का, प्रस्तुत के वर्णन में समान (प्रस्तुत-प्रस्तुत दोनों के साथ संबंध रखने वाले) विशेषणों की सामर्थ्य से अप्रस्तुत का बोध कराया जाता है, जैसा दास जी ने पूर्व में—“समासोक्ति प्रस्तुतै ते, अप्रस्तुत अवरेखि” रूप से कहा है। समासोक्ति में दासजी-मतानुसार विशेष-वाचक शब्द श्लेष नहीं होता, केवल विशेषण समान रहते हैं। ये समान विशेषण ही कहीं श्लेष-युक्त और कहीं श्लेष-रहित (साधारण) होते हैं।

अलंकार-आचार्यों का कहना है कि 'समासोक्ति' का विषय 'श्लेषालंकार' की भाँति दुरुह है—कठिन है, क्योंकि यह प्रायः श्लेषालंकार तथा एकदेश-विवर्त्तिरूपक के साथ घुलमिल जाता है, पर गहरी दृष्टि से देखने पर इसका प्रथक्त्व साफ और सुन्दर रूप से जाना जा सकता है। अस्तु, श्लेष से इसकी पृथक्ता का वर्णन करते हुए आप लोगों का कहना है—“श्लेष-समासोक्ति” में यह प्रथक्ता है कि प्रथम (श्लेषालंकार) में—प्रकृत-अप्रकृत आश्रित श्लेष में, विशेष्य वाचक पद श्लिष्ट होता, जब कि द्वितीय (समासोक्ति) में केवल विशेषण ही श्लिष्ट होता है। प्रकृताप्रकृत रूप उभयाश्रित श्लेष में विशेष्य पद श्लिष्ट तो नहीं होता, पर उसका—प्रकृताप्रकृत विशेष्य का, विभिन्न शब्दों द्वारा कथन अवश्य किया जाता है। समासोक्ति में केवल प्रकृत विशेष्य का शब्द-द्वारा वर्णन करते हुए, अर्थात् समान विशेषणों को सामार्थ्य से प्रकृत के साथ अप्रकृत का भी बोध कराया जाता है। एक देशविवर्त्त-रूपक (वह सांग रूपक जिसमें सभी अंगों का आरोपण स्पष्ट शब्दों में न कह कर उनके अर्थ-बल से जाना जाता हो) में प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप किया जाता है, उपमान अपने रूप से उपमेय को आच्छादित कर ढक लेता है, किंतु समासोक्ति में उस रूप का आच्छादन नहीं होता, अपितु प्रस्तुत व्यवहार के द्वारा अप्रस्तुत के व्यवहार की प्रतीति मात्र होती है।

समासोक्ति में जिस दूसरे अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है, वह व्यंग्यार्थ होती है, पर यह व्यंग्यार्थ प्रधान न होने के कारण “ध्वनि” का विषय नहीं बनता, अतः समासोक्ति में वाच्यार्थ की प्रधानता रहती है—उसमें ही अधिक चमत्कार होता है, व्यंग्यार्थ गौण रहता है। ऐसे गौण व्यंग्यार्थ को ही समासोक्ति का विषय माना गया है, जैसे—

‘व्यंग्यस्य यत्र प्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।

समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटः ॥’

—ध्वन्यालोक १, १३,

अतएव जहाँ व्यंग्यार्थ अप्रधान रहकर वाच्यार्थ का शोभा-परक हो, वहाँ समासोक्ति अवश्य होती है।

संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने समासोक्ति के निम्नलिखित भेद माने हैं,— समासोक्ति, इसके “विशेषणों की समानता से, लिंग की समानता से और कार्य की समानता से” तीन भेद मान प्रथम भेद “विशेषण की समानता” के श्लिष्ट विशेषण (जब कि विशेषण-पद श्लिष्ट हो) और साधारण विशेषण (श्लेष-रहित विशेषण) रूप दो भेद और माने हैं।

आचार्य रुय्यक ने समासोक्ति का “औपम्यगर्भा” नामक एक नया भेद और माना है। इस पर पंडितराज जगन्नाथ और विरनाथ चक्रवर्ती कहते हैं—औपम्यगर्भा समासोक्ति नहीं हो सकती, कारण—उपमा में केवल सादृश्य की प्रतीति होती है, व्यवहार की नहीं। केवल व्यवहार की प्रतीति में होने वाली समासोक्ति के गर्भ में उपमा नहीं हो सकती।

दासजी ने समासोक्ति के “शुद्ध, अर्थात् व्यवहार (कार्य) की समता से, वाचक से—साधारण-साम्य से और श्लेष से तीन-ही भेद मान इनके क्रमशः उदाहरण दिये हैं।”

समासोक्ति प्रथम उदाहरण जथा—

आँनन में भलकें^१ सँम-सोकर,^२ औ^३ अलके^४-बिथुरीं छबि-छाई ।
‘दास’ उरोज घँने थैहरें, छैहरें मुकतौन की माल सुहाई ॥
नँन-नचाइ, लाचइकें लंक, मचाइ-बिनोद, बचाइ कुराई ।
प्यारी प्रहार करै कर-कंज, कहा कहां कंदुक-भाग-भलाई ॥

अस्य तिलक

इहाँ कंदुक (लिंग-भेद सों) पुरुष जाँन्यों जाइ है, सो ए सब काम (स्वकीया-नायिका के) बिपरीति के-से जाँने जात हैं, ता ते ‘समासोक्ति’ है ।

पुनः उदाहरण जथा—

सैसब-हति जोबँन भयौ, अब या तँन सरदार ।
छीनि पगँन ते दृगँन दिय,^५ चंचलता-अधिकार ॥

वि०—“दासजी से चंचलता का अधिकार पा अति चंचल बनने वाले इस दोहे के साथ ‘विहारी लाल’ का यह नीचे लिखा दोहा भी बरबस याद आ जाता है—

“अपने अँग के जाँन कें, जोबँन-नृपति प्रवीन ।
तँन, मँन, नँन, नितंब कौ, बढौ इजाफा कीन ॥”

अस्तु विहारी लाल के इस दोहे में भाव के साथ अलंकारों—हेतुत्प्रेक्षा (अमरचंद्रिका-हरिप्रकाश), फलोत्प्रेक्षा (रस-चंद्रिका), काव्य-लिंग, रूपक और तुल्ययोगिता का बहुत सुंदर वर्णन है ।

पा०—१. (का०) भलक्यौ... २. (वें०) ।स्वेद... ३. (का०) यों... (वें०) लुरें... ४. (वें०) दिप...।

पुनः उदाहरन स्लेस ते जथा—

बहु ग्याँन-कथॉन लै थाकी^१ हों में, कुल-कॉन-हूँ कौ बहु नॅम लियौ ।
 इन^२ तीखी चितों के तीरॅन ते, भॅनि 'दास' तुनीर भयौ-ई हियौ ॥
 अपने-अपने घर जाहु सबै,^३ अब लों सखि सीखि दियौ-सो-दियौ ।
 अब तौ हरि-भौह-कॅमानॅन^४ हेत, हों प्रॉनन कों कुरबाँन कियौ ॥

अस्य तिलक

इहाँ हरि की भोंह-कॅमानन पै ाँन कों न्योंछाबर कियौ यै प्रस्तुत है, पै कुरबाँन कमानॅन की ग्याँन-हूँ जाँनी जात है सो स्लेस है ।

वि०—“दासजी की यह सरस-सूक्ति परकीया नायिका (पर-पुरुष से प्रेम करनेवाली) की उक्ति है । ब्रज-साहित्य में 'परकीयत्त्व' की, उसके प्रेम की बड़ी महिमा है । यहाँ उस भ्रमेले में न पड़ परकीया नायिका-द्वारा कथित दो-एक उक्तियाँ देते हैं । प्रथम 'सूर' की, यथा—

‘सुंदर बढॅन सढॅन सोभा कौ, निरखि नॅन-मॅन थाक्यौ ।
 हों ठाड़ी, बीथिँ नि-ह्वै, निकस्थौ, उभकि भरोखॅन भाँक्यौ ॥
 मोहन इक चतुराई कीन्हीं, गॅद-उछारि गॅगॅन-मिस ताक्यौ ।
 बारों-री लाज बैरिन भई मों कों, हों गॅमार मुख-ढाँक्यौ ॥
 चितबॅन में कछु कर गयौ टोनाँ, अब न रहत मॅन राख्यौ ।
 “सूरदास-प्रभु सरबस लै कॅ, हॅसत-हॅसत रथ-हाँक्यौ ॥”

*

‘हॅम एक कुराह चली-तौ-चली, हटकौ इन्हें ए नाँ कुराह चलें ।
 इहि तौ बलि आपनों सोचिती हैं, पॅन पालिए सोई जो पालें-पलें ॥
 ‘कबि ठाकुर’ प्रति करी है गुपालसों, (सुतौ) टेरें कहों सुनों ऊँचे गलें ।
 हमें नीकी लगी सो करी हॅमनं, तुम्हें नीकी लगौ न लगौ तौ भलें ॥

एक और—

“कहिबौ कों बिथा, सुनिबे कों हँसी, को दया सुनिकें उर-आँनत है ।
 बरु पीर घटै तजि धीर सखी, दुख को नहि कापै बखॉनत है ॥
 ‘कबि बोधा’ कहे में सबाद कहा, को हमारी कही पुनि माँनत है ।
 हमें पूरी लगी, कै अधुरी लगी, यै जीब हँमारौ-ई जाँनत है ॥”

पा०—१. (वें०) थाकि...। २. (का०) (वें०) (प्र०) यह...। ३. (रा० पु० नी० सी०) भलै...। ४. (रा० पु० नी० सी०) के...।

अथ व्याजस्तुति-लच्छन जथा—

अप्रस्तुत परसंस औ^१ ‘व्याजस्तुति’ की बात ।

कहूँ भिन्न ठैहेरात है^२, कहूँ जुगल मिल जात ॥

वि०—“व्याजस्तुति के विषय में संस्कृत-अलंकाराचार्यों का कहना है कि ‘व्याजस्तुतिमु^३खेनिंदा स्तुतिर्वा रुदिरन्यथाः” (काव्य-प्रकाश—१०, १६६) अर्थात्, ‘व्याजस्तुति’ उस अलंकार को कहते हैं जिससे आरंभ में तो निंदा वा स्तुति प्रकट हो, पर परिणाम में तद्विपरीत अर्थ से उमका तात्पर्य प्रकट हो ।

व्याजस्तुति के दो भेद श्री मम्मट (काव्य-प्रकाशकार) ने भी माने हैं, क्योंकि उन्हें वहाँ स्तुति-पर्यवसायिनी केवल निंदा-ही विवक्षित नहीं—निंदापर्यवसायिनी स्तुति भी अभीष्ट थी । प्राचीन अलंकाराचार्यों में जिनमें भामह और उद्भट प्रधान हैं, की दृष्टि में केवल एक निंदा के व्याज स्तुति-परक अर्थ-ही मुख्य रहा, दूसरा नहीं । अतः उद्भट कहते हैं—

“शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निंदेव गम्यते ।

वस्तुस्तु स्तुतिः श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौ मता ॥

अर्थात्, व्याजस्तुति का सौंदर्य प्रस्फुटन इसी में है कि शब्दों की अभिधायक शक्ति निंदा का बोध भले ही करावे, पर साथ-ही पदार्थ-पर्यालोचन के द्वारा जो वाक्यार्थ निकाले वह स्तुति-परक ही हो । अतएव मम्मट-मतानुसार ‘व्याज-स्तुति’ दो प्रकार की—व्याजरूपा स्तुति और निंदा-व्याज-रूपा स्तुति बन गयी, किंतु भामह-उद्भटादि प्राचीन अलंकाराचार्य प्रणीत व्याजस्तुति का केवल एक ही रूप—व्याज से, निंदा के बहाने स्तुति रह गया, जिसको मम्मट के साथ बाद के आचार्यों ने नहीं माना—नहीं माना ।

व्याजस्तुति का शब्दार्थ है—“बहाने से स्तुति” । यह बहाना—“निंदा से स्तुति का अथवा स्तुति से निंदा का” कहा जा सकता है । अतएव दास जी के कथनानुसार “इनमें स्तुति निंदा मिलै, व्याजस्तुति पैहचान” के बाद “अप्रस्तुत प्रशंसा और व्याजस्तुति अलंकार का विषय कहीं मिला हुआ और कहीं भिन्न” देखा जाता है ।

यहाँ निंदा के व्याज स्तुति करना तो ठीक, पर स्तुति के बहाने निंदा करना दूसरी बात है । अतएव ब्रजभाषा के अलंकाराचार्यों ने संस्कृत अलंकाराचार्यों द्वारा कथित “व्याजिन-स्तुति” (व्याजेन स्तुतिः—व्याजेन वा स्तुति = निंदा के बहाने स्तुति) और “व्याजरूपा-स्तुति” (स्तुति का बहाना मात्र) रूप एक ही

शब्द के दो अर्थों को ध्यान में रख 'व्याजस्तुति' और 'व्याजनिंदा' नाम से दो पृथक्-पृथक् अलंकारों को मान दिया है। यों तो इन ब्रजभाषा के आचार्यों में ऊपर लिखे (व्याज-स्तुति और व्याज-निंदा) भेदों के प्रति मतभेद है, अर्थात् कोई इन्हें प्रथक-प्रथक और कोई एकत्रित रूप से मानते हैं, जो उचित प्रतीत नहीं होते। ब्रजभाषा-आचार्यों ने इस व्याज-स्तुति के उपयुक्त दो ही भेद नहीं, अन्य दो भेद—एक को निंदा से दूसरे की स्तुति (और की निंदा से दूसरे की स्तुति) और एक की स्तुति से दूसरे को निंदा (और की स्तुति से दूसरे की निंदा) और माने हैं, पर संस्कृताचार्यों ने इन्हे 'व्यंग्य-काव्य' कहा है, अलंकार-भेद नहीं। ब्रजभाषा-काव्य में इन सबके उदाहरण दिये गये हैं। दास जो ने इन—“एक की निंदा-स्तुति से दूसरे की निंदा-स्तुति” रूप भेद नहीं माने हैं, अपितु इनके स्थान पर “स्तुति के व्याज से स्तुति” और “निंदा के व्याज से निंदादि भेदों का उल्लेख करते हुए दोनों के उदाहरण दिए हैं। भानु (“जगन्नाथप्रसाद भानु—“काव्य-प्रभाकर”) ने व्याजस्तुति के—“उसी की निंदा से उसी की स्तुति, उसी की स्तुति से उसी की निंदा, और की निंदा से और की निंदा, और की स्तुति से और की स्तुति, और की निंदा से और की स्तुति”, तथा “और की स्तुति से और की निंदा” आदि छह भेद माने हैं।”

व्याजस्तुति भेद-लच्छन जथा—

स्तुति-निंदा के व्याज कहूँ, कहूँ^१ निंदा स्तुति-व्याज ।
 स्तुति-अस्तुति^२ के व्याज कहूँ, निंदा-निंदा साज ॥
 अथ निंदा-व्याजस्तुति कौ उदाहरन जथा —
 भौर-भोर तँन भँननाती मधु-माँखी-सँम,
 काँनन-लों फाटो^३ फाटी आखें^४ बँधी लाज की ।
 ब्यालिनी^५-सी बेनी, खीन लंक, बल-हीन सँम,
 लीन होत^६ सकल-हि^७ भूषन सँमाज की ॥
 ‘दास’ पर-चित्त^८न के^९ चोर ठहराए-
 उरजँन पाई पदवी कठोर सिरताज की ।

पा०—१. (का०) निंदा-स्तुति की व्याज । (बे०) (प्र०) निंदा. स्तुति के व्याज ।
 २. (रा० पु० प्र०)—अस्तुति व्याज कहूँ.. । ३. (का०) (का०) फाटि-फाटि आँखी...।
 ४. (बे०) आँखीं...। ५. (का०) (प्र०) ब्यालिनि...। (रा० पु० का०) ब्याली...।
 ६. (बे०) होती...। ७. (का०) (बे०) सकल-हिं...। ८. (का०)—चित्त हू की
 ठहराई उरजँन...। ९. (बे०) की चोर ठहराई, उर जाँन पाई...। (प्र०) दास चित्त-चोर
 ठहरायो उरजँन जग पाई तब पदवी...।

कौन जाँने कौन-धों सुकृतन^१-भलाई-बस,
भाँमिनि^२ भई तू मँन-भाई ब्रजराज की ॥

अथ स्तुति-व्याज निंदा कौ उदाहरन जथा —

गोरस कौ बेचिबौ-बिहाइ केँ गँवारिँन -
अहीरनीं, तिहारे प्रेम-पालिवे को क्यों अरै ।
एते पै चाहिऐ जौ राबरे के कौमल-हिऐं,
कौन नित^३ आपने कठोर कुच सों दरे ॥
'दास' प्रभु कीनी भली दीनीं यों सजाइ अब,
नीकेँ निस—बासर बियोगानल में जरै ।
ए जू^४ ब्रजराज, सब राजन के महाराज,
तुँह-बिन आज ऐसी राजनीति^५ को करै ॥

अथ स्तुति-व्याज स्तुति कौ उदाहरन जथा —

दास नंद के दास की, सरि न करै पुरहूत ।
बिद्यमान गिरिबरधरँन, जाकौ पूत-सपूत ॥

•

अमल-कमल की है प्रभा, बाल बदन कौ^६ डौर ।
ता कौ नित चुंबन करै, धन्य भाग तुब भौर ॥

अस्य तिलक

इहाँ प्रथम (बोहा) में दोऊ प्रस्तुत हैं, ताते प्रस्तुतांकुर में मिलत है, दूजे में बदन प्रस्तुत है सो अप्रस्तुत-प्रसंसा में मिलत है ।

अथ निंदा-व्याज निंदा कौ उदाहरन जथा—

नहिँ तेरौ, पै^७ बिधि-हु कौ, दूखँन काग कराल ।
जिन तो^८ कों, कलरबौ कों, दीनों बास रसाल ॥

•

दई निरदई सों भई, 'दास' बड़ी यै^९ भूल ।
कमल-मुखी कौ जिँन कियौ, हियौ कठिनई-मूल ॥

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) सुकृत कौ भलाई... २. (का०) (प्र०) भामिनी... ३. (का०) (वे०) ..हिऐ कों वह आपने... ४. (का०) (वे०) हो जू... ५. (का०) (वे०) (प्र०) राजनीति और को... ६. (का०) (प्र०) की... (वे०) के... ७. (का०) (वे०) (प्र०) यह... ८. (का०) (प्र०) तो कहै... (वे०) तो हू... ९. (वे०) है...

वि०—“निंदा के बहाने निंदा, अर्थात् “अन्य की निंदा” का ‘भानुजी’ ने भी सुंदर उदाहरण संकलित किया है, यथा—

“फूँ कि कें आई सबै बँन कों, हिय फूँ कि कें मेंन की आगि जगावति ।
तू तौ रसातल बेधि गई, उर-बेधति, नैंक दया नहिँ ल्यावति ॥
आप गई अरु औरैंन खोवति, सौति के काँम भली-बिधि आवति ।
ज्यों बड़े बंस ते छूटी है र्यों बड़े बंस ते औरैंन-हु कों छुड़ावति ॥”

व्याजस्तुति और अग्रस्तुत-प्रसंसा कौ संमिलित उदाहरन जथा—

बात इति तोसों भई, निपट भली करतार ।
मिथ्याबादी काग कों, दीनों उचित अहार ॥

*

जाहि सराहत सुभट तुँम, दसमुख बार अनेक ।
सुतौ हँमारे कटक में, ओछौ धाँमन एक ॥

पुनः उदाहरन जथा—

काहू धँनवंत कौ न कबहूँ निहारयो मुख,
काहू के न आगें दोरिवे कौ नैंम लीयौ^१ तें ।
काहू कौ न रिँन करें, काहू के दिए-ही बिँन,
हरौ तिँन असँन-बसँन छोरि दीयौ^२ तें ॥
'दास' निज सेबक-सखा सों अति^३ दूरि रहि,
लूटै सुख-भूरि कों हरख-पूरि होयौ^४ तें ।
सोबत सुरुचि जागि, जोबत^५ सुरुचि धन्य,^६
बांधव^७ कुरंग कहि, कहा तप कीयौ^८ तें ॥

पुनः उदाहरन जथा—

तैंहूँ सबै उपमाँन ते भिन्न, बिचारत-ही बहु द्यौस मरयौ^९ पचि ।
'दास जू' देखे-सुनें जे^{१०} कहूँ, अति चितँन के जुर जात खरयौ^{११} तचि ॥
सो-हू बिनाँ अपनों अँनुरूप कौ, नायक-भेंट^{१२} बिथान रही खचि ।
ए^{१३} करतार, कहा फल पायौ^{१४} तू, ऐसी अपूरब रूपवती रचि ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) लियौ...। २. (का०) (वें०) (प्र०) दियौ...। ३. (वें०) अवि...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) हियौ...। ५. (का०) (प्र०) (वें०) जोवतो...। ६. (वें०) धंध। ७. (का०) (वें०) (प्र०) बंधव...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) कियौ...। ९. (वें०) मरौ...। १०. (का०) (वें०) जु बहू (बहौ)। ११. (का०) (वें०) (प्र०) खरौ...। १२. (का०) (प्र०) भेंट...। १३. (का०) रे...। १४. (वें०) पाप...।

अथ आच्छेपालंकार वरनन जथा—

जहाँ बरजिए कहि इहै, अबसि करौ ये काज ।
मुकर परत जिहिं बात कों, मुख्य वही जहँ राज ॥

अस्य भेद जथा—

दूखि आपने कथँन कों, फेरि कहै^१ कछु और ।
‘आच्छेपालंकार’ के,^२ जाँनों तीनों डौर ॥

वि०—‘संस्कृताचार्यों ने ‘अध्यवसायमूलक गम्य-प्रधान अलंकारों में ‘आच्छेपालंकार (जहाँ विवक्षित अर्थ का किसी प्रकार से निषेध-सूचित हो— विवक्षित अर्थ का निषेध जैसा किया जाय,) को अंतिम अलंकार मानते हुए इसके ‘उक्ताक्षेप, व्यक्ताक्षेप और निषेधाक्षेप’ नाम से तीन भेद किये हैं । आक्षेप का शब्दार्थ है—अपवाद, कटूक्ति, व्यंग्यादि... पर मूलतः इसका अर्थ ‘फेंकना—‘अपने पास की वस्तु को दूर फेंकना’ होता है । संस्कृताचार्यों ने इसका अर्थ ‘निषेध’ भी माना है, क्योंकि इसमें कथित बात का निषेध भी होता है । इस निषेधात्मक चमत्कार की प्रधानता के कारण ही इस अलंकार का यह नाम पड़ा है । अतएव उक्त अलंकार में कहीं ‘निषेध’ और कहीं ‘विधि’ का आभास होने से ऊपर लिखे तीन भेद माने गये हैं । उद्भट ने जो आक्षेप का लक्षण प्रस्तुत किया है—

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिहितस्य ।

आक्षेप इति त संतः शंसन्ति कवयः सदा ॥

अर्थात्, कवि-वाणी में कुछ ऐसी भंगिमापूर्ण विचित्र शब्दावली हुआ करती है जिसमें वह अर्थ, जिसका विधान करना अभीष्ट हो उसे कुछ ऐसे निषेध के व्याज से वर्णित किया जाता है कि निषेध होने पर भी वह विधि के अंतिम रूप में परिणत हो जाता है—चमत्कार-जनक बन जाता है । अस्तु, मम्मट-मान्य आक्षेप-लक्षण के स्वरूप वर्णन में भी उक्त निषेध का स्पष्ट वर्णन है, फिर भी वहाँ कारिका में—वृत्ति मे ‘...निषेधोनिषेध इव’ कहकर इस निषेध को निषेधाभास के रूप में स्वीकार किया गया है, जो कि आक्षेप अलंकार का प्राण है और जिसके बिना उक्त अलंकार का वाच्य-वैचित्र्य बनना असंभव है ।

अलंकाराचार्यों (संस्कृत और ब्रजभाषा दोनों) में इस अलंकार के भेदों में विवाद है । कोई इसके दो (‘निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा—

सा० द० १, ६५), कोई ऊपर लिखे तीन और कोई इन तीनों के प्रकारांतर से (जैसे —उक्ताक्षेप के चार भेद, जहाँ कही हुई इष्ट बात के स्वरूप-ही का निषेध-सा किया जाय, २—जहाँ कही हुई बात का निषेध-सा किया जाय, ३—जहाँ वक्ष्यमाण या कही जानेवाली पूर्ण इष्ट बात का निषेध-सा किया जाय और जहाँ कुछ अंश कहकर बाकी अंश का निषेध-सा किया जाय—आदि) सात भेद मानते हैं, किंतु मुख्य ऊपर लिखे अथवा दासजी-द्वारा कथित तीन-भेद ही प्रसिद्ध हैं ।

संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में प्रथम आक्षेप के—‘वक्ष्यमाण-निषेधाभास, उक्त-विषय में स्वरूप का निषेधाभास और उक्त-विषय में कही हुई बात का निषेधाभास’ आदि तीन भेद माने हैं ।

ध्वन्यालोक (संस्कृत) में भामह के ‘आक्षेप-अलंकार के प्रथम भेद ‘वक्ष्यमाण-विषयक’ ‘अहंत्वा यदि नेक्ष्य०...’ उदाहरण को लेकर बहुत कुछ विवेचन किया गया है । ‘अहंत्वा यदि नेक्ष्य०’ अर्थात् ‘मैं तुमको (यदि) तनिक देर भी न देखूँ तो उत्कंठातिरेक से...बस इतना ही रहने दो, आगे अप्रिय बात कहने से क्या लाभ’ की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि ‘इस उदाहरण में जो वक्ष्यमाण अर्थ है—‘मर जाऊँगी’, उसका पूर्व ही निषेध—‘बस इतना ही रहने दो, आगे अप्रिय बात कहने से क्या’ रूप में कर दिया गया है । यहाँ ‘मर जाऊँगी’ व्यंग्य है—ध्वनि है, अतएव यह व्यंग्य (ध्वनि) होने से ध्वनि का अंतर्भाव इस अलंकार में किया जा सकता है, किंतु ध्वनि वहाँ होती है जहाँ व्यंग्य प्रधान हो । इस उदाहरण में व्यंग्य अवश्य है, पर वह प्रधान नहीं है । यहाँ तो व्यंग्य से वाच्यार्थ ही अलंकृत हो रहा है । इसलिये इस अलंकार में ध्वनि का अंतर्भाव नहीं हो सकता—इत्यादि ...’

वामन (संस्कृत काव्यालंकार सूत्र-वृत्ति) ने भी ‘आक्षेप’ का लक्षण (विषय) ‘उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः (सू० ४, ३, २७) माना है, अर्थात् जहाँ उपमान का आक्षेप निष्कृत्वाभिधान से किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है । किंतु नवीन आचार्य ऐसे लक्षण में—स्थिति में, आक्षेप नहीं मानते, वे वहाँ ‘प्रतीप’ अलंकार मानते हुए आक्षेप का लक्षण ऊपर लिखे भामह के मतानुसार ही करते हैं । वामन के इस—‘उपमानाक्षेप०’ सूत्र की व्याख्या करते हुए ‘लोचन’कार ने ‘उपमानस्य चंद्रादेराक्षेपः, अस्मिन् सति किं त्वयाकृत्यमिति’...कहते हुए जो उदाहरण दिया है, वह साहित्य-दर्पण में कथित प्रतीपालंकार से मित्रता-जुलता है । लोचनकार ने वामन के लक्षणानुसार जो उदाहरण—‘तस्यास्तमुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेदुना’०...दिया है, वहाँ पूर्णचंद्र के साथ मुख की

सादृश्यादि रूप उपमा व्यंग्य है, प्रधान नहीं। वह वाच्य को ही अलङ्कृत कर रही है। यहाँ 'कि पार्वणेनेन्दुना' से चंद्र का निष्फलत्वाभिधान रूप अपमानात्मक वाच्य अधिक चमत्कारी है। इसलिये यहाँ अथवा ऐसे उदाहरणों में व्यंग्य-प्राधान्य रूप ध्वनि का असतित्व न होने से उस (ध्वनि) का आक्षेप में अंतर्भाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यंग्य और ध्वनि समानार्थक नहीं। सभी प्रतीयमान अर्थ व्यंग्य हैं, ध्वनि नहीं। ध्वनि वहीं मानी जायगी, जहाँ व्यंग्य का प्राधान्य हो !

कुछ आचार्यों ने 'वामन' के इस सूत्र—'उपमानाक्षेपः० की व्याख्या 'उपमानस्य आक्षेपः सामर्थ्यादाकर्षणम्' रूप से भी की है। अर्थात् जहाँ उपमान का सामर्थ्य से आकर्षण किया जाय, वह शब्दतः उपात्त न हो तो वहाँ आक्षेप-अलंकार कहा जायगा। इसके उदाहरण में वामन प्रयुक्त उदाहरण — "ऐंद्र धनुः पांडुपयोधरेण०....." जो 'उपमानस्याक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि-सूत्रार्थः" रूप से देते हैं। अस्तु, इस उदाहरण में भी ईर्याकलुषित नायकांतर रूप उपमान आक्षेप है, वह वाच्यार्थ को ही अलङ्कृत कर रहा है। अतएव यह वामन-मतानुसार आक्षेप का उदाहरण हो सकता है, भामह-आदि के मत से नहीं। वे यहाँ समासोक्ति अलंकार मानते हैं, उसका विषय कहते हैं। अतएव 'आक्षेप' में उक्त बात मानने और करनेवाले भी इसमें वाच्य का चारुत्व-ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि आक्षेप वचन-सामर्थ्य से ही प्रधानतया वाक्यार्थ प्रतीत होता है। वहाँ विशेष के बोधन की इच्छा से जो शब्दोपात्त रूप आक्षेप है, वही व्यंग्य विशेष का आक्षेप कराता है—वही उसका मुख्य काव्य-शरीर है। यहाँ चारुत्व के उत्कर्ष मूलक वाच्य और व्यंग्य का प्राधान्य विवक्षित होता है, जैसे—

“अनुरागवती संध्या दिवसस्तरपुरः सरः ।

अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः ॥”

— ध्वन्यालोक १, १३

यहाँ नायक-नायिका के कथनोपकथन में व्यवहार रूप व्यंग्य की प्रतीति होने पर भी वाच्य का चारुत्व अधिक होने से वाच्य को ही प्रधानता विवक्षित है।

इस—'अनुरागवती०....'रूप उदाहरण में वामन-मतानुसार 'आक्षेप' और भामह-मतानुसार 'समासोक्ति' अलंकार माने गये हैं तथा इस बात का खयाल करके ही ध्वनिकार ने यहाँ उक्त उभय-अलंकारात्मक उदाहरण दिया है, किंतु यहाँ आक्षेप है, या समासोक्ति यह विचारणीय प्रश्न नहीं है। यहाँ प्रकृत बात तो इतनी-ही है कि अलंकार-स्थल में व्यंग्य सर्वथा वाच्य में गुणीभूत

हो जाता है, इसलिये ऐसे स्थलों में व्यंग्य का प्राधान्य न रहने से इसे ध्वनि-काव्य या ध्वनि का विषय नहीं कहा जा सकता। अतएव ध्वनि का अलंकारों में अंतर्भूत होने का प्रश्न नहीं उठता” — इत्यादि...।

प्रथम आच्छेप “आयुस-मिस बरजिबे कौ उदाहरन जथा—

जैऐ बिदेस, महेस करै^१ उत बात तिहारी सबै बनि आवैं ।
पीतँम कों बरजै कछु काँम में, बाँम^२ अयानिनि कौ पद पावै ॥
एती बिनै करि^३ दासिँन पै,^४ कहि जाइवो नेंक बिलंब न लावै ।
काँन्ह पयाँन करौ तुँह ता दिनाँ,^५ मोहि लै देब-नदी अँन्हवावै^६ ॥

वि०—“दासजी का प्रस्तुत उदाहरण - “आयुस-मिस बरजिबौ”—रूप आच्छेप का, उसके प्रथम भेद का उदाहरण कहा गया है, पर संस्कृत और ब्रज-भाषा के अलंकार-आचार्यों के मतानुसार आच्छेप अलंकार के तृतीय भेद—व्यक्ताच्छेप (जिस कथन में अनिष्ट अर्थ की ऐसी विधि हो—आज्ञा हो, जो निषेध के तात्पर्य से गर्भित हो) का और नायिका-भेद को दृष्टि से “प्रवक्ष्य-त्पत्तिका” (प्रियतम के होने वाले वियोग की आशंका से दुखित) नायिका का उदाहरण है। अतएव उक्त नायिका का कथन है कि “आप प्रदेश अवश्य जाँय, पर उस दिन जाँय जिस दिन मुझे गंगा में नहलाया जाय, अर्थात् जब मैं “मर जाऊँ” । विधि-पूर्वक वचनों में निषेध है—विदेश-गमन रूप अनिष्ट की संमति का आभास मात्र है, विदेश-गमन रूप अनिष्टार्थ की विधि है—आज्ञा है, साथ-ही अंतिम पद-द्वारा विदेश-गमन के निषेध का तात्पर्य गर्भित है ।

प्रवक्ष्यत्पत्तिका रूप प्रिय-गमन से दुखित नायिका के वर्णन में भी ब्रजभाषा के कवियों ने अपने से पूर्व साहित्यकारों से बाजी मार ली है। दो-एक उदाहरण, जैसे—

“माँन कै सुरी न, दसा - दुसह दुरी न,
छिँन एकौ बिलुरी न, रुठि हठि न हठाँऊगी ।
पीठ देंउ जी-ही कों न पीठ पी कों देंउ नेंक,
नीठ परदेस चले, उठि न बिठाँऊगी ॥
पीतँम सों प्रीति की प्रतीति, मेरें और की न-
प्रेम - पीठ - बैठि मोर - ऐंठि न बढाँऊगी ।

पा०—१. (वे०) करौ उतपात...। (प्र०) करेँ...। २. (का०) नाम...। ३. (का०) (वे०) करौ...। ४. (का०) (वे०) (प्र०) सों...। ५. (का०) (वे०) (प्र०) दिन...। ६. (का०) (वे०) नहवावै ।

प्रानप्रति प्रात - हो पर्याँन करौ चाँहैं 'देव',

सेवा करिबे कोँ संग प्राँनन - पठाँऊगी ॥”

❀

“रोकहुँ जो तौ अमंगल होत, औ प्रेम-नसै जो कहों ‘पिष-जाइए।
जो कहों ‘जाउ न’, तौ प्रभुता, जो कछु न कइौ तौ सँनेह-नसाइए ॥
जो ‘हरिचंद’ कहों तुँ म्हरे-बिन, ‘जाहों न’ तौ यै क्यों पातियाइए।
ताते पर्याँन सँमें तुम सोँ हँम, का कहँ प्यारे, हँमें सँमझाइए ॥”

❀

“जाने की जिद है, जाइये, है देर किस लिये।

गुजरेगी जिस तरह से, हँम भी गुजार देगे ॥”

अथ द्वितीय आच्छेप रूप ‘निषेधाभास’ कौ उदाहरन जथा—

आज ते नेह कौ नाँतौ गयौ, तुँम नैम^१-गह्यौ हों-हूँ^२ नैम-गहोंगी^३।
‘दासजू’ भूलि न चाहिऐ^४ मोहि, तुम्हें अब क्यों हूँ न हों-हूँ चहोंगी ॥
वा दिँन मेरे प्रजंक पै सोए हो हों^५ बह^६ दाब लहों प लहोंगी।
माँनों भलौ कै^७ बुरौ मँनमोंहँन, सेज^८ तिहारी में सोइ रहोंगी ॥*

वि०—“दासजी कथित यह उदाहरण आक्षेप द्वितीय रूप “निषेधाभास” का—“जिसमें विवक्षितार्थ का वास्तविक निषेध न हो, निषेध का आभास मात्र हो,” का है। संस्कृत में इसे “निषेधाक्षेप” भी कहा जाता है।

अथ तृतीय आच्छेप रूप “निज-कथँन कौ दूँन-भूँन” जथा—

तुब मुख बिमल-प्रसन्न अति, रह्यौ कँमल-सौ फूलि।

नहिँ-नहिँ पूरँन चंद-सौ, कँमल कह्यौ में भूलि ॥

पुनः उदाहरन जथा —

जिय की जीबँन-मूरि मँम, वौ^१ रँमनी-रँमनीय।

यैहु^२ कहत हों भूलि के, ‘दास’ वही मो जीय ॥

पा०—१. (प्र०) नेह...। २. (प्र०) हम...। ३. (रा० पु० नी० सी०) गहेंगी...। ४. (रा० पु० नी० सी०) चाँहीं हमें, तुम्हें अब क्यों-हूँ न हम-हूँ चहेंगी। ५. (रा० पु० नी० सी०), हम वौ दाब लहें पै लहेंगी। ६. (का०) (वे०) यह। ७. (का०) (प्र०) कि...। (वे०) की...। ८. (वे०) सैन तिहारी में खै-ही...। (रा० पु० का०) सेज तिहारिपे। (रा० पु० नी० सी०) हम सेज तिहारिपे सोइ रहेंगी। ९. (का०) (प्र०) वा...। १०. (का०) (वे०) (प्र०) यहौ...।

* मृ० नि० (भि० दा०) पृ० ३४, १६१।

वि०—दासजी कृत यह (दोनों उदाहरण) तृतीय आक्षेप—“निज कथन कौ दूखें मिस भूषन-सम वरनन” का है । अलंकार के अन्य ग्रंथों में यह प्रथम आक्षेप (जिसमें अपने कथितार्थ का उत्कर्ष-सूचक निषेध किया जाय) का है । ये दोनों उदाहरण नायिका के सौंदर्य और प्रेम के उत्कर्ष को सूचित करते हैं । मतिरामजी ने भी उक्त अलंकार का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किया है, यथा—

“दू मृदु-पाँइन जाबक कौ रँग, नाह कौ चित्त रँगै-रँग जातें ।
अजन दू करौ नैनन में सुखमाँ बढि स्याँम - सरोज - प्रभातें ॥
सोने के भूषन अंग रचौ, “मतिराम” सबै बस कीवे की घातें ।
यो-हीं चलौ न, मिँगार सुभाव-हि, मैं सखि, भूलि कही सब बातें ॥”

अथ परजायोक्ति अलंकार वरनन जथा—

कहै लच्छन-रीति लै, कछु रचन-सों बेंन ।
मिस-करि कारज साधिबौ, ‘परजाजोक्ति’ सु ऐन ॥

वि०—“जहाँ पर्याय—शब्दार्थानुरूप ‘प्रकार’ और ‘व्याज’ (वहाने) इन दोनों (अर्थों) के आधार पर वर्णन किया जाय, वहाँ उक्त अलंकार कहा जाता है । दासजी ने यहाँ—पर्याय-अलंकार का लक्षण न कह उसके दोनों भेदों—“जहाँ लक्षणा की रीति से—व्यंग्य से, अपना इच्छित अर्थ कहना” और “जहाँ किसी वहाने से मन-वांछित-कार्यसाधा जाय”, का लक्षण कहा है ।

पर्यायोक्ति का शब्दार्थ है, पर्याय (अन्य प्रकार) से कहना—अपने अभीष्ट अर्थ को सीधी भाँति न कह घुमा-फिराकर कहना । यह घुमा-फिराकर कहना ‘प्रकार’ (जिसमें विवक्षितार्थ का वर्णन सीधी रीति से न कर चमत्कारपूर्ण प्रकारांतर से किया जाय) से तथा “व्याज” (जहाँ किसी रमणीय व्याज—वहाने के साथ—द्वारा अभीष्ट-साधन किया जाय) से बनता है ।

पर्यायोक्ति का सर्वप्रथम लक्षण भामह का इस प्रकार है “पर्यायोक्तं पदन्येव प्रकारेणाभिधीयते ।” जिसे उद्भट ने परिष्कृत किया और दंडो ने भी इनका अनुशरण किया । काव्य-प्रकाशकार मम्मट ने उक्त अलंकार के लक्षण में अनुशरण तो भामह, उद्भट और दंडी का ही किया है, पर अपने वाक्-वैचित्र्य के साथ । भामह और दंडी कृत लक्षणों में जो ‘अन्य प्रकार’ तथा ‘प्रकारांतर’ का रूप अस्पष्ट था उसे आपने—‘अवगमन-व्यापार’, वा व्यंजन-व्यापार से कहकर अधिक

स्पष्ट कर दिया। साथ-ही व्यंजना के द्वारा वाच्यार्थ का अभिधान रूप जो पर्यायोक्ति का प्राण था, उसे भी अधिक स्फुट कर दिया। क्योंकि उक्त अलंकार में व्यंजना-द्वारा वाच्यार्थ का अभिधान-ध्वनि द्वारा नहीं—उसका चमत्कार व्यंग्यार्थ से विभूषित नहीं, अथितु “उक्ति-वैचित्र्य” से है...।

अथ प्रथम रचना सों बेंन (शब्दार्थानुरूप प्रकार) को

उदाहरन जथा—

जा तुव बेंनी के बैरी के पच्छ की, राजी मनोहर सीस चढ़ाई ।
‘दास जू’ हाथ लिए^१ रहै कंठ, उरोज, भुजा, चख तेरे कै^२ भाई ॥
तेरे-ई रंग कौ^३ जा कौ पटा, जिन तो रद-जोति को माल बँनाई ।
तो मुख के तौ हरायल^३ आज, दई उनकों अति हायलताई ॥

दूसरी उदाहरन मिसकरि (व्याज से) कारज साधिवे को जथा —

आज चंदभागा,^४ चंपलतिका - बिसाखा कों,
पठई^५ हरि-बाग में^६ कलौमें करि कोट-कोट ।
साँझ - सँमें बीथिनि में ठाँनि^७ दृग - मीचनों
भुराई तिन राधे कों जुगत कै निखोट-खोट ॥
ललिता के लोचँन मिँचाइ चंदभागा सों,
दुराइवे कों ल्याँई वे तहाँ-ई ‘दास’ पोट-पोट ।
जाँन - जाँन धरी, तिय - बाँनी लखरी,^८ तकि
आली तिहिँ घरी,^९ हँसि-हँसि परीं लोट-लोट ॥*

वि० - “द्वितीय पर्यायोक्ति का लक्षण जैसा दासजी ने माना है, वह लक्षण “चंद्रालोक” (जयदेव) और “कुवलयानंद” के अनुसार है—पर इस लक्षणानुसार “पर्यायोक्ति” (प्रकारांतर से कहा जाना) का जो विशेष चमत्कार है, वह स्पष्ट नहीं होता...। दंडो ने इसका लक्षण—“इष्ट-अर्थ को स्पष्ट न कह, उसकी सिद्धि के लिये प्रकारांतर से कहा जाना “माना है ।”

पा०—१. (वे०) को.. । २. (वे०) की जाकी पटा.. । ३ (का०) हरायत...।
४. (वे०) चद्रावली...। ५. (वे०) पठाई । ६. (का०) (वे०) (प्र०) ते'...।
७. (शृ० नि०) ठाँनी दृग-मीचनी...। ८. (का०) (वे०) (प्र०) लखरी...। (शृ० नि०) रसमरी सब । ९. (का०) (वे०) (प्र०) धरी...।

* शृ० नि० (दास) पृ० ८२, २४२ ।

। आचार्य मम्मट ने भी अपने काव्य-प्रकाश (संस्कृत) के दशवें उल्लास में अन्य अलंकारों के साथ पूर्वापर-क्रम से अप्रस्तुत प्रशंसा तदनंतर आक्षेप, व्याज-स्तुति, पर्यायोक्ति और समासोक्ति का उल्लेख किया है। प्रस्तुतांकुर अलंकार आपने नहीं माना और समासोक्ति के प्रति भी आपके विचार स्फुट रूप में नहीं हैं। यों तो समासोक्ति नाम का प्रथम उल्लेख वार्तिक रूप में—

“तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः श्लेषः ‘समासोक्तिः’ सादृश्यमात्रं वा तुल्यात्तुल्यस्यहि आक्षेपे हेतुः ।”

अर्थात् तुल्य विषय के प्रस्तुत रहने पर उसके तुल्य अप्रस्तुत विषय के वर्णन में तीन प्रकार संभव हैं, जिन्हे—श्लेष, समासोक्ति और सादृश्य-मात्र का सद्भाव कहकर किया है। और आगे—

“साधारणविशेषणवशादेव समासोक्तिरनुक्तिमपि उपमानविशेषः०...।”

में भी किया गया है, पर उसे प्रथक् अलंकार रूप से नहीं अपनाया है। यही प्रस्तुतांकुर के संबंध में भी कहा जा सकता है। अस्तु, वहाँ इन दोनों-ही अलंकारों का उल्लेख नहीं है।

“इति श्री सकलकलाधर कलाधरबसावतंस श्रीमन्महाराजकुमार

श्री बाबू हिंदूपति-विरचिते ‘काव्य-निरणय’ अन्योक्ति-

आदि अलंकार वरननं नाम द्वादसोद्धासः ॥”

अथ तेरहवाँ उल्लासः

विरुद्धालंकार बरनन जथा—

विविध, विरुद्ध—‘विभावना’, “व्याघातै” उरु आँन ।

“विसेसोक्ति”^१ और “असंगति,” “विषम” सहित छै जाँन ॥

वि०—‘इस उल्लास में दासजी ने संस्कृताचार्य-द्वारा कहे गये “विरोध-मूलक”—“विरुद्ध (विरोधाभास), विभावना, व्याघात, विशेषोक्ति, असंगति, “और विषम” आदि छह अलंकारों का कथन किया है। संस्कृत-साहित्य में विरोध-मूलक तेरह (१३) अलंकार माने गये हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—“विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, विषम, सम, असंगति, असंभव, विचित्र, व्याघात, अधिक, अल्प, विशेष और अन्योन्य। “दासजी के उक्त छह विरुद्धालंकार (विरोध-मूलक) मानने का क्या आधार है, कुछ कहा नहीं जा सकता। वह स्वतंत्रता-संयुक्त है। “रुच्यक” और उनके शिष्य “मन्त्रक” ने भी “विरोध मूलक बारह अलंकार—“विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति, कार्य-कारण पूर्वोपपन्न असंगति और विषम माने हैं। इनमें “अल्प” और “असंभव” का वायकाट कर “अतिशयोक्ति” को स्थान दिया गया है। ये सभी अलंकार विरोध-मूलक हैं। सम को विरोध-मूलक न होने पर भी “विषम” का विरोध होने के कारण इस वर्गीकरण में स्थान मिला है, इत्यादि. . . ।

काव्य-प्रकाश संस्कृत के मान्य ग्रंथ में भी इनका कोई प्रथक् उल्लास के साथ कथन वा वर्णन नहीं है। वहाँ प्रथम विभावना पुनः विशेषोक्ति और इसके बाद विरोधाभास, असंगति, विषम और व्याघात का बिना कोई क्रम के आगे-पीछे उल्लेख है। साहित्य-दर्पण में भी प्रायः यही परिपाटी है। अस्तु, विरोधालंकार वहाँ है, जहाँ सुने जाने वाले शब्द से विरोध-सा प्रतीति तो हो, परंतु शब्दों का अन्य-परक तात्पर्य होने से उसका परिहार भी हो जाय...। अर्थात् विरोध के आभास से विकृत होकर भी चमत्कार-जन्य बना रहे, क्योंकि यह अलंकार तभी अलंकार है, जब कि वाच्यार्थ में विरोध प्रतिभाषित होता रहे। यदि उसके

पा०—१. (का०) (प्र०) विसेसोक्तिरु असंगत्यौ...। (वै०) विसेसोक्ति अरु संगतौ, विषम समोक्ति छह...।

व्यंग्यार्थ में विरोध प्रतीति न हो तो वहाँ उक्त अलंकार नहीं, उसकी ध्वनि होगी। वस्तुतः उक्त अलंकार, कवि-प्रतिभा का शब्द रूपावतार है, जो अपनी विवक्षा से प्रजापति की सृष्टि में परिवर्तन कर नीरस को भी सरस बना देता है—कठोर में भी कोमलता का सृजन करता है।

प्रथम विरुद्धालंकार जथा—

कहत, सुँनत, देखत जहाँ, है कछु अँनमिल-बात
चमतकार-जुत-अरथ-जुत, सो “विरुद्ध” औदात^१ ॥

वि०—“जहाँ कहते, सुनते और देखते चमत्कार से पूर्ण अर्थ-युक्त अनमिल (बिना मेल = प्रथम कही हुई के विरुद्ध) बात कही-सुनी जाय वहाँ ‘विरुद्धालंकार’ होता है, ऐसा दासजी का अभिमत है। संस्कृत-अलंकाराचार्यों की भाँति भास्कर-दासजी ने भी ‘विरुद्धालंकार’ को ‘विरोधाभास’ नाम देते हुए इसका विषय उन्हीं की भाँति -

“भासै जबै विरोध-सौ, वहै “विरोधाभास” ।”

माना है, अर्थात् जहाँ वास्तविक विरोध न होकर विरोध-सा भासित हो, वहाँ यह अलंकार होता है—बनता है। यह विरोध का आभास जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के वर्णनों में, एक के प्रति दूसरे का पारस्परिक रूप में प्रकट होता है, जैसा श्री दासजी ने “विरुद्धालंकार” के भेद करते हुए कहा है। यथा—

अथ विरुद्धालंकार-भेद बरनन जथा—

जाति-जाति, गुँन-जाति औ क्रिया-जाति अबरेख ।
जाति-द्रव्य, गुँन-गुँन^२ क्रिया, क्रिया-क्रिया-गुँन लेख ॥

*

क्रिया-द्रव्य, गुँन-द्रव्य औ, द्रव्य-द्रव्य पैहचॉन ।

ए दस भेद ‘विरुद्ध’ के, गने^३ सुँमति उर-आँन ॥

वि०—“उक्त दस भेदों से अलंकृत ‘विरुद्धालंकार’-जाति का जाति से, जाति का गुण से, जाति का क्रिया से, जाति का द्रव्य से, गुण का गुण से, गुण का क्रिया से, गुण का द्रव्य से, क्रिया का क्रिया से, क्रिया का द्रव्य से, द्रव्य का द्रव्य से माना जाता है।

विरोधालंकार में यह आवश्यक है कि कही हुई बातों में विरोध स्पष्ट दिखलाया जाय, पर वास्तविक विरोध न हो। वास्तविक विरोध-प्रदर्शन होने पर वह दोष बन जायगा। यहाँ विरोध ऐसा हो जिसका उचित कारणों से समाधान किया जा सके, क्यों कि यहाँ विरोध न होकर विरोध का आभास मात्र है। यों तो विभावना, विशेषोक्ति और विरुद्ध ये तीनों-ही अलंकार विरोध-मूलक हैं, प्रथम दो (विभावना-विशेषोक्ति) में विरोध संकुचित है— अपवाद रूप में आता है, विरुद्ध में उत्सर्ग के रूप में, अर्थात् पूर्णतः प्रदर्शित किया जाता है। पहिले दोनों में विरोध कार्य-कारण संबंध से होता है, इसमें कार्य-कारण का कोई संपर्क नहीं होता। विभावना में कारण का अभाव अपूर्णतादि बाधक हैं, कार्य बाध है। कारण का अभाव वास्तविक है और कार्य कल्पित है तथा विशेषोक्ति में इसके विपरीति, उल्टा। इसमें कारण बाधक है तथा कार्य का अभाव बाध है, अर्थात् कारण के प्रस्तुत रहते भी कार्य के न होने की कल्पना की जाती है। उक्त (विभावना-विशेषोक्ति) दोनों में वास्तविक तथा कल्पित में विरोध रहता है। विरुद्ध में दोनों-ही बाध-बाधक होते हैं और दोनों-ही सम्बल के होते हैं।”

प्रथम विरुद्ध “जाति-जाति सों कौ उदाहरन जथा—

प्राँनन^१-हरत, न धरत उर, नकु दया कौ साज ।

एरी, यै द्विजराज भौ, कुटिल कसाई आज ॥

अस्य तिलक

इहाँ ‘रूपक’ अंग है, जाति-गुँन सों विरुद्ध ।”

वि० — “इस उदाहरण में “द्विजराज” और “कसाई” दोनों-ही जाति-वाचक शब्द हैं, दोनों-ही एक-दूसरे के विरोधी हैं, पर विरह-दशा में दोनों को सम (बराबर) कहा गया है।”

द्वितीय विरुद्ध “जाति सों क्रिया” कौ उदाहरन जथा—

दरसाबत थिर दाँमिनी, केलि-तरुनि-गति^२ देत ।

तिल-प्रसून सुरभित करत, नौतन बिध भख-केत ॥ *

अस्य तिलक

इहाँ “रूपकानिसे-उक्ति” अपरांग है, जाति क्रिया सों विरुद्ध है ।

पा०—१. (रा० पु० प्र०) प्राँन-हरत नहि...। २. (प्र०) दुति...

* भा० भू० (केडिया) पृ० २१४ ।

पुनः उदाहरन जथा—

पंगुन कौ पग होत^१, अंधेन^२ कौ आसा-मग,
एकै जाँन हूँ कें जग कोरति चलाई है ।
बिरचै^३ बितौन बैजयंती बारि गहै थाहैं,
बास-सी बिलासी बिस्व-विदित बड़ाई है ॥
छाया करै जग कों, थहाया करै ऊँच^४-नीच,
पाइ जिहि^५ बंसन^६ में बढ़त सदाई है ।
काँन्ह-मुख लागि^७ करै करम-कसाइँन कौ,
वाही बंस बाँसुरो जँनम-जरी^८ जाई है ॥*

वि०—‘जो पंगुआं (लंगड़ों) को पैर, अंधों को मार्ग-प्रदर्शन का-किसी सवारी का काम देकर जग में कीर्ति फैलाए। जिससे लोग वितान (पाल-तंबू) और पताकाएँ तानते हैं, गहरे पानी को थाह लगाते हैं, काड़े सुखाने की अरगनी बनाते हैं, जो छप्पर में बँध कर छाया और ऊँचे-नीचे मार्ग में सहारा देता है, ऐसे वंश में पैदा होकर ये “जनम-जरी” श्रीकृष्ण के मुँह-लगाकर कसाई का कार्य करती है, इत्यादि ..। यह जाति से क्रिया-विरुद्ध का सुंदर उदाहरण है ।’

अथ तृतीय विरुद्ध जाति सों द्रव्य कौ उदाहरन जथा—

चंद कलंकित जिन कियौ, कियौ सकंट मृनार^१ ।
वहै बुधन बिरही करै, अबबेकी करतार^२ ॥
अथ चतुर्थ विरुद्ध गुँन सों गुँन कौ उदाहरन जथा —
प्रिया, फेरि कहि वैस-हीं, करि बिय^३ लोचँन लोल ।
मोहि निपट मीठे लगें, ए तेरे^४ कटु बोल ॥†

अथ पंचम विरुद्ध क्रिया सों क्रिया कौ उदाहरन जथा —
सिब साहिब अचरज भरयौ, सकल रावरौ अंग ।
क्यों काँमें जारयौ, कियौ क्यों काँमिनि अरधंग ॥

पा०—१. (वे०) होते...। २. (का०) (वे०) (प्र०) अंधेन ..। ३. (वे०) बिरचौ .। ४. (का०) (वे०) (सू० स०) ऊँचौ-नीचौ पाया । ५. (का०) बंस में यों बढ़त...। (वे०) बंस के मे बढ़त...। (प्र०) पाई जेहि बंस में यों बढ़ती सुहाई है । ६. (वे०) लागी...। ७. (वे०) (सू० स०) जरी...। ८. (वे०) मृनाल ..। ९. (वे०) करताल...। १०. (का०) बिबि...। ११. (का०) (प्र०) (स० पु० प्र०) तेरी..। (वे०) तेरी...। (का०) (वे०) (प्र०) (स० पु० प्र०) मीठी लगें, यह तेरी—तेरी..।

* सू० स० (ला० भ० दी०) पृ० ५४ । † भा० भू० (केड़िया) पृ० २१७ ।

अथ षष्ठ विरुद्ध गुँन सों क्रिया कौ उदाहरन जथा—

दच्छिन पौन त्रिसूल भयौ, त्रिगुनों^१ नहिं जाँने कि सूल है कैसौ ।
सोरौ मलै^२ जगती में बहै, दुख देंन कों भौ अहि-संगी अँनैसौ ॥
बारिज हू बिष-रीति^३ लई,^४ अब 'दास' भयौ है^५ जु औसर ऐसौ^६ ।
जाहि पियूष-मयूष कहैं, वो^७ काँम करै रजनीचर जैसौ^८ ॥

अथ सप्तम विरुद्ध गुँन सों द्रव्य कौ उदाहरन जथा—

'दास', छाँड़ि^९ दासीपनों, क्रियौ न दूजौ तंत ।
भाबी-बस तिहिँ कूबरी, लह्यौ कंत जग-बंद ॥

अथ अष्टम विरुद्ध क्रिया सों द्रव्य कौ उदाहरन जथा—

केस, मेद, कच, हाड़ सों^{१०} बवै त्रिबेनी-खेत ।
'दास' कहाँ कौतुक कहों, सुफल च्यारि लुनि लेत ॥

अथ नवम विरुद्ध द्रव्य सों द्रव्य कौ उदाहरन जथा—

ज्यौ पट लह्यौ^{११} बघंवरौ, सज्यौ चंद नख^{१२} भाल ।
डोंरु-ब्याल त्यों संप्रहौ, तजि मुरली-बँनमाल ॥

अथ विरुद्धालंकार-ससृष्टि उदाहरन जथा—

नेह-लगावत रूखी परी तँन,^{१३} देखि गही अति उन्नतताई ।
प्रीति बढावत बैर-बढायौ, तू कोमल^{१४} गात^{१५} गही कठिनाई^{१६} ॥
जे ती करो अँनभाँवती तू, मँन-भाँवती तेती सजाइ कों पाई ।
भाकसी भौन, भयौ ससि सूर, मलै बिष ज्यों सर-सेज सुहाई ॥

वि०—“काव्य-निर्णय” की सभी (हस्त-लिखित तथा मुद्रित) पुस्तकों में विरुद्धालंकार के कथित दस भेदों के उदाहरण-रूप दस छंद तो मिलते हैं, पर शीर्षक नहीं मिलते । एक को कमी छटकती रहती है । यहाँ विविध शीर्षकों

पा०—१. (का०) । (वें०) (प्र०) त्रिगुने... । २. (वें०) (सं० पु० प्र०) मलैज गन्यो मैं बहू दुख... । ३. (वें०) बिपरीत... । ४. (का०) (वें०) (प्र०) लियौ । ५. (का०) (प्र०) यह... । (वें०) अब... । ६. (रा० पु० प्र०) (रा० पु० नी० सी०) कैसौ... । ७. (का०) (प्र०) वह... । (वें०) वहै... । (सं० पु० प्र०) ससि... । ८. (सं० पु० प्र०) कैसौ । ९. (का०) (वें०) (प्र०) छोड़ि... । (रा० पु० नी० सी०) छाँड़ि दास दासीपनों । १०. (का०) (प्र०) जो... । (वें०) सों... । ११. (का०) (वें०) लह्यौ । १२. (सं० पु० प्र०) खेत... । (प्र०) सज्यौ चद्रवत भाल । १३ (वें०) नत... । १४. (का०) (वें०) कोमली... । १५. (प्र०) बाँनि... । (रा० पु० प्र०) गात... । १६. (सं० पु० प्र०) निठुराई ।

पर नजर डालने से ज्ञात होता है कि काव्य-निर्णय के लेखक (कापी-कर्ता) महोदयों ने विरुद्धालंकार के द्वितीय भेद “जाति से गुण का” विरोध-दर्शक-शीर्षक नहीं लिखा और “दरसावत थिर दाँमिनि०...” जो उक्त भेद का उदाहरण है, तृतीय “जाति से क्रिया” का भेद मान उसके नीचे वाला छंद घनाक्षरी “पंगुँन कौ पग होत०...” भी तृतीय भेद का उदाहरण स्वीकार कर दिया है। हमने यहाँ छंद तथा उनके शीर्षक समस्त पुस्तकों के आधार पर लिखे हैं, पर यह गलत है। अस्तु, तृतीय के स्थान पर चतुर्थ, चतुर्थ के स्थान पर पंचम... क्रमशः होने चाहिये, जिससे उक्त अलंकार के दसों शीर्षकों व उदाहरणों का सामंजस्य बैठ जाय...

एक बात और, वह यह कि इस अलंकार में “जाति, गुण क्रिया, और द्रव्य” पारभाषिक शब्द आये हैं, अतएव—“जिन शब्दों से एक-ही प्रकार के अनेक व्यक्तियों का बोध हो, उसे “जाति वाचक-शब्द” कहते हैं। देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, पहाड़, नद-नदी और वृक्षादि जाति-वाचक शब्द हैं। गुण वा गुण-वाचक शब्द जो गुणों को प्रकट करे, जिनसे द्रव्यों का गुण सूचित हो और “क्रिया” वा क्रिया-वाचक शब्द वे कहलाते हैं जिनसे व्यापार का होना या करना पाया जाय। इसी प्रकार द्रव्य—“जिस शब्द से व्यक्ति-विशेष का बोध हो, उसे नाम और जिसका वह शब्द नाम हो उस व्यक्ति-विशेष को “द्रव्य” कहते हैं, जैसे-विष्णु शब्द, यह ‘विष्णु’ शब्द तो नाम है, किंतु जिस देवता का यह नाम है वह (देवता) ‘द्रव्य’ है। अतः सूर्य, चंद्र, दिलीप कामधेनु, हिमालयादि सब द्रव्य हैं।

भाषा-अलंकार-ग्रंथों में ‘द्रव्य’ शब्द से महर्षि ‘कणाद’-कृत ‘वैशेषिक-दर्शन’ में कहे गये-पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, मन और आत्मारूप नौ द्रव्यों को ग्रहण किया गया है, जो इनमें ग्रहीत नहीं हो सकते। यहाँ तो व्याकरणानुसार जो अर्थ अभीष्ट है, वही ग्रहण किया जाना उचित है। यही अर्थ भगवान् पतञ्जलि के महाभाष्य में भी माननीय है।

महा कवि केशव ने अपनी प्रसिद्ध - “कवि-प्रिया” में “विरोध (विरुद्ध)” और “विरोधाभास” दो प्रथक्-प्रथक् अलंकार माने हैं (दे० प्रिया-प्रकाश—ला० भगवानदीन, पृ० १६०, १६४ प्रथम संस्करण) और दोनों के ही प्रथक्-प्रथक् उदाहरण (विरोध—“सोभित सुवास हाम०”... और “विरोधाभास—“परम पुरुष कुपुरुष-संग सोभियतु०”...) दिये हैं, तथा लक्षण इस प्रकार लिखे हैं। विरोधालंकार, यथा—

“केसौदास’ विरोध-मय रचियतु बचन-विचारि ।
तासों कहत “विरोध” सब, कवि-कुल सुबुधि विचारि ॥”

विरोधाभास —

“वरनत लगै विरोध सौ, अर्थ सबै अवरोध ।
प्रघट “विरोधाभास” पै, समझत सबै सुबोध ॥”

अतएव “पोद्दार श्रीकन्हैयालाल” का यहाँ कहना है कि “महाकवि केशव स्वयं इन दोनों (अलंकारों) को प्रथक्ता नहीं दिखला सके हैं। उन्होंने (केशव) ने विरोध का लक्षण अशुद्ध लिखकर उदाहरण “काव्यदर्श” से अनुवादित सूक्ति का दिया है, यथा —

“सोभित सुवास हास सुधा सों सुधार्यौ विधि,
बिष कौ निवास जैसौ तैसौ मोहकारी है ।
‘केसौदास’ पावन परम हंस गति तेरी,
पर-हिय-हरैन प्रकृति कों नें पारी है ॥
बारक बिलोकि बल-बीर से बलीन कहँ,
करत बरहिँ बस ऐसो बैप—बारी है ।
परी मेरी सखी, तेरी कैसें कै प्रतीत कीजै,
कृस्नानुसारी—दग करनानुसारी हैं ॥”

यहाँ कृष्ण और कर्ण इन श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से जो विरोध दिखलाया गया है वह कृष्ण का “श्यामरंग” और कर्ण का कान (श्रवण) श्लेषार्थ होने से विरोध का आभास रह जाता है, वास्तव में विरोध नहीं। दूसरे उदाहरण —

“आपु सितासित-रूप, चितै चित स्याँम-सरीर रँगै रँग-रातें ।

‘केसव’ कौनन-हीन सुनें, सु कहै रस की रसनाँ-बिन बाँतें ॥

नैन किधों कोउ अंतरजाँमी-री, जाँनति नाहिँन बुझति तातें ।

दूर लों दौरत हैं बिन-पाँइन, दूर—दूरी दसै मति जातें ॥”

के भी प्रथम चरण में कारण के गुण से कार्य का गुण विरुद्ध होने के कारण तृतीय विषम और शेष चरणों में कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति होने के कारण प्रथम “विभावना हो लक्षित होती है, विरोध नहीं।”

ला० भगवानदीनजी भी “पिया-प्रकाश” में कहते हैं—“प्रथम छंद—(सोभित सुवास०...) के प्रथम और तृतीय चरण में विरोध है और दूसरे तथा चौथे में उसका “आभास”, पर श्री केशव ने विरोधाभास को विरोध के अंतर्गत-ही माना है...। क्योंकि इन दोनों चरणों में श्लेष के कारण विरोध नहीं, आभास रह गया है।

दूसरे छंद—“आपु सितासित०...” के प्रति आप (दीनजी) का कहना है कि “इस छंद के प्रथम चरण में विषम और शेष चरणों में विभावना दिखलायी देती है, पर विचार करने से ये ठहरते नहीं, क्योंकि प्रथम चरण में “रँग-राते” शब्द से तात्पर्य प्रेम से हैं, किसी रंग विशेष से नहीं। शेष चरणों में कान, जीभ और चरण के संबंध में कहा गया है, वह भी अनिवार्य कारण-कार्य के संबंध में नहीं ठहरता। यह आवश्यक नहीं है कि जिसके कान, जीभ, चरण हों वह सब कुछ सुने, बोले और चले भी। केशवदासजी का मत है कि विभावना में कारण-कार्य का संबंध अनिवार्य होता है, जो यहाँ नहीं है। फिर भी लाजा जी का विचार है कि यह—‘ आपु सितासित०...’ छंद, प्रथम “विभावना” का उदाहरण होना चाहिये, पुस्तक-लेखकों की असावधानी से उक्त (विरोध) अलंकार के साथ यह छंद यहाँ लिखा गया है। श्लेषार्थ से विरोध नष्ट हो जाता है और उसका केवल आभास-मात्र रह जाता है, इस आभास को-ही केशवदास-जी ने “विरोध” नामक अलंकार माना है, बाद के आचार्य ऐसा नहीं मानते। वे पूर्व लिखित विषय को ही विरुद्धालंकार का विषय मानते हैं—अन्य नहीं।”

विरोधाभास के उदाहरण ब्रजभाषा-साहित्य में बड़े सुंदर-सुंदर हैं, जिन्हें ब्रजभाषा-मर्मज्ञ देख और सुन सकते हैं। यहाँ दो-एक उर्दू-साहित्य के पद्य उद्धृत करते हैं, जो विरोधाभास के उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं। यथा—

“रही याँ सुलह पर भी जंग बाहम ।

तबीयत उनसे मिल-मिलकर लड़ा की ॥

*

क्रूर दुश्मन का नहीं मुश्किल, बहुत आसान है ।

चाहिए इक दोस्त मुझ-सा, दिल बढ़ाने के लिए ॥”

*

इससे तो और आग वह बेदर्द हो गया ।

अब आह आतशीं से भी दिल सर्द हो गया ॥”

—इत्यादि...

अथ विभावना-अलंकार लच्छन जथा—

बिन कै लघु कारँन ते, कारज परघट होइ ।

रोकत-हूँ करि' कारनँ, बस्तुन ते बिध सोइ ॥

पा०—१. (स० पु० प्र०) (का०) कि अकारनी, या किअ कारनी...। (वे०)
(प्र०) रोकत-हूँ करि कारनी...

विभावना-भेद यथा—

कारन ते कारज कळू, कारज-ही ते हेत ।
होत' छै-विध जु 'विभावना', उदाहरन कहि देत ॥

वि०—“संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने “विभावना” कारणांतर की कल्पना किये जाने पर मानी है । श्रीमम्मटाचार्य कहते हैं—“क्रिया (हेतु-रूप) के बिना कहे-ही जहाँ फल का प्रकट होना कहा जाय”, वहाँ अथवा जहाँ “हेतु-रूप क्रिया का बिना कथन किये-ही उसके फल का प्रकाश किया जाय वहाँ ‘विभावना’ समझनी चाहिये । साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में—हेतु के बिना यदि कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाय तो विभावना और वह दो - “उक्तानुक्त” (जिसमें निमित्त उक्त हो, और जिसमें निमित्त अनुक्त हो) रूप की कही है । आपका मत है कि “जब बिना कारण के जो कार्य की उत्पत्ति कही जाय तो वहाँ कुछ न कुछ दूसरा कारण अवश्य रहता है और वह कारण कहीं उक्त होता है -- कहीं अनुक्त । दासजी का यह लक्षण चंद्रालोक के “बिना कारण ही जहाँ कार्य की उत्पत्ति दिखलाई जाय—(विभावना बिनापिस्यात्कारण कार्य जन्म चेत्) के अनुसार है । भाषा-भूषणकार श्री यशवंतसिंह विभावना को “कारन-बिन-ही काज” रूप में मानते हुए “होति छै भाँति विभावना” कहा है । चितमणि ने — “कारज उत्पत्ति की जहाँ, कारन कौ प्रतिसेध”, मतिराम ने — “बिनाँ हेतु जहाँ बरनिऐ प्रघट होत है काज”, दूलह ने—हेतु-बिन-कारज की उपज—“विभावनाँ है०” और पद्माकर ने—“सो विभावनाँ जाँन, कारज-बिन कारज जहाँ”— कहते हुए उमके छह प्रकार का उल्लेख किया है ।

विभावना का शब्दार्थ है—“कारण का अभाव”, अथवा जैसा पूर्व में कहा है—“कारणांतर की कल्पना, अर्थात् जो मूल कारण है, उसकी अनुपस्थिति का कथन करना ।” अतएव विभावना के सभी भेदों में मूल कारण का अभाव होता है । यह अभाव कहीं स्व से और कहीं अर्थ के द्वारा प्रकट होता है । बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता, पर कवि अपने-कोशल से ‘बिना—कारण अपूर्ण कारण के होते, प्रतिबंधक के होते, अकारण-द्वारा होते विरोधी कारण-द्वारा कार्य और कार्य से कारण होने का’ वर्णन कर अपने काव्य में कुछ ऐसे चमत्कार पैदा कर देता है कि जो विभावना का विषय बन हृदय हारी हो जाता है । और उसका यह अलंकरण-ही विभावना को छह रूपों में विभक्त कर देता है । अतएव “प्रसिद्ध कारण के अभाव में भी कार्य के उत्पन्न होने पर “प्रथम-

विभावना” कही जाती है, जो ‘उक्तानुक्त’ निमित्तादि रूप से दो प्रकार की होती है। काव्य-प्रकाशादि संस्कृत-ग्रंथों में यही दो भेद माने गये हैं। कुवलयानन्दकार ने इस प्रथम के अतिरिक्त पाँच भेद और भी माने हैं, किंतु वे पाँचों भेद प्रथम-भेद के अंतर्गत आ जाते हैं, यह काव्यादर्श और रसगंगाधर-कार का अभिमत है।”

अथ प्रथम विभावना-“विना कारन के कारज” वरनन कौ

उदाहरन जथा—

पीरी होति जाति दिन रजनी के रंग-बिँन,
जियरा^१ रहै बूड़त, तरत बिँन बार-हीं।
विष के बगारे बिँन वाके सब अँगन,
बिषारे करि डारे हैं बिलाकँनि तिहार-हीं ॥
‘दास’ बिँन चलें ब्रज बिँन^२ हीं चलाएँ—
यै चरचा चलैगी लाल बीतें दिन-चार-हीं।
हाइ वौ बनिता बरी है^३ बिँन बार-हीं,
जरी है बिँन-जार-हीं मरी है बिँन मार-हीं ॥

अथ दुतिय विभावना कौ उदाहरन-“थोरे कारन सौ कारज” जथा—

राखत हैं जग कौ परदा, औ^४ आप सजे दिग-अंबर राखें।
भाँग-बिभूत भँडार-भरथौ, पै^५ भरें गृह ‘दास’ कौ^६ जो अभिलाखें ॥
छाँह करं सिगरे^७ जग को, निज-छाँह कोँ चाँहत हैं बर^८-साखें।
बाँहन है बरदा इक पै बर-दाइक बाजि औ बारन लाखें ॥

अथ तृतीय विभावना कौ उदाहरन-“रोकें - हूँ कारन सौ कारज को हैवौ” जथा—

तो^९ बेनी ब्यालिनि अहै^{१०} बाँधी गुँनन-बँनाइ।

तऊ बाँम, ब्रज चंद कोँ बदाबदी^{११} डसि जाइ ॥ ३

पा०—१. (का०) (वे०) जीरो...। (प्र०) मन ..। २. (सं० पु० प्र०) दीन ब्रज ही...। ३. (का०) (वे०) (सं० पु० प्र०) रो दिन बारें हीं, जरी-री, बिन जारे हीं, मरी-री...। ४. (का०) (वे०) (प्र०) कहें..। ५. (का०) है ..। (वे०) भटार-भरी पै...। ६. (वे०) (प्र०) के...। ७. (सं० पु० प्र०) (का०) (वे०) सब कौ हर जू, निज छाँह । ८. (का०) (वे०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) बट...। ९. (का०) (वे०) (प्र०) तुम...। १०. (का०) (वे०) रहै...। (सं० पु० प्र०) (प्र०) (अ० म०) तुव बेनी ब्याली रहै, । ११. (सं० पु० प्र०) बदीबदा...।

* अ० म० (पो०) पु० २४५ ।

अस्य तिलक

इहाँ “बेंनी-व्यालिनि” में रूपक अपरांग है ।

वि०—“वेणी रूपी व्यालिनि (सर्पणी) का गुणों (डोरों) से बँधी होने पर भी अदबदा कर डस जाना—काट खाना, रुकावट होते हुए भी कार्य का हो जाना तृतीय विभावना के विषय का सुंदर उदाहरण है । कबिराज विहारीलाल की भी इस विभावना-भेद से विभूषित अनेक सुंदर सूक्तियाँ पाई जाती हैं, जैसे—

“देह-लग्यौ ढिग गेह-पति, तऊ नेह निरबाहि ।

ढोली-अखियँन-हीं इतै, गई कँनखियँन चाहि ॥”

*

“चित बित बचत न, हरत हठि, लालँन-दग बरजोर ।

साबधान के बटपरा, ए जागत के चोर ॥”

*

कर-सुँदरी की आरसी, प्रतिबिंबित प्यौ पाइ ।

पीठ दिऐं निधरक लखै, इकटक दीठि लगाइ ॥”

और “गोकुल कवि” कहते हैं—

“रूप-भरी तरुनीं तिन कों लखि, तैसौ बसै चित सोभित कीन्हों ।

‘गोकुल’ मैर मनोभव कौ, नख-ते-सिख लों छुरिकें भरि दीन्हों ॥

रावरे कौ गुन ए जू बलाइ ल्यों, पाँइ-परां कहु जाइ न चीन्हों ।

मोंहन के मन कों सजनी, तुँह मोंहन से ठग कों ठगि लीन्हों ॥”

अथ चतुर्थ विभावना कौ उदाहरन “अकारन वस्तु ते” जथा—

पाँहन-पाँहन ते कढ़ै पाबक, क्यों^१-हूँ कहुँ यै बात फवै-सी ।

काठ-हू-काठ सों मूँठौ न पाठ, प्रतीति परै जग-जाहरि जैसी ॥

मोंहन-पाँनिप के सरसैं, रस-रंग की राधे तरंगनि ऐसी ।

‘दास’ दूहूँ की^२ लगा लगी सों^३, ऊपजी यै दारुँन आगि-अनैसी ॥*

अस्य तिलक

इहाँ उपमाँ अपरांग है ।

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) (अ० मं०) के...। (रा० पु० नी० सी०)
क...। २. (वे०) के मिले-बिछुरे, उपजी...। ३. (प्र०) (अ० मं०) में...।

* अ० मं० (पो०) पृ० २४६, ४२२ ।

वि०—“जहाँ अहेतु (जो किसी वस्तु का कारण नहीं, उस) से कार्य प्रकट होता हो, वहाँ ‘चौथी विभावना’ कही जाती है। दासजी ने यहाँ पानिप (पानी) से आग का प्रकट होना—जो उसका कारण नहीं है, उससे आग का प्रकट होना कहा है।

कन्हैयालाल पोद्दार ने यहाँ “पाँचवी-विभावना (विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति) मानते हुए कहा है—“यहाँ पानी से अग्नि-लगना विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति है।” हमारी अल्प दृष्टि में यहाँ दोनों ‘विभावना’ बन सकती हैं, पर पाँचवीं विभावना विशेष स्पष्ट है। यथा -

“साँमन-आँमन हेरि सखी, मन - भाँमन - आँमन चोंप बिसेखी ।
छाए कहुँ ‘घँन-आँनद’ जाँन, सभार की ठौर लै भूलँन लेखी ॥
बूदें लगें सब अग उदै, उलटी गति आपने पापँन पेखी ।
पौन सों जागत आगि सुनीं-ही, पै पाँनी सों लागत आज में देखी ॥”

पुनः उदाहरन जथा—

श्री० हिंदूपति, तेंग तुब, पाँनिप - भरी सदाँ-हिं ।

अचरज या की आगि^२ सों, अरि-गँन जरि-जरि जाँहिं ॥

अथ पाँचवीं विभावना कौ उदाहरन “कारन ते कारज कछु” जथा—

सखि, चैत है फूलँन कौ करता, करिवे^३ सु^४ अचेत अचेंन लग्यौ ।
कहि ‘दास’ कहा कहिये कलरौ-हु^५ जो बोलँन वै^६ कल-बेंन लग्यौ ॥
जग-प्राँन कहावत पौन^७ कौ गौन, सो प्राँनन कों दुख-देंन लग्यौ ।
यै कैसौ निसाकर^८ मोहि-बिनाँ पिय साँकरे^९ कै जिय लेंन लग्यौ ॥

पुनः उदाहरन जथा—

‘दास’ कहा कौतुक कहों, डारि गरें निज हार ।

जैतबार - संसार कों, जीति लेति यै दार ॥

अथ छठी विभावना कौ उदाहरन—“कारज ते कारन” जथा—

चंद - निरखि सकुचत कँमल, नहिं अचरज नंद - नंद ।

पै^{१०} अचरच तिय-मुख-कँमल, निरखि जु सकुचत चंद ॥

पा०—१. (का०) जो...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) आँच सों...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) करने। ४. (प्र०) सो...। ५. (का०) हित बोलन...। (वें०) (प्र०)—हि जो (जु)। ६. (का०) जो...। ७. (स० पु० प्र०) (का०) (वें०) गौन के पौन-हूँ, प्रानन...। ८. (का०) बिषाकर...। ९. (प्र०) साँकर...। १०. (का०) (वें०) यह...। (प्र०) यह अदभुत तिय...।

पुनः उदाहरन जथा—

फेरि काढ़िबी बारि ते, बारिजात दँनुजारि ।
चलि देखौ, जहँ दृग^१—कढ़त बारिजात ते बारि ॥

वि०—“कारण के द्वारा कार्य को उत्पत्ति को छूटी विभावना का विषय माना गया है। इस विभावना का “रघुनाथ” कवि-कृत वर्णन—उदाहरण भी सुंदर है, यथा—

“जानति-ही न बसंत कौ आगँम, बैठी-ही ध्यान-धरें निज पी कौ ।
एते में कानन-ओर सों आइकें, कानन में परधौ बोल पिकी कौ ॥
हे ‘रघुनाथ’, कहा कहिए, कहि आयौ ‘हा’, आयौ गरौ भरि ती कौ ।
लोचन-बारिज सों असुवाँन कौ, अथाह बह्यौ परबाह नदी कौ ॥”

आचार्यों का मत है कि ‘विभावना’ और पूर्व कथित ‘विरुद्धालंकार’ मिलते-जुलते अलंकार हैं, फिर भी विरुद्ध में विरोधी पदार्थों का संसर्ग कहा जाता है और कार्य-कारण वा कारण-कार्य के संबंध का नियम भी नहीं होता। विभावना में ऐसा नहीं है, यहाँ कारण-कार्य नियमित रहते हैं।”

दूलह कवि ने अपने “विभावना-प्रकाश” में विभावना के छहों भेदों के उदाहरण दो छंदों में बड़ी सुंदर रीति से समझाये हैं, जैसे—

“बिँन-हेतु कारज की उपज”^१ विभावना हैं,
अजन - बिनाँ - ह्यँ नैन ऐंन कजरारे हैं ।
“कारँन अपूरे पूरे काज”^२ दूसरी है,—
नैकु पग मग - धारे जगमग धारे हैं ॥
“होइ प्रतिबंधक भएँ हूँ पर काज”^३ देखौ,
तीसरी विभावना के चरित निहारे हैं ।
राधिका पै चौकी राखी, चौकिन पै रखवारे,
तऊ केलि करत निहारे कान्ह कारे हैं ॥

※

चौथी है—“अकारँन ते कारज-जनम” रूप-
लता पै सोभाबाँन श्रीफल सुधार भे ।
पाँच-ई—“बिरुद्ध काज प्रापति” प्रबीन मंजु-
बदन ते बँन कढि सौति-उर पार भे ॥

पा०—१. (का०) (वें०) कढ़त दृग...। (प्र०) देखौ-दृग जेहि कढ़त...।

“होई जहाँ कारज, ते कारँन उपज” देखौ,
छुठई बिभावनौ के ऐसे उपचार भे ।

कहै नटनागर सकल गुन - आगर,
तो अधर - सुधा ते सुख - सागर अपार भे ॥”

अस्तु विभावना के छहों विभेदों में मुख्य कारण छिपा कर कृत्रिम का कथन होता है। दोनों कारण-कार्य में विरोध (गड़बड़) सभी स्थलों में आभास-मात्र का है, वास्तविक नहीं। मुख्य विरोध वहीं हैं, जहाँ दोनों वस्तुओं का साथ होना असंभव है।

संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में विभावना के प्रति—“आश्लिष्टातिशयोक्तिश्च सर्वत्रैव विभावना” कहा गया है, अर्थात् विभावना में नियमित रूप से अतिशयोक्ति मिली हुई रहती है। रसगंगाधर में पंडितराज जगन्नाथ कहते हैं—“एव चास्मिन्नलंकारे सर्वत्रापि कार्यांशे अभेदाध्यवसानरूपकातिशयोक्तिरनुप्राणकतया स्थिता।” काव्य-प्रकाश (मम्मट) के टीकाकार नागेश भट्टजी का कथन है—“अतिशयोक्तिस्तुतदंगं ।...सर्वथा कार्यांशेऽभेदबुद्धिः विभावना जीवितुम् । साच क्वचिदतिशयोक्तिकृत्या क्वचिद्रूपकेण..।” अलंकार सर्वस्व (संस्कृत) के रचयिता कहते हैं—“द्वैविध्येऽप्यभेदाध्यवसायादेकत्वमतिशयोक्त्या, साचास्यामव्यभिचारिणीति नतद्वाधेनास्या उत्थापनम् अपितु तदनुप्राणितत्वेन” और इसकी टीका “जयरथ-विमर्शनी” में कहा गया है—“अतिशयोक्ति विनास्यानुत्थानात् अतएवेयमतिशयोक्त्यनुप्राणितैव भवतीति सिद्धम् ।” इत्यादि इन सभी मतों का अभिप्राय है कि “विना अतिशयोक्ति के विभावना का सिद्ध होना संभव नहीं है, अर्थात् विभावना का अस्तित्व अतिशयोक्ति पर-ही निर्भर है।

विभावना में अतिशयोक्ति का मिश्रण अनिवार्य होते हुए भी वह प्रधान न होकर विभावना की अंगी भूत रह कर उसे (विभावना को) ही सुशोभित करती रहती है। इसलिये संस्कृत के अलंकार ग्रंथों में संकलित किये गये विभावना के उदाहरण अतिशयोक्ति-मिश्रित होते हुए भा विभावना के ही उदाहरण हैं, क्योंकि विभावना के मूल में अभेद अध्यवसाय मूलक अतिशयोक्ति का होना अति आवश्यक माना गया है।”

अथ “व्याघात” अलंकार बरनन जथा—

जाहि तथाकारी गँनें, करै अन्यथा सोउ ।

कहूँ सुद्ध-विरुद्ध-हीं,^१ हूँ^२ “व्याघात” जु दोउ ॥

पा०—१. (प्र०) सों...। २. (स० पु० प्र०) (का०) (वे०) (प्र०), है व्याघातै दोउ ।

वि—“व्याघात अलंकार के विषय के प्रति संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में विविध मत हैं। कोई—“जिसमें किसी वस्तु को किसी कर्त्ता ने एक प्रकार से सिद्ध किया हो और कोई दूसरा कर्त्ता उसी वस्तु को उसी प्रकार से विजय-लाभ को इच्छा के लिये तद्विपरीत बना दे।” अथवा—“जिस उपाय के द्वारा जो वस्तु किसी एक कर्त्ता ने सिद्ध की हो, उसी को दूसरा कर्त्ता प्रथम कर्त्ता को विजित करने की इच्छा से उन्हीं उपायों द्वारा जो उससे विपरीत रूप में कर दिया हो तो उसी को — निज साधित वस्तु के विनाश का कारण होने से, ‘व्याघात’ अलंकार कहा जाता है।” यह काव्य प्रकाशकार “श्रीमम्मट” का मत है। चंद्रालोक में जयदेव कहते हैं—“जिसका जो प्रकृत गुण हो उसे हटाकर उस पर उसके विपरीति गुण का आरोप करने को ‘व्याघात’ कहते हैं। विश्वनाथ चक्रवर्त्ती “साहित्य-दर्पण” (संस्कृत) में कहते हैं—“जो वस्तु किसी एक ने एक प्रकार से सिद्ध की है और दूसरा यदि उसी उपाय से उसी वस्तु को पहिले से विपरीति कर दे तो ‘व्याघात-अलंकार’ मानना चाहिये। दासजी कहते हैं—“जहाँ सच्चे कर्त्ता को कोई अन्यथा कर दे” वहाँ यह अलंकार बनता है।” इत्यादि ..इन सभी परिभाषाओं को लक्ष्य कर यदि कोई उक्त अलंकार-व्योक्त परिभाषा सुंदर शब्दों में बन सकती है तो वह यह हो सकती है—“जिस उपाय से किसी व्यक्ति के द्वारा कुछ कार्य सिद्ध किया जाय और फिर उसी उपाय से—उसी प्रकार के उपाय से, दूसरे किसी व्यक्ति-द्वारा वह कार्य अन्यथा कर दिया जाय, उसे विपरीति बना दिया जाय तो ‘व्याघात’ अलंकार का विषय बनता है। व्याघात ‘वि’ और ‘आघात’ शब्दों से बना है। जिसका अर्थ होता है विरोध आघात, प्रहार, धक्का। इसलिये इस अलंकार में अन्य व्यक्ति के द्वारा सिद्ध किये गये कार्य को अन्य द्वारा प्रहार करके अन्यथा किया जाता है, यथा—“साधितवस्तु व्याहति हेतुच्चात् व्याघातः।”

व्याघात में तीन बातें आवश्यक हैं। प्रथम यह कि “एक के द्वारा किसी उपाय से एक कार्य सिद्ध किया जाय।” दूसरी बात है—“दूसरे के द्वारा उसी उपाय से उस कार्य को व्याघात पहुँचाकर अन्यथा कर दिया जाय” और तीसरी बात है—“वह वर्णन साधारण स्थिति का न होकर चमत्कार से पूर्ण हो।” ये तीनों कारण “प्रथम व्याघात” के हैं। इसी प्रकार दूसरे “व्याघात” (जब एक ही उपाय या तर्क से विपरीत कार्य का संपादन वा समर्थन किया जाय) में भी दो बातें आवश्यक हैं। प्रथम यह कि “एक के द्वारा एक उपाय या तर्क से किसी कार्य का होना प्रस्तावित हो” और द्वितीय—“दूसरे के द्वारा उसी उपाय या तर्क को लेकर विपरीत कार्य सुगमता से होना कष्ट जाय। इस प्रकार इन दोनों भेदों

में यही विभिन्नता है कि जहाँ “प्रथम में कार्य हो जाने पर दूसरे के द्वारा उसका विघटन होता है,” और द्वितीय में “दोनों एक ही उपाय वा तर्क से विपरीत कार्य का होना प्रस्तावित किया जाता है।”

अथ प्रथम “व्याघात” को उदाहरन तथा कारी को अन्यथा
हैवे ते जथा—

जे जे^१ बस्तु सँजोगनिन, होत परँम सुख-दाँन ।
ते-ही^२ चाँहि बियोगनिन, होत प्राँन की हँन ॥

पुनः उदाहरन जथा—

‘दास’ सपूत सपूत^३ हो, गथ-बल होई, न होइ ।
इही^४ कपूतौ की दसा, भूलि न भूलौ^५ कोइ ॥

पुनः उदाहरन जथा—

तो सुभाव भौमिन लखें^६ मो^७ हिय होत सँदेह ।
सौतिन कों रूखी करे, पिय-हिय करत^८ सनेह ॥

अथ द्वितीय व्याघात—“काहू कों विरुद्ध-ही सुद्ध” को उदाहरन

लोभी धँन संचै करै, दारिद को डर^१ माँन ।
‘दास’^२ वहै डर^३ माँनिके, दाँनि देति है दाँन ॥

वि०—“अलंकार-रत्न में वा० ब्रजरत्नदास जी ने इस दोहे में प्रथम व्याघात मानते हुए कहा है कि “यहाँ दारिद्र्य के भय से लोभी धन संचय (बटोरता) करता है और उभी दारिद्र्य के भय से दानी उदारता पूर्वक दान करता है । लोभी इस लोक का दरिद्रता से डर कर धन-संग्रह करता है, और दानी जन्मांतर की दरिद्रता का भय खा कर धन का दान करता है, इत्यादि..., परंतु यहाँ विरुद्धता में शुद्धता वा वर्णन होने से द्वितीय व्याघात ही है।”

पा०—१. (रा० पु० प्र०) जो-जो...। २. (का०) (वें०) (प्र०) ताही...। ३. (वें०) (सं० पु० प्र०) कपूत हीं । ४. (का०) (वें०) (प्र०) इहै...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) भूलै...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) वहै...। ७. (का०) मोहि इहै...। (प्र०) मोहि यहै सं०...। ८. (का०) (प्र०) करै...। (वें०) भरे...। ९. (का०) (प्र०) डर...। (वें०) दारिद की डर...। १०. (वें०) डर...।

पुनः उदाहरन जथा—

मुनि-जँन जप-तप करि चहै, सूली-दरसँन-चाउ ।

जिहि न लहै 'सूली' वहै,* तसकर चहै उपाउ ॥

वि०—“इस दोहे में दास जी प्रयुक्त श्लेषमय “सूली” (शूली) शब्द ने जो “श्री देवादि देव महादेव” और “फाँसी” अर्थ का द्योतक है, “व्याघात” अलंकार को अति सुंदर बना दिया है ।”

पुनः उदाहरन जथा—

वा अधरा-रस^२ रागी हियौ, जिय पागी वहै छबि 'दास' बिसाली ।

नैनँन सूझि परै वौ^३ सूरत, वैनन बूझि परै वही^४ आली ॥

लोग कलंक लगावत^५ है, औ लुगाई कियौ करै कोटि कुचाली ।

बादि-बिथा सखि क्यों बसि^६ है-री, गहै न भुजा-भरि क्यों वैनमाली ॥*

वि०—“दासजी ने यह उदाहरण कुछ पाठ-भेद के साथ, अपने शृंगार-निर्णय” नाथिका भेद के ग्रंथ में भी “परकीया” के अंतर्गत “घोरत्व” के उदाहरण में दिया है ।

कुछ ऐसी-ही बात इसी अलंकार से अलंकृत भारतेंदु बा० हरिश्चंद्रजी ने भी कही है, जैसे—

“नाँम धरौ सिगरे ब्रज के, अब कौन-सी बात कौ सोच रहा है ।

त्यों 'हरिचंद जू' और-हू लोगन माँनों बुरी अरी, सोऊ सहा है ॥

हौनी हुती सो तौ होइ चुकी, इन बाँतन में अब लाभ कहा है ।

लागें कलंक-हु अंक लगों नहि, तौ सखि, भूल हँमारी महा है ॥

कविवर लच्छोराम का भी 'व्याघात द्वितीय' का उदाहरण सुंदर है, देखने योग्य है, जैसे—

“बाँहें-भ्रुकभोरँन, सु नासिका की मोरँन में,

वैनमाल-तोरँन बिनोद बलकतु है ।

कबि 'लछिराँम' काँम-काँमनाँ-कलपतरु,

भौं-धनु-मरोर माँन-मद-फलकतु है ॥

पा०—१. (का०) (वे०) यही...। २. (शृ० नि०) अंनु ..। ३-४. (का०) (वे०) (शृ० नि०) वहै...। ५. (का०) (वे०) लगाइ-हि वीथ्यौ, लुगाई करै कियौ कोटि...। (शृ० नि०) लगावत लाख, लुगाई । ६. (वे०) क्यों न सहै री ।

* शृ० नि० (भि० दा०) पृ० २८, ४० ।

गारी-दै चल्लन, मचल्लन रोषबारी पै,
भाग-भरी सौगुनों सुहाग छलकतु है ।
त्यों-स्यों बिन-दाँम स्याम सुंदर बिकानों जात,
ज्यों ज्यों बाँम-लोचन में लाली बलकतु है ॥

प्रथम व्याघात के उदाहरण-स्वरूप दासजी के—“तो सुभात्र भाँमिन लखें०”
इस छंद के साथ “मतिराम” जी का ‘प्रत्यक्ष दर्शन’ से देदीप्यवान नीचे लिखा
छंद भी सुंदर है, यथा—

“मोहँन लला कों मँन-मोहिनी बिलोकि बाल,
कसि करि राखति है उँमगे उँमाह कों ।
सखिन की दीठ कों वचाइ कें निहारति है,
आँनद-प्रवाह-बीच पावत न थाह कों ॥
कवि“मतिराम और सब-ही के देखत ही,
ऐसी भाँति देखति छिपावनि उछाह कों ।
वे ही नैन रूखे-से लगत औरु लोगँन कों-
वे-ही नैन लागत सँनेह-भरे नाह कों ॥”

अथ विसेसोक्ति लच्छन वरनन जथा—

हेतु घँने-हू काज-बिन’ ‘विसेसोक्ति न सँदेह ।
देह-दियौ’ निसि-दिन बरै, घटै न हिय कौ नेह ॥

वि०—“कारणों के रहते हुए भी जब कार्य की उत्पत्ति न दिखलाई जाय,
अथवा दासजी द्वारा कथित—“जब अति हेतु के रहते हुए भी कार्य की उत्पत्ति
न हो तो, वहाँ ‘विशेषोक्ति’ मानी जाती है ।

विशेषोक्ति, तीन शब्दों—“वि” “शेष” और “उक्ति” का संयुक्त रूप है ।
अतएव ‘वि’ का अर्थ है—‘गत’ और ‘शेष’ का अर्थ है—‘कार्य’ और उसके सामु-
हिक रूप का अर्थ है “गत हो गया है कार्य जिसका, ऐसे कारण की उक्ति ।
अर्थात्, कारण होते हुए भी कार्य का न होना कहा जाना । संस्कृत-अलंकार
ग्रंथों में—“किञ्चित् विशेष प्रतिपादयितुमुक्तिः”, अर्थात् कुछ विशेष बात के प्रति-
पादन के लिये उक्ति” कहा गया है और इसके तीन भेद—“अनुक्त-नि-
मित्ता” (कार्य के उत्पन्न न होने का निमित्त न कहा जाना), “उक्त-निमित्ता”
(कार्य के उत्पन्न न होने का निमित्त कहा जाना) और “अचित्य-निमित्ता”
(कार्य के उत्पन्न न होने का निमित्त अचित्य होना) कहे गये हैं ।

जैसा पूर्व में कहा गया है कि “कारण के होते हुए भी कार्य न होने का चमत्कार युक्त वर्णन ‘विशेषोक्ति’ का विषय है,। यों तो कारण के उपस्थित होते ही स्वभावतः कार्य हो जाता है, किंतु जहाँ इसके विपरीत वर्णन हो—कारण की उपस्थिति में भी कार्य का न होना उक्ति-वैचित्र्य के द्वारा संतोषजनक रूप में प्रकट किया जाय तो वह उक्ति विशिष्ट होगी और वह ‘विशेषोक्ति’ कहलायगी, क्योंकि इस प्रकार का वर्णन विशेषता लाने के लिये ही किया जाता है। कारण के रहते कार्य के न होने के विशेष कारण होते हैं, उन्हें ही मनोरंजकता के साथ प्रकट करना कवि का ध्येय होता है।

साहित्य-दर्पण में—“सति हेतो फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा”—हेतु के रहते हुए भी फल की प्राप्ति न हो तो वहाँ विशेषोक्ति कही जायगी और वह दो प्रकार की कहते हुए—अचिंत्य-निमित्ता को अनुक्त-निमित्ता का ही भेद मान, उसे अनुक्त-निमित्ता के अंतर्गत मान पृथक् नहीं कहा है, जैसे—“अचिंत्यनिमित्तत्वं चानुक्तनिमित्तस्येव भेद इति पृथग्नोक्तम्।” श्रीमम्मट (काव्य-प्रकाश संस्कृत) कहते हैं—“विशेषोक्तिः त्रैविध्यं कारणेषु फलावचः” (कारण-सामिग्री होने पर भी कार्य का न होना) कहते हुए ‘मिलितेष्वपि कारणेषु कार्यस्याकथनं विशेषोक्तिः। अनुक्तनिमित्ता, उक्तनिमित्ता अचिंत्यनिमित्ता च’ रूप पूर्व में कथित तीन भेद किये हैं। भामह भी—“एक देशस्य विगमेया गुणान्तरसंस्तुतिः। विशेष प्रथनायासौ विशेषोक्तिरिति स्मृता ॥” कहते हुए इसके तीनों ‘उक्तानुक्त-अचिंत्यनिमित्ता’ भेद माने हैं। वामन कहते हैं—“एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदादृश्यं विशेषोक्तिः” (जहाँ एक गुण की न्यूनता की कल्पना करने पर जो साम्य-पुष्टि की जाय, वहाँ विशेषोक्ति)। यहाँ “उक्तानुक्तविषयनिमित्ता के प्रति ध्वन्यालोककार का अभिमत है कि “इन तीनों भेदों में से अचिंत्य और उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में व्यंग्य की सत्ता नहीं होती और अनुक्त-निमित्ता विशेषोक्ति में प्रकरण-वश व्यंग्य की प्रतीति-मात्र होती है और न उस प्रतीति के कारण कोई सौंदर्य ही उत्पन्न होता है।” अतएव आपने विशेषोक्ति का एक ही भेद अनुक्तनिमित्ता का ही वर्णन किया है। क्योंकि अनुक्त और अचिंत्य-निमित्ता विशेषोक्ति में कार्य के अभाव का निमित्त नहीं कहा जाता, वह व्यंग्य रहता है। यहाँ उस व्यंग्यार्थ-ज्ञान से चमत्कार नहीं, अपितु कारण-द्वारा कार्य के उत्पन्न न होने के वाच्यार्थ में ही चमत्कार है—वाच्यार्थ ही प्रधान है। यहाँ अचिंत्यत्व से इतना-ही तात्पर्य है कि वह निमित्त साधारण बुद्धिवालों की समझ से परे है, सभी को समझ से दूर नहीं। कारण के रहते कार्य न होने का सहज नियम कवि अपने कौशल से उक्ति-वैचित्र्य-द्वारा भंग करता है और वह कौशल इसी में है कि “वह ऐसा किनी

अभिप्राय से सकारण करता है, जिससे उसकी उक्ति में विशेष चमत्कार आ जाय ।

ब्रजभाषा के रीति-ग्रन्थों में केशव से आदि लेकर पद्माकर और ग्वालजी तक सभी आचार्यों ने विशेषोक्ति का एक-ही भेद माना है ।”

अथ विसेशोक्ति उदाहरन जथा—

नाभि-सरोवर औ त्रिवली की,^१ तरंगन पैरत^२ ही दिन-रात है ।
बूढ़ि^३ रहैं तन-पाँनिप-ही में, नहीं बनमाल-हू ते^४ बिलगात है ॥
‘दासजू’ प्यासी नई अखियाँ, घनस्याँम-विलोकत ही अकुलात है ।
पीबौ करें अधरामृत^५ कों तऊ^६ इनकी सखि, प्यास न जात है ॥*

वि०—“दासजी के इस उदाहरण में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (अलंकार-मंजरी में) अनुक्त-निमित्त विशेषोक्ति मानते हुए कहते हैं—“यहाँ प्यास मिटाने का कारण अधरामृत का पान किये जाने पर भी प्यास का न मिटना कहा गया है, उसका ‘निमित्त’ नहीं कहा गया है, इसलिये अनुक्तनिमित्त विशेषोक्ति है ।”

एक बात और, वह यह कि विशेषोक्ति पूर्व-कथित विभावना से विपरीत कही जाती है, क्योंकि विभावना में कारण के बिना कार्य उत्पन्न होता है और विशेषोक्ति में कारण के रहते हुए भी कार्य नहीं होता । विभावना में अवास्तविक या अप्रसिद्ध कारणों की कल्पना की जाती है, विशेषोक्ति में कारणों के रहते हुए भी कार्य न होने के विशेष कारण कल्पित किये जाते हैं इत्यादि ।”

अथ असंगति अलंकार कथन जथा—

जहँ कारन है और थल, कारज औरें ठाँम ।

अनत करन कों चाहिए, करै अनत-ही काँम ॥

*

और काज करिबे लगत^१, करै जु औरें काज ।

त्रि-विध असंगति’ कहते हैं, सुकविन के सिरताज ॥

पा०—१. (स० पु० प्र०) (का०) (वें०) के...। २. (रा० पु० का०) तैरत...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) बूढ़ी...। ४. (का०) (वें०) में...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) अधरामृत हू कों ...। ६. (रा० पु० नी० सी०) तऊ सखि इनकी प्यास...। ७. (स० पु० प्र०) (का०) (वें०) (प्र०) करने लगै...।

* अ० मं० (पो०) पृ० २४८, ४२६ ।

वि०—“दासजी ने ऊपर लिखे दो दोहों-द्वारा “असंगति” अलंकार को तीन प्रकार का माना है। ये तीन प्रकार (भेद) हैं—“कार्य-कारण के भिन्न स्थल, “एक स्थल की क्रिया दूसरे स्थल” और आरंभ तो किसी कार्य का किया जाय, पर किया जाय कोई दूसरा-ही। इस प्रकार ये प्रथम, द्वितीय और तृतीय भेद कहे जाते हैं। संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में भी ये ही प्रथम (विरोध के आभास-सहित कार्य-कारण के एक ही काल में पृथक्-पृथक् आश्रय—स्थान का वर्णन), द्वितीय (अन्यत्र कर्तव्य-कार्य को अन्यत्र किया जाना) और तृतीय (जिस कार्य के करने को प्रवृत्त हो उसके विरुद्ध कार्य किया जाना) असंगति नाम दिये हैं।

असंगति का अर्थ है संगति का न होना, स्वाभाविक संगति का त्याग। इस अलंकार में कारण-कार्य की, वा केवल कार्य की स्वाभाविक संगति का त्याग कहा जाता है। यह साधारण नियम है कि जहाँ कारण होता है वहीं कार्य भी, किंतु कवि, कौशल-विशेष-द्वारा अपनी रचना में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए उस कार्य का अन्यत्र (दूसरे स्थान पर) होना कह उसे असंगति अलंकार से अलंकृत करता है। यहाँ यह आवश्यक नहीं, कि वैयधिकरण्य कार्य-कारण में ही हो, अपितु जिन्हें एक स्थान पर स्वभावतः होना चाहिये वहाँ भी वैयधिकरण्य होने से यह अलंकार कहा जाता है और जहाँ स्वभावतः कारण एक स्थान पर है और उसका कार्य अन्यत्र है तो ऐसी अवस्था में वैयधिकरण्य नहीं तथा असंगति अलंकार भी नहीं, क्योंकि असंगति में एकाधिकरण्यवालों का जिनका एक स्थान पर रहना प्रसिद्ध हो, वैयधिकरण्य होता है तथा “विरोध” में इसके विपरीत वैयधिकरण्य होता है।

काव्य-प्रकाश (संस्कृत) में लिखा गया है—“असंगति अलंकार, विरोधाभास का वाधक होने से विरोधाभास नहीं है, क्योंकि यहाँ (असंगति में) जो विरोध प्रकट होता है वह दोनों धर्मियों के विभिन्न आधार के द्वारा होता है और विरोधाभास में उन दोनों धर्मियों का एक-ही आधार पर रहना आवश्यक है। (दे० काव्य प्रकाश द० उ० पृ० ३३२)।”

अथ ‘कारज-कारन कौ विभिन्न थल वरनन रूप प्रथम असंगति
कौ उदाहरन जथा—

‘दास’ दुजेस’ घराँन’ में, पॉनिप बढ़यो अपार ।
जहाँ-तहाँ बूड़े अमित, बैरिन के परिवार ॥

अस्य तिलक

इहाँ कारज कहूँ अरु कारँन कहूँ के बरनँन ते असंगति है ।

पुनः उदाहरन जथा---

रोति तो^१ सौतिँन की कैसी तो^२ माँड़ें-मुख,
 केसरि-सौ, उँन कौ बदेँन होत पियरौ ।
 तेरे उर - भार^३ उरजातँन कौ अधिकात,^४
 उँन कौ दरकिवे^५ कौ अकुलात हियरौ ॥
 'दास' तो^६ नेंनन में बिधिनाँ^७ लुँनाई भरी,
 उँन कौ किरकिरी ते सूझत न नियरौ ।
 पाँनिप - समूह सरसात तो^८ अंगँन में,
 बूड़ि-बूड़ि आवत है उँन कौ क्यों जियरौ ॥

अस्य तिलक

इहाँ हूँ नाइका के केसर सों मुख-माँड़िबे ते वाकी सौतिनन कौ ग्यों पीरौ
 होंनों, उरोजँन की अधिक उठाँन ते उन (सौतिन) के हिय कौ दरकिवौ
 आदि...बरनँन में असंगति है ।

वि०—“कार्य-कारण भिन्न रूप प्रथम असंगति का श्री विहारिलाल कृत
 सतसई में ब्रजभाषा का वह सुंदर उदाहरण है, जिसका जोड़—वरावरी का किसी
 साहित्य में उदाहरण नहीं, यथा—

“दग उरझत, दूटत कुटँम, जुरत चतुर-चिन प्रीति ।

परन गाँठ दुरजँन हिऐं, दई नई यै रीति ॥”

काव्य-प्रभाकर में भानुजी ने यहाँ असंगति का तीसरा भेद माना है, जो ठीक
 नहीं है, क्योंकि तीसरी असंगति का विषय उन्हीं के अनुसार—“जो कार्य
 आरंभ करना, उसे न कर दूसरा कार्य कर बैठना” है, वह यहाँ नहीं है ।

स्व० जगन्नाथदास ‘रत्नाकर’ ने श्री मद्भागवत के—“चलसि यद् ब्रजाञ्चा-
 रयन् पशून् नलिनसुंदरं वाय ते पदं, शिलनृणांकुरैः सीदतीति नः कलिलतां-

पा०—१-२ (का०) (पु०) (सं० पु० प्र०) तुअ...। (वे०) तुव...। ३. (प्र०)
 माँफ...। ४. (प्र०) अधिकार ...। ५. (का०) (वे०) (प्र०) दरकि एकै अकुलात...।
 ६. (का०) (प्र०) तुअ...। (वे०) तुव...। ७. (का०) (वे०) (प्र०) बिधि नें...।
 ८. (का०) (प्र०) तुअ...। (वे०) तुव...।

मनः कांत गच्छति—” (द० पू० अ० ३१, ११)” के आधार पर एक सुंदर सूक्ति सृजते हुए प्रथम असंगति का अच्छा उदाहरण उपस्थित किया है, जैसे —

“कत अबनी में जाइ अटत अठाँन-ठाँन,

परत न जाँन कौन कौतुक बिचारे हैं ।

कहै ‘रतनाकर’ कैमल-दल हू सों मंजु,

मृदुल अँनूपम चरँन रतनारे हैं ॥

धारें उर-अंतर निरतर लदावें हँम,

गावें गुँन बिबिध बिनोद मोद-भारे हैं ।

लागत जो कंटक तिहारे पाँइ प्यारे हाइ,

आइ पैहलें-हाँ हिय बेधत हँमारे हैं ॥”

इसी अलंकार से अलंकृत एक ‘फासी’ का शेर भी बड़ा सुंदर है, जिसे चिरस्मरणीय स्वर्गीय पं० पद्मसिंहजी, जो संस्कृत, हिंदी (ब्रजभाषा) और उर्दू के अति ज्ञाता थे, कहा करते थे, यथा —

“कहाँ है दुखतरे रिज हम महसुब वादाखबारों में ।

तेरे डर से वो काफिर जा छिपी परहेजगारों में ॥

अस्तु, परम साहित्य-मर्मज्ञ पं० पद्मसिंहजी शर्मा कथित इस शेर के साथ समय के पृष्ठों पर लिखी एक भूली हुई कहानी है, जिसका इस लेखक से संबंध था और जिसे स्थानाभाव के कारण लिखना अनुचित है ।

पुनः उदाहरन जथा—

मो मति पैरँन लागी अली, हरि-प्रँम-पयोध की बात न जाँनी ।

‘दास’ थक्यौ मँन-संगति^१ ह्वै, गई बूझि सबै कुल-काँनि^२-कहाँनी ॥

फूल उठ्यौ हियरा^३ भरि पाँनिप, लाज-भरी बौहतै^४ उतराँनी ।

अंग दहै उपचारि की आगि,^५ सो कैसी^६ नई भई रीति सयाँनी ॥

अथ दुतीय असंगति—“और थल की क्रिया और थल”

कौ उदाहरन जथा—

में देख्यौ बँन-न्हात, रौमचंद तो^१ अरिँन^२-तिय ।

कटि^३-तट पैहरें पात, दग-कंकन, कर में तिलक ॥

१. पा०—१. (सं० पु० प्र०) (का०) { वें० }—सक वही... २. (का०) (व०) (प्र०) रीति... ३. (का०) (वें०) (प्र०) हियरी ... ४. (सं० पु० प्र०) (का०) (वें०) बहुर्यौ-बहुरी... (प्र०) बहुतै . ५. (प्र०) आँचि . ६. (रा० पु० का०) कैसी भई-नई... ७. (का०) (प्र०) तुअ... (वें०) तुव... ८. (सं० पु० प्र०) तो अरि-तियन... ९. (सं० पु० प्र०) पैहरे कटि-तट-पात, कंकन दग...।

पुनः उदाहरन जथा—

लाहु कहा खए^१ बेंदी दिऐं, औ कहा है तरौनों^२ बाँह^३-गढ़ाऐं ।
कंकन-पीठ, हिऐं ससि-रेख, की बात बनें बलि मोहि बताऐं ॥
'दास' कहा गुँन ओठ में अँजँन, भाल में जाबक-लीक^४-लगाऐं ।
कान्ह, सुभाइ-ही बूझति^५ हों में, कहा फल नैनन पौन-खबाऐं ॥*

वि०—“दासजी का यह छंद उनके “शृंगार-निर्णय” में “मुग्ध-हाव” के तथा “रस-कुसुमाकर” में “मुग्धा-खंडिता” के उदाहरण में भी संकलित किया हुआ मिलता है । मुग्ध-हाव, यथा—

“जाँनि-बूझि कें बौरई, जहाँ धरति है बाँम ।

‘मुग्ध-हाव’ तासों कहैं, बिअँम-ही के धाँम ॥”

अस्तु, ऐसे ‘असंगति’ के उदाहरण “खंडिता” (प्रियतम, नायक को रात्रि में अन्यत्र रमण कर प्रातः रति-चिन्हों से मंडित देखकर दुःखित होने वाली) नायिका के उदाहरणों में बहुधा मिलते हैं । जैसे—

‘प्रीति राबरे सों करी परँम सुजाँन जाँन,

अब तौ अजाँन बनि मिलत सबेरे पै ।

‘लच्छीराँम’ ताहु पै सुरंग ओढ़नी लै सीस,

पीत - पट देत गुजरैटिँन के खेरे पै ॥

सराबोर छलकें प्रसेद - कँन लाल - भाल,

मदँन - मसाल वारों बदन - उजरे पै ।

आपुने कलंक सों कलकिनीं बनीं हों, लूटि-

और हू कौ धरत कलंक सिर मेरे पै ॥

अथवा —

“खेल न खेलिए ऐसे भट्ट, सुपरौसिँन कोऊ कहुँ लखि लै है ।

माँनहुँ नाँ बरजी हँमरी, अब काहे कों कोऊ सिखाबँन दै है ॥

नंद-कुँमार महा सुकुमार, बिचार कँ फेरि हिएँ पछितै है ।

घालिऐ नाँ हँन फूलँन की, पँखुरी कहुँ अँगन में गदि जै है ॥”

पा०—१. (का०) (शृ० नि०) कहाँ...। (प्र०) (शृ० ल० सौ०) कर...।
(२० कु०) खरी...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (शृ० नि०) (२० कु०) तरौना
के...। ३ (शृ० नि०) वेडु...। ४. (१० पु० नी० सी०) पीक...। ५. (शृ० नि०)
पूछति...।

* शृ० नि० (भि० दा०) पृ० ६३, २७७। २० कु० (अ०) पृ० १३०, ३४२।
शृ० ल० सौ० (ज० च०) पृ० ३६७।

यह “प्रताप कवि” कृत-रचना है, “सखी की उक्ति नायिका के प्रति” । यहाँ मार नायक पर पड़ रही है और पीर (दरद) सखी को हो रही है, अतएव “असंगति” है । रसकुसुमाकर के संग्रह कर्त्ता ने दासजी के इस छंद को ‘मुग्धा-खंडिता’ के उदाहरणों में संकलित किया है । हमारी दृष्टि से यह (मुग्धा-खंडिता नायिका) का उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि जब वह कहने-सुनने लगी तब उस (नायिका) में ‘मुग्धत्व’ कहाँ रहा, जो उसकी प्रधान शोभा का कारण है.....।”

अथ तीसरी “असंगति”--“कारज और अरंभिए, अरु करिए
और” कौ उदाहरन जथा—

प्रघट भए घनस्यौम तुँम, जग - प्रतिपालन-हेत ।
नाँहक बिथा-बढ़ाइ केँ, ^१ औरन ^२ कौ जिय ^३ लेत ॥

पुनः उदाहरन जथा---

आँनद-बीज बयौ अखियाँन, जँमाइ ^४ बिथौन की जी में जई है ।
बेलि-बढ़ाइ ^५ चवाईन ^६ जो ब्रज-धौमन-धौमन फैलि गई है ॥
‘दास’ दिखाइ ^७ कँ तूँबर-फूल, फलै ^८ दियो ^३ आँन ^४ कृसाँन-मई है ।
प्रीति बिहारी को मालिनँ है ^९, इहि बारी में रोति बगारी नई है ॥*

अस्य तिलक

इहाँ ‘रूपक’ कौ संकर भाव है ।

वि०—“तीनों असंगति अलंकारों का एक-ही छंद में सुंदर उदाहरण “दूलह” कवि ने भी अति रोचक दिया है, जैसे—

“अंतै हेतु, अंतै काज” जानों ‘असंगति’-रेंन-

जागे तुँम, आलस हँमरे तँन छायाँ है ।

पा०—१. (का०) (वें०) क्यों । २. (का०) (वें०) (प्र०) ज्वलन...। ३. (सं० पु० प्र०) ज्यौ...। ४. (का०) जमाइ...। (वें०) जमाई...। (म० म०) जमाई...। ५. (का०) (सं० पु० प्र०) बढ़ायौ...। (वें०) बोलि पठायौ चवाई की जो, । ६. (का०) (सं० पु० प्र०) चवाई की जो, । (प्र०) चवाई कै जो । (म० में०) चबाव की जो,...। ७. (म० म०) लगाइ केँ ताँबरि...। (का०) ...तोँबर...। (वें०) ताँबरि...। (प्र०) तूँबरि...। (सं० पु० प्र०) ताबरी...। ८. (का०) (वें०) फली...। ९. (म० म०) दई । (प्र०) आनक सान भई...। १०. (वें०) (म० म०) री,

* म० म० (अ०) पृ० १०७ (दि० क०) ।

अनंत करे की बात अतै करि दीजे 'दूजी'—

‘जावक पगँन लाल भाल में दिबायौ है ॥

और करिबे कों भए उदित कुँमर काँन्ह,

कियौ सो बिरुद्ध भेद तीसरौ जतायौ है ।

ललक सों आए लघु माँन मेंटिबे कों पीक—

पलक-भलक गुरु - माँन भलकायौ है ॥

छंद में तीनों लक्षण-उदाहरण स्पष्ट हैं, “खंडिता” नायिका है। छंद में वर्णित तीसरी असंगति के प्रति इतना-विशेष कहना है कि “नायक आया अवश्य पर मान-मोचन नहीं किया, करता तो ‘विपम’ अलंकार का विषय बन जाता—उदाहरण हो जाता...।

असंगति अलंकार के उदाहरण उर्दू-साहित्य में भी काफी मिलते हैं, एक पूर्व में दिया गया है, दो-एक की और बानगी देखिये, जैसे—

“बाँधी जो उसके हाथ में कल गैर ने महदी ।

आँखों में मेरी देख के लोहू उतर आया ॥”

ज़िक्र उस परीबश का, और बयाँ अपना ।

बन गया रक़ीब, जो था राज-दाँ अपना ॥

बुझ गया गुलरूँ के आगे शमा औ गुल का चिराग ।

बुलबुलों में शोर, परवानों में मातम छा गया ॥

“किया गैरों को कल उसने, मरे हम शर्म के मारे ।

हमें तो मौत भी आई नसीबे दुश्मनाँ होकर ॥”

इत्यादि...। एक बात और, वह यह कि “दासजी के इस छंद को “मनोज-मंजरी” कार अज्ञान कवि ने ‘पूर्वानुराग, मिलन से पूर्व व्याकुलता की—मिलने की, दर्शन (देखने) की इच्छा के उदाहरण में संकलित किया है। पूर्वा-नुराग उभय-दली शृंगार-रस के वियोग-पक्ष का एक विशेष भेद है।

भारतीय-साहित्य-ग्रंथों में वियोग वा विप्रलम्भ-शृंगार तीन—“पूर्वानुराग, मान और प्रवास रूपों में विभक्त किया गया है। इस (पूर्वानुराग) के उदाहरण प्रस्तुत करने में कवियों ने बड़ी सहृदयता से कार्य किया है—सुंदर से सुंदर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, एक जैसे—

“चाँदति दुरायौ तो साँ कौ-लगि दुराऊँ दैया,

साँची हों कहीं-री बीर सुँन सुख काँन दै ।

साँवरौ-सौ ढोटा हक ठाढ़ी जमुना के तीर,
मों-तँन निहारौ नीर-भरि अँखियाँन दे ॥
वा दिन ते मेरी-री दसा कों कछु बूझै मति,
चाँहे जो जिवायौ तौ वही रूप-दाँन दे ।
हा-हा करि पाँइ परौ, रह्यौ नहि जाइ घर,
पनघट जाँन दे री, पनघट जाँन दे ॥”

अथवा—

“कुंज गई हुती लै सखियाँन कों, आयौ तहाँ कढ़ि नंद कौ बारौ ।
मोर पखाँन कौ मोर धरें, गरें गुँज-हरा छबि पुंज बगारौ ॥
हेरि अँजाँन सी है रही बीर, अधीर हूँ जा-छँन मोहि निहारौ ।
बै गयो नेह कौ बीज हिएँ, मँन लै गयो मोहँन मोहिनी बारौ ॥”

अथ “विषमालंकार” वरनन तथा—

अँनमिल बातँन कौ जहाँ, परत कैसे हूँ ढंग* ।
कारँन कौ रँग और-ही, कारज औरें रंग ॥

✱

करता कों न क्रिया-फल,^१ अँनरथ-ही फल होइ ।
‘विषम’ अलंकृत^३ ‘तीन-विधि’, वरनत हैं सब कोइ ॥

वि०—“दासजी से पूर्व ब्रजभाषा के अन्य आचार्यों ने भी इन्हीं (दासजी) की भाँति-‘विषम’ को असंगति के सदृश तीन प्रकार का कहा है। विषम का अर्थ ‘सम’ न होना, विषम (परस्पर विरुद्ध) घटना का वर्णन अथवा जैसा वर्णन होना चाहिये, वैसा न होकर—उसके विपरीत या विरोधी का वर्णन करना होता है। अस्तु, कार्य-कारण-संबंधी गुण-क्रियादि दो वस्तुओं का संबंध वा किसी कार्य का फल जैसा होना चाहिये, वैसा न होने पर ‘विषमालंकार’ कहा जाता है। स्वभावतः कारण का जो गुण होगा तदनु रूप कार्य का भी वही रूप होगा, किंतु कवि-हृदय जब कुछ चमत्कार के साथ अनुरूप वर्णन करता है तब इस अलंकार का रूप-विषय बनता है, क्योंकि उसका शब्दार्थ-ही ऐसा है। साहित्य में इसके तीन भेद हैं। “प्रथम-अँनमिल बातन कौ जहाँ, परत कैसे-हूँ ढंग” (जहाँ बेमेल बातों-वस्तुओं का एक साथ होना कहा जाय), द्वितीय—” कारँन कौ रँग

पा०—१. (का०) (वै०) (प्र०) संग...। २. (का०) (सं० पु० प्र०) करता कौ न क्रिया सुफल, । (वै०) सफल । (प्र०) फलै । ३. (का०) (वै०) (प्र०) विषमालंकृत...।

और-ही कारज औरें रंग” (जहाँ कारण किसी और रंग का हो और कार्य— उससे उत्पन्न कार्य, किसी और रंग का हो) तथा तृतीय—“करता कौ न क्रिया-फल, अनर्थ-ही फल होइ” (जहाँ कर्ता के अनुरूप क्रिया-फल न होकर विपरीत फल हो, अर्थात् जहाँ सुंदर उद्यम करने पर भी बुरा फल हो) कहा गया है। संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में इन तीनों भेदों को—“परस्पर में वैधर्म्यवाली वस्तुओं का संबंध अयोग्य सूचन करना, कर्ता को क्रिया के फल की प्राप्ति न होकर उसके विपरीत अनर्थ की प्राप्ति होना” तथा “कारण के गुण-क्रियाओं का क्रमशः विरुद्ध वर्णन करना”—इत्यादि प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय ‘विषम’ कहा गया है। कोई-कोई ग्रंथकार ‘प्रथम विषम’ के गुण-विरोध और ‘क्रिया-विरोध’ नाम के दो भेद पृथक्-पृथक् मानते हैं, जो उचित हैं।

काव्य-प्रकाश-कार आचार्य मम्मट ने विषम के चार भेद माने हैं। यथा —

“वचचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात्।

कर्तुः क्रियाफलावासिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥

गुण क्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये।

क्रमेण च विरुद्धे यस्य एष विषमो मतः ॥”

अस्तु, “प्रथम विषम वहाँ, जहाँ दो संबंध रूपों से विवक्षित पदार्थों का उनके अति वैलक्षण्य के कारण परस्पर संबंध को अनुपन्न प्रतीति विशेष रूप से होती रहे। द्वितीय वहाँ, जहाँ कर्ता को उसकी क्रिया का फल मिलना तो अलग, उलटे एक अनर्थ जैसा प्रतीति हो। तीसरा वहाँ, जहाँ कार्य के गुण से कारण के गुण का विरोध प्रतीति होता हो और चौथा वहाँ, जहाँ कार्य की क्रिया से कारण की क्रिया विपरीति जैसी प्रतीति होता हो।” इन लक्षणों का और भी खुला-सा वहाँ गद्य-कारिकाओं में किया गया है। अतएव इनमें दो भेद तो रुद्रट् के ‘काव्यालंकार’ को देन है और दो सूक्ष्म के ‘अलंकार-सर्वस्व’ की, यथा—

कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोधः परस्परं गुणयोः।

तद्वचक्रिययोरथवा संजायेतेति तद् विषमम् ॥

*

विरूपाकार्याऽनर्थयोरूपत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम् ॥

—इत्यादि

यहाँ इतना ध्यान रखने की बात है कि “जहाँ कारण-कार्य में स्वाभाविक रूप से विषमता रहती हो वहाँ यह अलंकार नहीं बनता, अपितु कवि-द्वारा उक्ति-वैचित्र्य से विषमता उत्पन्न होने पर-ही यह अलंकार कहा जायगा। विरोध, असंगति और विषम की पृथक्ता भी समझने की चीज है। विरोध में—“दो

भिन्न स्थानों पर रहने वालों की ऐक्यता (एकाधिकरणकर) दिखलाते हुए चमत्कार उत्पन्न किया जाता है”, असंगति में—“एक स्थान पर होने वाले कार्य-कारणों का भिन्न स्थानों में होना वर्णन करते हुए चमत्कार बतलाया जाता है” और विषम में—“कार्य-कारण-संबंधी गुणों और फलों का अनुरूप से वर्णन करते हुए उसे चमत्कार पूर्ण बनाया जाता है । अर्थात्—“विरोध में”—“वैयधिकरण्य वालों का एकाधिकरण होता है ।” ‘असंगति’ में— कार्य-कारण का वैयधिकरण्य होता है” और विषम में—विशेष कर उसके तृतीय भेद में, कार्य-कारण के विजातीय गुण-क्रिया का योग चमत्कार-पूर्ण होता है ।

संस्कृत-ग्रंथों में विषम के प्रथम तथा तृतीय भेदों में पूर्वापर का, अर्थात् प्रथम को तीसरा और तीसरे को प्रथम मानने का भी उल्लेख भी मिलता है, किंतु स्वभावतः जो क्रम ऊपर लिखा गया है, वही उचित प्रतीत होता है ।”

अथ प्रथम ‘विषम’—“अनमिल वातन” को उदाहरन जथा —

कल^१-कंचन सौ^२ वौ अंग^३ कहाँ, औ^४ कहाँ ये मेघन-सौ तन कारौ ।
कहाँ वौ कौल-कली बिकसी-सी,^{*} कहाँ तुँम सोइ रहौ गहि डारौ ॥
‘दास जू’^५ ल्याउ-ही-ल्याउ कहौ, कछु आपनों^६-वाकौ न बीच बिचारौ ।
वौ कोमल^७ गोरौ^८-किसोरी कहाँ, औ कहाँ गिरि-धारन-पाँन तिहारौ ॥*

वि०—“यहाँ-नायक-प्रति दूती के कथन में ‘नायिका-नायक’ के परस्पर विरुद्ध धर्म वाले वर्णों का—कोमल-कठोर अंगों का, संबंध ‘कहाँ-कहाँ’ शब्दों-द्वारा अयोग्य, बे-मेल सूचित किया गया है, इसलिये प्रथम विषम है ।

प्रथम विषम का उदाहरण ‘कविवर मतिराम’ का भी सुंदर है, यथा—

“ऊँचौ जू, सूँचौ बिचार है धों, सो कछु सँमझें हँम-हूँ ब्रजबासी ।
माँनि हैं जो अनुरूप कहौ ‘मतिराम’ भखी ये बात प्रकासी ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) किल...। २. (का०) (वें०) सी ...। (प्र०) सो । ३. (का० रा० पु०) (अ० मं०) रंग...। ४. (का०) (वें०), कहैं रंग कंदन के तनु कारौ । (सं० पु० प्र०) (का० सं० पु०) कहैं रंग कंदन सौ...। ५. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) कहैं सेज कली बिकली बड़ होइ । (रा० पु० प्र०) कहाँ वौ सेज-कली बिकसी...। (अ० मं०) कहैं कौल कली-बिकसी बड़ होइ...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (अ० मं०) निज ‘दास जू’ ल्याउ-ही...। ७. (वें०) आपने...। ८. (का०) बड़ कौल-सी...। ९. (सं० पु० प्र०) (वें०) कोरी...।

* अ० मं० (पो०) पृ० २५७ ।

जोग कहाँ मुनि-लोगें-जोग, कहाँ अबला-मति है चपला - सी ।
 स्याँम कहाँ अभिराम-सरूप, कुरूप कहाँ वौ कंस की दासी ॥”
 उर्दू-साहित्य में भी इसके प्रचुर उदाहरण मिलते हैं, जैसे—

“कहाँ तू, और कहाँ उस परी का वशल ‘नजीर’ ।
 मियाँ तू छोड़ ये बातें दिवाना-पन की - सी ॥”

---नजीर अकबराबादी

अथ द्वितीय विषम-“कारँन-कारज भिन्न-रंग” कौ उदाहरन

नेन बसे^१ जल-कज्जल-संजुत, पो^२ अधराँमृत की अरुनाई ।
 ‘दास’ गई सुधि-बुद्धि-दरी लखि केसरिया-पट-सोभ सुहाई ॥
 कौन अचंभौ कहाँ अनुरागी, भयौ हियरा^३ जस उज्जलताई ।
 साँबरे, राबरे नेह - पगें - हीं, पगी तिय - अंगन में पियराई ॥

वि०—“अस्तु कविवर विहासिलाल का नीचे लिखा दोहा भी द्वितीय-
 “विषम” का अच्छा उदाहरण है यथा—

“या अनुरागी चित्त की, गति नहिँ सँभलै कोई ।
 ज्यों-ज्यों बूझै स्याँम-रँग, त्यों-त्यों ऊजर होई ॥”

और उर्दूवाले इसी अलंकार से अलंकृत कर कहते हैं—

“समझ कर रहमे-दिल तुमको, दिया था हमने दिल अपना ।
 मगर तुम तो बला निकले, गजब निकले, सितम निकले ॥”

अथ तृतीय “विषम”—करता कौ किया-फल नाहीं, पै अनरथ”
 कौ उदाहरन—

हुतो^४ नीर-चर-हँनन कों, क्रिएँ तोर बक ध्याँन ।
 लीनों भपटि सचाँन तिहिं, गयौ ऊपरै प्राँन ॥

पुनः उदाहरन जथा—

तो^५ कटाच्छ-उर मन दुरथौ, तिमिर-केस में जाइ ।
 तहँ^६ बेनी ब्याली डस्यौ, कीजै कहा उपाइ ॥

पा०—१. (का०) (प्र०) वहैं...। (वै०) नेनन में जल ...। २. (वै०) पीय-
 धराभृत...। ३. (का०) (वै०) (प्र०) हियरी ...। ४. (प्र०) सर-तट जलचर-हँनन कों,
 धरें हुतो बक...। ५. (का०) (प्र०) तुअ । (वै०) तुव...। ६. (प्र०) तहँ ब्यालिन
 बेनी डस्यौ...।

पुनः उदाहरन जया—

सिंघो-सुत कौ^१ मौन भै, ससा गयौ ससि-पास ।
ससि-संमेत तहँ हँ गयौ, सिंघी सुत कौ प्रास ॥

*

जिहिँ मोहिबे काज सिँ गार-सज्यौ, तिहिँ देखत^२ मोह में आइ गई ।
न चितोंन चलाइ सकी, इन-ही को^३ चितोंन के घाइ^४ अघाई गई ॥
भाँनु^५-लली की दसा सुनों^६ 'दासजू', देति ठगोरी ठगाइ गई ।
नंद-गाँउ^७ गई दधि-बेचन कों, तहँ आप-ही-आप बिकाइ गई ॥

वि०—'कन्हैयालाल पोद्दार ने दासजी के—“तिहिँ मोहिबे काज०...”
छंद में द्वितीय विषम मान—“यहाँ श्री कृष्ण को मोहने के कार्य का विनाश
होकर स्वयं मोहित हो जाने से अनिष्ट की प्राप्ति है” कहा है, किंतु वास्तव में
यह छंद उक्त 'विषम' का ही उदाहरण है, क्योंकि ब्रजभाषा के आचार्यों ने
आप द्वारा कहे गये द्वितीय 'विषम' के विषय को तृतीय विषम मान तदनुरूप
उदाहरण दिये हैं। 'तृतीय विषम' का 'गोकुल कवि' का उदाहरण भी सुंदर
है, यथा—

“रूप - गुमान - भरी अबलों, सब - ही की दसा सुँनती उठि कोहि-री ।
चोरिबे कों चित-से बित्त कों, चलि आई-ही पौरि पै आबति जोहि-री ॥
'गोकुल' होति लखालखी पौर-हीं, हँ गयौ चेटक-सौ चख पोहि-री ।
मैं मँन मोहँन कौ कहाँ मोझौ, गयौ मँन-मोहँन-हों मँन-मोहि-री ॥”
और कवि 'वृंद' जी कहते हैं—

“छीन भई तँन काँम-मई, जिनके हित बाट इते दिँन हेरी ।
आगँम जोतिषी-बूझति-ही, नित देब - मनावत साँझ - सबेरी ॥
आयौ सु प्राँन-पिया परदेस ते, देहु बधाई कहै सुनि मेरी ।
'वृंद' कहै उँन गारी दई औ निकाँरि दई तब अतर-चेरी ॥”

यहाँ नायिका-द्वारा पति के विदेश से पधारने की शुभ-सूचना देनेवाली दासी
को बधाई (धँन) प्राप्त न होकर गाली और घर से निकाले जाने का अनिष्ट-

पा०—१. (वें०) की...। २. (का०) (वें०) देखते...। ३. (सं० पु० प्र०)
(का०) (वें०) के ..। ४. (सं० पु० प्र०) (प्र०) भा१। ५. (का०) (वें०)
(प्र०) वृषभान ..। ६. (प्र०) यह ..। ७. (रा० पु० नो० सी०) नंदगाँउ...।
(प्र०) बरसाँनें ।

* अ० म० (पोद्दार) पृ० २६० । का० का० (रा० सा०) पृ० ४४ ।

बुरा पारतोषिक मिला, जो तृतीय 'बिषम' का फल है—विषय है। साथ-ही नायिका-द्वारा प्रियतम के विदेश से आगमन की शुभ सूचना देनेवाली दूती वा दासी को गाली के साथ-साथ घर से निकालना भी कुछ समझ में नहीं आता। अस्तु, इस गाली और घर से निकाले जाने का गूढ़ रहस्यमय कारण उन्हीं (वृंदजी) से सुनिये, यथा—

“पिय कौ आगँम सुनति-ही, फूली सब तँन नारि ।

बिरह-दसा देखी न पिय, ताते दई निकारि ॥”

“इति श्री सकल कलाधर-कलाधरवंसावतंस श्री महाराज कुमार

श्री बाबू हिंदूपति-बिरचिते “काव्य-निरनए” बिरुद्धा-

लंकार वरननो नाम त्रयदसोध्यायः ॥”

—

अथ चौदहवाँ उल्लास

अथ उल्लासादि अलंकार वरनन

विविध भौति 'उल्लास', 'अवग्या' 'अनुग्याहि'¹ गँनि ।
बहुरथौ 'लेस', 'विचित्र', 'तद्गुणों', 'सगुँन' 'दास' भँनि ॥
और अतद्गुँन', 'पूर्वरूप²', 'अनुगुँन', अवरेखै ।
'मीलित'³ औ 'सामान्य', जँन 'उन्मील',⁴ - बिसेसै ॥
ए होत 'चतुरदस' भौति के⁵, अलंकार सुनिऐं सुँमति ।
सब गुँन-दोष-प्रकार गुँनि⁶, किँएँ एक-ही ठौर थिति ॥

वि०—“दासजी ने इस उल्लास में चौदह (१४) अलंकारों जैसे—उल्लास, अवज्ञा, अनुग्या, लेश, विचित्र, तद्गुण, स्वगुण, अतद्गुण, पूर्वरूप, अनुगुण, मीलित, सामान्य, उन्मीलित” और विशेष” का वर्णन किया है। संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में—“उल्लास और अवज्ञा” को “वर्णन-वैचित्र्य-प्रधान”¹ “लेश-अनुज्ञा” को “तर्क-न्याय मूलक”,² “विचित्र-विशेष” को “विरोध-मूलक”³ और बाकी के अन्य अलंकारों—“तद्गुण, स्वगुण, अतद्गुण, पूर्वरूप, अनुगुण, मीलित, सामान्य और उन्मीलित” को “लोक-न्याय मूलक”⁴ श्रेणी में विभाजित किया गया है। दासजी द्वारा इन चतुष्टय-रूप में विभाजित अलंकारों को एक ही शृंखला में—उल्लास में, वर्णन करना उनके आचार्यत्व का निर्देशक है, क्योंकि उक्त अलंकारों का संस्कृतानुसार विभिन्न वर्गी होते हुए भी उनके विषयों में साम्यता अधिक है।”

ऊपर लिखे—“उल्लासादि” अलंकार संस्कृत के पुराने अलंकार-ग्रंथों में नहीं मिलते। सर्व प्रथम आचार्य रुद्रट ने—“तद्गुण, पिहित और विशेष तीन अलंकारों की उत्पत्ति की और मम्मटजी ने अतद्गुण नामक नया अलंकार रचा। इनके बाद पीयूषवर्णी श्रीजयदेव के “चंद्रलोक” में—“अनुगुण, अवज्ञा, उन्मीलित, उल्लास” और “पूर्वरूप” नाम के पाँच अधिक अलंकार पाये जाते हैं। श्रीअप्पय दीक्षित ने भी इन ऊपर लिखे नौ (९) अलंकारों का

पा०—१. (वे) अवग्यानुग्या हो ...। (प्र०) अनुअग्या...। २. (वे०) पुरस्वरूप...। ३. (का०) (वे०) (प्र०) मिलित...। ४. (का०) (वे०) (प्र०) उन्मीलित ...। ५. (का०) (वे०) लो...। ६. (का०) (प्र०) सब गुनदोषादि प्रकार गनि, कियो...। ७. (वे०) कियो...

उल्लेख करते हुए “अनुज्ञा” नाम का एक नया अलंकार लिखा। ‘लेश’, ‘विचित्र’ और ‘सामान्यालंकार’ भी मिलते हैं, ‘स्वगुण’ अलंकार का (संस्कृत और ब्रजभाषा ग्रंथों में) कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। इससे ज्ञात होता है कि उक्त (स्वगुण) अलंकार दासजी की देन है। रुद्रट्-जन्य जो ‘पिहित’ अलंकार था, यद्यपि वह संस्कृत अलंकार—‘मीलित’ में समा गया, फिर भी वह ब्रजभाषा के अलंकार-ग्रंथों में अब भी दर्शन दे देता है। किंतु समझ में नहीं आता कि पिहित (छिपाना) मीलित (मिला हुआ) में कैसे घुल-मिल गया जब कि दोनों का अर्थ विभिन्न है।

दासजी मान्य इन अलंकारों का संस्कृतानुसार पूर्व लिखित वर्गीकरण में भेद है, भिन्न मत हैं, भिन्न नाम हैं—जैसे, ‘विरोध मूल’—विचित्र और विशेष, न्यायमूल—सामान्य, ‘संसर्गमूल’—मीलित, उन्मीलित, तद्गुण, अतद्गुण, पूर्वरूप, अनुगुण, उल्लास, अवज्ञा, लेश और ‘प्रकीर्णक’—अनुज्ञा कहा गया है।

इस उल्लास में, दासजी ने सर्वप्रथम ‘उल्लास’ अलंकार का उसके पाँचों भेदों के सहित वर्णन किया है, इसके बाद अवज्ञा-अनुज्ञादि अलंकारों का। संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में “अवज्ञा” के दो भेद—“गुण से गुण” और “दोष से दोष” की प्राप्ति” रूप में माने गये हैं। दासजी ने इन दोनों के अतिरिक्त दो भेद—“जहाँ दोष ते गुन नहीं०” तथा—“जहाँ गुन ते दोषौ नहीं०...को प्राप्ति पर भी माने हैं। ब्रजभाषा के अन्य अलंकाराचार्यों ने ये भेद नहीं माने हैं। अवज्ञा के बाद अनुज्ञादि अलंकारों का आपने सांगोपांग वर्णन किया है।”

अथ “उल्लास” अलंकार बरनन जथा—

औरँन के० गुँन-दोष ते, औरँन० के गुँन-दोष।

बरनत यों ‘उल्लास’ हैं, कवि-पंडित मति-कोस० ॥

वि०—“जब एक के गुण-दोष से दूसरे के गुण-दोष प्रकट किये जाय—वर्णन किये जाय, तब अलंकाराचार्य “उल्लास” का विषय मानते हैं। संस्कृत-व्याकरणानुसार ‘उल्लास’ की व्युत्पत्ति ‘उत्’ और ‘लश’ से मानी गयी है, जिसका अर्थ होता है—“प्रबल दोष-संबंध”। कोई-कोई ‘प्रकाश’ और ‘प्रसन्नतादि’ (अर्थ) भी मानते हैं। इस प्रकार उल्लास में ‘एक पदार्थ के प्रबल गुण-दोष के संबंध से दूसरे को गुण-दोष प्राप्त होना कहा जाता है, जिससे इसके चार भेद—‘गुण से

गुण, दोष से दोष, गुण से दोष और दोष से गुण बन जाते हैं। दासजी ने इस चारों के उदाहरण—“गुण से गुण, गुण से दोष, दोष से गुण और दोष से दोष नाम से दिये हैं। दासजी ने उल्लास को ‘अप्रस्तुत-प्रशंसा’ और अर्थांतर-न्यास से अनुप्राणित मान इसका पाँचवाँ भेद संकर रूप भी मानकर उसका भी उदाहरण दिया है।

उल्लासालंकार को कुवलयानंदकार (संस्कृत) ने, श्री जयदेव के कथना-नुसार भेद-रहित स्वतंत्र अलंकार माना है। उद्योतकार (संस्कृत) ने उल्लास के प्रथम-द्वितीय भेद तो माने हैं, तृतीय-चतुर्थ भेदों को ‘विषम’ अलंकार के अंतर्गत बतलाया है। कुछ आचार्य इसे ‘काव्यलिंग’ के भीतर-ही गणना करते हैं।

पूर्व-कथित (तेरहवाँ उल्लास) ‘असंगति’ अलंकार के प्रथम भेद से इस (उल्लास) के प्रथम-द्वितीय भेद मिलते-जुलते हैं, पर असंगति में कार्य-कारण का और उल्लास के उक्त भेदों में प्राकृतिक गुण-दोषों का संबंध होता है। पंचम विभावना और उल्लास के तृतीय-चतुर्थ भेदों के उदाहरणों में भी बहुत कुछ साम्यता पायी जाती है, किंतु विभावना (पाँचवाँ) में विलोमी कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है और उल्लास में क्रमशः “एक के गुण से दूसरे को दोष तथा एक के दोष से दूसरे को गुण की प्राप्ति होती है।

अथ प्रथम उल्लास—“गुँन ते गुँन” को उदाहरन जथा—

औरँन^१ के गुँन और कों-गुँन “पैहलौ^२ “उल्लास” ।

“दास’ सँपूरँन चंद लखि, सिंध-हिऐं उल्लास^३ ॥”

पुनः उदाहरन जथा —

कह्यौ देबसरि प्रघट है, ‘दास’ जोरि जुग-हाँथ ।

भयो सीय तुब न्हॉन ते, मेरौ पाबँन पाथ^४ ॥

वि०—“उल्लास के प्रथम भेद “गुण से गुण” का उदाहरण ग्वाल कवि-कृत भी सुंदर है, यथा—

“गेह में लगे हैं, तिय-नेह में पगे हैं पूर-लोभ में जगे हैं, अदेह तेह सँमुनाँ ।

कुटिल-कुंदगँन में, कूरँन के संगँन में, छके रति-रँगँन में नगँन ते कँमुनाँ ॥

‘ग्वाल कवि’ भनत गरुर-भरे अति पूर, जाँनिपें जरुर जिन्हें काहू कौ गँमुनाँ ।

लैहैर करें ते हरि-लोक में लैहैर करें, लैहैर तिहारी के लखैया माँतु जँमुनाँ ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) औरै... २. (का०) (वें०) पहिले... ३. (का०) (वें०) (प्र०) दुल्लास । ४. (वें०) साथ ।

श्री मतिरामजी का उदाहरण भी सुंदर है, यथा—

गुच्छंन के अबतंस लसैं, सिखि-पिच्छंन अच्छु किरिट बनायौ ।
पल्लव लाल सँमेत छरी, कर पल्लव-से 'मतिराम' सुहायौ ॥
गुंजँन के उर मंजुल-हार, निकुंजँन ते कदि, बाहर आयौ ।
आज कौ रूख लखैं ब्रजराज कौ, आज-ही आंखिन कौ फल पायौ ॥”

अथ द्वितीय उल्लास “और के गुँन ते और कों दोष” जथा—

औरनँ^१ के गुँन और कों, दोष-“उल्लासै” होत ।
“बारिद जग-जीवँन-भरत, मरत आक के गोत ॥”

*

बास - बगारत मालती, करि - करि सैहैज विकास ।
पिय-बिहीन बँनितँन^२ -हिऐं, बिथा बढ़त^३ अँनयास^४ ॥

वि०—“द्वितीय उल्लास “गुण से दोष की प्राप्ति” के वर्णन में कन्हैया-लाल पोद्दार ने अपनी ‘अलंकार-मजरी’ में नीचे लिखा एक शेर भी उदाहरण स्वरूप लिखा है, जैसे—

“पान खा-खा न हँस, इस दरजा तू ऐ दुरमने-जाँ ।
अभी मर जाँयगे खूँ में लबो - दंदान कई ॥”

वाकई भाव और कहने का ढंग सुंदर है । द्वितीय उल्लास का यह उदाहरण बे-जोड़ है ।”

अथ तृतीय उल्लास--“और के दोष ते और कों गुँन” जथा—

दोष और के और कों, -गुँन “उल्लासै” लेखि ।
“रघुपति कौ बँन-बास भौ, -तपसिँन सुखद बिसेखि ॥”

*

भली भई^५ करता कियौ, कंटक-कलित^६ मृनाल ।
तुब भुजाँन-सँम^७ जाँन कबि-उपमाँ देति^८ जु बाल ॥

पा०—१ (का०) (वें०) (प्र०) औरै...। २. (का०) (वें०) बनितानि-दिय ।
३. (रा० पु० नौ० सी०) बढ़े बिथा ..। ४. (का०) (वें०) अन्यास । ५. (प्र०) भयो ।
६. (प्र०) बलित...। ७. (का०) (वें०) की...। ८. (का०) (वें०) सब ..। ९. (का०) (वें०) (प्र०) देते बाल ।

अथ चतुर्थ उल्लास—“और के दोष ते और कों दोष” जथा—

“उल्लासै” जहँ और के, दोष और कों दोष ।

“भएँ संकुचित-कमल-निस, मधुकर लहयौ न मोष ॥”

वि०—“चतुर्थ उल्लास—“और के दोष से और को दोष-प्राप्ति” का उदाहरण कवि श्री विहारीलाल का यह दोहा भी सुंदर है, जैसे—

“संगति-दोष लगै सबन-कहे ते साँचे बँन ।

कुटिल-बंक भों-सग ते, भए कुटिल-गति नैन ॥”

महावीर प्रसाद मालवीय ने स्वसंपादित “काव्य-निर्णय” में जो वेल्ड-वीयर प्रेस प्रयाग से प्रकाशित हुआ है, इस चतुर्थ उल्लास के लक्षण-उदाहरण को तृतीय उल्लास का लक्षण - उदाहरण माना है, अर्थात् क्रम-विपर्यय किया है—

अथ “संकर-उल्लास” लच्छन जथा —

‘अप्रस्तुत परसंस’ जहँ, औ अरथांतरन्यास ।

तहाँ होत अँनचाँहि-हू, बिबिध-भाँति ‘उल्लास’ ॥

अस्य उदाहरण जथा—

है, इहि तो बँन-बँनु कौ जो, लखिए^१ सह-गाँठ असार कठोरै ।

‘दास’ ए आपस में इहि भाँति, करें रगरौ जिहिँ पावक दौरै ॥

आपँन-हूँ कुल-संकुल-जारि, जरावत है सहवास के औरै ।

हे^२ जग-बंदन, चंदन तोहि, विनास कियौ ईन^३ ठौर-कुठौरै ॥

अथ “अवग्या-अलंकार लच्छन जथा—

औरें के गुन और कों—गुनँन ‘अवग्या’ पाइ ।

“बड़े हमारे नैन तौ,^४ तुँम्हें कहा जदुराइ ॥”

वि०—“किसी एक के गुण-दोष से किसी दूसरे को गुण-दोष प्राप्त न होने पर “अवज्ञा” अलंकार कहा जाता है । अवज्ञा पूर्वोक्त अलंकार “उल्लास” का विरोधी है । उल्लास में अन्य के गुण-दोषों को अंगीकार किया जाता है, यहाँ (अवज्ञा में) नहीं ।

पा०—१. (का०) लखि ऐलौ असाह...। (बँ०) (सं० पु० प्र०) लखियै सो रुगाँठि असार...। (प्र०) लखि ये सह...। २. (का०) (बँ०) (प्र०) रे...। ३. (का०) बँ०) रहि...। ४ (बँ०) सों...।

अवज्ञा अलंकार को सर्व प्रथम 'जयदेव' ने 'चंद्रालोक' में तथा अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानंद' में स्थान दिया है—निर्माण किया है। अवज्ञा के प्रति कुछ आचार्यों का कथन है कि यह (अवज्ञा) अलंकार स्वतंत्र न मानकर "विशेषोक्ति" के अंतर्गत मनाना चाहिये, क्योंकि विशेषोक्ति की भाँति अवज्ञा में भी कारण के होते हुए कार्य का अभाव दिखलाया जाता है।

संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में अवज्ञा के—“गुण से गुण के न होने में” तथा “दोष से दोष के न होने में” दो भेद माने हैं। दासजी ने दो भेद और—दोष से गुण के न होने तथा गुण से दोष के न होने-रूप में भी माने हैं तथा इनके सुंदर उदाहरण दिये हैं, इत्यादि ...।”

उदाहरण जथा—

निज सुवराई कों सदाँ, जतँन करें मतिमाँन ।

पितु-प्रवीनता^१ को गरब, करिवौ^२ कौन सयाँन ॥

वि०—“प्रथम अवज्ञा—“गुण से गुण की अप्राप्ति” का उदाहरण ‘मति-राम’ विरचित भी सुंदर है, यथा—

“मेरे दग-बारिद वृथाँ, बरसत बारि-प्रवाह ।

उठत न अंकुर नेह कौ, तो उर-ऊसर माँह ॥”

अथ द्वितीय ‘अवग्या’-और के दोषों और
कों दोष न होंगे जथा—

औरें दोष न^३ और कों, दोष ‘अवग्या’ सोड ।

“मूढ़ सरित डारें सुरा, भूलि न त्यागत कोड ॥”

पुनः द्वितीय उदाहरण जथा—

आक औ कँनक-पात तुँम जो चचावत^४ हौ,

तौ खट-रस-बिजँन न^५ केहूँ भाँति लटि गौ ॥

भूषँन-बसँन कोने^६ ब्याल-गज खाल कों तौ,

साल-सुबरँन कौ न धारिवौ^७ उलटि-गौ ॥

पा०—१. (वे०) प्रवीन ताकौ...। २. (का०) (वे०) (प्र०) कीबौ ...। ३. (का०) (वे०) दोषँन और के। ४. (का०) (वे०) (प्र०) चचावत...। ५. (वे०) को...। ६. (का०) (प्र०) कीन्हौ...। ७. (का०) (वे०) पेन्हिबौ ...। (रा० पु० नी० सी०) पैरिबौ...। ८. (स० पु० प्र०) उसटि...।

‘दास’ के दयाल हौ^१ सु रीति-ही उचित तुम्हें,
 लीनी जो कुरीति तौ तिहारौ ठाठ-ठटि गो ।
 हौ^२ कें जगदीस कीनों बाँहन बृषभ कों,
 तौ कहा सिब साहिब गयंदन कौ घटि गौ ॥
 अथ तृतीय अबग्या—“दोष ते गुँन न हों नों”—लच्छन-

उदाहरन जथा—

जहाँ दोष ते गुँन नहीं, इहौ^३ “अबग्या” ‘दास’ ।
 “जहाँ^४ खलँन कौ गँन बसै, तहाँ न धरँम-प्रकास ॥”

पुनः उदाहरन जथा—

काँम-क्रोध-मद-लोभ की, जा हिय-बसी जँमात ।
 साधु-भाँबती-भक्ति तहँ, ‘दास’ बसै किहिँ भाँत ॥
 अथ चतुर्थ ‘अबग्या’—“गुँन ते दोष न हों नों” लच्छन जथा—
 जहँ गुँन ते दोषौ नहीं, इहौ^५ ‘अबग्या’ बेस ।
 “राँम-नाँम सुँमरँन जहाँ, तहाँ न संकट लेस ॥”

पुनः उदाहरन जथा—

कोरो-कबीर, चँमारौ^६ ‘दास’ हो,^७ जाट धनाँ, सदनाँ^८ हूँ^९ कसाई ।
 गीध गुनाह-भरथौ-ही हुतो, भरि-जँनम अजामिल कीनीं ठगाई ॥
 ‘दास’ दई इँन कों गति जैसी, न तैसी जर्पीन-तर्पीन हूँ पाई ।
 साहिब साँचौ न दोष गँनें,^{१०} गुँन एक लहै जो संमेत सचाई ॥*

वि०—“भारती-भूषण” में दासजी के इस “अवज्ञा” के चतुर्थ उदाहरण को अवज्ञा के द्वितीय लक्षण—“दोष से दोष को अप्राप्ति” के उदाहरण में संकलित किया गया है ।

अथ ‘अनुग्या’ अलंकार लच्छन बरनन जथा—

दोषौ में गुँन देखिये, तहाँ^{११} ‘अनुग्या’ नाँम ।
 “भलौ भयौ मग-भ्रँम भयौ,^{१२} मिले बीच घँनस्याँ ॥”

पा०—१. (वे०) हीं...। २. (प्र०) लखन...। ३. (प्र०) यही...। ४. (का०)
 (भा० भू०) चमार, रैदास...। (वे०) चमार रैदास...। ५. (प्र०) है...। ६. (का०)
 (वे०) (प्र०) (भा० भू०) सधना...। ७. (का०) (वे०) हो...। ८. (वे०)
 गहँ...। ९. (का०) (वे०) (प्र०) ताहि...। १०. (वे०) भई...।

* भा० भू० (केडिया) पृ० ३०६ ।

वि० — “जहाँ दोष में भी गुण माना जाय, दोष को भी गुण स्वीकार किया जाय, वहाँ अनुज्ञा-अलंकार कहा-सुना जाता है। अनुज्ञा-—‘अनु’ और ‘ज्ञा’ का संयुक्तरूप है, जिसका अर्थ ‘अनुकूल ज्ञान’ होता है। इसलिये उक्त अलंकार में दोष वाली वस्तु को अपने अनुकूल मानकर उसकी इच्छा की जाती है,— दोष युक्त वस्तु भी अनुकूल समझी जाकर ग्रहण की जाती है। कोई-कोई आचार्य अनुज्ञा का अर्थ ‘अनुमति’ वा ‘अंगीकार’ भी करते हैं, तब इसका अर्थ होगा-‘दोषों का ‘अंगीकार’ करना.....।

कुवलयानंद में अप्रपय दीक्षित ने और रस-गंगाधर में पंडितराज जगन्नाथ ने अनुज्ञा को स्वतंत्र-अलंकार और अन्य आचार्यों ने ‘विशेष’ अलंकार के अंतर्गत माना है।”

कन्हैयालाल पोद्दार की ‘अलंकार-मंजरी’ में ‘अनुज्ञा’ के उदाहरण-स्वरूप भक्तवर ‘रसखान’ का निम्नलिखित छंद सुंदर दिया गया है,—

“काहू सों माई, कहा कहिए, सहिए जु सोई ‘रसखान’ सहाबें ।
नैम कहा जब प्रेम कियौ, तब नाचिऐ सोई जो नाच-नचाबें ॥
चाँदत हैं हम और कहा रखि, क्यों-हूँ-हूँ पिय कों देखन पावें ।
चेरिऐ सों जु गुपाल रुचे तौ चलो-री सबै मिज चेरी कहाबें ॥”

पुनः दूसरी उदाहरण जथा—

कोंन मनावै माँनिनी, भई और की और ।

लाल रहे छकि लखि-ललित, लाल बाल-टग-डौर ॥

वि०—‘दासजी की-“कोंन मनावै माँनिनी” रूप सरस सूक्ति पर अष्टछाप के प्रसिद्ध ‘जड़िया कवि’ नंददासजी को सुंदर उक्ति देखिये । मानिनी के स्वरूप का आप कैसा सुंदर भाव-युक्त वर्णन करते हैं—चित्र-सा खींचते हैं, यथा—

“तुम्ह, पैहलें तौ देखौ आइ, माँनिनी की सोभा लाल,

पाछें तें मनाइ लीजो प्यारे हो गुर्बिदा ।

कर पर धर कर कपोल, प्यारी रही नैन मूँदि—

कमल - बिछाइ माँनों सोथौ सुख चंदा ॥

रिस-भरी भोंह माँनों भौरा है अरबरात,

*

‘नंददास’-प्रभु ऐसी काहे कों रिसऐ बाल,

जाके मुख देखे ते मिटत दुख-दंदा ॥”

अथ लेशालंकार-लच्छन उदाहरन बरनन जथा—

जहाँ दोष गँन होत है, 'लेस' वहीं' सुख-कंद ।

“छीन-रूप है द्वैज-दिन, चंद भयौ जग बंद ॥”

वि०—“जहाँ दोष को गुण-रूप में” और “गुण को दोष-रूप में” जैसा दास जी ने आगे कहा है—“गुँनों दोष हैं जात है, 'लेस-रोति ये और' उक्तिवैचित्र्य से कल्पित किया जाय, वहाँ लेश के विषय बनते हैं। लेश का शब्दार्थ—‘अंश, भाग, तुच्छ और छोटा (अल्प) होना कहा गया है, अतएव यहाँ किसी गुणवाली वस्तु के अंश-विशेष में दोष तथा दोषवाली वस्तु के अंश-विशेष में गुण दिखलाया जाता है। अथवा किसी वस्तु को तुच्छ दिखलाना लेशालंकार का विषय है।

लेश को व्याज-स्तुति, उल्लास और अवज्ञा से प्रयुक्त बतालाते हुए अलंकाराचार्यों का कथन है—“व्याज-स्तुति में प्रथम प्रतीत होने वाले अर्थ के विपरीत, स्तुति के शब्दों से निंदा अथवा निंदा के शब्दों से स्तुति का तात्पर्य होता है, लेश में यह बात नहीं है। यहाँ दोष को गुण वा गुण को दोष रूप में किसी अंश विशेष के द्वारा मान लिया जाता है। उल्लास में ‘एक का गुण-दोष दूसरे को प्राप्त होता है और लेश में गुण-दोष को वा दोष-गुण को उनके विपरीत दोष-गुण में कल्पित किया जाता है। अवज्ञा और लेश के प्रति कहा जाता है—“अवज्ञा में उत्कट गुण की लालसा से दोष वाली वस्तु की इच्छा की जाती है तथा लेश में दोष वाली वस्तु में गुण अथवा गुणवाली वस्तु में दोष कवि-कल्पना द्वारा किया जाता है।

प्रथम लेश का उदाहरण “मतिराम” कवि-कृत भी सुंदर है, यथा—

कत सजनी है अँनमनी, अँसुवा-भरति ससंक ।

बड़े भाग नँदलाल सों, झूठे-हुँ लगत कलंक ॥”

अथ प्रथम 'लेस' को पुनः उदाहरन जथा—

ललित लाल मुख-मेलि कें, दियौ गँमारिन^१ फेरि ।

लीलि न लीन्हों यै बड़ौ, लाभ^२ जौहरी हेरि ॥

वि०—“प्रथम लेश के उदाहरण स्वरूप विहारीलाल का यह दोहा भी विशेष प्रसिद्ध है, जथा—

पा०—१. (प्र०) वहाँ... २. (का०) (वें०) (प्र०) गँवारन... ३. (वें०) लाल...।

“चित पित-मारक-जोग गुँनि, भयौ भये सुत सोग ।
फिरि हुलस्यौ जिय जोयसा, सँमरुं जारज-जोग ॥

अथ द्वितीय लेस “गुँन ते दोष” कौ लच्छन उदाहरन जथा—

“गुँनों दोष है जात है, लेस-रोति यै और ।
“फले सुहाए मधुर फल, आँम गए भकभौर ॥”

वि० — “द्वितीय लेश के उदाहरण-स्वरूप भी कविवर विहारीलाल का यह दोहा सुंदर है, जैसे—

“कहा कहां वाकी दसा हरि प्राँनन के ईस ।
विरह-ज्वाला जरिबौ लखें, मरिबौ भयौ असीस ॥

नायिका के विरह-ज्वाला में नित्य-प्रति जलने से उसके मरने की — दोष से गुण की, आशीष मानती है, क्योंकि विरह-ज्वाला से जलने में दुःखाधिक्य है । उर्दू के प्रसिद्ध कवि “वर्क लखनवी” ने भी यह बात—विहारीलाल की तरह कही है, जैसे—

“अब ये हालत है कि फुरकत में एवज जीने के ।
मेरे मरने की सुक, जोग दुआ देते हैं ॥

और श्री लच्छीराम जी इसी लेश में लपेट कर कहते हैं—

“बूझी में—“गैया हँमारी कहाँ”, बछरा में रख्यौ वौ बाँसुरी बारौ ।
बोलिबौ हाइ गरें परथौ यों, ‘लछिराँम’ कह्यौ फिरि बोलि निहारौ ॥
माहर हैं बिचल्यौ मग में हठ, साँकरे - घूँघट घेर उचारौ ।
छत्रै छिगुनी कौ छला-छल में, मँन-मँनिक लै गयौ लूटि हमारौ ॥”

प्रताप कवि का लेशालकार-संयुक्त नवोटा-नायिका का वर्णन तो और भी सुंदर है, यथा—

“पिय-मँन-भावनि नबेली सुख-दाँनि निज-रूप की छटाँन रति-रंभा-निदरति है ।
सुंदर सरूप तँन सैहैज सिँगारँन सों, अंगँन अँनूप दूति दूनीं उघरति है ॥
कहै ‘परताप’ मनि-मंदिर मयक-मुखी, मुख कै मलीन डर संकै धरति है ।
पीठि दै लुगाइन की दीठै बचाइ, ठकुराँइन सु नाँइन के पाँइन-परति है ॥”

यहाँ “नायिका का केलि मंदिर में जाना गुण था, पर दुःख-दोष प्राप्ति की भूलक से द्वितीय लेश प्रकाशित हो रहा है ।”

अथ विचित्र अलंकार लच्छन वरनन जथा—

करत दोष की चाँह जहँ, ताही में गुँन देखि ।

तहँ 'विचित्र' भूषँन कह्यौ,^२ हिएँ चित्र अबरेखि ॥

वि० — “जहाँ दोष को चाहना पर गुण दिखलायी दे, वहाँ दासजी ने “विचित्र-अलंकार माना है ।

अलंकार-ग्रंथों (सस्कृत-व्रजभाषा) में विचित्रालंकार की विविध व्याख्याएँ मिलती हैं । चंद्रालोककार कहते हैं—“विचित्रं चेत्प्रयत्नः स्याद् विपरीतफलप्रदः” (जहाँ किये गये प्रयत्न से विपरीत फल मिले) और विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं—“विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्ट फलाय चेत्”—साहित्य-दर्पण, (जहाँ अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिये उसके विरुद्ध अनुष्ठान किया जाय) तथा इसी प्रकार व्रजभाषा में—“इच्छा फल विपरीत की कीजै जतन —विचित्र” (भाषा-भूषण), “कहि बिचित्र सु बिरुद्ध फल पावन कौ उद्योग” (चिंतामणि), “जहाँ करत उद्यम कछु, फल-चाँहत बिपरीत” (मतिराम) और “सो ‘बिचित्र’ फल-चहि जु कछु, जतँन करें बिपरीत” (पद्माकर) इत्यादि अनेक मिलती-जुलती परिभाषाएँ हैं ।

विचित्र का शब्दार्थ—विस्मय, अद्भुत और आश्चर्य कहा जाता है । इस लिये इस अलंकार में इच्छा के विपरीत-प्रयत्न रूप अद्भुतता कथन की जाती है । अतएव जब इष्ट-फल की प्राप्ति के लिये उससे विपरीत कार्य किया जाय तब ‘विचित्रालंकार’ कहा जाता है । यहाँ यहो विचित्रता होती है कि “हम चाहते तो कुछ और हैं, और करते उसके विपरीत हैं । साधारणतः इच्छानुसार प्रयत्न किया जाता है, जिससे इष्ट फल को फल-प्राप्ति हो, पर यहाँ ऐसा नहीं है...।”

अथ विचित्र को उदाहरन जथा—

जीवन - हित प्राँनँ तजै, नबै उँचाई - हेत ।

सुख-कारँन दुख-संग्रहै, ऐसौ^३ भृत्य^४ अचेत ॥

वि०— ‘विचित्र अलंकार का उदाहरण ‘कवि खुनाथ’ का सुंदर है, यथा—

“तीरथ न करें, नैम-व्रत कों न धरें एकौ,

भूलें हैं परें न काहू संगम के संग में ।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) तिहि...। २. (का०) (वें०) कह्यौ...।
३. (वें०) ४. (प्र०) ऐसे...। ४. (का०) मृदु...।

रात में न जागें, ध्यान-जोति कों न पागें,
 कहूँ कैसे-हूँ न लागें कहै कोऊ काऊ ढंग में ॥
 बेद कौ न भेद अबगाहती हैं न 'रघुनाथ',
 निपुन भयौ न चाहती हैं जोग-अंग में ।
 करिबे कों उज्जल सुधा-सौ अभिराम देखौ,
 मैं न ब्रज-बाँम रँगती हैं स्याम - रंग में ॥”

कविवर “विहारीलाल” कहते हैं—

“भरिबे कौ साहस ‘क्रियौ’, बदेँ बिरह की पीर ।
 दौरति है सँमुहँ-ससी, सरसिज, सुरभि-सँमीर ॥”
 पुनः विचित्र के दूसरे रूप कौ लच्छन-उदाहरन जथा—
 दोष-विरोधी के बलै, गुँनों न गुँन-उद्योत* ।
 कछु भूषँन-विस्तरँन गुँन, रूप, रंग, रस^३ होत ॥

वि०—“जहाँ प्रवल विरोध के कारण गुणों का उदय न होने पर भी कवि-
 कथन की वैचित्र्यता के कारण गुणों के साथ रूप-रंग और रस पैदा होता हो तो
 वहाँ भी यह ‘विचित्रालंकार’ मानन चाहिये । यह दासजी का अभिमत है,
 किंतु इस अभिमत का उदाहरण आपने नहीं दिया है ।”

अथ तद्गुँन-अलंकार लच्छन जथा—

‘तद्गुँन’, तजि गुँन आपनों, संगत कौ गुँन लेत ।
 पाएँ पूरव रूप फिर, स्वगुँन सुमति^३ कहि देत ॥

वि०—“जहाँ अपना गुण त्याग कर संगति—पास वालों का गुण-ग्रहण
 किया जाय, वहाँ ‘तद्गुण’ अलंकार दासजी-मतानुसार है ।

तद्गुण अलंकार का विवेचन सर्व प्रथम—रुद्रट्, मम्मट और रय्यक् ने
 अपने-अपने ग्रंथों (काव्यालंकार, काव्य-प्रकाश, अलंकार-सर्वस्व और अलंकार-
 सूत्र) में किया है । रुद्रट् ने इसे “अतिशयवर्ग” और रय्यक् ने “न्याय-मूल”
 वर्ग के लोक-न्याय-मूलक भेद के अंतर्गत गणना की है । श्रीमम्मट ‘तद्गुण’
 का विषय बतलाते हुए कहते हैं—

“स्वमुत्सृज्य गुणं योगादयुज्ज्वल गुणस्य यत् ।

वस्तु तद्गुणतामेति भश्यते स तु तद्गुणः ॥”

अर्थात् तद्गुण वह अलंकार कहा जाता है, जिसमें न्यून गुणवाली प्रस्तुत वस्तु किसी अप्रस्तुत अत्यंत उज्ज्वल (उत्कृष्ट) गुणवाले पदार्थ के गुण को ग्रहण कर ले ।” यही नहीं, आप व्याख्या करते हुए पुनः कहते हैं—“जहाँ कोई वस्तु अपने वास्तविक रूप को छिपा कर किसी समीपस्थ विशेष गुणवाले पदार्थ के आत्म-गुण-संपत्ति के द्वारा प्रभावान्वित वा संक्रांतवर्ण होकर उसी के छाया-सदृश रूप को प्राप्त हो जाय, तब वहाँ यह अलंकार होता है, क्योंकि उस अप्रकृत पदार्थ का गुण यहाँ प्रकृत पदार्थ में संक्रांत हो जाता है । इसलिये यह ‘तद्गुण’ कहलाता है.....।” पीयूषवर्षी जयदेव की परिभाषा सूक्ष्म और सार-गर्भित है । आप कहते हैं—“तद्गुणः स्वगुणत्यागादंध्यतः स्वगुणोदयः” (अन्याश्रय-जनित अपना गुण त्यागकर दूसरे का गुण-ग्रहण करने पर तद्गुण होता है) ब्रजभाषा में भी इसकी संस्कृत से मिलती-जुलती विविध परिभाषाएँ हैं । उन सब को लक्ष में रख पोद्दार कन्हैयालाल की गद्य-परिभाषा शुद्ध और परिष्कृत और अपने में पुष्ट समझ कर यहाँ उद्धृत की जाती है, जैसे—“अपना गुण त्याग कर उत्कट गुणवाली निकटवर्ती दूसरी वस्तु के गुण-ग्रहण करने के वर्णन को ‘तद्गुण’ अलंकार कहते हैं ।”

तद्गुण का अर्थ है—“उसका दूसरे का, अन्य का गुण । इसलिये इस अलंकार में लक्षणानुसार अन्यदीय गुण का ग्रहण होता है । यहाँ गुण से—‘रूप-रस-गंधादि’ लिया जाता है, यथा—

“गुणोऽप्रधाने रूपादौ मौर्व्यां सूत्रे वृकोदरे ।

---केशव-कोष

अस्तु, संस्कृत-विज्ञ अलंकाराचार्यों का कहना है—श्रीमम्मट-मान्य तद्गुण-लक्षण ‘अलंकार-सर्वस्व’-कर्ता के तद्गुण की परिभाषा से अनुप्राणित है ।

अथ उदाहरन जथा—

पन्नाँ-संग पन्नाँ हूँ प्रकासत छँनक^१ कँनक—

रंग पुनि^२ लै कें पैग रंगँन पलत है ।

अधर-ललाई लावै लाल की ललक पापे,^३

अलक - भलक मरकत - सौ लगत^४ है ॥

पा०—१. (का०) (प्र०) छनक लै कनक । (वें०) छनकु लै कनक...। २. (का०) ...पुनि पैग रगनि पलतु...। (वें०) (प्र०) पुनि पै कुरंगनि...। (सं० पु० प्र०) पुनि पै गुन रंगन...। ३. (का०) पायौ...। (वें०) पाय...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) हलत है । (सं० पु० प्र०) (न० सि० ह०) सौ रलत है ।

ऊदौ, अरुनोंयौ है, पीत-पाटल हरौयों है,
 दुति लै दुहूँघाँ^३ 'दास' नैनन - छलत है ।
 सँमरथ नीकें^४ बहुरूपिया-लों थाँन - ही में,
 मोंती नथुनीं कौ^५ बर बाँने^६ बदलत है ॥*

अस्य तिलक

इहाँ, उपमाँ अपरांग है, ताते अंगांगी सकर है ।

वि०—“तद्गुण अलंकार के उदाहरण-वर्णन में ब्रजभाषा के कवियों ने बड़ी ऊँची-ऊँची उड़ानें उड़ी हैं—बहुत-ही सुंदर-सुंदर सूक्तियाँ सृजी हैं, एक-दो उदाहरण, जैसे—

“आसँन एक पै आँनद-सों पिऐं, आपुस में रस-रूप बिसाल कौ ।
 मैं, 'रघुनाथ' गई तिहिँ औसर, हाथ लिऐं सुचि फूल की माल कौ ॥
 रीझि रही दुति देखि दुहूँ की, लखौ कौतुक एक भट्ट या हाल कौ ।
 अंग के रंग सों अंग कौ रंग भौ—गोरी कौ साँवरौ, गोरी गुपाल कौ ॥”

*

“कौहर, कौल, जपा-दल, बिद्रुम, का इतनी जो बंधूक में कोति है ।
 रोचँन, रोरी, रची मेंहदी, 'नृप-संभु' कहै मुक्ता-सँम पोति है ॥
 पाँह धरें ठरै ईगुर-सौ, तिन में मँनि-पाइल की धँनी जोति है ।
 हाथ है-तीन लों चारहुँ ओर ते, चाँदनी चूँनरी के रँग होति है ॥”

•

“कालिह-ही गूथी बबा की सों में, गज-मोंतिन की पैहरी-ही आला ।
 आइ कहाँ ते गई पुखराज की, संग गई जमुनाँ - तट बाला ॥
 न्हात-उतारी में 'बेनी - प्रबीन', हँसै सुनि बेनैन नैन - बिसाला ।
 जाँनति नाँ अँग की बदली, बदली-बदली सब सों कहै माला ॥”

यहाँ 'पोदार' (कन्हैयालाल—अलंकार-मंजरी) जी का मत है—“यद्यपि कंचन-वर्णी नायिका के अंग-प्रभा के कारण मोतियों की माला का 'पीत-गुण' ग्रहण किया जाना कहा गया है, किंतु इस वर्णन में 'तद्गुण' गौण है, भ्रांति

पा०—१. (का०) (प्र०) अरुनों है पीत...। (वे०) अरुनी हैं पीत.. ।
 २. (का०) (वे०) (प्र०) हरोहैं हे कें...। ३. (का०) (वे०) (न० सि० ह०)
 दुर्घा की दास...। ४. (न० सि० ह०) नीकौ...। ५. (का०) (वे०) (प्र०) के...।
 ६. (प्र०) बाँने...।

* न० सि० ह०, पृ० ११२, ३७५ ।

प्रधान है, इसलिये-यहाँ तद्गुण भ्रांतिमान् अलंकार का अंग-मात्र है, प्रमुख नहीं ।” विहासीलाल का यह दोहा भी ‘तद्गुण अलंकार का अच्छा उदाहरण है, यथा—

“अधर धरत हरि के परत, ओठ-दीठि-पट-जोति ।
हरित-बाँस की बाँसुरी, इन्द्र-धनुँष- रँग होती ॥

‘लच्छीराम’ कहते हैं—

“भोर-हिं आज हमारी अली, सजिबे कों सिंगार कही ललचाइ कें ।
कोंनीं कछू हठ है हँम सों, ‘लछिराम’ सु भीतरी चौक बुलाइ कें ॥
है गयौ हँम कौ हार जला मिलि, माँनस मेरे बिलोकि लजाइ कें ।
चार घरी लों चकीसी-रही, गज- गौहर कौ गजरा पैहराइ कें ॥

और “श्री भारतेंदु”—

“आज एक ललनाँ, जबाहर खरीदबे कों,
आई हुती सुधर सुहाई हाट बारे की ।
कर में लिये ते भए मुक्ता प्रवाल जैसे,
गुंजा-से लखाने फेरि दीठि दग-तारे की ॥
कहै ‘हरिचंद’ मोँती आप-से लखाए फेरि,
हास कौ बिलास बढ्यौ सुखमाँ कतारे की ।
ओजक कौ मोल घट्यौ, नफा की चज्जाबै कोंन,
अकल हिराँनी वा जौहरी बिचारे की ॥

*

“गजब नैरंगे-अक्स आरिजे-रंगीने दिखलाया ।
सुनहरा था दुपटा, हौ गया गुलनार काँधे पर ॥

*

“मुवाफे-जर लपेट दिया मुँह के अक्स ने ।
गरदन पे आके बन गई, गोटे का हार जुल्फ ॥

पुनः उदाहरन जथा—

सखि, तू कहै प्रवाल भौ, मुक्ता हाथ-प्रसंग ।
लख्यौ दीठि-चहुँटाइ हों, सु तौ चिहुँटनी-रंग ॥

अथ “स्वगुँन” उदाहरन जथा—

भाँवतौ आँवतौ जाँन नबेली, चँमेली के कुँज जो पेंठत^१ जाइ केँ ।
 ‘दास’ प्रसुनँन ‘सौनजुही’ करै, कंचँन-सी तँन^२ जोति-मिलाइ केँ ॥
 चौँकि मँनोरथ-हूँ हँसि लेंन, चलै पग लाल-प्रभा मग^३ छाइ केँ ।
 बीर, करै करबीर-भरै^४, निखलै हरखै छवि आपनी* पाइ केँ ॥*

वि०—“दासजी ने यह छंद ‘स्वगुण’ अलंकार के शीर्षक से सुशोभित कर अपने ‘काव्य-निर्णय’ में दिया है। स्वगुण का अर्थ है—अपना गुण, किंतु आपने इसका कोई लक्षण नहीं दिया है कि स्वगुण क्या है। यही नहीं, आपने इस छंद को अपने ‘मृंगार निर्णय’ ग्रंथ में ‘परकीया वासकसज्जा’ के उदाहरण में भी दिया है।”

अथ अतद्गुँन अलंकार लच्छन जथा—

वहै^१ ‘अतद्गुँन’ जो नहीं, संगत कौ गुन लेत ।

पूर्वरूप गुँन नहिँ मिटै, भएँ मिटँन के हेत ॥

वि०—“जहाँ संगत—पास का गुण-ग्रहण न किया जाय, मिटने (नाश) का कारण होते हुए भी अपना गुण न त्यागा जाय, तब वहाँ “अतद्गुण” अलंकार कहा जायगा। अथवा—समीपवर्ती वस्तु के गुण का रूप-रस गंधादि का ग्रहण किया जाना संभव होते हुए भी ग्रहण न किये जाने को ‘अतद्गुण’ कहते हैं। अतद्गुण, तद्गुण-अलंकार का विरोधी है—उससे विपरीत है। वहाँ (तद्गुण में) समीप वस्तु का गुण ग्रहण किया जाता है, यहाँ (अतद्गुण में) नहीं। किसी-किसी संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में इस (अतद्गुण) के दो रूप (भेद) भी मिलते हैं। जैसे—“जब अवर्ण्य-वस्तु न्यून गुण वाली होकर भी समीपस्थ उत्कृष्ट गुण वाली वर्ण्य-वस्तु के गुण का ग्रहण न करे, तथा जब वर्ण्य वस्तु पास में अवर्ण्य वस्तु के रहते उसका गुण-ग्रहण न करे” इत्यादि... और इन दोनों के उदाहरण संस्कृतानुसार ब्रज-भाषा में इस प्रकार बनते हैं, प्रथम-उदाहरण यथा—

“पिय अनुरागी ना भयौ, बसि रागी मँन-माँहि ।”

—भा०-भू०

पा०—१. (का०) (शृ० नि०) (सं० पु० प्र०) बैठती...। (प्र०) बैठत...। (रा० प्र० का०) बैठती...। २. (वे०) तम। ४. (सं० पु० प्र०) (का०) (वे०) (प्र०) (शृ० नि०) महि...। ४. (शृ० नि०) भरौने बलै हरखै छवि...। ५. (सं० पु० प्र०) आपनों...। ६. (का०) (वे०) सु अतद्गुन के हैं नहीं,। (प्र०) सोई अतद्गुन है नहीं...। (सं० पु० प्र०) सुही...।

* शृ० नि० (भि० दा०) पृ० ५४, १६१।

और द्वितीय का —

“राजहंस नित रहत हैं, गंग-जमुँन की धार ।
घटै-बढै नहिं सेतता, रहै एक अनुसार ॥”

—अलंकार-रत्न

ये दोनों उदाहरण ‘साहित्य-दर्पण-संस्कृत’ के निम्न श्लोकों के अनुसार हैं, जैसे—

“हंस सांद्रेण रागेण भूतेऽपि हृदये मम ।
गुणगौर निषण्णोऽपि कथं नाम न रज्यसि ॥”

और—

गांगमंभु सितमंभु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः ।

राजहंस तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥”

यहाँ, ‘राजहंस’-रूप उस महापुरुष से तात्पर्य है जो—‘गंगा-सम शुभ्र-सज्जन-मंडली तथा यमुना-सदृश काले गुण-संयुक्त दुर्जन-मंडली के मध्य रहकर भी इन दोनों के भले-बुरे प्रभाव में न आकर अपने स्वरूप और निश्चय पर अटल रहता है (सा० द०—पं० शालिग्राम०) ।

इन दोनों उदाहरणों के प्रति अलंकाराचार्यों का कहना है—ऐसे उदाहरण तो विशेषोक्ति के अंतर्गत भी आ जाते हैं, क्योंकि विशेषोक्ति में—“कारण के रहते कार्य का न होना वर्णन किया जाता है । किंतु यहाँ दोनों उदाहरणों में केवल कारण रहते कार्य का अभाव-मात्र नहीं है, अपितु अन्य का गुण-ग्रहण संभव होते हुए भी ग्रहण न करना यह विशेष चमत्कार है, जो इस (अतद्गुण) की विशेषता है ।

तद् और अतद्गुणालंकारों का विषय उल्लास और अवशालंकारों से भी टकराता हुआ कहा जाता है, क्योंकि उल्लास-अवज्ञा में भी “एक के गुण-दोष से दूसरे का गुण-दोष संयुक्त होना (उल्लास) तथा एक के गुण-दोष दूसरे के लिए गुण-दोष का न होना (अवज्ञा) कहा जाता है । अस्तु, इन दोनों (उल्लास-अवज्ञा) से इन दोनों (तद्-अतद्) का प्रथक्त्व यह है कि वहाँ (उल्लास-अवज्ञा में) गुण-शब्द दोष का प्रतिपत्ती है — विरोधी है । वहाँ एक के गुण-दोष अन्य स्थान पर होने-न-होने में उसी के गुण-दोषों का मिलना-न-मिलना भर नहीं है, अपितु सदगुरु के उपदेश-द्वारा अच्छे-बुरे शिष्यों में जिस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति-अनुत्पत्ति होती है, उसी प्रकार उसके गुण-दोष से उत्पन्न होने वाले दूसरे प्रसिद्ध-गुण-दोषों का होना न होना और तद्-अतद् में ‘गुण’ शब्द दोष का प्रतिपत्ती न होकर खालिश रूप-

रस-गंध और रंग का वाचक है। यहाँ वह दूसरे के रंगों से रँगने वा न रँगने का द्योतक है। जैसे रंग से शुभ्र वस्तु का लाल होना-न होना लक्षित है तथा यही उल्लास-अवज्ञा से तद्-अतद् की प्रथकता है।

अथ अतद्गुण-उदाहरण जथा—

कौवा,^१ जपादिक^२-सों उबट्यौ, सज्यौ केसर के^३ अँग-राग अपारौ।
 न्हात^४ अनेक बिधान सरे रस सांत^५ में सांत^६ करै कित न्यारौ॥
 'दास जू' त्यों^७ अनुराग-भर्यौ हिय-बीच बसाइ करौ नहि^८ न्यारौ।
 लीन-सिँगार न होत तऊ, तँन आपनों रंग तजै नहि^९ कारौ॥

वि० —“अतद्गुण-अलंकार का उदाहरण कविवर 'विहारोलाल' का निम्न-लिखित दोहा भी सुंदर है, यथा —

“एरी, यै तेरी दर्ई, क्यों हूँ प्रकृति न जाइ।

नेह-भरे हिय-राखिए तउ रुखिए लखाइ॥”

इस दोहे में कोई-कोई विरोधाभास (स्नेह से भी चिकनी न होने के कारण) और विशेषोक्ति (स्नेह कारण से चिकनाहट कार्य न होने में) अलंकार-द्वय को भी मानते हैं, किंतु “नायक के स्नेह-पूरित पात्र (हृदय) में रहते हुए भी नायिका का स्नेह (चिकनाई-स्नेही) गुण ग्रहण न करने में अधिक बल है—जोर है।

“आँखों में रह रहे हो, दिल-से नहीं गये हो।

हैरान हूँ य शोखी, आई तुम्हें कहाँ से॥”

—मीर

पूर्व-रूप-जथा—

सारी सितासित, पीरी, रतीली-हु में बगराबै वहै छवि प्यारी।
 आभा-सँमूह में अंबर कों, पैहचाँनिबौ^१ 'दास' बड़ी किये^२ वारी^३॥
 चंद-मरीचि^४ न सों मिलि अंगन^५ अंगन फैलि रही^६ दुति न्यारी।
 भौन-अँधियारे-हु बीच गये^७, मुख-जोति ते^८ बैसिये होति उज्यारी॥

पा०—१. (का०) (वे०) कैवा जपादिन...। २. (स० पु० प्र०) जवादन सों।
 ३. (का०) (वे०) (स० पु० प्र०) कौ...। ४. (का०) (वे०) (प्र०) न्हात...।
 ५-६. (का०) (वे०) (स० पु० प्र०) सन...। (प्र०) रसा सांतलों सांत...। ७.
 (का०) (वे०) (स० पु० प्र०) हों...। ८. (का०) (वे०) (प्र०) (स० पु०
 प्र०) पहिचानिये...। ९. (का०) (वे०) द्यारी। (प्र०) बड़ी किन्हवारी। १०. (प्र०)
 (स० पु० प्र०) आँगन...। ११. (स० पु० प्र०) (का०) (वे०) (५०) रहै...।
 १२. (स० पु० प्र०) सों...।

पुनः उदाहरन जथा—

हरि, खरगी औ ब्याल, गज, आगें दौरत राज ।
राज-छुटें-हूँ तुव दुहूँन, बँनें राज कौ साज ॥

अस्य तिलक

इन दोनों उदाहरन में गुँन-मिटवे के कारन होत-हूँ अपनों गुँन न मेंटिनों “पूर्वरूप” है ।

वि०—“दासजी ने “पूर्वरूप” अलंकार का लक्षण नहीं लिखा, कारण स्पष्ट है । पूर्वरूप नाम में ही शब्दार्थ—लक्षण निहित है । फिर भी ‘पूर्वरूप’ का लक्षण भाषा-भूषण के रचयिता “महाराज जसवंतसिंह” जी कृत इस प्रकार है—

“‘पूर्वरूप’ लै संग-गुँन,—तजि फिर अपनों लेत ।

दूजे, जब गुँन नाँ मिटै, किएँ मिटँन कौ हेत ॥”

अर्थात् प्रथम पूर्वरूप वहाँ होता है “जहाँ कोई वस्तु पासवाली वस्तु के लिये हुए गुण को त्याग पुनः अपना गुण-ग्रहण करे” और दूसरा पूर्वरूप वहाँ, “जहाँ किसी गुण के मिटने का कारण होते हुए भी वह (गुण) न मिटे ।” दासजी—रचित दोनों उदाहरण दोनों पूर्वरूपों के हैं ।

चंद्रालोक में भी ‘पूर्वरूप’ के दो भेद—“पुनः स्वगुणसंप्राप्तिर्विज्ञेया पूर्व-रूपता” (अन्याश्रय-जनित निज गुण के नष्ट होने पर पुनः अपने रूप में आ जाना) और “यद्वस्तुनोऽन्यथा रूपं तथा स्यात्पूर्वरूपता” (जिस वस्तु का नाश करने के बाद उसके धर्म का स्थापन अन्य वस्तु के द्वारा दिखलाया जाय) किये गये हैं । ब्रजभाषा में भी श्री चिंतामणि के अलावा प्रायः सब ने पूर्वरूप के दोनों भेद माने हैं । पूर्वरूप के प्रति कन्हैयालाल पोद्दार का कहना है—“कुवलयानंद में “अरुण-कांति से अश्व सूर्य के भिन्न वर्ण हो जाते हैं०” और “लखत नीलमनि होति अजि कर बिद्रुम दिखरात, मुकता कौ मुकता बहुरि लख्यौ तोहि मुसक्यात ।” —(अलंकार-मंजरी पृ० ३४४-४५) आदि उदाहरणों में पूर्वरूप अलंकार माना है । काव्य-प्रकाश में इस प्रकार के उदाहरण तद्गुण के अंतर्गत-ही दिखाये गये हैं । वस्तुतः (पोद्दारजी के कथनानुसार) ऐसे उदाहरणों में कुछ विशेषता भी नहीं है, अतः तद्गुण-ही मानना युक्ति-युक्त है ।” पर यह कथन पोद्दारजी का असंगत है—समझ

पा०—१. (का०) (वे०) बन लिये राज कु साज—राज के साज । (प्र०) बन लिय राजक साज ।

के बाहर है। आपसे पहिले सभी संस्कृत और ब्रजभाषा के आचार्यों ने इसे पृथक् अलंकार माना है और उदाहरण भी दिये हैं, जो तद्गुण से तो पृथक् हैं-ही पूर्वरूप के अति अनुरूप हैं। अतएव—“जहाँ किसी से गए हुए गुण के पूर्ववत् पुनः प्राप्ति का कथन हो—वर्णन हो” वहाँ उक्त अलंकार निःसंकोच मानना चाहिये।” पूर्वरूप का अर्थ है—पहिले वाला रूप प्राप्त करना, जो तद्गुण में नहीं हो सकता, वहाँ नहीं समा सकता।”

अथ अँनुगुँन-अलंकार लच्छन जथा—

‘अँनुगुँन’ संगत ते जहाँ, पूरँन-गुँन-सरसाइ ।

“नील-सरोज कटाच्छ-लहि, अधिक नील है जाइ ॥”

वि०—“जहाँ किसी वस्तु की संगति से—सामीप्य से, किसी (अन्य) वस्तु का गुण अधिक बढ़ जाय, वहाँ ‘अनुगुण’ कहलाता है, जैसे—कामिनी के कटाक्ष से नील कमलों का अधिक नील—गहरे नीले रंग का हो जाना।

अनुगुण का अर्थ है—‘गुण का बढ़ना। अतएव, अन्य के सामीप्य से स्व-गुण (अपने स्वाभाविक गुण) का उत्कर्ष होना ‘अनुगुण’ कहलाता है। इसी से इस अलंकार में किसी वस्तु के स्वाभाविक गुण का अन्यदीय गुण के संग्रह से उत्कर्ष (बढ़ना) कहा जाता है। अनुगुण के ‘अनु’ उपसर्ग का अर्थ—‘समान’, वैसा-ही, उस जैसा-ही है, इसलिये जैसा गुण है वैसा-ही गुणवाले का सामीप्य होने से उस गुण का उत्कर्ष है, विरोधी गुण से नहीं, क्योंकि विपरीत गुणों का सामीप्य उत्कर्ष का कारण नहीं हो सकता।”

अँनुगुँन दुतीय उदाहरन जथा—

जदपि हुती फीकी निपट, सारी केसर - रंग ।

‘दास’ तासु^र दुति है गई, सुंदरि-रंग-प्रसंग ॥

वि०—“ब्रजभाषा के अलंकार-ग्रंथों में दासजी कृत क्रम—तद्गुण, अत-द्गुण, पूर्वरूप” और तब “अनुगुण”, अमा-य है। भाषा-भूषण-रचयिता से लेकर ग्वाल-आदि तक अलंकार-ग्रंथ सृजेताओं ने-प्रथम तद्गुण, बाद में पूर्वरूप, फिर अतद्गुण और तदनंतर अनुगुण माना है। यह क्रम समीचीन है—उप-युक्त है।”

अथ मिलित औ सामान्य अलंकार लच्छन जथा—

‘मीलित’ जनिऐ जँह मिलै, छीर-नीर^१ के न्याइ ।

है ‘सामान्य’ मिलै जँह, हीरा-फटिक सुहाइ^२ ॥

वि०—“दासजी ने इस एक दोहे-द्वारा “मीलित” (जहाँ दो वस्तुएँ छीर-नीर=दूध-पानी की भाँति मिल जाँय, एक रूप हो जाँय) और “सामान्य” (जहाँ सादृश्य के कारण दो विशेष पदार्थों में—हीरा-स्फटिक की भाँति भेद लक्षित न हो) रूप दो अलंकारों का वर्णन किया है ।

मीलित-अलंकार (जहाँ समान धर्म-गुण वाली विभिन्न वस्तुएँ एक दूसरे में मिलकर ऐसी विलीन हो जाँय कि उनमें भिन्नता ज्ञात न हो) का सर्व प्रथम रुद्रट् ने, भोज ने, मम्मट् ने और तत्पश्चात् रुय्यक् ने अपने-अपने ग्रंथों में उल्लेख किया है । इनसे पूर्व भट्टि, भामह, दंडो, उद्भट और वामन-आदि अलंकार-आचार्यों ने इसका वर्णन नहीं किया है । सामान्य का मम्मट और रुय्यक् ने-ही वर्णन किया है । इन रुद्रट्-भोजादि के बाद इन दोनों अलंकारों (मीलित-सामान्य) का प्रायः सभी ने वर्णन किया है । साहित्य दर्पण (संस्कृत) में ‘मीलित’ का लक्षण—“मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित्तुल्यलक्षणाः” (किसी तुल्य-लक्षण वाली वस्तु में वस्तु का छिप जाना) और ‘सामान्य’ का—“सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादृशं सदृशगुणैः” (सदृश गुणों के कारण प्रकृत वस्तु का अन्य वस्तु के साथ भेद प्रतीत न होना—तदात्मरूप हो जाना) लक्षण दिया है और साथ ही लिखा है—मीलित में तुल्य-लक्षणवाली वस्तु कहीं स्वाभाविक होती है और कहीं बाहर से आई हुई । इसी प्रकार ‘सामान्य’ के प्रति आपका कथन है—“मीलित में उत्कृष्ट और निकृष्ट गुणवाली दोनों वस्तुएँ छिप जाती हैं और ‘सामान्य’ में दोनों-दो वस्तुओं का समान गुण (धर्म) होने कारण भेद प्रतीत नहीं होता । मीलित में गोपन होता है, सामान्य में तादात्म्य इत्यादि...।

सामान्य का चंद्रालोककार ने सुंदर लक्षण लिखा है । आप कहते हैं—“सामान्यं यदि सादृश्याद्भेद एव न लक्ष्यते”, अर्थात् सामान्य उसे कहते हैं जहाँ समानता-जनित भेद-ही न रहे—भिन्नता-ही लक्षित नहो, रूप्य-रूपक नीर-छीर से एक हो जाँय ।

संस्कृत-ग्रंथों में मीलित और सामान्य के वर्गीकरण में भी विभिन्न मत हैं । कोई ‘मीलित’ को ‘वास्तव’ में, कोई ‘संसर्ग-मूलक’ में और कोई ‘न्याय-मूलक’

के भेद “लोक-न्याय-मूल वर्ग में मानते हैं। सामान्य को प्रायः सभी ने ‘न्याय-मूलक वर्ग’ के अंतर्गत ही माना है। किंतु ऐसे (तद्गुण, अतद्गुण, पूर्वरूप, अनुगुण, सामान्य, मीलित-उन्मीलितादि जैसे) अलंकार विभिन्न-न्यायों—“वाक्य-न्यायमूल, तर्क-न्यायमूल, लोक-न्यायमूल और गूढार्थ-प्रतीत-मूलादि” पर ही अवलंबित हैं।

मीलित का अर्थ है—“मिल जाना” और सामान्य का शब्दार्थ है—समान का भाव। अतएव जैसा पूर्व में दासजी द्वारा कथन है मीलित अलंकार में एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ नीर-क्षीर-न्यायानुसार आपस में मिलकर छिप जाती हैं। यह छिपना—स्वाभाविक तथा आगंतुक धर्मों के द्वारा होता है। इसलिये ‘मीलित’ की परिभाषा—किसी वस्तु के स्वाभाविक वा आगंतुक (किसी कारण-वश आये हुए) साधारण (एक समान) चिन्ह के द्वारा दूसरी वस्तु के तिरोधान (दिखायी न देना, छिपाया जाना) होने के वर्णन रूप में कही गयी है तथा भेद भी दो—स्वाभाविक-आगंतुक धर्मों-द्वारा तिरोधान होने पर माने हैं।

सामान्य में प्रकृत-अप्रकृत का साम्य कहा जाता है। अप्रस्तुत के समान गुण न होने पर भी समान गुण कहने के लिये अत्यक्त-गुण (अपना गुण न छोड़ने) वाले प्रस्तुत की अप्रस्तुत के साथ एकात्मता कही जाती है। कुवलयानंद में सादृश्य से कुछ भेद प्रतीति न होने पर भी यह (सामान्य) अलंकार माना है और ‘काव्यादर्श’ (दंडी) में मीलित को अतिशयोक्ति का एक भेद विशेष।

सामान्य के लक्षण विशेष में—“अत्यक्त-निज गुण” का उल्लेख किया गया है जिससे उस (सामान्य) की ‘तद्गुण’ से पृथक्ता दिखलायी गयी है। तद्गुण में अपना गुण त्याग दूसरे के गुण का ग्रहण होता है, सामान्य में नहीं। इसी प्रकार मीलित में बलवान् गुणवाली वस्तु में दूसरी निर्वल वस्तु के स्वरूप का तिरोधान हो जाता है, वे भिन्न ज्ञात नहीं होती और सामान्य में दोनों वस्तुओं का स्वरूप प्रतीत होते हुए भी गुण की समानता से दोनों में अभेद की प्रतीति होती है।

तद्गुण और भ्रांति से मीलित की प्रथक्ता दिखलाते हुए संस्कृत-अलंकाराचार्यों का कहना है—“तद्गुण में साधारण (तुल्य) चिन्ह वाली वस्तु का तिरोधान नहीं होता, अपितु उक्त-गुण वाली वस्तु का गुण-ग्रहण किया जाता है। मीलित में समान-गुण एक-दूसरे में तिरोधान हो जाते हैं, छिप जाते हैं—मिल जाते हैं। भ्रांति में एक के स्थान पर दूसरे का भ्रम होता है, दोनों उपस्थित नहीं रहते, मीलित में दोनों रहते हुए भी एक दूसरे में छिप जाते हैं।

अथ मीलित-उदाहरन जथा—

हुती, बाग में लेति प्रसूँन अली, मँन-मोहँन-हूँ तहँ आइ परथौ ।
मँन-भायौ घरीक भयौ पुनि गोह, चबाइँन में मँन जाइ परथौ ॥
द्रुति-दौरि गई घर' 'दास' तहाँ, न बँनाबत' नैक उपाइ परथौ ।
धँक, सेद, उसासँ, खरोंटँन' कौ, कछु भेद न काहू लखाइ परथौ ॥

वि०—“दासजी का यह उदाहरण मीलित के प्रथम भेद “स्वाभाविक-धर्म-द्वारा तिरोधान” का है, क्योंकि धक, स्वेद, उसास और नखचूत आदि साधारण चिन्ह नायिका की कोमलता (परिश्रम आदि के कारण) तथा वर्ण (रंग) में छिप जाना है—तिरोधान हो जाना है ।

मीलित का उदाहरण ‘गणिका रूप-गर्विता नायिका के वर्णन में ‘गुलाब कवि’ द्वारा रचित भी सुंदर है, यथा—

“देखि-देखि सजनी सयाँनी सबै कंचन के,
रंग - सँम अंगन में भूपँन बनाबै नाँ ।
नाँहन-हूँ लाइ-लाइ मलि-मलि भूलि जाइ,
जाबक लगायौ, नाँ-लगायौ पार-पाबै नाँ ॥
सुकबि ‘गुलाब’ त्यों प्रदोष के बताए-बिँन,
बैठों जिहि भोंन जँनी दीपक जगावै नाँ ।
कुंदन - कँमाल की मालँन में हीर-जाल,
लालै न लगाए बिँन लाल पैहराबै नाँ ॥”

मीलित अलंकार के उदाहरण नायिका-भेद के शुक्ल-कृष्णभिसारिका के वर्णन में प्रायः मिलते हैं । मीलित का उदाहरण बिहारीलाल का यह दोहा भी सुंदर है, जैसे—

“तरबँन-कँनक-कपोल-दुति, बीचै-बीच बिकाँन ।
लाल-लाल चँमकत चुनीं, चौका चिन्ह-समाँन ॥”

विहारी के इस दोहा में विविध टीकाकार अर्थ-भेद से—मीलित, पूर्णोपमा, लोकोक्ति, वृत्त्यानुप्रास, एकवाचकानुप्रवेश संकर, मीलित और पूर्णोपमारूप संकर और व्याजोक्ति आदि कितने-ही अलंकारों का अनुमान करते हैं ।”

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) गृह । २. (का०) (सं० पु० प्र०) बनाइवे...। (प्र०) बनाइये...। (वें०) तब नाइवे नैकु...। ३. (का०) धरोटन कों...।

पुनः मीलित उदाहरन जथा—

केसरिया-पट, कँनक-तँन, कँनकाभरँन-सिँ गार ।

गत केसर केदार में, जाँनी जाति न' दार ॥

वि०—“दासजी कथित यह उदाहरण मीलित के “आगंतुक-धर्म-द्वारा तिरो-धान” रूप द्वितीय भेद का है। नायिका का, केसरिया वस्त्र, सुवर्ण के आभूषण पहिने केसर के खेत में अनुगमन ज्ञात न होना आगंतुक-धर्मों-द्वारा तिरोधान है।

किसी-किसी ब्रजभाषा के अलंकार-आचार्य ने ‘मीलित’ की ‘माला’ भी मानी है, यथा—

“अधर पाँन, मेंहदी करँन, चरँन महावर-रंग ।

लखि न परत सखि सुसुखि के, अहो अलौकि अंग ॥”

यहाँ नायिका के अधर-लालिमा में पान, हाथों की ललाई में मेंहदी और चरणों की अरुणता में जावक के रंगों का विलीन हो जाना, छिप जाना—भिन्नता का ज्ञान न होना रूप तीन वर्णों के कारण “माला” मानी है।”

अथ साँमान्य-उदाहरन जथा—

आरसी कौ आँगन सुहायौ, मँन - भायौ-^२

नैहरँन^३ में भरायौ जल-उज्जल सुँमन माल ।

चौदनी बिचित्र लखि चौदनी-बिछौनँन^४ पै,

दूरि कै सहेलिँन^५ कों बिलसै इकेली-बाल ॥

‘दास’ आस^६-पास बहु-भाँतन बिराजँ धरे,

पन्ना, पुखराज, मौँती, मौँनिक-पदक लाल ।

चंद-प्रतिबिंब ते न न्यारौ होत मुख औ न-

तारे प्रतिबिंब^७ ते न्यारौ होत नग^८-जाल ॥●

वि०—“सामान्य का उदाहरण ‘रघुनाथ’ कविवर से भी अच्छा बन पड़ा है, जैसे—

पा०—१. (वे०) मदर । २. (का०) (वे०) (सं० पु० प्र०) (शृ० नि०) छवि-छायौ...। ३. (प्र०) नहरन में...। ४. (का०) बिछौनों पर । (वे०) (शृ० नि०) बिछौना पर...। (प्र०) बिछौने पर...। ५. (सं० पु० प्र०) (शृ० नि०) चँदुवँन...। ६. (प्र०) आप...। ७. (प्र०) बिंबन...। ८. (शृ० नि०) नख...।

* शृ० नि० (दास) पृ० १० ३२ ।—नायिका-दीप्ति-वर्णन ।

“पायौ भेद सखिन सों सोबति अकेली बाल,
 प्रथम - सँमार्गम के भरी भै - भारी में ।
 ‘रघुनाथ’ चख्यौ तहाँ, जागी पाइ आहट कों,
 ठाढ़ी भई भागि-लागि भीतर अटारी में ॥”
 कहा कइँ कौतुक, कछौ न मोपै जात, कछू,
 अब-लों न देख्यौ ऐसौ रूप और नारी में ।
 चित्रन-सों मिलि भई चित्र, हाथ में न आई,
 हारौ हेरि प्यारी, रही प्यारी चित्रसारी में ॥
 और पद्माकर जी कहते हैं—

“छाँस-गँन गौरँन के गौर के उछाहँन में,
 छाई उदैपुर में बधाई ठौर - ठौर है ।
 देख्यौ भीम राँना या तमासे-तकिबे के लिएँ,
 माँची आसमाँन में बिमाँनन की झौर है ॥
 “कहै पद्माकर” ,त्योँ धोखे मा-उमाँ के,
 गज-गोँनिन की गोद में गजानँन की दौर है ।
 पार-पार हेला, महामेला में महेस पृँछे,
 गौरँन में कौन-सी हँमारी गँनगौर है ॥”

अथ “उँनमीलित” औ बिसेस अलंकार लच्छन जथा—

जहँ मीलित - साँमान्य में, कछू^१ भेद ठैहराइ ।
 तहँ ‘उँनमीलित’-‘बिसेसक’-हि, बरनँत सुकबि^२ सुहाइ ॥

वि०—“जब मीलित और सामान्यालंकार में कुछ भेद ठहराया जाय, तब वहाँ सुकवि “उन्मीलित” और ‘विशेषक’ अलंकारों का सुंदर रीति से वर्णन करते हैं । अर्थात् जब दो पदार्थों का गुण एक-सा होते हुए भी किसी कारण-वश उनमें भेद जान लिया जाय तब वहाँ “उन्मीलित” और “जहाँ सादृश्य के कारण उत्पन्न भ्रम किसी प्रकार अपने-आप लक्षित हो जाय” तो वहाँ “विशेष-कालंकार कहा जाता है ।

उन्मीलित, मीलित-अलंकार का विरोधी कहा जाता है, क्योंकि इसमें एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ मिलकर भी किसी कारण-वश पृथक् प्रतीति होने लगती है और “विशेषक” (जहाँ प्रस्तुत-अप्रस्तुत में गुण-सादृश्य होने पर भी किसी

कारण से विशेषता की स्फुरण हो) में कुछ उन्मीलित जैसा-ही वर्णन होने पर भी 'सामान्य' की भाँति वस्तुओं की स्थिति भिन्न रहकर भी किसी कारण से पृथक् जानी जाती है ।

कुवलयानन्द में भी 'उन्मीलित' और इसी से मिलते-जुलते 'विशेषक' को 'मीलित' तथा 'सामान्य' का विरोधो (प्रतिद्वंदी) अलंकार मान कर पृथक् अलंकार के रूप में लिखा है, पर काव्य-प्रकाश में इन दोनों को 'सामान्य' के अंतर्गत-ही लिखा है । उद्योतकार ने यहाँ स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—“कारण विशेष-द्वारा भेद प्रतीत होने पर भी जिस अभेद की प्रथम प्रतीति हो चुकी है, वह अभेद दूर नहीं हो सकता, इसलिये ऐसे स्थितों पर 'सामान्य' ही मानना चाहिये 'विशेषक' नहीं ।

विशेषक अलंकार को, विशेष अलंकार-आचार्यों ने पृथक् अलंकार के रूप में नहीं माना है, इसलिए इसका वर्गीकरण भी नहीं हुआ है । ब्रजभाषा में भी विशेष आचार्यों ने इसे पृथक् अलंकार के रूप में नहीं माना । जिन आचार्यों ने माना है, उन्होंने इसके सुंदर-से-सुंदर उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं ।”

प्रथम उन्मीलित उदाहरण जथा—

सिख-नख फूलन के भूषण बिभूषित कर^१,
 बाँधि लीनों बलया, बिगत कीनीं बजनीं ।
 ता पर सँवारयौ^२ सेत अंबर कौ डंबर,
 सिधारी स्याम-संनिधि निहारी काहू^३ न जनीं ॥
 छीर के तरंग की प्रभा कौ गहि लीनीं तिय,
 कीनी छीर-सिंध-छिति कातिक की रजनी ।
 आँनद-छटा^४ सों तँन-छाँह-हूँ छिपाएँ जाँनि^५,
 भौरन की भीर संग लएँ^६ जात सजनीं ॥*

(वि०—“उन्मीलित अलंकार से अलंकृत कृतियाँ प्रायः सभी अलंकाराचार्यों ने सृजी हैं, प्रथम गो० तुलसीदास जी की सूक्ति जैसे—

चंपक-हरबा अँग-मिलि, अधिक सुहाइ ।
 जाँनि परै सिय-हियरें, जब कुँ मिलाइ ॥

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) (शृ० नि०) कै... २. (का०) (प्र०) सँवारे... (वे०) सँवार... ३. (शृ० नि०) कहूँ... ४. (प्र०) (शृ० नि०) प्रभा... ५. (वे०) (प्र०) (शृ० नि०) जाति... ६. (वे०) ल्याएँ...।

* शृ० नि० (दास) पृ० ५३, १६७ । शुक्लाभिसारिका नायिका-वर्णन ।

विहारीलाल कहते हैं—

“जुबति जोंन्ह में मिलि गई, नेंकु न परति लखाइ
सांधे के डोरें-लगी, अली चली सँग जाइ ॥”

मतिराम कहते हैं—

“सरद-चाँदनी में प्रघट, होत न तिय के अंग ।
सुनत मँजु मंजीरि-धुनि, सखी न छाँड़ति सँग ॥”

पुनः उँ नमीलित—उदारन जथा—

जमुनौ-जल में मिलि चली, उँन अँसुवन की धार ।
शमीर दूरि ते ल्याइयतु, जहाँ^१ न पैयत खार ॥

अथ बिसेसक उदाहरन जथा—

मँन-मोहँन मँन-मथँन कों^२, दूँ कहितो को जाँन ।
जौ इँन-हूँ कर कुसुँम के^३, होते बाँन-कमाँन ॥

पुनः उदाहरन जथा—

भई प्रफुल्लित कँमल में^४, मुख-छवि मिलत बनाइ ।
कँमलाकर में काँमिनी, बिहरति होति लखाइ ॥

वि०—“विशेषक का उदाहरण ‘रघुनाथ’ कवि का भी सुंदर है, आप कहते हैं—

“खेलत खेल मिहींचिनी कौ, चितसारी में जाइ छिपी छवि छाई ।
चित्र-लिखी पुतरीन सों न्यारी कै, हे ‘रघुनाथ’ गई न बताई ॥
हरेत-हारो सखी सिगरी, अपनी-अपनी करिकें चतुराई ।
घौस में आई न हाथ कहा कहों, राति भई तब राधिका पाई ॥”

ध्यान रहे, उन्मीलित और विशेषक में अधिक भेद नहीं, बहुत-ही सूक्ष्म भेद है । उन्मीलित में हेतु की और विशेषक में समय की अपेक्षा है, जो इनकी पृथक्ता का हेतु है ।”

श्री मतिराम का भी विशेषरूप सुंदर उदाहरण है, यथा—

“आई फूलैँन-लेंन कों, चलौ बाग में लाल ।

मृदु-बोलैँन सों जानिएँ, मृदु-बेलिँन में बाल ॥

एक बात और, वह यह कि श्री दासजी ने जै सा पूर्व में कह आये हैं—
‘इस उल्लास में’ रीति-काल (संस्कृत-व्रजभाषा) के पूर्वापर आचार्यों से विपरीत ‘उल्लासादि’ अलंकारों का निरूपण किया है—उनके तद्गत लक्षणों को

पा०—१ (का०) (वें०) (प्र०) जहँ न पाइयत...। २. (का०) (वें०) की...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) कौ, हो तो बान...। ४. (का०) मोँ...।

गहरी दृष्टि से निरखते-परखते हुए उन्हें एक ही पंक्ति में प्रस्तुत किया है। किंतु उनके आधार-भूत कहे जाने वाले मम्मट-कृत काव्य-प्रकाश (संस्कृत) ग्रंथ में उक्त 'उल्लासादि' अलंकार के साथ अस्तव्यस्त (इधर-उधर) रूप में सज्जित किया है—अन्यान्य-अलंकारों के आगे-पीछे, "मीलित, सामान्य, विशेष, विशेष के भेद, तद्गुण" और "अतद्गुण" का उल्लेख किया है। काव्य-प्रकाश-मान्य 'मीलित' रुद्रट के 'पिहित' का सुंदर रूपांतर है। रुद्रट-कृत पिहित का लक्षण इस प्रकार है—

“यत्रातिप्रबलतया गुणः समानाधिकरणमसमानम् ।

अर्थात्तरपिदध्यादाविभूतमपि तत् 'पिहितम्' ॥

जिसे मम्मट ने मीलित में मंडित करते हुए —

“समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्य ते ।

निजेनागंतुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥”

रूप में अपनाया है। अस्तु, यहाँ आप-द्वारा कथित—‘समेनलक्ष्मणा’ और ‘निजेनागंतुना’—दि शब्दों का अभिप्राय है—“साधारण लक्षण वा चिन्ह-द्वारा, और इस चिन्ह के सहज-स्वाभाविक रूप वा नैमित्तिक आगंतुक होने का। अतः जहाँ किसी के द्वारा किसी वस्तु से उसके सम्भावतः प्रबल होने के कारण किसी दूसरी के तिरोहित होने का वर्णन किये जाने पर जो वहाँ अलंकार कहा जायगा उसका नाम—मीलित है, और यह दो प्रकार का है—१, स्वाभाविक और २, नैमित्तिक चिन्ह निगूहन (तिरोधान) रूप में। रय्यक की भी यही संमति है, यथा—

“वस्तुना वस्वंतरनिगूहनं मीलितम् ।”

इस प्रकार मम्मट-मान्य—सामान्य, विशेष, तद्गुण और अतद्गुण के लक्षण इनकी परिभाषा, रुद्रट-रय्यक-जन्य का विकास ही कहा जा सकता है। केवल तद्गुण के प्रति इतना अधिक कहा जा सकता है कि “मम्मट-मान्य तद्गुण लक्षण रुद्रट-लक्षण से प्रतिभाषित तो अवश्य है, किंतु लक्षण पर नहीं, विश्लेषण-विशिष्ट पर आधारित है—इसे ही उन्होंने स्वीकार किया है, जो इस प्रकार है—

“असमान गुणं यस्मिन्नतिबहुलगुणेन वस्तुना वस्तु ।

संस्पृष्टं तद्गुणतां धत्तेऽन्यस्तद् गुणः स इति ।”

और अतद्गुण—तद्गुण का विपर्यय है ही, अस्तु मम्मटाचार्य ने उसे लक्षण-उदाहरण-सहित अपना लिया है—तद्वद् उद्धृत किया है।

“इति श्री सकल कलाधरकलाधरबंसावतंस श्री मन्महाराज-कुमार

श्री बाबु हिंदूपति बिरचिते काव्य-निरनए उत्तमासालंकार-

गुंन-दोषादि वरनननाम चतुरदसोक्तासः ।”

अथ पंद्रहवाँ उल्लासः

अथ सैमादि अलंकार वरनन जथा—

उचित-अनुचिती^१ बात में, चमतकार लखि 'दास' ।

औ कछु^२ मुक्तक-रीति-लखि, कहत यहै^३ उल्लास ॥

'सँम', 'सँमाधि', 'परिवृत्त' गँनि, 'भाविक', 'हरख', 'विषाद' ।

'असंभवौ'^४ 'संभावनाँ', 'सँमुच्चयौ' अविबाद' ॥

'अन्योअन्य',^५ 'विकल्प' पुँनि, 'सह', 'विनोक्ति', 'प्रतिषेध' ।

'विधि', 'काव्यार्थापत्ति' - जुत, सोरह कहत सुमेध ॥

वि०—“दासजी ने इस (पंद्रहवें) उल्लास में—“सम, समाधि, परिवृत्ति, भाविक, हर्ष (प्रहर्षण), विषाद, असंभव, संभावना, समुच्चय, अन्योन्य, विकल्प, सहोक्ति, विनोक्ति, प्रतिषेध, विधि” और “काव्यार्थापत्ति” नामक सोलह (१६) अलंकारों का वर्णन उनके भेद-सहित किया है। साथ-ही उक्त उल्लास-रूप में इनका वर्गीकरण करते हुए कहा है—इन अलंकारों की उचितानुचित बातों—कहन-गति का ध्यान रखते हुए मुक्तक-रीति के अनुसार इन्हें यहाँ अलंकृत किया है।

संस्कृत में इन अलंकारों को—‘भेद-प्रधान’ (सहोक्ति-विनोक्ति), ‘विरोध-मूलक’ (अन्योन्य, असंभव, सम), ‘वाक्य-न्याय-मूलक’ (परिवृत्ति, काव्यार्थापत्ति, विकल्प, समाधि, समुच्चय), ‘वर्ण-वैचित्र्य-प्रधान’ (प्रहर्षण, भाविक, विषादन) वर्गों में विभक्त किया है। विधि-प्रतिषेध को कोई ‘गूढार्थ-प्रतीति’ वर्ग के अंतर्गत मानता है, कोई नहीं। संभावना का किसी ने वर्गीकरण नहीं किया है। इन सबों के प्रति अन्य वर्गीकरण भी मिलते हैं, जैसे—‘सादृश्य-गम्यमान’ (सहोक्ति-विनोक्ति), ‘विरोधमूल’ (असंभव), ‘न्यायमूल’ (काव्यार्थापत्ति, परिवृत्ति, विकल्प, समाधि, समुच्चय), ‘गूढार्थ-प्रतीति मूल’ (प्रतिषेध, विधि) और ‘प्रकीर्णक’ (अन्योन्य, प्रहर्षण, भाविक, विषादन, सम)। संभावना अलंकार की इस वर्गीकरण में भी गति नहीं, वह यहाँ भी जाति-बहिष्कृत है।

पा०—१. (प्र०) अनुचितौ...। २. (का०) इक...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) एक...। ४. (वे०) असंभवी...। ५. (प्र०) अन्योन्यरु...।

संभावनालंकार की चंद्रालोक से उत्पत्ति है, सर्व प्रथम वहीं उसका नामोल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त रुद्रट् और रुय्यक् कृत वर्गीकरण भी मिलता है। अस्तु, रुद्रट् ने—‘परिवृत्ति’ और ‘अन्योन्य’ को वास्तव-वर्ग में, सहोक्ति को औपम्य वर्ग में रखा है। रुय्यक् ने भी सहोक्ति-विनोक्ति को ‘गम्यमान औपम्य’ वर्ग में, अन्योन्य-सम को ‘विरोधमूल’ वर्ग में, विकल्प-समाधि और समुच्चय को ‘काव्य-न्याय’ अर्थात् बाह्य-न्याय मूलक वर्ग में स्थान दिया है।

संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में, सर्व-प्रथम भट्टि-उद्भटादि कथित छन्दोस (२६) अलंकारों में ‘परिवृत्ति’ और ‘सहोक्ति’ का उल्लेख मिलता है, तत्पश्चात् भाविक का। भाविक को भट्टि-उद्भटादि के बाद भोज, मम्मट और रुय्यक ने भी माना है, वामन ने नहीं। इसी प्रकार अन्योन्य को रुद्रट्, मम्मट, रुय्यक ने, समुच्चय को रुद्रट्, भोज, मम्मट, रुय्यक ने, समाधि को भोज, मम्मट, रुय्यक ने, विनोक्ति को मम्मट-रुय्यक ने, काव्यार्थोपपत्ति और विकल्प को रुय्यक ने सर्व प्रथम स्वीकार किया है। असंभव, प्रहर्षण, विषादन और संभावना को पीयूषवर्षा जयदेव ने, तथा प्रतिषेध और विधि को अप्य दीनित ने स्वीकार किया है। प्रतिषेध का ‘यशस्क’ के ‘अलंकारोदाहरण’ में भी उल्लेख मिलता है।

अथ प्रथम ‘सँम’ अलंकार लच्छन जथा—

जाकों जैसौ चाहिये, ताकों तैसौ-ई संग।

कारँन^१ में^२ सब^३ पाइये, कारँन-ही कौ^४ अंग^५ ॥

*

उद्यम^६-करि जो है मिल्यौ, वहै उचित धरि चित।

है विषमालंकार कौ, प्रतिद्वंदी ‘सँम’ मित ॥

वि०—“दासजी ने इन दोनों दोहों में ‘सम’ अलंकार को पूर्व-आचार्यों की भाँति तीन विभागों में विभक्त किया है। आपने प्रथम-‘सम’ वहाँ माना है,—“जहाँ एक-दूसरे का यथायोग्य-संबंध दिखलाया जाय—एक का दूसरे के साथ अनुरूप कारणों से योग्य-संबंध का वर्णन किया जाय। आपके कथनानुसार दूसरा ‘सम’ वहाँ है, जहाँ—कार्य में कारण के सब अंग मिल जाँय, कारण से ठीक-ठीक मिलता कार्य हो” और तीसरा ‘सम’ आपको मान्यतानुसार वहाँ होता है—“जहाँ उद्यम (परिश्रम) करते-ही उचित (तत्-अनुकूल) फल मिल जाय, कार्य

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) कारज...। २. (का०) मोँ...। ३. (वें०) सन्तु...। ४. (का०) के...। ५. (का०) (वें०) रंग। ६. (का०) (प्र०) उद्यम...

सिद्ध हो जाय । संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में 'सम' को—“यथायोग्य संबंध वर्णन किये जाने पर”, “कारण के अनुरूप कार्य का वर्णन किये जाने पर” और “बिना अनिष्ट के कार्य की सिद्धी के वर्णन को क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय “सम”—अलंकार का लक्षण कहा है । यही नहीं, वहाँ प्रथम ‘सम’ के सदासद्योग संबंध के कारण दो भेद अधिक किये गये हैं, क्योंकि यथायोग्य संबंध कहीं उत्तम और कहीं निम्न पदार्थों का भी होता है । अतएव सद्योग में—“उत्तमों का श्लाघनीय यथायोग्य-संबंध” और असद्योग में—“असद् वस्तुओं का निन्दनीय यथायोग्य संबंध का वर्णन किया जाता है । साथ-ही श्लेष से अनिष्ट होते हुए भी प्रकट रूप में इष्ट-प्राप्ति ज्ञात हो तो वहाँ भी ‘सम’ का विषय माना जायगा ।

सम का अर्थ है—यथायोग्य, बराबर । इसी से यह अलंकार ‘विषम’ का विरोधी है—उससे विपरीत है । अतएव साधारण रूप कारण के अनुरूप कार्य का होना, उद्यम करने पर उसका फल मिलना और यथा योग्य का संबंध होना ही ‘सम’ नहीं है, अपितु कवि, जब अपने कौशल से कुछ उक्ति-वैचित्र्य लाकर अनुरूप कारण देते हुए वे कारण चाहे वास्तविक न हों—योग्य कार्य, फल-प्राप्ति तथा उचित संबंध का वर्णन करता है तभी यह अलंकार बनता है और इन वर्णनों में श्लेष की सहायता भी माननीय है ।

काव्य-प्रकाशकार श्री मम्मट ‘समालंकार’ के प्रथम जनक (उत्पत्ति करने वाले) कहे जा सकते हैं, क्योंकि आपसे पूर्व आचार्यों के ग्रंथों में इसका उल्लेख नहीं मिलता । काव्य-प्रकाश में इसका लक्षण —“सम योग्यतया योगो यदि संभावितः क्वचित्” (यदि कहीं पर दो वस्तुओं का संयोग यथोचित जानकर स्वीकार कर लिया जाय तो ‘सम’) कहा गया है । साथ-ही वहाँ—“इन दोनों के बीच में यह प्रशंसनीय है, यदि ऐसे औचित्य के संबंध की निश्चयरूप से कहीं पर प्रतीति हो तो वहाँ पर भी ‘सम’ अलंकार होगा । यह अलंकार दो सत्-असत्पदार्थों के द्वारा भी प्रकट किया जा सकता है”, इत्यादि . (का० पु० दशम उल्लास, साहित्य-संमेलन प्रयाग वाला) ।” यहाँ सदासत्पदार्थों के योग वाले उदाहरण भी दिये हैं । निष्कर्ष यह कि श्री मम्मट ने सम का एक-ही भेद का उल्लेख करते हुए कहा है—“सममौचित्यतोऽनेकवस्तु संबंध वर्णनम्” (जहाँ उचित रूप से अनेक वस्तुओं का संबंध वर्णन किया जाय) और साहित्य-दर्पण में—“समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः” (योग्य वस्तुओं की अनुरूपता के कारण प्रशंसा) को सम का लक्षण मान एक-ही भेद का उल्लेख किया है ।”

अथ प्रथम सँम—‘जथाजोग’ कौ उदाहरन जथा—

अँग-अँग बिराजत है उँनके, इँन-हों के कँनीन^१ कौ रंग-सँन्यों ।
 उन्हेँ भोर की भाँति बसाइवे कारँन, ‘दास’ इन्हेँ कल-कंज भँन्यों ॥
 लखि-री, उँनके^२ बस करिबे^३ कों, इँनकौ उँनमें^४ गुँन-जाल तँन्यों ।
 घनस्याँम कौ स्याँम-सरूप अली, इँन आँखिन के^५ अँनुरूप बँन्यों ॥

वि०—“प्रथम ‘सम’ का उदाहरण ‘भारती-भूषण’ में केड़िया-द्वारा दिया गया भी, सुंदर है, जैसे—

“छैल छलिया है तौ छबीली - कर फूल - छरी,
 जो है जमुनाँ-जल तौ भंग-भ्रँमरी-सी है ।
 स्याँमघँन हैं तौ स्याँमाँ-देह-दुति-दाँमिनी हैं,
 बिरही बिहारी, जिय - जोबनि जरी-सी है ॥
 मोहँन मलिद है तों कुंद - कलिका-सी यह,
 चंद ब्रजचंद है तौ कृत्तिका - लरी - सी है ।
 जौ हैं बँनमाली तौ बिराजै गल-माल, लाल-
 तरु है तँमाल तौ पै लतिका हरी-सी है ॥”

रहीम और विहारी की भी कोई-कोई रचना प्रथम—“सम” की हृदयहारी कृतियाँ हैं, प्रथम ‘रहीम’ की जैसे—

“नैन सँलोंने, अधर मधु, कहु ‘रहीम’ घटि कौन ।
 मोँठौ भावै लॉन पै, मोँठे - ऊपर लॉन ॥”

*

“नित-प्रति एकत-ही रहत, बैस-वरँन-मँन एक ।
 चँहियतु जुगल-किसोर-लखि, लोचँन जुगल अँनेक ॥”

—विहारी

विहारो के इस दोहे में कोई—“नेत्रयुगल-रूप कारण से युगल-मूर्ति-दर्शन-रूप कार्य के न होने पर ‘विशेषोक्ति’ भी मानते हैं । परमानंदजी अपनी संस्कृत-व्याख्या-द्वारा इस दोहे में—“यदि आँखों के अनेक जोड़े हों तब-ही यह जोड़ी निरखी जा सके” इस प्रकार जोड़ी के देख सकने के लिये आँखों की अनेक जोड़ियों की संभावना से संभावनालंकार माना है (दे० संजीवन-भाष्य—पं०-

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) कनीनका-रंग...। २. (का०) (वें०) (प्र०)
 उनकौ .। ३. (का०) (वें०) कीबे-ही कौ...। (प्र०) (सं० पु० प्र०) कीबे-हि...।
 ४. (का०) (प्र०) इनमें...। ५. (का०) (वें०) हीं...।

पद्म सिंह पृ० ३७) । विहारी जी का निम्न-लिखित दोहा भी 'सम' का सुंदर उदाहरण है—

“चिर-जीअौ जोरी-जुरै, क्यों न सँनेह गँभीर ।

को घटि, ए वृषभाँनुजा, वे हलधर के बीर ॥

इस पर भी टिप्पणी स्व० श्री पद्मसिंह शर्मा की दर्शनीय है, जो उन्होंने “सतसईसौष्ठव” के पृ० ६७-८ पर दी है ।”

अथ प्रथम सँम कौ पुनः उदाहरन जथा—

हरि-किरीट केकी-पखँन, निज लाइक फल^१ पाइ ।

मिल्यौ चंद^२ की चंद्रिकँन, अँनु अँनु हँ मँनु जाइ ॥

अस्य तिलक

इहाँ-हूँ जथा जोग कौ संग बरनँन हैवे ते 'प्रथम सँम' है ।

अथ दुतीय सँम—“कारज-जोग कारन कौ उदाहरन” जथा—

‘चंचलता सुर-बाज ते ‘दासजू’, सैलँन ते कठिनाई गही है ।

मोंहन रीति महा बिष की दई, मादकता मदिरा ते^३ लही है ॥

धीमर देखि डरें जर सों, बिहरें जल-जंतु की रीति यही है ।

न्याइ-ही नीच^४-हि-नीच फिरै, यै इंदिरा सागर-बीच रही है ॥*

वि०—“द्वितीय सम का उदाहरण भी “कविराजा मुरारीदान” रचित “भारती-भूषण” (केड़िया, पृ० २५५) में सुंदर दिया गया है, यथा—

“गोकुल-जनँम लियौ, जल-जमुनाँ कौ पियौ,

सुबल सुमित्र कियौ ऐसौ जस-जाप है ॥

भँनत ‘मुरारि’ जाकें जँननी जसोदा जैसी,

उधव निहारि, नंद तैसौ तिहि बाप है ॥

काँम-बाँम ते अँनूप तजि ब्रज चंद - मुखी,

रीके वे कूबरी - कुरूप - सों अँमाप है ।

पंचतीर - भय कौ न बीर नेह-नय कौ न,

बय कौ न, पूतना के पय कौ प्रताप है ॥

पा०—१. (का०) (वें०) प्र०) थल ... २ (का०) (वें०) चद्रकनि-चद्रकनि... ३. (का०) (वे०) (प्र०) (सु० स०) सों... ४. (प्र०) नीचन-संग फिरै...

* सु० स० (ला० भ० दी०) पृ० ६३, ६५ ।

अथ तृतीय सँम—“उद्यम करि पायो सोई उत्तम” को उदाहरन जथा—
जो काँनन ते उपजि कें, काँनन देति जराइ ।
ता पावक सों उपजि घँन, हँने पावक-हि जाइ ॥*

वि०—“दासजी के इस उदाहरण के प्रति द्वितीय सम (जिसमें कारण अनुकूल ही कार्य हो) मानकर केड़िया जी (भारती भूषण-रचयिता) ने—
“यहाँ भी अपने उत्पादक कानन (वन) को जला देने वाला पावक कारण है, जिससे उद्भूत घन (बादल) कार्य अग्नि को बुझा देने वाला है, अतः उसके अनुकूल-ही वर्णन हुआ है” कहा है जो विपरीत है—अनुप्रयुक्त है । कारण दोनों पूर्वार्ध-उत्तरार्ध में “उपजि” क्रिया उद्यम की-ही द्योतक है, इसलिये यह उदाहरण द्वितीय का नहीं, तृतीय सम का ही है ।”

पुनः उदाहरन जथा—

मधुप, तुँम्हें सुधि लेंन कों, हँम' पै पटए स्याँम ।
सब सुधि लै, बेसुधि^३ करीं, अब बैठौ किहि काँम ॥

वि०—“तृतीय सम रूप राजस्थानी-भाषा में विरचित किसी अज्ञात कवि का निम्न-लिखित उदाहरण भी दर्शनीय है—मननीय है,—

“राधा पूंजी गँवरजा, भर मोतीड़ा थाल ।

मथुरा पायो सासरो, बर पायो गोपाल ॥”

अथ सँमाधि अलंकार लच्छन जथा—

क्यों-हूँ कारज करि^३-जतन, निपट सुगँम हूँ^४ जाइ ।
ता सों कहत 'सँमाधि' लखि, काक-ताल के^५ न्याइ ॥

वि०—“जहाँ किसी प्रकार यत्न करने के प्रथम-हीं ‘काक-तालीय-न्याय’ से (अन्वानक) सुगमतापूर्वक कार्य हो जाय’ वहाँ दासजी-मतानुसार ‘समाधि-अलंकार’ कहा जायगा । भाषा-भूषण (ब्रजभाषा) के कर्त्ता—“सो ‘समाधि’ कारज सुगँम, और हेत मिलि होत’ (जहाँ अन्य हेतु के मिल जाने से कोई कार्य सुगमता-पूर्वक हो जाय) लक्षण मानते हैं । और मतिराम का लक्षण है—“और हेत के

पा०—१ (वें०) हमें पठाए...। २. (का०) (प्र०) बिसुजी करी, । (वें०) सुधि मिले बिसुधि...। ३. (का०) (वें०) की...। (प्र०) को । ४. (सं० पु० प्र०) होइ । ५. (का०) (वें०) कौ...।

* भा० भू० (केड़िया) पु० २५५, द्वितीय-सम-उदाहरण ।

मिलन ते, सुखद होत जहँ काज ।” संस्कृत में—“समाधिः सुकरं कार्यं कारणांतरयोगतः (समाधि उसका नाम है, जहाँ कतिपय अन्य कारणों के योग से कार्य सुगम हो जाय—काव्य-प्रकाश—मम्मटाचार्य) कहा है । यह और मतिगम का लक्षण, जैसा उसका पाठांतर—“सुकर होत जहँ काज” मिलता है, एक है । इसकी व्याख्या करते हुए—वृत्ति देते हुए, काव्य-प्रकाशकार कहते हैं—“अन्यान्य-हेतुओं की सहायता से जहाँ पर आरंभ किये कार्य को कर्त्ता, बिना यत्न के संपादन करे वहाँ ‘समाधि अलंकार’ होता है ।” आप से मिलती-जुलती-ही परिभाषाएँ प्रायः अन्य संस्कृत के अलंकार-ग्रंथों में दी गयी हैं ।

समाधि का अर्थ व्युत्पत्ति से—कार्य को भले प्रकार, अच्छे प्रकार करना, अथवा सुखपूर्वक किया जाना है, जो काक-तालीय न्याय से अकस्मात् दूसरे कारण या अन्य कर्त्ता की सहायता से प्रधान कर्त्ता द्वारा आरंभ किया हुआ कार्य सुखपूर्वक, अनायास संपन्न हो जाता है । इस लिये इसका लक्षण कोई-कोई आकस्मिक कारणांतर के योग से कर्त्ता की कार्य की अनायास सिद्धि होना’ भी करते हैं (अलंकार-मंजरी—पोद्दार पृ० ३०५) ।

समाधि-अलंकार का सर्व प्रथम वर्णन भोज ने सरस्वतीकंठाभरण (संस्कृत) में किया है, अतएव वे इसके जनक हैं । इसके बाद मम्मट और रुय्यक ने ‘काव्य-प्रकाश’ और ‘अलंकार-सर्वस्व’ में इसे अपनाया है । बाद को इस (समाधि) की परंपरा निरंतर चलती रही । ब्रजभाषा में भी यह उपरोक्त ग्रंथों से ही आया, यह निर्विवाद है । आचार्य दंडी और महाराज भोजराज ने अपने-अपने ग्रंथों में इसका नाम ‘समाहित’ दिया है । साथ-ही समुच्चय (जहाँ अनेक पदार्थों का समुच्चय—समूह एक समय में एक साथ होना वर्णन किया जाय—दे० यही उल्लास, आगे समुच्चय अलंकार) और समाधि की भिन्नता दिखलाते हुए संस्कृत-अलंकाराचार्यों का कहना है—“समुच्चय में सभी कारण एक साथ मिलकर एक कार्य करते हैं, एक कर्त्ता के होते हुए अन्य (दूसरे) कर्त्ता परस्पर स्पर्धा से एकत्रित हो जाते हैं और समाधि में एक कार्य पूर्ण करने में यथेष्ट कारण होते हुए भी दूसरे कारण बाद में अनायास मिलकर उस कार्य को सुगमतापूर्वक कर देते हैं—अर्थात् यहाँ योग्यता प्राप्त करने वाला एक-ही साधक होता है, अन्य साधक अचानक काकतालीय-न्याय से सहायक हो जाते हैं । समुच्चय में अन्य कर्त्ता स्पर्धा-भाव से वही कार्य सिद्ध करने में संमिलित होते हैं, और यहाँ (समाधि में) यथार्थ कर्त्ता एक-ही होता है, अन्य कर्त्ता तो अचानक आ जाते हैं ।”

सँमाधि-उदाहरन जथा—

धीरज-धरि कित^१ करति अब, मिलँन-जतँन^२ की चाह ।
हौंन चँहत कुछ दौस में, तो-मोहँन कौ व्याह ॥

पुनः उदाहरन जथा—

काहे कों 'दास' महेस-महेसुरी, पूंजिबे^३ - काज प्रसूँन - तूरति ।
काहे कों प्रात-अँन्हाइकेँ^४-री, बहु दौनन दै ब्रत - संजँम - पूरति ॥
देखि-री, देखि, भट्ट,^५ भरि-नेँनँन, कोटि-मँनोज^६-मँनोहर-मूरति ।
ए-ही^७ हैं लाल-गुपाल अली, जिहिँ-लागि रही^८ दिँन-रेंन^९-बिसूरति ॥*

वि०—“समाधि-अलंकार से समलंकृत 'रघुनाथ कवि' की यह उक्ति भी अनूठी है, जैसे—

“प्यारौ चल्थौ-परदेस सुन्यो, मँन-माल-मनोरथ की बहु गूँदें ।
राख्यौ सँनेह चहँ तिहि औसर, लाज-सँमाज हठै मुँह-मूँदें ॥
हे 'रघुनाथ', कहा कहों भाग की, चाह्यौ मँनोज कुछ कियौ दूँदें ।
एते अचानक - ही दरसे घँन, औ बरसे दस - बीसक बूँदें ॥”

अथ परिवृत्त अलंकार-लच्छन जथा—

कुछ लैबौ^{१०} - दैबौ कथँन, ता कौ बिँनमै जाँन ।
अलंकार^{११} 'परिवृत्त' है,^{१२} बरँनत^{१३} सुकबि-सुजाँन ॥

वि०—“जहाँ विनमय रूप में कुछ लेने-देने का कथन किया जाय वहाँ अच्छे—सुजान कवि “परिवृत्ति” अलंकार मानते हैं ।

परिवृत्ति का अर्थ है—अदला-बदला, लेन-देन, विनिमय, परिवर्त्तनादि ।
एक वस्तु देकर दूसरी वस्तु का लेना परिवर्त्तन कहलाता है । यह परिवर्त्तन सम—

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) धीर धरहि कत करहि...। २. (वें०) जनन...। ३. (शृ० नि०) पूंजन...। ४. (का०) (सं० पु० प्र०) (वें०) अन्हानन कै बहु...। (प्र०) अन्हान कै तू बहु...। (शृ० नि०) नहानन कै बहु...। ५. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) (शृ० नि०) अँगौठि केँ नेँनेँन...। ६. (सं० पु० प्र०) (रा० पु० का०) मनोज-सी मोहन...। ७. (प्र०) आप हैं । ८. (का०) (वें०) (प्र०) (शृ० नि०) रहै...। ९. (सं० पु० प्र०) राति...। १०. (का०) (वें०) लीबौ-दीबौ...। (प्र०)...लीबौ-दीबौ अधिक, ताके बदलें...। ११. (का०) (वें०) परिवृत्तालंकार हूँ ; १२. (प्र०) तहँ...। १३. (का०) (वें०) ताही कहत सुजान ।

* शृ० नि० (दास) पृ० ७४, २२० । सखि-कर्म के अंतर्गत—संदर्शन ।

(अच्छी वस्तु देकर अच्छी और बुरी वस्तु देकर बुरी लेना) और “विषम” (अच्छी वस्तु देकर बुरी तथा बुरी वस्तु देकर अच्छी लेना) दो रूपों में होता है। इसलिये उक्त अलंकार के प्रथम दो और तत्पश्चात् इन दो के दो-दो भेद और हो जाते हैं।

परिवृत्ति अलंकार को आदि (भट्टि-आदि) से लेकर अंत तक सभी संस्कृत-और ब्रजभाषा के अलंकाराचार्यों ने माना है। विषय-वर्गीकरण की दृष्टि से कोई ‘परिवृत्ति’ को ‘वास्तव वर्ग’ में, कोई ‘काव्य-न्याय रूप वाह्य-न्याय’ वर्ग में और कोई न्यायमूलक ‘वाक्य-न्याय मूल’ में इसकी गणना करते हैं। आचार्य मम्मट ने ‘काव्य-प्रकाश’ (संस्कृत) में परिवृत्ति अलंकार का लक्षण — “परिवृत्तिर्विनमयो-योऽर्थानां स्यात्समासमैः” (जहाँ पर सम-असम वस्तुओं के द्वारा पदार्थों का विनमय हो) कहा है। साथ-ही सम-असम-द्वारा इसके भेदों “सम-सम, सम-असम और असम-सम” को भी कहा है। चंद्रालोक में—“परिवृत्तिर्विनमयोऽन्यूनान्नाभ्यधिकयोर्मिथः” (परस्पर न्यूनाधिक का परिवर्तन होने पर) रूप में ‘न्यून देकर अधिक’ अथवा ‘अधिक देकर न्यून लेना’-आदि दो भेद-ही माने हैं। साहित्य-दर्पण में भी—“परिवृत्तिर्विनमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्” (समान, न्यून और अधिक के साथ विनमय करने पर) लक्षण के साथ तीन भेदों का ही कथन है, पर अन्य ग्रंथों में ऊपर लिखे चार भेदों का उल्लेख मिलता है।

वामनाचार्य ने “काव्यालंकार सूत्र” में—“समविसदृशाभ्यां परिवर्तनं परिवृत्तिः (समान-असमान से परिवर्तन—परिवृत्ति) कहते हुए पुनः “समेन-विसदृशेन वार्थेन अर्थस्य परिवर्तनं परिवृत्तिः” (समान वा असमान अर्थ से अर्थ का परिवर्तन—परिवृत्तिः) कहा है, अतः आप दो-ही (सम से सम और असम से असम) भेद मानते हैं। आचार्य भामह ने इसके प्रति नयी बात कही है, यथा—

“विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः ।

अर्थांतरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा ॥”

—काव्यालंकार, ३, ३६ ।

अर्थात् आपके मतानुसार परिवृत्ति अलंकार में “अर्थांतरन्यास” (प्रस्तुत अर्थ का अप्रस्तुत अर्थांतर के न्यास से समर्थन किया जाय) भी अवश्य रहना चाहिये, यह “अर्थांतरन्यासवती परिवृत्तिः” लिखकर स्पष्ट कर दिया है। इसका उदाहरण भी दिया है, पर वामन के साथ उनके परवर्ती आचार्यों ने परिवृत्ति के साथ अर्थांतरन्यास का होना कोई न्याय-संगत नहीं माना है। इसलिये विश्वनाथ चक्रवर्ती ने साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में ‘परिवृत्ति’ का ऊपर लिखे लक्षण में परिवृत्ति (विनमय) का होना—सम, न्यून और अधिक तीनों के

साथ लिखा है। वामनाचार्य ने जिस 'विसदृश' रूप एक भेद के अंतर्गत न्यून और अधिक रूप दोनों भेदों का संग्रह कर दिया था, उसे साहित्य-दर्पण के कर्त्ता ने न्यूनाधिक-परक व्याख्या के साथ कुछ नूतनता ला दी है। वामन के 'विसदृश' को सम, न्यून और अधिक में विभक्त कर सुंदरता भर दी है।

ब्रजभाषा-अलंकार-ग्रंथों में परिवृत्ति के एक वा दो भेदों का ही उल्लेख मिलता है, जो "थोड़ा देकर बहुत अथवा बहुत देकर थोड़ा लेना" रूप में विभक्त है। "भाषा-भूषण" और "कविकुल-कंठाभरण" में थोड़ा देकर बहुत लेने में, 'ललित-ललाम' में—'वाटि-वाटि दू बात कौ, जहाँ पलटिबौ होइ' और दासजी के इस "काव्य-निर्णय" ग्रंथ में "बहुत देकर थोड़ा लेने" रूप एक ही भेद में यह अलंकार माना है। पद्माभरण में—"थोड़ा देकर बहुत" और "बहुत देकर थोड़ा लेने पर दो रूपों में यह अलंकार माना है।"

एक बात और, वह यह—परिवृत्ति में विनमय—"कवि-कल्पित" होता है, वास्तविक नहीं। जहाँ वास्तविक विनमय (लेन-देन) होगा वहाँ यह अलंकार नहीं होगा। साथ ही अपनी वस्तु के त्याग-ग्रहण रूप कथन में भी यह अलंकार नहीं होता। कवि-कल्पना-द्वारा कुछ वा विशेष, विशेष वा कुछ देने-लेने में ही यह अलंकार होता है। ब्रजभाषा में इसके विपरीत—"बहुत लेकर कुछ न देना" रूप कुछ सुंदर सूक्तियाँ भी मिलती हैं, जैसे

अति सूधौ सँनेह कौ मारग है, जहाँ नँक, सयाँनप-बाँक नहीं।

तहाँ साँचे चलें तजि आपन पौ, भिम्किं कपटी जो निसाँक नहीं॥

'धँनअँनद' मोत सुजाँन सुनों, यहाँ एक ते दूसरौ आँक नहीं।

तुँम कौन - धों पाटी पढ़े हौ लला, 'मँन' लेति हौ देति छटाँक नहीं॥

यहाँ पोद्दार कन्हैयालाल (अलंकार-मंजरी) जी का कहना है—"यहाँ मन लेकर बदले में छटाँक भी न देना, "कम-विशेष" देकर "कम-विशेष" 'अवश्य' लेने के विपरीत है, बदले में कुछ भी नहीं मिलना ऐसे कवि-प्रतिभापूर्ण वर्णनों में "अपरिवृत्ति" (नामक नया) अलंकार माना जा सकता है। अपरिवृत्ति पूर्वाचार्यों ने निरूपण नहीं किया है, परंतु (ऐसे उदाहरण रूप) इस 'अपरिवृत्ति' में चमत्कार होने के कारण उसे मानना उचित अवश्य है।"

अथ परिवृत्त-उदाहरन जथा—

तिय, कंचन-सों तँन तेरौ उन्हेँ-मिलिबौ^१ भयौ सोंतुख कौ सपनों।
उँन कौ नग-नील-सौ गात है तैसेँ^२-हिँ, तौ बस 'दास' कहा लपनों॥

इँव बातँन तेरौ गयौ न कछू, उँन-हीं डैहकायौ अरी^१ अपनों ।
जिँन^२ हीरा अमोल दियौ औ लियौ, यै द्वै-पल कौ तो प्रेम-पनों ॥

वि०—‘परिवृत्ति अलंकार के रोचक उदाहरण ब्रजभाषा में कम मिलते हैं, और जो मिलते हैं, उनमें परिवृत्ति के लक्षणानुसार न्यूनाधिक्यता आ जाती है, फिर भी विहारीलाल का निम्नलिखित दोहा लोकोक्ति (अंगुलिदाने भुजंगिलसि) रूप ललित लोच से पगा हुआ इस अलंकार का सुंदर उदाहरण कहा जा सकता है, यथा—

“छुवै छिगुनी पोंहचौ-गिलत, अति दीनता - दिखाइ ।

बलि-बाँमन कौ ब्योँत लखि, को बलि तुम्हें पस्याइ ॥

उदू^३ कवियों के भी कुछ अशस्त्र इस (परिवृत्ति) अलंकार के मिल जाते हैं, जैसे—

“दिल लेके मुफ्त, कहते हैं कुछ काम का नहीं ।

उलटी शिकायतें हुईं, अहसान तो गया ॥”

*

“दर्द-दिल अगवल तो वह आशिक का सुनते-ही नहीं ।

और जो सुनते हैं, तो सुनते हैं फिसाना की तरह ॥”

*

खत तुम्हारा हमको पहुँचा, है फकत इतनी रसीद ।

वाह, क्या लाया है, कासिद मेरे दफ्तर का जवाब ॥”

अथ ‘भाविक’ अलंकार लच्छन जथा—

भूत-भविष्यत^३ बात कों, जहँ बोलत व्रतमाँन ।

‘भाविक’ भूषँन कहत हैं, ता कों सुँमति-सुजाँन ॥

वि०—“भाविक का लक्षण ‘दासजी’ द्वारा कथित इस लक्षण से भाषा-भूषण का अधिक स्पष्ट है, चुस्त है और भाषा की सफेयत से भी सुंदर है, यथा—
“भाविक, भूत-भविष्य जो, परतछ कहै बनाइ” वा “बताइ” । वर्तमान की दुर्गति “व्रतमाँन” ने सारा मजा किरकिरा कर रखा है । फिर भी ‘व्रतमान’ (दासजी) और ‘परतछ’ (म० जसवंतसिंह) एक-ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं, कुछ भी अंतर नहीं ।

पा०—१. (का०) (वै०) (प्र०) (सं० पु० ५०) अली... २. (का०) (वै०) निज हीरो अमोल दयो औ लयो, । (प्र०) निज... दयो औ लयो... ३. (का०) (५०) (प्र०) भवित्यडु . ।

अतएव दासजी और पूर्व रचनाकार श्री जसवंत सिंह जी कथित 'भाविक-अलंकार' वहाँ होता है, 'जहाँ भूत-भविष्य (बीती हुई और आने वाली) की बातों — घटनाओं का वर्तमानवत् अथवा प्रत्यक्ष जैसा वर्णन किया जाय, क्योंकि भाविक का अर्थ है — "भाव की रत्ना ।"

भाविक अलंकार को पूर्व-अलंकाराचार्यों—भट्टि, भामह, दंडी और उदभट आदि ने तो माना है, काव्यालंकार-सूत्र के कर्त्ता वामन ने नहीं । भोज, मम्मट और रुय्यक ने भी इसे अपनाया है तथा पियूषवर्षी जयदेव और विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भी । लक्षण प्रायः समान हैं, जैसे—प्रत्यक्षा इव पद्भावाः क्रियन्ते-भूतभाविनः" (जहाँ भूत-भविष्य-काल के पदार्थ भी वर्तमान काल के प्रत्यक्ष पदार्थ के समान प्रकट किये जाँय—काव्य-प्रकाश मम्मट-पं० हरिमंगलमिश्र-द्वारा अनुवादित) यहाँ 'भूतभाविनः' शब्द द्वन्द्व-समास के द्वारा बनने के कारण अर्थ में—“जो पूर्व में हो चुका है और जो भविष्य में होने वाला है” होता है । इसी प्रकार भाव भी —“भावः कवरेभिप्रायोऽस्तीति भाविकम्” (भाव, अर्थात् कवि का अभिप्राय जिसमें रहता है वह भाविक) कहा गया है । साहित्य-दर्पण में इससे कुछ विशद लक्षण कहा गया है, जैसे—

“अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः ।

यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम् ॥”

अर्थात् भूत या भविष्यत् (के) किसी अद्भुत पदार्थ को प्रत्यक्षवत् अनुभव करने पर “भाविक” अलंकार होता है । साथही यहाँ “न चापं प्रासादख्यो-गुणः”—इत्यादि कहते हुए—“इसे प्रसाद गुण के अंतर्गत नहीं कह सकते, क्योंकि भूत और भविष्यत् के प्रत्यक्षवत् भासित होने में प्रसाद गुण हेतु नहीं है । यह अद्भुत-रस भी नहीं है, क्योंकि यह (भाविक) विस्मय का हेतु है, विस्मय-स्वरूप नहीं । अतिशयोक्ति भी यह नहीं, क्योंकि यहाँ अध्यवसाय नहीं है । भूत-भविष्यत् वस्तुओं को ठीक उसी प्रकार वास्तविक रूप में प्रकाशित होने के कारण ‘आति’ अलंकार भी नहीं है । स्वभावोक्ति में वस्तु का सूक्ष्म स्वरूप वर्णित रहता है, वही उस अलंकार का स्वरूप है, पर यहाँ वस्तु की ‘प्रत्यक्षायमाणा’ विशेष है । और यदि कहीं स्वभावोक्ति में भी यह चमत्कार दीखे तो इन दोनों का—भाविक और स्वभावोक्ति का संकर जानना चाहिये इत्यादि” (साहित्य-दर्पण-शालिग्राम शास्त्री का हिंदी-अनुवाद) । उपरोक्त लक्षणों के विपरीत चंद्रालोक में भाविक को ‘भाविकच्छवि’ नाम देते हुए लक्षण-रूप में—“देशात्मविप्रकृष्टस्य-दर्शनं भाविकच्छविः (जहाँ देश वा आत्मा-संबंधी बात घुमाकर कही जाय, वहाँ भाविकच्छविः) कहा है ।

भाविक का वर्गीकरण करते हुए किसी ने “वास्तव वर्ग” में, किसी ने “वर्णन-वैचित्र्य-प्रधान” वर्ग में और किसी ने ‘प्रकीर्णक’ वर्ग में इसे रखा है और शब्दार्थ ‘भूस्तथा-इक’ रूप से व्युत्पत्ति करते हुए — “सत्ता की, भाव-स्थिति की रक्षा करना” कहा है। इसी लिए इस अलंकार में भूत-भविष्यत् भाव को वर्तमान की भाँत कहकर उनकी रक्षा की जाती है। क्वचित् संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने भविक के भूत और भविष्य-कालीन वर्णनों में दो भेद “भूतकालीन, भविष्य-कालीन” मान इनके उदाहरण भी दिये हैं, जथा—

भाविक उदाहरण जथा—भूतकाल को

आज^१ बाकी^२ भृकुटी गढ़ी है मेरे नैन. अजों
कसकै चितोंन^३ उर-छेद पार है भई ।
काजर^४ जँहैर-सौ कैहैर करि डारथौ हु तो,
मंद-मुसिक्याँन जौ^५ न होती वौ^६ सुधा-मई ॥
‘दास’ अजहूँ-लों दृग-आगे तेन न्यारी होति,
पैहरें सुरंग सारी सुंदर^७ बधू नई ।
मोहि^८ मोद^९ दै करि, सँनेह-बीज बै करि, औ^{१०} °
कुंज-ओट कै करि, चितै करि चली गई ॥

द्वितीय भाविक उदाहरण जथा—“भविष्य काल को”

आज बड़े-बड़े भागँन-चाहि, बिराजत मेरौ-हो भाग^{११} बिचारौ ।
‘दास’ जू आज दियौ^{१२} बिधि मोहिं, सुरालइ के सुख ते सुख न्यारौ ॥
आज मो भाग^{१३} उदैगिरि में उयौ^{१४}, पूरब-पुनन कौ तारौ उज्यारौ ।
मोद में अंग, बिनोद में जीय, चहुँ कोद में चौँदिनी, गोद में प्यारौ ॥

अस्य तिलक

इन दोनों प्रथम-द्वितीय उदाहरण में भूत काल की बात कौ और भविष्य में

पा०—१. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) अजों बाँकी... २. (प्र०) बाँकी... ३. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) कटाच्छ... ४. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) कज्जल... ५. (का०) (वें०) यों... ६. (का०) ज्यों... (वें०) जो... (प्र०) बा.. ७. (वें०) चूँदरी । (प्र०) सुंदरि वरनई । (सं० पु० प्र०) सुंदरी... ८. (का०) (वें०) (प्र०) मोही... ९. (का०) (वें०) मोह... १०. (का०) (वें०) (प्र०) जु... ११. (वें०) भाग्यवन्त्यारौ । (सं० पु० प्र०) बर्यारौ । १२. (का०) (वें०) (प्र०) दयौ... १३. (का०) (वें०) (प्र०) भाल... १४. (का०) (वें०) (प्र०) उयौ...

होइवे बारी बात कौ बरतमान-सौ बरनन है वे ते 'भूत-भाविक' और 'भविष्य-भाविक' बनत हैं ।

वि०—“भूतकालिक 'भाविक का' वर्णन 'प्रोषित नायक' के उदाहरण स्वरूप यह सवैया भी बहुत सुंदर है, यथा—

“साहस कै, बस कै, रिस कै, जब मांगी बिदेस-बिदा मृदु-बाँन सों ।
सो सुनि बाल रही सुरभाइ, दही बर-बेलि ज्यों धीर-दबाँन सों ॥
नैन, गरौ, हियरौ भरि आयौ, पै बोलि न आयौ कछु वा सुजाँन सों ।
सालें अजों हिय-माँझि गढ़ी, वे बढ़ी अँखियाँ, उँमड़ी अँसुवाँन सों ॥”

*

“जाँम-भरे दिँन है चलिबौ, सुनि प्यारी निसा सब रोबति खोई ।
हों क्यौ रोइऐ न, जेऐ घरै, यै रोइबौ तौ सुनि हैं सब कोई ॥
सोई 'निगज' सदाँ सुधि सालति, साहस कै-कै चली पग दोई ।
आधिक दूरि-लों आइ चितै, पुनि आइ गरें लपटाइ कें रोई ॥”

ये दोनों छंद भूतकालिक वर्णन को वर्तमान जैसा वर्णन करने के हैं, भविष्य-भाविक के भी दो उदाहरण देखिये, जैसे—

“दग-लाल, बिसाल, उँनीदे कछु, गरबीले-जजीले-से पेखहिँगे ।
कब धों बिथुरी - सुथरी अलकें, झपकी पलकें अबरेखहिँगे ॥
'कवि संभु' सुधारति भूषन-भेष, बिलोकनि यों जग-लेखहिँगे ।
अंगरात उठी रति - मंदिर ते, कब-धों वौ भामती देखहिँगे ॥”

*

“भीतर ते उठि-आवति देखि, कबै वौ बाल भुजा-भरि लै है ।
'सेखर' कंठ-लगाइ कें पीछे ते, आनंद के अँसुवाँन अन्है है ॥
कंत भले, भजे बोल के साँचे, क्यौ तुँम हो हँम वा दिँन ऐ हैं ।
औधि-गएँ यों तिया-घर जाइ, कबै हँम हाइ उराहनों पै हैं ॥”

अथ प्रहरण अलंकार-लच्छन जथा—

जतन-घने^१ करि थाकिऐ^२, बांझित यों-ही जासु^३ ।

बांझित थोरौ, लाभ अति^४, दैव-जोग ते आसु^५ ॥

पा०—१. (सं० पु० प्र०) (का०) (प्र०) घनी...। (वें०) यत घनी...। २. (प्र०) थापिऐ...। ३. (प्र०) साज । ४. (प्र०) बहु...। ५. (प्र०) आज...।

जतन-ढूँढते वस्तु की, वस्तु-हिँ आबै हाथ ।
त्रिविध 'प्रहरषँन' कहत हों, लखि लखि कविता-गाथ ॥

वि०—“प्रहर्षण के शब्दार्थ-द्वारा—जहाँ हर्ष-वर्द्धक अर्थ की सिद्धि हो वहाँ यह (प्रहर्षण) अलंकार होता है और उसके तीन भेद हैं, जैसा दासजी कहते हैं । प्रथम प्रहर्षण वहाँ “जहाँ अति यत्न कर थकने पर भी वाञ्छितार्थ अल्प हो”, दूसरा वहाँ “जहाँ वाञ्छितार्थ थोड़ा, पर दैन्य-योग से लाभ अधिक हो” और तीसरा प्रहर्षण वहाँ—“जहाँ वस्तु-प्राप्ति का यत्न ढूँढते-ही वस्तु की प्राप्ति हो जाय” ।

इन तीनों प्रहर्षण-भेदों को दासजी-द्वारा मान्य व्याख्याओं के विपरीत भी व्याख्याएँ (लक्षण) मिलती हैं, यथा-ब्रजभाषा—

“तीन 'प्रहरषँन' जतन-बिँन, बांछित-फल जो होइ ।
बांछित-हू ते अधिक फल, खँम-बिँन लहिऐ सोइ ॥

*

साधत जाके जतन को, वस्तु चढै-कर सोइ ।

अर्थात् “जहाँ इच्छित-फल की प्राप्ति बिना यत्न के हो जाय, जहाँ बिना परिश्रम के वांछित-फल से भी अधिक प्राप्ति हो जाय और जहाँ वही वस्तु हाथ लग जाय, जिसके यत्न का साधन किया जा रहा हो”—इत्यादि क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय प्रहर्षण के लक्षण हैं, जिन्हें भाषा-भूषण के रचयिता महाराज जसवंत सिंह जी ने कहा है । मतिरामजी ने भी तीनों प्रहर्षणों के लक्षण क्रमशः—“जहाँ उत्कंठित अर्थ की बिन-उपाइ-ही सिद्धि”, “जहाँ मँन-इच्छित अर्थ ते, अधिक सिद्धि अभिराँम” और “जहाँ अर्थ की सिद्धि को, जतन-हिँ ते फल होइ” लिखे हैं । मतिरामजी-द्वारा कथित तृतीय प्रहर्षण का लक्षण भाषा भूषण से प्रथक् है । पद्माकर कहते हैं—“बांछित-फल-सिद्धि जतन बिँन०.....”, सु प्रहरषँन सिद्धि-अर्थ की बांछित ते अधिकाइ”, जा-हित जतन सु ताहि ते मिलै०”.....इत्यादि । पद्माकर-द्वारा कथित तृतीय प्रहर्षण का लक्षण भी पूर्व कथित भाषा-भूषण से विपरीत है । अतएव इन सब के साथ संस्कृत के भी अलंकार-ग्रंथों के आधार पर तीनों प्रहर्षणों के निम्नलिखित लक्षण सुंदर बनते हैं, जैसे—

“उत्कंठित पदार्थ की बिना यत्न के सिद्धि होना, वांछित अर्थ की अपेक्षा अधिक लाभ होना, उपाय की खोज-द्वारा साक्षात् फल मिलना-इत्यादि.....।”

तीसरे प्रहर्षण का लक्षण इस प्रकार भी कहा जा सकता है—“जहाँ वाञ्छितार्थ की प्राप्ति के साधन का उपाय करते-करते साक्षात् फल प्राप्त हो जाय...।

प्रहर्षण अलंकार, सर्व प्रथम पीयूषवर्षी जयदेव ने अपने चंद्रालोक में माना है। वहाँ ऊपर लिखे तीनों भेद नहीं मिलते, यथा—“वाञ्छितादधिकप्राप्तिरयत्नेन प्रहर्षणं” (जहाँ वाञ्छित फल बिना यत्न के अधिक मिल जाय)। काव्य-प्रकाश (मम्मट) की “उद्योत” नामक व्याख्या में—“कारणांतर के सुयोग-द्वारा कार्य की सिद्धि होने के कारण” रूप प्रहर्षण को ‘समाधि’ अलंकार के अंतर्गत मानकर उल्लेख किया है। पंडितराज जगन्नाथजी और अप्पय दीक्षित ने चंद्रालोक की भाँति इसे स्वतंत्र अलंकार रूप में मान दिया है।

सबसे प्रथम अलंकारों के मूलतत्त्वों पर विचार कर उसका वर्गीकरण करने वाले आचार्य उद्भट ने अपने चार - “वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेश (अर्थ-श्लेश) वर्गों में कहीं भी इस अलंकार का स्मरण नहीं किया है। आचार्य उद्भट का समय ईसा की अष्टमशताब्दी के लगभग माना जाता है। वामन आचार्य उद्भट के समकालीन थे। रुद्रट का समय ईसा की नवमशताब्दी, भोजराज की ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी, मम्मट की भी उक्त ग्यारहवीं शताब्दी, रुय्यक, वाग्भट और हेमचंद्राचार्य की बारहवीं शताब्दी और पीयूषवर्ष जयदेव की ईशा की बारहवीं-तेरहवीं (का मध्य) मानी जाती है। इससे ज्ञात होता है उद्भट का वर्गीकरण जयदेव से प्रथम होने के कारण वहाँ ‘प्रहर्षण’ का उल्लेख नहीं है। रुय्यक के सात अलंकार-वर्ग में भी इसका उल्लेख नहीं है, कारण पूर्व लिखित है। फिर भी प्रहर्षण की—“वर्णन वैचित्र्य-प्रधान श्रेणी” तथा “प्रकीर्णक” अलंकारों में गणना की जाती है।”

अथ प्रथम प्रहरषन को उदाहरन जथा—

ज्वाल के जाल उसासन ते बदे, देखी' न ऐसी बिहाल-बिथा ती ।
सीर - सँमीर, उसीर - गुलाब के, नीर - पटीर-हू ते सरसाती ॥
श्री ब्रजनाथ सँनाथ करो,* मोहि ज्याइ लई लपटाइ^३ कें छाती ।
आज-हूँ या के तँनें-पतनें जतनें सब मेरी धरी रहि जाती ॥

वि०—“दासजी कृत यह उदाहरण प्रथम-प्रहर्षण के लक्षणानुसार “जतनें-बँने करि थाकिऐ, अरु वाञ्छित फल यों ही” का है, जो—“ज्याइ लई लपटाइ कें

पा०—१. (वें०) देखौ ..। (सं० पु० प्र०) देख्यौ न...। २. (का०) (वें०) (प्र०) कियो मोहि ज्याइ लियो...। ३. (का०) (वें०) इहि लाइकें छाती । (प्र०) गहि लाइकें...।

छाती” रूप अल्प फल से प्रकट है। यहाँ लक्षण में ‘योहि’ का अर्थ “कारण विशेष से नहीं, अनायास-ही प्राप्त होना इसी प्रकार है” और ध्वन्यार्थ—“तुच्छ” है—अल्प है। प्रहर्षण के अन्यथार्थ (जहाँ इच्छित फल की प्राप्ति बिना यत्न हो जाय) का उदाहरण पीयूषवर्षी श्री जयदेव कृत ‘गीतगोविंद’ का यह—
“मेघैमेंदुरमंबरं०...” श्लोक जिसका ब्रजभाषानुवाद निम्नलिखित छंद है, सुंदर है—उपयुक्त है, यथा—

“मेघै न साँ नभ छाड़ रह्यौ, बँन-भूमि तमालै न साँ भई कारी।

साँ भई डरि है घर याहि दया-करिकें पोंहचाबहु प्यारा ॥

याँ सुँ नि नद-निदेस चले दुहुँ, कुँजें में हरि-भाँनु-दुलारी।

सोई कलिंदी के कूल इकंत की, केलि हरै भब-भीति हँमारी ॥”

विहारीलाल का नीचे उद्धृत दोहा भी इस ‘प्रथम प्रहर्षण’ (उपाय के बिना ही उत्कंठितार्थ की सिद्धि का होना) का सुंदर उदाहरण है—

“कर-मुँदरी की आरसी, प्रतिबिंब्यौ प्यौ पाइ।

पीठि-दिऐं निधरक लखै, इकटक दीठि लगाइ ॥”

अथवा—

“खिँचे माँन-अपराध ते, चलिगे बदेँ अचेंन।

जुरत दीठि तजि रिस खसी, हँसे दुहुँ के नैन ॥

अर्थात् “सखी की सिफारिश और दूती के उपाय-बिना ही मेल हो गया”, इससे अच्छा (प्रथम) प्रहर्षण और क्या होगा !” इति श्री स्व० पं० पद्मसिंह शर्मावचनात्...।

रीति-काल के अति प्रतिभावान् कवि ‘पद्माकर’ का नीचे लिखा उदाहरण भी प्रथम प्रहर्षण का सुंदर उदाहरण है—

“गोकुल की गलिँन-गलीँन यै फैली बात,

कान्हें नँदराँनी बृषभाँन - भौन ब्याहती।

‘कहै’ पद्माकर’ यहाँ-ईं त्यों तिहारौ चले,

ब्याह कौ चलँन यहै साँवरौ सराहती ॥

सोचति कहा हौ, कहा करिहें चबाईँन ए,

आँनद की अबली न काहे अबगाहती।

प्यारौ उप-पति सु होत अँनुकूल, तुँगह—

प्यारी परकीया ते स्वकीया होंन चाँहती ॥”

उत्तमादूती द्वारा नायिका के प्रति प्रहर्षण-अलंकार से अलंकृत कितने सुंदर मिलाप के लिये वचन हैं..।

पूर्वोक्त “समाधि” में भी कर्ता के कुछ यत्न करते हुए अकस्मात् कारणांतर की प्राप्ति से सुगमतापूर्वक कार्य हो जाता है और यहाँ बिना उपाय किये ही वाञ्छितार्थ की सिद्धि मिलती है ।”

अथ दुतिय प्रहरषँन कौ उदाहरन जथा—

जा^१-परछाँहीं लखँन कों, हारे परि-परि पाँइ ।
भाग-भलाई राबरी, वही^२ मिली अब आइ ॥

अस्य तिलक

इहाँ बांछित थोरौ लाभ अति-रूप दुतीय प्रहरषँन है । जाकी (केवल) परछाँही-हूँ देखिबे कों-हीं पाँइ परि-परि हारे वही भाग की भलाई (अच्छाई) ते अपने आप आइकें मिली सो ‘बांछित थोरौ लाभ-अति के रूप में प्रघट है ।

वि०—“बांछित थोरौ लाभ-अति” रूप द्वितीय प्रहरषण का मतिराम कृत उदाहरण भी सुंदर है, यथा—

“चित्र में बिलोकति-ही लाल कौ बदन बाल,
जीते जिहिँ कोटि चंद सरद पुनीन के ।
मुसिकाँन अँमल, कपोलँन कै रुचि वृंद-
चँमकें तरौनँन के रुचिर चुनीन के ॥
पीलँम - निहारयौ बाँह - गहत अचानक ही,
जामें ‘मतिराम’ मन सकल मुनीन के ।
गाढ़े गही लाज में, न कंठ-हू फुरत बँन,
मूल छूवै फिरत नँन बार - बरुनीन के ॥”

अथ तृतीय प्रहरषँन कौ उदाहरन जथा—

भोर-हीं आइ^३सखी^४सों निहोरि कें, राधे कछौ मोहिँ मीत मिलावै ।
ताहि^५ तकाइ कें भौन गइ वौ, आप कछू करिबे कों उपावै ॥
ता-ही^६ सँमें तँह माधौ गए, दुख-राधे-बियोग कौ बाहि सुनावै ।
पाइकें सूँनों निलै-मिलै^७ दूँनों, बढ़-यो^८ सुख-पूँनों^९ दुहँ उर-लावै ॥*

पा०—१. (प्र०) जो...। २. (सं० पु० प्र०) आप मिली वौ आइ । (प्र०) वहै...।
३. (श्रृ० नि०) आँन...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (श्रृ० नि०) जनीं सों...।
(वें०) मिलावौ । ५. (श्रृ० नि०) ता हित कारनँ भौन...। (वें०) उपावौ । ६. (श्रृ० नि०)
दास तहीं चलि माधौ गए, दुख राधे बियोग की ताहि । (वें०) सुनावौ । ७. (का०) (वें०) (प्र०)
मिल...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) बढ़ै...। ९. (का०) (वें०) (प्र०) दूनों...। (वें०) आवौ ।

* श्रृ० नि० (दास) पृ० ३८, ११२—मुदिता-उदाहरण ।

वि०—“दासजी का यह छंद तृतीय प्रहर्षण—जतनें दूँदत वस्तु कै, वस्तु
आबै हाथ”, (वाञ्छितार्थ वस्तु की प्राप्ति के लिए यत्न दूँदने के साथ-ही
वाञ्छितार्थ—वस्तु का मिन जाना) का उदाहरण है। साथ-ही यह छंद
“मुदिता-नायिका” (नायिका-भेदानुसार) का उदाहरण भी है, जिसे आपने
अपने ‘शृंगार-निर्णय’ नामक ग्रंथ में दिया है। मुदिता नायिका का लक्षण—

“वहै बात बनि आवई, जो चित-चाँहति होइ।

ताते अनदित महा, ‘मुदिता’ कहिएँ सोइ॥

—शृंगार-निर्णय

इस छंद में शृंगार-निर्णयानुसार पाठ भेद भी हैं, जो पाठांतर में नीचे दिया
गया है, फिर भी यहाँ दो बात विशेष कहनी है—दो शब्दों ‘दूँनों’ और ‘पूँनों’
के प्रति कुछ अधिक कहना है, जो ‘सूँनों’ शब्द के फेर में बने हैं। दूँनों-शब्द
‘ब्रजावधी’ है जो ‘दोनों’ के अर्थ का द्योतक है, पर ‘पूँनों’ पूर्ण के अर्थ में
कहाँ और कब प्रयुक्त होने लगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। पूँनों शब्द ब्रज में
पूर्णमा के लिए आज भी प्रचलित है। शायद इसी से आपने यह निर्माण
किया हो...। इसी प्रकार दूसरे चरण में आई हुई ‘तकाइ’ क्रिया भी ‘महा-
वीर प्रसाद मालवी ‘वीर’ के अर्थ-मान्य की दृष्टि से विचारणीय बन गयी है।
क्योंकि आपने स्वसंपादित ‘काव्य-निर्णय’ में इसका अर्थ ‘दिखाकर’ माना है,
किंतु यहाँ यह ‘तकाइ’ तकना (सक्रि०)—देखने से नहीं, “तकाने” से बनी
है, जिसका अर्थ होता है ‘देखने का काम दूसरे से कगना, दूसरे को संभाल कर
जाना, जिससे उसकी अनुपस्थिति में कोई हानि न हो। मुहावरे में भी—
“दादी जी, नेंकु जा घरकूँ-ऊँ ताकियों मैं अमई आई...“इत्यादि...।”

अथ विषादैन-अलंकार लच्छन जथा—

सौ ‘विषाद’ चित-चाँह ते^१, उलटौ^२ कछु हूँ जाइ।

सुरत सँमें पिक पातकी^३, कुहू^४ दियौ सँमझाइ॥

वि०—“जिस बात की चित्त (मन) में इच्छा होने पर यदि उससे उलट
हो जाय—जिस बात की चित्त में इच्छा है, पर उससे विपरीत हो जाय, तो
‘विषाद’ वा ‘विषादन’ अलंकार माना जायगा और यदि अधिक-अल्प रूप में
कहा जाय तो—“बहाँ वाञ्छितार्थ के विरुद्ध लाम होने का वर्णन हो” बहाँ
भी उक्त अलंकार माना जायगा।

पा०—१. (सं० पु० प्र०) सौ०...। २. (का०) (वें०) अंतःश्रवणों है...। ३. (का०)
(वें०) (सं० पु० प्र०) पापिनी...। ४. (का०) कुहू कियो री हाइ।

विपादन शब्द विपाद से बना है, जिसका अर्थ 'विशेष दुःख' होता है । अतएव इच्छा के विरुद्ध फल के मिलने में प्रायः दुःख होता है, इसलिए इस अलंकार का नाम-करण अनुरूप है ।

विपादन भी सर्व प्रथम 'चंद्रालोक' में ही दृष्टिगत होता है, बाद में अन्यत्र । अतएव आप उसके जनक कहे जा सकते हैं । चंद्रालोक में इसका लक्षण है—

“ईष्यमाण विरुद्धार्थं संप्राप्तिस्तु विपादनम् ।”

अर्थात्, अपनी इच्छा के विरुद्ध फल की प्राप्ति होना—विपादन है । विपादन का वर्गीकरण. पश्चात् निर्माण होने से रुद्रट और रुय्यक ने नहीं किया है । बाद में उसका वर्गीकरण वर्णनवैचित्र्य-प्रधान तथा प्रकीर्णक अलंकारों की सूची में किया गया है । वह कब और कैसे, इसका पता नहीं चलता । विपादन पूर्व कथित अलंकार 'प्रहर्षण' का प्रतिद्वंदी है, क्योंकि प्रहर्षण में वाञ्छित-अर्थ की सिद्धि के द्वारा हर्ष—अधिक हर्ष प्रकट किया जाता है और यहाँ विपाद वा विपादन में “वाञ्छित अर्थ के विरुद्ध लाभ के द्वारा दुःख प्रकट किया जाता है—जैसा दासजी ने इस दोहे के उत्तरार्ध में बतलाया है ।”

एक बात और, वह यह कि विपादन को उद्योतकार (काव्य प्रकाश के योका कार) ने 'विषम' अलंकार के अंतर्गत माना है । अस्तु, पंडितराज जगन्नाथ जी का इस विषय में कहना है कि विषम में अभीष्टार्थ के लिए उद्योग किया जाता है और विपादन में उस (अभीष्टार्थ) को इच्छा मात्र होती है, अतएव यह प्रथक है ।”

पुनः उदाहरन जथा—

मोहँन आयौ^१ हुतो^२ सपने, मुसिकात औ^३ खात बिनोद सों बीरा^४ ।
सोती^५ हुती परजंक पै होँ-हूँ, उठी मिलिबे कों^६ सु करि मन - धीरा ॥

पा०—१. (सु० ति०) (सु० स०) (का० प्र०) आ... २. (का०) (प्र०) (स० पु० प्र०) (श्रु० नि०) (सु० ति०) (सु० स०) (का० प्र०) इहाँ... ३. (का० प्र०) से... ४. (का०) (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) (श्रु० नि०) (सु० नि०) (सु० स०) (का० प्र०) धीरौ । ५. (का०) (स० पु० प्र०) (श्रु० नि०) (सु० ति०) (सु० स०) (का० प्र०) बेठी... (वें०) बेठी हरे परजंक में... ६. (का०) (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) (श्रु० नि०) (सु० ति०) (सु० स०) (का० प्र०) कहँ कै मन धीरौ ।

ऐसे में 'दास' बिसासिनि^१ दासी, जगाई^२ डुलाइ^३ किँवार-जँजोरा^४ ।
हाइ^५ अकारथ भौ सजँनी, मिलिबौ ब्रजनाथ कौ हाथ कौ हीरा^६ ॥*

वि० —“दासजी का यह छंद विपाद वा विपादन (क्योंकि काव्य-निर्णय की प्रतियों में दोनों ही नाम मिलते हैं, पर शुद्ध नाम इसका “विपादन” ही है) अलंकार की सान पर चढ़ा नायिका-भेदानुसार ‘स्वप्न-दर्शन’ का वर्णन बहुत सुंदर है। अतः आप का यह छंद नायिका-भेद के संग्रह ग्रंथों में दासजी के ‘शृंगार-निर्णय’ के अनुसार ‘सुंदरी-तिलक’ (भारतेंदु), ‘सुंदरी-मर्चस्व’ (पं० मन्नालाल) और काव्य-प्रभाकर (पं० जगन्नाथ प्रसाद भानु) आदि कितने-ही ग्रंथों में “स्वप्न-दर्शन” के उदाहरणों में ही संकलित मिलता है, जिससे इसकी सुंदरता असंदिग्ध है। साथ-ही तत्तत् स्थानों पर नीचे लिखे पाठानुसार है। निम्न-लिखित पाठ शृंगार-निर्णय का नहीं, काव्य-निर्णय का है। काव्य-निर्णय में मूल तथा पाठांतर में दिया हुआ पाठ है। शृंगार-निर्णयानुसार पाठ इस प्रकार है—

“मोहँन आयौ इहाँ सपने, मुसिकात और खात बिनोद सों बीरौ ।

बैठी हुती परजंक में हाँहूँ, उठी मिलिबे कहँ कै मँन - धीरौ ॥

ऐसे में 'दास' बिसासिन दासी, जगायौ डुलाइ किँवार - जँजोरौ ।

भूँठौ भयौ मिलिबौ ब्रजनाथ कौ, परी गयौ गिरि हाथ कौ हीरौ ॥

स्वप्न-दर्शन पूर्वानुराग के—“श्रवण, चित्र, स्वप्न और प्रत्यक्षादि चार दर्शनों में तीसरा दर्शन है। स्वप्न-दर्शन के अखाड़े में भी ब्रजभाषा के कवियों ने अनेक कलावाजियों के साथ उत्पात मचाया है। वह उत्पात देखने लायक है, जैसे—

“आए काँह द्वार आली, बेगि बठि देखौ धाइ,

काहू ये बात कही आँनद-सुधा-मई ।

केनिकौ दिनाँ की हिऐँ तपँन बुझाइबे कों,

हों - हूँ 'परसाद' प्यारे - देखँन तहाँ गई ॥

पा०—१. (सु० ति०) (सु० स०) (का० प्र०) बिसासिनी...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (शृ० नि०) जगायौ...। ३. (वें०) डुलाइ...। ४. (रा० पु० नी० सी०) हलाइ...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (शृ० नि०) (सु० ति०) (सु० स०) (का० प्र०) जँजोरी । ६. (का०) (शृ० नि०) (सु० ति०) (सु० स०) (का० प्र०) भूँठौ भयौ मिलिबौ ब्रजनाथ कौ, परी गयौ गिरि हाथ कौ हीरौ । (वें०) होइ अकारथ गयो सजनी, मिलिबौ ब्रजनाथ कौ हाथ कौ हीरौ । ६. (प्र०) (सं० पु० प्र०) हीरौ ।

* , शृ० नि० (दास) पृ० ६६, २८७ । सु० ति० (भारतेंदु) पृ० १६४, ६६१ । सु० स० (मन्नालाल) पृ० १८६, ४ । का० प्र० (भानु) पृ० ४२६ ।

सूँ ठी-सुख-सपनें में करँन न पायौ ए हो
 निरदई ऐसी मोहि तुरत दगा दई ।
 जौलों भरि-नैनन वौ मूरति निहारि देखों,
 तौ-लों नैन-छाँदि नोद-बैरिन बिदा भई ॥”

*

‘सपने में आयौ सखी, साँवरौ-सलोंनों वह,
 जिहि अंग-अंग’ सों अनंग कों लजायौ है ।
 मोहिनी-सी बातें कहि-कहि गहि-गहि बाँह,
 भाँति - भाँति हरख हजार उपजायौ है ॥
 कहै ‘सिबदत्त’ मो पै कछुनाँ कझौ-ई परै,
 बिरह-बियोग बिनाँ नाह नें भजायौ है ।
 जौलों हँसि-हँसि गरें लाऊँ-री रसिकराइ,
 तौ लों वा बजरमारे गजर - बजायौ है ॥”

*

*

सपने - हूँ सोबँन न दई निरदई दई,
 बिलपति रही जैसँ जल-बि न- भखियाँ ।
 ‘कुंदन’ सँदेसौ आयौ लाख खुसुदन कौ,
 सबै-मिखि दोरीं लेंक अँगन बिलखियाँ ॥
 बूके समाचार ना मुखागर सँनेसौ कछु,
 कागद लै कोरौ हाथ दीनों कहि सखियाँ ।
 छुतियाँ सों पतियाँ लगाइ बैठी बाँचिबे कों,
 जौ लों खोलोंखौंम तौ लों खुलिगई अँखियाँ ॥

*

‘काहु-काहु भाँति राति लागी-ही पलक तहाँ-
 सपने में आँनि केलि-रीति उँन ठाँनी-री ।
 आप दुरे जाइ मेरे नैनन - मुदाइ कछु,
 हों-हूँ बजमारी दूँदिबे कों अकुलाँनी-री ॥
 ऐरी मेरी आली, या निराली करता की गति,
 ‘द्विजदेव’ नैकज न परत पिछाँनी-री ।
 जौ-लों उठि आपनों पथिक-पिष दूँहों तौ-लों
 हाइ हूँन आँखिन सों नीद-ही हिराँनी-री ॥”

उदूँ कवियों ने भी इस बंदिश पर बहुत कुछ कहा है और जो कुछ कहा है उसमें नजाकत है—नफासत है, जैसे—

“जगाने, खुटकियाँ लेने, सताने कौन आता है।

यह छिप कर ख्वाब में अग्लाह जाने, कौन आता है ॥”

*

“वादे के अपने सच्चे थे, आते वह ख्वाब में।

‘नाज़िम’ तुम्हीं को नींद न आयी तमाम रात ॥”

*

“ख्वाब में उनको किसी ने रात छेड़ा है जरूर।

देखते हैं गौर से मुझको बुलाकर सामने ॥”

*

“ख्वाब में भी छिपाके मुँह आये।

उनकी शर्मो-हेजाब ने मारा ॥”

अथ संभव-असंभव अलंकार-लच्छन जथा—

बिँन-जौनेँ ऐसौ भयौ, ‘असंभवै’ पैहचौन।

जो यों होइ तौ होइ यों, ‘संभावना’ सुजौन ॥

वि०—“जहाँ बिना जाने कुछ का कुछ हाँना वर्णन किया जाय, अथवा जहाँ ऐसी बातों का वर्णन हो, जो संभव न होते हुए भी घट जाय, वहाँ “असंभव” और जहाँ यह कहा जाय कि यदि ऐसा होता तो वहाँ ‘संभव’ वा ‘संभावना’ अलंकार होता है।

असंभव-संभव अलंकारों का सबसे प्रथम वर्णन ‘चंद्रालोक’ में मिलता है, वहाँ इनके लक्षण—“असंभवोऽर्थ निरुक्तावसंभाव्यस्त्वर्थानं” (भूत वाक्य में जो क्रिया कही जाय, उस पर संदेहात्मक वाक्य कहना—असंभव) और “संभावना-यदीत्थं स्यादित्यूहोन्यप्रसिद्धये” (जब कुछ तर्क-वितर्क करके, यदि ऐसा हो तो ऐसा हो, यह निरूपण किया जाय तब—संभावना) कहा है। रुद्रट, भोज, मम्मट और रुयकादि अलंकाराचार्यों के उत्तर-काल में इसकी सृष्टि होने से इन दोनों का वर्गीकरण भी नहीं हुआ है। फिर भी बाद के कुछ आचार्यों ने इन दोनों की और विशेष कर ‘असंभव’ की गणना ‘विरोधमूलक’ अलंकारों में की है। संभावना अलंकार का वर्णन किसी ने किया है और किसी ने नहीं, अतएव उसका कोई वर्गीकरण नहीं मिलता। असंभव का विवरण “हिंदी-अलंकार ग्रंथों में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, सेठ अर्जुनदास केड़िया तथा बा० ब्रजरत्न दास के अलंकार-

मंजरी, भारती-भूषण और अलंकार-रत्न में तो मिलता है, पर संभव वा संभावना का नहीं। ब्रजभाषा-अलंकार ग्रंथों में प्रायः ये दोनों ही अलंकार मिलते हैं। अलंकार-सर्वस्व (रुय्यक-मंखक) और काव्य-प्रकाश (मम्मट) में असंभव अलंकार जैसे उदाहरण 'विरोधालंकार' के अंतर्गत दिखलाये हैं। कन्हैयालाल पोद्दार ने 'असंभव' की यह व्युत्पत्ति (लक्षण) लिखी है—“किसी अर्थ-सिद्धि की असंभवता वर्णन किये जाने को 'असंभव' कहते हैं।” यह लक्षण कविवर मतिराम जी के अलंकार-ग्रंथ 'ललित-ललाम' के अनुसार है, यथा—

“जहाँ अर्थ के सिद्धि कौ, सभव बचन न होइ।

तहाँ 'असंभव' होत है, बरँनत हैं सब कोइ॥”

केशवदास जी ने असंभव को 'असंभावितोपमा' रूप में मानते हुए 'संभावना' नहीं माना है। भाषा भूषण में संभावना के प्रति सह-उदाहरण कहा गया है—

“जौ यों होइ तौ, होइ यों, 'संभावना' बिचार।

बक्ता होतो सेस तौ, लहितो तो-गुन-पार॥

पद्माकरजी ने असंभव-संभावना के—“सु 'असंभव' जु असंभवित, कारज भयो दिखात” तथा 'जु यों होइ तौ होइ यों, यह संभावन जाँन' आदि लक्षण दिये हैं।”

प्रथम असंभव उदाहरन जथा—

छवि - मै है है कूबरी, पवि है हैं ए अंग।

ऊधौ^१, हँम जाँन्यों न ये, तुम है हौ हरि-संग॥

पुनः उदाहरन जथा—

हरि-इच्छा सब ते प्रबल, भिक्कम सकल अकाथ।

को^२ जाँनत^३ लुटि जाँइगी, अबला अरजुन-साथ॥

अस्य-तिलक

इहाँ अर्थान्तरन्यास के संकर कौ संकर है।

अथ संभावना-अलंकार उदाहरन जथा—

कस्तूरी-थपि-नाभि मृग^४, वाहि^५ दियौ विधि^६ मीच।

में विधि हों-हुँ तो उहि धरों, खल-जीभन के बीच॥

पा०—१ (वें०) उद्व...। २. (का०) (वें०) (स० पु० प्र०) किन जाँन्यों लुटि...।

३. (रा० पु० प्र०) जाँनी...। ४. (का०) (प्र०) विधि...। (वें०) अड विधि...। ५. (वें०)

(प्र०) (स० पु० प्र०) बादि दयो मृग मीच। ६. (का०) मृग...

पुनः उदाहरन जथा—

हुतो तोहि देंनों^१ हरि-हि^२, जौ पै^३ बिरह-सँ ताप ।
कुच-संकर दै बीच बलि, तौ क्यों कियौ मिलाप ॥

संभावना पुनः उदाहरन जथा—

आई मधु - जाँमिनी, न आए^३ मधुसूदन जू,
राति नाँ सिराति, द्यौस - बीतत बलाइ में ।
करते भली, जौ प्राँन करते पर्याँन आज,
ऐसे में^४ आली और देखिती नाँ उपाइ में ॥
कहा कहीं 'दास' मेरी होती तबै निसा जब,
राहू है^५ निसाकर^६ कों प्रसती बनाइ में ।
हर-हूँ कै जारि डर्यौ^७ मँनमथ, सो हरिजू के-
मँन-मथिबे कों होती मँनमथ जाइ में ॥

वि०—“असंभव अलंकार का निम्नलिखित छंद, जो किसी अज्ञात कवि की रम्य-रचना है सुंदर है, यथा—

‘यों दुख दै ब्रज-वासिन कों, ब्रज कों तजि कै मथुरा सुख पै हैं ।
वे रसकेलि-बिलासँन की, बन-कुंज न की बतियाँ बिसरें हैं ॥
जोग-सिखावन कों हँम कों, बहुरायों तुमसे उठि धावँन ऐ हैं ।
ऊधौ, नहीं हँम जानत-हों, मन - मोहँन कूबरी-हाथ बिकै हैं ॥’

और संभावना का, यथा—

“बाम-बाहु-फरकत मिलें, जौ हरि जीबँन-मूरि ।
तौ तो ही सों भेंटि हों, राखि दाँहिनी दूरि ॥”

—विहारी-सतसई

तोष कवि प्रणीत संभावना से संयुक्त ‘आगत्यतिका’ नायिका (प्रियतम-आगमन की सूचना मिलने पर प्रसन्न होने वाली) के कथन से उल्लसित यह छंद - भी सुंदर है, यथा—

“पंजनी-गढ़ाइ, चोंच सोंने-सों मढ़ाइ दै-हों,
कर-पर लाइ पर रुचि सों सुघरि हों ।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) दीवे...। (सं० पु० प्र०) दीबी...। २. (सं० पु० प्र०) यह...। ३. (सं० पु० प्र०) आयी...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) ऐसे में न आली और देखती उपाय में । ५. (वें०) (सं० पु० प्र०) है कै निसाकर...। ६. (का०) (वें०) निसाकर आसती बनाइ में । ७. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) जारि डारि, मनमथ हरिजू के...।

कहै 'कबि तोष' छिन अटक न लै हों कबौ
 कंचन - कटोरें अटा खीरि-भरि भरि हों ॥
 एरे काग, तेरे सुभ सगुन - सँजोग आज,
 मेरे पति आवें तौ बचैन तें न टरि हों ।
 करती करार, तौ न पैहलें करोंगी सब,
 अपने पिया कों केरि पाछें अंक - भरि हों ॥^१

*

“सुनके आमद उनकी अजखुदरफ्ता हो जाते हैं हम ।
 पेशवा लेने को जाना, कोई हमसे सोख जाय ॥”

अथ सँमुच्चै अलंकार लच्छन जथा—

एकै करता सिद्धि के^१, औरों होइ सहाइ ।
 बौहौत होइ इक बारि करि^२ द्वै अनमिल इक-भाइ ॥

*

ऐसी - भाँतिन जाँनिऐ, 'सँमुच्चयालंकार' ।

मुख्य एक लच्छन वहै^३, बौहौत भऐ इकवार ॥

वि०—“दासजी ने 'समुच्चय' तीन प्रकार का माना है । प्रथम वहाँ, 'जहाँ कार्य-सिद्धि के लिए एक कर्ता पर्याप्त होते हुए और भी उस प्रथम के सहायक हो जाँय ।' द्वितीय समुच्चय वहाँ “जहाँ एक बार ही बहुत से कर्ता व कारण एक-त्रित हो कर कार्य करें” तथा इसी प्रकार तृतीय समुच्चय वहाँ “जहाँ दो अनमिल (पृथक्-पृथक् भाव वाले) कर्ता एक होकर किसी कार्य को सिद्धि करें ।” काव्य-प्रकाश (संस्कृत) में श्री मम्मट ने इन तीनों भेदों के लक्षण-रूप कहा है—
 “तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन्नन्यत्रान्यत्तत्करं भवेत् । समुच्चयोऽसौ० । तस्य प्रस्तुतस्य कार्यस्य एकस्मिन्साधके स्थिते साधकांतराणि यत्र सभवंति स समुच्चयः ।”
 अर्थात् “प्रस्तुत कार्य की सिद्धि के एक हेतु के उपस्थित रहने पर भी जहाँ (उसको सिद्धि के लिए) और भी अनेक कारण कहे गये हों, वहाँ समुच्चय...।” साथ ही वहाँ इस प्रथम भेद के और भी भेद करते हुए कहा है—“यही समुच्चय सद्, असद् और सदसत् वस्तुओं के एकत्रित होने पर भी होता है और वहाँ—“सत्त्वन्वो युगपद्या गुणक्रियाः (एक प्रकार का और समुच्चय जहाँ गुण और क्रिया दोनों का एक साथ होना कहा जाय) के बाद ‘गुणौ च क्रिये च गुणे-

पा०—१. (का०) (बें०) (प्र०) कों...। २. (का०) (बें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) कै . । ३. (का०) (बें०) (प्र०) यही, ।

क्रिये च गुणक्रियाः” (जहाँ दो गुण दो क्रियाएँ तथा एक गुण एक क्रिया के साथ-साथ कथन) रूप तीन भेद और कहे हैं। युगपद्या (योगपद्य=एक साथ होना) शब्द का विश्लेषण करते हुए वहाँ (काव्य-प्रकाश में) कहा गया है कि “यह योग-पद्य (एक साथ होना) रूप समुच्चय केवल एक हो अधिकरण (आश्रय) वालों में, अथवा विभिन्न अधिकरण वालों में भी होता है यह ठीक नहीं, भिन्न-भिन्न अधिकरणों में भी समुच्चय होता है, परंतु समानाधिकरण और वैयधिकरण रूप दोनों दशाओं में भी समुच्चय होगा, यह नियम सिद्ध नहीं होता। (दे० काव्य-प्रकाश, हिं० व्या०—साहित्य-संमेलन)।

समुच्चय, आचार्य रुद्रट से लेकर सभी अलंकाराचार्यों ने स्वीकार किया है। इसलिए इसका वर्गीकरण प्रथम उभय-वास्तव और औपम्य वर्ग में, तदनंतर काव्य-न्याय रूप वाह्य-न्याय वर्ग में अथवा वाक्य-न्याय मूलक वर्ग में किया गया है।

समुच्चय वा अर्थ, एकत्रित—“एक साथ इकट्ठा होना” संस्कृत के आचार्य-वर्गों ने माना है। अस्तु इस व्याख्या-द्वारा किसी कार्य को सिद्ध करने के लिये एक कर्ता के विद्यमान दूसरे कर्ता भी परस्पर स्पर्धा-युक्त होकर पूर्व कार्य को सिद्ध करने के लिए एकत्रित हो जाते हैं, जो समुच्चय कहलाता है। इन आचार्यों ने समुच्चय, विकल्प-अलंकार के विपरीत माना है और कहा है—विकल्प में समान-बल वालों की एक-ही काल में एकत्रित स्थिति असंभव है, समुच्चय में नहीं। समुच्चय में समान बल वालों की एकत्रित स्थिति एक काल में होती है।

संस्कृत-ग्रंथों में ‘समुच्चय’ के भेद इस प्रकार कहे गये हैं—‘प्रथम’ समुच्चय (किसी कार्य के करने के लिये एक साधक के होते हुए दूसरे साधकों का कथन), द्वितीय समुच्चय (गुण, क्रिया अथवा गुण-क्रिया दोनों का एक-ही काल में वर्णन किया जाना)। इसके बाद प्रथम समुच्चय के—‘सद्योग’ (उत्तम साधकों का योग), ‘असद्योग’ (असत् साधकों का योग) और ‘सद्-असद् योग’ (सत्-असत् दोनों साधकों का योग) तीन भेद और किये गये हैं। प्रथम-कथित द्वितीय समुच्चय के भी ‘गुण-समुच्चय’, क्रिया-समुच्चय और गुण-क्रिया दोनों का समुच्चय रूप तीन भेद कहे गये हैं। इनके उदाहरण भी दिये हैं, साथ-ही ‘क्रिया-समुच्चय’ को ‘कारक-दीपक’ से पृथक् बतलाते हुए कहा है कि ‘कारक दीपक’ में भी समुच्चय की भाँति अनेक क्रियाओं का कथन किया जाता है, पर वे क्रमशः (आगे-पीछे) होती हैं और उक्त समुच्चय में सब क्रियाएँ एक साथ होती हैं। पर्याय के द्वितीय भेद में भी विविध वस्तुओं का क्रमशः एक आश्रय होता है, यहाँ एक साथ एकत्रित होकर। सहोक्ति में एक क्रिया में दो अर्थों का अन्वय—

एक का प्रधानता से द्वितीय का गौणता से होता है, पर समुच्चय में प्रधानता से ही सब का अन्वय होता है। वहाँ सहोक्ति में 'सह'—आदि वाचक-शब्द होते हैं, समुच्चय में नहीं।

ब्रजभाषा-अलंकार ग्रंथों में समुच्चय-भेदों के प्रति दो मत हैं। कुछ इसके तीन भेद '(जिनमें चिंतामणि-आदि आचार्य प्रधान हैं) और विशेष दो भेद (जिनमें भाषा-भूषण रचयिता जसवंत सिंह प्रधान हैं) मानते हैं। तीन भेद मानने वाले—“एक साधक के साथ अन्य साधक” रूप समुच्चय, सट्श जोग समुच्चय और गुण-गुण जोग समुच्चय—आदि तीन भेद और दो भेद मानने वाले, “एक साथ बहुत भाव-उत्पन्न समुच्चय और एक कार्य करने को अनेकों का समुच्चय” मानते हैं”

अथ प्रथम सँमुच्चै उदाहरन जथा—

दारँन-सितारँन के^१ तारँन की ताँनें मजु,
तैसिए मृदंगँन की धुँ^२नि-धँधकारती^३।
चँमकेँ कँनक - नग - भूषँन बँनकवारे,^४
तैसी धूँधरूँन का भँनक भँनकारती^५॥
'दास' गरबीली पग-ठौन, बंक भौह^६-नैन,
तैसिए चितौन बिहसँन^७ मोहि मारती।
बाँकी मृगनेँनी की अचूक गति लौन^८ मृदु,
हीरा-से^९ हिए कौं दूक-दूक करि डारती॥

अथ दुतीय सँमुच्चै उदाहरन जथा -

धँन, जोबँन, बल, अग्यता, मोह-मूल इक एक।
'दास' मिलें चारयौं तहाँ,^{१०} पैऐ कहाँ^{११} बिबेक॥

*

नाँतौ नाँचौ गर परथौ, कुसँग^{१२}-निबास, कु-भौन।
बँध्या-तिय के^{१३} कदु बचँन, दुखद घाइ कौ लौन॥

पा०—१. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) की... २. (का०) धुँधकारती।
३. (वें०) बने... ४. (वें०) भनँक मान-भारती। (सं० पु० प्र०)...मन-भारती। ५.
(का०) भ्रुव-नैन... (सं० पु० प्र०) भुव-नौनि .. (वें०) दास गरबीली पग मक बंक
भ्रुव-नौनि... ६. (का०) (वें०) (प्र०) सहसँन... ७. (प्र०) लौन... ८. (वें०)
सौं .. ९. (सं० पु० प्र०) जहाँ... १०. (सं० पु० प्र०) कहा... ११. (सं० पु०
प्र०) कुस गुनि बास... १२. (वें०) कौ..।

पूत सपूत, सुलच्छर्नी, तँन अरोग, धँन-धंध ।

स्वामि-कृपा, संगति सुमति, सौनों और सुगंध ॥

अस्य तिलक

इहाँ सँमुच्चै के तीसरे उदाहरन में “सौनों और सुगंध” ते ‘दृष्टांतालकार’ अपरांग है । अरु सब पढ़ेन में बहु भावेंन कौ गुंफेन है ।

वि०—“सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी ‘अलंकार-मंजरी’ में द्वितीय समुच्चय के प्रथम उदाहरण—“धँन, जोबँन, बल, अग्यता०...” को प्रथम समुच्चय के द्वितीय भेद असद्योग (असत् साधकों का योग होना) के उदाहरण में मान कर लिखा है—‘ धन-यौवनादि चारों में एक-ही उचितानुचित का विचार न रहने के लिये पर्याप्त है, पर यहाँ - ‘धन-यौवनादि’ चारों असतों का समुच्चय (इकट्ठा होना) कहा गया है ।’ हमारी अल्प बुद्धि से भी ये तीनों उदाहरण प्रथम समुच्चय के तीन भेद-स्वरूप—सत्, असत् और असदसत् (तृतीय छंद—सद्योग का, प्रथम छंद—असद्योग का और द्वितीय छंद सदसद्योग का) के उदाहरण हैं, जिससे समुच्चय के दोही भेद, जैसे कि भाषा-भूषण-आदि में वर्णन किये गये हैं बन जाते हैं, पर ‘काव्य-निर्णय’ की हस्त-लिखित विशेष - प्रतियों में उक्त संपूर्ण उदाहरणों को तीन भागों में विभक्त कर शीर्षकों में प्रथम, द्वितीय और तृतीय “समुच्चय उदाहरण जथा—” लिखा है, जो उचित नहीं है । साथ-ही इन तीनों छंदों का क्रम भी ठीक नहीं है । इनका क्रम प्रथम—“पूत-सपूत० ..”, द्वितीय—“ धँन-जोबँन०...” और तृतीय—“नाँतौ नींचौ०...” इस प्रकार होना चाहिये ।

दासजी-कृत प्रथम छंद—“धँन-जोबँनादि०” संस्कृत के इस नीति-वाक्य का सुंदर अनुवाद है, यथा—

“यौवनं धनसंपत्ति, प्रभुत्वमविवेकिता ।

एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयं ॥”

किसी अज्ञात कवि की निम्नलिखित रचना भी ऊपर लिखे नीति-वाक्य रूप सूक्ति का उदाहरण है— अनुवाद है, यथा—

“जोबँन, धँन, अविवेकिता, प्रभुता में कोउ एक ।

करै अनर्थ, यहाँ सबै, रह्यो न कछु बिदेक ॥”

अथ तृतीय सँमुच्चै-उदाहरन जथा—

संसै सकल चलाइकें, चलो मिलौन-पिय बाँम ।

अहँन-बदँन करि आपनों, सौत-बदँन करि स्याँम ॥

पा०—१ (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) सुलच्छर्नी...

वि०—“दासजी कृत तृतीय समुच्चय (द्वै अन्नमिल इक भाइ) स्वरूप यह छंद द्वितीय समुच्चय भेद-रूप, “गुण-समुच्चय” का है, जो अरुणता और श्यामतादि दो गुणों के—अन्नमिल योग का वर्णन है।

क्रिया-समुच्चय (द्वितीय समुच्चय का भेद विशेष) का उदाहरण स्व० बा० जगन्नाथदास ‘रत्नाकर’ रचित ‘उद्धवशतक’ का यह छंद भी सुंदर है, यथा—

“दीन-दसा देखि ब्रज-बाल्लनि की ऊबब कौ—

गरिगौ गुमान - ग्यान - गौरब गुडाने-से ।

कहै ‘रतनाकर’ न आए सुख दें न - नैन,—

नीर-भरि ल्याए भए सकुचि सिहांने-से ॥

सुखे-से, सँ मे-से- सकबक-से, सकेसे, थके,

भूले-से, अँ म-से, भबरे-से, भकुवाँने-से ।

हौले-से, हले-से, हूले-हूले-से, हिए में हाइ,

हारे-से, हरे-से, रहे हेरत डिहांने-से ॥”

अथ अन्योन्य-अलंकार लच्छन जथा—

होत परसपर जुगल सौ, सो ‘अन्योन्य’ सुखंद ।

“लसत चंद-सों जाँमिनी, जाँमिनि-हूँ सों चंद ॥”

वि० — “जहाँ युगल (दो) पदार्थों का परस्पर समान संबंध कथन हो—एक-ही क्रिया के द्वारा दो वस्तुओं की परस्पर कारणता का वर्णन हो वहाँ ‘अन्योन्य’ अलंकार कहा जाता है, जैसे—

“लसत चंद सों जाँमिनी, जाँमिनि हूँ सों चंद ।”

अन्योन्य का वर्णन सर्व प्रथम रुद्रट ने तदनंतर मम्मट ने और इनके पश्चात् रुय्यक ने किया है। अतएव अलंकार-वर्गीकरण में प्रथम रुद्रट ने इसे ‘वास्तव-वर्ग’ में, तत्पश्चात् रुय्यक ने ‘विरोध-मूलक वर्ग’ में इसकी गणना की है। कोई इसे ‘प्रकीर्ण’ वर्ग में भी मानते हैं, जो उपयुक्त नहीं है।

काव्य-प्रकाश में इसका लक्षण—“एक ही क्रिया द्वारा दो पदार्थों की परस्पर—एक-दूसरे की कारणता कहने को” कहा गया है। इसी प्रकार साहित्य-दर्पण में भी—“अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः करणं मिथः” (अन्योन्य तब, जब एक-ही क्रिया को परस्पर करे) लक्षण लिखा गया है और उदाहरण, जैसा

पा०—१. (का०) (वै०) (सं० पु० प्र०) ही...। २. (सं० पु० प्र०) ते...।
(सं० पु० प्र०—दि०) जाँमिनी सों ज्यों...।

दासजी ने दिया है “लसत चंद सों...” रूप — “रज-न्याशोभते चंद्रश्चंद्रेणापि निशीथिनी” दिया है ।

अन्योन्य का अर्थ—परस्पर है, अतएव यहाँ दो वस्तुओं को परस्पर एक जाति की क्रियाओं का उत्पादक कहा जाता है, क्योंकि दोनों-ही अन्योन्य रूप से एक-दूसरे में वही विशेषता उत्पन्न करते हैं, जो एक-दूसरे में हो—दोनों एक-दूसरे के प्रति वही कार्य करते हैं, जो एक-दूसरे के लिये समान रूप से हो, इत्यादि ।

केड़िया (अर्जुनदास) जी के भारती-भूषण में इसके तीन भेद—“जिसमें पारस्परिक कारणाता (एक-दूसरे के कारण होने) का वर्णन हो वहाँ, जिसमें परस्पर के उपकार का वर्णन हो वहाँ और जिसमें परस्पर समान व्यवहार (जैसा कोई करे वैसा-ही उसके साथ करना) करने का वर्णन हो वहाँ, कहे हैं और इनके पृथक्-पृथक् उदाहरण भी दिये गये हैं । अतः केड़िया जी द्वारा दिये गये इन भेदों पर पोद्दार कन्हैयालाल जी की संमति है कि “प्राचीनों की निर्दिष्ट—एक जाति की क्रियाओं का परस्पर में उत्पादक होना” रूप लक्षण में केड़िया जी कथित तीनों भेदों का समावेश हो जाता है, इसलिये उपकारात्मक तथा व्यवहारात्मक क्रियाओं का होना उदाहरणांतर मात्र है, पृथक्-पृथक् भेद नहीं, अतः ये (भेद) अनुपयुक्त हैं ।”

अन्योन्य के और उदाहरण जथा—

मोल-तोल कै' ठीक बँनि, इँन' किय सौँभ सकाँम ।
बौ' निसि बढवत लेति गथ, कहि-कह लालै-स्याँम ॥

हरि की औ हरि-दास की, 'दास' परसर रीति ।
देत ए उन्हें, वे इन्हें, कँनक-बिभूति सप्रीति ॥

ज्यों-ज्यों तँन-धारा किऐं, जल-प्यावति रिझिवारि ।
पिछै जात त्यों-स्यों पथिक, बिरली-ओख-सँभारि ॥

जातें स्याँमा-स्याँम की न वैसी अब आली, स्याँम—
स्याँमा-तकि भाजें, स्याँमा स्याँम सों जकी रहे ।

पा०—१. (रा० पु० प्र०) करि...। २. (प्र०) यह किय साहस काम । ३. (वें०) कहें । ४. (का०) (वें०) उन्हें...। ५. (का०) (प्र०) बिरली बेच सँवारि । (वें०) बिरलो बोल सँवारि ।

अब तौ लख्यौ-ई करै स्याँमा कौ बढँन स्याँम,
 स्याँम के बढँन लागी स्याँमा की टकी रहै ॥
 'दास' अब स्याँमा के सुभाइ मद छाके स्याँम,
 स्याँमा स्याँम-सोभा' के आसब-छकी रहै ।
 स्याँमा के बिलोचँन के हैं - रो स्याँम-तारे,
 औ स्याँमा स्याँम-लोचँन की लोहित लकीर है ॥*

वि०—“दासजी की इस अन्योन्यरूप अनुपम कृति पर किसी अज्ञात कवि का यह सुमधुर छंद भी अति प्रशंसनीय है—

“हों मुरली मुरलीधर की लई, मेरी लई मुरलीधर माला ।
 हों मुरली मुरलीधर की धरी, मेरी धरी मुरलीधर माला ॥
 हों मुरली मुरलीधर की दई, मेरी दई मुरलीधर माला ।
 हों मुरली मुरलीधर की भई, मेरी भए मुरलीधर माला ॥”

और “ज्यों-ज्यों तँन-धारा कियेँ”, रूप दासजी कथित छंद के मनोहर भाव पर सेठ कन्हैयालाल पोद्दार प्रयुक्त किसी संस्कृत-कवि की सूक्ति का अनुवाद-रूप यह छंद भी सुंदर है, यथा—

“छीदी-आँगुरिँ न पथिक ज्यों, पीवन लाग्यौ बारि ।

प्रपा-पालिका-हू करी, त्यों-त्यों पतरो धारि ॥”

यहाँ ‘प्रपापालिका’ और “छीदी-आँगुरिँ” का अर्थ है—‘प्याऊ-पिलाने वाली’ (स्त्री), तथा छिद्र—छेद-संयुक्त=प्रथक्-प्रथक् आँगुलियों द्वारा बनी ओक, अस्त-व्यस्त उँगलियों से बँधी ओक । इसी प्रकार दासजी के उक्त छंद में “तँन-धारा” का अर्थ है पतली-धार तथा “विरली-ओख” का अर्थ है, वही अस्त-व्यस्त उँगलियों से बँधी ओख, जिसमें पानी न ठहरे, बराबर जमीन पर गिरता चला जाय ।

अन्योन्यालंकार का उदाहरण मुरलीधर कवि रचित निम्नलिखित छंद भी बहुत सुंदर है, यथा—

“पाँनी लै पाँनि तू उसारति है बार - बार,

सुधा-लै प्रनाँम तोहि करत सिंधु - नंदनाँ ।

तू पूँजत आखत लै, वौ पूँजत नखत लै,

तू गहँ अलक, वौ गहँ तँम - छंदनाँ ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) सोमन । (स० पु० प्र०) सोम नीके...।

* का० का० (रा० च० सि०) पृ० ७५ ।

‘सुरजीधर सुकवि’ सेत चीर तँ धारयौ तँ नें,
वाहु के गरे में चाँदनी कौ परयौ फंदनी ।
चंद - बंदनी कों तू ठाढ़ी भई - री बाज,
तेरे मुख-चंद की करत चंद बंदनी ॥”

और इसी अलंकार में मतिराम कहते हैं—

“सकल सिंगार-साज संग लै सहेलिन कों,
सुंदरि मिलन चली आनंद के कंद कों ।
कवि ‘मतिराम’ मग करति मनोरथन,
पेख्यौ परजंक पै न प्यारे नंद-नंद कों ॥
नेह ते लगी है देह दाँहन दहत गोह,
बाग में विलोकि द्रुम-बेलिन के बृंद कों ।
चंद कों हंसत तब आयौ मुख-चंद,
अब चंद लाग्यौ हंसन तिया के मुख-चंद कों ॥”

अथ विकल्प अलंकार लच्छन जथा--

है ‘विकल्प’ यह कै वहै, यै निसचै जहँ राज ।

सबु-सीस, कै सस्त्र निज, भूमि गिराऊँ आज ॥

वि०—“जहाँ इस प्रकार का विकल्प हो कि ‘यह है, वा वह’ वहाँ ‘विकल्प’ अलंकार कहा जाता है । विकल्प का शब्दार्थ है—“अनेन वान्येनवेति विकल्पः” (कौटिल्य-अर्थशास्त्र) यह, या वह । यही नहीं, विकल्प का अर्थ विरोधी या विविध कल्पना भी किया जाता है, अर्थात् दो वस्तुओं में एक-ही वस्तु चाहे ‘यह या वह’ को मान्यता दी जाती है । तुल्य-बल वाली विविध एकत्रित-स्थितियों में विरोध होने के कारण सादृश्य-गर्भित विकल्प कहा जाता है और इसके वाचक शब्द हैं—“अथवा, आदि, कि, कै, किधों, कैधों वा ।”

संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में सबसे प्रथम रुय्यक आचार्य ने अपने अलंकार-‘सर्वस्व’ तथा ‘सूत्र’ में इस (विकल्प) का उल्लेख करते हुए इसे ‘काव्य-न्याय (वाह्यन्याय) मूलक वर्ग में (इसकी) गणना की है । कोई-कोई इसी ‘काव्य-न्याय’ का ‘वाक्य-न्याय’ भी नाम करण करते हैं । अलंकार-सर्वस्व और सूत्र के बाद चंद्रालोक में इसका नामोल्लेख—“विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरी युतः” (दो विरुद्ध क्रिया-भाव प्रकट करने वाले किसी एक क्रिया के वाचक शब्द के द्वारा चतुरतापूर्वक ‘यह, या वह’ कहने पर विकल्प) उक्त लक्षण बतलाते हुए किया गया है । साहित्य-दर्पण के कर्ता (रचयिता) विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भी चंद्रा-

लोक के पूर्ण लक्षण को उसी रूप-रंग में अपनाया है और उदाहरण दिया है—
नमयंतु शिरांसि धनूंषि बा०...“अर्थात्, “सत्रु सीस कै सस्त्र निज, भूमि-गिराऊँ
आज” जैसा दासजी ने कहा है ।

विकल्प में चार बातें—१, दो सदृश बल की वस्तुएँ, २, दोनों एक-ही
के द्वारा साथ-साथ न हो सकें, ३, ऐसा होने से दो में इच्छानुसार एक कर सके
और ४, दोनों में कल्पित सादृश्य हो, आवश्यक मानी जाती हैं । विकल्प,
केवल विकल्प होने पर अलंकार नहीं बनता, जैसे इस अलंकार-आशय के अनुसार
“भारती-भूषण” प्रयुक्त निम्न उदाहरण में—

“एती सुबास कहाँ अँनतै, बहकी इन भाँतिन को बरछै है ।

आबत है वह रोज सँमीर जिएँ-री सुगंधन कौ जु दलै है ॥

देखि अली, इन भाँतिन की अलि-भीरँन ओर सु काँनन छै है ।

कै उत फूलँन कौ बँन होइगौ, कै उँन कुँजन राधिका छै है ॥”

‘यहाँ केवल विकल्प है, विकल्प अलंकार नहीं । अलंकार रूप में विकल्प
वहीं होगा, जहाँ परस्पर विरोधो दो वस्तुओं की एकत्रित स्थिति असंभव होने
पर विरोध हो । इस उदाहरण में वायु के सुगंधित करने और मृगावली के होने
में श्री राधिका जी का और फूलों के बाग का (वहाँ) होना समान बल मात्र है ।
इनकी एकत्र स्थिति, असंभव न होने के कारण विरोध सूचित नहीं करती,
अपितु दोनों के एकत्र होने पर भी वायु का सुगंधित तथा मृगावली का वहाँ
होना संभव है ।” यह सेठ कन्हैयालाल जी का अभिमत है, क्योंकि विकल्प के
अलंकार रूप में यह निश्चय रहता है कि दो में से कोई एक अवश्य है ।
संदेह अलंकार में अनिश्चय होता है, यहाँ निश्चय, और यही इन दोनों की
विलगता है । विकल्प को समुच्चय अलंकार के विपरीत भी कहा जाता है,
क्योंकि विकल्प में समान बल वालों की एक-ही काल में एकत्र स्थिति का होना
असंभव कहा जाता है और समुच्चय में समान बल वालों की एक काल में
एकत्रित स्थिति का वर्णन किया जाता है ।”

विकल्प उदाहरन जथा—

जाइ उसासँन के सँग छूटि, कै^१ चंचला के चइ छूटि लै जाँहीं ।

चातक पातक^२ पच्छँन देंहि, कै^३ लेंहि घँने घँन जे घैहराँहीं ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) कि...। २. (प्र०) पातक लों हि मनोँ कि घनाघन जोँन
घने...। ३. (का०) (वें०) कि...।

‘दासजू’ कौन कुतर्क कियौ करै, जीब है एक-ही दूसरौ नौहीं ।
पौन लै अंतक भौन सिधारै, कै मारै मँनोभव लै सिर-माँहीं ॥

वि०—“विकल्प का उदाहरण सेठ कन्हैयालालजी प्रयुक्त अलंकार-मंजरी में, बीकानेर के अद्वितीय साहित्यिक महाराज पृथ्वीराजसिंह की उक्ति जो प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रतापसिंह के प्रति कही-लिखी गयी थी, उद्धृत की गयी है, यथा—

“पटकुँ मूँछाँ-पाण कै पटकुँ निज-तँन-करद ।

दीजै लिख दीबाण, हूँण दो-मइली बात इक ॥”

अर्थात् मैं “मूँछों पर हाथ पटकुँ ताव दूँ, या अपने शरीर पर तलवार पटकुँ (मारूँ), कृपया इन दोनों में एक बात लिख भेजिये ।”

अथ सहोक्ति, विनोक्ति औ प्रधिषेध अलंकार लच्छन जथा—

कछु-कछु संग ‘सहोक्ति’ कछु विन सुभ-असुभ ‘विनोक्ति’ ।

यै नहिँ, यै परतच्छ-ही, कहिये ‘प्रतिषेधोक्ति’ ॥

वि०—“दासजी ने इस छंद में तीन —“सहोक्ति, विनोक्ति और ‘प्रतिषेधोक्ति’ (प्रतिषेध) के लक्षण, क्रमशः—“जहाँ कुछ-कुछ संग कहा जाय, बिना सुभासुभ के कुछ कहा जाय तथा ये नहीं, ये प्रत्यक्ष रूप से कहा जाय,” कहे हैं, अर्थात् जहाँ एक साथ-ही दो वाक्यों का सह-आदि के बल पर आनंद को बढ़ाते हुए मनोरंजकता के साथ वर्णन किया जाय”, जहाँ कोई प्रस्तुत को किसी वस्तु के बिना शुभ और अशुभ रूप में कहा जाय” तथा—जहाँ किसी प्रसिद्ध अर्थ का—निषेध का, किसी विशेष अभिप्राय से निषेध किया जाय, वहाँ क्रमशः ‘सहोक्ति’, ‘विनोक्ति’ और ‘प्रतिषेध’ वा प्रतिषेधोक्ति कहे जाते हैं ।

सहोक्ति, सह—साथवाले भाव की उक्ति होती है, यह अलंकाराचार्यों का मत है, क्योंकि यहाँ सह-संगादि शब्दों के सामर्थ्य से एक अर्थ के अन्वय का बोधक शब्द दूसरे अर्थों के अन्वय का बोधक भी होता है । अर्थात् एक अर्थ का प्रधानता से तथा दूसरे अर्थ का अप्रधानता से एक-ही क्रिया में अन्वय कराता है और जहाँ दोनों-दोनों अर्थ प्रधान होते हैं, वहाँ ‘दीपक’ वा ‘तुल्ययोगिता’ अलंकार माने जाते हैं, क्योंकि इन दोनों (दीपक-तुल्ययोगिता) में भी उपमे-योपमानों का पृथक्-पृथक् वा एक साथ प्रधानता से एक क्रिया के साथ अन्वय होता है । यह अन्वय सहोक्ति की भाँति वहाँ प्रधान और अप्रधान भाव से नहीं होता, जोकि सहोक्ति में सह-आदि शब्दों के चमत्कारपूर्ण अर्थ में होना चाहिये,

किंतु साधारण वर्णन में 'सह-आदि शब्दों के रहने पर भी यह (सहोक्ति) अलंकार वहाँ नहीं बनता। सहोक्ति, अतिशयोक्ति का मिश्रण चाहती है, इसका विशद विवेचन करते हुए बा० ब्रजरत्न दास (अलंकार-रत्न) जी कहते हैं कि "राम, लक्ष्मण और सीता के साथ बन गये, इस कथन में सहोक्ति का वाचक 'साथ' शब्द के रहते हुए भी यहाँ सहोक्ति नहीं है, क्योंकि राम शब्द यहाँ कर्त्ता-कारक में है तथा प्रधान है, और लक्ष्मण तथा सीता शब्द अपादान-कारक में होने से अप्रधान हैं—गौण हैं। साथ-ही इस कथन में कोई उक्ति वैचित्र्य भी कविकल्पना द्वारा नयी नहीं की गई है। यहाँ 'साथ' शब्द केवल व्यक्ति-वाचक शब्दों का ही संबंध बतला रहा है, घटनाओं का नहीं, अतएव सहोक्ति भी नहीं। इसलिये सहोक्ति में अतिशयोक्ति का होना अत्यंत आवश्यक है। अतिशयोक्ति "अभेदाध्यवसाय-मूलक" वा कार्य-कारण के पौर्वापर्य से होती है, इसलिये सहोक्ति भी श्लेषाश्लेष युक्त दो रूपों में कही जाती है। यही बात साहित्य-दर्पण के कर्त्ता विश्वनाथ चक्रवर्ती भी कहते हैं, यथा —

“सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचक द्वयोः ।

सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत् ॥”

अर्थात्, “सह शब्दार्थ के बल से जहाँ एक शब्द दो अर्थों का वाचक हो वहाँ सहोक्ति और इसके मूल में अतिशयोक्ति अवश्य रहनी चाहिये..... इत्यादि ।”

तुल्ययोगिता से सहोक्ति की पृथक्ता दिखलाते हुए श्रीवामनाचार्य अपने काव्यालंकार सूत्र में कहते हैं—“वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधानंसहोक्तिः” अर्थात्, दो वस्तुओं की तुल्यकालीन (दो) क्रियाओं का एक (ही) पद से (एक साथ) कथन 'सहोक्ति' कही जाती है, “क्योंकि” दो वस्तुओं की तुल्यकालीन दो क्रियाओं का एक ही पद से कथन सहायक शब्द की सामर्थ्य से करना सहोक्ति है (काव्यालंकारसूत्र-वृत्ति—हिंदी-अनुवाद)।

विनोक्ति भी जब प्रस्तुत वस्तु किसी अन्य वस्तु के बिना अशोभन या नहीं अशोभन वर्णित की जाय, तब वहाँ होती है, क्योंकि इसका शब्दार्थ है—“किसी के बिना”। मूलतः इसमें भी कवि-कथन द्वारा उक्ति वैचित्र्य होना चाहिये। परिभाषा में—“शोभन है” न कहकर, ‘अशोभन’ नहीं कहा गया है जो सकारण है। इस पर साहित्य-दर्पणकार कहते हैं कि “अशोभन” का तात्पर्य यद्यपि वही शोभन है,—होता है, फिर भी वैसा न लिखने का कारण यह है कि वह वस्तु प्रकृत्या शोभन है, पर किसी अन्य वस्तु के सान्निध्य से अशोभन हो गयी है और उस अन्य वस्तु का सान्निध्य हटते-ही वह पुनः अपनी प्रकृत शोभा से सुशोभित

हो जायगी, क्योंकि उसकी अशोभनता स्वाभाविक नहीं, दूसरे के कारण से हैं—
अन्य के सान्निध्य से है। अतः विनोक्ति भी सहोक्ति की भाँति दो प्रकार की बन
जाती है। वैसे भी विनोक्ति सहोक्ति की विरोधी है, इसलिये इसके दो उदाहरण
होने ही चाहिये थे। ब्रजभाषा के अलंकार-ग्रंथ 'भाषा-भूषण' में महाराज जसवंत-
सिंह इन दोनों भेदों को सोदाहरण इस प्रकार कहते हैं, यथा —

“है ‘विनोक्ति’ है भाँति की, प्रस्तुत कछु बिँन छीन।

औ सोभा अधिकी लहै, प्रस्तुत कछु बिँन हीन ॥”

*

“हग खंजून-से, कंज-से, अंजून-बिँन सोभें न।

वाला सब गुँन सरस तू, रंच रुखाई है न ॥”

अर्थात् विनोक्ति दो प्रकार की है, प्रथम वहाँ “जहाँ प्रस्तुत (उपमेय)
‘किसी के बिना क्षीण (अशोभन) हो” तथा दूसरी वहाँ “जहाँ प्रस्तुत उपमेय
किसी वस्तु से हीन (रहित) हो कर अधिकाधिक शोभा पाए” और इन उभय-
विनोक्ति के क्रमशः उदाहरण जैसे — “नायिका के नेत्र खंजन और कमल से
सुंदर होते हुए भी बिना अंजन के शोभा युक्त नहीं, अर्थात् वे अंजन लगाते ने
के बाद अशोभन नहीं रह जाँयगे, अपितु उनकी शोभा अधिक बढ़ जायगी।
इस प्रकार “वह वाता, तनिक भी रुखाई न होने के कारण — “सब गुँन सरस”
है, सर्व गुण संपन्न है। यद्यपि यहाँ वाला (नायिका) स्वतः प्रकृत्या सर्व गुण-
संपन्न है, —सौंदर्य-युक्त है और उसमें रुद्धता (कठोरता) भी होती तो वह
अशोभन हो जाती, अतः रुद्धता का अभाव बतलाकर कवि ने यहाँ उसकी
अशोभनता दूर कर दी—उसकी शोभा को इस अभाव के वर्णन से और बढ़ा दिया।
यहाँ ‘बिना’ शब्द जो विनोक्ति का वाचक है, उसके कथन किये बिना भी उस
(बिना) के अर्थ को “है न” शब्द से व्यक्त कर वही भाव भर दिया गया है।
विनोक्ति के कभी-कभी ऐसे उदाहरण भी अधिक चमत्कार पूर्ण मिल जाते हैं,
जिनमें दोनों वस्तु एक-दूसरे के अभाव में शोभा-हीन कही जाती हैं, दोनों की
व्यर्थता कही जाती है, यथा —

“निरर्थक जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्ट तुहिनांशुर्बिबम्।

उत्पत्तिरिंदोरपि निष्फलैव दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येन ॥”

—साहित्य-दर्पण

कमलिनी का जन्म व्यर्थ-ही गया, जिसने शीतल किरणों वाले चंद्र-बिंब को
न देखा और चंद्र की उत्पत्ति भी निष्फल-ही हुई जिसने प्रफुल्लित कमलिनी के
दर्शन न किये।” ऐसे स्थलों पर विनोक्ति-मानना पंडितराज जगन्नाथ जी का भी

अभिमत है, आप भी ऐसे वर्णनों में विनोक्ति मानते हैं। यदि “निरर्थक जन्म गतं...” वाली विनोक्ति को और भी स्फुट रूप में कहा जा सकता है तो, यों जैसे—“सुंदर नेत्र, बिना अंजन के और अंजन बिना सुंदर नेत्र के शोभा नहीं पाते”...इत्यादि।

और प्रतिषेध, जहाँ किसी प्रसिद्ध अर्थ (निषेध) का—किसी विशेष अभिप्राय से फिर निषेध किया जाय, अथवा जहाँ किसी पदार्थ का प्रसिद्ध निषेध होते हुए भी अभिप्रायांतर से गर्भित पुनः निषेध किया जाय, कहा गया है, क्योंकि प्रतिषेध का अर्थ है—‘निषेध’। अस्तु, इसमें जिस बात का निषेध प्रसिद्ध हो उसका—जैसा पूर्व में लिख चुके हैं, फिर निषेध किया जाता है। यहाँ सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (अलंकार-मंजरी में) कहते हैं—“प्रसिद्ध निषेध का पुनः निषेध निरर्थक होने के कारण अर्थांतर-गर्भित निषेध में कुछ अधिक चमत्कार होने के कारण ही यह अलंकार पृथक् माना गया है।”

प्रतिषेध के—“मोहँन-कर मुरली नहीं, है कछु बड़ी बलाइ” जैसे भाप-भूषण के उदाहरण में अलंकाराचार्य ‘प्रतिषेध’ नहीं मानते, वहाँ वे कहते हैं कि “पूर्व कथित-लक्षणानुसार प्रतिषेध में किसी निषेध का पुनः निषेध किसी विशेष निषेध के प्रतिपादन के विचार से हो किया जाता है, वह यहाँ नहीं है। यहाँ मुरली का निषेध कर उसमें ‘बलाय’ का आरोप किया गया है, जिससे यहाँ प्रतिषेध न बन कर ‘अपन्हुति’ ही कही जायगी।

सहोक्ति को प्रथम भट्टि, भामह, दंडी, उद्भट और वामनादि अलंकाराचार्यों ने, ‘विनोक्ति’ को मम्मट और रुय्यक आचार्यों ने तथा प्रतिषेध को चंद्रालोककार ने सर्व प्रथम माना है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार अपनी अलंकार-मंजरी की भूमिका में, इस प्रतिषेध के जनक अपभ्रंश दीक्षित को जो चंद्रालोक रचयिता के समय से बाद के हैं, मानते हैं। साथ-ही टिप्पणी में नोट देते हैं कि यह अलंकार ‘यशस्कृत अलंकारोदाहरण’ में भी है। पोद्दार जी का यह उल्लेख उपयुक्त नहीं है, क्योंकि चंद्रालोक में प्रतिषेध का उदाहरण यों दिया गया है—

“प्रतिषेधः प्रसिद्धानां कारणानामनादरः।”

—चू० म० ५ वाँ श्लोक

जिससे ज्ञात होता है कि उक्त अलंकार के जनक अपभ्रंश दीक्षित जी नहीं, चंद्रालोक-कर्त्ता पीयूषवर्षी जयदेव हैं।

सहोक्ति को रुद्रट ने “औपम्य वर्ग” में, रुय्यक और उनके शिष्य मंखक ने सहोक्ति के साथ विनोक्ति को भी “गम्यमान औपम्य” वर्ग में, जो रुद्रट के औपम्य-वर्ग नाम का ही विशद रूप है, माना है। तत्पश्चात् ये सहोक्ति-विनोक्ति

साम्य-मूलक अलंकारों के भेदाभेद-प्रधान वर्गीकरण के अंतर्गत 'भेद-प्रधान वर्ग' में मानी गयीं हैं। कोई-कोई इन्हें सादृश्य-गम्यमान (जिसमें सादृश्य छिपा हुआ हो) वर्ग में भी मानते हैं, पर यह वर्ग 'भेद-प्रधान वर्ग' में समा जाता है। प्रतिषेध भी गूढार्थ-प्रतीति मूलक वर्ग में विभाजित किया हुआ मिलता है।”

अथ प्रथम “सहोक्ति” उदाहरन जथा—

जोग-बियोग खरौ हँम पै, वौ^१ कूर-अकूर के साथ-हीं आए।
भूँख औ प्यास सों भोग-बिलास लै 'दास' वे आपने संग सिधाए ॥
चीठी के संग बसीठी लै आइकें, ऊधौ हँमें वे^२ आज बताए।
काँन्ह के संग^३ सयौन सखा,^४ तुँम कूबरी^५-कूबर बीचि बिकाए ॥

*
फूलँ के सँग फूलि हैं रोंम, परागँ के सँग लाज-उड़ाइ है।
पल्लव-पुंज के सँग अली, हियरा^६ अनुराग के रंग रंगाइ है ॥
आयौ बसंत,^७ न कंत हितू, अब बीर-बदोंगी जो धीर-धराइ है।
साथ तरुँ के पातँ के, तरुनीन के प्राँन^८ निपात ह्वै जाइ है ॥*

वि० — “ये दोनों उदाहरण शुद्ध सहोक्ति के हैं, श्लेष-मिश्रित द्वितीय भेद के नहीं।”

अथ विनोक्ति उदाहरन जथा—

सूधे सुधा-सँने बोल सुहावने, सूधे^१ निहारिबौ नैन-सुधों हैं।
सूधे^२ सरोज-बँधे-से उरोज हैं, सूधे सुधा-निधि-सौ मुख जों हैं ॥
'दास जू' सूधे सुभाइ-सों लीन, सुधाई-भरे^३ सिगरे अँग सो हैं।
भाँवती चित्त भ्रमावती मेरौ, कहाँ ते भई^४ ए^५ सुधाई की भों हैं ॥

*

देस-बिँन भूपत, दिनेस-बिँन पंकज, फँनेस-

बिँन-मँनि, औ निसेस^{१३}-बिँन जाँमिनी।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) वहि...। २. (का०) (प्र०) वह...। (वें०) वह...। (सं० पु० प्र०) ऊधौ, वौही हमें...। ३. (वे०) साथ...। ४. (प्र०) ..तुम्हें निज कूबरी-कूबर...। ५. (वें०) कूबर...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (अ० म०) हियरौ। ७. (वें०) ..बसंत री कंत...। ८. (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (अ० म०) कोप निपात...। ९. (का०) (वें०) (प्र०) सूधौ ..। १०. (का०) (वें०) (प्र०) सुद्ध...। ११. (सं० पु० प्र०) भरी सिगरी...। १२. (का०) (वें०) भई-भई भोई। १३. (प्र० रि० ह०) विन ससि...।

* अ० म० (क० पो०) पृ० १६३।

दीप बिँन-नेह^१ (औ) सुगेह बिँन-संपत,
 (औ) देह-बिँन देही, घँन-मेह-बिँन दाँमिनी ॥
 कविता सुछंद-बिँन, मीन^२ जल-बृंद-बिँन,
 मालती मलिंद-बिँन, होति छाबि-छाँमिनी ।
 'दास, भगवंत-बिँन, संत अति व्याकुल,
 वसंत-बिँन लतिका^३, सुकंत-बिँन काँमिनी ॥*

*

नेगी बिँन-लोभ कौ, पटैत बिँन-छोभ^४ कौ,
 तपसी बिँन-सोभ^५ कौ, सत यों^६ ठैहराईए ।
 गेह बिँन-पंक कौ, सँनेह^७ बिँन-संक कौ,
 सदाँ बिँन-कलंक कौ सुवंस सुख-दाईए ॥
 बिद्या बिँन-दंभ सूत, आलस-बिहीन दूत,
 बिनाँ - कुबिसँन^८ पूत मँन^९ - मधि ल्याईए ।
 लोभ^{१०} - बिँन जप-जोग, 'दास' देह-बिँन-रोग,
 सोग-बिँन भोग बड़े भागँन ते पाईए ॥

वि०—“विनोक्ति के दो सुंदर उदाहरण “राजा डोडर मल” नवरत्न-सभा अकबर बादशाह और अमान कवि-कृत भी सुंदर हैं, यथा-‘डोडरमल—

गुँन-बिँन धँनु जैसेँ, गुरु-बिँन ग्याँन जैसेँ,
 माँन - बिँन दाँन जैसेँ, जल-बिँन सर है ।
 कंठ-बिँन गीत जैसेँ, हेत-बिँन प्रीत जैसेँ,
 बेस्या रस रस-रीति जैसेँ, फूल-बिँन तर है ॥
 तार-बिँन जत्र जैसेँ, स्याँने बिँन-मंत्र जैसेँ,
 नर-बिँन नारि जैसेँ, पूत-बिँन घर है ॥

पा०—१. (का०) गेह औ सनेह बिँन संपत, अदेह विन...। (वें०) (प्र०)
 (१० कु०) ..नेह औ सुगेह विन संपति अदेह विन देह...। (प्र०) .. सुदेह-विन देही
 घन...। २. (ष० ऋ० ह०) मालती मलिंद बिँन, सर अरबिंद-बिँन होत...। ३. (१०-
 कु०) कोकिल...। ४. (सं० पु० प्र०) छोह कौ...। ५. (सं० पु० प्र०) सोह...। (वें०)
 सोभा कौ...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) सतायौ...। ७. (का०) सनेही...। ८. (का०)
 (वें०) (प्र०) कुव्यसन...। ९. (का०) मध्य मनल्या...। (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०)
 मनि मधि—मन—मध्य . । १०. (वें०) लोग...

* , ष० रि० ह० (परमानंद सुहाने) पृ० २८, १ । १० कु० (म० अयो०) पृ० ११.
 ६ ।—रस-निरूपण ।

‘टोडर’ सुकबि. तैसैं मँन में बिचारि देखौ,
धर्म - बिँन धँन जैसैं, पंछी बिँन-पर है ॥

*

सुंदर सरीर होइ, महा रँनधीर होइ,
बीर होइ भीम-सौ भिरैया आठों जाँम कौ ।
गरुडौ गुमाँन होइ, भलौ सावधान होइ,
साँन होइ साहिबी प्रताप - पुंज-धौम कौ ॥
भनँत ‘अमाँन’ जौ पै मघवा महोप होइ,
दीप होइ बंस कौ जनैया गुँन-प्राँम कौ ।
सब गुँन-ग्याता होइ, जद्यपि बिधाता होइ,
दाता जौ न होइ तौ हमारे कौन काँम कौ ॥

अथ प्रतिषेध उदाहरन जाथ—

गैयँन-चरैबौ है^१ न, गिरि कौ उठैबौ है^२ न,
पावक-अँचैबौ हैं न, पाहँन कौ तारिबौ ।
धनुँष-चढ़ैबौ है^३ न, बसँन बढ़ैबौ है^४ न,
नाग - नाँथ* लैबौ है न, गनिका उधारिबौ ॥
मधुसुर-मारिबौ नाँ, बकासुर-बिदारिबौ नाँ,
बारँन - उधारिबौ^५ नाँ मँन में बिचारिबौ ।
हथौ पै^६ तौ न जइ है पेस, सुनों राँम-भुवनेस,
सब ते कठिन बेस, मेरे^७ क्लेस-टारिबौ ॥

“प्रतिषेध का निम्न-लिखित उदाहरण भी सुंदर हैं, यथा—

“ऐसी करौ करनून बलाइ ल्यों, नीकी बड़ाई लहौ जग तातें ।
आई नई तरनाई तिहारी-ई, ऐसे छके चितबौ दिँन-रातें ॥
लीजिये दाँन हो, दीजिये जाँन, तिहारी सबै हँम जाँनती घातें ।
जाँनो हँम जिनें वे बँनिता, जिनें सों तुँम ऐसी करौ बलि बातें ॥”

पा०—१.-२. (का०) (वें०) (प्र०) नहीं...। ३, ४. (का०) (वें०) (प्र०)
नहीं...। ५. (का०) (प्र०) नथि...। ६. (रा० पु० का०) उधारिबौ...। ७. (का०)
झाँ ते...। (वें०) झाँ ते है न जैबौ पेस...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु०
प्र०) मेरो...।

“माजू महारांनी कों बुलाबौ महाराज हूँ कों,
 लीजे मत केकई - सुँमित्रा के जिव कौ ।
 रात कों सपत रिषि हू के बीच बिलसत,
 सुनों उपदेस ता अरु धती के अपिय कौ ॥
 ‘सैनापति’ बिस्व में बखाने बिस्वामित्र नाँम,
 गुरु - बोलि बूझिऐ प्रबोध करें हिय कौ ।
 खोलिऐ निसंक यै धँनुष न संकर कौ,
 कुँबर मयंक - मुख कंकन है सिय कौ ॥

*

“पद - पखरिबौ चँहयों जबै बैदरभ - कुँमारी ।
 तबै सकुचि द्विज कहयों, नाँथ हँम दीन-भिखारी ॥
 अस आदर मम करौ नाँथ, सो कहा मरँम-गुनि ।
 हँम न होई सुकदेव-व्यास, नहिं गरग, कपिल मुनि ॥
 नहिं भृगु, नहिं नारद हुतें, दुरबास-हूँ मत जानिऐ ।
 हँम दीन सुदाँमां रंक हें, अजों नाँथ पैहचाँनिऐ ॥”

अथ विधि-अलंकार लच्छन जथा—

अलंकार ‘विधि’ सिद्धि कों, फेरि कीजिऐ सिद्ध ।

“भूपति है, भूपति वही, जाकें नीति समृद्ध ॥”

वि०—“जहाँ सिद्ध (विधि) को फिर सिद्ध किया जाय, किसी सिद्धार्थ को किसी विशेष अभिप्राय से पुनः सिद्ध किया जाय, वहाँ ‘विधि अलंकार’ होगा, यह दास जी का अभिमत है ।

विधि का अर्थ—‘विधान’ माना जाता है, अतएव जहाँ जिस वस्तु का विधान सिद्ध है, उसका फिर से अर्थांतर-गर्भित विधान किया जाता है । यह प्रतिषेध का प्रतिद्वंदी अलंकार है ।

इस अलंकार का उल्लेख अप्पय दोक्षित ने कुवलयानंद (संस्कृत) में किया है, अस्तु वहाँ इसका कोई वर्गीकरण नहीं है । फिर भी इस विधि अलंकार को प्रतिषेध का साथी (भले ही प्रतिद्वंदी है) होने के कारण इसे ‘गूढार्थ-प्रतीत मूल वर्ग’ में बिठाया जा सकता है ।”

विधि-उदाहरन जथा—

धरें काच-सिर औ करै, नग कौ पगँन बसेर ।
काच, काच है', नग नगै, मोल-तोल की बेर ॥

*

रे मँन, कौन्ह में लीन जु^२ होइ तौ, तो-हू कों में मँन में गुँनि^३ राखों ।
जीब जौ हाथ करै ब्रजनाथ तौ, तोहि में जीबँन हों^४ अभिलाखों ॥
अंग गुपाल के रंग-रँगै^५ तौ, हों अंग-लहे कौ महा-फल चाखों ।
'दासजू' धाँम है स्याँम कों राखै^६ तौ, तारिका तोहि में तारिका-भाँखों ॥

वि०—“विधि अलंकार से विभूषित 'गोकुल कवि' की यह सुंदर सूक्ति भी दर्शनीय है, जैसे—

“चौसर चंदैन सों चुपरे, सुचि कंचन की रुचि सों भरि भावें ।
उन्नत, पीन, कठोर महा, मकरध्वज के करि - कुंभ लजावें ॥
'गोकुल' कंचुकी-बीच दुरे, दुरि देखत ही कुलकाँन दुरावें ।
लागत हैं पिय के उर सों, तब ओज भरे-ते सरोज कशावें ॥”

अथ काव्यार्थापत्ति अलंकार लच्छन जथा—

यहै भयौ तौ यै कहा, या^७ विधि जहाँ बखौन ।
कहत काव्य-पद सहित तहँ, 'अरथापत्ति' सुजौन ॥

वि०—‘काव्यार्थापत्ति इस उल्लास का अंतिम अलंकार है, जिसका लक्षण दासजी मतानुसार—“यह हुआ तो यह क्यों नहीं” किया गया है । काव्यार्थापत्ति (अर्थापत्ति) को मुख्य तथा पीयूष-वर्ष जयदेवजी ने माना है । जयदेव के चंद्रा-लोक में इसका लक्षण अर्थापत्ति नामकरण के साथ—“अर्थापत्तिः स्वयं सिध्ये-त्पदार्थांतर वर्णन” (जहाँ स्वयं सिद्ध पदार्थ के अंतर का भी वर्णन हो) कहा गया है । अर्थात् जहाँ एक पद में वर्णित क्रिया-द्वारा दूसरे पद का अर्थ त्रिना कहे स्पष्ट हो जाय वहाँ अर्थापत्ति वा काव्यार्थापत्ति अलंकार कहना चाहिये । साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में कहा है —“दंडपूषिकयान्याथांगमोऽर्थापत्तिरिष्यते” (दंडपूषिका-न्याय से दूसरे अर्थ का ज्ञान होने पर—अर्थापत्ति) । इस ‘दंड-पूषिका-न्याय’ को अधिक स्फुट करते हुए वहाँ (साहित्य-दर्पण—हिंदी-विमला

पा०—१. (का०) (वें०) हीं...। २. (का०) जों...। (वें०) जो...। ३. (का०) (वें०) गनि...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) में...। ५. (स० पु० प्र०) रंगी । ६. (स० पु० प्र०) (वें०) राखौ...। ७. (का०) (वें०) रहि विधि कहा...। ८. (का०) यह.. ।

टीका में) लिखा गया है कि “किसी ने कहा कि ‘डंडा (लकड़ी) चूहे ने खा लिया” तो इसमें यह बात भी आ गयी कि उस डंडे में बँधे हुए अपूप (मालपूआ) भी उस (चूहे) ने खा लिये । जिसने डंडे जैसी कठोर वस्तु नहीं छोड़ी (उसे खा गया तो) वह मुलायम और मीठे पदार्थों को कब छोड़ने वाला है । इसी तुल्यन्याय से जहाँ अर्थांतर की अर्थ-बल से सिद्ध होती हो वहाँ ‘दंडपूपिका-न्याय’ कहलाता है । अस्तु, जहाँ किसी दुष्कर कार्य की सिद्धि के द्वारा सुकर (थोड़े परिश्रम से होने वाला) कार्य की सुगम सिद्धि इसी (दंडपूपिका-न्याय से) प्रकार प्रतीत होती हो वहीं इस न्याय (दंडपूपिका-न्याय) का विषय होता है । इसमें कहीं प्रकृत अर्थ से अप्रकृत अर्थ की और कहीं अप्रकृत से प्रकृत अर्थ की प्रतीति होती है ।”

काव्यार्थापत्ति का अर्थ है—काव्यगत अर्थ का आ पड़ना । इस लिये यहाँ किसी एक अर्थ की सिद्धि के सामर्थ्य से दूसरे अर्थ की सिद्धि स्वयं आ पड़ती है, —हो जाती है । अर्थात्, “जिसके द्वारा कोई कठिन कार्य सिद्ध हो सकता है तो उसके द्वारा सुगम कार्य का सिद्ध होना क्या कठिन है,” इस प्रकार वर्णन का किया जाता है ।

मीमांसिकों के अनुसार भी अर्थापत्ति एक प्रकार का वह ‘प्रमाण’ है—जिसके द्वारा एक बात के कथन से दूसरी बात स्वतः सिद्ध मान ली जाती हो । इसमें प्रथम उपपाद्य और द्वितीय उपपादक ज्ञान कहलाता है । उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि “केवल नियमित भोजन से रामदत्त अति स्वस्थ है,” इससे यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि अनियमित भोजन से उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता । न्याय-शास्त्र इसे अनुमान के भीतर मानता है, पृथक् प्रमाण नहीं । अतः साहित्य में अलंकाराचार्यों ने इस “उपपाद्योपपादक-ज्ञानानुसार ही इस काव्यार्थापत्ति अलंकार को माना है । काव्यार्थापत्ति का लक्षण कविकुल-कंठभरण (दूलह कवि) में स्पष्ट और सुंदर है, वहाँ बात की खाल नहीं खींची गयी है, यथा—“जहाँ कौन्यों अर्थ सों अर्थ को सिद्धि, “काव्य-अर्थापत्ति” अलंकार ऐसों निरवहा है ।” अर्थात् एक अर्थ से किसी दूसरे अर्थ की भी सिद्धि ही वहाँ...।

काव्यार्थापत्ति यदि श्लेष-मूलक हो तो अधिक शोभा-परक बन जाती है, यह कुछ अलंकाराचार्यों का अभिमत है, वास्तव में यह कथन सत्य के अधिक समीप है । कारण भी स्पष्ट है । कोई-कोई आचार्य अनुमानालंकार को काव्यार्थापत्ति-विषय-जनक मानते हैं, यह ठीक नहीं है । अनुमान में दो बातों के संबंध की भावना होना अनिवार्य है—व्याप्य-व्यापक की एकत्र स्थिति आवश्यक है, काव्यार्थापत्ति में नहीं । यही दोनों का पृक्-करण है ।”

अस्य उदाहरन जथा—

बंधुजीब के^१ दुख-दहै, अरु^२ न-अधर तब बाल ।
'दास' देत इहि^३ क्यों डरै, पर-जीवन-दुख-जाल ॥*

*
मैं, बारों वा^४ बदन पै, कोट-कोट सत इंद ।
ता पे ए बारें^५ कहा, 'दास' रुपईया-बृंद ॥

*
चंद-कला-सौ कहायौ कहूँ ते, नखच्छत-पंक^६ लग्यौ उर तेरे ।
सौतिहू कौ^७ मुख पूरन चंद-सौ, जोति-बिहीन भयौ जिहि नेरे ॥
कातिक-हू कौ कलानिधि पूरौ, कहा कहीं^८ सुंदरि तो-मुख हेरे ।
'दास' यहै अनुमानि कें अंग-सराहिबौ छोड़^९ दियौ मन मेरे ॥

वि०—“सूरत मिश्र का यह छंद भी 'काव्यार्थापत्ति' रूप सुंदर है, जिसे भारती-भूषण में उद्धृत किया गया है—

“जिँन-जिँन सीपन के मोती हुते अंगन में,
तरे ते-ते सीप-जीब करि चित-चाब को ।
जिँन-जिँन बृच्छन की लाख हुती भूषन में,
'सूरत' सु तरे तेहू छाँड़ि दुख-दाब को ॥
मीजत पटंबर, दिगबर भए हैं कीट,
चूरन ते गंडा-गज तरे निज भाब को ।
सुंदरि न-अन्हात ए हू हैं तरे ऐसैं, अरु
तिनकी कहा है, जानैं गंगा के प्रभाव को ॥”

और भक्त-प्रवर “रसखान”, जिनके प्रति कहा गया है—“इन मुसलमान कवि-जैन पर कोटन हिंदू बारिऐ” का काव्यार्थापत्ति के कलेवर में चमकता हुआ ऐसा अनुपम भूषण है, जिसे धारण करने के लिये सब का दिल मचल जाय, यथा—

“लाज कौ लेप चढाइ कें अंग पचीं सब सीख कौ मंत्र सुनाइ कें ।
गारहू हूँ ब्रज-लोग शक्यौ, करि औषध बेसक सोह दिबाइ कें ॥

पा०—१. (का०) (प्र०) कों दुखद है । २. (का०) यह...। (वें०) यों...।
३. (का०) (वें०) जा...। ४. (सं० पु० प्र०) ता पर वारें ए कहा...। ५. (का०)
(वें०) एक...। ६. (वें०) (सं० पु० प्र०) के मुख पूरन चंद-से, जोति बिहीन भये
तिहि...। ७. (का०) (वे०) (प्र०) कहि...। ८. (वें०) राखि लियौ मन...।

* सु० सं० (ला० भ० दी०) पृ० २६०, ७ ।

ऊधौ सों को 'रसखान' कहै, जिँ न चित्त धर्यौ तुमें ऐसे उपाह कें ।
कारे-बिसारे कौ चाँहैं उतार्यौ अरे बिष बाबरे राख-लगाइ कें ॥”

वास्तव में जैसा पूर्व में ऊपर लिखा—कहा गया है—“काव्यार्थापत्ति के कलेवर में चमकता हुआ ‘श्री रसखान’ जी का यह अनुपम आभूषण रूप वह उदाहरण है, जिस पर टिप्पणी करते हुए हृदय में विचार करना पड़ता है कि कहीं छंद-विभूषित भाव में शब्द-स्पर्श से खरोच न लग जाय—नस्तर जैसा दुरुपयोग न हो जाय, क्योंकि ‘ऊधौ सों को ‘रस-खान’ कहै०” से लेकर “कारे-बिसारे कौ चाँहैं०”...तक भव्य-भाव ही नहीं, उसके शब्दों में भी ऐसी मंजुलता है कि वह छूते-ही—उसके भाव-भरे शब्द जिह्वा पर आते-ही, मैले न हो जाँय यह आशंका उत्पन्न हो जाती है, वाह.. ।

कारे-बिसारे कौ चाँहैं उतार्यौ, अरे बिष बाबरे राख लगाइकें ।

*

“इति श्री सकल कलाधरकलाधरबंसावतंस श्री मन्महाराज-कुँमार
श्री बाबु हिंदूपति बिरचिते काव्य-निरनए सँमालंकारादि-
गुँन-दोष बरनन नाम पंचदसोऽस्त्रासः ।”

अथ सोलहवाँ उल्लास

अथ सूच्छम-अलंकारादि वरनन जथा —

सूच्छम, पिहित^१, औ जुक्ति गँनि, गूढोत्तर, गूढोक्ति ।
मिथ्याध्यवसायौ^२ ललित, विवृतोक्ति, व्याजोक्ति ॥

*

परिकर, परिकर - अंकुरौ, ए^३ ग्यारह अबरेखि ।

धुंनि के भेदँन में इन्हें, वस्तु व्यंग करि^४ लेखि ॥

वि०—“दासजी ने इस उल्लास में—“सूक्ष्म, पिहित, युक्ति, गूढोत्तर, गूढोक्ति, मिथ्याध्यवसित, ललित, विवृतोक्ति, व्याजोक्ति, परिकर और परिकरांकुर नाम के ग्यारह अलंकारों का वर्णन किया है। संस्कृत में ये अलंकार सर्व प्रथम रुद्रट ने “परिकर और सूक्ष्म को ‘वास्तव वर्ग’ में, पिहित को ‘अतिशय वर्ग’ में माना है। अन्य अलंकार उन्होंने नहीं माने हैं। इनके बाद रुय्यक और उनके शिष्य मंखक ने ‘परिकर’ को ‘गम्यमान औपम्य वर्ग’ के अंतर्गत ‘विशेषण-वैचित्र्य’ में, व्याजोक्ति को गूढार्थ-प्रतीति मूल वर्ग में माना है। इन्होंने भी परिकर और व्याजोक्ति के अतिरिक्त अन्य-अलंकारों को नहीं माना है। रुय्यक के बाद—‘परिकर, परिकरांकुर’ अर्थ-वैचित्र्य प्रधान वर्ग में, ‘पिहित और ललित’ लोकन्याय मूल वर्ग में, ‘सूक्ष्म, व्याजोक्ति, गूढोक्ति, विवृतोक्ति और मिथ्याध्यवसित’—‘गूढार्थ-प्रतीति-मूल वर्ग में माने गये हैं। युक्ति और गूढोत्तर का यहाँ उल्लेख नहीं है। युक्ति अलंकार का चंद्रालोक में तो उल्लेख मिलता है, गूढोत्तर का नहीं। गूढोत्तर अलंकार केवल ब्रजभाषा के अलंकार ग्रंथों में मिलता है। इस वर्गीकरण के अतिरिक्त एक और वर्गीकरण मिलता है, जिसमें—“सूक्ष्म, व्याजोक्ति, युक्ति, पिहित और ललित को गूढार्थ प्रतीति मूल वर्ग में और ‘गूढोक्ति, विवृतोक्ति, परिकर, परिकरांकुर और मिथ्याध्यवसित को उक्ति-चातुर्य मूल वर्ग में रखा है। गूढोत्तर यहाँ भी बहिष्कृत है। दासजी ने इन संपूर्ण अलंकारों को एक-ही वर्ग में “वनि-प्रधान” मानकर इनमें वस्तुव्यंग्य का कथन किया है।”

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) पिहितौ जुक्ति...। २. (प्र०) मिथ्याध्यवसित ललित अरु...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) ग्यारह...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) कै...।

अथ सूक्ष्मालंकार लच्छन जथा—

चतुर-चतुर बातें करें^१, संग्या कछु ठहराइ ।

तिहि^२ 'सूक्ष्म' भूषन कहैं, जे प्रवीन कबिराइ ॥

वि०—“दासजी के कथनानुसार सूक्ष्म अलंकार का लक्षण—‘किसी संज्ञा-विशेष को ठहरा कर विद्वज्जनों का चातुर्य-पूर्ण वार्त्तालाप है, जिसे पास बैठे हुए साधारण व्यक्ति न समझ सकें । संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में सूक्ष्म का कथन—दंडी ने, रुद्रट ने, भोज ने, मम्मट और रुय्यक ने किया है । आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश (संस्कृत) में इसका लक्षण यह दिया है—

“कुतोऽपिलक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाशयते ।

धर्मेण केनचिद्यत्र तत्सूक्ष्मं परिचक्षते ॥”

अर्थात् “जहाँ किसी शापक कारण (आकार—आकृति वा संकेत) द्वारा कोई सूक्ष्म (केवल सहृदय व्यक्तियों के जानने योग्य) वस्तु किसी धर्म (आकृति वा संकेत) से अन्य के प्रति प्रकट की जाय तो वहाँ सूक्ष्मालंकार है ।” साथ-ही यहाँ ‘शापक-कारण’ की विपद ब्याख्या करते हुए कहा गया है कि “यहाँ ‘शापक-कारण’ से तात्पर्य ‘आकार’ या ‘संकेत’ से है और ‘सूक्ष्म शब्द से तात्पर्य उस अर्थ से है जिसे अत्यंत तीक्ष्ण बुद्धिवाले सहृदय व्यक्ति-ही समझ सकें ।” सूक्ष्म की इस परिभाषा-द्वारा इसके ‘आकार से लक्षित होने वाला’ और ‘संकेत-द्वारा लक्षित होने वाला’ दो भेद हो जाते हैं । साहित्य-दर्पण में भी इसके ऊपर लिखे दोनों भेदों का उल्लेख है ।

सूक्ष्म का अर्थ है—महीन, बहुत बारीक, जिसे साधारण बुद्धिवाला व्यक्ति न समझ सके और जिसे समझने के लिये तीक्ष्ण-बुद्धिवाला व्यक्ति ही चाहिये । अथवा तीक्ष्ण-बुद्धि के द्वारा सहृदय व्यक्तियों के जानने योग्य रहस्य, जैसा कि ऊपर काव्य-प्रकाशकार का मत है । अतएव आकार वा संकेत (इंगित) द्वारा ज्ञात सूक्ष्म रहस्य को विदग्धतापूर्ण युक्ति से जहाँ सूचित किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है । यहाँ आकार से मतलब है—भाव-भंगिमा, जो अंग-प्रत्यंग रूप विशेष संस्थान से सूचित होता है । संकेत से—इंगित से तात्पर्य है चेष्टा, इशारा । साथ-ही सूक्ष्म में तीन बातें भी आवश्यक है—‘जिसका रहस्य है वह और उसे जानकर सूचित करनेवाला उभय व्यक्ति का होना, आकार या इंगित से रहस्य ज्ञात कर लेना और इस रहस्य-ज्ञान को ऐसी युक्ति से उस पर सूचित करना कि साधारण व्यक्ति न समझ सके ।

संस्कृत के अलंकार-ग्रंथों में जैसा पूर्व में लिख चुके हैं—सूक्ष्म, चेष्टा और आकरा-द्वारा लक्षित होने के कारण उभय-भेदात्मक है। अतएव आकार-लक्षित-सूक्ष्म-अर्थ के ज्ञाता-द्वारा साकूत चेष्टा की जाने में कुवलयानंदकार ‘पिहित’ अलंकार मानते हैं। यही नहीं, वहाँ (कुवलयानंद में) इंगित आकार के अतिरिक्त जहाँ उक्ति-द्वारा भी, सूक्ष्म-अर्थ के प्रदर्शित किये जाने पर भी उक्त अलंकार माना है।” ब्रजभाषा-साहित्य में इसका एक-ही भेद कथन किया गया है, उदाहरण तीनों के मिल जाते हैं।”

अथ सूक्ष्मालंकार उदाहरण जथा—

आज चंदभागा वा^१ चंद-बदनी पै अली^२,
निरतन करति आई^३ मोर के परन कों ।
वाहि^४ धों सँमझि कहा बेंनी-गहि रही तब,
बौ-हू^५ दरसायौ - रो बँधूक के दरन कों ॥
‘दास’ वहि^६ परस्यौ कहा धों उरजात, उहि—
परस्यौ कहा धों दुहूँ^७ आपने करन कों ।
नागरी-गुँनागरी चलति भई ताही छिन,
गागरी लै तीर^८ जँमुनाँ जल-भरन कों ॥

वि०—“सूक्ष्मालंकार के दो नीचे लिखे छंद भी हमारी समझ से बहुत सुंदर हैं। प्रथम है, गो० तुलसीदासजी का यथा—

“गौतम-तिय-गति सुरति करि, नहि परसत पद पाँनि ।
मँन-बिहँसे रघुवंस-मँनि, प्रीति अलौकिक जानि ॥

और द्वितीय ब्रजभाषा के कवि कालिदास का, यथा—

“प्रथम-सँमागँम के औसर नबेली-बाल,
सकल कलान करि प्यारे कों रिभायौ है ।
देखि चतुराई, मँन - सोच भयौ पीतम के,
लखि पर - नारि मँन - संभ्रम-भुलायौ है ॥

पा०—१. (का) (सं० पु० प्र०) उहि...। (वें०) (प्र०) वहि...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) अली...। ३. (का०) (प्र०) आई...। ४. (का०) (वें०) यह...। (प्र०) वह...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) बाहू...। ६. (का०) (वें०) यहि...। (सं० पु० प्र०) इहि...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) दोऊ...। (सं० पु० प्र०) उहूँ...। ८. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) रीती...।

‘कालिदास’ ताही समें निपट प्रबॉन लिया,

काजर लै भीति - माँहि चित्रक बनायौ है ।

व्यात लिखी सिंघनीं, निकट गजराज लिख्यौ,

जॉनि ते निकर, छॉना मस्तक पै धायौ है ॥”

गोस्वामीजी की रम्य रचना पर कुछ व्याख्या, अलंकार-निरदर्शन अनुचित हैं, क्योंकि वह भक्त-हृदयों का गुप्त शिरोभूषण है। कालिदासजी की रचना में यह अलंकार कुछ गूढ़ है। अस्तु, ‘समस्त रति-कोविदा’ नायिका ने नायक को भ्रमित देख प्रसवती सिंहनी का बालक समीप में खड़े गजराज के मस्तक पर लिखकर (सूक्ष्मालंकार-द्वारा) यह जनाया कि जिस प्रकार सिंह - सावक जन्म पाते हो अपने स्वभावानुसार गजराज पर आक्रमण करता है, वही क्रिया स्वाभाविक रूप में हमारी है।”

अथ पिहित-अलंकार लच्छन जथा —

जहाँ छिपी पर-बात कों, जॉनि जँनावै कोइ ।

तहाँ ‘पिहित’ भूषँन कहँ, छिपी’ पहेरी सोइ ॥

वि—“जहाँ कोई किसी की (गुप्त) बात को जानकर जनावे—प्रकट करे, वहाँ ‘पिहित’ अलंकार होता है। भाषा-भूषण में भी पिहित का लक्षण इसी प्रकार—“जहाँ किसी की छिपी (गुप्त) बात को जानकर कोई छिपा भाव प्रकट किया जाय” वहाँ ‘पिहित’, यथा —

‘पिहित’ छिपी पर-बात कों, जॉनि दिखावै भाइ ।”

ब्रजभाषा में पिहित के ऐसे-ही मिलते-जुलते लक्षण हैं। ये लक्षण चंद्रालोक-ने अनुसार हैं। संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में पिहित के शब्दार्थ (आच्छादन करना—किसी दूसरे पदार्थ को ढक लेना) को लक्ष् में रख “जहाँ किसी आश्रय का एक-गुण दूसरे असमान गुण को आच्छादित कर ले और उसे आश्रय समझ कर कार्यतः प्रकट कर दे” वहाँ ‘पिहित-अलंकार’ कहा है, क्योंकि इसमें एक आश्रय (अधिकरण) में रहने वाला गुण अपनी प्रबलता से दूसरी वस्तु को—ऐसी वस्तु को जो समान न हो, ढक लेता है। लक्षण में यहाँ ‘असमान’ का प्रयोग है—कथन है, जो उसे मीलितालंकार से पृथक् करता है। मीलित में समान गुण-द्वारा दूसरी वस्तु का तिरोधान होता है, पिहित में नहीं। पिहित में एक गुण दूसरे गुण को, जो सदृश न हो—ठीक उस जैसा न हो, अपनी प्रबलता से ढँक लेता

है.....। यदि ब्रजभाषा के अलंकाराचार्यों के अनुसार लक्षण जो ऊपर दासजी ने कहा है, मान लिया जाय तो 'पिहित' के नामार्थ का कोई चमत्कार नहीं रहता और न सूक्ष्मालंकार के साथ उसकी कोई पृथक्ता-ही प्रदर्शित होती है। यदि दोनों गुण समान हों और एक दूसरे को ढंक लें तब वहाँ मीलित और कारण-वश प्रकट होने पर 'उन्मीलित' बन जाता है। एक उदाहरण जैसे—

“बिरह-जनित कसता सखी, तन-द्युति में छिपि जाइ।”

यहाँ नायिका के तन-रूप एक-ही आश्रय में कृशता और तन-द्युति दोनों ही हैं और वे असमान भी हैं। तन-द्युति—द्वारा शरीर की कृशता आच्छादित है, वह ज्ञात नहीं होती—तन-द्युति के आगे कृशता की ओर दृष्टि-ही नहीं जाती, किंतु नायिका की हरदम सामीप्य रहने वाली सखी (सहचरी) जान लेती है। यहाँ कृशता और तन-द्युति समान गुण-संपन्न नहीं हैं, किंतु वे एक दूसरे के विपरीत हैं—पद-तल एवं जावक की लाली के सदृश समान गुणवाली नहीं हैं। इसलिये इस —“बिरह-जनित०”...दोहार्ध में मीलित वा उन्मीलित नहीं कहा जा सकता। सूक्ष्म भी यहाँ नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म-लक्षणानुसार यहाँ किसी एक संकेत या रहस्य के समझने की बात इसमें नहीं है।”

पिहित अलंकार रुद्रट, मम्मट और रुय्यक-आचार्यों ने माना है। अतः इसका उल्लेख रुद्रट-द्वारा ‘अतिशय वर्ग’ के अंतर्गत लिखा है। रुय्यक ने इसका कोई भी वर्गीकरण (इसे मानते हुए भी) नहीं किया है, क्यों नहीं किया ? इसका भी उत्तर नहीं मिलता। बाद में इसका उल्लेख “लोक-न्याय मूल वर्ग में तथा गूढार्थ प्रतीति-मूल वर्ग में मिलता है। पिहित के मम्मट द्वारा मान्य रूप में सेठ कन्हैयालाल जी कहते हैं—मम्मट के काव्य-प्रकाश में इसका कोई उल्लेख नहीं है।” काव्य-निर्णय की किसी-किसी (हस्त-लिखित) प्रति में ‘पिहित’ के स्थान पर “बिहित” नाम भी मिलता है।

अस्य उदाहरन जथा—

लाल-भाल रँग लाल लखि, बाल न बोली बोल ।
लज्जित किय^१ तिन दृगँ कों, करि साँमुँहें कपोल ॥

*

परँम पियासी पदँम-दृग,^२ प्रबिसी आतुर नीर ।
अंजलि-भरि पुँनि^३ तजि दियौ, पियौ न गंगा-नीर ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) लजित कियौ ता दृगन कों, कै...।
२. (सं० पु० प्र०) परम पया पदुम-दृगी । ३. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) क्यों...।

अस्य तिलक

इहाँ नायिका नें हाथ की लाली सों नोर (जल) रक्त (लोह) जाँन्वों,
ताते नाहीं पियो.... ।

❀

केलि-फैल^१ में 'दास जू', मँनि-मै-मंदिर दार ।
बिँन-अपराधै^२ रँमन कों, कीन्हों चरँन-प्रहार ॥

अस्य तिलक

इहाँ नायिका नें रमँन (प्रियतम) के संग 'मनि-मंदिर' में—(मणि-मंदिर
के प्रतिबिंबों में नायक के साथ भ्रम-वश) आप-सम और कों देख्यौ ताते... ।

अथ 'युक्ति-अलंकार'^३ लच्छन जथा—

क्रिया-चातुरी सों जहाँ, करै^४ बात कों गोप ।

ताहि 'युक्ति'^५ भूषँन कहैं, जिन्हें काव्य की चोप ॥

वि०—“जहाँ क्रिया-चातुर्य से किसी बात को—गुप्त रहस्य को छिपाया
जाय वहाँ 'युक्ति' भूषण (अलंकार) होता है । अर्थात् जहाँ कोई क्रिया कर
(आंतरिक) मर्म छिपाया जाय वहाँ यह अलंकार माना जाता है ।

युक्ति अलंकार का प्रथम उल्लेख चंद्रालोक में ही मिलता है । वहाँ उसका
लक्षण—“युक्तिर्विशेषसिद्धिश्चेद्बिचित्रार्थतरान्वयात्” (दोनों—उपमानोपमेय
के संबंध को दिखलाते हुए उपमेय में विशेष चमत्कार दिखलाना) कहा है ।
यह लक्षण ब्रजभाषा के आचार्यों से नहीं मिलता । कोई-कोई ब्रजभाषा-आचार्य
इसे “गुप्तालंकार” के नाम से भी बोलते हैं ।”

अस्य उदाहरन जथा—

होरी की रँन बिताइ^६ कहूँ, प्रिय-पीतँम भोर-हीं आवत जोयौ ।

नँक न बाल जँनात^७ भई, जऊ कोप कौ बीज गयौ हिय-बोयौ ॥

'दास जू' दै-दै गुलाल की मारँन, अंकुरिबौ वा^८ बीज कौ खोयौ ।

भाँवते^९ भाल कौ जाबक, ओठ कौ अँजँन, ही कौ नखच्छत गोयौ ॥*

वा०—१. (का०)...कला...। (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) ..फैल-हूँ...। २. (का०)
४ (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) भिन पराध क्याँ...। ३. (स० पु० प्र०) गुप्तालंकार । ४. (स० पु०
प्र०) करत...। ५. (स० पु० प्र०) गुप्त...। ६. (शृ० नि०) बिहाई कहूँ, उठि भोर-हीं
भाँवतौ आवत...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) जनाई...। (शृ० नि०) जनाई...। ८. (प्र०)
हित...। ९. (का०) (व०) (शृ० नि०) उहि...। (प्र०) यहि...। १० (वें०) भावतौ ओठ
कौ अजन, भाल कौ जाबक, ही कौ नखच्छत मोयौ ।

* शृ० नि० (दास) पृ० ६१, १८१ ।

वि०—“युक्ति अलंकार के उदाहरण “मुग्धा-प्रवृत्त्यत्यंतिका” (प्रियतम-जन्य भविष्यत्वियोग को आशंका में दुःखित) नायिका के अंतर्गत बहुत से सुंदर-सुंदर उदाहरण भरे पड़े हैं, जैसे—

“जा दिँन ते चलिबे की चरचा चलाई तुम,
ता-दिँन ते वाके पियराई तँन-छाई है ।
‘कहै मतिराम’ छोड़े भूषँन, बसँन, पाँन,
सखिँन-सों खेलँन - हँसन - बिसराई है ॥
आई रितु सुरभि-सुहाई, प्रीति वाके चित्त,
ऐसे में चलौ लाल, राब-री बढाई है ।
सोबत न रँन, दिँन-रोबत रहति बाल,
बूझे ते कहति — “माइके की सुधि आई है ॥”

युक्ति, युक्ति-युक्त है, पर हमारी समझ से गो० तुलसीदास कृत मानस में निम्न-लिखित चौपाई इस अलंकार की सबसे सुंदर उदाहरण कही जा सकती है, यथा—

“बहुरि बढँन-बिधु अचल-ढाँकी, पिय-तँन चितै भोंह करि बाँकी ।
खँजँन-मंजु तिरीछे नँननि, निज-पति कहे तिँन-हि सिय-सँननि ॥”

यह छंद दासजी ने अपने “शृंगार निर्णय” में भी “प्रौढाधीरा” नायिका के उदाहरण में दिया है। युक्ति अलंकार का उदाहरण ‘प्रताप’ कवि का भी सुंदर है, यथा—

“पीतम-सग प्रबीन तिया, रस-केलि-प्रसंगँन में अनुरागी ।
चुबँन औ परिरभँन के बिपरीत-बिलासँन में निसि जागी ॥
सेज-परी बिलसै रस-खाँनि, सबै सुख-माँनि हिऐं रस-पागी ।
मोद-मई मुकताँन के मंजुल, काहे ते हार-उतारँन लागी ॥”

अथवा—

“केसर-रंग चुकै जब-हीं, तब लै कर ताही में नीर-मिलाबै ।
धूम-पटात-सी जानत-हीं, तब लाल के गाल गुलाल-लगाबै ॥
‘माँखन’ गारिकें, गीतँन-गाइकें, गेद-चलाइकें, बाद-बदाबै ।
छाँड़ि कें लाइली होरी कौ औसर जाँन धरै छिन एक न आबै ॥”

युक्ति का उदाहरण मतिराम जी का भी सुंदर है, यथा—

“लेंन कों फूल निकुंजँन-माँझि गयौ मिलि गोपिँन कौ गँन भारौ ।
नंद-लला तिय के हिय में ‘मतिराम’ तहाँ रग-बाँन लुभायौ ॥
गेह चलीं सखियाँ-सिगरीं, चित्त सुंदर - साँवरे - रूप लुभायौ ।
आँखिन पूरि कटीले कपोलँन, कंटक कोंमल पाँइ चुभायौ ॥”

“जाते हो तो जाइये, मुझ-मुझ न देखो इस तरफ़ ।
यह सितम, हम पर न कोजे बाद आने के लिये ॥”

अथ गूढोत्तर—अलंकार लच्छन जथा—

अभिप्राइ के^१ सहित जो ऊतरु काहू^२ देख ।

ताहि ‘गूढ-उत्तर’ कहें^३ जाँन सुँमति-जँन लेइ ॥

वि०—“जब किसी को साभिप्राय (गूढ) उत्तर दिया जाय—किसी गूढ-भाव से युक्त उत्तर दिया जाय, वहाँ ‘गूढोत्तर’ अलंकार कहा जाता है। यही लक्षण संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में इस प्रकार मिलता है—“किंचिदाकृतसहित-स्याद्गूढोत्तरमुत्तरम्”। अतएव यह अलंकार “अपन्हव-मूलक वर्ग” में विभक्त किया जा सकता है।”

अस्य उदाहरन जथा—

नीर के कारँन आई अकेलिऐ^४, भीर-परें सँग कौन कौ लीजै ।

छाँ-हूँ न कोऊ, गयौ^५ दिबसौ-ऊ, अकेलें उठात^६-घरा पट-भीजै ॥

‘दास’ इतै लिरवाँन^७ कों ल्याइ, भलें^८ जल-न्हाइऐ, प्याइऐ, पीजै ।

ए तौ निहोरौ हँमारौ करौ^९, घट-ऊपर नेंक घरा^{१०} धरि दीजै ॥*

वि०—‘गूढोत्तर-अलंकार के उदाहरण प्रायः “वचन-विदग्धा” (वचनैन की रचनान सों, जो साधै निज काज) या “स्वयंदूतिका” (रमणार्थ स्वयं दूति-पन करने वाली) नायिका के वर्णनों में किये जाते हैं, जैसे ऊपर लिखा दासजी का उदाहरण। अस्तु, दासजी का यह उदाहरण नायिका-भेदानुसार वचन-विदग्धा नायिका की उक्ति स्वरूप है। स्वयंदूतिका ? यथा—

पा०—१. (का०) (वें०) त...। (सं० पु० प्र०) अभिप्राइ सँजुन किएँ, ऊतरु...।
२. (का०) (वें०) (प्र०) कोऊ...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) कहत...। ४.
(वें०) अकेली पै...। ५. (वें०) (सं० पु०) नया...। (प्र०) न घौस कछु
है, अकेले...। ६. (का०) (प्र०) (शृ० नि०) उठाएँ घरौ...। (वें०) उठाइ
घड़ौ...। (रा० पु० प्र०) उठातौ...। ७. (वें०) लिरवाहु कों...। (शृ० नि०) गऊआँन
कों...। ८. (का०) भलौ जल न्हाइऐ. प्याइऐ पीजै । (वें०) भलौ जल न्याइबौ, प्याइजै...।
(प्र०) (सं० पु० प्र०) भलौ जल छाँह कौ प्याइऐ...। (रा० पु० प्र०) भलें जल छाँह में
प्याइऐ...। ९. (का०) (वें०) लला...। (शृ० नि०) हरी...। १०. (का०) (वें०)
(प्र०) (सं० पु० प्र०) घटौ . । (शृ० नि०) घरौ...।

* , शृ० नि० (दास) पृ०—३४, १०१। वचन-विदग्धा—नायिका ।

“घाँम घरीक निबारिऐ, कलित-जलित-अलि-पुंज ।
जँमुनाँ-तीर तँमाल-तरु, मिलत मालती-कुंज ॥”

यह भी गूढोत्तर अलंकार का उदाहरण है। दो उदाहरण (वचन-विदग्धा-स्वयंदूतिका के) और, जैसे—

“ठाढ़ी बतरात, इतरात-ही परौसँन ते,
जैसी तिय दूसरी न पुरख - पछाँह में ।
दीठि परिगए तहाँ सुंदर सुँजान काँन्ह,
औचक - ही प्रघट पृछ्यौ कर पर - छाँह में ॥
‘सोंमनाथ’ क्यों-हीं प्राँन-स्यारे कों सुनाइ बह्यौ,
तिय नें सखी सों तरुनाई के उछाह में ।
बंसीबट - निकट हँमें तू मिलियो-री, कासिह-
कातिक नढाँऊँगी तरैयँन की छाँह में ॥”

स्वयंदूतिका—

“बसौ पथिक, या पौर में, यहाँ न आवै और ।
यै मेरी, यै सासु की, यै ननदी की ठौर ॥”

अस्तु एक बात और, वह यह कि गूढोत्तर अलंकार वहीं बनेगा—वहीं कहा जायगा, जहाँ किसी की जिज्ञासा (कुछ पूछने) पर गूढ (कुछ खास मतलब प्रगट करने वाला) उत्तर दिया जायगा। दासजी कथित जैसे उदाहरणों में यह अलंकार नहीं हो सकता, क्योंकि ‘उत्तर’ शब्द उसकी चुगली खा रहा है। उत्तर शब्द वहीं अलंकृत होगा, जब कि किसी के कुछ पूछे जाने पर, कुछ कहा जायगा—उत्तर दिया जायगा, यथा—

“हथ्र के दिन तो मिलोगे, यह किया मैंने सवाल ।
सोचकर कुछ देर में ज़ालिम ने कहा—‘मुरिक्ज है’ ॥”

अथ गूढोक्ति-अलंकार जथा—

अभिप्राइ-जुत जहँ कहिय, काहू सों कछु बात ।
तहँ ‘गूढोक्ति’ बखौन ही, कबि, पंडित औदात ॥

वि०—“जहाँ साभिप्राय किसी से कुछ बात कही जाय,—किसी दूसरी बात के बहाने हृदयस्थ गूढ बात (अभिप्राय) प्रकट की जाय, वहाँ पंडित और कवि ‘गूढोक्ति’ मानते हैं। अथवा—जहाँ किसी दूसरे के बहाने से किसी दूसरे को उपदेश दिया जाय वहाँ यह अलंकार होता है। संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में गूढोक्ति का लक्षण—“गूढोक्तिरन्योद्देश्यं चेद्यदन्यं प्रति कथ्यते” (अन्योद्देशक वाक्य अन्य दूसरे के पति कहे जाँय) मिलता है।

गूढोक्ति का अर्थ गुप्त-उक्ति, छिपा हुआ कथन, और के व्याज से और से कही जाने वाली बात,—अन्य के प्रति वक्तव्य को निकटस्थ व्यक्ति से गुप्त रखकर कहना, इत्यादि.....। यदि इस लक्षण को और भी स्पष्ट किया जाय तो कहा जा सकता है कि जिससे वास्तव में कोई बात कहना है वह कथन के समय अकेला नहीं है और भी व्यक्ति उपस्थित हैं, उस समय स्पष्ट कहने से वह बात छिपी नहीं रहेगी, इसलिये वह जिसके प्रति कहना है उसे सुनाते हुए निकटस्थ व्यक्ति से इस प्रकार बात कही जाय जिससे दूर का व्यक्ति जिसको लक्ष्य में रखकर कही गयी है वह तो समझ जाय, पर समीपस्थ न समझे.....।

गूढोक्ति के प्रति काव्य-प्रकाश (संस्कृत) के “उद्योत-टीकाकार” नागोजी भट्ट व्याजोक्ति की व्याख्या के साथ कहते हैं—“गूढोक्ति ध्वनि काव्य है, अलंकार का विषय नहीं, क्योंकि इस (गूढोक्ति) में दूसरे को सूचित करते हुए स्पष्ट नहीं कहा जाता; व्यंग्यार्थ के द्वारा ध्वनित होता है। अलंकार तो वहाँ बनते हैं, जहाँ व्यंग्यार्थ उक्ति के द्वारा स्पष्ट कर दिये जाँय (दे० का० प्र० पूना-संस्करण पृ०—१४३)।

अप्रस्तुत प्रशंसा के भेद सारूप्य-निबंधना जिसे कोई-कोई ‘अन्योक्ति’ भी कहते हैं और गूढोक्ति के लक्षण समान प्रतीत होते हैं। उदाहरणों में भी कोई विशेष पृथक्ता प्रतीत नहीं होती इत्यादि.....। किंतु अप्रस्तुत-प्रशंसा के उक्त भेद में प्रस्तुत का बोध कराने के लिये अप्रस्तुत का वर्णन होता है, साथ-ही वहाँ प्रस्तुत के प्रति किसी प्रकार का उपदेश करने का तात्पर्य गर्भित रहता है और गूढोक्ति में—जिससे कुछ गूढ़ रहस्य कहना हो, वह उससे न वह कर समीपस्थ दूसरे से कह कर उसे (जिससे कहना है) श्लिष्ट शब्दों के नियम से जतलाया जाता है। गूढोक्ति में श्लेष होते हुए भी समीपस्थों को छलने के रूप में विशेष चमत्कार होता है, इसलिये श्लेषालंकार से भी इसकी पृथक्ता स्पष्ट दीखती है और इसीलिये गूढोक्ति की “गूढार्थ-प्रतीति-मूल” वा “उक्ति-चातुर्य-मूल” वर्ग में गणना की जाती है।”

गूढोक्ति-उदाहरन जथा—

‘दासजू न्योतें गए’ घर के सब, काल्ह ते ह्याँ न परोसिनो आबति ।
हों-हीं अकेली कहाँ लों रहों, ईन अंधी-अधन^१ ज्यौ बैहराबति ॥
पीतम छाइ रह्यो^३ परदेस, अँदेस इहै जू सँदेस न पाबति ।
पंडित हौ, गुँन-मंडित हौ, महि-देव तुम्हें सगुनोंति-हौ आबति ॥

पा०—१. (का०) (वे०) (स० पु० प्र०) गईं कुछ घौस को...। (प्र०) गई घर की सब,...। २. (का०) (वे०) (प्र०) अधन को ज्यौ . . ३. (स० पु० प्र०) रहे...।

वि०—“दासजी का गूढोक्ति-उदाहरण-स्वरूप यह छंद “स्वयंदूती” नायिका का है। दासजी के इन गूढोक्ति लक्षण-उदाहरण के प्रति पोद्दार कन्हैयालाल जी का अलंकार-मंजरी में कहना है कि “दासजी ने जो गूढोक्ति के लक्षण-उदाहरण दिये हैं वे अपूर्ण हैं, क्योंकि गूढोक्ति के लक्षण (जो संस्कृत-ग्रंथों) में ‘अन्योद्देशक वाक्य को अन्य के प्रति कहा जाना है वह अवश्य कहना चाहिये ।’” अस्तु, पोद्दारजी का उक्त आदेश यदि मान लिया जाय तो गूढोक्ति के संस्कृत-ब्रजभाषा के अनेक उदाहरणों को पृथक् कर दिया जायगा, जो चमत्कार-पूर्ण हैं, कवि प्रतिभा के जीते-जागते उदाहरण हैं। साथ-ही वे गूढोक्ति के उदाहरण स्वरूप अत्युत्कृष्ट उक्तियाँ हैं, जो अन्योद्देशक.....जैसा पोद्दारजी ने कहा है, नहीं हैं। उदाहरणार्थ दासजी का ऊपर वाला छंद जिसमें गूढ-अभिप्राय से गुंफित नायिका की पथिक के प्रति स्वयंदूतिका के रूप में उक्ति है — कथन है। गूढोक्ति, शब्दार्थानुसार पर (अन्य) से किसी की उपस्थिति और अनुपस्थिति दोनों में हो सकती है। जैसा दासजी के इस उदाहरण में। यहाँ सामीप्य में सख्यादि का व्यवधान नहीं है, फिर भी गूढोक्ति का यह सुंदर उदाहरण है। जहाँ सख्यादि रूप विविध व्यवधान होंगे और पोद्दारजी की निर्देशक अन्योद्देशक .. वाक्यावलि होगी, वहाँ भी गूढोक्ति कही और मानी जायगी। नीचे ‘अन्योद्देशक०’ और ‘अन्योद्देशक-रहित’ वचन विदग्धा तथा स्वयंदूतिका रूप नायिकाओं के दो उदाहरण उद्धृत किये जाते हैं, जो गूढोक्ति के अति सुंदर उदाहरण हैं, ‘अन्योद्देशक०’ वचनविदग्धा, यथा —

“कातिकी-न्हानं कों लोग चले, अपनों-अपनों सब-ही सँग-जोरयौ ।
राखि गई घर-सूँने बिसासिँन सासु जँजाल ते मोहि छाँ छोरयौ ॥
है तौ भली, घर-ही जो रहौ तुँम, यों कहिकें नैनदी-हूँ निहोरयौ ।
प्यारी परौसिँन सों कह्यौ टेरि, परौसी के काँन सुधा-सौ निचोरयौ ॥

*

“साँसरें जाइ कछु दिन ते रह्यौ, छाँड़ि दियौ निज मंदिर भैया ।
दाऊ ददा-ऊ दहें जुर-सों, परसों लई कातिकी की मग मैया ॥
याही मसूस मरों, का करौ, ‘रिखिनाथ’ परौसिँन मैं परो पैया ।
कोऊ कहूँ न मिलै मग में, हों सवार-ही जाति दुहाबैन गैया ॥”

स्वयंदूतिका, यथा —

“को हौ,—जोतिसी हौ, कछु आगँम बखानत हौ,
धौम - धौम नाँम जग - जाहर हँमारौ तौ ।

आबौ, बैठि जाबौ, पग-छुआबौ, पाँन खाबौ फिर,
 सुचितै सुचित है कँ गँनित निकारौ तौ ॥
 'ठाकुर' कहत यै प्रेम की परीच्छा - छाँन,
 इच्छा कौ प्रमान भली भाँति निरधारौ तौ ।
 मेरौ मँन, मोहँन ते लागत है बार - बार,
 मोहँन कौ मँन मौते लागि है बिचारौ तौ ॥

*

“पंथ अति कठिँन, पथिक कोऊ संग नाहिं,
 तेज भए तारा-गँन, छाँहन भयौ रबि है ।
 खग ताके बिटप, मधुप चले कल्लैन कों,
 कंज गए सकुचि, कँमोदिनी पै छबि है ॥
 जोगी है तौ बिरह की ज्वाला की जरी बताउ,
 भोगी है तौ कहौ काँम-पीर कैसे दबि है ।
 जोतिसी जु है तौ कहि पीउ घर ऐहँ कब,
 बरनँन की जै घटा जोपै कोऊ कबि है ॥”

ॐ

“यह तो नहीं, कि तुम-सा जहाँ में हँसी नहीं ।
 इस दिल ओ क्या करुँ, कि बहलता कहीं नहीं ॥”

अस्तु, हमारी छुद्र-बुद्धि के अनुसार पोद्दारजी का अभिमत उपयुक्त नहीं है ।”

अथ मिथ्याध्यवसाइ लच्छन जथा—

एक झूठाई-सिद्ध कों, झूठौ बरनै और ।
 सो‘मिथ्याध्यवसाइ’है, भूषँनकवि-सिरमौर ॥

वि०—“जहाँ एक झूठ को सिद्ध करने के लिए और भी झूठों (असत्य-बातों) का वर्णन हो वहाँ “मिथ्याव्यवसिति” अलंकार होता है। भाषा-भूषण रचयिता कहते हैं—“मिथ्याध्यवसिति कइत कछु, मिथ्या-कजपँन-रीति”, अर्थात् “जहाँ एक मिथ्या बात के समर्थन में दूसरी मिथ्या बात की कल्पना की जाय—अथवा कही जाय ।

मिथ्याध्यवसिति का अर्थ, मिथ्या और अध्यवसिति को भिन्न (अलग-अलग) कर झूठ और निश्चय मान “मिथ्यत्व का निश्चय” करते हैं । अध्यवसिति का

अर्थ 'प्रयास' भी है। ऐसी स्थिति में 'मिथ्याध्यवसित' की परिभाषा—“जिस प्रकार की मिथ्या बात को सिद्ध करना है, वैसी-ही—मिलती-जुलती अन्य मिथ्या की कल्पना की जानी चाहिये, नहीं तो प्रयास व्यर्थ होकर अलंकार सिद्ध न कर सकेगा।

मिथ्याध्यवसिति के जनक कुवलयानंद के रचयिता कहे जाते हैं। फिर भी काव्य-प्रकास (संस्कृत) की 'उद्योत' टीका के कर्त्ता 'नागोजी भट्ट' कहते हैं कि “यह अलंकार अतिशयोक्ति के अंतर्गत है, भिन्न नहीं। दूसरा अभिमत है कि इस अलंकार में मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिये दूसरे मिथ्यात्व की—मिथ्यार्थ की कल्पना किये जाने के कारण नया चमकार है, कुछ नवीनता है, इसलिए प्रथक् मानना उचित है। कुवलयानंद में इसका लक्षणोदाहरण इस प्रकार माना है, यथा—

“मिथ्याध्यवसितिर्मिथ्यासिद्धयै मिथ्यार्थनिमित्तिः।

मिथ्याध्यवसितिर्वेश्यां वशयेत्तवस्त्रजं वहन् ॥”

और जिसका ब्रजभाषानुवाद होता है—

“मिथ्याध्यवसित झूठ-हित, कहै जु झूठी - रीति।

धरै जु माला नभ-कुसुम, करै सु पर-तिय प्रीति ॥”

मिथ्याध्यवसित को “गूढार्थ-प्रतीति मूलक कहा जाता है। साथ-ही यह “उक्ति-चातुर्य-मूलक वर्ग में भी विठलाया जा सकता है।”

अस्य उदाहरण जथा—

सेज अकास के फूलन को सजि, सोबति^१ दीनै प्रकास किवारै।

चौक^२ में बाँझ के पूत^३ रहे^४, बहु पाँड़-पलोटत^५ भूमि के तारै ॥

नीर में 'दास' बिहार करै^६ अहि-रौम-दुसालन^७ कीं सिर डारै।

कौन कहै^८ तुम झूठी कहौ, में सदाँ बसती - उर लाल तिहारै ॥

और मिथ्याध्यवसित का 'रघुनाथ कवि' कृत उदाहरण, जैसे—

“गाबत बंदर बंटे निकुंज में, ताल-संमैत में आँखिन पेखे।

तें जो कछौ यह, सो सुँनिके, अपने मन में हूँ साँच न रेखे ॥

या में न झूठ कछु 'रघुनाथ' है, ग्रह सँनातन माया के लेखे।

गाँउ में जाइ कें मैं हूँ बछाँन कों, बैल हिं बेद पदावत देखे ॥

पा०— १. (का०) (वें०) (प्र०) सोबती दीन्हि...दीन्ही, दीन्ह...। २. (वें०) (प्र०) चौकी...। ३. (वें०) बेटा...। ४. (स० पु० प्र०) बसें...। ५. (वें०) पलोटी...। ६. (का०) (प्र०) करों—करो...। (वें०) सिर में दास बिहार करो। (स० पु० प्र०)...बिहारो करो...। ७. (वें०) दुसाली नथी सिर...। (स० पु० प्र०) दुसाली न प...। ८. (वें०) को हो...।

अथ ललित-अलंकार लच्छन जथा—

‘ललित’ कह्यौ कछु‘ चाहिएँ, ता’ ही कौ प्रतिबिंब ।

“दीप-बारि देख्यौ चहें, कूर जु सूरज - बिंब ॥”

वि०—“यहाँ जो बात कहनी हो उसी के प्रतिबिंब-रूप बात कहने पर ‘ललित’ अलंकार होता है ।

ललित का अर्थ है—सुंदर, इच्छित । अतएव सुंदर वा इच्छित (वर्णनीय) वृत्तांत का प्रतिबिंब कहा जाने पर यह अलंकार बनता है । अर्थात्, जहाँ कहने वाली बात अप्रिय वा गोप्य हो उसीके प्रतिबिंब-भाव-युक्त दूसरी बात, जो सुनने में अप्रिय न हो और सुंदर हो, कही जाय तब वहाँ ललित बनेगा । इसके विपरीत कठोर बात को प्रतिबिंब रूप द्वारा और भी कठोर-रूप से कहने पर यह अलंकार नहीं होगा, क्योंकि इस अलंकार का ध्येय—सुनने वालों को कुछ सांत्वना या आश्वासन देना होता है । प्रसन्नता से भरपूर वर्ण्य विषय को स्पष्ट कहने में कुछ आपत्ति नहीं होती, इसलिये वहाँ अलंकरण की आवश्यकता नहीं, अपितु दुःखादि को बात छिपाकर, साथ ही उसे सुचारु रूप से कहना ही अलंकारता है, जिससे वह ‘ललित’ बने.. ।

ललित को स्वतंत्र-अलंकार मानने में विभिन्न मत हैं । कोई आचार्य इसे ‘अप्रस्तुत-प्रशंसा के अंतर्गत मानते हैं, तो कोई समासोक्ति के, और कोई—निदर्शना के भीतर मानते हैं तो कोई रूपकातिशयोक्ति के—इत्यादि । अस्तु, इन अप्रस्तुत-प्रशंसादि अलंकारों के अंतर्गत ललित को न मान स्वतंत्र रूप में कथन करने वाले आचार्यों का कहना है कि “अप्रस्तुत प्रशंसा में वाच्यार्थ अप्रस्तुत होता है, ललित में प्रस्तुत होता है—प्रकरण-गत श्रोता के सन्मुख कहा जाता है । समासोक्ति में प्रस्तुत वृत्तांत में अप्रस्तुत वृत्तांत को प्रतीति करायी जाती है, यहाँ प्रस्तुत का प्रतिबिंब कहा जाता है । निदर्शना में प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों का कथन करते हुए उन दोनों में एकता का आरोप किया जाता है, यहाँ केवल प्रस्तुत का ही प्रतिबिंब कहा जाता है । इसी प्रकार रूपकातिशयोक्ति में पदार्थ का अध्यवसान होता है, अभेद-ज्ञान का निश्चय होता है—उपमान-द्वारा उपमेय का निगमण होता, यहाँ प्रस्तुत वाक्य का अप्रस्तुत रूप में प्रतिबिंब कहा जाता है—इत्यादि कारणों से ललित किसी के अंतर्गत नहीं - स्वतंत्र है, अपने में पूर्ण है । फिर भी कहीं-कहीं इसका पृथक्-करण, निदर्शना तथा पर्यायोक्ति जैसे अलंकारों से करना कठिन-ही है । उदाहरणों के प्रति-भी यही बात है, कोई

१ पंडितराज जगन्नाथ) इसके अन्य-द्वारा दिये गये उदाहरण में पर्यायोक्ति मानते हैं तो कोई निदर्शना के उदाहरण में लजित । कुवलयानंद, जो इसका जनक-स्थान है, के द्वारा प्रस्तुत उदाहरण जैसे—“**ललितं निर्गतेनीरे सेतुमेघा-चिक्कीर्पति**” अर्थात् “सेतु-बाँधि करिहौ कहा अब तौ उतयौ अंबु” अथवा—“सेतु बाँधिबौ चहुँतु है, अब तू उतरें वारि” में ललित न मान उद्योतकार निदर्शना मानते हुए इसे इस (निदर्शना के अंतर्गत) के अंतर्गत ही मानते हैं—‘लोके-लोके मतिभिन्ना’...इसे-ही कहते हैं ।’

ललित-उदाहरन जथा—

कंट-कटीलका बागँन में बझौ^१ ‘दास’ गुलाबँन-दूरि^२ कै दीजै ।
आज ते सेज अंगारँन की करौ, फूलँन कों दुख-दाँनि गँनीजै ॥
ऊधौ, अहीरनी के गुरु हैं^३, इनकी सिर आयुस^४ माँन-हीं लीजै ।
गुंज के गंज गहौ, तजि लालँन, डारि सुधा, विष-संग्रह कीजै ॥

बोलँन में कल^५ कोकिल के, कुल की कलई कब धों उधरैगी ।
कोंन घरी इँन भोंन-जरे, उजरेन^६ कों^७ बसंत-प्रभाँन भरैगी ॥
हाइ कबं या^८ कूर-कलंकी^९-निसाकर^{१०} के मुख छार परैगी ।
प्राँन-प्रिया इँन ननँन कों, किहि द्यौस कृतारथ-रूप करैगी ॥

—‘वि०—“ललितालंकार से सुशोभित प्रस्तुत धर्मी “कलहांतरिता नायिका” के प्रति कही गयी सखि-द्वारा पति के मनाने पर भी न मानने का उपालंभ देते हुए के रूप में प्रस्तुतार्थ का वर्णन न करती हुई; उसके प्रतिविम्ब-रूप आती हुई लक्ष्मी के आने पर दरवाजा दंद करने का अप्रस्तुतार्थ वर्णन रूप ‘गुलाब सिंहजी (बूंदीनरेश) की यह उक्ति भी सुंदर है, यथा—

“बात सुँनें नहिँ तू जँन की, मँन की करतूँन में मँन-लाबै ।
लाभ-अलाभ नहीं समझै, उरझी-सुरझी न ‘गुलाब’ लखाबै ॥
काज-अकाज समान गँनें, अपकीरति-कीरति-सी भल भाबै ।
तू कसि है, घर आबति सपति, हाथँन द्वार - किँबार लगाबै ॥”

पा०—१. (वे०) बयौ...। (प्र०) बबौ...। २. (वे०) हौ उनकौ सिर...। (स० पु० प्र०) हौ, उनके ...। ३. (का०) (वे०) किल...। ४. (का०) उजरे कों...। (वे०) उतरे कों ५. (प्र०) उजरे में...। ६. (का०) (वे०) (प्र०) यह...। ७. (का०) कलंकि...। ८. (वे०) (स० पु० प्र०) निसाकर...।

कलहांतरिता के उदाहरण-स्वरूप 'देव कवि' का यह छंद ब्रजभाषा-साहित्य में सबसे सुंदर माना जाता है, यथा—

“प्रेम-सँसुद्ध पर्यौ गैहरे, अँभिमाँन के फँन रखौ गहि-रे मँन ।
कोप-तरंगँन ते बँहरे, अकुलाइ पुकारत क्यों बहि-रे मँन ॥
'देबजू' लाज-जहाज तँ कूद, भज्यौ मुख-मूँदि अजों रहि-रे मँन ।
जोरत-तोरत प्रीति तुही, अब तेरी अँनीत तुही सहि-रे मँन ॥”

*

“मोहँन-मीत सभीत गौ, जखि तेरौ सनमाँन ।
अब सु दगा दै तू चल्थौ, अरे सुदई माँन ॥”

अथ विवृतोक्ति लच्छन जथा—

जहाँ अरथ गूढ़ोक्ति कौ कोऊ करै प्रकास ।

‘विवृतोक्ति’ तासों कहें, सकल सुजँन-जँन ‘दास’ ॥

वि०—“जहाँ गूढ़ोक्ति (कही हुई गुप्त बात) का कोई प्रकाश करे—छिपा हुआ गुप्त भाव (कवि-कल्पना-द्वारा) प्रकट किया जाये वहाँ ‘विवृतोक्ति’ कही जाती है ।

विवृतोक्ति का वर्णन सर्व प्रथम कुवलयानंद में ही मिलता है । वहाँ इसका लक्षण—“विवृतोक्तिः श्लिष्टगुप्तकविनाविष्कृत यदि” (कवि-कथन-द्वारा श्लेष से छिपाई हुई वस्तु प्रकट करना) कहा गया है, क्योंकि विवृतोक्ति—खुली हुई, उघाड़ी हुई उक्ति—अर्थ की द्योतक है । कोई-कोई इसका अर्थ—व्याख्या, अथवा टीका—संयुक्त बात भी कहते हैं । इसलिये जहाँ रहस्य की बात स्वतः स्पष्ट कर दी जाय वहाँ ‘विवृतोक्ति’ । अर्थात् श्लिष्ट-शब्दों के प्रयोगादि-द्वारा चातुर्य से छिपाये हुए रहस्य को कवि-द्वारा प्रकट कर खोलना-ही उक्त अलंकार है । विवृतोक्ति में प्रथम उक्ति-चातुर्य से कुछ गूढ़ बात कही जाती है और पुनः उसे खोल दिया जाता है ।

विवृतोक्ति—गूढार्थ-प्रतीत मूल अलंकार है और उक्ति-चातुर्य मूल से भी संपन्न है । इसलिये इसे स्वतंत्र अलंकार मानना श्रेयस्कर है, किंतु पोद्दार कन्हैयालाल जी का कहना है कि “विवृतोक्ति के कुवलयानंद में दिखाये गये उदाहरण व्याजोक्ति-उदाहरणों के समान हैं, अतः हमारे विचार से (वह) व्याजोक्ति से प्रथक् नहीं, जब कि कुवलयानंदकार ने इसके उदाहरण में व्याजोक्ति

स्वीकार की है ।” इसी प्रकार इनसे भिन्न मत प्रकट करते हुए भारती-भूषण (हिंदी) के रचयिता का कहना है कि “इस विवृतोक्ति में गूढोक्ति से छिपे हुए अर्थ के (कवि-द्वारा) प्रकट किये जाने मात्र की भिन्नता को भिन्न अलंकारता के लिये पर्याप्त कारण न मानकर किसी-किसी ग्रंथकार ने इसका गूढोक्ति में अंतर्भाव किया है”, पर हमारे विचार में इस भिन्नता के कारण इसकी भिन्न गणना होना अनुचित नहीं, (उचित ही है) और प्रायः ग्रंथों में ऐसा ही हुआ भी है ।” साथ-ही विवृतोक्ति के यहाँ दो भेद—“श्लिष्ट-शब्दों और साधारण शब्दों की विवृतोक्ति” भी मानते हैं ।”

अथ उदाहरन जथा—

नैन नचोंहे, हँसोंहे कपोल, अँनंद सों अँगन^१-अँग अँमात है ।
 ‘दासजू’ सेदैन-सोभ जगी, परे^२ प्रेम-पगी-सी ठगी^३ ठहरात है ॥
 मोहि भुरावै^४ अटारी चढ़ी, कहि कारी घटा बक^५-पाँति सुहात है ।
 कारी घटा-बक^६-पाँति लखे, इहि भाँति भए कहौ^७ कौन के गात हैं ॥*

किए^८ सरस तँन कों^९ रहीं, तँनकौ रही न ओट ।
 लखि सारी कृच में लसी, कृच में लसी खरोट ॥

द्वार-खरी नबला अँनूपम निरखि,
 उतरत भौ पथिक तहाँ^{१०} तँन-मँन-हारि कें ।
 चातुरी सों कछौ, इत रछौ हँम चाँहें, नाहि^{११}—
 जायौ^{१२} जात चँन्नत पयोधर निहारि कें ॥
 ‘दास’ तिन^{१३} ऊतरु दियौ है यों बचँन-भाँखि,
 राखि के सनेह सखी-मति कों निबारि कें ।

पा०—१. (शृ० नि०) अग न अग . २. (का०) (वे०) (प्र०) परै... ।
 (शृ० नि०) पुरै... ३. (वे०) (सं० पु० प्र०) डगी... ४. (का०) (वे०) (प्र०)
 (सं० पु० प्र०) भुरावै... ५. (का०) (वे०) (प्र०) बग... ६. (का०) (वे०)
 कहि... (प्र०) कहु... ७. (वे०) (सं० पु० प्र०) कियौ... ८. (वे०) को-
 रही... ९. (का०) (वे०) तहीं... (प्र०) तहें... १०. (का०) (प्र०) नहीं... ।
 (वे०) .. रछौ हम वै हैं नहीं... (सं० पु० प्र०) रछौ इत चाहत नहीं... ११. (वे०)
 तायौ... १२. (प्र०) तेहिं... ।

*. शृ० नि० (दास) पृ०—३७, १०६ । हेतु-लक्षिता-नायिका ।

हाँ तो हैं पखौन सब मसक न दैहैं कल,
रहिऐ पथिक सुभ आसँन^१ - बिचारि कै ॥

वि०—“दासजी की यह उक्ति “स्वयंदूतिका नायिका” के निरूपण में है, जो संस्कृत की इस अमर सूक्ति का विस्तृत अनुवाद है, संस्कृत-सूक्ति यथा —

“पथिक नात्र स्त्रतरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।

उन्नत पयोधरं प्रेष्य यदि वससि तद्वस ॥”

कोई स्वयंदूतिका नायिका किसी पथिक-रूप नायक से कहती है—“हे पथिक, इस पत्थरों (मूर्तियों) से भरे गाँव में कहीं किसी के पास चट्टाई (पिछोना) आदि नहीं है, यदि चढ़े (उभरे) हुए मेघ (स्तनों) को देखकर तुम यहाँ ठहरना चाहो तो ठहर जाओ ।” यही बात—दासजी को ऊपरवाली उक्ति से स्पष्ट है । यह संस्कृत-उक्ति प्राकृत की देन है, और इसका ... किसी कवि-द्वारा किया हुआ निम्न प्रकार है,—

“पथर-थल है पथिक यै, सथर इत न लखाउ ।

पौन-पयोधर-पेलिकैं, चहैं आप डटि जाउ ॥”

अथ व्याजोक्ति लच्छन जथा—

वचँन-चातुरी सों जहाँ, कीजै काज-दुराइ^२ ।

सो भूषँन ‘व्याजोक्ति’ है, सुँनों सुँमति सुँमुदाइ^३ ॥

वि०—‘जहाँ वचन-चातुर्य से किसी कार्य को छिपाया जाय, वहाँ ‘व्याजोक्ति’ होती है । अथवा भाषा-भूषण (म० जसवंतसिंह) के अनुसार—“व्याजोक्ती, कछु और विधि, कहै दुरै आकार” (जहाँ अपने आकार—रति-चिह्नादि को छिपाकर उसका हेतु कुछ और-ही बता कर दिया जाय) लक्षण होता है । दासजी कृत लक्षण मम्मटादि संस्कृत-अलंकाराचार्यों के अनुरूप है, और भाषा-भूषण का लक्षण कुल्लथानंद-मतानुसार है । यथा क्रमशः—

“व्याजोक्तिश्छन्नोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ।”

जब कोई वस्तु प्रकट हो गई हो, उसे छल-से छिपाया जाना — व्याजोक्ति ।

“व्यजोक्तिरन्यहेतुत्वा यदाकारस्य गोपनं ।”

“जहाँ छिपे हुए वृत्तांत का किसी आकार द्वारा भेद खुल जाने पर उसे व्याज-युक्त कथन से छिपाया जाय—व्याजोक्ति ।”

पा०—१. (प्र०) आसँन...। २. (का०) दुराव...। (वें०) दुराउ...। ३. (का०) समुदाव । (वें०) समदाउ ।

कुवलयानंद का लक्षण, काव्य-प्रकाशादि संस्कृत ग्रंथों में कहे गये लक्षणों से कुछ अधिक स्पष्ट है, जिसे आकार (रति-जनित स्पष्ट चिन्हों) ने बढ़ावा दिया है ।

व्याजोक्ति का शब्दार्थ है—कपट से, छल से और बहाने से कहना । अतः किसी प्रकार (वाक्य-चिन्हादि द्वारा) गुप्त बात (रति) प्रकट हो जाने पर उसे कपट (छल, बहाना) से छिपाया जाना इस अलंकार में वर्णन किया जाता है । यहाँ गुप्त-रहस्य कुछ अवश्य रहना आवश्यक है, जिसके प्रकट होने पर वास्तविक कारण न बता कर अन्य कारण कहते हुए छिपाया जाय । ये लक्षण “सुरति-गुप्ता नायिका” के हैं, यथा—

“सुरति-छिपावै जो लिया, सो ‘गुप्ता’ उर-आँन ।”

गुप्ता—भूत, भविष्यत् और वर्तमान-रूप तीन प्रकार की होती है । भूत-गुप्ता वह जो—“पहिले पर-पुरुष-रति-जन्य-चिन्हों को छिपाते हुए उनका कोई कल्पित कारण बतलाये । भविष्यत वह, जो होने वाले रति-जनित चिन्हों को पहिले से ही छिपाने की चेष्टा करे और वर्तमान वह, जो वर्तमान में रति के छिपाने की चेष्टा करे । यथा -

“करति-सुरति परतच्छ सो, सब सों डारति गोइ ।”

व्याजोक्ति, सर्व प्रथम वामन के “काव्यालंकार-सूत्र की वृत्ति में देखने को मिलती है । वहाँ इसका लक्षण है—“व्याजस्य सत्य सारूप्यं व्याजोक्तिः” (व्याज का सत्य के साथ सारूप्य-व्याजोक्तिः) । अर्थात् असत्य (व्याज) के बहाने से सत्य का सादृश्य (प्रतिपादन करना) व्याजोक्ति है, जिसे कुछ लोग “मायोक्ति” भी कहते हैं, (दे० हिं० अनुवाद पृ० २६७), किंतु यह लक्षण उतना स्पष्ट नहीं है जितना कि बाद के आचार्यों ने किया है । वामन के बाद व्याजोक्ति रुद्रट और भोजराज को छोड़कर सब ने मानी है । इसलिये यह सर्व-संमति गूढार्थ-प्रतीति मूल वर्ग में रखी गयी है ।

काव्य-प्रकाश में आचार्य मम्मट इसे अपन्हुति से पृथक् करते हुए कहते हैं—“इसे अपन्हुति नहीं समझना चाहिये, क्योंकि उस (अपन्हुति) में प्रकृत-अप्रकृत वस्तुओं की समता का भी कथन रहता है, जो कि यहाँ असंभव है । श्री मम्मट कृत इस व्याजोक्ति और अपन्हुति की प्रथक्ता पर विश्वनाथ जी (साहित्य-दर्पण में) कहते हैं कि “अपन्हुति में जिस बात को छिपाया जाता है, उस (बात) का प्रथम कथन कर फिर निषेध-पूर्वक उसे छिपाया जाता है । छेकापन्हुति में भी अपनी कही हुई बात का ही अन्य-अर्थ कर उसे निषेध-पूर्वक छिपाया जाता है, पर व्याजोक्ति में ये बात नहीं है । यहाँ जिस बात को छिपाया

जाता है वह न तो प्रथम वक्ता-द्वारा कही जाती है और न उसका निषेध ही किया जाता है। अर्थात् छेकापन्हुति में श्लिष्ट शब्द होते हैं तथा सत्य का गोपन वहाँ निषेध पूर्वक होता है, यहाँ (व्याजोक्ति में) बिना निषेध के गोपन होता है। कोई-कोई सूक्ष्म और पिहितालंकारों से इसकी प्रथकता बतलाते हुए कहते हैं कि “सूक्ष्म और पिहित में क्रिया (चेष्टा) का संबंध होता है और यहाँ वचन का...।”

व्याजोक्ति-उदाहरन जथा—

अब-हीं की है बात हों न्हात हुति, भ्रँम^१ ते गैहरे-पग जात भयौ ।
गहि-आह अथाह कों लै-ही चलयौ, मँन-मोहँन दूरहि^२ ते चितयौ ॥
द्र ति दौरि कें, पौरि कें ‘दास’ बरोरि^३ कें, छोरि कें मोहि^४ जियाइ^५ लयौ ।
इन्हें भेंट^६ कें भेंट हों तोहि अली, भयौ आज तौ मो अबतार नयौ ॥*

वि०—“दासजी का यह छंद नायिका-भेद के अनुसार वर्तमान गुप्ता का उदाहरण है। कुछ ऐसा-ही उदाहरण भूत-गुप्ता का “श्वाल कवि”—निर्मित, जो व्याजोक्ति का भी सुंदर उदाहरण है और दासजी के इस छंद से कहीं ज्यादा सुंदर है, यथा—

“तुँम कैसेँ आँई, मैं तों दधि-बेचि आबति-ही,
नाहर निकसि आयौ बँन बजमारे तें ।
वानें में न देखी, में अचक भजी चुपकी-सी,
धँसी करीर की कुटी में डर भारे तें ॥
‘श्वाल कवि’ बंदी गई, छरा फँस्यौ, आँगी चली,
छिदे ए कपोल देखौ अति उरफारे तें ।
आस-ही न जीबँन की, राँम ने बचाइ राखी,
मरु कै बची हों सास, धरँम तिहारे तें ॥

पा०—१. (का०) अचकौ गैहरे ..! (वें०) (म० पु० प्र०) (श्र० नि०) अचकौ गहरे...! (सु० ति०) (सु० स०) औचकौ गहरे..! २. (स० पु० प्र०) दूर-हों..! ३. (प्र०) मरोरि...! ४. (श्र० नि०) (सु० ति०) (सु० स०) बचाइ ..! ५. (वें०) (श्र० नि०) (सु० ति०) (सु० स०)...भेंटती भेंट हों...।

* श्र० नि० (मि० दा०) पृ० ३६, १०६—वर्तमान गुप्ता । सु० ति० (मा०) पृ० ६७, २२५ । सु दरी सर्वरय (म०) पृ० ६३, ११ । ब्र० भा० का ना० भे० (मी०) २८७, ३२० ।

पुनः उदाहरन जथा—

तेरी खीम्बिबे की रुचि^१-रोम्बि मँन-मोहँन की,
 याते वौ^२ स्वाँग नित सजि-सजि आबते^३ ।
 आपु-ही तें कुंकुम की छाप, नख-छत गात,
 अजँन अधर, भाल जाबक लगाबते^४ ॥
 ज्यों-ज्यों तू^५ अयाँनी अँनखाँन^६ दरसावै त्यो-स्यों
 स्याँम कृत-आपने लहे कौ फल^७-पाबते ।
 उन्हें^८ खिसियाउ 'दास' हँसि जो सुनावै तोहिँ,^९
 वे-हु मँन भाँबते,^{१०} हमारे मन भाँबते^{११} ॥*

वि०—“दासजी ने व्याजोक्ति-रूप इस उदाहरण को अपने नायिका भेद के ग्रंथ शृंगार-निर्णय में—“नायिका-हित सखी के उदाहरण में भी दिया है । उद्दीपन विभाव में सखी का विशेष स्थान है, क्योंकि वह—“तिय-पिय “दोनों की हितू होती है, यथा—

“तिय-पिय की हितकारिनी, ‘सखी’ कहैं कबिराव ।

उत्तम अरु मध्यम, अधम, प्रघट दूतिका-भाव ॥”

—शृ० नि०

अतएव दासजी कृत व्याजोक्ति का दूसरा उदाहरण नायिका की अधिक हितू सखी का है और नायक-अधिक-हितू सखी, यथा—

“केसरि कै केसर कौ उर में नख-छत कै,
 करो लै कपोलँन में पीक लपटाई है ।
 हाराबली-तोरि-छोरि, कचँन बिथोरि - खोरि,
 मो हू गति भोर इत भोरें उठि आई है ॥

पा०—१. (वें०) (शृ० नि०) रुख...। २. (का०) (वें०) (प्र०) वहै स्वाँग सजि-सजि नित...। (शृ० नि०) वहै सात्र सजि नित...। ३. (वें०) (स० पु० प्र०) आवतो । ४. (वें०) (स० पु० प्र०) लगावतो । ५. (का०) (प्र०) तें...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) (शृ० नि०) अनखानी...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) (शृ० नि०) सुख...। (वें०) (स० पु० प्र०) ...पावतो । ८. (का०) (वें०) (स० पु० प्र०) उनहीं खिसियावै .। (प्र०) उन्हें खिसिआवै-दास हास...। (शृ० नि०) तिनहीं खिसावै 'दास' जौ तू यों सुनावै तुम यों हीं मन-भावते...। ९. (का०) तुम वौहू मन...। (वें०) तुम यों हँ मन...। (प्र०) तुन्हें बाहू मन...। १०. (स० पु० प्र०) मन-भावतौ...। ११. (वें०) (स० पु० प्र०) भावतौ ।

* शृ० नि० (दास) पृ० ७१, २०१ ।

पी कौ बिँन-प्रेम कोऊ 'दास' इहि नैम-
 परपंच करि पंच में सुहागिनि कहाई है ।
 हाँती करि हाँती मोहि ऐसी नाँ सुहाँती,
 भेष कंत है तकत यै कैसी चतुराई है ॥”

व्याजोक्ति का उदाहरण भारती-भूषण (केड़िया) में सुंदर दिया गया है,
 यथा होरी (गेय पद)—

“ललि हँम को सुसिकाँनी, कहा तें मँन में जाँनी ।
 अँखियाँ खंजन-गुँन-गाँजन की, अँजँन-ओप-उड़ाँनी ॥
 पाँन-पीक की लीक पलक पै, भलक रही रस-साँनी ।
 —अलक अलि, कत अरुभाँनी ॥
 अंजन गयो रुदँन ते पलकँन, कर-मेहदीं लपटाँनी ।
 ललक मयूर परे अलकँन पै, चरँन-चोंच गहि ताँनी ॥
 —ब्याल-बनिता उँन जाँनी ॥”

अथ परिकर-अलंकार लच्छन जथा—

परिकर, परिकर-अंकुरौ, भूषँन जुगल सुबेस ।
 साभिप्राइ बिसेसनों, साभिप्राइ बिसेस ॥

*

वर्ननीय के साज कौ, नाँम बिसेसँन जाँन ।
 सो है साभिप्राइ जहँ परिकर भूषँन माँन ॥

वि०—“दासजी कृत ‘परिकर’ और ‘परिकरांकुर’ इस उल्लास के अंतिम अलंकार हैं । अतएव आपने इन दोनों का, जो प्रायः एक ही तुल्य-बल के अलंकार हैं, प्रथम साथ-साथ वर्णन कर फिर इनकी भिन्नता दिखलायी है । साथ-ही परिकर और परिकरांकुर रूप इन युगल अलंकारों के प्रति प्रथम मोटे रूप से इस प्रकार व्याख्या की है कि “जहाँ साभिप्राय विशेषण हों वहाँ ‘परिकर’ और ‘जहाँ साभिप्राय-विशेष्य हों वहाँ ‘परिकरांकुर’ होता है । यह दोनों की मूल-व्याख्या है । इसके बाद उक्त अलंकारों को ओर भी स्फुट करते हुए कहते हैं—“वर्णनीय वस्तु की सज्जा का नाम विशेषण है, इसलिये जहाँ यह साभिप्राय (कुछ विशेष आशय लिए) हो, वहाँ ‘परिकर’ अलंकार मानना चाहिये ।

परिकर को रुद्रादि सभी अलंकाराचार्यों ने माना है, परिकरांकुर को नहीं । परिकरांकुर को चंद्रालोककार ने माना है । अस्तु, परिकर प्रथम अलंकार होने के

कारण रुद्रट कृत चार—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष-वर्ग के-विभाजन में वह प्रथम वर्ग 'वास्तव' में रखा गया है। रुय्यक मूलक ने जब संपूर्ण अलंकारों को सज्जा —“सादृश्य-गर्भ, विरोध-गर्भ, शृंखला बद्ध, तर्क-न्याय-मूल, काव्य-न्याय-मूल, लोक-न्याय मूल और गूढार्थ प्रतीति मूल नामक सात श्रेणियों में विभाजित की तब 'परिकर' को आपने सादृश्य वा औपम्य गर्भ के अन्तर्गत भेद गम्यमान औपम्य के अन्तर्गत 'विशेष-वैचित्र्य' में समासोक्ति के साथ और आपके बाद किन्हीं अन्य आचार्य ने “अभेद प्रधान अध्यवसाय मूलक वर्ग के तीसरे भेद “अर्थ-वैचित्र्य प्रधान वर्ग में रखा है। यहाँ साथ में 'परिकरांकुर' की गणना भी कर ली गयी है इसके बाद इन दोनों—परिकर और परिकरांकुर की विशेष विलक्षणता को ध्यान में रख 'उक्ति चातुर्य-मूल वर्ग में गणना की गयी।

परिकर के संबंध में काव्य-प्रकाशकार कहते हैं—“विशेषणौर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः” अर्थात् जहाँ अभिप्राय विशिष्ट विशेषणों के साथ (विशेष्य) उक्ति की जाती है, वहाँ परिकर अलंकार होता है। परिकर के शब्दार्थ —“परिवार, शोभा बढ़ाने वाली सामग्री के साथ, यह अनुकूल परिभाषा है। परिकर का उपकरण (उत्कर्षक वस्तु, जैसे राजाओं के छत्र-चमरादि) अर्थ भी संस्कृत के ‘शब्द कल्पद्रुम’ कोष में मिलता है। इसलिये परिकर में ऐसे सामिप्राय विशेषणों का प्रयोग किया जाता है, जो वाक्यार्थ के उत्कर्षक हों—पोषक हों। विशेषण के अभिप्राय युक्त होने के कारण कहने के ढंग में एक चमत्कार पैदा हो जाता है, जो इस अलंकार का प्रयोजन है। साधारण रूप से दिये गये विशेषण वैसा नहीं कर पाते।

यहाँ शंका की जाती है—अभिप्राय-रहित निःप्रयोजन विशेषण का होना काव्य में ‘अपुष्टार्थ’ दोष माना गया है, इसलिये सामिप्राय विशेषण होना उक्त दोष का निराकरण (अभाव) मात्र है, ऐसी स्थिति में ‘परिकर’ की अलंकार रूप में क्या आवश्यकता ? इस पर आचार्य मम्मट कहते हैं कि परिकर में एक विशेष्य के अनेक विशेषण होते हैं अतएव परिकर की यही चमत्कार पूर्ण खूबी है।” पंडितराज जगन्नाथ (रसगंगाधर में) कहते हैं — “यद्यपि एक से अधिक विशेषण होने पर व्यंग्य की अविकता होने के कारण चमत्कार अधिक अवश्य बढ़ जायगा, पर यह नहीं कि जब तक एक से अधिक विशेषण न हों तब तक यह अलंकार नहीं, यहाँ एक भी सामिप्राय विशेषण होने पर ‘परिकर’ अलंकार बन जायगा।

पंडितराज इतने पर ही अलं (चुप) नहीं हो जाते, वे आगे कहते हैं — “सामिप्राय विशेषण होना, दोषाभाव है, ठीक है, किंतु अपुष्टार्थ-दोष के अभाव का

विषय और परिकर का विषय भिन्न-भिन्न हैं, जैसे—सौंदर्य-युक्त उत्कर्षक विशेषण होना परिकर का और चमत्कार के अपकर्ष का अभाव, अप्रुष्टार्थ दोष के अभाव का विषय है। ये पृथक्-पृथक् विषयावलंबो धर्म (लक्षण) यदि संयोग-वश एक ही स्थान पर एकत्रित हो जाँय तो कुछ हानि है? उपधेय और उपाधि संकरा-संकर होते ही हैं, जैसे—“ब्राम्हण के लिए मूर्ख होना दोष और विद्वान् होना दोष का अभाव और गुण है। इसी प्रकार परिकर में साभिप्राय विशेषणों का होना अप्रुष्टार्थ दोष का अभाव भी है और चमत्कार पूर्ण होने के कारण अलंकार भी। जैसे—समासोक्ति गुणीभूत व्यंग्य होते हुए भी अलंकार हैं इत्यादि .।

परिकर के विशेषणों में जो अभिप्राय निहित हैं, वे गौण व्यंग्यार्थ होते हैं, वहाँ विशेषणों का वाच्यार्थ-ही प्रधान रहता है। यह गौण व्यंग्य (गुणाभूतव्यंग्य) दो प्रकार का, अर्थात् वह कहीं वाच्यार्थ का उत्कर्षक और कहीं ‘वाच्य-सिध्दंग’ होता है।’

अथ परिकर-उदाहरन जथा—

भाल में जाके कलानिधि है, वौ^१ साहिब ताप हंमारे^२ हरैगौ ।
 अंग में जाके बिभूति भरी, बौ^३ संपति भोन में भूरि-भरैगौ ॥
 घातक है जो मँनोभव कौ, मँन^४-पातक वाही^५ के जारै^६ जरैगौ ।
 ‘दास’ जो^७ सीस पै गंग-धरें रहै, ताकी कृपा कहौ^८ को न तरैगौ ॥*

वि०—“परिकर का उदाहरण ‘गोकुल नाथ कवि’ कृत भी सुंदर है, यथा—

“आबति-ही जसुँ नाँ-तट ते, हरि तोहि मिल्यौ ठकुराँइन मेरी ।
 ता छिँन ते करसाइल-लौं, छुँ मरै, न परै पलकौ कल ऐरी ॥
 ‘गोकुलनाथ’ सुरस्सर-साधि, रच्यौ यह मैं बसि मँन-अहेरी ।
 घाइल क्यों न करै करिहाइल, पाँइ परों बलि पाइल तेरी ॥”

पा०—१. (का०) (वै०) (प्र०) (स० स०) वह .। (ह० जु० ह०) सोइ..। २. (का०) (प्र०) (स० पु० प्र०) (स० स०) हमारौ...। (वै०) (ह० जु० ह०) हमारी...। ३. (का०) (वै०) (स० पु० प्र०) वहै (वह) भोन में सपति भूरि । (प्र०) (स० स०) विभूति भरी वहै भोन में सपति...। (ह० जु० ह०) भरी, रहै भोन में सपति .। ४. (ह० जु० ह०) मम...। ५. (ह० जु० ह०) ताही...। ६. (वै०) जारौ...। (रा० पु० नी० सी०) जोर...। ७. (का०) (स० स०) ज .। (वै०) जु .। ८. (का०) (प्र०) (स० स०) कहु .।

* ह० जु० ह०, पृ० २७, १६। स० स० (ला० भ० दी०) पृ० २०, २। का० का० (रा० अ० सि०) पृ० २७५।

बिहारी लाल जी कहते हैं —

“कौन सुँ नें, कासों कहीं, सुरति बिसारी नाह ।
बदाबदी जिय लेति हैं, ए बदरा बदराह ॥”

*

ससि-बदनी मोसों कहत, हों सँमुझी निज बात ।
नैन-नलिन पिय राबरे, न्याइ निरखि नै जात ॥

अथवा—

“चंदा-बरनी-नारि, हँसि जु पिय मोसों कहीं ।
पिय, मरों कटारी-मारि, चंदा-बरनी क्यों कहीं ॥”

अथ परिकराङ्कुर-लच्छन जथा—

बर्ननीय जु बिसेस है, सोई साभिप्राइ ।
‘परिकर-अङ्कुर’ कहत हैं, तिहि प्रवीन-कबिराइ ॥

वि०—“जहाँ वर्णनीय विशेष्य अभिप्राय-सहित वर्णन किया जाय, वहाँ ‘परिकराङ्कुर’ अलंकार कहते हैं । अर्थात् ऐसे विशेष्य-पद का प्रयोग किया जाय जिसमें कुछ अभिप्राय हों—उस पद की क्रिया से विशेष रूप से वह संबंधित हो । यों तो यह अलंकार ‘परिकर’ के अंतर्गत-ही है, यथा—‘परिकर-अङ्कुर’ । किंतु परिकर में विशेषण और परिकराङ्कुर में विशेष्य साभिप्राय-युक्त होता है, यही इसकी पृथक्ता है । चंद्रालोक (संस्कृत) में इसका लक्षण—“साभिप्राये विशेष्ये-तु भवेत्परिकराङ्कुरः” (जहाँ विशेष्य का अभिधान किसी विशेष अर्थ का द्योतक हो, वहाँ परिकराङ्कुर) कहा है ।”

उदाहरन जथा—

भाल में बाँम के ह्वै कें बली, बिँध्यौ^१ बाँकी भोँहे^२ बरुनीन में आइ कें ।
ह्वै कें अचेत कपोलन-छूँ, बिछलें^३ अधरा कौ पियौ^४ रस धाइ के ॥
‘दास जू’ हास-छटा मँन चोंक, छिनेक^५ लों^६ ठोढ़ी के बीच बिकाइ कें ।
जाइ उरोज-सिरें-चढ़ि कूद्यौ, गयौ कटि सों त्रिबली में अन्हाइ^७ कें ॥

अस्य तिलक

इहाँ लुसोपमाँ कौ सँम प्रधान संकर है ।

पा०—१. (वें०) विधि...। (का०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) बिधौ..। २. (का०) (वें०) (प्र०) भ्रुवें...। ३. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) बिछिल्यौ...। ४. (प्र०) विछुरें अधरा कौ सुधा पियौ धा...। (सं० पु० प्र०)...अधरा में सुधा पियौ...। ५. (प्र०) घरीक...। (सं० पु० प्र०) चोंकि कें, नैक में...। ६. (का०) (वें०) में...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) नहाइ...।

बर, तरुवर तुँम^१ जँनम भौ, सफल बीस-हों^२ बीस ।
हँमें न त्यों^३ तिय-बाग कौ, कियौ असोकौ ईस ॥

अस्य तिलक

बर वृक्ष कों स्त्री भाँवरी (परिक्रमा) देति हैं, अरु असोक कों जब लात मारति हैं, तब वौ फूलत है, याते बर्ननीय बिसेस्य (बढ़-वृत्त) साभिप्राय भयौ या छिपे^४ परिकरांकुर सुद्ध भयौ ।

वि०—“परिकरांकुर-अलंकार से अलंकृत अनेक सुमधुर सूक्तियाँ विहारी लाल कृत ‘सतसई’ में मिलती हैं यथा—

“बाँमा, भाँमा, काँमिनी, कहि बोलौ प्रानेस ।
प्यारी कहत न लाज-हीं, पाबस चलत बिदेस ॥”

*

“बाल-बेलि सूखीं सुखद, इहि रुखे-रुख-घाँम
फेरि डइडही कीजिए, सुरस सींचि घँनस्याँम ॥”

*

“कियौ सबै जग काँम-बस, जीते जिते अजेइ ।
कुसुँम-सरहिँ सर-घँनुष कर, अगहँन गहँन न देइ ॥”

विहारीलाल जी का प्रथम दोहा शुद्ध परिकरांकुर-अलंकार का उदाहरण है, जो वामा, भामा, कामिनी और प्यारी-शब्दों के श्लेषार्थ से झलक रहा है। द्वितीय दोहे में रूपक और श्लेष से मिलकर परिकरांकुर ‘घँनस्याँम’ शब्द के द्वारा चमक रहा है। तीसरा दोहा, कहने को तो निरुक्ति से परिपुष्ट काव्यलिंग का अंग (उदाहरण) बन रहा है, फिर भी ‘अगहन’ के ‘ग्रहण न करने’ अर्थ के कारण विशेष्य के साभिप्राय हो जाने से यहाँ भी परिकरांकुर दर्शनीय है।

“इति श्री सकल कलाधर-कलाधरवंसावतंस श्री महाराज कुँमार
श्री बाबू हिंदूपति-बिरचिते “काव्य-निरनए” सूच्छंमा-
लंकार बरननो नाम षोडसोध्यायः ॥”

— —

पा०—१. (का०) तुव...। (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) तुअ...। २. (का०) (प्र०) हँ...। (बे०) बिसेहँ...। (सं० पु० प्र०) हीं...। ३. (का०) यों...। (वें०) (सं० पु० प्र०) या पिय-बाग...। (प्र०) न अँविया बाग...। (सं० पु० प्र०) न अब या बाग कौ...।

अथ सप्तहर्षा उल्लास

सुभावोक्ति-अलंकारादि बरनन जथा—

‘सुभावोक्ति’ ‘हेतू’-सहित, जो ‘बहु-भाँति’ ‘प्रमाँन’ ।
‘काव्यलिंग’-‘निरुक्ति’* गँनि, औ ‘लोकोक्ति’ सुजाँन ॥

*

पुँनि ‘छेकोक्ति’ बिचारि कें, ‘प्रत्यनीक’-सँम तूल ।
‘परिसंख्या’ ‘प्रश्नोत्तरौ’, दस बाचक-पद-मूल ॥

वि०—“दासजी ने इस उल्लास में—“स्वभावोक्ति, हेतु, प्रमाण, काव्यलिंग, निरुक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, प्रत्यनीक, परिसंख्या और प्रश्नोत्तर दस अलंकारों को वाचक-पद की प्रबलता तथा मुख्यता के कारण एक साथ वर्णन किया है । संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में ये विभिन्न-वर्गों में हैं । जैसे—प्रथम रुद्रट-द्वारा “स्वभावोक्ति, परिसंख्या और हेतु तथा उत्तर ‘वास्तव वर्ग’ में, प्रत्यनीक और उत्तर जो वास्तव वर्ग में आ चुका है औपम्य वर्ग में और हेतु को पुनः अतिशय वर्ग में माना गया है । रुय्यक-द्वारा किये गये विभाजन में भी चार अलंकारों को—प्रथम काव्यलिंग को तर्क-न्याय वर्ग में, द्वितीय ‘परिसंख्या’ को काव्य-न्याय वर्ग में तथा प्रत्यनीक और उत्तर को ‘लोक-न्याय मूल’ वर्ग में जो न्याय मूल वर्ग के ही अन्तर्गत भेद हैं, माने गये हैं । इस प्रकार रुद्रट-द्वारा मान्य-स्वभावोक्ति, परिसंख्या, हेतु, उत्तर (प्रश्नोत्तर) और प्रत्यनीक पाँच तथा रुय्यक-द्वारा मान्य-काव्यलिंग, परिसंख्या, प्रत्यनीक और उत्तर चार अलंकार हैं । इनके बाद जो और विभाजन मिलता है उसमें—परिसंख्या और प्रत्यनीक न्याय मूलक—वाक्य-न्याय मूल में, काव्यलिंग और हेतु ‘तर्क-न्याय मूल’ में, उत्तर (प्रश्नोत्तर) और लोकोक्ति लोक-न्याय मूल वर्ग में तथा स्वभावोक्ति वर्णन-वैचित्र्य-प्रधान वर्ग में विभक्त हैं । यहाँ सात अलंकारों का विभाजन है । एक और विभाजन मिलता है, उसमें काव्यलिंग, परिसंख्या, प्रत्यनीक, उत्तर और हेतु-अलंकारों को न्याय-मूल वर्ग में, निरुक्ति गूढार्थ-प्रतीत-मूल वर्ग में लोकोक्ति और छेकोक्ति ‘उक्ति-चातुर्य-मूल वर्ग’ में और स्वभावोक्ति

को प्रकीर्णक वर्ग में माना गया है। इस प्रकार यहाँ भी नौ अलंकारों का वर्णन है। दशम संख्या रूप—‘प्रमाण’ का विभाजन नहीं मिलता है।

संस्कृत तथा ब्रजभाषा के अलंकार-ग्रंथों में इन अलंकारों की मान्यता में बड़ा मतभेद है। संस्कृत में—काव्यलिंग उद्भट-वामनादि-द्वारा मान्य, स्वभावोक्ति—भामह, दंडी, उद्भट-द्वारा मान्य, हेतु—भट्टि, दंडी-द्वारा मान्य, उत्तर वा प्रश्नोत्तर—रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक-द्वारा मान्य, परिसंख्या और प्रत्यनीक—रुद्रट, मम्मट, रुय्यक-द्वारा मान्य, छेकोक्ति और निरुक्ति—अप्पय दीक्षित द्वारा मान्य और स्वभावोक्ति, हेतु, परिसंख्या, प्रत्यनीक, प्रश्नोत्तर, निरुक्ति और काव्यलिंग—पीयूष वर्णी जयदेव-द्वारा मान्य हैं। इस प्रकार इनकी संख्या यहाँ भी आठ बैठती है। लोकोक्ति और प्रमाणालंकारों की यहाँ भी पूछ नहीं है।

ब्रजभाषा में भी उक्त-अलंकारों की मान्यता में विभिन्न मत हैं, यथा—आचार्य त्रितामणि ने काव्यलिंग, परिसंख्या (उसके विविध भेद), प्रत्यनीक और प्रश्नोत्तर रूप पाँच अलंकार माने हैं। आपके बाद आचार्य केशव ने—स्वभावोक्ति और हेतु नाम के दो-ही अलंकार स्वीकार किये हैं। भाषा-भूषण (जसवंतसिंह) में—काव्यलिंग, छेकोक्ति, निरुक्ति, परिसंख्या, प्रत्यनीक, लोकोक्ति, स्वभावोक्ति और हेतु-अलंकारों का माना है। मतिराम ने—परिसंख्या, प्रत्यनीक, लोकोक्ति, छेकोक्ति, निरुक्ति और हेतु को, दूलह कवि ने—काव्यलिंग, छेकोक्ति, निरुक्ति, परिसंख्या, प्रत्यनीक, लोकोक्ति, स्वभावोक्ति और हेतु ये आठ—अलंकारों का उल्लेख किया है। अस्तु, ब्रजभाषा में भी दो प्रश्नोत्तर और प्रमाणालंकार नहीं माने गये हैं और जिन्होंने ये माने हैं उनको संख्या नगण्य है।”

प्रथम स्वभावोक्ति लच्छन जथा —

सत्य सत्य बरनन जहाँ, ‘सुभावोक्ति’ सो जान ।

ता - संगी पैहचौनिऐ, बहु - बिधि हेतु, प्रमान ॥

*

जाकौ जैसौ रूप - गुन, बरनत ताही साज ।

ता-सों जाति-सुभाव सब, कहि बरनत कबिराज ॥

वि०—‘जहाँ सत्य-सत्य का वर्णन हो, अर्थात् जिसका तादृश रूप-गुण और जाति-सुभाव का यथावत् वर्णन हो, वहाँ ‘स्वभावोक्ति’ कहते हैं तथा इसके साथी हेतु और प्रमाणालंकार हैं।

स्वभावोक्ति का अर्थ—स्वाभाविक कथन, जिस किसी की चेष्टा या विशेषता-आदि का स्वाभाविक (यथार्थतया - उसके अनुरूप) सत्य, चमत्कार-पूर्ण वर्णन, होता है। जब तक कहने के ढंग में कुछ विचित्रता न हो, अथवा वर्णन में कोई चमत्कार न हो, केवल ज्यों का त्यों सत्य कथन हो तो वहाँ यह अलंकार नहीं कहा जायगा। यहाँ वर्णन (अति) सुंदर, किसी की क्रिया या स्वरूप अथवा जाति-सुभावादि वर्ण्य वस्तु का विशेषता प्रकट करने वाला सत्य-सत्य हृदय को छूने वाला होना चाहिये।

स्वभावोक्ति को, जैसा पूर्व में लिखा जा चुका है, आचार्य भट्टि से लेकर मम्मट-रुय्यकादि सभी आचार्यों ने अलंकार स्वरूप में स्वीकार किया है। आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रकाश में श्रौं की अपेक्षा कुछ व्यापक लक्षण लिखते हुए कहा है—“स्वभावोक्तिस्तु डिभादेः स्वक्रिया रूप वर्णनम्” (स्वभावोक्ति वहाँ, जहाँ बालक आदि की आत्मगत क्रिया तथा रूपादि का वर्णन हो)। आगे फिर आप मूल कारिका में कहते हैं—जो ‘स्वक्रियारूपवर्णनं’ पद दिया है उसमें ‘स्व’ का आत्मगत—जो उन्हीं बालकों में पाया जाय, अन्यत्र का नहीं, से तथा ‘रूप’ का वर्ण और आकार दोनों से तात्पर्य है, यथा—“स्वयोस्तदेकाश्रययोः । रूपं वर्णः-संस्थानं च ।”

साहित्य-दर्पण में भी—“स्वभावोक्तिर्दुरुहार्थ स्वक्रियारूप वर्णनम्” (दुरुह अर्थात् कवि मात्र से ज्ञातव्य जो बालकादि को चेष्टाएँ वा स्वरूप का वर्णन करे) स्वभावोक्ति कहा है। यद्यपि आचार्य मम्मट का लक्षण जितना व्याप्त है, उतना आपका—साहित्य-दर्पणकार का नहीं। फिर भी इसमें एक बात—‘बालकादि की चेष्टा आदि...’ समान रूप से कहीं है। आगे यह लक्षण घिसते-घिसते ‘चंद्रालोक’ में इस प्रकार रहा गया—“स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिषु च वर्णनम्” (जहाँ किसी भी जड़-चैतन्य के स्वाभाविक क्रियाओं तथा भावों का वर्णन-स्वभावोक्ति)। यह विशद और सुंदर लक्षण-ही आगे बड़ ब्रज-भाषा के अलंकार ग्रंथों में मान्यता का प्राप्त हुआ, कारण पूर्व का लक्षण जो बालकों की चेष्टा-आदि के सीमित दायरे में बंद था, वह अब अधिक विस्तृत हो गया। अतएव स्वभावोक्ति का सुंदर और व्यापक लक्षण होगा—‘जहाँ मनुष्यादि-जाति के किसी रमणीय स्वभाव के धर्म, क्रिया आदि का चमत्कारपूर्ण सुंदर वर्णन हो, वहाँ ‘स्वभावोक्ति’

स्वभावोक्ति को ‘वक्रोक्ति-जीवित’ के रचयिता ‘राजानक कुंतक’ न मान कर, इसके मानने वालों पर ‘फवती कसते’ हुए कहा है—“शरीर चेदलंकारः किमलं कुरुतेऽपरम् । शरीर-ही जब उक्त अलंकार हो जाय तब वह किसे अलंकृत

करेगा ।” यहाँ सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का कहना है कि—“यह काव्य का सर्वस्व वक्रोक्ति को ही मानने वाले ‘राजानक कुंतक’ का दुराग्रह मात्र है, क्योंकि प्रकृतिक दृश्यों के स्वाभाविक वर्णनादि भी वस्तुतः चमत्कार पूर्ण और मनोहर होते हैं ।”

एक बात और वह यह कि अलंकार के कुछ ग्रंथों में—रूप, वेष तथा भूषण-रचना, जैसे—नव-शिखादि के वर्णनों में ‘जाति’ नाम के एक प्रथक् अलंकार की उत्पत्ति की गई है, और कहीं इसे स्वभावोक्ति के अंतर्गत ही मान लिया गया है। अतएव जाति में और स्वभावोक्ति में कुछ ऐसी भिन्नता जो चमत्कार पूर्ण हो, नहीं दिखलायी पड़ती, जिससे ये दोनों अलंकार भिन्न रूप में माने जायें। अतएव दासजी ने इन्हें भिन्न न मान कर एक ही स्वभावोक्ति के दो भेद, जाति और स्वभाव रूप से मान पृथक्-पृथक् वर्णन किये हैं ।”

अथ प्रथम स्वभावोक्ति—“जाति बरनन कौ उदाहरन जथा—

लोचन लाल, सुधाधर बाल, हुतासन-ज्वाल सु भाल^१-भरें हैं ।
मुंड की माल गयंद की खाल हलाहल काल कराल गरें हैं ॥
हाथ-कपाल, त्रिसूल जो हाल, भुजाँन में ब्याल-बिसाल जरे हैं ।
दीन कौ दाल,^२ अधीन कौ पाल, अधंग में^३ बाल-रसाल धरें हैं ॥

वि०—“यहाँ जाति रूप शंकर भगवान के अंग और भूषणों का वर्णन है, जो स्वाभाविक है—सुंदर है ।”

द्वितीय सुभावोक्ति-सुभाव बरनन कौ उदाहरन जथा—

बिमल अँगोछि - पोंछि भूषन सुधारि सिर,
अँगुरिन - फोरि^४ तृन-तोरि-तोरि डारती ।
उर नख - छद, रद - छदैन में रद - छद,
पेखि-पेखि प्यारे कों भखति^५ भिभकारती ॥
भई अँनखों-हीं अबलोकति लला कों फेरि,^६
अँगन - सँवारती दिठौना - दै निहारती ।
गात की गुराई पर, मँहैज भुराई पर,
सारी सुंदराई पर राई—लोंन बारती ॥*

पा०—१. (प्र०) सुभाव ... २. (का०) (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) दीन-दयान... ३. (का०) (प्र०) मो... ४. (वा०) कोर... (र० सा०) . फोरि तोरि-तोरि त्रिन-डारती । ५. (वें०) दुकति... ६. (र० सा०) भये-अँनखों-ही अबलोकत लली कों फेर...

* र० सा० (दास) १० १३ । हितकारिनी सखी—उदाहरन ।

वि०—“जैसे कि दासजी ने ‘स्वभावोक्ति’ के दो भेद करते हुए जाति और सुभाव (स्वभाव) के प्रथक्-प्रथक् उदाहरण दिये हैं। यहाँ जाति से मनुष्यादि ही नहीं, पशु-पक्षियों का भी—बोलने, चलने, हँसने का यथार्थ वर्णन होने पर ही यह अलंकार कहा जायगा। साथ-ही स्वाभाविक रूप में प्राकृतिक वर्णन में भी यह अलंकार माना जायगा। उदाहरणार्थ अश्व और प्रकृति क्रमशः यथा—

“फरकत, फाँदत, फिरत, फिर, तो तुरंग रघुराव ।”

*

“छाई छबि स्यामल सुहाई रजनी-मुख की,
रंच पियराई रही और मुररेरे के ।
कहै ‘रतनाकर’ उँमगि तरु-छाँयाँ चली,
बढ़ि अगवाँनी - हेत आवत अँधेरे के ॥
घर-घर साजें सेज अंगनाँ सिँगारि अंग,
लौटत उँमंग - भरे बिछुरे सबेरे के ।
जोगी, जती, जगम जहाँ-हीं-तहाँ डेरे देत,
फेरे देत फुदकि बिहंगँम बसेरे के ॥”

संस्कृत के अलंकार ग्रंथों में बाल-चेष्टाओं के स्वाभाविक वर्णन में भी यह अलंकार माना है, उदाहरण यथा—

“भोजन करत चपल-चित्त, इत-उत औसर पाइ ।
भागि चले किलकात मुख-दधि-ओढ़न लपटाइ ॥”

—रा० च० मा० (गो० तुलसीदास)

अथवा—

“नासा-मोरि, नचाइ-इग, करी कका की सोंह ।
काँटे - सी कसकत हिऐं, गढ़ी कटीली - भोंह ॥”

✽

“गढ़ी कटीली भोंह, केस निरवारति प्यारी ।
तिरछी चितबँन चितै, मँनों उर-हँनत कटारी ॥
कहि ‘पठाँन सुलतान’ छक्यौ लखि अजब-तमासा ।
वाकौ सैहैज सुभाव, और कौ बुधि-बल-नासा ॥”

अथवा—

“गढ़ी कटीली भोंह, न भूलति कबहुँ भुलापेँ ।
वह चितबनि, वह मुरनि, चलनि, चख-चपल नचापेँ ॥

प्राँन रहे 'हरिचंद', एक सोंहँन की आसा ।
उँन तौ बिछुरत-ही, बुधि, बल, मँन धीरज-नासा ॥”

“गद्दी कटीली भोंह जीय-सो सुभत सदाँ-हीं ।
अब उँनके बिन मिलें सखी, जिय माँनत नाँहीं ॥
लाउ बेगि 'हरिचंद', पूरि मँम कोटँन-आसा ।
नाँहीं तौ यै तँन बियोग मो मँनमथ - नासा ॥”

स्वभावोक्ति का एक तीसरा भेद पं० जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'—“जहाँ प्रतिज्ञा-
बद्ध कोई बात कही जाय, अथवा किसी बात (कार्य) का—प्रकार का, प्रण किया जाय
वहाँ स्वभावोक्ति रूप एक 'प्रतिज्ञालंकार' और होता है, जिसका उदाहरण है—

“बारि-टारि डारों, कुंभकरने-बिदारि डारों,
मारों मेघनादै आज यों बल-अनंत हों ।
कहै 'पदमाकर' त्रिकूट-ही कों ढाहि डारों,
डारत करेई जातुघाँनन कौ अत हों ॥
अच्छहि निरच्छ कपि रुच्छ ह्वै उचारों इमि,
तोसे तिच्छ-तुच्छैन कों कछुवै न गंत हों ।
जारि डारों लकै, उजारि डारों उपबँन,
फारि डारौ राँमन कों तौ में हँनुमंत हों ॥”

किंतु यह सुभाव के अंतर्गत होने से प्रयुक्ता की आवश्यकता प्रतीति नहीं
होती। केवल-बाल की खाल निकालना-मात्र है। स्वभावोक्ति का पोद्दार जी ने
जो उदाहरण दिया है, वह भी सुंदर है—

“आगें धेनु धारि हैं री ग्वालँन-कतार ताँ में,
फेरि टेरि-टेरि धौरी - धूँमरीन गोंन ते ।
पोंछि पुचिकारँन अँगोछैन सों पोंछि-पोंछि,
चूँम चारु चरँन चलावै सु बचँन ते ॥
कहै 'महबूब' धरी सुखी अधर बर,
फूँक दई खरज - निषाद के सुरँन ते ।
अमित अँनद भरे कद - छवि वृंदाबँन,
मंद गति आवत मकुंद मधुबन ते ॥”

अथ हेतु अलंकार लच्छन जथा—

या कारँन कौ है यही, कारज यै कहि देतु ।
कारज-कारँन एक-ही, कहै जाँनियतु 'हेतु' ॥

वि० — “जहाँ इस कारण का यही कार्य कहा जाय तथा कार्य-कारण एक साथ वर्णन किये जाँय वहाँ ‘हेतु’ अलंकार होता है ।

हेतु का अर्थ कारण है और कारण-वश कार्य होता है । कारण का फल कार्य है और कारण के अमंतर कार्य होता है । साधारणतया भी पहिले कारण का उल्लेख करने के बाद में उसके फलस्वरूप कार्य का कथन किया जाता है, क्योंकि हेतु-कारण समानार्थी हैं । अतएव कारण का कार्य के साथ तथा कारण के साथ कार्य के अभेद वर्णन में यह अलंकार होता है । यद्यपि यहाँ कारण-कार्य क्रमशः कहे गये हैं, फिर भी इसके वर्णन में उक्ति-वैचित्र्य वा चमत्कार-युक्त कथन होना चाहिये । कुवलयानंद में इसका लक्षण—“हेतोर्हेतुमता सार्थं वर्णनं हेतुरुच्यते” और साहित्य-दर्पण में भी शब्दशङ्कर से यही “अभेदेनाभिधाहेतुर्हेतोर्हेतुमता-ग्रह” (हेतु—कारण और हेतुमान्—कार्य का अभेद से कथन करने में—हेतु) कहा है । अतएव ‘हेतु’ जैसा दासजी ने कहा है, दो प्रकार का—कारण के साथ कार्य के वर्णन में (जब कारण-कार्य का एक साथ वर्णन किया जाय) और कारण-कार्य के अभेद रूप वर्णन में (जब कारण-कार्य एक से, भेद-रहित वर्णन किये जाँय) होता है ।

हेतु के प्रति किन्ही आचार्य का मत है कि यह रूपक का अंग है, किंतु रूपक में उपमेयोपमान का अभेद कहा जाता है और इसमें कारण और कार्य का, अतः यह रूपक से प्रथक है । इसी प्रकार कोई हेतु को काव्यलिङ्ग के और कोई इसके प्रथम भेद को ‘अक्रमातिशयोक्ति के अंतर्गत मानते हैं । काव्यलिङ्ग में ज्ञापक कारण से कथितार्थ का समर्थन किया जाता है, हेतु में नहीं । यहाँ उनका एक साथ वर्णन किया जाता है । अक्रमातिशयोक्ति के ‘अक्रम’ शब्द के व्युत्पत्ति मूलक अर्थ से यह स्पष्ट है कि वहाँ कारण-कार्य का पौर्वापर्य क्रम के बिना एक संग हो जाना वर्णन किया जाता है और यहाँ दोनों (कारण-कार्य) का वर्णन-मात्र ही होता है । अर्थात् अक्रमातिशयोक्ति में कार्य कार्य की पूर्णता रहती है, यहाँ अपूर्णता...।”

अथ प्रथम हेतु उदाहरन जथा—

सुधि गई सुधि की, न चेत रह्यौ चेत-ही में,
लाज तजि दीनीं लाज, साज सब गेह कौ ।
गारी भए भूषन, भयौ है उपहास-बास,
‘दास’ कहै देह में न तेह रह्यौ तेह कौ ॥

सुख की कहाँनी हूँमें, दुख की निसाँनी भई,
 झार भयौ^१ अँनिल, अँनिल भयौ^२मेह कौ ।
 कुल कौ^३ धरँम भयौ^४ घाबरे परँम यहै,
 साँबरे^५ करँम सब राबरे सँनेह कौ ॥

अस्य तिलक

इहाँ लच्छनासक्ति ते सिगरे कबित्त में अतिसयोक्ति व्यंग है —“ए सब करँम राबरे सँनेह के हैं”—इतनी बान (कारज-कारन एक) हेतु अलंकार की है ।

दूसरी हेतु—‘कारज-कारण एक’ उदाहरन जथा—

आज सयाँन यहै सजनी, न कहूँ चलिबौ न कहूँ कों^१ चलैबौ ।
 ‘दास’ यहाँ काहूँ^२नाँम कौ लैबौ^३, है आपनी बात कौ^४ पेच-बढ़ैबौ ॥
 होत यहाँ तौ अरोति अबैरी, गुपाल कौ^५ आलिन-ओर चितैबौ ।
 अंतर-प्रेम-प्रकासक है, यै तेरी ही^६ लाल कों देखि लजैबौ ॥

वि०—“हेतु अलंकार से सुशोभित प्रताप कवि की यह उक्ति भी अति सुंदर है, यथा —

“सुचि सीतल मंद-सुगंध-सँमोर, सदाँ दस-हूँ दिसि डोलत है ।
 कल-कोकिल-चातक मोद-भरे, अनुराग हिणँ हठि खोलत है ॥
 लपटी लतिका तरु-जालँन सों, तिन पै खग-पुंज कलोलत है ।
 चहुँ ओर सों बाँनिक सौ बँनिकें, बँन में बरही बहु बोलत है ॥”

यहाँ वर्षा-कारण से नायिका-द्वारा अभिसार कराना कार्य सखी को अभीष्ट है, अतएव दासजी कृत इस कारण का यही कार्य रूप प्रथम हेतु है ।”

अथ प्रमाँनालंकार लच्छन जथा—

कहुँ प्रतच्छ, अँनुमाँन कहुँ, कहुँ उपमाँन दिखाइ ।
 कहुँ बडेन कौ बाक्य लै, आत्म-तुष्टि कहुँ पाइ ॥

पा०—१.२. (का०) (वे०) (प्र०) भए ...। ३. (का०) (वे०) (प्र०) के...। ४. (का०) (वे०) (प्र०) भए...। ५. (रा० पु० नी० सी०) सबरे .। ६. (वे०) (स० पु० प्र०) की...। ७. (का०) (वे०) (प्र०) छाँ काहूँ के नाम...। (सं० पु० प्र०) छाँ काहूँ की नाम...। ८. (का०) (वे०) (प्र०) लीबौ है । ९. (सं० पु० प्र०) में ...। १०. (का०) (वे०) की...। (सं० पु० प्र०) बवैरी गुपाल के...। ११. (वे०) तेरई...।

अनुपलब्ध संभव कहूँ, कहूँ लै अरथापत्ति^१ ।

कवि 'प्रमाँन' भूषँन कहै बातजु बरनँ सत्ति^२ ॥

वि०—“जहाँ किसी अर्थ का (यथार्थता का अनुभव) कहीं प्रत्यक्ष, कहीं अनुमान, कहीं उपमान, कहीं बड़ों के वाक्य (शब्द), कहीं आत्म-तुष्टि, कहीं अनुपलब्ध, कहीं संभव और कहीं अर्थापत्ति-रूप प्रमाणों से जाना जाय, वहाँ 'प्रमाणालंकार' कहते हैं ।

काव्य-ईश्वरादि निर्णय के लिए 'प्रमाण' की आवश्यकता कही जाती है । अतएव वैशेषिक-शास्त्रकार 'कणाद' मुनि और बौद्धाचार्यों ने प्रथम प्रमाण के दो ही भेद—“प्रत्यक्ष” और “अनुमान” माने हैं । इनके बाद भगवान कपिलदेव ने सांख्य में ‘प्रत्यक्ष’ ‘अनुमान’ और ‘शब्द’ तीन प्रकार के प्रमाण कहे हैं । इसी प्रकार—महर्षि गौतम ने अपने ‘न्याय-शास्त्र’ में प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द के अतिरिक्त ‘उपमान’ को भी प्रमाण का भेद माना है । मीमांसा-शास्त्र में ‘एकदेशी प्रमाकर’ ने महर्षि गौतम के चार—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान के अतिरिक्त अर्थापत्ति-रूप प्रमाण का भी उल्लेख किया है । तदनंतर मीमांसक भट्ट और वेदांत-शास्त्र के भाष्यकारों में अद्वैतवादियों ने प्रत्यक्षादि अर्थापत्ति के बाद एक छठवाँ ‘अनुपलब्धि’ प्रमाण भी माना है और अंत में भगवान वेदव्यास जी ने पुराणों में—“प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव और ‘ऐतिह्य’ नाम के आठ प्रमाण कहे हैं । ऐतिह्य में लोकोक्तियों के अतिरिक्त अन्य विशेषता नहीं होती, इसलिए दासजी ने इसके स्थान पर “आत्म-तुष्टि” लिखा है, जो उचित है—ग्राह्य है । चार्वाक एक ही ‘प्रत्यक्ष’ प्रमाण को मानते हैं ।

प्रमाण का साधारण अर्थ है—वह साधन जिसके द्वारा किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो, वह साधन जिसके सहारे कोई बात सिद्ध की जाय, अथवा वह सबूत जिसका वचन या निर्णय यथार्थ वा आप्त (प्रमाणिक) माना जाय । इसके अतिरिक्त प्रमाण का अर्थ—माप, परिमाण, मात्रा, इयत्ता, सीमा और अवधि भी माने जाते हैं, यथा—“प्रमाणं हेतु मर्यादाशस्त्रेयत्ताप्रमातृषु” (अ० को०-३, ३, ५३) । काव्य-साहित्य में इसका लक्षण—“सन्निकर्षभवंचख्युज्ञान प्रत्यक्ष-मुच्यते”, अथवा—

“कहिऐ बचँन प्रमाँन जब, बेद साख जुत होइ ।

सत्य बचँन सब ते भलौ, बुरौ कहत नहिँ कोई ॥”

पा०—१. (का०) (वै०) (प्र०) अरथापत्त्य । २. (का०) (वै०) (प्र०) सत्य ।

आठ भेद प्रत्यच्छ गुँनि, अनुमानरु उपमान ।

शब्दार्थापत्ति-अनुपलब्धि सभब, एतिह जानँ ॥

अतएव जहाँ किसी अर्थ का प्रमाण, अर्थात् यथार्थ का अनुभव (अमुक पदार्थ ऐसा व इतना है) वर्णित हो, वहाँ प्रमाणालंकार होता है और उसके ऊपर लिखे आठ भेद होते हैं। संस्कृत में महाराज भोज ने और अण्णय दीक्षित ने इन्हें स्वीकार किया है तथा कतिपय भाषा-ग्रंथों में भी इनका वर्णन मिलता है। कुछ आचार्यों का कहना है कि प्रमाण रूप प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों में ही कुछ-कुछ विशेषता है, अन्य प्रमाण—शब्दादि इनके भीतर समा जाते हैं, साथ-ही इनमें कोई लोकोत्तर चमत्कार भी नहीं, इसलिये विस्तार करना व्यर्थ है।” फिर भी प्रत्यक्षादि आठों प्रमाणों की व्याख्या इस प्रकार कही गयी है। प्रत्यक्ष, यथा—

इंद्रिय अरु मँन ए जहाँ, बिपइ आपनों पाइ ।

यहाँ करे प्रत्यच्छ तिहिँ, कहि ‘गुलाब’ कबिराइ ॥”

अर्थात् जहाँ पाँचों इंद्रियाँ और मन रूप लुहों में से किसी एक, दो, तीन वा चार अथवा सबों के विषय का यथार्थ अनुभव हो वहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। इंद्रियाँ—कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिकादि और इनके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और संकल्प-विकल्प कहे जाते हैं। अनुभव-प्रमाण वहाँ होता है, जहाँ किसी साधन-द्वारा किसी साध्य पदार्थ का निश्चयात्मक अनुमान हो, यथा—“अनुमानंतदुक्तं यत्साध्यसाधनयोर्वचः” अथवा—अनुमान जु कारँन देखिकेँ, कारज लीजै जाँन ।

संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में प्रमाण तो नहीं, पर इसके द्वितीय भेद ‘अनुमान’ को अलंकार रूप में अवश्य ग्रहण किया गया है। इन मान्यवालों में—आचार्य रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक प्रधान हैं। अतएव श्री मम्मटाचार्य ने काव्य-प्रकाश में इसका लक्षण जैसा पूर्व में लिखा है—“अनुमानं तदुक्तयत् साध्य-साधनयोर्वचः” (जहाँ साध्य-सिद्ध करने योग्य वस्तु और साधक-सिद्ध करने वाला हेतु, का कथन किया जाय वहाँ अनुमानालंकार) कहा है।

अनुमान, कवि-कल्पित चमत्कार पूर्ण साधन के द्वारा साध्य को ज्ञान कराये जाने पर-ही अलंकार श्रेणी में आयेगा, अन्यथा नहीं। यहाँ साधन ज्ञापक-कारण रूप में होता है। अनुमान में, उत्प्रेक्षा-वाचक-शब्द—ज्ञानत हों, मानत हों, जानों, मानों और निश्चै आदि का प्रयोग जैसा उत्प्रेक्षा में होता है, वैसा यहाँ (अनुमान) भी प्रायः होता है, किंतु उत्प्रेक्षा में इन वाचक शब्दों का प्रयोग उपमेय में उपमान के सादृश्य की संभावना में अनिश्चित रूप से किया जाता

है और यहाँ इन वाचक-शब्दों का प्रयोग उपमेयोपमान भाव (सादृश्य) के बिना साध्य को साधन - द्वारा सिद्ध करने के लिए निश्चित रूप से किया जाता है ।

“उपमान-प्रमाण वहाँ होता है—“जहाँ उपमान के सादृश्य से बिन-देखे हुए उपमेय का ज्ञान कराया जाय । इसी प्रकार ‘शब्द-प्रमाण वहाँ—“जहाँ शास्त्र व महाजनों के वाक्य प्रमाण-रूप में वर्णित हों । अथवा —

‘जहाँ शास्त्र अरु लोक के, बचैन प्रमान-बखौन ।’

जिसमें अपने अंतःकरण-स्थित विश्वास के साथ किसी अर्थ का प्रमाण कहा जाय, वहाँ ‘आत्म-तुष्टि ‘प्रमाणालंकार’ होता है और “अनुपलब्धि”—“जाँनि परै नहि बस्तु कछु, अनुपलब्ध है सोइ ।” अर्थात् जिसमें किसी अर्थ की अप्राप्ति में उसके अभाव का प्रमाण वर्णन किया जाय । इसी प्रकार “संभव-प्रमाणालंकार वहाँ होगा, जहाँ—“संभवस्तु निमित्तेन वस्तु संभावना यदि,” अर्थात् “जहाँ संभव है वस्तु कौ संभव नौम सुहोइ”, (जिसमें किसी अर्थ के संभव होने का प्रमाण-रूप में वर्णन किया जाय) जहाँ वस्तु की संभावना की जाय । यहाँ, संभव से कथितार्थ के वर्णन से तात्पर्य है, इत्यादि... ।

अर्थापत्ति प्रमाण वहाँ होता है—जहाँ किसी अर्थ का प्रमाण अन्याय के योग से कहा गया हो, व्यर्थ कथित अर्थ अन्य के योग से स्थापित किया गया हो ।

अर्थापत्ति, मीमांसकों के अनुसार “जहाँ एक बात के कथन से दूसरी बात स्वतः सिद्ध हो जाय, वहाँ प्रमाण रूप मानी गयी है । अतएव काव्यार्थापत्ति से इसकी प्रयुक्ता बतलाते हुए अलंकाराचार्यों का कहना है कि “काव्यार्थापत्ति में भी एक अर्थ से दूसरे अर्थ की सिद्धि होती है, पर वहाँ सिद्ध किया जाने वाला अर्थ वस्तुतः अकथित होता है और उसका निर्देश केवल कुछ शब्दों-द्वारा किया जाता है और यहाँ “सिद्ध होने वाला अर्थ स्पष्ट-रूप में कहा जाता है, यही अंतर है ।

अथ प्रथम प्रमाँन-प्रत्यच्छ कौ उदाहरन जथा—

बाल-रूप जोबैनवती, भव्य - तरुँन कौ संग ।

दीनीं' दर्ई सुतंत्रता, सती होइ किहि ढंग ॥

वि०—“पूर्ण यौवनवती अविवाहित वा विवाहित स्त्री का तरुण-पुरुषों के साथ स्वतंत्रता से मिलना प्रत्यक्ष में सती होने का ढंग नहीं कहा जा सकता,

उसका असती होना ही प्रत्यक्ष है। अलंकार-आशय (उत्तमचंद भंडारी) में 'प्रत्यक्ष-प्रमाण का उदाहरण सुंदर है, यथा—

“सखि, नंद के द्वार सिंगार-सँमें, सब गोप-कुँमार खरे हित कै।
वौ सुरत नींठि निहारै न कों, सब दीठि लगाइ रहै चित दै॥
तब खोलत-ही पट, मोहन की छबि-देखत-ही इकबार सबै।
चहुँ ओर ते ग्वाल पुकार उठे,—“अज-दूल्हा नंद-किसोर की जै॥”

और कविवर श्री विहारीलाल का यह दोहा—

“अजों तरोंना-हीं रह्यौ, श्रुति-सेवत इक अंग।

नाँक-बास बेसर लख्यौ, रहि मुक्तन के संग॥”

विहारीलाल कृत यह दोहा उनकी 'सतसई' में चोटी का है, साक्षी हैं स्व० पं० श्री पद्मसिंह शर्मा, यथा—‘तरौना कान के एक आभूषण का नाम है, जिसे ‘तरकी’ या ‘ढेड़ी’ भी कहते हैं। बेसर, नाक का प्रसिद्ध भूषण (नथ) है। कवि ने इन दोनों शब्दों के साथ श्लेष-बल से बड़ा अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। कवि कहते हैं—“श्रुति (कान) रूप एक अंग का सेवन करने वाला ‘तरौना’ अब तक ‘तरों + ना’ ही है (तरा नहीं है) और ‘मुक्तन’ के संग’ (मोतियों के साथ रह) ‘बेसर’ (नथ) ने ‘नाँक-बास’ (स्वर्ग का बास) प्राप्त कर लिया—नाक में स्थान पा लिया।” “इसका दूसरा ‘प्रतीयमान अर्थ है—“कोई किसी मुमुक्षु से कह रहा है कि मुक्ति चाहते हो तो जीवन्मुक्त महात्माओं की संगति करो, श्रुति-सेवा भी एक संसार-तरणोपाय है सही, किंतु इससे शीघ्र नहीं तरोगे। देखो, यह कान का ‘तरौना’ श्रुति-रूप एक अंग का कबसे सेवन कर रहा है, पर अब तक “तरौना-ही रख्यौ”—तरा नहीं, तरौना-ही बना है और बेसर ने “मुक्तन के संग रहि (बसि)”—मुक्तों की संगति पाकर “नाँक-बास लख्यौ”—वैकुण्ठ-वास पाकर सालोक्य मुक्ति प्राप्त कर ली।

अथवा कोई किसी केवल श्रुति-सेवी मुमुक्षु से कह रहा है कि “एक अंग श्रुति का सेवन करते हुए (भी) तुम अब तक नहीं तरे—विचार तरंगों में गोते खा रहे हो और वह देखो, अमुक व्यक्ति मुक्तों को सत्संगति से ‘बेसर’ अनुपम ‘नाक-बास’ (वैकुण्ठ-प्राप्ति, सायुज्य-मुक्ति) प्राप्त कर लिया।

दोहे के तरौनाँ, श्रुति, अंग, नाक, बेसर और मुक्तन ये सब पद शिल्प हैं—दु-अर्थक हैं।

संगति की महिमा से ग्रंथ भरे पड़े हैं। गो० तुलसीदासजी ने भी भगवद्-भक्तों को सत्संगति की महिमा बड़े समारोह से समझाया है, पर इस चमत्कार-जनक प्रकार से किसी ने कहा हो, सो हमने नहीं सुना। विहारी अपने कविता

प्रेमियों की नब्ज पहचानते थे, वह जानते थे कि “अपने बावले” को कैसे सम-
भाया जाता है—रस-जोलुप-कविता-प्रेमी सत्संगति की महिमा को किस रूप में
सुनना पसंद करेंगे। रात-दिन जो चीजें प्रेमियों की नजर में समायी रहती हैं,
उनकी ओर इशारा करके ही उन्हें यह तत्व समझाना चाहिये। कवि के लिये
यही उचित है। नीरस उपदेश पर रसिक-रोगी कब कान देता है—सुनता भी
नहीं, आचरण करना तो दूर रहा।

कवि जब विषयासक्त प्रेमी को विषयासक्ति का दुष्परिणाम समझाना चाहता
है तो उसके लिए किसी पतित भक्त या योग-भ्रष्ट ज्ञानी का दृष्टांत (प्रत्यक्ष की
भाँति) देने को वह इतिहास के पन्ने पलटने नहीं बैठता, वह उस विषयी की
दृष्टि में बसी हुई चीज को सामने (प्रत्यक्ष में) दिखाकर झटपट बोल उठता है कि
देखी, विषयासक्ति की दुरंतता !

“स्नेहं परित्यज्य निपीय धूमं कांताकचामोक्षपथं प्रपन्नाः ।

नितंब संगत्पुनरेव बद्धा अहो दुरंतता विषयेषुसक्तिः ॥

—सतसई-सौष्ठव (पद्मसिंह)

विहारी के इस दोहे में अलंकारों का भी काफी झुरमुट है। श्लेष से पुष्ट
मुद्रलंकार तो चमक-ही रहा है, ‘प्रत्यक्ष-प्रमाणालंकार भी अपनी सज-धज दिखा
रहा है।’ प्रत्यक्ष-प्रमाण रूप किसी कवि की यह सूक्ति भी सुंदर है—

“लखन सुनों, जिहि कारनैं, होत जग्य-धनु-धारि ।

मँन मँनत है देखि यै, है वौ जनक दुलारि ॥”

दुतिय प्रमान—अनुमान उदाहरन जथा—

यै पावस तँम, सौँझ नहिं, कहा दुचित मति भूलि ।

कोक असोक बिलोकिऐ, रहे कोकनँद फूलि ॥

वि०—“कविवर ग्वालजी कृत नीति-संमत ‘अनुमान’ का यह उदाहरण
(छंद) भी सुंदर है, यथा—

“जाकी खूब-खूबी खूब-खूबी यहाँ चारँन में,

ताकी खूब-खूबी, खूब-खूबी नाँ अगाहनाँ ।

जाकी बदजाती, बदजाती यहाँ चारँन में,

ताकी बदजाती, बदजाती नाँ सराहनाँ ॥

‘ग्वाल कबि’ तेरें यही परसिद्ध - सिद्ध,

यही परसिद्ध जाकी इहाँ-वहाँ सराहनाँ ।

जाकी यहाँ चाँहनाँ है, ताकी वहाँ चाँहनाँ है,

जाकी यहाँ चाँह-नाँ है, ताकी वहाँ चाँह-नाँ ॥”

“सुँनत पथिक मुँह माघ-निसि, लुऐं चलति उहि गाँम ।
बिनँ-बुझें, बिनँ-ही सुँने, जियति बिचारी बाँम ॥”

*

‘नभ-लाली, चाली निसा, चटकाली धुँनि कीन ।
रतिपाली आली अँनत, आए बनमाली न ॥”

उदूँ में भी “अनुमान” पर अच्छी-अच्छी सूक्तियाँ हैं, दो-चार देखिए और सराहिए जैसे—

“बलायें लेके पृछा हमने उनसे, कहिये, क्या समझे ।
वह पहिले मुस्कराये, फिर कहा, तुझसे खुदा समझे ॥”

*

अर्ज मतलब पर बिगड़ जाते हैं वह ।
बात कहना भी शिकायत हो गयी ॥

*

हाल-वस्ले गैर का, उस शोख से क्या पूछिये ।
या तो यह होगा, कि होगा, या यह होगा, होगया ॥

*

ख्वाब में उनको किसी ने रात छेड़ा है जरूर ।
देखते हैं गौर से मुझको बुलाकर सामने ॥

तीसरौ प्रमाँन-उपमाँन कौ उदाहरन जथा—

सहस घटँन में लखि परै, श्यों एकै रजनीस ।
त्यों घट-घट में ‘दास’ जू, प्रतिबिंबित जगदीस ॥

चौथौ प्रमाँन ‘सबद’ के भेद लच्छन जथा—

स्रुति-पुराँन की उक्ति औ* लोक-उक्ति दै चित्त ।
बाचच-प्रमाँन जु माँनिऐ, सबद-प्रमाँन सुमित्त ॥

वि०—“दासजी ने चौथे प्रमाणांलंकर स्वरूप ‘शब्द-प्रमाण’ के दो भेदों का कथन करते हुए वाच्य-प्रमाण, श्रुति-पुराणादि शास्त्रीय उक्ति, शब्द-प्रमाण रूप लोकोक्तियों को बतलाया है, उदाहरण जैसे—

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) है...। २. (का०) (वें०) (प्र०) कीं...।
(सं० पु० प्र०) कै...।

सुति-पुराँनोक्त प्रमाँन उदाहरन जथा—

तुम जु हरी पर-बाल, ता ते हँम या' हाल में ।
नाथ, विदित सब काल, जो 'हँन्यात सो हँन्यते' ॥

लोकोक्त-प्रमाँन उदाहरन जथा—

काँन्ह चलौ किँन एक दिँन, जहँ परपंची* पाँच ।
देह^३ कहें तौ लीजियो, कहा साँच कों आँच ॥

वि०—“शब्द-प्रमाण और लोकोक्ति के निम्न-लिखित दो उदाहरण भी अति सुंदर हैं, क्रमशः यथा—

“संकर से मुँनि जाहि रटें, चतुराँनन-आँनन-चारि ते गावें ।
सो हिय नेंकु-हिँ आवति-ही, मति-मूढ़ महा 'रसखान' कहावें ॥
जा पर देब-अदेब - भुजंगम, बारत घाँनन बार न लावें ।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छुड़िया-भरि छाछ पै नाँच-नचावें ॥”



“एक तौ भोन महा अति साँकरौ, दूसरें लोगन कौ है भराभर ।
तीसरौ और बड़ौ दुख हयाँ, घरहाँईं करें घनों घेर घराघर ॥”
कासों कहां में हिण की बिथा, कथा और सुँनों सब भाँति निरादर ।
पीतम कौ मिलनों सजनी, भयौ पास कौ बास बिदेस-बराबर ॥”

पाँचयों प्रमाँन 'आत्मतुष्टि'-लच्छन जथा—

अपने अंग-सुभाइ^४ कौ, दृढ़ बिसवास जहाँ-हिं ।
'आतँमतुष्टि' प्रमाँन कबि-कोबिद कहें* तहाँ-हिं ॥

अस्य उदाहरन जथा—

मोहिँ भरोसौ जाँहुगो, स्याँम-किसोरै-ज्याहि ।
आली, मो अँखियाँ न-तठ^५ इती न रहिती चाहि ॥*

वि०—“आत्मतुष्टि के उदाहरण स्वरूप ब्रजभाषा के चहेते कवि 'द्विजदेव' जी की सूक्ति देखिये, यथा—

पा०—१ (का०) (वें०) (प्र०) यहि...। २. (का०) (प्र०) परपंची...।
३. (वें०) दीज्य कहें सो दीजिये .। (सं० पु० प्र०) दिव्य कहत सो दीजियो...।
४. (सं० पु० प्र०) सुभाव...। ५. (प्र०) कहत...। ६. (वें०) अँखियाँ-न-तर...।
(सं० पु० प्र०) अँखियाँ-न-तर इन्हें...।

*, भा० भू० (केड़िया) पृ०—३७० ।

“लहि जीबन-मूरि कौ लाहु अली, वै भली जुग-चारि लों जीबौ करें ।
 ‘द्विजदेव जू’ त्यो हरखाह हिऐं, बर-बेन-सुधा-मधु पीबौ करें ॥
 कछु घूँघट-खोज चितै हरि-भोरें, चौथ-ससी-दुति लीबौ करें ।
 हँम तौ ब्रज कौ बसबौई तज्यौ, अब चाब-चबाहनें काबौ करें ॥”

*

हँम एक कुराह चलीं तौ चलीं, हटकौ इन्हें ए नाँ कुराह चलें ।
 इहि तौ बलि आपुनों सूझती हैं, प्रँन - पालिए सोई जो पालें-पलें ॥
 ‘कबि ठाकुर’ प्रीति करी है गुपाल सों, टेरे कहीं, सुँनों ऊँचे गलें ।
 हँमें नीकी लगी सो करी हँमनें, तुँग्हें नीकी लगौ न लगौ तौ भलें ॥

छठयो प्रमान ‘अनुपलब्धि’ उदाहरन जथा—

यो जु^१ कहीं कटि नाँहि^२ तौ, कुच हैं कौन^३ आधार ।
 परँम इंद्रजाली मदन, ता^४ कौ चरित अपार ॥

सातयो प्रमान — संभव उदाहरन जथा—

होती बिकल बिछोह को, तँनक-भँनक सुँनि काँन ।
 मास - आस - दै जात हौ, याहि गँनों बिँन-प्राँन ॥

*

उपजेंगे है हैं अजों, हिंदूपति से दाँनि ।
 कछौ^५ काल निरबधि^६ अबधि- बड़ी बसुमती जाँनि ॥

वि०—“नीति वाक्य-युक्त संभाव-प्रमाण का उदाहरण ठाकुर कवि रचित यह भी सुंदर है, यथा—

“सामिल में, पीर में, सरीर में न भेद राखें,
 हिंमत-कपाट कों उघारें तौ उघरि जाइ ।
 ऐसौ ठाँन-ठाँनें तौ बिनाँ-हीं जंत्र-मंत्र किएं,
 साँप के जैहैर कों उतारें तौ उतरि जाइ ॥
 ‘ठाकुर’ कहत कछु कठिन न जानों थे,
 हिंमत किए ते कहौ कहा नाँ सुधरि जाइ ।
 चारि जँनें चारि-हूँ दिसा ते चारों कोने गहि,
 मेरु कों हलाइ कें उखारें तौ उखरि जाइ ॥

पा०—१. (वें०) यों न...। (सं० पु० प्र०) जौन कहों...। २. (का०) (प्र०)
 (सं० पु० प्र०) केहि...। (वें०) किहि...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) बिधि कौ... ।
 ४. (का०) (वें०) (प्र०) कहोय...। ५. (का०) (वें०) निरवधिअलख...।
 (सं० पु० प्र०) निरअवधि-लखि,

“होगा कोई जहाँ में, (जो) गालिब को न जाने ?
शायर तो अच्छा है, (पर) बदनाम बहुत है ॥”

आठग्रो' प्रमाँन-अरथापत्ति उदाहरन जथा—

तिय-कटि नाँहिंन जौ^१ कहैं, तिन्हें^२ न मति की खोज ।
क्यों रहिते आधार-बिँन, गिरि-से कठिन^३ उरोज ॥

अरथापत्ति बचन-प्रमाँन जथा —

इतौ पराक्रम करि गयौ, जाकौ दूत निसंक ।
कंत कहौ दुस्तर कहा, ताहि तोरिबौ लंक ॥

वि०—“दासजी द्वारा अर्थापत्ति प्रमाण के उदाहरण स्वरूप प्रथम दोहे को किसी कवि ने इस प्रकार अपनाया है, यथा—

“तिय तेरी कटि है, यहै—मैं कीन्हों निरधार ।
जौ न होइ तौ को धरै, बिपुल पयोधर-भार ॥”

रसलीन कहते हैं—

“अरुँ न माँग पटियाँ नहीं, मार जगत कों मार ।
असित फरी पै लै धरी, रक्त भरो तरबार ॥”

अथवा—

“नहिँ अंबर अंग, न संग सखा, बहु भूतँन के डर-सों डरतो ।
डरतो पुनि साँपन की सुसुकारनि, भाँग-बटोरत-ही मरतो ॥
मरतो जिहि जाँनी न जन्म-कथा, नर-बाहँन-सों खर नाँ चरतो ।
हँसि पारबती कहै संकर सों, हँम नाँ बरतीं, तुँम्हें को बर तो ॥”

श्री केशवदास कृत ‘अर्थापत्ति’ की माला-स्वरूप निम्न-लिखित छंद भी देखिये, यथा—

“बाल बली न बच्यौ पर-खोरहिँ, क्यों बचिहौ तुँम आपनी खोर-हिँ ।
जा लागि छीर-सँमुद मध्यों, कहि कैसैं न बाँधि हैं बारिध-थोर-हिँ ॥
श्री रघुनाथ गँनों असमर्थ न, देखि बिनाँ - रथ, हाथिन, घोर-हिँ ।
तोरयौ सरासन संकर कौ, जिहिँ सोब कहा तुब लंक न तोर-हिँ ॥”

यहाँ “स्वयं राम के अपराधी तुम कैसे बचोगे ?” इस अर्थ को “पर (सुग्रीव) का अपराधी बाज़ि उनके द्वारा मारा गया” इस अन्याय के योग से

पा०—१. (का० (वें०) (प्र०) जे कहैं...। २. (रा० पु० नी० सी०) तौ जु न मति की...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) जुगल...।

प्रमाणित किया गया है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ चरण में भी वही बात है, इस लिये माला है” — भारती-भूषणे श्री केडिया-वचनात् ।”

अथ काव्यलिंग अलंकार-लच्छन जथा—

जहँ सुभाव के हेतु कौ, करि^१ प्रमौन कहि कोइ ।
करै सँमर्थन-जुक्ति-बल,^२ ‘काव्यलिंग’ है सोइ ॥

*

कहुँ वाक्यार्थ सँमर्थये, कहुँ सबदारथ^३ जाँन ।
काव्यलिंग कवि-जुक्ति गँनि, वहै निरुक्ति न आँन ॥*’

वि०—“जहाँ स्वाभाविक हेतु प्रमाण के साथ युक्ति-बल से समर्थन किया जाय, वहाँ ‘काव्यलिंग’ कहा जाता है। यह काव्यलिंग—कहीं वाक्यार्थ और कहीं शब्दार्थ के समर्थन से दो प्रकार का होता है। कोई-कोई काव्यलिंग को ‘वाक्यार्थता’ (संपूर्ण वाक्य के अर्थ में कारण का कहा जाना) और पदार्थता (एक पद के अर्थ में कारण का कहा जाना) नाम के उभय भेद में विभक्त करते हैं, पर बात दोनों एक-ही है।

काव्यलिंग में दो शब्द हैं—‘काव्य’ और ‘लिंग’। यहाँ ‘काव्य’ शब्द का प्रयोग तर्कशास्त्र में माने हुए लिंग के साथ पृथक्ता दिखलाने को किया गया है। लिंग का अर्थ—‘कारण, चिन्ह’ वा ‘हेतु’—आदि है। अतएव जहाँ वाक्य या पद के अर्थ से हेतु का भी वर्णन—कथन किया जाय, वहाँ यह अलंकार होता है। जो कुछ वर्णनीय विषय है उसके कारण का अन्य वाक्य, पद अथवा शब्दों से उल्लेख करते हुए समर्थन किया जाना इसका विषय है। ब्रजभाषा के ग्रंथों में—‘जब किसी अर्थ का समर्थन युक्ति पूर्वक किये जाने पर यह अलंकार मानना कहा है।

काव्यलिंग का जैसा शब्दार्थ किया गया है, ‘काव्यलिंग—चिन्ह (कारण) होता है और यहाँ कारण का प्रयोग ‘ज्ञापक’ या ‘सूचक’ रूप में होता है, ‘कारक’ का नहीं। इसी प्रकार ज्ञापक-कारण वह है जिससे किसी वस्तु का ज्ञान हो और सूचक, सूचना देने वाला। अतएव इसी ज्ञापक कारण से यह अलंकार समझा जाता है। यहाँ जो ‘कारण’ कहा जाता है, उसका बोध ‘कारण’ शब्द से नहीं, उसके अर्थ से कराया जाता है।

पा०—१. (का०) (प्र०) कै प्रमान जो कोइ। (वे०) कै प्रमान को कोइ। २. (का०) (वे०) सौं...। ३. (का०) (वे०) (सं० पु० प्र०) (प्र०) सद्बार्थ सुजाँन।

* श्रु० ल० सौ० (द्विजदेव) पृ० ४०५ (टिप्पणी)।

काव्यलिङ्ग, सर्व प्रथम संस्कृत के उद्भट-आचार्य ने माना है, तदनंतर मम्मट और रुय्यक ने। आचार्य मम्मट ने इसका लक्षण—“काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता” (जहाँ वाक्यार्थ वा पदार्थ रूप से हेतु—कारण का वर्णन किया जाय वहाँ—काव्यलिङ्ग) लिखा है और साहित्य-दर्पण में—“हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते” (जहाँ वाक्यार्थ वा पदार्थ किसी का हेतु हो, वहाँ...) कहा है। आगे साहित्य-दर्पणकार कहते हैं—“कोई, कार्य-कारण भाव में अर्थांतरन्यास नहीं मानते, वाक्यार्थ-गत काव्यलिङ्ग से ही उसे गतार्थ समझते हैं। यह ठीक नहीं, क्योंकि जैसा पूर्व में लिखा है—‘हेतु तीन प्रकार का—ज्ञापक, निष्पादक और समर्थक रूप में होता है। जहाँ ज्ञापक हेतु हो वहाँ अनुमानालंकार और निष्पादक हेतु में काव्यलिङ्ग तथा समर्थक हेतु में अर्थांतरन्यास का विषय समझना चाहिये”, पर कुछ आचार्य कहते हैं कि हेतु - निष्पादक, ज्ञापक और समर्थक तीन प्रकार का होता है, ठीक है, किंतु यहाँ हेतु का तृतीय भेद (समर्थक हेतु) समीचीन नहीं ज्ञात होता, क्योंकि इसमें कार्य-कारण-भाव न मिलने के कारण वह प्रथम भेद (निष्पादक हेतु) में समा जाता है।

काव्यलिङ्ग और अर्थांतरन्यास के विषय-विभाजन में यह भी कहा जाता है कि, अर्थांतरन्यास में वाक्य सामान्य तथा विशेष में होते हैं - एक-दूसरे के समर्थक होते हैं और काव्यलिङ्ग में दोनों वाक्य उक्त रूप न हो कार्य-कारण रूप में होते हैं।

आचार्य मम्मट ने काव्यलिङ्ग को ‘हेतु’ या ‘काव्य-हेतु’ भी कहा है। दंडी और भोज ने इसे हेतु के अंतर्गत मान “कारक-हेतु” माना है। हेतु के भी भाव-अभाव-साधनादि कई उपभेद माने हैं। कविप्रिया (केशवदास) में ‘हेतु’ अलंकार दंडी-अनुसार माना गया है, पर केशवदासजी दंडी के हेतु का स्वरूप नहीं समझे, जिससे उदाहरण उससे पृथक् हो गया है। जो उदाहरण केशवदासजी ने दिया है, वह दंडी-कथित ‘अभाव-साधन’ हेतु-अलंकार का नहीं, विभावना का विषय—“अनसाधे ह्यं साधनं सिद्धं भयौह” बन गया है। क्योंकि यहाँ कारण के अभाव में कार्य का होना कहा गया है। इसी प्रकार ‘भाव-अभाव हेतु का जो उदाहरण (जा दिन ते वृषभांनु लजी०) कविप्रिया में दिया गया है, वह भी दंडी के ‘चित्र-हेतु’ का उदाहरण है, भाव हेतु का नहीं। महा कवि केशव के इस पद्य में कार्य-कारण पौर्वापर्य रूप ‘अतिशयोक्ति’ है, किंतु ऐसे उदाहरणों में आचार्य दंडी ने अतिशयोक्ति न मानकर चित्र-हेतु-ही माना है। परिकर और काव्यलिङ्ग के प्रति भी इन आचार्यों का कड़ना है कि “परिकर” में पदार्थ वा वाक्यार्थ के बल से जो अर्थ प्रतीत होता है, वही वाच्यार्थ को पोषित

करता है। वहाँ विशेषण साभिप्राय होता है, जिसके अर्थ से कहने के ढंग में विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। काव्यलिंग में शब्द वा वाक्य का अर्थ दूसरे वाक्य की उक्ति का कारण बन जाता है—साक्षात् पदार्थ वा वाक्यार्थ ही कारण भाव को प्राप्त हो जाते हैं।”

काव्यलिंग के प्रति अलंकाराचार्यों में मत भेद है। कोई इसका लक्षण—“जो समर्थन के योग्य हो उसका समर्थन करना”, कोई—“युक्ति से अर्थ का समर्थन करना” और कोई—“स्वभाव, हेतु वा प्रमाण-जन्य युक्तियों से समर्थन करने पर” इसे मानते हैं। ये लक्षण द्रविड़-प्राणायाम जैसे हैं, कहने के ढंग मात्र हैं, तथ्य-युक्त नहीं।”

काव्यलिंग—उदाहरन जथा—

ताल-तँमासे कों आवत बाल के,^१ कौतुक-जाल सदाँ सरसात है।
सोर चकोरिन कौ चहुँ ओर, बिलोकत^२ बीच हियौ हरखात है॥
‘दास जू’ आँनन चंद-प्रकास ते, फूले^३ सरोज कली ह्वै जात है।
ठौर-हीं-ठौर बँधे अरबिंद, मलिंद के^४ बृंद घने^५ भँननात है॥

वि०—“दासजी के इस उदाहरण में स्वभावोक्ति स्वरूप स्वभाव का समर्थन करते हुए काव्यलिंग है।

पुनः उदाहरन जथा—

हिऐ^१ राबरे साँबरे, या ते लगत न बाँम।
गुंज-माल-लों अरध-तँन,हों हूँ होउ न स्याँम॥

*

छवि है इन्हीं की, इन्ह^२ तिहारे खुले^३ बारँन में,
मेरौ सीस^४ छूँ - छूँ मोर - पंखँन^५ बताई है।
आँनन-प्रभा कों अरबिंद जल - पेंठों ‘दास’,
बाँनी बर देति^६ कल - कोकिल दुहाई है॥

पा०—१. (का०) (वें०)। (स० पु० प्र०) ताल तँमासे ह्याँ बाल के आवत...। (प्र०)तमासे कै आवत बाल को,। २. (प्र०) बिलकोत-ही हियरौ हर...। (स० पु० प्र०)हिऐ...। ३. (का०) (प्र०) फूलो...। ४. (का०) कौ...। ५. (का०) घनों...। ६. (का०) ए...। (स० पु० प्र०) (वें०) (प्र०) इन-हीं की छवि है तिहारे...। ७. (स० पु० प्र०) छुटे...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) स्तिर...। ९. (का०) (वें०) (प्र०) पच्छँन...। १०. (का०) (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) देती किल कोकिल...।

कुच की अचलता कों संभु-सिर लीनी^१ गंग,
 रौमाबलि - हेत मधुपाबलि^२ मधु - ल्याई है ।
 है-है^३ सोंहवादी, सो^४फिरादे हथौ^५ कम्मल^६ नैनी,
 जिँन-जिँन की तैने^७ चारु चारुता चुराई है ॥

वि०—“यहाँ दोनों (दोहा और घनाक्षरी) छंदों में युक्ति से हेतु (कारण) का समर्थन किया गया है, इसलिये यहाँ भी काव्यलिंग है ।

पुनः उदाहरन जथा—

सोभा, सुकेसी की केसँन में, है^८ तिलोत्तमाँ की तिल-बीच निसाँनी ।
 उरबसी ही-में बसी, मुख की अनुहारि^९ सों इंदिरा में पैहचाँनी ॥
 जाँनु कों रंभा, सुजाँन^{१०} कों जाँन है, दास^{११} जू बाँनी^{१२} में बाँनी समौनी ।
 एती छबोलिन सों छवि-छीन कें, एक रची बिधि राधिका राँनी ॥

वि० “दासजी के इस उदाहरण में प्रत्यक्ष-प्रमाण रूप समर्थन-युक्ति से काव्यलिंग सुशोभित हो रहा है । एक ‘द्विजदेव’ (महाराज अयोध्या) जी की सूक्ति, जो काव्यलिंग का सुंदर उदाहरण है, देखिये—

“बरुनीं के उधारत वे सिसकें, चहुँघाँ मुख-जोबती अलि चलें ।
 कँनखैयँन ताकि रहै नँनदी, वे बदी-करि सौति-कुचालि चलें ॥
 ‘द्विजदेव’ इते पर बाबरे लोग, सो दीठि जितै-तित डालि चलें ।
 बसिबौ तौ भयौ नित-ही ब्रज में, कब-लों अलि, घूँघट-घालि चलें ॥”

श्री द्विजदेव जी की यह उक्ति ‘रूप-गर्विता’ नायिका की सखी-प्रति है । इस उक्ति के प्रति नायिका-निरूपण में मत-भेद हो सकता है, पर ‘असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि’ में ‘गर्व व्यभिचारी भाव’, शब्दालंकार ‘ह्रस्वानुप्रास’ से मिलकर और ‘वैदर्भी-रिति तथा ‘प्रसादगुण’ से गुंफित होकर ‘काव्यलिंग’ निराली शोभा दे रहा है, यह निर्विवाद है । द्विजदेवजी से प्रथम यही बात ‘ठाकुर’ कवि ने भी कही है, जथा—

पा०—१. (का०) (प्र०) लीन्हों...। (वें०) (सं० पु० प्र०) लीन्हें...। २. (का०) (वें०) (प्र०) मधुपात्री (मधुपालि) ..। ३. (का०) प्र०) हैं .। (सं० पु० प्र०) कैकै...। ४. (का०) (वें०) है फिरादी...। (प्र०) (सं० पु० प्र०) है फिरादी...। ५. (सं० पु० प्र०) ह्वाँ...। ६. (वें०) (सं० पु० प्र०) चपल-नैनी । ७. (का०) तू...। (वें०) (प्र०) तू यह चारुता चुराई...। (सं० पु० प्र०) यह तू चारुता चुराई...। ८. (का०) दै...। ९. (का०) (वें०) उनहारि...। १०. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) सुजान सुजान है । ११, (सं० पु० प्र०) वेंनी ।

“हरिजू की गैल यह, मेरी पौरि अगवाँ-सों,
 ह्याँ - ह्यै कळ्यौ ही चँहें मोहि काँम घर कौ ।
 ताकौ घरहाँईं, दुखहाँईं सोर पारती हैं,
 बास छोड़ि दीजै कै निकसिबौ डगर कौ ॥
 ‘ठाकुर’ कहत हों कराहँन भई हों सुँनि,
 सकल उराहँनों जु है रह्यौ अघर कौ ।
 घरी-पैहैर होइ तौ बचाएँ रहों मेरी बीर,
 देहरी - दुआर दुख आठ - हूँ पहर कौ ॥

*

“राजे - उल्फत, ऐ दिखे-बेताब, अफशाँ कर दिया ।
 खुद भी रुसवा हो गया, मुझको भी रुसवा कर दिया ॥

अथ ‘निरुक्ति’ अलंकार लच्छन जथा—

“है ‘निरुक्ति’ जँह नाँम को’ अरथ-कल्पनाँ आँन ।
 दोषाकर ससि कों कहें, याही दोष मुजँन ॥”

वि०—“जहाँ किसी नाम की अर्थ-कल्पना दूसरी की जाय, वहाँ ‘निरुक्ति अलंकार’ होता है, जैसे—शशि को दोषाकर (दोषों का घर) कहना । भाषा-भूषण में इसका लक्षण इस प्रकार दिया है, यथा—

‘सो ‘निरुक्ति’ जब जोग ते अर्थ-कल्पनाँ आँन ।’

अर्थात्, जब किसी योग के कारण (नाम के—संज्ञा के, किसी विशेष जोड़-तोड़ से) कोई अन्य अर्थ की कल्पना की जाय, तब वहाँ यह अलंकार कहा जाता है ।

निरुक्ति का अर्थ है—युक्ति, योजना—शब्द, या पद की व्युत्पत्ति-युक्त व्याख्या करना । अतएव यहाँ किसी ऐसे शब्द की जो किसी व्यक्ति आदि का नाम हो, उसकी प्रसिद्ध यौगिक व्याख्या को छोड़ यौगिक शक्ति से चमत्कार-युक्त कल्पना-द्वारा दूसरी व्याख्या की जाती है ।

चंद्रालोक में “गुणों के अंगांगीभावों की तुलना दिखलाते हुए उसे एक विशेषणा मक नाम देने को ‘निरुक्त’ कहा है, यथा—

निरुक्तं स्यान्निर्वचनं नाग्नः सत्यं यथा नृतं ।

ईदृशैश्चरितै राजन्सत्यं दोषाकरो भवान् ॥”

यहाँ निरुक्त दो प्रकार का—‘सत्य’ और ‘मिथ्या’ कहा है। जो व्याकरण से सहज सिद्ध हो वह ‘सत्य’ और उसके विपरीत ‘मिथ्या’, जैसे—दोषाकर (दोष आकर) तथा राजन, अर्थात् राज=न। प्रथम (दोषाकर) व्याकरण-सिद्ध है, दूसरा (राजन) नहीं। अस्तु, इन विभिन्न परिभाषा रूप निरुक्ति का लक्षण होगा—“योगवश किसी नाम का अन्यार्थ कल्पना किया जाना। जहाँ किसी नाम का किसी योगवश प्रसिद्ध अर्थ को त्याग व्युत्पत्ति के द्वारा अन्यार्थ कल्पित किया जाना...” यथा—

“निरुक्त्यीगतो नाम्नामन्यार्थत्वप्रकल्पनं।”

पुनः निरुक्ति उदाहरन जथा—

बिरही नर^१ नारीन कों, यै रितु चाहि^२ चबाइ।
‘दास’ कहें या कों ‘सरद’ याही अरथ सुमाइ ॥*

*

तो^३ कुल-कानन की परबीनता, मीन की भाँति ठगो रहतो है।
‘दास ज’ याही ते हंस-हु के हिय में कछु संक पगी रहती है।
है रस में गुँन, ओ गुँन^४ में रस, ह्याँ यै रीति जगो रहतो है।
बासर-हू-निसि मानस^५ में बनमाली की बंसी लगी रहती है ॥

वि०—“दासजो-कथित इन उदाहरणों में प्रथम दोहार्ध रूप ‘दोषाकर’ और ‘बिरही नर-नारिन०—में ‘सरद’ (स=रद—दाँतवाली) दोनों व्याकरण के अनुसार सहज सत्य सिद्ध हैं,। बंसी (वंशी) केवल द्वि-अर्थक—वंशी=मुरली और वंसी-मल्लियाँ पकड़ने की डंडी है, जिसका प्रयोग (दोनों ही अर्थों में) दासजो ने “तोकुल-कानन की परबीनता०... रूप तीसरे उदाहरण में किया है, वह संस्कृतानुसार होते हुए भी मिथ्या है।

निरुक्ति अलंकार से विभूषित ब्रजभाषा में बड़ी-बड़ी सुंदर सूक्तियाँ सजी गयी हैं, कहने के ढंगों में बड़े-बड़े चमत्कार उत्पन्न किये गये हैं, कुछ उदाहरण जैसे—

“ह्वै कै डहडहे दिन सँमता के पाए बिँन,
साँझ -सरस जाँन सरँमि सिर-नाथौ है।

पा०—१. (प्र०) नहँ...। २. (का०) (वे०) चाह...। (प्र०) जात...। (रा० पु० प्र०) जाइ...। ३. (का०) (प्र०) तौ...। (वे०) तब...। ४. (वे०) अवगुन...। (प्र०) औगुन...। ५. (वे०) निसि मान-समें...। (सं० पु० प्र०) मानस में निसि बासर हूँ...।

* सू० सं० (ला० भ० दी०) पृ० २३६, ११६।

निसा - भरि निसा-पति, करिकें उपाइ, बिँन
 पापेँ रूप-आसर बिरूप है लखायौ है ॥
 कहै. 'मतिराँम' तेरे बढँन - बराबरी कों,
 ओदरस बिमल बिरचि नें बनायौ है ।
 दरप - न रझौ ताते दरपँन कहियतु ,
 मुकरि परत ताते मुकर कहायौ है ॥१०

*

“तुँम नाँव लिखावती हो हँम पै, हँम नाँव कहा कहौ कीजिए जू ।
 अब नाव चलै सिंगरे जल में, थल में न चलै कहा कीजिए जू ॥
 'कबि मंचित' औसर जो अकतीं, सकती नहिँ-हाँ पर कीजिए जू ॥
 हँम तो अपनों बर पूंजिती हैं, सँपने हूँ न पी-पर पूंजिए जू ॥”

❀

“नैनाँ-मति रे रसनाँ, निज गुँन लीन ।
 कर तू पिय भाग्यकारे, अजुगत कीन ॥”

*

आइकें निकट वौ पीत - पटवारौ भट्ट,
 अटपटे बेंन बरजोर बतरात है ।
 देत नाँ भरँन घट, पट कों पकरि-रहत,
 नट लों नचावै नेंन नेंक नाँ डरात है ॥
 मोह ते अधिक उर ओटत है लाँजन ते,
 लंगर निकट - हटके सों अधिकात है ।
 घर - घर घैर सुँन मँन - हट जात है - री,
 पँनघट जात ता कौ पँन घट जात है ॥

*

चँहत दुरायौ तो सों कौ-लगि दुराऊँ दैया,
 साँची हों कहों-री बीर, सुँन सुख-काँन दै ।
 साँबरौ - सौ ठोठा इक ठ'दौ तीर जँमनाँ के,
 मो-तँन निहारयो नीर-भरि अँखियाँन दै ॥
 वा दिँन ते मेरी-री दसा कों कछु बूझै मति,
 चाहें जो जिबायौ मोहि वही रूप दाँन दै ।
 हा-हा करि पाँइ परों, रझौ नहिँ जात बीर,
 पँनघट जाँन दै - री, पँन-घट जाँन दै ॥”

मदँ-न कहँन यासों लगे, तब ते चतुर बिचारि ।
हरौ गयी याकौ सुमद, मोंहन-बदँन निहारि ॥

‘सूर - कुल - सूर महा प्रबल ‘प्रताप’ सूर,
चूर करिबे कों म्लेच्छ दूर-पँन लीन्यों तें ।
‘कहै रतनाकर’ बिपत्तिनि की रेजारेल,
भेल-भेल मातृ-भूमि-भक्ति-भाव-भीन्यों तें ॥
बंस कौ सुभाव औ नाम कौ प्रभाव थापि,
दाप कें दिलीपति कों ताप दीह दीन्यों तें ।
घाट-हरदी पै जुद्ध ठाटि अरि - मेद - पाटि,
सारथ बिराट मेदपाट नाम कौन्यों तें ॥’

लोकोक्ति-छेकोक्ति लच्छन वरनन जथा—

शब्द जु कहिए लोक-गति, सो ‘लोकोक्ति’ प्रमाँन ।
ताहि कहत ‘छेकोक्ति’ जो, ‘लिये’ होइ ‘उपखान’ ॥

वि—“जहाँ कुछ ऐसे शब्द कहे जाँय जो लोकोक्ति (कहावत) रूप में प्रमाण हों, वहाँ ‘लोकोक्ति’ और जहाँ किसी उपखान (कहावत) के साथ कोई बात कही जाय वहाँ ‘छेकोक्ति’ कही जाती है । अथवा जहाँ किसी बात में लोक-प्रवाद (कहावत) हो वहाँ लोकोक्ति, और जहाँ कुछ अर्थ-सहित लोकोक्ति (कहावत) कही जाय वहाँ ‘छेकोक्ति’ मानना चाहिये (भाषा-भूषण) ।

लोकोक्ति, शब्दानुसार जन-समुदाय में प्रचलित कहावत कही जाती है, किंतु शुद्ध-अर्थ में यह “मुहाविरा” है, कहावत नहीं । अर्थात् वा-मुहावरेदार कहने का एक ढंग है, जो कहावत नहीं हो सकता, पर जहाँ से यह अलंकार ब्रजभाषा में आया है वहाँ, अर्थात् चंद्रालोक में भी स्फुट नहीं हो सका है, जैसे—

‘लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भग्यते ।’

अतएव किसी प्रचलित लोकोक्ति वा मुहावरे का उचित प्रसंग के सहारे प्रयोग कर कुछ चमत्कार पैदा करना ‘लोकोक्ति’ होगा और छेकोक्ति वहाँ, जहाँ कुछ अर्थांतर-गर्भित लोकोक्ति रूप में बात कही जाय—प्रसंग वर्णन किया जाय ।

छेक का अर्थ चतुर होता है, इस लिये इस अलंकार में चतुरतापूर्ण अन्यार्थ से—अभिप्रायांतर से गर्भित लोकोक्ति का प्रयोग किया जाता है, यथा—

पा०—१. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) ताहीं छेकोक्त्यौ कहैं . । (प्र०)...
सो...। २. (का०) (वें०) होइ लिये...। (सं० पु० प्र०) होइ लिये उपमान ।

“छेकोक्तिर्यदि लोकोक्तेः स्यादथांतरगमिता ।”

अथ लोकोक्ति उदाहरन जथा—

बीस-बिसें दस द्यौस में, आँमेंगे बल-बीर ।

नैन-मूँदि नौ दिँन सहौ,^१ नागरि अब दुख-भीर ॥

वि०—“दासजी का यह उदाहरण ‘कुवलयानंद’ के लोकोक्ति-उदाहरण—
“सहस्व कतिचिन्मासान्मीलयित्वा विलोचने” (नैन-मूँदि षट्-माँस लों सहिए
बिरह-विषाद) के अनुरूप है, केवल शब्दांतर के सिवा तनिक भी भेद नहीं है ।
साथ-ही यह कहने का ‘मुहावरा’ है, अन्य कुछ नहीं ।

इस लोकोक्ति के उदाहरण में नये हिंदी अलंकार-ग्रंथ प्रणेताओं ने
‘नेही’ कवि की निम्न-लिखित सूक्ति को सन्ने अपनाया है, यथा—

“गई फूलै-न-राज हों कुँजें आज, न सग सखी जु अर्चानकरी ।

हरि आइ गए, भजि जाँउ किनै, जित-ही-तित काँटेन सों जकरी ॥

कवि ‘नेही’ कहै अति काँम छ्यो, सुतौ मारग रोकि रखौ तकरी ।

सुँन-री सजनीं, गति ऐसी भई, ज्यों—“मारनों बैल, गजी सकरी ॥”

अथवा—

“यै चार-हूँ और उद्यौ मुख-चंद की, चाँदनी चार निहारि लै-री ।

बलि जो पै अर्घीन भयौ पिय-प्यारौ, तौ एतौ बिचार-बिचारि लै-री ॥

‘कवि ठाकुर’ चूकि गयौ जो गुपाल, तुही बिगरी कों सँभारि लै-री ।

अब रहिहै, न रहिहै यहाँ सँमयौ—“बैहती नदी, पाँय-पखारि लै-री ॥”

*

न चली कछु लालची लोचन सों, हठ-मोचन कै चँहिनो-ईं परयौ ।

‘रतनाकर’ बंक-बिलोकन-बाँन, सहाए बिनाँ सहिनो-ईं परयौ ॥

उत ते वे गात छुवाइ चले, तब तौ प्रँन कों ढहिनो-ईं परयौ ।

भरि आह, कराह ‘सुँनों-जू-सुनों’ नँदलाल सों यों कहिनो-ईं परयौ ॥

ऊपर के दोनों छंद अलंकार-ग्रंथानुसार लोकोक्ति के उदाहरण और नीचे
का छंद ‘मुहावरा’ से मजबूत है । उर्दू में मुहावरों की भरमार है, यथा—

बनाए क्या समझ कर शाखे-गुल पर आशियाँ अपना ।

चमन में आह, क्या रहना—‘जो हो बे-आबरू रहना ॥’

*

गुंचों के मुस्कराने पै कहते हैं हँस के फूल—

“अपना करो खयाल, हमारी तो कट गई” ॥”

कोई इन फूलों की किस्मत देखना—
“जिन्दगी काटों में पल कर रह गई॥”

✽

दिल टूटने से थोड़ी-सी तकलीफ तो हुई ।
“लेकिन तमाम उन्न को आराम हो गया॥”

✽

नामे को पढ़ना मेरे जरा देखभाल कर ।
“कागज पै रख दिया है, कलेजा निकाल कर॥”

✽

अकबर ने सुना है अहले-गैरत से यही ।
“जीना ज़िस्लत से हो तो, मरना अच्छा॥”

✽

सुझको सुना-सुना के बोह कहना किसी का हाथ ।
“जिससे कि जी में रंज हो, उससे कलाम क्या॥”

छेकोक्ति उदाहरन जथा—

मो मँन बाल हिराँनों हुतो, सु^१ किते दिन तेँ मैं किती करी दोर है ।
सो ठैहरयौ तो^२ ठोड़ी के गाड़ में, देहि अजों तौ बड़ौई निहोर है ॥
'दास' प्रतच्छ भई पँन-हाँ, अलकें तब^३ तारँन दै^४ कें अँकोर है ।
होत दुराएँ कहा अब तौ, लखि गौ 'दिल-चोर' तलास^५ न चोर है ॥

वि०—“दासजी कृत 'छेकोक्ति' का उदाहरण कुछ जचता नहीं। केवल 'दिल-चोर' वा 'दिलचोर' संधि-युक्त या विशेषण-विशेष्य-युक्त होने पर भी लक्षण-अनुसार नहीं बनता—स्फुट नहीं होता...। छेकोक्ति के सुंदर उदाहरण कवि 'जगतानंद' के उपखान-दशम (भागवत कथा) में मिलते हैं, यथा—

“ठाली नाँहन मूँडै-पटा”

✽

गोदी लै हरिकों जब भाजी, दरबज्जे-बाहर अति लाजी ।
गिरी खाइ कें तबै पछार, लंबे पग औ हाथ - पसार ॥

पा०—१. (का०) को...। (वे०)...हिरानों हो ताकों, किते दिन तेँ...। (सं० पु० प्र०) ..हिरानों है ताकों, किते-दिन तेँ मैं बरी किती...। २. (का०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) तुब...। (वे०) तुअ...। ३. (का०) (वे०) (प्र०) तुअ...। ४. (सं० पु० प्र०) लै...। ५. (वे०) तिल...। ६. (वे०) (प्र०) तिलासन चोर...।

व्याकुल प्राँन फिरत हैं नैन, हिय पर काँन्ह, निरखि नहिँ चैन ।
 बार - बार फिरावै लटा,—‘ठाली नाँइन मूँहै पटा’ ॥
 “सूँ नों घर, भिड़ियँन कौ राज”

*

इक ग्वालिन-घर खबर मँगाइ, द्वै-चारक दए सखा पठाइ ।
 ग्वाल कइौ ह्याँ कोऊ नाँहीं, कृसन कइौ तब चलौ तहाँ-हीं ॥
 घर में जाइ धँसे गल-गाज,—‘सूँ नों घर भिड़ियँन कौ राज ॥

*

“नाँचनि निकसी तौ भलें, घूँघट काहे देति”

*

घूँघट काहे देति, कहत श्री कुँवर कँहाई ।
 चोरी ते हरि-पकरि गोपि, जसुमति पै ल्याई ॥
 देति उराहँन आइ, मात यै देत हँमें दुख ।
 आइ गए तब नंद, सकुचि करि फेरि रही मुख ॥
 मुख-फेरति क्योँ ग्वालिनी, कइौ जसोमति चेति ।
 नाँचनि निकसी तौ भलें,—“घूँघट काहे देति” ॥

अथवा—

“रहौ देखा सब-ही का अंत, जैसा गद्धा, वैसाई मंत ।
 यै ससार काज का खाजा, जैसाई गद्धा, वैसाई राजा ॥”

*

“बाल के आँनन-चंद लग्यौ नख, आली बिलोकि प्रभा अति हाँसी ।
 आज न द्वैज है चंदमुखी, मतिमंद कहा कहैं ए पुरबासी ॥
 बापुरौ जोतिपी जाँनँ कहा, अरी मैं कहों जो पढ़ि आई हों कासी ।
 चंद दुहँ के दुहँ इक ठौर हैं, आज है द्वैज ओ पूरनमासी ॥”

अथ ‘प्रत्यनीक’-अलंकार लच्छन जथा—

सत्रु-मित्र के पच्छ ते,^१ किएँ बैर औ हेत ।

‘प्रत्यनीक’ भूषँन कहें, जे^२ हैं सुमति-सचेत ॥

वि०—“जहाँ शत्रु-मित्र के पक्ष से विरोध और प्रीति की जाय वहाँ,
 ‘प्रत्यनीक’ अलंकार कहा जाता है ।

प्रत्यनीक—लक्षण के प्रति विविध मत हैं । संस्कृत अलंकार ग्रंथों में इसका लक्षण—

“प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया ।

या तदीयस्य तत्स्तुत्यै ‘प्रत्यनीकं’ तदुच्यते ॥”

जब कोई अशक्त जन अपने शत्रु को हानि न पहुँचा सके, पर उसी शत्रु की स्तुति के लिये उसके किसी अन्य संबंधी का तिरस्कार करे तो—प्रत्यनीक कहा जाता है ।

तिरस्कार करने वाले शत्रु का जो साक्षात् पराभव नहीं कर सकता, पर उसी शत्रु की बड़ाई के लिये उसके किसी आश्रित का तिरस्कार करता है, तो सेना के प्रतिनिधि तुल्य होने के कारण इस अलंकार को प्रत्यनीक कहते हैं (काव्य-प्रकाश मम्मट) । दूसरा चंद्रालोक में लक्षण है—“प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः” (जहाँ विजेता के किसी संबंधी के प्रति पराजित शत्रु के द्वारा कोई हीन-भाव प्रदर्शित किया या कराया जाय वहाँ...) । विश्वनाथ जी चक्रवर्त्ती साहित्य-दर्पण में कहते हैं—

“प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि ।

तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षं साधकः ॥”

अर्थात्, प्रधान शत्रु के तिरस्कार करने में अशक्त होने के कारण यदि उसके किसी संबंधी का तिरस्कार किया जाय जिससे उस शत्रु या प्रतिपक्षी का ही उत्कर्ष प्रकट हो तो प्रत्यनीक कहा जायगा ।”

ब्रजभाषा के अलंकार ग्रंथों में जो संस्कृतानुसार लक्षण इसके मिलते हैं, वे कहीं अनुवाद मात्र हैं, कही स्वतंत्र है, जैसे—

“जाहूँ लियौ नहिँ बैर जहँ, पर सों प्रबल-बिचारि ।

एकै कौ अपकार जो, ‘प्रत्यनीक’ निरधारि ॥”

—चिंतामणि

❀

“प्रत्यनीक सो, प्रबल-रिपु, ता हित सों करि जोर ।”

—भाषाभूषण

*

“प्रबल सत्रु के पच्छ पै, जहँ बिक्रम-उल्लास ।”

—मतिराम

*

‘प्रत्यनीक’ दुख देत जहँ, सु अरि-पच्छ कौ कोह ।

—पद्माकर

‘प्रत्यनीक’ प्रबल बिपक्ष-पक्ष पै प्रकोप.....।

—दूलई

इत्यादि इन (संस्कृत तथा ब्रजभाषा के) सभी लक्ष्णों पर दृष्टि डालने से उनकी पक्ष-विपक्षता प्रकट हो जाती है—भिन्नता लक्षित हो जाती है ।

संस्कृतानुसार प्रत्यनीक का अर्थ—सेना के प्रति, प्रतिपक्षी या शत्रु की सेना और सैन्य का प्रतिनिधि (प्रति + अनीक) किया जाता है, यथा प्रति—“प्रति प्रति-निधौ वीप्सालक्षणादौ प्रयोगतः” (अमर०) तथा अनीक—“अनीकोऽस्त्रीरण्ये-शैव्ये” (मे० को०) अस्तु, प्रत्यनीक में सैन्य का अर्थ लक्षणा से ‘शत्रु’ और ‘शत्रु का प्रतिनिधि’ माना गया है । इस लक्षणानुसार शब्दार्थ-द्वारा शत्रु के प्रतिनिधि (संबंधी) का तिरस्कार यहाँ किया जाता है । ये संबंधी दो प्रकार के होते हैं—‘साक्षात्संबंधी’ और ‘परंपरागतसंबंधी’ । साक्षात्संबंधी में—‘शत्रु के साथ साक्षात्संबंध रखने वाले का तिरस्कार किया जाता है और परंपरागत-संबंधी में शत्रु के संबंधी के साथ संबंध रखने वाले का तिरस्कार किया जाता है ।

संस्कृत के अलंकार-ग्रंथों में प्रत्यनीक स्वतंत्र अलंकार के रूप में वर्णन किया गया है, फिर भी वहाँ इसके साथ ‘हेतुत्प्रेक्षा’ जुड़ी हुई मानी गयी है । यही नहीं, पंडितराज जगन्नाथजी तो इसे हेतुत्प्रेक्षा के अंतर्गत ही मानते हैं, परंतु शत्रु का-ही नहीं, शत्रु के संबंधी का भी तिरस्कार किया जाना ही इस अलंकार की विशेषता है । अर्थात्, यहाँ उत्प्रेक्षा का प्रधानता नहीं, शत्रु-संबंधी तिरस्कार ही प्रधान रहता है । अतएव स्वयं शत्रु के जीतने में असमर्थ पाकर उस (शत्रु) के संबंधी को तिरस्कृत किये जाने पर यह अलंकार बनता है ।”

अस्य उदाहरन जथा—

मदून-गरब-हरि, हरि कियौ-सखि परदेस-पर्याँन ।

वही बैर-नाँते अली, मदून हरत मो प्राँन ॥

*

तेरे हास-बेसँन औ सुंदर सुकेसँन सो^१,
छीनीं^२ छवि लीनी ‘दास’ चपला-घँनन^३ की ।

जाँन के कलापी की कुचाली ते^४ मिलापी मोहिं,

लागे बेर लेन क्रोध मेंटँन मँनन^५ की ॥

पा०—१. (का०) जौ...। (बे०) जू...। (प्र०) लो...। २. (का०) (वे०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) छीनि...। ३. (रा० पु० नी० सी०) घनीन की । ४. (वे०) तौ...। ५. (रा० पु० नी० सी०) मनीन...

कहियो^१ सँदेसौ चंद-बदनीं सों चंद्राबलि,
अज - हूँ मिलौ^२ तौ बात जौनिऐ^३ वैनन^४ की ।
तो विन बिलोकें खीन, बल - हीन साजै^५ सब,
गरखा - सँमाजै ए^६ इलाजै मो^७ हँनन की ॥

वि०—“दासजी के ये दोनों प्रत्यनीक के उदाहरण पूर्व में लक्षण-कथित ‘शत्रु परक बैर (शत्रुता) के, अथवा ‘साक्षात्संबंध के हैं। दासजी से पूर्व के ब्रजभाषा-रीति-आचार्यों ने इसका एक भेद-ही स्वीकार कर लक्षण—उदाहरण लिखे हैं ।

अथ मित्र-पच्छ कौ उदाहरन जथा—

प्रेम तिहारे ते प्रान-प्रिया, सब चेत की बात अचेति ह्वै मेटति ।
पायौ^१ तिहारौ लिख्यौ कछु सो, छिन-ही-छिन बाँचति^२ खोलि-लपेटति ॥
छैल जू सैल तिहारौ सुँने, तिहिँ गैल की धूरि लै^३ नैन - धुरैटति ।
राबरे अंग कौ रंग बिचारि, तँमाल की डारि भुजा-भरि भेटति ॥

परिसंख्या अलंकार-लच्छन जथा—

नहीं बोलि पुनि दीजिए, क्यों-हूँ कहुँक^१ लखाइ ।
कहि बिसेस, बरजैन करै, संग्रह-दोष - बराइ ॥

*

पूछ्यौ-अनपूछ्यौ जहाँ, अर्थ-सँमरथन^१ आँनि ।
‘परिसंख्या’ भूषन वही, यै तजि और न जाँनि ॥

वि०—“दासजी ने परिसंख्या का ऊपर-लिखा लक्षण बताते हुए उसे तीन प्रकार का प्रश्न-पूर्वक व्यंग्य (नहीं बोलि पुनि दीजिए, क्यों हूँ कहुँक लखाइ), प्रश्न-पूर्वक वाच्य (कहि बिसेस बरजैन करै, संग्रह-दोष बराइ) और बिना-प्रश्न व्यंग्य (पूछ्यौ-अनपूछ्यौ जहाँ, अर्थ समर्थन—वा अर्थ सँमरथन आँनि) कहा है ।

पा०—१. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) कहिबी...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) मिले . । ३. (रा० पु० नी० सी०) बनीन...। ४. (वें०) एई लाजै . । ५. (का०) (वें०) (प्र०) मोहनन...। (रा० पु० प्र०) मोहनीन . । ६. (वें०) बाँचौ...। ७. (वें०) खोलति बाँचि लपेटति । ८. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) धूरनि नैन...। ९. (का०) (वें०) (प्र०) कहीं...। (सं० पु० प्र०) कछुक...। १०. (का०) (प्र०) समर्थन...।

परिसंख्या—परि + संख्या दो शब्दों से बना है, जिसमें 'परि' उपसर्ग है तथा उसके कई अर्थ हैं। यह परि जिस शब्द के साथ जुड़ जाता है उसकी अर्थ-वृद्धि में सहायक बन जाता है, अर्थात् उसके अर्थ की वृद्धि करता है। परिसंख्या में उस (परि) ने नियम भाव की वृद्धि की है। धर्म-ग्रंथों में 'विधि, नियम और परिसंख्या प्रधान शब्द माने गये हैं। अस्तु, विधि का अर्थ वहाँ "क्या करणीय है, केवल यही बतलाना किया गया है। साथ-ही, कई प्रकार से हो सकने वाले कामों में एक का ऐसा आदेश दे जिससे दूसरे का निषेध समझा जाय, उसे 'नियम' तथा—'जिसमें निषेध-ही किया जाय' उसे परिसंख्या कहा है। अतएव वहाँ प्रश्न हुए, अथवा बिना प्रश्न हुए कोई बात उसी के सदृश अन्य बातों को व्यंग्य या वाच्य से निषेध करने के अभिप्राय से कही जाय तब वहाँ परिसंख्या-अलंकार कहा जाता है। यह कही हुई बात अवश्य-ही अन्य प्रमाणों से सिद्ध तथा प्रसिद्ध होनी चाहिये। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (अलंकार-मञ्जरी में) परिसंख्या का अर्थ—अन्यत्र वर्जन (निषेध) मान कर कहते हैं कि "परिसंख्या अलंकार में अन्य प्रमाणों से जानी हुई जो बात प्रश्न के पश्चात् या बिना-ही प्रश्न कही जाती है, अथवा दूसरा कुछ प्रयोजन न होने के कारण उसी के समान किसी दूसरी बात के निषेध के लिए कही जाती है तथा यह निषेध कहीं प्रतीयमान (व्यंग्य) और कहीं शब्द-द्वारा स्पष्ट किये जाने पर 'परिसंख्या' चार प्रकार का होता है।" जैसे—१. प्रश्न पूर्वक प्रतीयमान निषेध, २. प्रश्न पूर्वक वाच्य (शब्द-द्वारा) निषेध, प्रश्न-रहित प्रतीयमान निषेध और प्रश्न-रहित वाच्य निषेध—इत्यादि.....।"

यदि इसे और भी स्पष्टरूप से कहा जाय तो, इस अलंकार के प्रथम प्रश्न पूर्वक, बिना प्रश्न दो भेद तदनंतर इन दोनों के वाच्य तथा व्यंग्य से निषेध होने के कारण और भी दो भेद बन जाते हैं, जैसे—प्रश्न पूर्वक व्यंग्य, प्रश्न पूर्वक वाच्य, बिना प्रश्न व्यंग्य और बिना प्रश्न वाच्य—इत्यादि.....।

परिसंख्या का सर्व प्रथम उल्लेख रुद्रट के काव्यालंकार (संस्कृत) में मिलता है, इनके बाद मम्मट और रुय्यक के ग्रंथों में.....। आचार्य श्रीमम्मट ने इसका लक्षण इस प्रकार माना है, यथा—

“किंचित्पृष्ठमपुष्टं वा कथितं यदप्रकल्पते।

तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ॥”

अर्थात् “जो कोई बात पूछी गयी हो या न पूछी गयी हो, पर शब्दों-द्वारा (अवश्य) प्रकट की गयी हो तथा किसी अन्य प्रयोजन के न होने से उसके तुल्य किसी अन्य वस्तु के व्यवच्छेद (अपलाप) रूप में परिणत हो तो वहाँ

‘परिसंख्या’.....।” इस लक्षण के बाद आप विशेष कारिका रूप में कहते हैं कि “यहाँ पर वस्तु का कथन प्रश्न-द्वारा अथवा बिना प्रश्न किये हुए भी हो सकता है और इन दोनों दशाओं में अपलापित (निषेध, नामंजूर सत्य को छिपा कर) वस्तु व्यंग्य या वाच्य-द्वारा कही जा सकती है (काव्य-प्रकाश-हिंदी व्याख्या) ।” इसी बात को—लक्षण को, साहित्य-दर्पण में भी शब्दांतर से दुहराया गया है । चंद्रालोककार उसका भिन्न लक्षण—“परिसंख्या निषिध्यैकमन्यस्मिन्वस्तुयंत्रणं” (शब्द-श्लेष के द्वारा प्रकट किये हुए किसी दो पदार्थों को समान गुण का एक पदार्थ में अभ्राव दिखलाकर दूसरे में उसका आरोप करना-परिसंख्या) कहा है । यहाँ परिसंख्या विभिन्न भेदों में नहीं एक रूप में है ।

ब्रजभाषा के अलंकाराचार्यों में चिंतामणि जी के अतिरिक्त प्रायः सभी ने इसे एक प्रकार का-ही मान इस प्रकार लक्षण कहे हैं, यथा—

“परिसंख्या--इक थल बरजि, दूजे थल ठैहराइ ।”

—भाषा-भूषण

“और ठौर ते मेंटि कछु, बात एक-ही ठौर ।”

—मतिराम

“एक में बरजि जहाँ दूजे थल थापै बस्तु.....”

—दूलह

“करि निषेध इक वस्तु कौ, थपै जु इक थल-माँहि ।”

—पद्माकर

और श्री चिंतामणि त्रिपाठी कहते हैं—

“एक वस्तु जु अनेक थल, प्रापत एकहि बार ।

नियमित कीजै एक थल, परिसंख्यालंकार ॥

एक वस्तु जो एक - ही - ठौर नैम जो होइ ।

परिसंख्या ता सों कहैं, कबि-पंडित सब कोइ ॥

प्रश्न-पूर्व जो एक पुनि, ताते-भिन्न जु और ।

परिसंख्या द्वैविधि प्रथक, कहत सुमति-सिरमौर ॥

वर्जनीय इत जो कछु, कहैं सब्द-गत होइ ।

कहैं अर्थ-बल पाईऐ, या विधि दोऊ दोइ ॥

पूछ्यौ अनैपूछ्यौ कथन, कछु वस्तु कौ होइ ।

ऐसौ औरै न-हेत यै, परिसंख्या कहि सोइ ॥

परिसंख्यालंकार में, कहत सब्द-गत कोइ ।

कहू अर्थ बल पाईऐ, जो सँम नाहीं होइ ॥

मंसट आवास्व इहाँ, ऐसौ कियौ बिबेक ।

परिसंख्यालंकार कों, सँमझौ पंडित एक ॥

अर्थात् आपने—शब्दगत वर्जनीया, शब्दगत-वर्जनीया अप्रश्न पूर्विका, शब्दगतवर्जनीया प्रश्न पूर्विका श्लेषमूल, प्रश्न पूर्विका अर्थगत वर्जनीया श्लेष-मूल और अप्रश्नपूर्विका शब्दगत वर्जनीया श्लेष-रूप परिसंख्या पाँच प्रकार की मानी है ।”

अथ प्रथम परिसंख्या प्रश्न-पूर्वक कौ उदाहरन जथा—

आज कुटिलता कौन में, राज-मनुष्यन-माँहि ।

देख्यौ बूझि बिचारि कें, ब्याल-बंस में नाँहि ॥

दुतिय परिसंख्या बिना प्रश्न पूर्वक जथा—

मुक्ति बँन-ही में बसै, अँमी^१ बसै अधराँनि ।

सुख सुंदरि-संजोग-ही, और ठौर जँनि जाँनि ॥

तीसरी परिसंख्या प्रश्न-अप्रश्न पूर्वक जथा—

भोर-उठि न्हाइवे कों न्हाती अँसुवाँन-माँहि^२ ।

ध्याइवे कों ध्यावै तुँम्हें जाती बलिहारिऐ ।

खाइवे कों खाती चोट पंचबाँन - बाँनन की,

पीयवे कों लाजै^३ धोइ पीबति बिचारिऐ ॥

आखि लगिबे कों ‘दास’ लागी रहै^४ तुँम्ह-ही सों,

बोलिबे कों बोलति बिहारिऐ - बिहारिऐ ।

सूझिबे कों सूझति तिहारौ-ही सरूप वाहि,

बूझिबे^५ कों बूझत^६ लाल^७ चरचा तिहारिऐ ॥

वि०—“दासजी के प्रश्न-अप्रश्न पूर्वक उदाहरण-रूप इन दोनों दोहों के शटश भारती-भूषण में दिए गए उदाहरण रूप निम्न दोहे भां सुंदर है, यथा—

“छल मध्या-मैन नाह के, नेह छिपावँन-माँहि ।

औ दपति-परिहास तजि, राँम-राज में नाँहि ॥”

पा०—१. (वें०) (स० पु० प्र०) अमृत...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) ही सों, । ३. (का०) (वें०) (प्र०) लाज...। ४. (वें०) बहै...। ५. (वें०) बूझि...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) बूझै...। ७. (रा० पु० नी० सी०) बाल...।

“कानन-वारिन में कुटिल, केवल काँमिनि-नैन ।
रहे अँनुज-सिय-सहित जब, राँम कियो बँन ऐंन ॥”

और दासजी के तीसरे उदाहरण के सदृश रघुनाथ कवि का यह उदाहरण भी सराहनीय है, यथा—

“आए जुरि जाँचिबे कों जाचक जहाँ-लों रहे,
एहो ‘कवि रघुनाथ’ आज तीनों थर में ।
ऐ ते माँन-दाँन तिन्हें भूप दसरथ दीन्हे,
देति न दिखाई कहुँ कोऊ सोंज धर में ॥
बसँन के नाँते पास बास कोंसिला के एक,
भूषन के नाँते नथ-नाँक छला कर में ।
घोरे-हाथी चित्रन के रहे चित्रसारी-माँकि,
राँम के जँनम रहे दाँम दफतर में ॥”

कवि विहारोलाल का यह ‘दोहा’ भी काव्यलिंग से विभूषित होते हुए भी परिसंख्या के जिलों से अधिक चमक रहा है, यथा—

“पत्रा-ही तियि पादयतु, वा घर के चहुँ पाय ।
नित-प्रति पून्यों-ही रहत, आँनन ओप उजास ॥”

*

जौ कहिए सुखदायक हैं, तिय-जाँनि परी सरदौ-रितु फीकी ।
फेरि लखी हिय-हेरि हिमंत, अनन बदाबँनि है दुख-ही की ॥
प्यारी सखी तुँम कों पैहचाँनि, सु बात जनाबति हों निज जी की ।
मोहि सखी, निसि-बासर-हूँ, रितुराज ते लागति पावस नीकी ॥

*

पालि घँने दिँन-सों, हित-सों, पिँजरान ते कोकिल-कीर-उड़ावत ।
जे मँन-रँजँन खँजँन और कपोत के पोत नहीं मन - भावत ॥
जौ बरजों तौ न माँनेँ कहुँ मँन, आप न लाजत मोहि लजावत ।
पीय कौ कौन सुभाव परयो, निसि-बासर चौर-चकोर-बुगावत ॥”

ये दोनों (सवैया रूप) उदाहरण ‘प्रताप’ कवि विरचित हैं । प्रथम ‘परोढा’ परकीया नायिका का और दूसरा स्वाधीन-पतिका नायिका का सखी प्रति-उक्ति रूप में है । प्रथम में शुद्ध सारोपा-लक्षणा से पुष्ट पाँचों ऋतुओं से श्रेष्ठ पावस को सुंदर ठहराना (पावस में वृक्षादि सघन हो जाने के कारण पर-पुरुष मिलाप अधिक सहज हो जाता है) रूप परिसंख्या अधिक सुंदर बन गयी है । इसी प्रकार दूसरे

उदाहरण में भी—सारोपा गौणी लक्षणा के कुंदन से जड़ा परिसंख्या-अलंकार कोकिल-खंजनादि से चकोर में अधिक प्रीति के कथन में सुंदर बन गया है ।

अथ प्रश्नोत्तर-अलंकार लच्छन जथा—

छोरि वा कछौ, वा कछौ, पिसनोत्तर^१ कहि जाइ ।

‘पिसनोत्तर’ वासों कहें, जे^२ प्रबीन कबिराइ ॥

वि०—“जहाँ विविध प्रश्नों के विविध उत्तर दिये जाँय वहाँ दासजी ने प्रश्नोत्तर अलंकार माना है । संस्कृत के अलंकार-ग्रंथों में इसे केवल ‘उत्तर’ नाम से-ही ग्रहण किया है । वहाँ ‘प्रश्नोत्तर’ तो नहीं, पर ‘उत्तर’ को रुद्रट से लेकर रुय्यकादि सभी अलंकाराचार्यों ने अपनाया है । मम्मट ने इसका—उत्तर का लक्षण इस प्रकार दिया है—“उत्तरश्रुतिमात्रतः” ।

“प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति ।

असकृद्यदसंभाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम् ॥”

‘जहाँ केवल उत्तर-ही के सुनने से पर (दूसरे) के प्रश्न की कल्पना कर ली जाय, अथवा बारंबार प्रश्न करने पर भी जहाँ उत्तर असंभ जान पड़े, वहाँ—‘उत्तरालंकार’ कहना चाहिए ।” आगे पुनः मम्मटाचार्य कहते हैं कि “इसे काव्यलिंग न समझना चाहिए, क्योंकि यहाँ उत्तर रूप वाक्य का हेतु सिद्ध नहीं होता । साथ-ही उत्तर, प्रश्न के उत्पन्न करने का हेतु (निमित्त कारण) भी नहीं है और यह अनुमान (अलंकार) में भी नहीं गिना जा सकता, क्योंकि यहाँ एक-ही धर्मी में रहने पर साध्य (प्रतिपाद्य वस्तु) और साधन (हेतु) का भी निर्देश नहीं किया गया है, अतएव इन कारणों से उत्तर एक पृथक् अलंकार है ।”

प्रश्न पूर्वक परिसंख्या में तत्तुल्य किसी अन्य वस्तु के अपलाप (निषेध) से तात्पर्य रहता है, यहाँ अर्थ-ही में तात्पर्य की समाप्ति हो जाती है, अस्तु यह परिसंख्या से भी पृथक् है ।”

उत्तर के दो भेद करते हुए आप पुनः कहते हैं कि “प्रश्न के पीछे जन-साधारण के ज्ञान-गम्य न होने के कारण जो असंभव उत्तर हो तो वह भी उत्तरालंकार है और ये प्रश्न तथा उत्तर यदि बारंबार कहे जाँय तो यह दूसरा ‘उत्तर’ कहा जायगा । प्रश्नोत्तर एक बार—रूप कहे जाने में कोई चमत्कार नहीं, अपितु बार-बार कहने में ही उसका चमत्कार है । कोई इन भेदों को “उन्नत प्रश्न” (कई बार प्रश्न किये जाने पर कई बार अप्रसिद्ध—जो समझ में न आये,

ऐसे उत्तर देना) और “निबद्ध प्रश्न” भी कहते हैं । अथवा कोई प्रथम, द्वितीय, तृतीय संख्या-क्रम में उत्तर-भेद करते हैं । प्रथम-उत्तर—जहाँ प्रश्न की कल्पना कर केवल अभिप्राय वैशिष्ट्य से उत्तर दिया जाय और उससे-ही प्रश्न का अनुमान किया जाय, द्वितीय-उत्तर वहाँ, जहाँ प्रश्न तथा उत्तर दोनों संमिलित हों और तृतीय उत्तर वहाँ, जहाँ प्रश्न में ही उत्तर मिले—निकले । अथवा अनेक प्रश्नों का एक-ही उत्तर हो.....।

द्वितीय उत्तर—प्रश्नोत्तर एक तथा उनके बाहुल्य से भी बनता है, पर ऐसे बाहुल्य-प्रधान प्रश्नोत्तर में दुर्ज्ञेयता होती है, यह निर्विवाद सिद्ध है । तृतीय उत्तर चित्रोत्तर का विषय है, अतः वह यहाँ वर्णनीय नहीं ।

कोई-कोई आचार्य एक ही प्रश्नोत्तर में और कोई जैसा पूर्व में कहा है—प्रश्नोत्तर बाहुल्य में इस अलंकार को मानते हैं, यथा—

“बाल, कहा लालो भई, लोयँन-कोयँन-माँहि ।

लाल, तिहारे दगँन की, परी दगँन में झूँहि ॥”

*

“का दुरलभ जग—“बंशु-हित”, कहा सुख—“सतसंग” ।

सुलभ कहा—है “नाम-जप”, दुख कह—“दुरजँन-संग” ॥”

पर ऐसे उदाहरणों में उत्तर वा प्रश्नोत्तर अलंकार न हो कर गूढोत्तर ही कहा जायगा ।”

उदाहरन जथा—

कोंन सिँगार है—‘मोरपखा’, इहि लाल^१ छुटे, कच कांति की जोटी ।
गुंज की^२ माल कहा—‘इहि तौ अँनुराग गरें परथौ लै निज खोटी ॥
‘दास’ बड़ी-बड़ी बातें कहा करौ—आपने अंग की देखौ करोटी ।
जाँनों नहीं^३ यै कंचन से तिय के तँन कों^४ कसिबे की कसौदी ॥

*

को इत आबत—“काँन्ह हों”, कहा^४ काँम,—“हित-माँन” ।

किँन बोले^५—‘तेरे दगँन’, साखी—“मृदु-मुसिकॉन” ॥*

पा०—१. (का०) (वें०) (स० पु० प्र०) बाल...। २. (का०) (वें०) (प्र०) के...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) के...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) काम कहा ..। ५. (का०) (वें०) बोली...। (प्र०) बोलौ...।

* भा० भू० (केडिया) पृ० ३३२ ।

तीसरी उत्तर-लच्छन जथा—

उत्तर दैवे' में जहाँ, प्रसनों परत लखाइ ।

'प्रिसनोत्तर' ता'-द्व कइत, सकल सुकवि-सँमुदाइ ॥

उदाहरन बथा—

ल्याई फूली साँझ कौ, रंग हगँन में बाल ।

लखि ज्यों फूली दुपहरी, नैन तिहारे लाल ॥

वि०—“भारती-भूषण (केड़िया कृत) में उत्तर के गूढोत्तर और चित्रोत्तर दो भेद मान कर प्रथम गूढोत्तर के ‘उक्तीत प्रश्न’ और निबद्ध प्रश्न जैसे प्रथम लिखे गये हैं, चित्रोत्तर के भी दो भेद—प्रश्नों के शब्दों में ही उत्तर और बहुत से प्रश्नों का एक ही उत्तर, का कथन किया है ।

श्लेष-गर्भित प्रश्नोत्तर का एक उदाहरण सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने अपनी “अलंकार-मंजरी” में बड़ा सुंदर दिया है, यथा—

“सुबरँन - खोजत हों फिरोँ, सुंदरि देस-बिदेस ।

दुरलभ है यै समझि जिय, चिंतित रहों हँमेस ॥”

यहाँ सुबरँन (सुवर्ण=सोना व सुंदर रूप, देह...) में श्लेष है और सुंदरि संबोधन में प्रश्न निहित है कि ‘तुम चिंतातुर किस लिये रहते हो... अतः उत्तर स्पष्ट है—सुबरँन खोजत०...।

“इति श्री सकल कलाधरकलाधरबंसावतंस श्री मन्महाराज-कुँमार

श्री बाबू हिंदूपति बिरचिते काव्य-निरनए—सुभावोक्ति-

आदि अलंकार बरननोनाम सप्तदसोव्लासः ।”

—००—

अथ अठारकाँ उल्लास

दीपकादि अलंकार वरनन जथा—

दीपक-क़्रम^१ द्वै भाँति कौ^२, अलंकार मति-चारु ।
अति सुख^३ दायक वाक्य के, जदपि अरथ सों प्यारु ॥

*

जथासंख्य, एकावली, कारँन-माला ठाड़ ।
उत्तरोत्तर, रसनोपमाँ, रतनावलि, परियाइ ॥

*

ए आठों^४ क़्रम^५ भेद हैं, दीपक एकै पाँच ।
आदि आवृत्ती^६, देहरी, कारँन-माला बाँच ॥

वि०—“दासजी ने इस उल्लास में—दीपक, यथासंख्य, एकावली, कारण-माला, उत्तरोत्तर, रसनोपमा, रत्नावली और पर्याय-आदि अलंकारों के अतिरिक्त दीपक के “अर्थावृत्ति दीपक, पदार्थावृत्ति दीपक, देहरी-दीपक, कारक-दीपक और माला-दीपक पाँच भेदों का भी स-उदाहरण वर्णन किया है, किंतु अन्य उल्लासों की भाँति यहाँ इनके वर्गीकरण की विधि का कोई उपयुक्त कारण नहीं दिया है। विशेष-प्रतियों (हस्त लिखित तथा मुद्रित) के आधार से अलंकार-संख्या भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इन पुस्तकों में तीसरे दोहे के पाठानुसार सात ही संख्या जानी जाती है, जैसे—“ए सातों क्रम-भेद हैं०...।” यह आठ की संख्या का सूचक पाठ एक ही प्रति में मिलता है, जो उपयुक्त है और अलंकार-संख्या के अनुसार भी ठीक है। अलंकार-वर्णन का क्रम भी आपका यहाँ ठीक नहीं है। कइने को तो आपने प्रथम दीपकालंकार का कथन किया है, किंतु वर्णन किया है “यथासंख्य” से, अर्थात् प्रथम यथासंख्य, एकावली, कारण-माला, उत्तरोत्तरादि का कथन किया है। दीपक सबके अंत में है।

संस्कृत के अलंकार-ग्रंथों में ये अलंकार विविध वर्गों में हैं, जैसे—चंद्रट ने तीन—“एकावली; कारण-माला, सार (उत्तरोत्तर) और यथासंख्य” वास्तव वर्ग में

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) क्रम-दीपक है रीति...। २. (का०) (प्र०) के...। (वें०) जे ...। ३. (का०) सुभ...। (वें०) द्वि...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) सातों...। ५. (का०) (वें०) अष्ट...। (प्र०) आवृत्ती...।

रखे हैं । अन्य अलंकारों का उल्लेख वहाँ नहीं है । रुय्यक ने 'दीपक' को गम्य-मान औपम्यवर्ग में पदार्थ-गत के, "एकावली, कारण-माला, सार (उत्तरोत्तर), माला-दीपक" जो दीपक का ही भेद-विशेष है, को शृंखला-बद्ध वर्ग में और "पर्याय तथा यथासंख्य" को वाक्य-न्याय के बाह्य-न्याय मूल वर्ग में माना है । इनके बाद कोई आचार्य—एकावली के साथ कारण-माला, सार और माला-दीपक को शृंखला-मूलक वर्ग में, पर्याय-यथासंख्य को वाक्य-न्याय-मूलक वर्ग में और रत्नावली को 'गूढार्थ' प्रतीति मूल वर्ग में मानते हैं । इसके अतिरिक्त एक और भी विकल्प मिलता है, जिसके अनुसार ये दासजी द्वारा वर्णित अठारवें उल्लास के अलंकार, यथा—दीपक "औपम्य-मूल, अर्थात् जिसमें सादृश्य गम्यमान (छिपा-हुआ हो) वर्ग में, पर्याय, यथासंख्य 'न्यायमूल वर्ग में', एकावली, कारण-माला, सार और माला-दीपक 'शृंखला मूल वर्ग में, रत्नावली गूढार्थ-मूल वर्ग में और आवृत्ति-दीपक तथा कारक दीपक प्रकीर्ण-वर्ग में विभाजित किये मिलते हैं ।" उत्तरोत्तर को सभी ने 'सार' नाम दिया है तथा 'रसनोपमा' का पृथक वर्णन नहीं किया है ।

प्रथम यथासंख्य-अलंकार लच्छन जथा—

पैहलें कहे जु सब्द गुँनि', पुनि क्रम ते ता-रीति ।

कहिके' और निबाहिपे, 'जथासंख्य' करि प्रीति ॥

वि०—“पहिले कहे गये शब्दों-द्वारा उसी क्रम तथा रीति से कह कर यथा-वत निर्वाह किये जाने पर—“यथासंख्य” अलंकार कहा जाता है । अर्थात् पूर्व-कथित वस्तुओं का जब उसी क्रम-द्वारा आगे भी वर्णन किया जाय तब यह अलंकार बनता है ।

संस्कृत ग्रंथों में यह अलंकार सर्व प्रथम भट्टि-आचार्य ने स्वीकार किया है, इसके बाद—भामह, दंडी, उद्भट, वामन और मम्मटादि ने...। वामनाचार्य ने इसकी 'क्रम' संज्ञा दी है और कहा है—“उपमेयोपमानानां क्रमसंबंधः क्रमः” (उपमान-उपमेयों का क्रम से संबंध) । अर्थात् “पूर्व कहे हुए उपमेय और बाद में कहे गये उपमानों का जो क्रम से संबंध है—संबंध कराना है, वह “क्रम” वा यथासंख्यालंकार होता है—उपमेयोपमानानां चोद्देशिनामनुद्देशिनां च क्रम-संबंधः क्रमः । श्री वामन से पूर्व भामह-आदि ने तथा पर में मम्मट-विश्वनाथादि ने इसे 'यथासंख्य' ही कहा है । कहा जाता है कि भामह आचार्य से प्रथम

कोई 'मेधावी' नाम के आचार्य हुए जिन्होंने 'उत्प्रेक्षा' के लिए 'संख्यान' शब्द का व्यवहार किया था। भामह ने इसका खंडन करते हुए यथासंख्य को उत्प्रेक्षा से प्रथक अलंकार मानते हुए लिखा है—

“यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलंकारद्वयं विदुः ।

संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचिद् ॥

“भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणां ।

क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्य तदुच्यते ॥

—काव्यालंकार (भामह) ८८, ८९

और वामन ने इसका लक्षण—“यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः” (जहाँ क्रमपूर्वक कहे गये पदार्थों के साथ क्रमपूर्वक ही कहे गये पिछले पदार्थों का यथोचित संबंध कहा जाय) माना है। विश्वनाथजी कहते हैं—“यथासंख्य-मनूदेश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्” अर्थात्, जहाँ कहे हुए पदार्थों का यदि फिर उसी क्रम से कथन हो तो वहाँ यथासंख्य अलंकार कहना चाहिये। भामह, वामन तथा विश्वनाथजी के लक्षणोदाहरणों में जहाँ कुछ तारतम्य (साम्य) है, वहाँ मम्मटाचार्य का लक्षण इनसे कुछ विपरीत है। चंद्रालोक में एक दूसरा ही लक्षण मिलता है, यथा—

“यथासंख्यं द्विधार्थाश्चेत्क्रमादेकैकमन्विता ॥”

अर्थात् जहाँ संख्या-क्रम से कई कारकों और क्रियाओं का संबंध दिखलाया जाय, वहाँ यथासंख्य मानना चाहिए... ।”

ब्रजभाषा के अलंकार ग्रंथों में भी श्री चिंतामणि जी से लेकर अंतिम रीति-काल के आचार्य पद्माकार-ग्वाल तक 'यथासंख्य' के विविध परिभाषा-जन्य लक्षण मिलते हैं। चिंतामणिजी ने इसका लक्षण—“क्रमकं कौ अन्वह जहाँ, वरन्वों क्रम-क्रम होइ” माना है, तो भाषा-भूषण में—“जथासंख्य वरनैन-विषै, वस्तु अनुक्रम-संग,” और पद्माकरजी ने—“जहँ क्रम सों वरनैन कौ क्रम सों अन्वै होइ” कहा है। दूलह कवि ने—“जहाँ क्रमिकं कौ क्रमै ते लै बखानें गुफ—जथासंख्य०.....” लक्षण माना है। आचार्य केशव ने इसे क्रमा-लंकार से-ही संबोधन करते हुए कहा है—“आदि-द्यत भरि वरनिणै, सो क्रम केसौदास”। अस्तु, इससे भी क्रम-स्वरूप यथासंख्य की परिभाषा स्पष्ट नहीं हुई। आपके उदाहरणों से ज्ञात होता है कि जिसे आपने क्रम (यथासंख्य) माना है, उसे-ही परवर्ती आचार्यों ने 'शृंखला' वा 'एकावली' नाम दिया है और जिस 'गणना' को आप अलंकार मानते हैं, उसे पूर्व-पर के दोनों-ही आचार्य नहीं मानते।

यथासंख्य—‘संख्या के अनुसार’, ‘उसी क्रम से’ तथा पूर्ववत् क्रम से, आदि . . . कहा जाता है। अपक्रम (जिस क्रम से कुछ वस्तुओं का वर्णन किया गया हो उसी क्रम से बाद में उनका वर्णन-उपमा-आदि देते कथन न करना) या क्रम-भंग जो काव्य का एक दोष विशेष है, उस दोष के अभाव स्वरूप में यह अलंकार कहा जाता है। इसलिये कुछ आचार्यों ने इसे अलंकार न मानते हुए कहा है कि यहाँ दोषों का अभाव-मात्र-ही तो कथन किया गया है। अतः इसे अलंकारों में स्थान देना उपयुक्त नहीं, पर इसके दोष-हीनता वर्णन करने में-ही तो चमत्कार है,—उक्ति-वैचित्र्यता है, इसे-ही लक्ष्य कर दंडो आदि प्राचीन आचार्यों ने इसे स्वतंत्र अलंकार माना है।

संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में इसके दो भेद ‘शब्द’ और ‘आर्थ’ रूप में मिलते हैं। शब्द-यथासंख्य उसे कहते हैं—जहाँ समास से नहीं, क्रम से अन्वय हो और जहाँ समास-द्वारा क्रम से अन्वय हो उसे “आर्थ-यथासंख्य” कहते हैं। अतएव “क्रमशः कहे हुए अर्थों का जहाँ क्रमशः (यथा-क्रम) संबंध होता हो उसे “यथासंख्य” कहना चाहिए।”

अस्य उदाहरण जथा —

‘दास’ मँन-मति सों, सरीरी^१ सों, सुरति सों,
गिरा सों, गेह-पति सों न बाँधिबे^२ की बारी जू।
मोहै, मार-डारै, साजि सुबस उजारै, करै—
थंभित बनाइ ठाड़^३ देति^४ बैर भारी जू॥
मोहँन औ मारँन, बस-करँन, उच्चाटँन^५,
थंमँन, उदीपँन^६ के ए-ही हड़कारी जू।
बाँसुरी - बजैबौ, गैबौ, चलिबौ, चितैबौ,
मुसिकैबौ, इठलैबौ रावरे^७ गिरधारी जू॥

वि०—“यथासंख्य उपनाम क्रमालंकार का उदाहरण “रसलीन”, जिस पर कौटिल्य हिंदू कवियों को वारना कहा गया है, वड़ा सुंदर है, यथा—

“अँमी, हलाहल, मद-भरे, सेत, स्याँम, रतनार।

जियत, मरत, भुकभुक परत, जिहि चितवत इक बार॥

पा०—१. (रा० पु० प्र०) सरीर...। २. (वें०) बाँचिबे...। ३. (प्र०) धाड़ ...।
४. (का०) (वें०) (प्र०) देतो। ५. (का०) (वें०) (प्र०) मोहँन, मरन, बसीकरण,
उच्चाटन के,। ६. (वें०) उदीपन...। ७. (का०) (वें०) (प्र०) बाँसुरी-बजैबौ, गहबौ,
चलिबौ, चितैबौ, मुसिकहबौ, अँठिलहबौ रावरे कौ...।

पोद्धार कन्हैयालालजी सेठ ने भी अपनी 'अलंकार-मंजरी' में शब्द और अर्थ यथासंख्य के सुंदर उदाहरण दिये हैं, यथा—

“जोवन-वय सों संकित हैं सरमाइ ।
सील, सौर्य, बल दुति सों अति ललचाइ ॥

*

राम-हिँ लखि सिय-लोचन-नलिन सुहौहिँ ।
सकुचत, बिकसत, छिन-छिन धनु-मख-मौहिँ ॥

आर्थ, यथा—

“चख-सर-छत अदभुत जतैन, बधिक-यैद-निज-हथ्य ।
उर, उरोज, भुज, अधर-रस, सेक, पिढ, पट, पथ्य ॥”

एकावली-अलंकार लच्छन जथा—

किए जंजीरा - जोरि - पद, 'एकवली' प्रमाँन ।

“सुति-बस मति, मति-बस भगति, भगति-बस्य भगमाँन ॥”

वि०—“जहाँ जंजीरा (हार) के समान पदों (शब्दों या वाक्यों) को जोड़ा जाय—शृंखला-सी बाँधी जाय, वहाँ 'एकावली' अलंकार माना जाता है । भाषा-भूषण में लक्षण-उदाहरण इस प्रकार दिया है—

“गहल-मुक्त-पद रीति सों, 'एकावलि' तब माँन ।

दग सु ति-लों, सु ति बाहु-लों, बाहु जाँनु-लों जाँन ॥”

अर्थात्, जहाँ गृहीत तथा मुक्त (ग्रहण और छोड़ने) की रीति से पद रखे जाँय, वहाँ एकावली । जैसे—उस (नायक) के नेत्र कानों तक, कान बाहु तक और बाहु घुटनों तक हैं । इसी प्रकार दासजी का भी—श्रुति (कान) के वश मति, मति के वश भक्ति और भक्ति के वश भगवान...।

एकावली—एक लड़ा हार या माला कहा जाता है । जिस प्रकार हार व माला में एक दाना दूसरे से और दूसरा दाना तीसरे से मिले हुए रहते हैं—एक के बाद दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे की गणना होती है, अर्थात् गृहीत और मुक्त होते रहते हैं, उसी प्रकार यहाँ शब्द-जनित पद रूप-मणियाँ आती और जाती रहती हैं,—मुक्त-ग्राह्य होती रहती हैं । यहाँ पूर्व तथा उत्तर कथित वस्तुओं की शृंखला एक प्रमाण में होती है । पूर्वोत्तर कथित प्रत्येक वस्तुओं का यहाँ विशेषण रूप में समर्थन या निषेध किया जाता है । साथ-ही प्रत्येक पूर्व-कथित विशेष्य और उत्तर-कथित वस्तु का विशेषण रूप में समर्थन वा निषेध भी

इस अलंकार का विषय बनता है। यहाँ (शृङ्खला-मूलक अलंकारों में) विशेष्य-विशेषण शब्द व्याकरणानुसार इन्हीं शब्दों से कहीं अधिक व्यापक हैं, अर्थात् दो वस्तुओं में विशेषता दिखला कर उनमें संबंध वा भिन्नता प्रकट करना ही उनकी विशेषता है।

संस्कृत-अलंकाराचार्यों में इसे रुद्रट, मम्मट और रुय्यकादि ने स्वतंत्र और भोज ने 'परिकर' के अंतर्गत अलंकार माना है। मम्मट जी कहते हैं—

“स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परंपरं ।

विशेषणतया यत्र वस्तुसैकावली द्विधा ॥”

अर्थात्, जिसमें पूर्व-पूर्व वाली वस्तु पर-पर वस्तु के विशेषण-रूप से स्थापित की जाय वा निषिद्ध बतलायी जाय, वह एकावली दो प्रकार का होता है। अथवा प्रथम-प्रथम वस्तुओं के प्रति पर-पर (पिछली-पिछली) वस्तुओं की स्थापना पुनरुक्ति (वीप्सा) द्वारा जहाँ विशेषण रूप से स्थापित की जाय, वा निषेध किया जाय तो विद्वज्जन उसे दो प्रकार की 'एकावली' कहेंगे। यहाँ इन दोनों एकावलियों के नाम—'विधि-विशिष्ट' और 'निषेध-युक्त' कहा है। विश्वनाथ जी भी (साहित्य-दर्पण में) यही बात इस प्रकार कहते हैं—

“पूर्व-पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परंपरं ।

स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत्स्यात्तदैकावली द्विधा ॥”

पूर्व-पूर्व के प्रति अगले-अगले को विशेषण के रूप में स्थापित करें या उसे हटावें तो वहाँ दो प्रकार की 'एकावली' होगी। चंद्रालोक के मत से 'एकावली' वहाँ होगी जहाँ—

“गृहीतमुक्तरीत्यर्थं श्रेणिकेकावली मता ।”

आधार और आधेय (विशेषण-विशेष्य) का क्रम से वर्णन कर एक शृङ्खला बना दी जाय। चंद्रालोक के इसी लक्षण को प्रायः सभी ब्रजभाषा के अलंकाराचार्यों ने अपनाया है और इसके अनुसार एक ही (लक्षणानुसार) उदाहरण दिया है, किंतु दासजी ने दोनों-ही भेद अपनाये हैं और उनके पृथक्-पृथक् उदाहरण भी दिये हैं। प्रथम एकावली का उदाहरण दासजी ने लक्षण के साथ (दोहा की अर्धाली में) दिया है और द्वितीय (विशेषण-भाव से निषेध) का उदाहरण आगे दे रहे हैं। एक बात और, वह यह कि—एकावली के स्थापन और निषेध रूप के विशेषण रूप से दो-ही भेद विशेष मान्य हैं, पर कोई-कोई आचार्य—“विशेषण-भाव से समर्थन और निषेध-रूप दो तथा विशेष्य भाव से समर्थन-निषेध-रूप दो को मिलाकर चार भेद मानते हैं।

एकावली पुनः उदाहरन जथा—

एरी, तोहि देखि^१ मोहि आवत अचंभौ इही,
 रंभा - जाँनु - ठिँग - हीं गयंद-गति केरे हैं ।
 गति है गयंद, सिंघ-कटि के सँमीप सिंघ—
 कटि-हूँ सों रौमराजी^२ ब्यालिँन सँभेरे हैं ॥
 रौमराजी-ब्यालिँन सु सँभु-कुच-आगें 'दास'-
 सँभु-कुच हूँ के भुज मेंन-धुज नेरे हैं ।
 मेंन-हीं जगावति सो^३ आँनन द्विजेस अरु—
 आँनन - द्विजेस-राहु - कच - कांति घेरे हैं ॥

वि० — एकावली के सुंदर उदाहरण श्री राधा-भक्त 'हठी' और शिव-भक्त शिव ने भी रचे हैं, यथा—

“गिरि-पति लागी मेरु, मेरु-पति लागी भूमि,
 भूमि-पति लागी कौल-कच्छप के चारो सों ।
 दिग - पति लागी दिगपालन के हाथ 'हठी',
 सुर - पति लागी सुरराज छत्रधारी सों ॥
 दान - पति करँन, करँन - पति लागी बलि,
 बलि - पति लागी कैलास के बिहारी सों ।
 तीनों लोक - पति, लगी है ब्रज - पति सों,
 ब्रज-पति की लगी है, वृषभान की दुलारी सों ॥”

*

“नचे है बारि, तापै कच्छप असवार,
 कच्छप की पीठ पै सबार सेस कारा है ।
 सेस पै सबार अबनि भार-सों दबाइ राखी,
 अबनि पै सबार सिंध-परबत बिस्तारा है ॥
 परबत पै सबार कैलास सहै 'सिब' कबि,
 कैलास पै सबार सँमर नंदी गँन-भारा है ।
 नंदी पै सबार संभु, संभु पै सबार जटा,
 जटा पै सबार मात गंगा की धारा है ॥

कारण-माला-लच्छन जथा—

कारण ते कारण जैनम, 'कारण-माला' चार ।

जोति-आदि ते, जोति ते-विधि, विधि ते संसार ॥

वि०—“कारण से कारण का जन्म होने पर ‘कारण-माला’ होती है, जैसे—आदि से ज्योति, ज्योति से विधि और विधि से संसार । भाषा-भूषण में इसे ‘गुंफ’ अलंकार कहा गया है—“कहिऐ ‘गुंफ’ परंपरा, कारण की जब होत”, अर्थात् जहाँ कारणों की शृंखला दिखलायी जाय...। यहाँ गुंफ का शब्दार्थ “गुथा हुआ लेकर अनेक कारण एक-दूसरे से गुथते चले जाते हैं । साथ-ही इसमें कहीं पहिले कही हुई वस्तु कारण होती है और कहीं पिछली वस्तुएँ कारण होती हैं । इसलिये यह ‘कारण-माला’ ही है ।

कारण-माला यौगिक शब्द है, और उसका अर्थ—कारणों की माला, शृंखला । अतएव पूर्व-पूर्व कथित बातें जब उत्तरोत्तर कथित बातों के कारण-रूप में कही जाँय, अथवा जहाँ पूर्व-पूर्व पदार्थ उत्तरोत्तर कहे हुए पदार्थों के कारण कहे जाँय, तब यह अलंकार होता है । किसी कारण से किसी कार्य का होना कहा गया, इसके बाद उस कार्य को आगे के कार्य का कारण कहा गया और इस-प्रकार यह शृंखला बनते चली गयी—कुछ दूर तक बँधती चली गयी तो ऐसी अवस्था में यह ‘कारण-माला’ कही जायगी, किंतु ध्यान रहे, यह शृंखला दो या उससे अधिक अवश्य होनी चाहिए । साथ-ही “जहाँ बाद में कहे हुए प्रत्येक कार्य का कारण पूर्व में कही हुई बातों में कार्य ही जाय वहाँ भी ‘कारण-माला’” कही जायगी । अर्थात्, जहाँ पूर्व-पूर्व कथित पदार्थों के उत्तरोत्तर कथित पदार्थ कारण कहे जाँयगे वहाँ भी यह माला होगी ।

कारण-माला को भोज के अतिरिक्त प्रायः सभी—रुद्रट-मम्मटादि-आचार्यों ने माना है—उसका पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया है । भोज ने इसे हेतु में माना है । श्री मम्मट ने इसका लक्षण “जहाँ क्रमशः किसी बात का कारण उसके पूर्व-पूर्व की कही हुई बात हो” माना है (का० प्र० पृ० ३२७) । साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में—“परं-परं के प्रति जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु हेतु होती चली जाँय, वहाँ”...। यहाँ हेतु से कारण का अर्थ लिया जाता है । चंद्रालोक में भी—“किसी कारण से एक कार्य हो, फिर इसी कार्य को कारण बनाकर दूसरा कार्य हो और इसी क्रम से किसी वाक्य की पूर्ति करने को ‘कारण-माला’ कहते हैं ।

ब्रजभाषा के अलंकार ग्रंथों में कोई इसे—कारण-माला, कोई गुंफालंकार और कोई ‘हेतु-माला’ भी कहते हैं, यथा—

“कारण-माला” —

“पूरब-पूरब अरथ जहँ, उत्तर - उत्तर हेत ।

‘कारन-माला’ होत सो, सुँनै-बढ़ै चित चेत ॥

—चितामणि

*

“पूरब ते उत्तर लाँ हेतुँ न कौ गुंफ तहाँ, कारन-माला यों...।

—दूजह

“गुंफ” —

“कहिपु ‘गुंफ’ परंपरा, कारन की जहँ होत ।”

—जसबंतसिंह

“हेतु-माला”

“पूरब-पूरब हेतु जहँ, उत्तर-उत्तर काज ।”

—मतिराम

—इत्यादि...। यहाँ अलंकार-आचार्यों का यह भी कहना है कि “उत्तरोत्तर कथित पदार्थों के पूर्व-पूर्व कथित पदार्थ कारण-भाव से ‘माला-दीपक’ में भी कहे जाते हैं, किंतु वहाँ उन सब का एक क्रिया में अन्वय होता है, यहाँ (कारण-माला में) नहीं, यही इसकी पृथक्ता है ।

कारण-माला के दो भेद—“प्रथम कारण-माला” (जिसमें पूर्व-पूर्व कथित पदार्थ उत्तरोत्तर कथित पदार्थों के कारण हों) और “द्वितीय कारण-माला” (जिसमें उत्तरोत्तर कथित पदार्थ पूर्व-पूर्व कथित पदार्थों के कारण हों) भी मिलते हैं । दासजी ने दोनों प्रकार की कारण-माला का कथन किया है ।”

उदाहरण जथा—

होत लोभते मोह, मोहौ ते उपजै गरब ।

गरब बढ़ावै कोह, कोहै कलहै, कलहौ बिथा ॥

*

बिद्या देति जु* बिनै कौं, बिनै पात्रता मित* ।

पात्रत्वौ* धँन, धँन धरँम, धरँम देत सुख निस्त* ॥

पा० - १. (का०) (प्र०) कोह कलह कलह बिथा । (वें०) ... कलह कलह-हि...।

२. (का०) (वें०) (प्र०) .. देती बिनय कौं...। ३. (का०) मीत...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) पात्रत्वौ...। ५. (का०) नीत ।

वि०—“दासजी का यह—“बिद्या देति जु बिनै कौ०.....” श्रितामणि जी कृत कारण-माला के निम्न उदाहरण का अनुवाद जैसा है, देखिये—

“बिद्या ते उपजै बिनै, बिनै जगत-बस होत ।

जगत भएँ बस धँन मिलै, धँन ते धँरम-उदोत ॥”

और ग्वाल कवि कृत पोद्दारजी-द्वारा अपनाया हुआ यह निम्न उदाहरण भी अपूर्व है,—

“मूल करनी कौ धरनी पै नर-देह लैबौ,

देहँन कौ मूल, एक पालँन सु नीँकौ है ।

देह - पलिबे कौ मूल भोजँन सु पूँन है,

भोजँन कौ मूल होनों बरखा घनी कौ है ॥

‘ग्वाल कवि’ मूल बरखा कौ है जजँन - जप,

जजँन जु मूल बेद - भेद बहु नीँकौ है ।

बेदँन कौ मूल ग्याँन, ग्याँन - मूल तरिबौ त्यों-

तरिबे कौ मूल नाम भाँनु - नंदिनी कौ है ॥

अथ उत्तरोत्तर अलंकार लच्छन जथा—

एक, एक ते सरल लखि, अलंकार कहि ‘सार’ ।

याही कों ‘उत्तरोत्तर’, कहै जिन्हें मति-चारु ॥

वि०—“जहाँ एक से एक की सरलता वा सरसता दिखलाई, अथवा बतलाई जाय वहाँ ‘सार’—अलंकार जिसे ‘उत्तरोत्तर’ भी कहते हैं, होता है। अर्थात् उत्तरोत्तर उत्कर्ष के वर्णन में यह अलंकार बनता है। साथ-ही उसके अपकर्ष में भी.....।

उत्तरोत्तर को जैसा दासजी ने कहा है—‘सार’ भी कहते हैं और “उदार” भी। अतएव कही हुई वस्तुओं में जब क्रमशः एक के बाद धारावाहिक रूप से उत्कर्षापकर्ष दिखलाया जाय—प्रथम कही हुई वस्तु से उसके बाद की कही हुई वस्तु का उत्तरोत्तर (एक के बाद एक) उत्कर्षापकर्ष वर्णन किया जाय, वहाँ यह अलंकार होगा। उत्तरोत्तर का अर्थ है—“एक के बाद एक दूसरा”। सार का अर्थ है—“उत्कृष्टता, तत्त्व और उदार का अर्थ है—‘सीधा, सरल, दानी, महान् और सीधा-सादा ।”

इस अलंकार में क्रमशः उत्कृष्टतर वस्तु का कथन प्रारंभ कर उत्कृष्टतम पर उसकी समाप्ति होने के कारण ही इसका नाम “उत्तरोत्तर” पड़ा। एक-ही वस्तु

की अनेक अवस्थाओं में क्रमिक उत्कृष्टता बतलाना —विषय भी इस अलंकार के अंतर्गत आ जाता है। यहाँ स्वरूप, धर्म-आदि का उत्तरोत्तर उत्कर्षक वर्णन किया जाता है, जिससे इसके कई भेद बन जाते हैं। बा० ब्रजराजदास (अलंकाररत्न में) कहते हैं कि “यहाँ उत्कर्ष भली-बुरी दोनों बातों में हो सकता है, पर उसे अपकर्ष कहना उचित नहीं ज्ञात होता, क्योंकि इसके तीनों नामों में उत्कर्ष वा उत्कृष्टता-ही का भाव निहित है, अपकर्ष का नहीं, किंतु—

“रहिमैन वे नर मर चुके, जे कहूँ माँगन जाँइ।

उँन ते पैहलें वे मरे, जिन मुख निकसत ‘नाँइ’ ॥”

यहाँ उत्तरोत्तर कथित वस्तु का अपकर्ष वर्णन है और उक्त अलंकार का सुंदर उदाहरण भी है, अतः आपका मत मान्य नहीं हो सकता। यही बात केडियाजी ने भी कही है कि “सार अलंकार कहीं-कहीं उत्तरोत्तर अपकर्ष में भी माना गया है, किंतु सार शब्द का स्वारस्य उत्कर्ष में ही है, अतः हमारे विचार से उत्कर्ष में सार मानना चाहिये।

आचार्य मम्मट ने इसका लक्षण पूर्व-कथित रूपानुसार इस प्रकार माना है—“उत्तरोत्तमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः” (जहाँ एक के अनंतर दूसरे का क्रमशः उत्कर्ष, बड़प्पन) अंतिम सीमा तक पहुँचा दी जाय वहाँ सार (उत्तरोत्तर) होता है। साहित्य-दर्पण में भी यही बात कही गयी है—“उत्तरोत्तरमुत्कर्षो-वस्तुतः सार उच्यते” (वस्तु का उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन करना सार है)। साथ-ही आपने काव्य-प्रकाश में दिया गया उदाहरण तद्वत् अपना लिया है। चंद्रालोककार ने इसका दूसरा लक्षण माना है, जैसे—“सारोनाम पदोत्कर्षः सारताया यथोत्तरं”। अर्थात्, जहाँ किसी रूप में गुण-प्रदर्शित करते हुए यह कहा जाय कि इस कार्य का यही ‘सार’ है, तो वहाँ सारालंकार होगा। उदाहरण भी इसके अनुरूप दिया है—“सारं सारस्वतं काव्यं काव्यंतत्र शिवस्तवः” (विद्या-ध्ययन का सार कविता है और काव्य का सार शिव-स्तुति है) यही लक्षण और तद्वद् उदाहरण ब्रजभाषा के आचार्य श्री चिंतामणि ने इस प्रकार दिया है—

“जहाँ कौन - हूँ बात में, कछु बरनिपेँ सार।

सो उत्तर उत्कर्ष यों, सुनिपेँ-सार विचार ॥”

•

“बुझि - सार बारानसी, ता में पंडित सार।

बहुरि पंडितैन में समझि, सार सु ब्रह्म-विचार ॥”

साथ-ही आपने ‘उदार’ को पृथक् अलंकार मानते हुए लिखा है—

“जहाँ - तहाँ संपत्ति - कथन, सो ‘उदार’ मैं जान ।
जो उपलब्ध न बढेन कौ, वही वहै पैहचान ॥”

पद्माकरजी ने उत्तरोत्तर तो नहीं, पर ‘सार’ नाम से इस अलंकार को मानते हुए इसके तीन भेदों का भी कथन किया है, जैसे—

“गुन-हीं सों, कै दोष सों कै दुहुँ सों जिहिँ थान ।

एक-एक ते अधिक भनि, त्रिविध ‘सार’ यों जान ॥

अर्थात् गुण, दोष और गुण-दोष के उत्कर्ष में ‘सार’ अलंकार होता है । दासजी ने दो ही भेद मान उनके उदाहरण दिये हैं । एक बात और, वह यह कि ‘उत्तरोत्तर’ वा ‘सार’ में शृङ्खला-विधान तो “कारण-माला और एकावली” की ही भाँति का होता है,—समान दीखता है, पर कारण-माला में कारण-कार्य का तथा एकावली में विशेष्य-विशेषण का और उत्तरोत्तर (सार) में उत्कर्षोत्कर्ष का संबंध होता है, अतः तीनों में स्पष्ट अंतर है । जगन्नाथ प्रसाद ‘भानु’ ने काव्य-प्रभाकर में इन दोनों भेदों का—‘अधिक’ और ‘न्यून’ नाम दिया है ।

प्रथम उदाहरण जथा —

होत मृगादिक ते बड़े बारँन, बारँन - बृंद पहारँन हेरे ।
सिंध में केते पहार परे, धरती में बिलोकिए^१ सिंध घँनेरे ॥
लोकँन में धरती ऐ^२ कित्ती, हरि-ओदर^३ में बहु लोक बसेरे ।
ते हरि ‘दास’ बसें इन^४ नैनन, सब^५ भाँति बड़े दृग राधिका तेरे ॥*

दुतीय उदाहरण जथा—

ए करतार, बिनै सुँन^६ ‘दास’ को, लोकँन कौ औतार करौ जिँन^७ ।
लोकँन कौ औतार करौ तो मनुष्यन^८ को जु सँवार करौ जिँन ॥

पा०—१. (२० कु०) बिराजत...। (स० स०) किते परे सिंध...। २. (का०) (वे०) (प्र०) यों...। (२० कु०) इ...। ३. (का०) (वे०) (प्र०) जोदर में...। (स० स०) उदर में केते है लोक...। ४. (वे०) (२० कु०) (स० स०) वसें इन्में...। ५. (का०) (प्र०) एते बड़े...। (वे०) (२० कु०) (स० स०) सब चाहि...। ६. (का० प्र०) (२० कु०) सुनों...। ७. (का० प्र०) (२० कु०) जनि । ८. (का०) (वे०) (प्र०) मनुष्यनहूँ कौ सँवार करौ...। (का० प्र०) मनुष्यन को तो सँवार करौ जनि । (२० कु०) मनुष्यन ही कौ सँवार करौ जनि ।

*. २० कु० (म० अर्थोद्धा) १ ५० ६०, २३३ ।—नायिका-वर्णन । स० स० (म० दी०) ५० ३४३-१५४ ।—मैत्रेय-वर्णन । का० प्र० (म० च०) ५० ८ ।—नेमचर्य-वर्णन ।

माँनुष हूँ^१ को सँबाह करौ तौ, तिन्हें^२-विष प्रेम-प्रचार करौ जिन^३ ।
प्रेम-प्रचार^४ करौ तौ दयानिधि, क्यों^५-हूँ बियोग-विचार करौ जिन^६॥*

वि०—“दासजी का प्रथम उदाहरण उत्कर्ष रूप उत्तरोत्तर का है। यहाँ उत्तरोत्तर रूप सार तो है ही, अधिकालंकार भी अपना प्रतिभा—सौंदर्यता, अलग-ही दिखला रहा है। द्वितीय उदाहरण अपकर्ष रूप उत्तरोत्तर का है, जो प्रोक्षित नायक की उक्ति से—कहने के ढंग से, अधिक स्पष्ट हो रहा है। प्रथम उदाहरण स्वरूप दो छंद और देखिये, यथा—

“जिहि हरि-उदर-माँहि बहु लोक रहंत ।
बड़े सोऊ गुँनि नैनन में निबसंत ॥”

*

“कापै तेरे हगँन की, कही बचाई जाइ ।
त्रिभुवन जाके मुख-बसै, सो जिहि रह्यौ सँमाइ ॥”

प्रथम बरवै ‘रहीम’ जो का है, और द्वितीया दोहा स्व० बा० जगन्नाथ-दासजी ‘रत्नाकर’ का^१ दो दोहे रसनिधि जी के भी देखिये, जो इसी बात को एक नये प्रकार से रख रहे हैं। यदा—

“तुँम गिरि लै नख पै धर्यौ, हँम तुँम को दग-कोर ।
हँन हूँ मैं तुँम -हीं कहौ, अधिक कियौ को जोर ॥”

*

“घट-बढ़ हँन में कौन हैं, तुही साँवरे-पैन ।
तुँम गिरि लै नख पै धर्यौ, इन गिरिधर लै नैन ॥”

*

आँखें बह आँखें है, देखा हो जिन आँखों ने तुम्हें ।
बिज्र वही बिज्र है कि जिस बिज्र में तेरी आद रहे ।

दासजी के द्वितीय उदाहरण के सम-तुल्य कवि ‘नंदराम’ और ‘पद्माकर’ के दो छंद देखिए, कितनी सुंदर समानता है, यथा—

१. (का०) (प्र०) ही...। २. (का०) (वे०) (प्र०) (का० प्र०) (र० कु०) तिन्हें...।
३. (का० प्र०) (र० कु०) जनि । ४. (वे०) प्रकार । ५. (का० प्र०) केहूँ...। ६. (का० प्र०) (र० कु०) जनि ।

*. र० कु० (‘म० अयोध्या’) पृ०—१३३, ४४५ ।—प्रोक्षितपति । का नायिका वर्णन ।
का० प्र० (आशु) पृ० २४१—प्रोक्षितपति । का० का० (रा० क० सि०) पृ० ६३ १ ।

“जोकेन सँवारौ तौ सँवारौ नाँ बिगारौ कह्य,
 जोकेन-सँवारि नर-नारी नाँ सँवार तो ।
 कीन्हे नर-नारी तौ नाँ प्रेम कौ प्रचार देतौ,
 प्रेम कौ प्रचारौ तौ नाँ मैन कौ प्रचार तो ॥
 मैन कौ प्रचारौ तौ प्रचारयौ नाँ सँजोग दे तो,
 कीन्हों जो सँजोगै तौ वियोगै नाँ बिचार तो ॥
 ‘नंदराम’ कीन्हों जो बियोग बिधिनाँ तौ भूलि,
 बौरे बँन-बाँगन बसंत नाँ बगार तो ॥



साँझ के सलोने घँन सबुज-सुरंगन सों,
 कैसेँ कै अरुंग अंग-अरुंगे सताउ तो ।
 कहै ‘पद्माकर’ झकोर झिञ्झी सोरँन कौ,
 मोरँन कौ महत न कोऊ मैन-क्याउ तो ॥
 काहू बिरही की कही माँन लेतो जौ पै दई,
 जग में दई तौ दया-सागर कहाउ तो ।
 पावस-बनायौ तौ न बिरह बनाउ तौ,
 जौ बिरह-बनायौ तौ न पावस बनाउ तो ॥’

अथ रसनोपमाँ-अलंकार लच्छन जथा—

उपमाँ औ एकावली कौ संकर जहँ होइ ।
 ता-ही कों ‘रसनोपमाँ’, कहैं सुमति सब कोइ ॥

वि०—“जहाँ उपमा और एकावली-अलंकारों का संकर हो वहाँ दासजी रसनोपमा अलंकार कहते हैं। अथवा बहुत से उपमान और उपमेयों में यथोत्तर उपमेय को उपमान कथन किये जाने को—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार-वचनात्—रसनोपमा कहते हैं। अथवा जहाँ कहे हुए उपमेय क्रमशः उत्तरोत्तर उपमान होते जाँय और इसी प्रकार उपमेयोपमानों की एक शृंखला बन गयी हो तो वहाँ रसनोपमा, क्योंकि रसनोपमा—उपमा और एकावली की (दासजी-अनुसार) गृहीत-मुक्त-रीति के संयोग से बनती है।

रसनोपमा को प्रायः सभी संस्कृत तथा ब्रजभाषा के सभी अलंकार ग्रंथों में “उपमा-प्रपंच” (उपमा के विविध भेदादि) के साथ लिखा है। वहाँ इसके लक्षण निम्न प्रकार हैं—“यथोत्तरोपमेयस्योपमानत्वे पूर्ववदभिन्नभिन्न धर्म स्वेति...।” यदि क्रमशः पूर्व-पूर्व वाले उपमेय पीछे-पीछे उपमान रूप

से कहे जाँय तो मालोपमा-ही की भाँति रसनोपमा होगी, इसके दो भेद—
“अभिन्न साधारण धर्मों वाली” तथा भिन्न-भिन्न धर्मों वाली रसनोपमा रूप से होंगे। साहित्य-दर्पण-रचयिता कहते हैं—“...कथित रसनोपमा। यथोर्ध्व-
सुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता ॥” अर्थात् उपमेय जहाँ उत्तरोत्तर वाक्यों में
उपमान हो जाय वहाँ रसनोपमा कही जाती है। ब्रजभाषा के पूर्व अलंकारा-
चार्य चिंतामणजी ने भी इसे उपमा-प्रपञ्च के साथ लिखते—वर्णन करते हुए
इसका लक्षण यह दिया है—

“प्रथमै जो उपमेइ वी पुनि उपमानं जु होइ।

वस्तु और कौ क्रम जु यह, रसनोपम है सोइ ॥”

मतिराम कहते हैं—

“जहाँ प्रथम उपमेइ सो, होत जात उपमानं।

तहाँ कहत रसनोपमाँ, कबि ‘मतिराम’ सुजाँन ॥”

और पद्माकर भी—

“रसनोपमाँ उपमेइ जहँ, होत जात उपमानं ॥”

परंतु इसके जो भी उदाहरण विभिन्न ग्रंथकारों ने दिये हैं, उनमें सेठ
कन्हैयालाल पोद्दार रसनोपमा न मान ‘वाच्योपमा’ को मानते हैं, क्योंकि इनके
वाच्यार्थ में ही उपमा है, इति...

रसनोपमा को दासजी ने-ही उपमा-प्रपञ्च से पृथक् कर (इसका) वर्णन किया
है, क्योंकि आपने इसमें दीपक-यथासंख्यादि जैसा कहने से—वर्ण्य-वस्तु को वर्णन
करने के ढंग से, साथ-ही इस पर एकावली-अलंकार का प्रत्यक्ष प्रभाव देखकर
उसे इन्हीं की श्रेणी में रख अपनी विशेष काव्य-गत-अलंकार प्रतिभा का परिचय
दिया है।

संस्कृतादि ग्रंथों में रसनोपमा का उल्लेख, उपमा के साथ-साथ अभिन्न रूप
में (अर्थात्, प्रथक नहीं) किया है। लुप्तोपमाओं के वर्णन के बाद जहाँ “विव-
प्रतिविंबोपमा-आदि का कथन किया है, वहाँ इसको भी स्थान दिया है। जैसे—
(१) पूर्णोपमा, (२) लुप्तोपमा, (३) मालोपमा, (४) लक्ष्योपमा, (५) रसनोपमा,
(६) समुच्चयोपमा। अथवा—विवप्रतिविंबोपमा, वस्तु-प्रतिवस्तु-निर्दिष्टोपमा,
श्लेषोपमा, वैधर्म्योपमा, नियमोपमा, समुच्चयोपमा, रसनोपमा आदि-आदि...”।

रसनोपमा का अर्थ—रसना + उपमा, रसना = कंधनी, कमर-पेटी, शृंख-
लादि और उपमा का अर्थ समता...। अर्थात् जब कई उपमाएँ एक शृंखला-बद्ध
रूप में कहीं जाँय और प्रथम का उपमेय दूसरे में क्रमशः उपमान होता जाय तब
रसनोपमा का विषय बनता है, अस्तु प्रथम उपमा में जिस उपमेय का अन्य से

सादृश्य दिखलाया गया है, वह दूसरी उपमा में उपमान होकर नये उपमेय की समानता प्रकट करे और फिर यह नया उपमेय तीसरी उपमा में उपमान बन कर एक और नये उपमेय की उपमित करे तथा यही क्रम से यदि और उपमाएँ हों तो— चलता रहे तो वहाँ रसनोपमा। यह व्याख्या—पा० ब्रजरत्नदास जी की है, यथा—
“पूर्वपूर्व समानत्वमुत्तरे वस्तुतः, मेखारचनन्यायाद्यद्विषयादशमोपमा ॥”

रसनोपमाँ-उदाहरन जथा—

न्यारौ न होत बफारौ ज्यों धूम ते,^१ धूम ज्यों जाल धँन-धँन में हिलि ।
‘दास’ उसास रलै जिँ मि पोंन में, पोंन ज्यों^२ पैठत आँधिन में पिलि ॥
कोंन जूँ दौ करै लोन^३ कों नीर ते, नीरौ छीर में जाल खरौ धिलि ।
त्यों^४ मति मेरी मिली मँन मेरे में, मो मँन गौ मँनषोंहँन सों मिलि ॥

•

अति प्रसन्न है कँमल सौ, कँमल मुकुर सौ बाँम ।

मुकुर चंद सौ चंद है, तो मुख सौ अभिराम ॥

वि०—‘दासजी के यह दोनों उदाहरण विभिन्न, अर्थात् अभिन्न-भिन्न-धर्मा रसनोपमा के हैं। रसनोपमा का उदाहरण काव्य-प्रभाकर (हिंदी) रच-यिता पं० जगन्नाथप्रसाद ‘मानु’ कृत सुंदर है, यथा—

“काव्यवर जग सोहै, कैसौ सोहै काव्यवर,

जैसौ माँनसर सोहै सरँम कौ अधिराज ।

कैसौ सोहै माँनसर कहौ ‘कवि भाँनु’ मोसों,

जैसौ सोहै द्विजराज, कैसौ सोहै द्विजराज ॥

मदँन - मुकर जैसौ, मदँन - मुकर कैसौ,

प्यारी के बदँन पर जैसौ रही छबि छाज ।

प्यारी कौ बदँन कैसौ, सुख कौ सदँन जैसौ,

सुख कौ सदँन कैसौ, जैसौ सुभ राम-राज ॥”

अथ रतनावली अलंकार-लच्छन जथा—

क्रंमो-वस्तु-गंनि विदित जो,^{*} रचि राख्यौ करतार ।

सो क्रंम आँनें काव्य में, ‘रतनावली’ प्रकार ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) में ...। २. (सं० पु० प्र०) यों...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) लोन त्यों नीरमें, नीर ज्यों-छीर में जात...। ४. (सं० पु० प्र०) यों...। ५. (रा० पु० का०) ...गँन जो विदित...।

वि०—“जहाँ वस्तुओं के विदित क्रम को, जिन्हें करतार (ब्रह्मा) ने रच रखा है, उन्हें काव्य में क्रमशः लाने—प्रयोग करने पर “रत्नावली” अलंकार बनता है। अर्थात् प्रस्तुत अर्थ में क्रमानुसार अन्य नाम भी प्रकट हों, अथवा जहाँ प्रस्तुत अर्थ के साथ-साथ अन्य प्राकरणिक नाम वा अर्थ भी प्रसिद्ध क्रम से निकलें वहाँ यह अलंकार बनता है, यथा—

“रत्नावलि’ प्रस्तुत-ग्रन्थ, क्रम ते औरों नाम ।”

—भाषा-भूषण

रत्नावली का अर्थ रत्न-समूह वा उनकी पंक्ति है। अतएव इस अलंकार में रत्नों की पंक्ति की भाँति क्रम से प्राकरणिक अर्थों का क्रमशः वर्णन होता है, क्योंकि एक अर्थ के साथ उसका एक अन्य प्राकरणिक अर्थ भी रहता है और उसे बोध कराना ही इस अलंकार का विशेष लक्ष्य होता है। कुवलयानन्द में इसका लक्षण—“क्रमिकं प्रकृतार्थानां न्यासं ‘रत्नावली’ विदुः” (प्रस्तुत अर्थ में जहाँ क्रम से और—अन्य नाम भी निकलें...) माना है ।”

रत्नावली अलंकार को संस्कृत-साहित्य को भाँति ब्रजभाषा में भी कुछ-ही अलंकाराचार्यों ने माना है और इसका लक्षण कुवलयानन्द से-ही अपनाया गया है ।”

अस्य उदाहरन जथा—

स्याँम-प्रभा इक् थापि, जुग उरजँन तिय के किए ।

चार पंचसर छापि, सात कुंभ के कुंभ पर ॥

*

रबी सिर-फूल, मुखै ससि-तूल, मही-सुत-बंदन-बिंदु सु भाँती* ।
पनाँ बुध, केसर-आड़ गुरौ, नँक-भाँतिऐ सुक करै दुख-साँती^३ ॥
सँनि* हैं छिँगार, बिधु-तुंद* जु बार, सजै भूखकेतु सबै तेन काँती^६ ।
निहारिऐ लाल, भरो^९ सुख-जाल, बैनी नव-बाल नवग्रह-पाँती^८ ॥

वि०—‘दासजी के इस उदाहरण में प्रिया—नायिका के सौंदर्य-वर्णन प्रस्तुतार्थ में रवि-आदि नव ग्रहों के नाम क्रमशः वतलाये गये हैं। रत्नावली का निम्नलिखित किसी कवि का उदाहरण भी सुंदर है, यथा—

पा०—१. (वें०) पिक...। २. (का०) (वें०) (प्र०) भाँति । ३. (का०) (वें०) (प्र०) साँति । ४. (का०) (वें०) (प्र०) सनी...। ५. (का०) (वें०) (प्र०)—तु दवार...। (सं० पु० प्र०)—तु दजवार...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) काँति । ७. (का०) (वें०) भरै...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) पाँति ।

“स्याम कौ सनेह सो सिंगार, सुसकान हास,
 सोक करुनारि परे प्यारे देह भोरी के ।
 रौद्र रतनारे, मान-रोस ते निहारे नैक,
 बीर सौति-मान-भंग करन सु जोरी के ॥
 द्रुमैन-दबागि देखि मै भौ भयानक सौ,
 स्यों बिभत्स दीखें अन्य होति घृनां गोरी के ॥
 अद्भुत अहेरी ऐन, सांत सुनि ऊधौ-बैन,
 नब-रस ऐन नैन नबल किसोरी के ॥

नायक—मिलाप के लिए शुभ दिन बताते-बताते हारजाने वाली सखी की रघुनाथ कवि-विरचित नायिका-प्रति यह उक्ति भी सुंदर है, यथा—

आदित-सोम कहौ कबहूँ, कबहूँ कहौ मंगल औ बुध-ही में ।
 बिहफै औ सुक्र-सूनीचर कों, कबहूँ कहिबौ मुख-सों नहिं रीतें ॥
 मोहि न जाँनि परै ‘रघुनाथ’ कि भेंट कौ है दिन कौन सौ सीतें ।
 आबत-जात मैं हारि परी, तुम्हें बार बतावत बासर-बीतें ॥”

यहाँ भी प्रसिद्ध सातों बारों का क्रमशः वर्णन होने से ‘रत्नावली’ सुंदर बन गया है ।”

अथ परजाइ-अलंकार लच्छन जथा—

तजि-तजि आसइ करँन ते, है ‘परजाइ’-बिलास ।
 घटती-बढ़ती देखिकें, कहि संकोच-बिकास ॥

वि०—“जहाँ किसी कारण से वर्ण्य-वस्तु अपना आश्रय (आशय) त्याग क्रमशः अन्य का आश्रय ले तो वहाँ पर्याय का विलास समझना चाहिये । यह आश्रय-त्याग घट-बढ़ होने के कारण संकोच और विकाशरूप में वर्णन किया जाता है ।”

कोश-कारों ने पर्याय को “पर्यायोऽवसरेक्रमे” और “आनुपूर्वी स्त्रियां वाऽऽवृत्तिरिपाटी अनुक्रमः—पर्यायश्च” कहा है । इसलिए उक्त अलंकार में क्रम से एक के बाद दूसरी में किसी वस्तु का आश्रय लेना, अथवा अनेक वस्तुओं का एक ही आधार में एक के बाद दूसरी में क्रमवत् स्वतः स्थित होना—किया जाना “पर्याय” का विषय कहा गया है । अर्थात्, ‘पर्याय’ अलंकार में एक वस्तु को—एक-ही आधेय को, क्रमशः काल-भेद से एक साथ नहीं, अपितु एक के पीछे दूसरे-दूसरे आधारों में स्वतः स्थिति होने का—किसी-द्वारा किये जाने का

वर्णन होता है। यहाँ क्रमशः शब्द “विशेष” अलंकार से पृथक्ता-प्रदर्शन का द्योतक है, क्योंकि वहाँ (विशेष में) भी एक ही काल में अनेक स्थानों पर वस्तु स्थिति का वर्णन किया जाता है, जो क्रमशः (उत्तरोत्तर) नहीं होती। अतएव संस्कृत-अलंकाराचार्यों ने ‘पर्याय’ के प्रथम और द्वितीय नाम से दो भेद माने हैं। प्रथम पर्याय वहाँ, जहाँ—“एक वस्तु की क्रमशः अनेक आश्रयों में स्वतः स्थिति हो या अन्य-द्वारा की जाय” और द्वितीय ‘पर्याय’ वहाँ “जहाँ अनेक वस्तुओं की एक आधार में क्रमशः स्वतः स्थिति हो वा किसी के द्वारा की जाय”। इसके बाद इन आचार्यों ने इन दोनों पर्यायों के “स्वतः स्थिति” और “अन्य-द्वारा स्थिति” किये जाने पर दो-दो भेद और माने हैं। पर यहाँ यह ध्यान रहे कि पर्यायालंकार वहीं होता है जहाँ एक आधार का संबंध नष्ट होकर उसकी दूसरे आधार में स्थिति होती हो, सम-भाव से एक काल में विविध आधारों में स्थिति न हो”। जैसा काव्य-प्रकाश में मम्मटाचार्य ने उदाहरण दिया है, यथा—

“बिबोष्ठ एव रागस्ते तन्वि पूर्वमदृश्यत।

अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि लक्ष्यते ॥”

अर्थात् हे कुशांगि, राग प्रथम तो कुंदरू के फल समान तेरे ओष्ठों में ही दीखता था, पर अब तो वह हे मृगशावाक्षि तेरे हृदय में भी दिखलाई पड़ता है।

यहाँ राग (लाल रंग और प्रेम) वास्तव में भिन्न-भिन्न है, फिर भी उसका एक ही प्रकार से एक-ही काल में स्थिति रूप कहे जाने के कारण अभिन्नवत् प्रतीत होता है—दोनों का एकत्व प्रकट करता है, भिन्नवत् प्रतीत नहीं होता, इसलिये यह पर्याय का शुद्ध उदाहरण भी नहीं कहा जा सकता। यद्यपि काव्य-प्रकाश के टीका-कर्त्ताओं ने इसमें क्रम—“प्रथम एक आधार अधर में ही राग था, अब द्वितीय आधार हृदय में भी वह है” बतलाया है, किंतु आचार्यजी ने इस उदाहरण को संतोषप्रद न मान दूसरा उदाहरण भी दिया है।

द्वितीय पर्याय-लक्षण में भी ‘क्रमशः’ शब्द समुच्चयालंकार के पृथक्त्व का द्योतक है, क्योंकि द्वितीय समुच्चय में भी अनेक वस्तुओं की एक-ही आधार में स्थिति एक काल में ही कही जाती है, पर वह क्रमशः नहीं होती, जैसी कि इस अलंकार में। इसी प्रकार “परिवृत्ति अलंकार से इसकी पृथक्ता-वर्णन में अलंकाराचार्यों का कहना है कि “परिवृत्ति में एक वस्तु दूसरे को देकर बदले में दूसरी वस्तु उससे ली जाती है, जो यहाँ नहीं है”।

श्रीमम्मट ने पर्याय का लक्षण—“एक क्रमेणानेकस्मिन्पर्यायः” (एक ही वस्तु यदि क्रम से अनेक में पायी जाय) मानते हुए कहा है कि “यदि एक वस्तु

क्रमपूर्वक अनेक में हो, वा पायी जाय, अथवा की जाय—उत्पन्न की जाय, वहाँ 'पर्याय' अलंकार मानना चाहिये (एक वस्तु क्रमेणानेकस्मिन्भवति क्रियते वा स पर्यायः) । आगे आप पुनः कहते हैं—“अन्यस्ततोऽन्यथा । अनेकमेकस्मिन् क्रमेण भवति क्रियते वा सोऽन्यः” अर्थात् एक और भी भिन्न लक्षण वाला पर्याय होता है, जिसमें अनेक वस्तु एक-ही आधार पर क्रम-पूर्वक काल-भेद से हों, अथवा (उत्पन्न) की जाय.....। साहित्य-दर्पणकार कहते हैं —

“क्वचिदेकमनेकस्मिन्नेकं चैकग क्रमात् ।

भवति क्रियते वा चेत्तदा 'पर्याय' ईष्यते ॥”

एक वस्तु अनेकों में, वा अनेक वस्तुएँ एक में क्रम से हों, या की जाय—कही जाय, वहाँ पर्याय है । इनमें आधार कहीं संहत (मिला हुआ) और कहीं असंहत (बिना मिला हुआ) रूप से होता है । साथ-ही (जैसा पूर्व में लिखा जा चुका है) यहाँ एक वस्तु (की स्थिति) अनेकों में क्रम से की जाती है, एक-ही समय में नहीं । यह विशेषालंकार से (इसकी) भिन्नता है और बदला न होने के कारण 'परिवृत्ति' से (भी) भिन्नता है ।”

ब्रजभाषा-ग्रंथों में पर्याय के दो ही भेदों का उल्लेख मिलता है, जैसा कि चिंतामणि जी कहते हैं —

“क्रम-क्रम एक अनेक में, एक-हि माँहि अनेक ।

द्वै प्रकार 'परजाइ' यों, सत कवि करत बिबेक ॥”

प्रायः यही लक्षण—“क्रमशः एक में अनेक और अनेक में एक” आपके बाद के आचार्यों ने भी अपनाया है । अर्थात्, उक्त दो ही भेदों का कथन किया है ।”

अथ प्रथम परजाइ उदाहरन जथा—

पाँइन कों तजि 'दास' लगी तिय-नैन बिलास करै चपलाई ।
पीन नितंब-उरोज^१ भए, हठि कें कटि जात भई तँन-तार्ई ॥
बोलँन-बोच बसी सिसुता, तन जोबँन की गइ फँलि दुहाई ।
अंग-बढ़ी^२ सु बढ़ी अब ता, नबला छबि तो^३ बढ़ती पर आई ॥

•

रह्यौ कतूहल देखिबौ, देखत मूरति-मैन ।
पलकँन कौ लगिबौ गयौ, लगी टकटकी नैन ॥

पा०—१. (वे०) उरोज-नितंब भए । २. (का०) (प्र०) बढ़्यौ सु बढ़्यौ अब तो, ३. (वे०) की ..

वि० —“दासजी कृत ये दोनों उदाहरण “अनेक में एक और एक में अनेक” द्वि-विध पर्याय के हैं ।

प्रथम पर्याय (अनेक का एक में आश्रय) जो संस्कृत-अलंकाराचार्यों की मान्यता से द्वितीय है, का उदाहरण चिंतामणिजी ने इस प्रकार दिया है—

“छाँबि दई तँनता जु नितै, वहि ताकों कहाँ सेबँन वह लाग्यौ ।
पाँइन चचलता-जुत जो, अबसा पर नँन जुगै अँनुराग्यौ ॥
मंद-सुभाव लियौ गति जो, मृग-लोचनी की मति कों तजि भाग्यौ ।
अँगँन के गुँन कौ बदलौ करि कँ तिय कं तँन जोबँन जाग्यौ ॥”

अथवा ‘लच्छीराम’ कृत उदाहरण, यथा—

“बालपनों नब जोबँन-जोग, नबेली के पाइँन की चपलाई ।
आँनि बसी बर लोचँन - बीच में, बंक - बिलोकनि की रुचिराई ॥
मंदता माँनस की ‘लछिराँम’, भरी गति में अति-ही गरुआई ।
मोहँन कौ मँन मोहै लगी, उँमगी अधराधर में मधुराई ॥”

और एक में अनेक के आश्रय रूप द्वितीय पर्याय का उदाहरण ‘रघुनाथ’ कवि कृत इस प्रकार है —

“बंसीबट - तर नटबर - भेख धरें, ठाढ़े-
दिखात सोई जसुमति के दुलारे हैं ।
गोधँन - चरैया एई, चीर के हरैया एई,
गुंजँन - धरैया एई कुंजँन - बिहारे हैं ॥
एई मँन - चोर, एई माँखन के चोर, एई—
‘रघुनाथ’ गोपिन के आँखिन के तारे हैं ।
एई पीत - पटबारे, एई हैं मुकटबारे,
ब्रज में सुनति हौ सो एई काँन्ह कारे हैं ॥”

अथ संकोच परजाइ (पर्याय) कौ उदाहरण जथा—

राबरौ पर्याँन सुँनि सुखि गई पैहलें - हीं,
पुँनि^१ भई बिरह-बिथा ते तँन-आधी-सी ।
‘दास’ के^२ दयाल माँस-बीतिबे में छिँन-छिँन,
छिँन - परिबे की रीति^३ राधे अबराधी-सी ॥

पा०—१. (प्र०) भई पुनि बिरह...। २. (का०) (प्र०) कौ (को)...। (वे०) की...। ३. (सं० पु० प्र०) की राधे रीति . ।

सौंसरी-सी, छरी-सी है सर-सी सरी-सी भई,
 सौंक-सी है, लौक-सी है, बाँध^१ हू-सी, बाँधी-सी ।
 “बार-सी, मुरारि^२-तार-सी लों तजि आवति हों,
 जीबवि-ही है है वौ प्रौनाजौम साधी-सी ॥

अस्य तिलक

“इहाँ उपमाँ संकर है ।”

पुनः उदाहरन जथा—

सब-जग-ही^३ हेंमंत है^४, सिसिर सु छाँहन मीत ।
 रितु बसंत सब छाँड़ि कें, रही^५ जलारौ सीत ॥

अस्य तिलक

हेंमंत में सीत सब जग में, सिसिर में सीत छाँह के नीचें और बसंत में
 सीत सब को छाँड़िकें जलारौ (नदी-तालाब) में रहै है ।

अथ ‘विकास’ परजाइ (पर्याय) कौ उदाहरन जथा—

लाली हुती प्रियाधर^६, बड़ी हिए-जों हाल ।
 अब सुवास तन-सुरंग करि, ल्याई^७ तुम पै लाल ॥

*

अंसुबन ते वौ^८ नंद कियौ^९, नंद ते कियौ^{१०} समुद्र ।
 अब सिगारौ जग जल-मई, करन चहत हूँ रुद्र ॥

*

हैम-तुँम एक हुते तन-मन फेरि—तुँम-
 पीतम कहाए^{११} मोहि प्यारी कहिवाई^{१२} है ।
 सोहू गयौ, पति-पतिनी कौ रह्यौ नाँतौ पुनि,
 पापनि हों रही^{१३} तुँम उत^{१४} दीठि-ठाई है ॥

पा०—१. (वें०) बाँधी हूँ के बाँधी—। (सं० पु० प्र०) बाँधी-सी है बाँधी—। २. (वें०) मुरारि-सी लों जीवत तेजोमें अजां, जीवति...। ३. (प्र०) में...। ४. (वें०) में...। ५. (सं० पु० प्र०) रह्यौ...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) प्रियाधरहि...। ७. (वें०) आई...। ८. (का०) उहि...। (वें०) (प्र०) बहि...। ९. (का०) (वें०) (प्र०) किय...। १०. (का०) (प्र०) किय...। ११. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) कहायौ...। १२. (का०) (प्र०) कहवाई है। १३. (का०) (प्र०) हों याही तुम्हें...। (वें०) हों हयाई तुम्हें उत-ही दिवाई है। १४. (प्र०) तुम्हें बात न दिवाई है। (का०) दीठ ठाई है ।

द्वे दिनः-लौं'दास' रही पतियों-सँदेस-भास,
हाइ-हाइ ताहू हठि^२ रह्यौ ललचाई^३ है ।

प्राँननाथ, कठिन पखाँन-हूँ-ते प्राँन अबै,
कौन जाँन कौन-कौन दसा दरसाई^४ है ॥

वि०—“दासजी ने इन तीनों उदाहरणों में विकाश (एक में अनेक की स्थिति) पर्याय की छटा सुंदर रूप से दर्सायी है । प्रथम उदाहरण में लाली अनेक आश्रयों में स्वतः स्थिति है, दूसरे में अन्य-द्वारा स्थिति है, अर्थात् आँसुओं का आश्रय क्रमशः नद, समुद्र तथा संपूर्ण जगत बताया गया है, जो स्वतः स्थित नहीं है । तीसरे उदाहरण में भी यही बात है ।

अन्य-द्वारा अनेक आधार (आश्रय) रूप पर्याय का उदाहरण कविवर 'गवाल' कृत भी सुंदर बन पड़ा है, यथा—

‘मेघ, वृष, मिथुन तचार्यन के त्रासँन ते,
सीतलाई सद तैखानन में ढली है ।

तजि तैखाने गई सर, सर-तजि कंज,
कंज-तजि चढ़ैन-कपूर पुर मली है ॥

‘गवाल कवि’ ह्वाँते चंद में हूँ चाँदनी में गई,
चाँदनी ते चलि सोरा-जल माँहिं रली है ।

सोरा-जल हू ते धँसी ओरा फिर ओरा-तजि,
बोराबोर हूँ कें हिमाँचर में गली है ॥

साथ-ही दासजी कृत “आँसुवैन ते वौ नँद कियौ०...” के साथ रघुनाथ कवि का विरह-निवेदन भी देखिये, यथा—

“आपुँन के बिलुरें मँनमोहँन, बीली घरी अबै एक की द्वै है ।
ऐसी दसा इतने में भई, ‘रघुनाथ’ सुनें भइ ते मँन अबै है ॥
लाबिली के आँसुबान कौ सागर, बाढ़त जात मनो नभ छवै है ।
बात कहा कहिए व्रज की, अब बूझौई हूँ है कि वृषत हूँ है ॥”

अथवा—

“गोपिन के आँसुबान कौ नीर, सुतौ मोरी बझौ, बहि के भए नारे ।
नारे भए नँदिया बढि कें, नँदिया नद ते भए फाँट करारे ॥
बेगि चलौ तौ चलौ उत कों, ‘कवि तोष’ कहै व्रजराज-दुकारे ।
वे नँद चाँहत सिंधु भए, पुनि सिंध ते हूँ हैं जलाल भारे ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) दिनालो... । २. (का०) (वें०) हटै... ।
३. (का०) (प्र०) ललचाई है । ४. (का०) (प्र०) दरसाई है ।

अथ दीपक-अलंकार लक्षण जथा—

एक शब्द बहु में लगै, 'दीपक' जाँनों' सोइ ।

वहै शब्द फिरि-फिरि फरें*, आवृत्ति-दीपक होइ ॥

वि०—“दासजी ने इस दोहे में—‘दीपक’ और उसका द्वितीय भेद ‘आवृत्ति दीपक’ का वर्णन किया है—लक्षण लिखा है। अतः व ‘दीपक’ अलंकार वहाँ आपने माना है, जहाँ एक शब्द बहुतों (अनेकों) में लगे। इसी प्रकार ‘आवृत्ति दीपक’ वहाँ, जहाँ वही एक शब्द बार-बार आये।

संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में दासजी कृत यह परिभाषा—दीपक का लक्षण नहीं माना गया है। वहाँ—

“सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनां ।

सैव क्रियास्तु बह्वीषु कारकस्येति दीपकं ॥”

अर्थात् “प्रकृत (उपमेय) और अप्रकृत (उपमान) इन दोनों के जो क्रिया-दिक धर्म हैं, उनका एक-ही बार में कथन करने को—प्रस्तुताप्रस्तुत के एक धर्म कहने को, ‘दीपक’ और जहाँ दीपकालंकार की आवृत्ति हो, वा की गयी हो, वहाँ “आवृत्ति दीपक” अलंकार कहते हैं, यथा—

“आवृत्ते दीपकपदे भवेदावृत्तिदीपकम् ॥”

—चंद्रालोक

दीपक-अलंकार दीपक-न्यायानुसार है। जैसे एक स्थान पर रखा हुआ दीपक विविध वस्तुओं को (बाहर-भीतर) प्रकाशित करता है, उसी भाँति यहाँ अलंकार रूप में गुणात्मक वा क्रियात्मक धर्म से प्रस्तुत-अप्रस्तुत दोनों के स्वरूपों को प्रकाशित करता है। अतएव इसी आधार पर ‘भरत मुनि’ तथा भामह-आदि अलंकाराचार्यों ने इसके आदि, मध्य और अंत रूप से तीन भेदों का उल्लेख किया है। जहाँ आदि में धर्म का कथन किया जाय वहाँ आदि, जहाँ मध्य में धर्म का कथन किया जाय वहाँ ‘मध्य’ और जहाँ अंत में धर्म-कथन किया जाय वहाँ अंत-धर्मा दीपक कहा जाता है, यथा—उपमानोपमेय वाक्येष्वेका क्रिया दीपकं। तत्रैविविध्यं, आदिमध्यांतवाक्यवृत्तिभेदात्—चामन, का० सू० ४।३।१८, १९।

आवृत्ति दीपक में भी यही बात है। वहाँ भी पूर्व-कथित प्रकार से अनेक वस्तुओं को स्पष्ट देखने-दिखाने के लिये प्रत्येक वस्तु के पास दीपक के प्रकाश की आवश्यकता प्रतीत होती है, उसी दीपक-न्याय के अनुसार आवृत्ति दीपक में भी एक क्रिया से अनेक पद, अर्थ और पद-अर्थ तीनों प्रकाशित किये जाते हैं,

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) जाँनों... २ (का०) (वें०) (प्र०) परै...

—देखे-दिखलाये जाते हैं। अतएव इसके भी तीन भेद—पदावृत्ति-दीपक, अर्थावृत्ति-दीपक और 'पदार्थावृत्ति-दीपक' कहे जाते हैं। जिन पदों की यहाँ आवृत्ति होती है वे प्रायः क्रियात्मक होते हैं।

श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ने 'साहित्य-दर्पण' में दीपक के आदि, मध्य और अंतर्धर्मा तीनों भेद नहीं माने हैं। आप कहते हैं कि “यद्यपि यहाँ गुण-क्रिया रूप धर्म आदि, मध्य और अंत में होने के कारण तीन भेद हो सकते हैं, किंतु उन्हें हमने (विश्वनाथ चक्रवर्ती ने) नहीं दिखाया है, क्योंकि इस प्रकार की विचित्रताएँ तो हजारों भाँति की हो सकती हैं, यथा—

“अत्र च गुणक्रिययोरादिमध्यावसानसद्भावेन त्रैविध्यं न लक्षितं तथाविध-वैचित्र्यस्य सर्वत्रापि सहस्रधा संभवात्...।”

दीपक को पंडितराज श्री जगन्नाथ ने तुल्ययोगिता के अंतर्गत माना है। आप कहते हैं कि “जब केवल प्रस्तुतों अथवा (केवल) अप्रस्तुतों के एक धर्म कथन में तुल्ययोगिता के दो भेद माने गये हैं, तो वहाँ प्रस्तुत-अप्रस्तुत के एक धर्म एक साथ कहने में कोई विशेष चमत्कार प्रतीत नहीं होता, इसलिये दीपक को तुल्य-योगिता से पृथक् मानना उचित नहीं है।” किंतु तुल्ययोगिता में केवल उपमेयों अथवा उपमानों का एक धर्म कहा जाता है, दीपक में नहीं। यहाँ (दीपक में) उपमेयोपमान दोनों का एक धर्म एक साथ कहा जाता है, जैसा तुल्ययोगिता में नहीं कहा जाता, इस लिये इसका पृथक् मानना ही उचित है। ब्रजभाषा के ग्रंथों में 'दीपक' के लक्षण निम्न प्रकार से माने गये हैं—

“प्रस्तुत औ अप्रस्तुतौ सहस्र धर्म-संजोग।

गम्य होइ कै अगम जित, तित 'दीपक' बुध-लोग ॥”

—चित्तमणि

*

सो 'दीपक' निज गुनँ सों, बन्धु इतर इक भाइ।

—भाषा-भूषण

*

बन्धु-अबन्धुन कौ जहाँ, धरँम होत है एक।

बरनत हैं 'दीपक' तहाँ, कबि करि बिमल बिबेक ॥

—मतिराम

इन सभी उदाहरणों में दीपक का लक्षण उपमेयोपमानों का गुण-क्रियादि द्वारा एक धर्म होना कहा है। वामनाचार्य ने जैसा पूर्व कह आये हैं, वर्यावर्ण्य की एक ही क्रिया का होना कहा है। साथ-ही साहित्य-दर्पण के टीकाकार जीवा-

नन्द विद्यासागर भो—“अत्र प्रस्तुताया अप्रस्तुताया च एकानुगमन क्रिया संर्धधः” कहते हुए श्री बामनाचार्य का ही अनुमोदन करते हैं। अस्तु, संस्कृत तथा ब्रजभाषा के ग्रंथों में इस अलंकार के जितने भी उदाहरण देखे जाते हैं उन सब में केवल क्रिया का ही उपयोग है। यह क्रिया का उपयोग कारक, माला, आवृत्ति और देहरो-दीपको में ही नहीं, किंतु सभी दीपकों में नियमित रूप से होती है।

कहीं-कहीं आवृत्ति-दीपक के भेद “पदावृत्ति दीपक” और “यमक” में साम्यता नजर आती है, किंतु पदावृत्ति दीपक एक प्रकार से यमकालंकार का रूपांतर-मात्र होते हुए भी दोनों में काफी अंतर है। पदावृत्ति दीपक में क्रिया की आवृत्ति होती है और यमक में अक्रिया-पदों की आवृत्ति होती है, इत्यादि...।” आवृत्ति दीपक ‘सरस्वती-कंठा-भरण’ के अनुसार केवल क्रिया-वाचक शब्दों के प्रयोग से ही नहीं, क्रिया-वाचक शब्दों के रहित भी होता है।

प्रथम दीपक-अलंकार उदाहरन जथा—

आँनन-आतप पेखि कैं,^१ चलै डंक^२ कहूँ पाँइ ।

सुँमन-अंजली लेति कर,^३ अरुँन रंग है जाँइ ॥

*

अथ आवृत्ति-दीपक उदाहरन जथा—

रहे^४ थकित है, थकित है, सुंदरि^५ रति है ओनि ।

तुष^६ धितौनि लखि, ठौनि तकि,^७ भृकुटि-नौनि लखि रौनि ॥

*

वाही घरी से न सौन^८ रहै, न गुमाँन रहै, न रहै सुघराई ।

‘दास’ न लाज कौ साज रहै, न रहै तँनकौ घर-काज की धाई^९ ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) देखि-हूँ...। २. (सं० पु० प्र०) डगे...। ३. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) कर सुमनजलि लेति हूँ । ४. (का०) (वें०) (प्र०) रहै...। (का०) (वें०)...चकित है, थकित है...। (वें०) थकित अरु चकित है...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) समर सुंदरी...। ६. (का०) (प्र०) तुष...। ७. (का०) (प्र०) लखि...। (वें०) तुष धितौनि ठिकुठौनि भुष, नौनि निरखि मन-रौनि । ८. (शृ० नि०) ग्यान रहै, न रहै सखियाँनि की सीख सिखाई । ९. (वें०) (प्र०)...धाई । (शृ० नि०)..., न रहै सजनी गृह काम की धाई ।

हैं^१। सिख-साध निवारें रहों, तब-ही लों भद्र सब भौंति भलाई ।
देखत कौन्ह^२ न चेत रहै,^३ नहिँ चित्त रहै, न रहै चतुराई ॥*

अरथावृत्ति-दीपक उदाहरन जथा—

रहे^४ थकित से चकित है, सँमर - सुंदरी ओनि ।
तो^५ चितोंनि लखि, ठोंनि तकि, निरखि^६ तँनोंनि सु भौनि ॥

*

छिँन होति हरो-री मही कों लखें, निरखें छिँन^७-छिँन जो जोति-छटा ।
अबलोकति इंद्र-बधूँन^८ की पाँति, बिलोकति है छिँन^९ कारी-घटा ॥
तकि डार-कदंबन की तरनै, दरसै^{१०} उत^{११} नाँचत मोर-अटा ।
अध-ऊरध आवत-जात भयौ, चित नागरि कौ नट-कैसौ बटा ॥

वि०—“दासजी ने इन सभी उदाहरणों में प्रथम दीपक उसके बाद पदा-
वृत्ति दीपक और उसके बाद अर्थावृत्ति दीपक के उदाहरण दिये हैं। प्रथम दो
दीपक और आवृत्ति वा पदावृत्ति दीपक के उदाहरण काफी स्फुट हैं। अर्था-
वृत्ति दीपक के दोनों उदाहरणों में अर्थ की आवृत्ति —“लखि, तकि और
निरखि” एवं “लखें, निरखें, अबलोकति, बिलोकति, तकि-आदि से स्पष्ट है।
ये सभी क्रियाएँ एक-ही अर्थ की द्योतक हैं। अतएव अर्थावृत्ति दीपक है।

“अध-ऊरध आवत-जात भयौ, चित नागरि कौ नट कौ-सौ” अथवा
...“नट कैसौ बटा” रूप इस भावाव्यक्ति पर दासजी से पूर्व ‘शीतल’ जी ने
अपूर्व उक्ति कही है, जैसे—

“थी सरद-चंद की जौन्ह खिखी, सोवै था सब गुन-जटा हुआ ।

चोवा की चमक, अधर बिहँसन, रस-भींगा दाबिम फटा हुआ ॥

पा०—१. (का०) (वें०) छाँ...। (प्र०) हार्दिक-साधन वारे रहै, तब...। (शृ० नि०)
छाँ सिख-साध निवारें रही...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (शृ० नि०) कान्हें। ३. (शृ० नि०)
...चेत रहै रो, न चित रहै...। (प्र०)...चेत रहै थिर, चित रहै...। ४. (का०)
(वें०) (प्र०) रहै...। (सं० पु० प्र०) रहै चकित है थकित है, सु दरि रति है ओनि। ५.
(का०) (वें०) तुव चितवनि लखि तबनि तकि...। (प्र०) (सं० पु० प्र०) तुव चितवनि लखि
ठोंनि तकि...। ६. (का०) (सं० पु० प्र०) भुंकिट नौनि लखि रौनि। (वें०) निरखि
रौनि भ्रुवनोंनि। (प्र०) निरखि तनोंनि भ्रुरौनि। ७. (का०) (वें०) (प्र०) (सं०-
पु० प्र०), निरखें छैन-जो छैन-जोति...। ८. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०)—अध
की पत्यारी...। ९. (का०) (वें०) (प्र०) खिन...। १०. (प्र०), लखि ‘दास जू
नाचत...। ११. (सं० पु० प्र०) जो...।

* शृ० नि० (दास) पृ० ७७, २२७ (सखि-कर्म ‘शिष्या’) ।

इतने में प्रसन-समो-बेला लखि ख्याल बड़ा अटपटा हुआ ।
अवनी से नम, नम से अवनी, उछले अगु नट का बटा हुआ ॥”

अथ उभयावृत्ति (पद-अर्थावृत्ति) दीपक उदाहरन जथा—

पेच-छुटें, चंदैन-छुटें, छुटें पसीनाँ-गात ।
छुटी लाज, अत्र लाल किँन्ह, छुटे बंद कित जात ॥

*

तोरथौ नृप-गँन कौ गरब, तौरथौ हर कौ दंड ।
राम जौनकी-जीय कौ, तोरथौ दुख-अखंड ॥

अस्य तिलक

इन दोनों उदाहरण में पद—छुटें अरु तोरथौ सबद ते पदों की आवृत्ति अरु पेच, चंदैन, पसीनाँ-आदि तथा गरब, हर-कोदड़ अरु दुख-अखंड ते अर्थ की आवृत्ति जाननी ।

अथ ‘देहरी दीपक’ लच्छन जथा—

परै एक पद बीच में, दुहुँ दिस जागै सोइ ।

सो है ‘दीपक-देहरी’, जौनत हैं सब कोइ ॥

वि०—“जहाँ मध्य में पड़ा पद दोनों ओर (तरफ-आगे-पीछे) अर्थ को प्रकट करे वहाँ ‘देहरी-दीपक’ अलंकार कहा गया है । अर्थात् जहाँ एक कार्य के आयोजन करने से दूसरा कार्य भी प्रस्तुत हो जाय—बन जाय, वहाँ देहरी (ला) दीपक...। देहरी-दीपक भी एक न्याय का प्रकरण है, जिसमें देहरी पर रखे हुए दीपक के कारण बाहर-भीतर दोनों ओर प्रकाश होता है । यही इस अलंकार की विशेषता है ।

काव्य में न्याय-सूत्रों का बहुधा समावेश पाया जाता है । ये न्याय-सूत्र छत्तीस (३६) कहे जाते हैं, यथा—“अज्ञापुत्र, अरण्य-रोदन, अरुंधती, अंधकवर्तकीय, अंधगज, अंधदर्पण, अंधपरंपरा, कदलीफल, काकतालीय, कूप-मंडूक, कूर्मीग, कैमुक्तिक, कौडिन्य, गड्डरिकाप्रवाह, गणपति, घट-प्रदीप, घुणा-क्षर, चंद्र-चंद्रिका, जल-तरंग, जल-तुंबिका, तिल-तंडुल, दंडाचक्र, दंड-पूषका, देहरी-दीपक, नृसिंह, पिष्टपेषण, पंग्वंध, बीजांकुर, मंडूक-प्लुति, यक्षवृक्ष, रात्रि-दिवस, बृद्ध-कुमारो-वाक्य, सुंदोपसुंदन, सूचोक्त्याह, स्थालीपुलाक और क्षीर-नीर—आदि...”

यहाँ इनकी परिभाषा और उदाहरण स्थानाभाव के कारण नहीं दिये गये हैं। मूल-मात्र के निर्देश से संतोष करना चाहिये।”

इस (देहरी-दीपक) अलंकार का वर्णन—कथन, संस्कृत और ब्रजभाषा के ग्रंथों में यत्किञ्चित् रूप से एक-दो कवियों ने ही किया है और इस नाम-श्रेणी में ‘विहारी-सतसई’ की टीका ‘लालचंद्रिका’ का नाम लिया जा सकता है। ला० भगवानदीन ने भी इसे अपनाया है। अस्तु इन दोनों स्थानों पर दासजी के उक्त लक्षण को ही ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया गया है। भारती-भूषण के कर्त्ता केडियाजी के अनुसार यह ‘पदार्थावृत्ति दीपक’ का ही संक्षिप्त रूपांतर है, किंतु पदार्थावृत्ति दीपक के जितने भी उदाहरण देखने में आते हैं, या भारतीय-भूषण में केडिया जी ने दिये हैं, वहाँ उक्त लक्षणानुसार कोई भी उपयुक्त उदाहरण देखने में नहीं आया है।”

देहरी-दीपक उदाहरन जथा—

हैं नरसिंघ महा मनुजादि हन्यों* पैहलाद कौ संकट भारी ।
‘दास’ बिभीषन* लंक दई, जिन रंक सुदामाँ कों संपत-सारी॥
द्रोपदी-चौर बढ़ायौ जहाँ में, पांडव के जस के^३ उँजियारी ।
गरबिन के* खँन गरब गिरावत* दीनन के दुख श्रीगिरधारी ॥
वि०—“यहाँ ‘हँन्यों, दई, बढ़ायौ और खँन’ देहरी-दीपक न्याय में दोनों ओर के अर्थों का द्योतन करते हैं। गिरावत शब्द भी इसी प्रकार का है।

देहरी-दीपक अलंकार का सुंदर उदाहरण तुलसी कृत मानस की यह सूक्ति भी सरस है, यथा—

“बंदों बिधि-पद-रेंनु, भौ-सागर जिहिँ कौन्ह जहँ ।

संत-सुधा ससि-धेंनु, प्रघटे खल, बिष, बारुनी ॥”

यहाँ भी मध्य में उपस्थित ‘प्रघटे’ क्रिया-शब्द पूर्व के—“संत-सुधा, ससि-धेंनु” और उत्तर के “खल, बिष, बारुनी” दोनों के अर्थ समानरूप से दिखला रहा है—बतला रहा है।”

अथ कारक-दीपक लच्छन जथा—

एक भाँति के बचँन कौ, काज बौहौत जहँ हाइ ।

‘कारक-दीपक’ जानिऐ, कहँ सुमति सब कोइ ॥*

पा०—१. (स०पु०प्र०) हत्यो प्रह्लाद सौ... २. (का०) (वें०) (प्र०) बिभीषन लंक दयो । ३. (का०) (वें०) (प्र०) की । ४. (का०) (वें०) (प्र०) कौ... ५. (का०) (वें०) (प्र०) बढ़ावत, दीनन को दुख... ।

* शृ० ल० सौ० (टिप्पणी) पृ०—१२३ ।

वि०—“जहाँ एक समान शब्दों का बहुत कार्य हो वहाँ दासजी-मतानुसार ‘कारक-दीपक अलंकार’ कहा जायगा। अर्थात् जहाँ क्रम-पूर्वक अनेक क्रियाओं का एक-ही कारक हो—कर्त्ता हो, वहाँ यह अलंकार होता है, यथा—

“क्रमकैकगतानां तु गुणः ‘कारक-दीपकम्’।”

—कुवलयामंद

कारक—कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण-आदि छह प्रकार का होता है। अतएव इन छहों में से एक भी यदि बहुत-सी क्रियाओं का कारक है तो वहाँ यह अलंकार होगा। पंडितराज जगन्नाथजी ने इसे प्रत्यक्ष लिखकर दीपक के अंतर्गत ही भेद-विशेष माना है।”

अस्य उदाहरन जथा—

ध्याइ तुम्हें छवि सों छकति, जकति^१, तकति, मुसिकाति ।
भुज-पसारि चौकति, चकति, पलकि पसोजति जाति ॥

*

उठि आपु-ही आसँन दै रस-ख्याल^२ सों, लाल सों आँगी कढ़ावति^३ है ।
पुँनि ऊँचे उरोजँन दै उर-बोच, भुजँन^४ मढ़ै औ मढ़ावति^५ है ॥
रस-रंग रचाइ^६, नचाइ कें नैन, अनंग-तरंग बढ़ावति^७ है ।
बिपरोति की रोति में प्रौढ़-तिया, चित-चौगुनों चाउ^८ बढ़ावति^९ है ॥*

वि०—“इन दोनों उदाहरणों में अनेक क्रियाएँ एक कर्त्ता रूप कारक के साथ संबंधित कही गयी हैं। अर्थात् नायिका के साथ वर्णन की गयी हैं।

कारक दीपक का उदाहरण सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार ने अपनी अलंकार-मंजरी में सुंदर दिया है, यथा—

“बता अरी, अब क्या करूँ, रुपी रात से रात ।
भै खाऊँ, आँसू पियूँ, मन-मारु रुखमार ॥”

*

हँसे, रोये, हुप रुसवा, जगे जागे, बँधे, छूटे ।
गरज हमने भी क्या-क्या कुछ मोहब्बत के मज़े लूटे ॥

पा०—१. (वें०) जसति...। २. (का०) (वें०) (प्र०) (का० प्र०) प्यार...। ३. (सं० पु० प्र०) कढ़ावती...। ४. (प्र०) भुजँन के मध्य मढ़ा...। ५. (सं० पु० प्र०) मढ़ावती...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (का० प्र०) मचाइ, नचाइ के नैनन, अनंग-तरंग...। ७. (सं० पु० प्र०) बढ़ावती...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (का० प्र०) चौप...। ९. (सं० पु० प्र०) बढ़ावती...।

* का० प्र० (भातु) पृ० ५१६। कारक-दीपक उदाहरण ।

इन दोनों में विविध क्रियाओं का एक बक्का-ही कारक है, इसलिये यहाँ भी उक्त अलंकार है ।

अथ माला-दीपक लच्छन जथा--

दीपक एकावलि-मिलें, 'माला-दीपक' जाँन ।

“सत-संगति, संगति-सुमति, मति-गति, गति-सुभ-दान ॥”

वि०—“दासजी ने इस दोहे में “माला-दीपक” का लक्षण और उदाहरण दोनों का उल्लेख किया है । माला-दीपक को आपने दीपक और एकावली के संयुक्त रूप को माना है । अस्तु, जहाँ पूर्व कथित वस्तु-द्वारा उत्तरोत्तर कथित वस्तुओं का एक धर्म रूप से शृंखला-बद्ध रूप में वर्णन किया जाय, तो वहाँ यह अलंकार कहा जाता है । अथवा जहाँ वर्य-अवर्य की एक क्रिया का गृहीत और मुक्त-रीति से व्यवहार किया जाय, तो वहाँ भी यह अलंकार मानना कहा है । परंतु यह लक्षण उपयुक्त नहीं माना जाता, यथा—

“प्रस्तुताप्रस्तुतोभयविषयत्वाभावेपि दीपकच्छायापत्तिमात्रेण दीपकं व्यपदेशः ।

—कुवलयानंद

अर्थात् इस लक्षण में वर्य-अवर्य का प्रयोग अनुचित है, क्योंकि यहाँ सादृश्य—उपमेयोपमान-भाव नहीं रहता है,—इति कुवलयानंदकार वचनात् । रस-गंगाधर में तो पंडितराज जगन्नाथजी ने स्पष्ट रूप से यह बात कही है, जैसे—“सादृश्यसंपर्काभाव ।”

माला-दीपक में दो बातें आवश्यक हैं, प्रथम कई वस्तु एक धर्म से ही संबंधित हों और दूसरे प्रत्येक पूर्व-कथित वस्तु उत्तरोत्तर कथित वस्तुओं के विशेषण रूप में प्रस्तुत हों । अतएव दीपक में जो सादृश्य का भाव है, वह यहाँ नहीं रहता । इसलिए प्रस्तुतास्तुत शब्दों की परिभाषा को यहाँ स्थान नहीं, केवल वस्तु शब्द ही इसके लिये पर्याप्त है ।

माला-दीपक यौगिक शब्द है जो दो शब्दों से बना है । यहाँ माला का अर्थ शृंखला और दीपक कई वस्तुओं में एक-ही धर्म का प्रकाश करने के भाव में व्यवहृत हुआ है । इसलिए कितने ही आचार्य माला-दीपक को दीपकालंकार का भेद नहीं मानते और न उसके साथ वर्णन-ही करते हैं । साथ-ही वे इसे सादृश्य-मूलक वर्ग में न मानकर शृंखला-मूलक वर्ग में गणना करते हैं । माला-दीपक—‘दीपक’ और ‘एकावली’ का संयुक्त रूप भी कहा जाता है, यथा—

“दीपकैकावलीयोगाम्मालादीपकमुच्यते ।”

—कुवलयानंद

इसलिये इसका कथन—वर्णन, दीपक के साथ नहीं, एकावली के साथ किया गया है। यहाँ, यह बात ध्यान देने योग्य है कि “एक पद का दो वाक्यों में अन्वय हो जाना—ही दीपक है, वस्तुतः दीपकालंकार नहीं।”

उदाहरन जथा—

जग की रुचि ब्रज-बास, ब्रज की रुचि ब्रज-चंद-हरि ।

हरि-रुचि बंसी ‘दास’, बंसी—रुचि मँन-बाँधिबौ ॥●

वि०—“यहाँ एक धर्म रुचि का—जग, ब्रज, हरि और वंशी में होना कहा गया है, इसलिये दीपक और चारों (जग, ब्रज, हरि, बंसी) का एक दूसरे से शृंखला-युक्त रूप में कथन दीपक की माला है। कोई-कोई माला-दीपक को ‘कारण-माला-दीपक’ भी कहते हैं।

भारती-भूषण में केड़ियाजी ने ‘माला-दीपक’ की ‘माला’ का भी उल्लेख किया है और प्रवीणसागर से उदाहरण भी दिया है, यथा—

“बात कौ दीप, दिया कौ पतंग, पतंग कौ तेज कहाँ लों जगै है ।

प्राब कौ कुंद, औ कुंद कौ कुंदैन, कुंद कौ मोती कहाँ लों रहै है ॥

पात कौ बुंदैन, बुंद प्रसून, प्रसून में बास कहाँ लगि चहै है ।

साधन-गुंज-प्रबीन तजे तब, प्राँन कपूर सौ ज्यों उड़ि जै है ॥”

“इति श्री सकलकलाधरबंसावतंस श्रीमन्महाराज कुँमार श्रीबाबू

हिंदूपति विरचिते “काव्य-निरनए” दीपकालंकारादि

वरननं नाम अष्टदसोऽब्जासः ॥

अथ उन्निसवाँ उल्लास

गुँन-निरनै बरनन जथा—

दस-बिधि के गुँन कहत हैं,^१ पैहले सुकवि सुजाँन ।
पुँनि तीन-हि^२ गुँन-गँन^३ रचे, सब तिँनके दरम्याँन ॥

*

ज्यों सत-जँन-हिय ते नहीं, सूरतादि गुँन जाँइ ।
त्यों बिदग्ध हिय में रहैं, दस गुँन सैद्वैज सुभाइ ॥

*

अच्छर गुँन 'माधुर्य' पुँनि^४-ओज', 'प्रसाद' विचार ।
सँमता, कांति, उदारता, दूखँन - हरँन निहार ॥

*

अरथाव्यक्त, सँमाधिऐ, अरथै करें प्रकास ।
वाक्यँन के गुँन स्लेस औ^५ पुनरुक्ति^६-परकास ॥

वि०—“दासजी ने इस उल्लास में प्रथम दस गुण और इसके बाद इन दसों गुणों का तीन गुण—“माधुर्य, ओज और प्रसाद में समाहार, अनुप्रास—छेक और वृत्त्य, पुनः वृत्तियाँ—उपनागरिका, पौरषा, कौमला, फिर अनुप्रास—लाट, वीप्सा, यमक, यमक के भेदादि (सिंहावलोकनादि) तथा इसके अभाव में अलंकारों का वर्णन किया है ।

संस्कृत-श्रुति-ग्रंथों में, जैसा कि दासजी ने कहा है —“ज्यों सत-जँन-हिय ते नहीं०” शौर्यादि की भाँति रस के उत्कर्ष हेतु रूप स्थायी धर्मों को गुण कहा है, यथा—

“ये रसस्यागिनोधर्माः शौचादय इवात्मनः ।

उत्कर्षहेतवस्तेऽपुरचलस्थितयो गुणाः ॥”

—काव्य-प्रकाश (८, ८७, ६६)

पा०—१. (का०) (वें०) होँ... २. (का०) (प्र०) तीनों... (वें०) (स०-पु० प्र०) तीनों... (का०) (वें०) गहे रचै... (प्र०)...रचौ .. ४. (का०) (वें०) (प्र०) (स० पु० प्र०) अरु... ५. (का०) (वें०) (प्र०) अरु... ६. (का०) (वें०) पुनरुक्त्यो प्रतीकास । (प्र०) पुनरुक्ती...

अतः दासजी ने, संस्कृत के प्राचीन आचार्यों के अनुसार गुणों का नया वर्गीकरण करते हुए इन दसों गुणों को—“माधुर्य, ओज और प्रसाद” अक्षर-गुण वर्ग में, “समता, कांति और उदारता” दोषाभाव वर्ग में, “अर्थव्यक्ति और समाधि” अर्थ-गुण वर्ग में तथा “श्लेष और पुनरुक्ति-प्रकाश गुण” को वाक्य-गुण रूप वर्ग में उल्लेख किया है। संस्कृत-रीति-ग्रंथों में भी श्रीभरत मुनि पोषित इन गुणों की नामावली दंडी के अनुसार यही है—

“श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।

अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कांतिसमाधयः ॥”

श्रीभरत मुनि ने भी गुण-संख्या दश मानी है, यथा —

“श्लेषः प्रसादः समतासमाधिः माधुर्यमोजः पद सौकुमार्यम् ।

अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कांतिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ॥”

.....दासजी ने इन संस्कृत से अपनाये हुए दस गुणों में सौकुमार्य (सुकुमारता) गुण के स्थान पर ‘पुनरुक्ति-प्रकाश’ नाम का नया गुण कथन किया है। यह नाम-विकल्प आपने क्यों और कैसे किया? यह प्रकाश्य-रूप से कहना कठिन है, फिर भी कहा जा सकता है कि ‘सौकुमार्य’ का माधुर्य गुण में समावेश हो ही जाता है इसलिये उसको पृथक् सत्ता पर स्वीकृति की मोहर नहीं लगायी जा सकती। अपितु, “पुनरुक्ति-प्रकाश” रूप एक अन्य प्रकार के पद-रचना चमत्कार को, जिसका ब्रजभाषा-काव्य में काफी प्रचार हो गया था, गुणों में समाविष्ट कर लिया जात होता है। साथ-ही दासजी का यह नाम-विकल्प, वामनाचार्य के “शब्द-गुण-सौकुमार्य” के अर्थ—“शब्द-गत-अपारुध्य” के अधिक अनुकूल है, क्योंकि ‘पुनरुक्ति-प्रकाश’ की रम्य पदावृत्ति सौकुमार्यता का एक साधन मानी जा सकती है। अतएव “पुनरुक्ति-प्रकाश” को सौकुमार्य के स्थान पर गुण विशेष मानना ब्रजभाषा-काव्य के अति उपयुक्त है।

संस्कृत के साहित्य-ग्रंथों में गुण-संख्या के प्रति मतभेद है। श्री भरत मुनि-आदि आचार्यों ने दस गुण, वामन ने अर्थ-गुण-भेद से बीस (२०) गुण, भोजराज ने प्रथम चौबीस (२४) और बाद में गुण को बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक रूप में विभक्त कर प्रत्येक के २४ + २४ अर्थात् कुल बहत्तर (७२) भेद माने हैं। अग्निपुराण में गुण-शब्द, अर्थ और उभय रूप से अठारह (१८) और कुंतक ने छह गुण कहे हैं। श्री मम्मट और विश्वनाथ चक्रवर्ती-आदि ने तीन गुणों का ही उल्लेख किया है।

श्री भरतादि-कथित गुण-नामावली दी जा चुकी है। वामन-प्रणीत नामावलि भी वही है। केवल अर्थ के सहारे पूर्व-कथित लक्षणों से भिन्न लक्षण लिखकर

(आपने) गुणों की संख्या द्विगुणित कर दी है । महाराज भोज ने भी “सरस्वती-कंठाभरण” में पूर्व-लिखित दस गुण तो थोड़े-बहुत लक्षण-परिवर्तन के साथ पूर्व-रूप में ही स्वीकार कर लिये, साथ-ही इन्हीं दस गुणों के भेद-स्वरूप चौदह (१४) गुण नवीन माने हैं ।

बाह्य-आभ्यन्तर रूप नवीन शब्द और अर्थ गुण जैसे—“उदात्तता, और्जीत्य, प्रेयस्, सु-शब्दता, सूक्ष्म, गांभीर्य, विस्तार, संक्षेप, संमित्तत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति” और “प्रौढि” तथा आपके वैशेषिक गुण—“असाधु” और “अप्रयुक्त” अनुकरण में, कष्ट-गुण दुर्वचनादि में, अनर्थक गुण यमकादि-अलंकार में, अन्यार्थ गुण प्रहेलिका-आदि में, अपुष्टार्थ गुण छंद-पूर्ति में, असमर्थ गुण, कामशास्त्रादि में, अप्रतीत गुण विशिष्ट-विद्या-विशारदों के भाषणादि में, क्लिष्ट गुण व्याख्यादि में, नेयार्थ गुण प्रहेलिकादि में, संदिग्ध गुण प्रसंग स्पष्टादि में, विरुद्ध गुण—इच्छा पूर्वक किये जाने में, अप्रयोजक गुण अपने-आप सुंदर होने के कारण मे, देश्य गुण महाकवियों के प्रयोग में और ग्राम्य-गुण—घृणा, अश्लील तथा अमंगल-दोष में कहे गये हैं । यह गुण-संज्ञा सोलह (१६) है, इसके बाद आप (भोजराज) ने ग्राम्य गुण के घृणावत्, अश्लील तथा अमंगल-रूप गुणों के तीन-तीन भेद और माने हैं, जिनसे इन वैशेषिक गुणों की संख्या भी चौबीस (२४) बन जाती है । इनके अतिरिक्त वाक्य और वाक्यार्थ दोषों पर आश्रित चौबीस (२४+२४+७२) वैशेषिक गुण और भी आपने माने हैं । कुंतक-कथित गुण-नामावली—“औचित्य, सौभाग्य, माधुर्य, प्रसाद, लावण्य” और “अभिजात्य” कही जाती है ।

ब्रजभाषा-रीति-आचार्यों ने तीन ही गुण—“माधुर्य, ओज और प्रसाद” माने हैं । परंतु किसी ने दसों का और किसी ने बीस गुणों का जो संस्कृत-साहित्य में कहे गये हैं, उपर्युक्त तीन गुणों में ही समाहार भी कर लिया है । अर्थात्, गुण की दस और बीस-संख्या मानने वाले आचार्यों ने केवल संख्या में उल्लेख करते हुए उनका तीन गुणों में ही अंतर्भाव कर लिया है । ब्रजभाषा-रीति-आचार्यों में ‘देव’ जो ने दस गुणों में अनुप्रास और यमक को लेकर गुणों की संख्या बारह मानी है । दासजी ने दसों गुण—माधुर्य-ओजादि के लक्षण-उदाहरण देते हुए भी तीन—माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को ही मान्यता दी है, यथा—

“मधुर औ ओज प्रसाद के, सब गुँन हैं आधीन ।

ताते हँन-ही कों गँन्यों, मंसट सुकवि प्रवीन ॥”

—इत्यादि...

अथ प्रथम माधुर्ज गुँन-लच्छन जथा—

अनुस्वार^१ औ बर्ग-जुत, सबै बरँन अटबर्ग ।

अच्छर जाँमें मृदु परें, सो 'माधुर्ज'-निसर्ग ॥

वि० —“दासजी ने—‘ट’ वर्ग-रहित अन्य अनुस्वार-संयुक्त वर्गों वाले मृदु शब्दों से सुसज्जित काव्य को माधुर्य-गुण-विभूषित कहा है। अर्थात् टवर्गी शब्दों को छोड़ कर सानुस्वार अन्य वर्गी, जो रेफ (अर्ध रकार) और लंबे समास-से संयुक्त नहीं ऐसे शब्दों-द्वारा रची गयी मधुर रचना हो, वहाँ माधुर्य गुण कहा है और यदि इस परिभाषा (लक्षण) को और भी अल्प रूप में कहा जाय तो इस प्रकार कह सकते हैं कि “जिस आनंद के कारण अंतःकरण द्रवीभूत हो जाय उसे उक्त गुण कहते हैं, यथा साहित्य-दर्पणे—

“चित्तद्रवी भावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।”

इस माधुर्य गुण का संबंध चित्त की द्रुति-पन वा पिघलना-वृत्ति से हैं, जिसके द्वारा पाठक, श्रोता और प्रेक्षक (देखने वाला) तीनों का हृदय द्रवीभूत हो जाता है ।”

अस्य उदाहरन जथा—

घरें चंद्रिका-पंख सिर, बंसी पंकज-पाँनि ।

नंद-नंदन खेलत सखी, बृंदाबँन-सुख-दाँनि ॥

वि०—“यहाँ सभी शब्द ‘टवर्ग’ से रहित और अनुस्वार-संयुक्त हैं। समास भी लघु है और कोमल रचना है ।” वेंकटेश्वर प्रेस की प्रति में यह छंद उलटा —प्रथम के स्थान पर द्वितीय और द्वितीय के स्थान पर प्रथम चरण छपा है ।”

अथ ओज गुँन लच्छन जथा—

उद्धत अच्छर जहँ परें, स, क, ट बर्ग मिल आइ^२ ।

ताहि ‘ओज-गुँन’ कहत हैं, जे प्रवीन कबिराइ ॥

वि० —“जहाँ ‘क’, ‘ट’ और ‘स’ वर्ग के उद्धत अक्षरों का वर्ग-विन्यास हो—वे आकर मिलें तो वहाँ ‘ओज-गुण’ कहा जयगा। अर्थात्, जहाँ द्वित्व, संयुक्त, रेफ (अर्ध र कार)—युक्त वर्णों के साथ-साथ टवर्गी शब्दों की प्रचुरता हो वहाँ यह गुण कहा जाता है ।

पा०—१. (का०) अनुस्वार-जुत, वर्ग-जुत, सबै वर्ग...। (वें०) (प्र०) अनुस्वार-जुत वर्ण जुत, सबै वर्ग...। २. (का०) (प्र०) जाइ...। (वें०) आवै उद्धत शब्द बहु, वर्ण संयोगी युक्त । सकट वर्ग की अधिकई, इहै ओज-गुन उक्त ।

संस्कृत में इसका लक्षण—जिसके श्रवण से मन में उरोजना उत्पन्न होती हो वह ओज-गुण कहा है। ओज का संबंध चित्त की उरोजना वृत्ति से है, इस लिये जिन शब्दों—वाक्य-विन्यासों के सुनने वा पढ़ने से, सुनने वा पढ़ने वाले के हृदय उरोजना-पूर्ण हो जाँय, तब यह गुण कहा जाता है।

ओज में कवर्गादि के प्रथम और तृतीय वर्णों का दूसरे और चौथे वर्णों के साथ क्रमशः योग, अर्थात् क, च का ख, छ से, ग, ज, का घ, झ से संयोग, अर्ध-स्कार-युक्त शब्द जैसे—अर्थ, निद्रादि और टवर्ग के अक्षरों (ट, ठ, ड, ढ) की बहुलता, लंबे समास तथा कठोर वर्णों की रचनादि ओज गुण व्यक्त करते हैं। आचार्य मम्मट ने इसका लक्षण—“दीप्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो...” (चित्त को भड़का देने वाला) माना है। चंद्रालोककार इसका लक्षण द्वितीय प्रकार से मानते हैं, यथा—

“ओजः स्यात्प्रोद्विर्थास्य संक्षेपो वाऽति भूयसः ।”

अर्थात्, संक्षेप में वा विस्तार के साथ जो प्रौढ भावों के अर्थ व्यक्त करे वहाँ यह गुण मानन चाहिये ।”

अस्य उदाहरन जथा—

पिस्ट-ठट्ट, गज'-घटँन के, जुथ्थप उठे बरक्कि ।

पट्टत महि घँन कट्ट सिर, क्रुद्धत खगग सरक्कि ॥*

अथ प्रसाद गुँन लच्छन जथा—

मँन-रोचक अच्छर परें, सो है सिथिल-सरीर ।

गुँन 'प्रसाद' जल-सूक्ति ज्यों, प्रघटै अरथ-गाँभीर ॥

वि०—“दासजी ने प्रसाद गुण वहाँ माना है, जहाँ मन को भाने वाले सिथिल शरीर अक्षर हों और मोती (अथवा वस्त्र में जल) की भाँति स्वच्छ गंभीर अर्थ प्रकट करें ।

सूखे ईंधन में अग्नि और स्वच्छ वस्त्र में जल की भाँति जो गुण—तत्काल चित्त में छा जाय, उसे प्रसाद गुण कहा जाता है, यथा—

शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सदृसैव यः ।

व्याप्तोत्थन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ॥”

—काव्य-प्रकाश, ८, ७० (१४ सूत्र)

पा०—१. (वें०) (का० प्र०) गब्बरन्नि कौ । (प्र०) प्रिष्ठ छट गज-घटन के ।

* का० प्र० (भा०) पृ० १३३ ।

प्रसाद गुण का संबंध चित्त को विकास—प्रसन्न करने वाली वृत्ति से है, इसलिये यह जहाँ कर्ण-कटु शब्दों और दीर्घ (बड़ी-बड़ी) समासों को दूर-से ही नमस्कार करती हुई सरल-सुबोध भाषा में काव्य-रचना को उक्त गुण-पूर्ण कहा गया है। अर्थात्, शब्द सुनते ही जिसका अर्थ प्रतीत हो जाय, ऐसे सरल तथा सुबोध पद इस गुण के व्यञ्जक कहे जाते हैं।

काव्य-प्रकाश के लक्षण में “अग्नि-जल” शब्द ओज और माधुर्य गुण के द्योतक हैं। इन दोनों शब्दों का तात्पर्य, प्रसाद गुण का नवरसों के साथ अद्भुत संबंध बतलाता है, अर्थात् इसका प्रयोग बिना किसी ‘नू-निच’ के सभी रसों में किया जा सकता है। इसलिये प्रसाद गुण शृंगार की भाँति गुणों का राजा माना जाता है, यथा—

“समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान्प्रति ।

स प्रसादो गुणोज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥”

—ध्वन्यालोक पृ०—१३८

माधुर्य-ओज-प्रसादादि गुण क्रमशः चित्त की द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व के रूप हैं, फिर भी ‘प्रसाद’ में चित्त की निर्मलता—समरसता की स्थिति अधिक है, जो सब रसों के आस्वादन के लिये अनिवार्य है। जब तक मन निर्मल वा समरस न होगा, तब तक रसानुभूति कदापि संभव नहीं। कामातुर शृंगार का आस्वादन नहीं कर सकता, भयभीत मन भयानक रस की प्रतीति करने में असमर्थ रहेगा, क्रुद्ध या शोक-विह्वल चित्त रौद्र और करुण का आनंद नहीं पा सकता। अस्तु, चित्त की इसी निर्मलता के लिये आनंदवर्धन-आचार्य ने उसे समर्पकत्व, या व्यापकत्व कहा है और इसी के आधार पर ‘प्रसाद’ गुण शब्दार्थ को स्वच्छता रूप से ग्रहण किया है यथा—“प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः ।”

जैसा कि अभी लिखा है कि प्रसाद का अर्थ-ही शब्द और अर्थ की स्वच्छता है, जो सब रसों का साधारण गुण है तथा सब रचनाओं में समान रूप से रहता है। फिर चाहे वह रचना शब्द-गत हो, अर्थ-गत हो, समस्त हो या असमस्त हो, मुख्य रूपेण व्यंग्यार्थ की अपेक्षा से—व्यंग्यार्थ के संपर्क से ही स्थित होता है। क्योंकि गुण मुख्यतया प्रतिपत्ता से आस्वादमय होते हैं, इसके बाद रस में उपचरित और उसके बाद उनका लक्षण से शब्दार्थ (शब्द और अर्थ) में व्यवहार होता है। इस कारण-ही साहित्य-दर्पणकार ने प्रसाद का लक्षण—

“चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥”

किया है।”

अस्य उदाहरन जथा—

दीठि डुलौ न, कहूँ भई, मोहित^१ मोंहँन-माँहि ।

परम सुभगता निरखि सखि, धरम तजै को नाँहि ॥*

वि०—“दासजी कृत यह उदाहरण “प्रसाद-गुण-व्यञ्जक” सरल, सुबोध और मधुरता-युक्त अति सुन्दर है ।” प्रसाद गुण-संयुक्त रस के आस्वादन से मन खिल जाता है ।

अथ समता गुँन लच्छन जथा—

प्राचीनन को रीति सों, भिन्न रीति ठहराइ ।

‘सौमबा-गुँन’ तासों^२ कहै, पै दूषनन-बराइ ॥

वि०—“प्राचीन कवियों की रीति से जहाँ दूषणों से दूर रहकर भिन्न रीति ठहरायी जाय वहाँ “समता-गुण” दासजी ने माना है ।”

चंद्रालोककार ‘समता गुण’ वहाँ मानते हैं जहाँ एक-एक शब्द सजाये हुए अर्थ प्रकट करे, एक-दूसरे में ध्वन्यात्मक समानता पायी जाय तथा न्यून समास होने से क्लिष्ट भी न हो, यथा—

“समतोत्पसमासत्वं वर्णाद्यैस्तुल्यताऽथवा ॥”

किंतु, साहित्य-दर्पण कर्ता इसे ‘गुण’-विशेष नहीं मानते । आपका कहना है कि “समता, केवल दोषाभाव रूप है, इसलिये इसे पृथक् गुण मानना स्तुत्य नहीं कहा जा सकता ? यथा —

“श्लेषो विचित्रता मात्रमदोषः समता परम् ॥”

अस्य उदाहरन जथा—

मेरे दृग-कुबलयँन कों, होत निसा सानंद ।

सदाँ रहै ब्रज-देस पै, उदित साँवरौ-चंद ॥

पुनः जथा—

उपमाँ छबीली के^३ छवा-लों छूटे बारँन की,

ढरकि^४ कलिंद ते कलिंदो धार ठहरें ।

लाल-सेत-गुँन-गुही^५ नैनी-बँधें बुध-जँन,

वरनत वाही कों त्रिबेनी^६-सी लैहरें ॥

पा०—१. (स०पु०प्र०) सगति... २. (का०) (वे०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) ताकी... ३. (का०) (वे०) (प्र०) की... ४. (वे०) ढरकी... ५. (वे०) गहें... ६. (का०) (प्र०) त्रिबेनी की-सी... (वे०)...कैनी... ।

* का० प्र० (भा०) पृ०—१३४ ।

कोन्हों काँम अद्भुत मदन मरदाने इहि,
 कहाँ ते कहाँ लों^१ ल्यायौ कैसी-कैसी डैहरें ।
 वेई स्याँम-अलकें छैहैरि रहीं 'दास' मेरे-
 दिल को दिली में है जहाँ-ई-तहाँ नैहरें ॥

अथ कांति गुँन लच्छन जथा—

रुचिर-रुचिर बातें परें^२, अरथ^३ न प्रघट, न गूढ़ ।

ग्राम्य-रहित सो 'कांति-गुँन', समझें सुमति, न मूढ़ ॥

वि०—“जहाँ रुचिर से रुचिर शब्दों का अर्थ न तो इतना प्रकट ही हो जिसे मूढ़ (नर) भट समझलें और न इतना गूढ़ ही हो कि सुमति जनों को भी समझने में देर लगे—ऐसी ग्राम्य-दोष-रहित रचना में “कांति-गुण” होता है, क्योंकि ग्राम्य-दोष-रहित कांति-गुण-संपन्न वाक्यों की बहार कुछ और ही होती है ।

श्रीवामन ने अपने “काव्यालंकार—सूत्र” में ‘कांति-गुण’ के लिये—“दीप्त रसत्वं कांतिः” (३, २, १५) कहा है, अर्थात्—जहाँ शृंगारादि रस दीप्त हो—अनायास-ही समझ में आ जाय, वहाँ उक्त (कांति) गुण होता है । अस्तु, वामनोक्त उक्त गुण को चंद्रालोक-कर्त्ता ने शृंगार और प्रसाद में समाजाने के कारण पृथक् वर्णन नहीं किया है, यथा—

“शृंगारे च प्रसादे च कांत्यर्थव्यक्तिसंग्रहः ।

अमी दशगुणाः काव्ये पुंसि शौर्यादयो यथा ॥”

चंद्रालोक ४।१०

कांति गुँन उदाहरन जथा—

पद^४-पाँनन कंचन-चूरा^५ जराउ-जरे मँनि-लालँन सोभ-धरें ।
 चिकुरारी^६ मनोहर, भीनों भगा, पैहरें मँनि-आँगन में बिहरें ॥
 ये मूरति ध्याँन में लावँन^७ कों, सुर, सिद्ध-समूहँन साध मरें ।
 बड़-भागिनी^८ गोपी मयंक-मुखी, अपनी-अपनी दिसि अंक-भरें ॥*

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) कों...। २. (का०) (वें०) (प्र०) करै...।
 ३. (का०) अर्थन प्रघटत गूढ़ । (वें०) अर्थन प्रघटन...। (प्र०) अर्थन प्रघटन...।
 ४. (का०) पग...। (वें०) पगु-पाणि न कंचन...। ५. (का०) (वें०) (प्र०) चूरे...।
 (सं० पु० प्र०) चूरौ...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) चिकुरारि
 मनोहर भीन । ७. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) आनन...। ८. (का०)
 (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) बड़-भागिनि...।

* रस-सारांस (भि० दा०) पृ० ३१ ।

अथ 'उदारता' गुण लच्छन जथा—

जो अन्वै-बल-पठित ह्वै^१ सँमभि परै चतुरें न ।

औरै न कौ लागै कठिन, गुण-“उदारता” ऐ न ॥

वि०—“औरों को समझने में कठिन होते हुए भी, जो अन्वय के बल चतुरों की समझ में शीघ्र आ जाय, वहाँ दासजी ने ‘उदारता-गुण’ माना है ।

उदारता गुण के लिये अपने काव्यालंकार-सूत्र में वामन ने लिखा है—
“अग्राम्यत्वमुदारता” । अर्थात्, ग्राम्यता के अभाव का नाम ‘उदारता’ है ।
साहित्य-दर्पण-रचयिता भी—“उदारता अग्राम्यत्वं” (ग्राम्यत्व-विहीन उदारता)
कहते हैं । साथ-ही आप कहते हैं कि “श्लेष, समाधि, औदार्य (उदारता) और
प्रसादादि जो शब्द-गुण प्राचीनों ने व्यक्त किये हैं, वे ओज के अंतर्गत समा
जाते हैं, जैसे—

“श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः ।

गुणाश्चिरन्त नैरुक्ता ओजस्यतं भवन्ति ॥”

—साहित्य-दर्पण ८, ६

अथ उदारता गुण उदाहरन जथा—

कदँन अँनेकँन बिघँन के, एक रदँन गँन-राइ^२ ।

बंदँन-जुत बंदँन करों, पुसकर पुसकर पाइ^३ ॥

अथ व्यक्त गुण लच्छन जथा—

जासु अरथ अति-ही प्रघट, नहिँ सँमास-अधिकाइ^४ ।

अर्थ ‘व्यक्त-गुण’ बात ज्यों, बोलें सँहैज-सुभाइ^५ ॥

वि०—“जिसका अर्थ एकदम प्रकट हो, समास की भी अधिकता न हो
तथा सहज स्वभाव में कही जाने वाली बात की भाँति हो, ऐसे काव्य में “व्यक्ति-
गुण” होता है ।

संस्कृत-साहित्यकारों ने इसका नाम—“अर्थ-व्यक्तिः” माना है । वामनाचार्य
ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—“अर्थ व्यक्ति हेतुत्वमर्थव्यक्तिः” (का०-
लं० सू०—३, १, २४) । अर्थात्, अर्थ की प्रतीति (स्पष्ट और शीघ्र) का हेतु-

पा०—१. (वें०) (सं० पु० प्र०) बल । २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु०-
प्र०) राउ । ३. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) पाउ । ४. (का०) (वें०)
(प्र०) (सं० पु० प्र०) अधिकाउ । ५. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०)
सुभाउ ।

भूत (यह शब्द-गुण) अर्थ व्यक्ति है । अतएव जहाँ सुनते ही स्पष्ट रूप से अर्थ की प्रतीति होती हो वहाँ उक्त गुण माना जाता है । इस अर्थ-व्यक्ति गुण के अभाव में—असाधुत्व, अप्रतीतत्व, अनर्थकत्व, अन्यार्थत्व, नेयार्थत्व, यति-भ्रष्टत्व, क्लिष्टत्व, संदिग्धत्व तथा अप्रयुक्तत्व आदि दोषों की संभावना हो जाती है, यह गुण-प्रधान मानने वाले आचार्यों का मतव्य है । साहित्य-दर्पणकार श्री चक्रवर्ती भी यही कहते हैं—

“अर्थं व्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः ।

अर्थव्यक्तिः पदानां हि भटित्यर्थसमर्पणम् ॥”

—साहित्य-दर्पण ८, ११-१२

शब्दों का बिना-प्रयास अर्थ-व्यक्त करना उक्त गुण का धर्म है । साथ-ही आपका कथन है—“अस्तु, यह गुण पूर्वोक्त “प्रसाद-गुण” अर्थात् उसके व्यंजक शब्दों के ही अंतर्गत होने के कारण इसे पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं ।”

अस्य उदाहरन जथा—

इक टक हरि राधे - लखें, राधे हरि को ओर^१ ।

दोऊ आँनन इंदु औ^२ चारयों नैन चकोर ॥

अथ समाधि गुँन लच्छन जथा—

जुहै रोह-अबरोह-गति, रुचिर भाँति क्रम पाइ^३ ।

तिहिँ ‘समाधि-गुँन’ कहत हैं, ज्यों भूचँन परजाइ ॥

वि०—“दासजी कहते हैं जिस काव्य में ‘पर्याय-अलंकार’ की भाँति आरोह-अवरोह की गति में सुंदर रीति से क्रम पाया जाय वहाँ “समाधि गुण” जानना चाहिये ।

दासजी का यह लक्षण वामनाचार्य के इस—“आरोहावरोह निमित्त समाधि-राख्यते” (आरोह-अवरोह का निमित्त ही ‘समाधि गुण’ है) कथनानुसार है । परंतु इस सूत्र की व्याख्या में व्याख्याकार का कहना है—“यहाँ समाधि गुण के लक्षण में जो आरोह-अवरोह का क्रम कहा है, उसकी “गौणीवृत्ति (लक्षणा) से (निमित्त अर्थ-परक मान इस लक्षण-सूत्र को) व्याख्या करनी चाहिये, यथा—

“आरोहावरोहक्रमः समाधिरिति गौण्यावृत्त्या व्याख्येयम् ।”

पा०—१. (वें) वोर । २. (वें) इंदुवौ...। (सं० पु० प्र०) इंदुवै...। ३. (वें) भाइ ।

यहाँ, आरोह-अवरोह (चढ़ाव-उतार) का तात्पर्य—“दीर्घ-गुरु आदि अक्षरों के प्राचुर्य को आरोह और लघु-आदि शिथिल वर्णों के प्राचुर्य को अवरोह” कहने से है। अतएव इनके क्रम (आरोह के बाद अवरोह और अवरोह के बाद आरोह) तथा विपर्यय—अवरोहोरोह एवं आरोहोवरोह में “समाधि-गुण” कहा गया है। यह आरोहोवरोह-क्रम—षष्ठी तत्पुरुष और द्वन्द्व-समास से माना जाता है। अर्थात् क्रम से धीरे-धीरे आरोह और उसी प्रकार क्रम से धीरे-धीरे अवरोह का नाम ‘समाधि’ गुण है।

इस लक्षण के साथ प्रश्न उठता है कि ‘आरोह’ बंध की गाढ़ता और ‘अवरोह’ बंध के शैथिल्य के-ही रूपांतर है, इसलिये ‘आरोह’ ओज-रूप और ‘अवरोह’ प्रसाद-रूप होने के कारण समाधि-गुण “ओज-प्रसाद” गुण के अंतर्गत समा जाता है। अतएव इनसे भिन्न उसे मानने की आवश्यकता ?..... इत्यादि। यहाँ उत्तर में कहा जा सकता है कि ओज और प्रसाद नदी की दो धाराओं के समान पृथक्-पृथक् गुण हैं, अतएव जहाँ वे दोनों स्वतंत्र रूप से, पृथक्-पृथक् रूप से बहते हों—उपस्थित रहते हों, वहाँ उनका अपना—अपना क्षेत्र है—मान्यता है, पर जहाँ ये दोनों मिलकर बहते हों—उपस्थित रहते हों—वहाँ ‘समाधि गुण’ ही श्रीवामनाचार्य-वचनात् कहा जायगा। यही नहीं, संस्कृताचार्य समाधि गुण की पृथक् विदग्धा बतलाने में एक शंका—“जब कि ओज-प्रसाद की पृथक्-पृथक् स्थिति का ही नहीं, किंतु उनके साम्य और उत्कर्षक का भी वर्णन कर चुके हैं और बाद में इन दोनों के मिलाप से एक नया गुण “समाधि” बन जाता है, इस असंगति के सहारे और करते हैं। अर्थात् “आरोह-अवरोह क्रमशः ओज और प्रसाद रूप हैं, इसलिये—“आरोहोवरोहक्रमः समाधिः” यह लक्षण नये गुण मानने में ठीक नहीं है।” यहाँ भी श्री वामनाचार्य जी का कहना है कि ओज और प्रसाद गुण में यह आवश्यक नहीं कि आरोह-अवरोह अवश्य हों, क्योंकि अवरोह-शून्य रचनाएँ भी प्रसाद गुण-संपन्न होती हैं। इस लिये आरोहोवरोह होने पर ओज-प्रसाद गुणों का होना, अथवा ओज-प्रसाद के होने पर आरोहोवरोह का होना आवश्यक है, यह नहीं कहा जा सकता। पर इनके समन्वय होने पर इस नये गुण सामाधि की कल्पना, कल्पना नहीं कही जा सकती (दे०—काव्यालंकारसूत्र-वृत्ति—३, १, म ४, १५, १६, १७, १८, १९)।

श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ने समाधि दो प्रकार का—“अयोनि” और “अन्य-च्छाया-योनि” मानते हुए भी—“न गुणत्वं समाधेश्च” (समाधि कोई भी गुण नहीं) कहा है। अयोनि का अर्थ “जिसमें अर्थ की एकदम नयी कल्पना का गयी हो” और अन्यच्छाया-योनि का अर्थ “जिस अर्थ में दूसरे अर्थ की छाया ली गयी

हो माना है। ऐसी स्थिति में—इन दोनों अर्थों के प्रयोग में “समाधि” असाधारण शोभा का आधायक नहीं और इस लिये वह गुण-विशेष भी नहीं। वह तो काव्य के शरीर-भूत अर्थ-मात्र का साधक है। जैसे—चंद्र पद के अर्थ को व्यक्त करने के लिये “अत्रि के नेत्र से उत्पन्न ज्योति” जैसा लंबा वाक्य कहा जाता है—बोला जाता है और कहीं “उष्णकाले भवेत् शीतशीतकाले च उष्ण-वत् सुकुमार शरीर वाली वाला” इतना बड़ा वाक्यार्थ बोलने के बजाय एक पद, —केवल एक पद “वरवर्णिनी” हो कह दिया जाता है। साथ-ही कहीं एक-ही वाक्यार्थ की विविध विशेषताएँ दिखलाकर अनेक वाक्यों से कहा जाता है। इस प्रकार व्यास (अर्थ का फैलाव) और कहीं अनेक वाक्यों के प्रतिपाद्य अर्थ को एक ही वाक्य से कहने में समास किया जाता है। अस्तु ये दोनों (व्यास-समास) और इनके सदृश अन्य प्राचीन-संमत विशेषताएँ गुण नहीं कही जा सकतीं। यह तो केवल विचित्रता है, जिसके प्रधान उपकारक गुण नहीं।”

समाधि गुण का लक्षण चंद्रालोक-कर्त्ता श्री पीयूषवर्णी जयदेव बड़ा सुंदर कहते हैं, जैसे—

“समाधिरर्थ महिमा लसद्घनरसात्मना ।

स्यादंतर्विशता येन गात्रमकुरितं सताम् ॥”

अर्थात् “जिन गहरी रसमयी उक्तियों (जिस वाक्य में रस के अति फुहारे छूटते हों) को सुन कर समझदारों और अलंकारिकों के हृदय गद्गद होने से उनके शरीर पर आनंद के अंकुर उठने लगते हैं, ऐसे अर्थ-महिमान्वित गुण को “समाधि” कहते हैं ।

समाधि गुँन उदाहरन जथा—

बर तरुनिन^१ के बेंन सुनि, चीनी चकित सुभाइ ।

दुखित दाख, मिसरी मुरी, सुधा रही सकुचाइ ॥

अस्य तिलक

“इहाँ बर (श्रेष्ठ) तरुनीन (सुंदरियों) के बेंन (बचनों) कों क्रम ते अधिक ते अधिक मोंठौ कझौ, ताते “समाधि गुँन” है ।”

पुनः उदाहरन जथा—

भाँवतौ आवत^२ही सुनि कें, उड़ि ऐसी गई तँन^३ छाँमता जौ गुनीं ।
कंचुकी^४-हू में नहीं मढ़ती, बढ़ती कुच की अब तौ भई छौ^५ गुनीं ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०).. तरुनीं के...। २. (वे०) आवतौ-ही ...।

३. (वे०) (सं० पु० प्र०) (शृ० नि०) हद...। (प्र०) मन । ४. (वे०) (सं० पु० प्र०) कंचुकि...। ५. (सं० पु० प्र०) सौ...।

‘दास’ भई चिकुरारिन को, चटकीलता चाँमर चारु ते चौ गुनी ।
नौ गुँनी नीरज ते मृदुता, सुखमँ मुख में ससि ते भई सौ गुनी ॥*

अथ स्लेस गुँन लच्छन जथा—

बहु सबदँन कों एक करि^२, कीजै जहाँ सँमास ।
ता अधिकाई ‘स्लेस-गुँन’, गुरु, मध्यम, लघु ‘दास’ ॥

वि०—“दासजी जहाँ बहुत शब्दों के अर्थ को (विविध अर्थों को) समझने के लिए उन्हें एक सूत्र में आवद्ध करते हुए ‘समास’ की जाय, उसकी अधिकता दिखलायी जाय, वहाँ “श्लेष-गुण” मानते हैं—जो गुरु, मध्यम और लघु नाम से तीन प्रकार का होता है ।

“गुणों की महत्ता मानने वाले श्री वामनाचार्यजी ने अपने काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति में ‘श्लेष-गुण’ को —“मसृणत्वं—श्लेषः (मसृणत्वं-शब्द-निष्ठ चिकनापन श्लेष)। अर्थात्, जिस काव्य के अनेक अलग-अलग पद हों—वे सामासिक न हों और पढ़ते समय वे सब एक पद के समान प्रतीत हों, वहाँ ‘श्लेष-गुण’ कहा है ।” चंद्रालोककार ने “जहाँ समूह रूप में सजातीय वर्णों का प्रयोग आजाय वहाँ ‘श्लेष गुण’ माना है । साहित्य-दर्पण-कर्ता इसे ‘गुण’ नहीं मानते, वे कहते हैं कि “श्लेष, समाधि, औदार्य, प्रसादादि जो शब्द-गुण प्राचीन आचार्यों ने माने हैं, वे सब ‘ओज-गुण’ के अंतर्गत समाहित हो जाते हैं, क्योंकि ‘यहाँ ‘ओज’ पद लक्षणा से शब्द के धर्म विशेष को व्यक्त करता है”, इसलिये वे उसे स्वीकार नहीं करते, फिर भी उन्होंने श्लेष का लक्षण—“श्लेषो बहूनामपि-पदानामेकपदवद्भासनात्मा” (अनेक पदों का एक पद के समान भासित होना) कहा है । आगे फिर आप कहते हैं कि “श्लेष केवल विचित्रता है । यह रस का विशिष्ट उपकारक न होने के कारण इसे गुण नहीं मानना चाहिये, क्योंकि श्लेष-क्रम (क्रियाओं की परंपरा), कौटिल्य (चतुर-चेष्टा), अनुत्पन्नत्व (अप्रसिद्ध वर्णन का न करना) और उपपत्ति (कार्य-सिद्ध करनेवाली उक्तियाँ) आदि से संबद्ध है अतएव जहाँ इन सबका समन्वय हो वहाँ श्लेष...। इसलिये यह वैचित्र्यमात्र है, वह रस का असाधारण उपकारकत्व जो अतिशय गुणत्व का प्रयोजक है, इसमें नहीं है । इसलिए यह गुण भी नहीं है, इत्यादि...।”

फा०—१. (श्रु० नि०) में ...। २. (वें०) (प्र०) कै...।

* शृंगार-निर्णय (भि० दा०) पृ० ५५, ६३ । आगत-पत्रिका ।

प्रथम उदाहरन स्लेस दीरघ सँमास जथा—

रघुकुल-सरसीरुह बिपुल, सुखद-भाँनु-पद चारु ।
हृदै-आँनि हँनि काँम-मद, कोह-मोह-परिवारु ॥

द्वितीय उदाहरन स्लेस मध्यम सँमास जथा—

जदुकुल-रंजँन दीन-दुख-भंजँन जँन-सुख दँन ।
कृपा-बारिधर प्रभु करौ, कृपा आपनों जाँन ॥

तृतीय उदाहरन स्लेस लघु सँमास जथा —

लखि-लखि सखि, सारस-नयँन, इंदु-बदँन घँनस्यौम ।
बिज्जु हास, दारिम' दसँन, बिबाधर अभिराम ॥

अथ पुनरुक्ति-प्रकास गुँन-तच्छन जथा—

एक सब्द बहु बार जँह, परै रुचिरता-अर्थ ।
'पुनरुक्ति-परकास'-गुँन, बरनें बुद्धि समर्थ ॥

वि०—“जहाँ एक-ही शब्द अर्थ-रुचिरता उत्पन्न करता हुआ बार-बार आये वहाँ समर्थ बुद्धि वालों ने ‘पुनरुक्ति-प्रकाश’ गुण माना है ।”

उदाहरन जथा—

वँनि, बँनि, वँनि बँनिता चलीं, गँनि, गँनि, गँनि डग-देति ।
धँनि, धँनि, धँनि अँखियाँ जु छवि, सँनि, सँनि, सँनि सुख लेति ॥

पुनः उदाहरन जथा—

मधु-मास में ‘दास’जू बीस बिसें मँन-मोहँन आइहँ, आइहँ, आइहँ ।
उजरे इन भौनन कों सजनी, सुख-पुंजँन छाइहँ, छाइहँ, छाइहँ ॥
अब तेरी सों परी^३ न संक इकंक, बिथा सब जाइहँ, जाइहँ, जाइहँ ।
घँनस्यौम-प्रभा-लखिकें सजनी^४, अँखियाँ सुख पाइहँ, पाइहँ, पाइहँ ॥*

वि०—“इस गुण में यह बात अति आवश्यक है कि ‘एक-ही शब्द (या वात) को पुनः कहना, अर्थात् एक शब्द की दो-तीन बार आवृत्ति करना, पर

पा०—१.(वे०) (सं० पु० प्र०) दारघौ..। २.(का०) (वे०) पुनरुक्त्यप्रतिकास...।
३.(सु० ति०) (म० म०—दि० क०) मेरी...। ४.(वे०) सखियै...। (सु० ति०) अवलोकि
गुपाल दान जू ए, अँखियाँ...।

* सुंदरी-तिलक (भा०) पृ० १७१, ५५४ । मनोज-मंजरी—दि० क० (अज्ञा०) पृ०
६१, २२७ ।

अर्थ में एकार्थ^१ होते हुए भी कुछ उनसे विशेषता प्रदर्शित हो, जैसा—“आइ हैं, छाइ हैं, जाइ हैं, तथा पाइ हैं” को आवृत्ति से जाना जाता है। प्रथम उदाहरण में भी यही बात है, वहाँ भी—“बैनि, गँनि, धँनि और “सँनि” एक नयी शब्दार्थ रचिरता-लिये कई बार प्रयुक्त हुए हैं।”

दासजी के इस सवैया को—एक सोचनीय पाठ-भेद के साथ श्री भारतेन्दु ने अपने “सुन्दरी-तिलक” (पृ० १८०१, छं सं० ५८४) में और पं० नकछेदी तिवारी ‘अज्ञान कवि’ ने अपनी “मनोज-मंजरी” (पृ० ६१, छं० सं० २२७ द्वि० भाग) में “परकीया प्रोषितपतिका” के उदाहरण में संग्रहीत किया है। सोचनीय पाठ चतुर्थ-चरण का—‘अबलोकि गुपाल हिं ‘दास जू’ ए, अँखियाँ सुख पाइ हैं’... है, जब कि ‘कवि-नाम’ इस सवैया के प्रथम चरण में आ चुका है।

अथ पुनः माधुरजादि गुँन कथन जथा—

माधुर, ओज^१, प्रसाद के, सब गुन हैं आधीन ।
ताते इँन हीं कौं गँन्यों मँमट सुकवि प्रबान ॥

अथ माधुर्ज गुँन बिसेसता जथा—

स्तेषौ मध्य सँमास कौ सँमता, कांति बिचार ।
लीनें^२ गुँन माधुर्ज-जुत^३ करुनौ, हास, सिंगार ॥

अथ ओज गुँन बिसेसता जथा—

स्तेष, समाधि, उदारता, सिथिल ओज-गुँन रीति ।
बीर^४, भयानक, रुद्र औ रस बिभत्स सौं प्रीति ॥*

अथ प्रसाद गुँन बिसेसता जथा—

अल्प सँमास, सँमास-बिन, अर्थ - व्यक्त गुँन-मूल ।

सो प्रसाद-गुँन बरँन सब^५, सब गुँन, सब रस तूल ॥

वि०—“दासजी ने इन चार दोहों में पूर्व कथित दश गुण वर्णन के बाद इनमें नव रसों का समाहार करते हुए, फिर इन्हें संस्कृत के धुरंधर आचार्य मम्मट के अनुसार तीन गुण—माधुर्य, ओज और प्रसाद के अंतर्गत कथन किया है, क्योंकि ये सभी गुण माधुर्य-ओज-प्रसादादि के ही आधीन हैं—इन्हीं तीनों में इनका समाहार हो जाता है, जैसा इन दोहों से लक्षित है...।”

पा०—१. (का०) (बै०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) माधुर्योज...। २. (बै०) लीन्हों...।

३. (सं० पु० प्र०) रस...। ४. (का०) (बै०) (प्र०) रुद्र, भयानक बीर अरु...। ५. (सं० पु० प्र०) पुनि, सब रस, सब गुन तूल ।

* शृंगार-लतिका-सौरभ (म० अ०) पृ० २७० ।

अथ अनुप्रास वरनन जथा—

रसँन' विभूषित करँन कों, गुँन-वरनँ सुख-दाँनि ।
गुँन - भूषँन अनुमाँनि केँ, अनुप्रास उर आँनि ॥

*

बचँन आदि कै अंत जहँ^३ अच्छर की आवृत्ति ।

अनुप्रास सो जाँनि द्वै—भेद छेक औ वृत्ति ॥

वि०—“गुण-कथन के बाद दासजी ने ‘अनुप्रास’ का वर्णन किया । ये अनुप्रास नव-रसों को विभूषित करने वाले माधुर्यादि गुणों के भूषण कहे हैं, जो काव्य-प्रयुक्त शब्दों में आदि-अंत के अक्षरों की आवृत्ति से बनते हैं । दासजी ने प्रथम अनुप्रास को दो प्रकार का—‘छेक’ और ‘वृत्ति’ रूप में माना है ।

अनुप्रास का शब्दार्थ है—“शब्द को बारंबार चमत्कार युक्त रखना, (अनु+प्र+आस) । इसलिए इसका नाम ‘अनुप्रास’ कहा जाता है । संस्कृत-काव्य-प्रकाश में मम्मटाचार्य ने—“वर्णों की—अक्षरों की, समता को अनुप्रास कहा है” (वर्णसाम्यमनुप्रासः) । साथ-ही आपने प्रथम—“छेकवृत्तिगतो द्विधा” कहते हुए - छेक और वृत्ति का विवरण देते हुए कहा है कि “छेक शब्द का अर्थ है विदग्ध—चतुर और वृत्ति का अर्थ है—रस-विषयक वर्णों की नियत रूप से योजना—उनका व्यापार । तात्पर्य यह कि स्वरों की विभिन्न मात्राओं के होने पर भी यदि अक्षरों में परस्पर समता हो तो अनुप्रास रूप शब्दालंकार होगा । अनुप्रास में वर्णनीय रसादि के अनुकूल वर्णों की -अनन्तार-पूर्ण योजना आवश्यक है ।

अनुप्रास के संस्कृत-मन्य आचार्यों ने प्रथम “वर्णानुप्रास” (निरर्थक वर्णों की आवृत्ति) और “शब्दानुप्रास” (सार्थक वर्णों की आवृत्ति) दो भेद माने हैं । शब्दानुप्रास को “लाटानुप्रास” भी वहाँ कहा गया है । इनके उपरान्त इन आचार्यों ने वर्णानुप्रास के छेक और वृत्ति, तथा वृत्त्यानुप्रास की तीन—उपनागरिका, पौरुषा और कोमला वृत्तियाँ तथा शब्दानुप्रास की ‘पदा’ और ‘नामा-वृत्तियों’ का उल्लेख किया है ।

श्री हेमचंद्र ने भी काव्यानुशासन (पृ० २०६) में अनुप्रास को—
“प्रकृष्टेऽदूरान्तरितो न्यासोऽनुप्रासः” कहा है । साहित्य-दर्पण में अनुप्रास के

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) रस के भूषित करने के... २. (सं० पु० प्र०) ये अनुप्रास सो जाँनि । ३. (सं० पु० प्र०) ही...

प्रति कहा गया है—“अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्” । अर्थात् स्वरों की विषमता रहने पर भी शब्द—पद, पदांश का साम्य अनुप्रास । अनुप्रास में स्वरों की समानता हो या न हो, किंतु एक से मिले हुए अनेक व्यंजन अवश्य हों, क्यों कि केवल स्वरों की समानता में विचित्रता नहीं होती, व्यंजनों की समता में ही चमत्कार होता है । अस्तु, अनुप्रास का पदच्छेद करते हुए आपने उसका अर्थ किया है—“रसाद्यनुगतत्वेन प्रकर्षेणन्यासोऽनुप्रासः” (“रसभावादि के अनुगत प्रकृष्ट-न्यास—अनुप्रास) । अर्थात्, रस की अनुगामिनी प्रकृष्ट-रचना अनुप्रास है ।

आचार्य वामन ने शब्दालंकार के अंतर्गत अनुप्रास को मानते हुए ‘यमक’ के बाद अनुप्रास का वर्णन किया है, जैसे—

“शेषः मरूपोऽनुप्रासः ।” (४, १, १, ८)

इसके बाद आपने “पादानुप्रास”, जिसे बाद के आचार्यों ने लाट-अनुप्रास कहा है, का वर्णन किया है । आपने छेक-वृत्त्यादि अनुप्रास नहीं माने हैं । नवीन आचार्यों ने छेक-वृत्त्य के अनंतर—श्रुत्य, अंत्य और लाट-अनुप्रास और माने हैं । श्री जयदेव ने स्फुटानुप्रास (छंद के अर्धांश या उसके भी अर्धांश में वर्णों की—विविध वर्णों की आवृत्ति) भी माना है । इस स्फुटानुप्रास को बाद में “स्तुत्यानुप्रास” भी कहा गया तथा किन्हीं ने इसका पृथक् भेद भी माना है ।

ब्रजभाषा-साहित्य के आचार्यों ने शब्दालंकार के अंतर्गत—छेक, वृत्त्य के अनंतर—वक्रोक्ति, लाट, यमक, श्लेष और चित्र काव्य को भी माना है (कविकुल कल्पतरु—चितामणि), पर भाषा-भूषण में—छेक, लाट, यमक, वृत्त्य नामक चार शब्द-अलंकार ही माने गये हैं । कोई-कोई इनके साथ ‘पुनरुक्तिवदाभास’ को भी अलंकार रूप में मानते हैं ।

प्रथम छेक-अनुप्रास लच्छन जथा—

वरँन बौहौत कै’ एक की, आवृत्ति एकै बार ।

सो ‘छेकानुप्रास’ है, आदि-अंत इक-ठार ॥*

वि०—“अनेक वा एक वर्ण की आवृत्ति—आदि से अंत तक एक ढार में होने को दासजी ने ‘छेकानुप्रास’ माना है ।

संस्कृत में अनेक वर्णों के एक बार सादृश्य होने को छेकानुप्रास माना है । छेक का अर्थ है, —नागरिक, वा चतुर । इसलिये चातुर्य-पूर्ण अनुप्रास छेकानुप्रास, अथवा चतुर-जनों को प्रिय होने के कारण यह छेकानुप्रास कहा जाता है । तात्पर्य

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) की...। (सं० पु० प्र०) बर्न अनेक की...।

* शृ० ल० सौ० (म० अ०) पृ० ८२ ।

यह कि यह शब्द-अलंकार व्यंजन-समूह, अर्थात् एक से अधिक व्यंजनों की एक बार उसी क्रम से पुनरावृत्ति में होता है। छेक-‘रस-सर’ में नहीं, ‘सर-सर’ में माना जायगा, क्योंकि एक वर्ण की आवृत्ति क्रमशः होना कहा गया है। यथा—“अनेकधेति स्वरूपतः क्रमतश्च”। अर्थात् इसमें स्वरूप तथा क्रम दोनों से समानता होनी चाहिये।

दासजी ने ‘छेक’ के दो भेद-‘आदि’ और अंत वर्ण की आवृत्ति से माने हैं। इन्हीं को संस्कृत-रोति-आचार्यों ने “स्वर-साम्य” तथा “स्वर-वैषम्य” कहा है।”

आदि वर्ण की आवृत्ति तें ‘छेक’ उदाहरन जथा—

तरुनी के बर-बैन सुनि^१, चीनी चकित सुभाइ ।

दाख^२ दुखी, मिसरी मुरी, सुधा रही सकुचाइ ॥

वि०—“यहाँ बर बेन, चीनी चकित, दाख दुखी और मिसरी मुरी” में व, च, द, म की आवृत्ति से—आदिवर्ण की आवृत्ति से, यह शब्दालंकार बना है।

अंत वर्ण की आवृत्ति सों छेक उदाहरन जथा—

जँन-रंजँन भंजँन-दँनुज, मँनुज-रूप सुर-भूप ।

बिस्व-बदर इव धृत उदर, जोवत^३ सोवत सप ॥

वि०—“यहाँ, जँन, नुज, दर, वत में—आदि ‘वर्ण’ की एक-एक बार आवृत्ति है, साथ-ही ‘स्वर’ की भी, इस लिये छेक का यह द्वितीय उदाहरण सुंदर है।”

अथ वृत्त्यानुप्रास लच्छन जथा—

कहुँ सरि ‘बर्न’ अनेक की, परै अनेकँन बार ।

एकै की आवृत्ति बहु,^४ वृत्तौ द्वै जु प्रकार ॥

वि०—“जहाँ अनेक समान वर्णों को अनेक बार आवृत्ति हो—वे बार-बार आयें, वहाँ ‘वृत्त्यानुप्रास’ दासजी ने माना है। यह वृत्ति-अनुप्रास आदि और अंत वर्णों की आवृत्ति से दो प्रकार का होता है।

पा०—१. (का०) (दें०) बर तरुनी के बैन सुनि...। २. (का०) (प्र०) दुखी दाख...। (वें०) दुखी दास...। (स० पु० प्र०) दास दुखित...। ३. (दें०) जो अति सोवत...। ४. (का०) (प्र०) रूप । ५. (का०) (वें०) (प्र०) कहुँ, वृत्तौ दो प्रकार । (स० पु० प्र०-द्वि०) तीन...।

संस्कृत-अलंकार-ग्रंथों में “वृत्ति-गत अनेक वर्णों की अथवा एक वर्ण की अधिकवार आवृत्ति किये जाने को “वृत्यानुप्रास” का विषय माना गया है, जैसा कि दासजी ने लिखा है। बात तो यह है कि ‘रसों के अनुकूल वर्णों के प्रयोग किये जाने के कुछ नियम हैं, जो संस्कृताचार्यों ने कहे हैं। इसलिये ऐसी नियम-बद्ध रचना को वहाँ “वृत्ति” कहा गया है। ये वृत्ति—“उपनागरिका, पुरुषा” और “कोमला” नाम से तीन प्रकार की होती है, जिसका कथन आगे किया गया है। अस्तु, इन तीनों वृत्तियों के अनुसार इन आचार्य-वर्गों ने इस ‘वृत्यानुप्रास’ के भी तीन भेदों का अपने-अपने शास्त्र-ग्रंथों में वर्णन किया है। अतएव “एक वा अनेक वर्णों की वृत्तियों के अनुकूल अनेक बार केवल स्वरूप से, अथवा स्वरूप और क्रम दोनों से आवृत्ति होने पर यह अनुप्रास बनता है। यहाँ यह आवश्यक नहीं कि वर्ण क्रम से ही आवें, फिर भी उनमें क्रम हो तो बहुत-ही अच्छा है—सुंदर है।”

दासजी ने इस उभय प्रकार - वृत्यानुप्रास के—“आदिवर्ण एक की अनेक बार, आदिवर्ण अनेक की अनेक बार, अंतवर्ण एक की अनेक बार और अंतवर्ण अनेक की अनेक बार आवृत्ति होने पर चार प्रकार का मानते हुए इन चारों के उदाहरण दिये हैं, यथा—

प्रथम आदिवर्ण एक की अनेकवार आवृत्ति का उदाहरण—

बलि, बलि गई वारिजात से बढँन पर,
 बंसी - ताँन बँधि गई बिधि गई बाँनी में ।
 बड़े बिलोचन^१ बिसूरि कें बिलोकति,
 बिसारी सुधि-बुधि बाबरी-लों बिललौनी में ॥
 बरुनी बिभा की बारुनी में हूँ बिमोहित,^२
 बिसेस बिबाधर में बिगोई बुद्धि राँनी में ।
 बरजि - बरजि बिलखानी बृंद - आली,
 बनमाली की बिकास बिहसन में बिकौनी में ॥

द्वितीय आदि वर्ण अनेक की अनेकवार आवृत्ति का उदाहरण—

पेड़-पेड़ पै चकित चख, चितवति मो-चितहारि ।
 गई गागरी गेह लै, नई नागरी नारि ॥

तृतीय अंतवर्ण एक की अनेकवार आवृत्ति कौ उदाहरन—

बैठी मलीन अली अबली किधों^१ कंज-कलीन सों द्वै^२ बिफली है ।
संभु-गली^३ बिछुरी-ही चलो, किधों नाग^४-लली अनुराग - रली है ॥
तेरी अली यै रौमावली^५, सिंगार - लता - फल बेली^६ फली है ।
नाभि - थली सों^७ जुरे फल लै^८ भली रसराज - नली उछली है ॥*

चतुर्थ अंतवर्ण अनेक की अनेकवार आवृत्ति कौ उदाहरन—

कहै कसँ न^१ गरमी-बसँ न, काहू बसँ न सुहात ।

सीत - सताएँ रीति अति, कति कंपति तो गात ॥

वि०—“दासजी कृत व्यानुप्रास के ये चार प्रकार और उनके उदाहरण स्तुत्य हैं। अनेकों ने इन उदाहरणों को अपनाया है और अपने-अपने ग्रंथों की शोभा में चार-चाँद लगाये हैं। उन सबों में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (अलंकार-मंजरी, पृ० ३६८) का अभिमत, जो उन्होंने व्यानुप्रास के तीसरे उदाहरण (अंतवर्ण की अनेकवार आवृत्ति) के प्रति व्यक्त किया है, उसे यहाँ देते हैं। अस्तु, आपका इस छंद (सवैया) के प्रति कहना है कि ‘यहाँ मलीन, अली, अबली और कलीन इत्यादि के प्रयोगों-द्वारा अनुप्रास शब्दालंकार तथा रोमावली में भ्रमरावली आदि अनेक संदेह किये जाने के कारण संदेह अर्थालंकार है। ये दोनों अलंकार यहाँ प्रधान हैं, और दोनों ही में समान चमत्कार है, अतः यहाँ शब्दार्थ उभयालंकार है।

अथ वृत्ति औ उनके भेद-लच्छन बरनन जथा—

मिले^१ बर्न माधुर्ज के ‘उपनागरिका’ नृत्ति’* ।

‘परुषा’,ओज, प्रसाद के, मिले ‘कौमला’-वृत्ति’* ॥

पा०—१. (शृ० नि०) (न० सि० ह०) कि सरोज...। २. (वें०) (शृ० नि०) (अ० म०) है...। ३. (शृ० नि०) लगी...। ४. (न० सि० ह०) राग लली...। ५. (का०) कि...। (वें०) (प्र०) (अ० म०) की,। (शृ० नि०) (न० सि० ह०) कै...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (शृ० नि०) बेली...। (न० सि० ह०) फैल...। ७. (प्र०) (अ० म०) पै...। (शृ० नि०) (न० सि० ह०) (स० पु० प्र०) ते...। ८. (का०) (वें०) (प्र०) (शृ० नि०) (अ० म०) लै कि...। (न० सि० ह०) द्वै...। ९. (का०) (प्र०) कसन...। १०. (का०) निन्न ..। (वें०) वृत्ति । (प्र०) निन्न । ११. (का०) (प्र०) (वें०) वृत्ति ।

*, शृ गार-निर्णय (भि० दा०) पृ० १२, ३८ । नखसिख हजारा (सु०) पृ० ४६, ७ । अलंकार-मंजरी (पो०) पृ० ३६८ ।

वि०—“दासजी ने यहाँ वृत्तियों—“उपनागरिका, परुषा एवं कोमला का वर्णन किया है। आपका कहना है कि “मधुर वर्ण-युक्त अर्थात् कर्ण-कटु ‘ट’-वर्गीय वर्ण, द्वित्व या संयुक्त वर्णों से रहित और समास भी अल्प हो, ऐसे सानुनासिक वर्ण युक्त रचना को “उपनागरिका” वृत्ति, ओज गुण की व्यंजना करने वाले ‘ट’ वर्गीदि की अधिकता, रेफ सहित संयुक्ताक्षर एवं द्वित्व वर्ण की बहुल्यता-युक्त कठोर रचना ‘परुषा’ वृत्ति तथा मधुर और ओज-गुण-व्यंजक वर्णों को छोड़ कर शेष वर्णों की रचना, जो समास-रहित वा छोटे समास वाली हो उसे “कोमला-वृत्ति” कहा है। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने “रीति” नाम देते हुए इनके भेद—‘वैदर्भी’, ‘पांचाज़ी’ और ‘गौड़ी’ नाम से किये हैं।”

प्रथम उपनागरिका वृत्ति-उदाहरन जथा—

मंजुल - बंजुल कुंजँन गुंजत - कुंजत^१ भृंग - बिहंग अयाँनी ।
चदँन, चंपक - बुंदँन संग, सुरंग, लबंग - लता लपटाँनी^२ ॥
कंस-बिधंसँन करि^३ नंद-नंदन,^४ सुखंद तहीं करि हैं रजधाँनी ।
भंखत^५ क्यों मथुरा-ससुरारि, सुँने^६ न^७ गुँने^८ मृदु^९ मंगल-बाँनी ॥

द्वितीय ‘परुषा’ वृत्ति उदाहरन जथा—

मरकट - जुद्ध - विरुद्ध क्रुद्ध अरि - ठट्ट दपट्टे ।
अब्द-सब्द करि गर्जि, तर्जिभुकि भंषि^{१०} भपट्टे ॥
लच्छ, लच्छ रच्छस^{११} बिपच्छ धरि धरँन पट्ट के ।
तिखल^{१२} सख बज्रादि अस्त्र एकौ न अट्ट के ॥
कृत व्यक्त रक्त स्रोतित^{१३}-सँने, जत्र-तत्र अँनहह भुअ ।
तस बिक्रम कथ अकथ जस, रँन^{१४} समथ दसरथ-सुअ ॥

तृतीय कोमला वृत्ति उदाहरन जथा—

प्यौ बिरमें बरमें करि^{१५} बुंदँन, बुंदँन कों बिधि बेधै-बधै-री ।
‘दास’ घँनी^{१६} गरजे गुरजे-सी लगे भर सो हियरा^{१७} भुरसै-री ॥

पा०—१. (प्र०) कुंजन...। (रा० पु० प्र०)...कुंजन-कुंजन गुंजत भृंग...।
२. (का०) (वें०) अरुभाँनी । ३. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) कै ।
४. (का०) (वें०) (प्र०) नंद-नंद...। ५. (वें०) भंखति । ६. (वें०) सुनें...।
७. (का०) (वें०) (प्र०) मुद...। ८. (का०) (वें०) भपि...। ९. (वें०) राच्छस...।
१०. (वें०) देखि...। ११. (का०) (वें०) स्रोतस्वनी...। (सं० पु० प्र०) स्रोतस्पिती,
जत्र...। १२. (सं० पु० प्र०) मथ...। १३. (प्र०) धिरे में करि बंदन, बुंदन...। १४.
(प्र०) घनों...। १५. (का०) (वें०) (प्र०) हियरी...।

बीस बिसें बिष भिल्ली भले, तड़िता तँन-ताड़ित^१ कै तरपै - री ।
मारै तऊ सुर के सर सों बिरही कौ बसै बरही बड़^२ बैरी ॥

अथ लाटानुप्रास लच्छन जथा—

एक सबद बहु बार जहूँ,^३ सो 'लाटानुप्रास' ।

तातपर्ज ते होत है, औरै^४ अर्थ प्रकास ॥

वि०—“जहाँ एक-ही शब्द तात्पर्य-सहित अनेक बार आकर भिन्न-भिन्न अर्थों का प्रकाश करे वहाँ 'दासजी' ने 'लाटानुप्रास' कहा है ।

मम्मटाचार्य ने 'काव्य-प्रकाश' (संस्कृत-रीति ग्रंथ) में—“शब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्य मात्रतः” (६, ८१) अर्थात्, जहाँ शब्द वा उसके अर्थ के अभिन्न होने पर भी तात्पर्य मात्र के कारण भेद रहता है, वहाँ शब्द-गत अनुप्रास—‘लाट’ होना कहा है । यहाँ शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति में तात्पर्य की भिन्नता मानी जाती है । इस अलंकार में शब्द और अर्थ दोनों की पुनरुक्ति होते हुए भी तात्पर्य में भिन्नता रहती है । यह भिन्नता श्रव्य के भेद से मानी जाती है । संस्कृत-साहित्य में इसके ‘शब्दानुप्रास’ वा ‘पदानुप्रास’ नाम भी मिलते हैं । साहित्य-दर्पणकार कहते हैं—

“शब्दार्थयो पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्य मात्रतः ।”

काव्य-प्रकाश में लाट को—“तदेवं पंचधा मतः” कहा है, अर्थात्—एक पद का, अनेक पदों का, एक समासगत, भिन्न समासगत तथा समास और असमास दोनों में माना जाता है । ये पाँचों प्रकार दो भागों—‘पद की आवृत्ति’ और नाम अर्थात्, विभक्ति रहित प्रतिपादक आवृत्ति में भी रखा जा सकता है । यमकालंकार में ऐसे ही शब्दों वा पदों की आवृत्ति होती है, पर वहाँ जिन शब्दों की आवृत्ति होती है उनके अर्थों में भिन्नता होती है, यहाँ (लाट में) तात्पर्य की ।

अथ लाट-अनुप्रास कौ उदाहरन जथा—

मँन-मृगया करि मृग-दृगी, मृग-मद-बेदी भाल ।

मृग-पति-लंक मृगांक-मुख, अंक लिपे मृग-बाल ॥

पुनः उदाहरन जथा—

श्रीमँनमोंहँन प्राँन हैं मेरे, श्रीमँनमोंहँन माँन हैं मेरे ।

श्रीमँनमोंहँन ग्याँन हैं मेरे, श्रीमँनमोंहँन ध्याँन हैं मेरे ॥

पा०—१. (वें०) तँन तापि तकै तरपै...। २. (वें०) बड़ो ...। ३. (का०) जो,...।
(वें०) गो...।

श्रीमँनमोहँन सों रति^१ मेरो, श्रीमँनमोहँन सों नति^२ मेरी ।
श्रीमँनमोहँन सों मति^३ मेरी, श्रीमँनमोहँन सों गति^४ मेरी ॥

वि०—“दासजी के ‘श्रीमँनमोहँन प्राँन हैं मेरे०.....’ के साथ किसी कवि का निम्नलिखित छंद भी दर्शनीय है, यथा—

“पीय निकट जाके, नहीं घाँम चाँदनी आहि ।

पीय निकट जाके नहीं, घाँम चाँदनी आहि ॥”

“इन दोनों पदों में संपूर्ण पद की उसी अर्थ में आवृत्तियाँ हैं, पर अन्वय भेद से तात्पर्य प्रथक्-प्रथक् बतला रहे हैं ।”

अथ वीप्सालंकार लच्छन जथा—

एक सन्द बहु बार जइँ, अति^५ आदर सों होइ ।

ताहि ‘वीप्सा’ कहत हैं, कवि-कोविद सब कोइ ॥

वि०—“जहाँ अति आदर से एक शब्द की अनेक बार आवृत्ति हो—बार-बार उसका प्रयोग किया जाय वहाँ कवि-कोविद “वीप्सा” अलंकार कहते हैं ।

वीप्सा, जहाँ आदर, आश्चर्य, उत्साह, घृणा, शोक, हर्ष, आतुरता, रोचकता—आदि भावों का बाहुल्य प्रकट करने के लिये किसी शब्द विशेष का एक से अधिक बार प्रयोग किया जाय, वहाँ होता है । वीप्सालंकार का उल्लेख संस्कृत-रीति-शास्त्र-ग्रंथों में नहीं मिलता, ब्रजभाषा-काव्य शास्त्र में भी इस शब्दालंकार का अल्प उल्लेख हुआ है, विशेष नहीं ।

वीप्सा-उदाहरन जथा—

जाँनि-जाँनि आयौ^६प्यारौ पीतँम बिहार-भूमि,

माँनि - माँनि मंगल सिँगारँन सिँगारती ।

‘दास’ दृग-कंजँन^७ कौ बंदनवार ताँनि^८-ताँनि,

छाँनि^९-छाँनि फूले-फूल-फूलँन सँवारती ॥

पा०—१. (सं० पु० प्र०) नति...। २. (सं० पु० प्र०) गति...। ३. (सं० पु० प्र०) रति...। ४. (सं० पु० प्र०) मति...। ५. (प्र०) हरपादिक ते होइ । ६. (शृ० नि०) आवै...। ७. (सं० पु० प्र०) छाँनि-छाँनि फूले-फूल, सेजन सँवारती—सेज-ही सँवारती । ८. (का०)... कंजनि बंदनवार...। (प्र०) ..दृग तोरन कौ द्वारन में तानि...। ९. (वै०) ठाँनि,.. । १०. (वै०) (सं० पु० प्र०) माँनि-माँनि मंगल सिँगारँन सिँगारती ।

ध्यान-ही में आँनि-आँनि, पो कौ गहि पाँनि-पाँनि,
 ऐँचि^१ पट तौनि-तौनि मेंन - मद् गारती^२ ।
 प्रेम-गुँन गाँनि-गाँनि, अमृतन^३-साँनि-साँनि,
 बाँनि-बाँनि, खाँनि-खाँनि बेनन-बिचारती ॥*

वि०—“दासजी ने अपने इस कवित्त को स्व-निर्मित ‘शृंगार-निर्णय’ में
 ‘स्वकीया वासकसज्जा के उदाहरण में भी कुछ पाठ-भेद के साथ दिया है, जैसे—

जाँनि-जाँनि आबै प्यारौ पीतम बिहार भूमि,
 माँनि - माँनि मंगल सिंगारैँन सिंगारती ।

‘दास’ दग - कंजँन के बंदनवार ताँनि-ताँनि
 छाँनि - छाँनि फूले - फूल सेजै सँवारती ॥

आँनि-आँनि पो कौ गहि पाँनि-पाँनि ध्यान-ही में,
 ऐँचि पट तौनि-तौनि मेंन-मद् - झारती ।

प्रेम-गुँन गाँनि-गाँनि, पीउ बनि साँनि-साँनि,
 बाँनि-बाँनि खाँनि-खाँनि बेनन - बिचारती ॥*

और भी पाठांतर मिलते हैं, जो पाठांतर में नीचे दिये हैं। दामोदर कवि
 ने भी “वासकसज्जा” नायिका (नायक का निश्चय रूप से आना जान कर
 शृंगारादि से विभूषित होने वाली) का सुंदर वर्णन किया है, यथा—

“धारें लाल सारी प्यारी हीरँन-किनार वारी,
 अंगन अनंग - दुति रंग चढ़ि आयौ है ।

‘दामोदर’ कहै बाल बैठी जो बिनोद - भरी,
 लाल के बिलोकिये कों मोद मढ़ि आयौ है ॥

माँकी, झुकि, झरकि झरोखा खोलि घृंघट कों,
 बंदन - बिकास कौ प्रकास बढ़ि आयौ है ।

जोरि कें नछत्रँन, बिथोरि घँन - घोर माँनों,
 फोर रवि - मंडल कों चंद - कढ़ि आयौ है ॥

और इस शब्दालंकार ‘वीप्सा’ का—उसकी माला का, उदाहरण प्रसिद्ध कवि
 ‘देव’-रचित भी सुंदर है, जैसे—

“रीझि-रीझि, रहसि - रहसि, हँसि-हँसि उठै,
 साँसें भरि, आँसू - भरि, कहति दर्ई-दर्ई ।

पा०—१. (वें०) (सं० पु० प्र०) लेटी...। २. (वे०) मारती । (सं० पु० प्र०)
 झारती । ३. (का०) (वे०) (सं० पु० प्र०) पिऊषन । (शृ० नि०) पीउ बनि...।

* शृ० नि० (भि० दा०) पृ० ५४, १६० ।

चोंकि-चोंकि, चकि-चकि, औचक उचकि-उचकि,
 छकि - छकि, जकि - जकि, बहत बई-बई ॥
 दोऊन कौ रूप - गुँन बरनत फिरत दोऊ,
 धीर न धरत रीति - नेह की नई - नई ।
 मोहि - मोहि मोहँन कौ मँन भयौ राधा - मई,
 राधा - मँन मोहि - मोहि - मोहँन-मई-मई ॥”

अथ ‘जँमक’ अलंकार-लच्छन जथा—

वहै सबद फिर-फिर फिरै,^१ अर्थ और-ही-और ।

सो ‘जँमकानुप्रास’ है, भेद अँनेकँन ठौर ॥

वि०—“जहाँ वही (एक-ही) शब्द (वा पद) बारंबार आकर और-ही-और अर्थों का प्रकाश करे, वहाँ ‘यमक’ अलंकार होता है तथा इसके अनेको स्थान पर अनेक भेद कहे गये हैं ।”

यमक-अलंकार का लक्षण संस्कृताचार्यों ने—“पदमनेकार्थमन्तरं वाऽऽवृत्तं-स्थाननियमे—यमकं” (स्थान-नियम के साथ अनेकार्थक पद अथवा अक्षर की आवृत्ति—यमक, काव्यालंकार-सूत्र वृत्ति—वामन, ४, १, १), कहा है। यहाँ अनेकार्थ विशेषण पद का है, अक्षर का नहीं, क्योंकि पद अनेकार्थी हो सकता है, अक्षर नहीं। भाग्य कहते हैं—

“तुल्य श्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम् ।

वर्णानां यः पुनर्वादो ‘यमकं’ तन्निगद्यते ॥”—२, १७

सुनने में समान प्रतीत होने वाले, पर अर्थ में भिन्न वर्णों की पुनरुक्ति वा आवृत्ति ‘यमक’ है। यद्यपि यहाँ पदों की आवृत्ति का लक्षण में समावेश नहीं किया गया है, फिर भी “भिन्नानामभिधेयैः परस्परम्” से उस (पद) की पूर्ति—प्रतीति हो जाती है। क्योंकि केवल वर्ण सार्थक नहीं होते, पद सार्थक होते हैं, इस वर्णवृत्ति में आवृत्त वर्णों की स्थिति चार प्रकार की—“जहाँ दोनों (पद) सार्थक हों, पर वे समानार्थक न होकर भिन्नार्थक हों, जहाँ दोनों अनर्थक (बिना अर्थ वाले) हों, जिसका प्रथम अंश सार्थक और दूसरा निरर्थक हो (पहिला सार्थक भाग पद और दूसरा अनर्थक भाग पदांश वा वर्ण रूप) जिसमें प्रथम भाग अनर्थक और द्वितीय (उत्तर) भाग सार्थक हो, अर्थात् पूर्व भाग पदांश रूप वर्ण अथवा अक्षर, अनर्थक तथा उत्तर-भाग सार्थक-वद कहा गया हो ।” यह पदों की आवृत्ति, भिन्नार्थक अवश्य होनी चाहिये। श्रीमम्भट कहते हैं—

“अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः भ्रुतिः । यमकं०....॥” ६, ८३

अर्थात् यदि अर्थ हो तो विभिन्न अर्थ वाले उन्हीं-उन्हीं वर्णों का बारंबार वैसा ही सुनायी देना ‘यमक’ कहलाता है ।”

विश्वनाथ चक्रवर्ती ने ‘साहित्य-दर्पण’ में ‘यमक’ का लक्षण इस प्रकार कहा है—

“सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजन संहते ।

क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥” १०, ८,

यदि स्वर-व्यंजन-समुदाय अर्थवान् (सार्थक) हो,—भिन्न अर्थ वाले हों, तो उनको क्रमशः आवृत्ति को ‘यमक’ कहते हैं । यमक में, जैसा पूर्व में लिखा जा चुका है, जिस समुदाय की आवृत्ति हो उसका अंश-विशेष वा सर्वांश के सार्थक होने पर आवृत्त-समुदाय का विभिन्नार्थक होना आवश्यक है, क्योंकि समानार्थक शब्दों की आवृत्ति को ‘यमक’ नहीं कहते । चंद्रालोककार कहते हैं—

“आवृत्तवर्णस्तवकस्तवकंदाङ्कुरं कवेः । यमकं०....॥”

जहाँ किसी भी दो-तीन अक्षरों के समूह की आवृत्ति हो, उसे “यमक विश-जन कहते हैं ।”

यमक के प्रति—उसके लक्षण के प्रति, उपरोक्त मत संस्कृत के कुछ चुने हुए साहित्याचार्यों के हैं । इन सब लक्षणों में प्राचीन भामह और नवीन विश्वनाथ चक्रवर्ती के लक्षणों से वामन के लक्षण में कुछ विशेषता है—नवीनता है, क्योंकि वे अपने लक्षण में स्थान-नियम का विशेष रूप से उल्लेख करते हुए उसका विस्तारपूर्वक विवेचन करते हैं । भामह-आदि आचार्यों ने इस स्थान-नियम को स्वयं समझलेने योग्य मान, न तो यमक के लक्षण में उसका उल्लेख किया है और न विस्तार...। किंतु श्रीवामन ने स्फुट रूप से यहाँ कहा है कि “अनेकार्थ (भिन्न-अर्थ) वाला एक पद, अथवा अनेक पद और उसी के समान एक वा अनेक अक्षर स्थान-नियम से होने पर आवृत्त रूप में यमकालंकार कहा जायगा ।” यह स्थान-नियम यमक के प्रयोजन पद की अपनी वृत्ति (उपस्थिति) से, अथवा दो विभिन्न पदों के अंशों से मिलकर एक पद जैसा प्रतीति होने वाले सजातीय के साथ संपूर्ण रूप से, अथवा एक देश से अनेक पादों में व्याप्ति” कहा जाता है । तात्पर्य यह कि आवृत्ति पदों की स्थिति एक पाद में न होकर मुख्यतः अनेक पादों में होनी चाहिये, क्योंकि स्थान-नियम अनेक पाद-व्याप्ति कही-सुनी जाती है—एक पाद-पादस्थ आवृत्ति नहीं । यमक में पदादि की आवृत्ति कहाँ करनी चाहिये, उसके उचित स्थानों का वर्णन करते हुए श्री वामनाचार्य कहते हैं—“एक संपूर्ण पाद, एक अथवा अनेक पाद के आदि, मध्य और अंत भाग

आवृत्ति के उचित स्थान हैं। इन पादादि—मध्य और अंत को लेकर वामनाचार्य ने यमक के मुख्यतया सात भेद माने हैं। पुनः आपने भंग-अभंग को लेकर अन्य भेदों का भी उल्लेख किया है। मम्मटाचार्यने यमक के प्रथम सात फिर नौ, ग्यारह, बीस, तीस और चालीस भेद तथा बाद में अनेक (संख्यातीत) भेदों का उल्लेख किया है। विश्वनाथ चक्रवर्ती भी “एतच्च पादपदार्थ श्लोकावृत्तिखेन पादाद्यावृत्तेरचानेकविधितया प्रेभूततम भेदम्” (यमकालंकार के पादावृत्ति, पदावृत्ति, अर्धावृत्ति, श्लोकावृत्ति-आदि भेद और इनके भी अनेक भेद होने से अति अधिक भेद) द्वारा यमक के संख्यातीत भेद बतलाते हैं।”

ब्रजभाषा-साहित्य में “यमक” का लक्षण विविध कवियों-द्वारा कथित बहुत कुछ एक जैसा-ही मिलता है, यथा—

“जमक, सब्द कौ फिरि खबँन, अर्थ जुदौ सो जाँनि।

अर्थात्, जहाँ किसी शब्द का पुनः श्रवण हो (कोई शब्द-विशेष बार-बार अथवा द्वितीय बार सुन पड़े) और अर्थ भिन्न हो तो वहाँ “यमकालंकार” भाषा-भूषण के रचयिता मानते हैं। इनसे प्रथम यही लक्षण “चिंतामणि” त्रिपाठी ने भी कहा है, जैसे—

“अर्थ होत अन्यार्थक, बरनन कों जहँ होइ।

फेरि खबँन सो ‘जाम’ कहि, बरनत यों सब कोइ ॥

—कविकुल - कल्पतरु

और दूलह कवि (कविकुलकंठाभरण) कहते हैं—

बार-बार पद-अर्थ जहँ, भिन्न ‘जमक’ परकास ॥”

अन्य आचार्यों ने भी इनसे ही मिलने-जुलने लक्षण ‘यमक’ के लिखे हैं। यमक-भेद में वे मौन हैं। हाँ, कोई-कोई भंग-अभंग शब्दों की आवृत्ति के कारण इसके ‘दो भेद’ मानते हैं। ब्रजभाषा-रीति आचार्य केशव ने अग्निपुराण (संस्कृत) के अनुसार यमक के दो भेद—‘अव्ययेत’ और ‘सव्ययेत’ की अवतारणा और की है। ये अव्ययेत और सव्ययेत वास्तव में—अव्यपेत और सव्यपेत हैं, जो लेख-दोष के कारण अपने वास्तविक रूप से हट गये हैं। अव्यपेत—व्यवधान (अंतर) का न होना, अर्थात् जिन पदों वा वर्णों की आवृत्ति हो उनकी समीपता यहाँ आवश्यक है, साथ-ही प्रयुक्त पदों वा वर्णों के बीच कोई अन्य पद वा वर्ण नहीं होने चाहिये और “सव्यपेत”—दो साम्य पदों के मध्य व्यवधान—अंतर” को कहा गया है। यहाँ जिन पदों वा वर्णों की आवृत्ति होती है, वे समीप नहीं दूर-दूर रहते हैं।

दासजी ने यमक के संस्कृतानुसार छह-भेद,—उत्तम यमक, भुक्त पद-ग्राह्य यमक, निरर्थक-शब्दावृत्ति रूप यमक, सार्थक-निरर्थक शब्दावृत्ति रूप यमक, सार्थक शब्दावृत्ति रूप यमक-आदि माने हैं और उनके उदाहरण भी दिये हैं । यथा—

प्रथम जँमक कौ उदाहरन जथा—

लोनों सुख-माँनि, सुख^१-माँनि लखि लोचनँन,
 नीरज^२ - लजात जलजातँन बिहारि गौ ।
 बाही जी^३ लगाइ करि, लीनों जी लगाइ करि,
 मति मोहिनी - सो मोहिनी - सी उर- डारि गौ ॥
 लागे^४ पलकौ न, पल कौ न बिसरै - री,
 बिसबासी बास में ते बास^५ में ते बिष गारि गौ ।
 माँनि आँनि मेरी^६ आँनि मेरे^७ ढिग वाकों तू,
 काहू बरजौ - री बरजोरी मोहि मारि गौ ॥*

दुतीय जँमक कौ उदाहरण जथा —

चलँन कहीं^८ मैं लाल, राबरे चलँन^९ की चाल^{१०},
 आँच वा के आँचर^{११} सों क्यों^{१२} हूँ न सुधारैगी^{१३} ।
 बारिजात नेन बरिजातँन सदैगो निज,
 बारि-जात-नेनँन सों क्यों^{१४} हूँ न निवारैगी^{१५} ॥
 'दास' जू बसंत - सुधि अंगनाँ सँभारैगी तौ,
 अंगना सँभारैगी^{१६} ह्वे अंगनास भारैगी ।
 करहति डारै सुधि देखि - देखि किंसुक की,
 कर - हति डारै हियौ कर - हति डारैगी ॥

पा०—१. (का०) (प्र०) (स० पु० प्र०) सुखमा निरखि लोचनँन । २. (वे०) नील जलजात जलजात न...। (स० पु० प्र०) (र० सा०) नील जलजात नयौ जात नयौ हारिगौ । ३. (का०) जील गाइ...। ४. (स० पु० प्र०) लावै...। ५. (वे०) बास में बिष बगारिगौ । ६. (प्र०) मेरी...। ७. (का०) (प्र०) मेरी...। (वे०) मरी...। ८. (का०) (वे०) (प्र०) (स० पु० प्र०) कहूँ...। ९. (का०) (प्र०) चले...। १०. (स० पु० प्र०) चलन । ११. (का०) (प्र०) (स० पु० प्र०) अचल...। १२. (का०) (प्र०) के हूँ...। १३. (स० पु० प्र०) बार जातना...। १४. (का०) (वे०) (प्र०) के हूँ...। १५. (का०) निवारैगी । १६. (वे०) सँभारै है है अंगन सँभारैगी ।

* रस-सारांस (भि० दा०) पृ० २१ ।

तृतीय जँमक कौ उदाहरन जथा—

छिपति^१ छिपाई-री छिपाई-गँन सोर तू, छिपाई
 क्यों^२ सहेली ह्यौं छिपाई ज्यों दगति है ।
 सुखद निकेत की या केतकी लखे ते^३ पीर,
 केत की हिए में पीर^३ केतकी जगति है ॥
 लखिके^४ ससंक होति^५ निपटै ससंक 'दास',
 संकर में साबकास संकर भगति है ।
 सरसी-सुमँन-सेज सरसी सुहाई सरसीरुह-
 बयारि सोरी सर - सी लगति है ॥

चतुर्थ उदाहरन जँमक कौ जथा—

अरी, सीअरी हौंन कों, ठरो^६ कोठरी नाहि ।
 जरी गूजरी जाति है, घरी द्वै^७ घरी माहि ॥

पाँचमो उदाहरन जँमक कौ जथा—

चैत सरबरी में चलौ^८, सरब^९ सरबरी रयाँम ।
 सरब रीति है सरबरी, लखि परि है परनाँम ॥
 छठौ उदाहरन जँमक कौ जथा—
 मुक्त बिराजत नाक में, मिलि बेसर सुख-माँहि ।
 मुक्त^{१०} बिराजत नाक में, मिलिबे-सर-सुख माँहि ॥

अथ सिंहावलोकन-लच्छन जथा—

चरँन अंत और आदि के^{११}, जँमक कुंडलित होइ ।

सिंघ-बिलोकनि^{१२} है^{१३} बहै, मुक्तक-पद-प्रस सोइ ॥

वि०—“जहाँ पद का आदि और अंत चरण यमक-समान कुंडलित हो वहाँ “सिंहावलोकन” माना जायगा ।”

संस्कृत-रीति ग्रंथों में इस ‘सिंहावलोकन’ को “मुक्त-पद-ग्राह्य-यमक” कहा गया है । अर्थात् जहाँ प्रथम चरण के अंत का शब्द दूसरे चरण के आदि में

पा०—१. (का०) (वे०) प्र०) छपनी...। २. (वे०) (सं० पु० प्र०) छपाई के अकेली ह्यौं...। ३. (का०) (वे०) (प्र०) मीन...। (सं० पु० प्र०) पीर...। ४. (का०) (वे०) (प्र०) होती...। ५. (वे०) छरी...। ६. (का०) (वे०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) दू...। ७. (सं० पु० प्र०) चली...। ८. (वे०) नकै...। (सं० पु० प्र०) तकै...। ९. (सं० पु० प्र०) रुख रीति है सरबरी, लखि बेसरि सुखमाँहि । १०. (वे०) पद...। ११. (वे०) है उहै...।

दूसरे चरण के अंत का शब्द तीसरे चरण के आदि में और तीसरे चरण के अंत का शब्द चौथे चरण के आदि में तथा चौथे चरण के अंत का शब्द प्रथम चरण के आदि में शृंखला-बद्ध रूप से हो वहाँ सिंहावलोकन रूप उपरोक्त अलंकार कहा जायगा । काव्य-प्रकाशकार इसे “आद्यंतिक” नामक यमकालंकार मानते हैं । वहाँ इसका उदाहरण निम्न प्रकार है—

“सरस्वति प्रसादं मे स्थितिं चित्तसरस्वति ।

सरस्वति कुरु चेन्न कुरुचेन्न सरस्वति ॥”

सिंहावलोकन का अर्थ है सिंह की भाँति देखना, क्योंकि सिंह जब चलता है तब आगे और पीछे देखता हुआ चलता है, इसी भाँति कवि जब अपनी कविता में कुछ शब्दों वा पद विशेषों का चरणों में उत्तरोत्तरादि करता है तब विज्ञ-जन उसे भी सिंहावलोकन कहते हैं । इस सिंहावलोकन से कवि का काव्य माधुर्य-गुण से अति अधिक सुंदर और श्रवण-सुखदायक हो जाता है ।”

अस्य उदाहरण जथा—

सर सौ^१ बरसौ करै नीर अली, धँनु लीनें अँग पुरंदर सौ ।
 दर सौ चहुँ ओर^२न ते चपला, करि जाति^३कृपान के^३ औभर सौ ॥
 भर^४ सोर सुनाइ हरै हियरा, जु किये^५ भन अंबर-ढंवर सौ ।
 बरसौ ते बड़ी निंसि बैरनि बीतति^५ बासर भौ बिधि-बासर सौ ॥

वि०—“दासजी का ‘सिंहावलोकन रूप’ यह उदाहरण कुछ उपयुक्त नहीं है, कारण—वह पद-भंगता से बनता है । अस्तु, सिंहावलोकन के दो उदाहरण नीचे और दिये जाते हैं । प्रथम उदाहरण है “श्री सोमनाथ कवि” का यथा—

“गाइ हों मंगलचार घँने, सखि आवति-ही तँन-ताप बुझाइ हों ।
 भाइ हों पाँइ गुलाबँन सों, कमखाब के पाँबरे पुंज बिछाइ हों ॥
 छाइ हों मंदिर बादला सों ‘ससिनाथ’ जू फूलँन की भरलाइ हों ।
 लाइ हों सौतिन के उर-साल, जबै हँसि लाल कों कंठ लगाइ हों ॥

*

धावँन-भेजि सखीं वा देस, बसैं जा देस पिया मन-भावँन ।

भावँन भोर या लूक लगी, तँन-बीचि लगी जियरा भरसावँन ॥

पा०—१. (स०पु०प्र०) रस सौ बरसा करै नीर*** । २. (का०) (वें०) (प्र०) जाति*** ।
 ३. (वें०) की*** । ४. (वें०) (स०पु०प्र०) भरसो रस नाइ हनें हियरा*** । ५. (का०) (वें०)
 (स०पु०प्र०) बीती तौ*** ।

सावँन में न भयौ “हँनुमंत” दोऊ मिलि झूलि मलारै गावँन ।
गावँन मोहि सुहात नहीं, बदरा बद-राह लगे जुरि धावँन ॥”

अथ अलंकारन के और भेद जथा—

ज्यों जीवात्मा में रहै, धरँम सूरता ।आदि ।
त्यों रस-ही में होत गुँन, बरनें गँनें^१ सबादि ॥

•

रस-ही के उतकर्ष^२ कों, अचल थितो गुँन होइ ।
अंगी-धरँम सरूपता^३, अंग-धरँम नहिँ कोइ ॥

✱

कहुँ लखि लघु^४ कादर कहै, सर बड़ौ लखि अंग ।
रसै लाज त्यों गुँन-बिनाँ, अरि सों सुभग^५ न संग ॥

•

अनुप्रास-उपमादि जे, सबदारथलंकार^६ ।
ऊपर ते भूषित करें, जैसे तँन कों हार ॥

•

अलंकार-बिन रस-हु है, रसौ अलंकृत-छंडि ।
सुकवि बचँन-रचनान सों, देति दुहुँन कों मंडि ॥

वि०—“दासजी ने यहाँ पाँच दोहों में—गुण और अनुप्रासों की महत्ता बतलाते हुए बिना अलंकार के रस और रस के बिना अलंकार दोनों का उल्लेख करते हुए उनके उदाहरण भी दिये हैं, यथा—

अथ रस-बिना अलंकार कौ उदाहरन जथा—

चित्त चिहुँदृत देखि कें, जुदृत दारें-दार ।
छिँन-छिँन छुदृत पट रुचिर, दुदृत मोतिन^१ हार ॥

अस्य तिलक—

इहाँ पौरुषावृत्ति रूप सों अनुप्रास-अलंकार है, रस नाही है ।

पुनः उदाहरन जथा—

चोंच रही गहि सारसी, सारस-हीन मृनाल ।
प्राँन जात जँनु द्वार में, दियौ अरगला-हाल ॥

। पा०—१. (वै०) गुनें । २. (सं० पु० प्र०) सु सूरता... । ३. (सं० पु० प्र०) कहुँ लहु लखि... । ४. (सं० पु० प्र०) सुभ गुन संग... । ५. (का०) (वै०) (प्र०) सद्वाचालंकार । ६. (का०) (वै०) (सं० पु० प्र०) मोतिय... ।

अस्य तिलक—

इहाँ दग्धेच्छा-अलंकार है, रस नहीं है ।

फेरि उदाहरन जथा—

भारि डारि^१ बँनसार इत कहा कमल कौ काँम ।
अरी, 'दूरि कर हार'^२ यों-बकति रहति नित बाँम ॥

अस्य तिलक—

इहाँ रस (शृंगार) है, अलंकार नहीं ।

“इति श्री सकल कलाधर कलाधर बंसावतंस श्री मन्महाराज-कुमार
श्री बाबू हिंदूपति बिरचिते काव्य-निरनय—गुंननिरनयादि-
अलंकार बरननोनाम एकोनविसतितमोऽध्यायः ।”

—००—

अथ बीसवाँ उल्लास

अथ स्लेस, विरुद्धाभासादि अलंकार वरनन

श्लेष, विरोधाभास^१ है, सब्द^२-अलंकृत 'दास' ।
मुद्रा औ वक्रोक्ति पुनि, पुनरुक्ती-बद्^३ भास ॥

*

इँन पाँचन-करि अर्थ कों^४, भूषँन कहै न कोइ ।
जदपि अर्थ-भूषँन सकल, सब्द-सक्ति में^५ होइ ॥

वि०—“दासजी ने इस बीसवें उल्लास में “श्लेष, विरुद्धाभास, मुद्रा, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास” का वर्णन किया है । साथ-ही आपका यहाँ कहना है कि इन श्लेषादि पाँचों में अर्थ की विशिष्टता होते हुए भी इन्हें कोई भूषण (अलंकार) नहीं कहता, यद्यपि शब्द-शक्ति में अर्थ की विशेषता रूप भूषण होना अनिवार्य है ।

संस्कृत-अलंकार-साहित्य में “विरोधाभास” और “मुद्रा” अर्थालंकार और श्लेष, पुनरुक्तवदाभास तथा वक्रोक्ति शब्दालंकार की गणना में रखे गये हैं । श्लेष के संबंध में उभयात्मक (शब्दार्थालंकार) मत का उल्लेख भी मिलता है । अर्थात्, कोई इसे शब्दालंकार और कोई अर्थालंकार कहते हैं । आचार्य रघ्यक के अनुसार श्लेष दो रूपों—“सभंग और अभंग” में विभक्त होकर प्रथम रूप (सभंग) शब्दालंकार है और द्वितीय रूप (अभंग) अर्थालंकार है । क्योंकि सभंग-श्लेष में “जतुकाष्ट-न्यायानुसार (लाख, लकड़ी से भिन्न होते हुए भी उसमें चिपकी रहने कारण उससे पृथक् नहीं मानी जाती) दूसरा पद वा शब्द भिन्न (अलग) होने पर भी एक पद वा शब्द में चिपटा रहता है, इसलिये वह शब्दालंकार है । अभंग-श्लेष—एक वृत्त फल-द्वय (एक गुच्छे में दो फल) के न्यायानुसार एक-ही पद वा शब्द में दो अर्थ लगे रहते हैं, इसलिये वह अर्थालंकार मानना चाहिये । श्री उद्भट दोनों सभंग और अभंग श्लेषों को शब्द-श्लेष और अर्थ-श्लेष रूप देकर इन्हें अर्थालंकार-ही मानते हैं । इसी

पा०—१. (स०पु०प्र०) विरुद्धा भास... २. (का०) (वे०) (प्र०) सब्दालंकार...
३. (स०पु०प्र०) पुनरुक्तवदाभास । ४. (का०) (वे०) (प्र०) इन पाँचहुँ कौ अर्थ सों, ...
५. (स०पु०प्र०) इन पाँचों के अर्थ कों, ... ५. (वे०) मय...

प्रकार आचार्य श्री मम्मट अपने “काव्य-प्रकाश” में इस उभयात्मक (सभंग-अभंग) श्लेष को शब्दालंकार-ही मानते हैं। वहाँ आपका कहना है कि “गुण, दोष और अलंकारों का शब्द और अर्थ-गत विभाग” अन्वय और व्यतिरेक पर निर्भर है, इसलिये अभंग श्लेष जहाँ अर्थाश्रित होगा वहाँ वह अर्थालंकार की गणना में जायगा और जहाँ वह शब्दाश्रित होगा, वहाँ वह शब्दालंकार की श्रेणी में माना जायगा।

अलंकार प्रायः दो भागों (शब्दालंकार और अर्थालंकार) में विभक्त माने जाते हैं। जो शब्द को चमत्कृत करते हैं वे शब्दालंकार (अनुप्रासादि) और जो अर्थ को चमत्कृत करते हैं वे अर्थालंकार कहे जाते हैं। इनका एक तीसरा वर्ग “उभयालंकार (शब्द और अर्थ दोनों के आश्रय में रहकर उन्हें चमत्कृत करनेवाले) भी माना जाता है। अस्तु, इन तीनों प्रकार के अलंकारों का विभाजन जैसा पूर्व में कहा गया है—अन्वय और व्यतिरेक पर निर्भर है। अन्वय—“जिसके होने पर जिसकी स्थिति रहे और व्यतिरेक—जिसके न होने पर जिसकी स्थिति न रहेने को कहते हैं। अर्थात् जो अलंकार किसी शब्द-विशेष की स्थिति रहने पर-ही रहता है, उसके स्थान पर उसी अर्थवाला दूसरा शब्द रखने पर नहीं रहता वह “शब्दालंकार” कहलाता है और जो अलंकार शब्दाश्रित नहीं रहता—जिन शब्दों के प्रयोग पर किसी अलंकार की स्थिति रहती हो उन शब्दों के स्थान पर वैसे-ही अर्थ वाले दूसरे शब्दों का व्यवहार करने पर भी उसी अलंकार की स्थिति रह सकती है तो वह “अर्थालंकार” कहा-सुना जायगा।

आचार्य वामन ने गुणों को-ही शब्द और अर्थ में विभक्त कर श्लेष को अर्थ-गुण रूप मानते हुए—“घटना—श्लेषः” कहा है। यह श्लेष रूप घटना—“क्रम, कौटिल्य, अनुलवणत्व और उपपत्ति के योग से बनती है और यही श्लेष कहलाती है। यहाँ क्रम—अनेक क्रियाओं की परंपरा, उसके भीतर अनुस्यूत विदग्ध-चेष्टित ‘कौटिल्य’, प्रसिद्ध वर्णन शैली—अनुलवणत्व और युक्ति-विन्यास उपपत्ति कही गयी है।

साहित्य-दर्पण के रचयिता विश्वनाथ चक्रवर्ती भी श्लेष को उभयालंकार—अर्थात्, शब्द और अर्थालंकार मानते हैं।

ब्रजभाषा में श्लेष, कवि चिंतामणि के अनुसार शब्दालंकार और भाषा-भूषण (यशवंतसिंह) के अनुसार सर्वत्र अर्थालंकार ही माना गया है।

श्लेष का विषय अति व्यापक है, क्योंकि उसकी स्थिति अनेक अलंकारों में रहती है, साथ ही इसका विषय अति महत्वपूर्ण होते हुए भी बड़ा विवाद-

प्रस्त है। संस्कृत-ग्रंथों में तो इसका विवेचन है, पर ब्रजभाषा में उसके दर्शन नहीं होते। अतएव संस्कृत आचार्यों का अभिमत है कि “जहाँ श्लेष रहता है वहाँ अन्य अलंकार भी रहते हैं, क्योंकि उसका शुद्ध उदाहरण नहीं बन सकता। वह (श्लेष) तो सभी अलंकारों का शोभा कारक है, यथा—

“श्लेषः सर्वाणु पुष्पाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम् ।”

—काव्यादर्श, २, ३६३

और यदि सर्वत्र अन्यान्य अलंकार स्वीकार कर लिये जाँय तो श्लेष नाम से कोई अलंकार नहीं हो सकता, इसलिये जहाँ श्लेष के साथ अन्य अलंकार हों वहाँ उन (अन्य अलंकारों) का आभास मात्र समझ कर “निरवकाशो-धिरपवाद” (जिस वस्तु की स्थिति के लिये किसी विशेष स्थान के अतिरिक्त अन्य-दूसरा स्थान नहीं होता, तब वह वस्तु उस दूसरी वस्तु को जिसके लिये दूसरा स्थान हो, उस स्थान से हटा कर वहाँ स्वयं प्रधानता कर लेने) के न्याया-नुसार अन्य अलंकार का —जिसकी स्थिति श्लेष के बिना भी हो सकती है, बाधक मान श्लेष को प्रधानता दी जाती है और इस प्रकार श्लेष स्वतंत्र अलंकार कहा जा सकता है।

आचार्य मम्मट, शुद्ध श्लेष और अन्य अलंकारों से मिश्रित श्लेष भी मानते हैं वे कहते हैं—जहाँ श्लेष के साथ अन्य अलंकार संमिलित रहता है, वहाँ उन दोनों में जो प्रधान हो उसे मानना चाहिये। श्रीमम्मट के इस अभिमत को उनके परवर्ती आचार्य ‘हेमचन्द्र’ और विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भी माना है। यही नहीं, वहाँ (संस्कृत-साहित्य में) श्लेष और ध्वनि का प्रथक्-करण बतलाते हुए कहा गया है कि “जिस प्रकार श्लेष का अन्य अलंकारों के साथ संबंध है, उसी प्रकार ‘ध्वनि-काव्य’ के साथ भी उस (श्लेष) का गहरा संबंध है, क्योंकि श्लेषालंकार में श्लिष्ट शब्दों द्वारा जितने भी अर्थ माने जा सकते हैं, वे सब अभिधा-द्वारा-ही वाच्यार्थ होते हैं। इस कथन के अपवाद रूप श्लेषालंकार के लक्षण में इन आचार्यों ने “अभिधान” पद का प्रयोग किया है, अर्थात् श्लिष्ट-शब्दों से अनेक अर्थों का ‘अभिधान’ (कथन) किये जाने को श्लेषालंकार माना है। अस्तु, अलंकार रूप श्लेष में एक से अधिक सभी अर्थ अभिधा-शक्ति के अभिधेय वाच्यार्थ होने के कारण एक-ही साथ बोध होते हैं। ध्वनि में ऐसा नहीं होता। वहाँ अभिधा-द्वारा एक वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर प्रकरण—आदि के कारण उस (अभिधा) की शक्ति रुक जाती है, वह दूसरे अर्थ का बोध नहीं करा सकती, अपितु दूसरा अर्थ वहाँ (ध्वनि में) व्यंग्यार्थ रूप में ध्वनित होता है, इत्यादि.....।

विरोधाभास वा विरोध को संस्कृत-साहित्याचार्यों ने 'विरोध' वा अतिशय-वर्ग मूलक अलंकार मान अर्थालंकारों में वर्णन किया है। दासजी ने इसे शब्दालंकार माना है, क्यों ? इसका कारण नहीं दिया है।

मुद्रा भी संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में अर्थालंकार-ही माना गया है। इसके सर्वप्रथम-कर्त्ता "कुवलयानन्दकार" अप्पय दीक्षित हैं। अस्तु, आपसे पूर्व आचार्यों ने जहाँ अलंकारों का वर्गीकरण किया है, वहाँ इसका नामोल्लेख नहीं मिलता। बाद के आचार्यों ने इसे "गूढार्थप्रतीति" मूलक वर्ग में रखा है।

वक्रोक्ति के आविष्कर्त्ता आचार्य वामन हैं और "पुनरुक्तवदाभास" के उद्भयचार्य। अस्तु, "वक्रोक्ति" 'रुच्यक' और उनके शिष्य 'मंखक' के अनुसार गूढार्थप्रतीति मूलक वर्ग का अर्थालंकार-ही कहा गया है। पुनरुक्तवदाभास को समी (संस्कृत तथा ब्रजभाषा) आचार्यों ने शब्दालंकार ही माना है। ब्रजभाषा में—विरोधाभास, मुद्रा और वक्रोक्ति अर्थालंकार कहे-सुने गये हैं।"

प्रथम श्लेषालंकार लच्छन जथा--

शब्द उभै-हू सक्ति ते, श्लेष'-अलंकृत मॉन ।

अनेकार्थ-बल इक-दुतिय, तात्पर्य-बल जाँन ॥

*

दोइ, तीन कै भाँति बहु, जहाँ प्रकाशित अर्थ ।

सो 'श्लेषालंकार' है, बरनत बुद्धि-समर्थ ॥

वि०—"जहाँ एक-ही श्लेष-अलंकृत शब्द के उभय-शक्ति से तात्पर्य-अनुसार अनेक अर्थ निकलते हों, वहाँ बुद्धिवान् जन 'श्लेषालंकार' मानते हैं। यह श्लेषालंकार शब्द के दो, तीन वा अनेक अर्थ प्रकाशित करने पर—"द्वैर्थिक, त्रैर्थिक और चतुःअर्थिक रूप तीन प्रकार का होता है, ऐसा दासजी का मत है।

श्लेषालंकार पर पूर्व में काफी लिखा जा चुका है, अस्तु, "जहाँ एक-ही शब्द के कई अर्थ होते हों वहाँ इस अलंकार का होना सर्व संमति युक्त है, क्योंकि श्लेष का अर्थ है-चिपका हुआ। जहाँ एक शब्द में एक से विशेष अर्थ चिपके हों वहाँ यह अलंकार माना जायगा।

दासजी ने श्लेष के ऊपर लिखे-अनुसार "द्वैर्थिक", त्रैर्थिक, चतुःअर्थिक" रूप तीनों भेदों का उल्लेख किया और इन तीनों के उदाहरण भी

दिये हैं, पर संस्कृताचार्यों ने श्लेष के—प्रथम दो भेद—“सभंग, अभंग, पुनः इन दोनों के—प्रकृतमात्र-आश्रित, अप्रकृतमात्र-आश्रित, प्रकृताप्रकृत-उभयाश्रित” रूप तीन भेद और किये हैं। इसके बाद प्रकृत और अप्रकृत-मात्र-आश्रित के दो भेद क्रमशः “विशेष्य-श्लिष्ट” तथा “विशेष्य-अश्लिष्ट”, मानते हुए, ‘प्रकृताप्रकृत’-उभयाश्रित का एक भेद ‘विशेष्यमात्र श्लिष्ट’ और किया गया है।

श्रीवामनाचार्य श्लेष के प्रति—“शूद्रकादिरचितेषु प्रबंधेष्वस्य भूयान् प्रपंचोद्दृश्यते (शूद्रक-आदि रचित प्रबंधों में इस (श्लेष) का बहुत विस्तार देखा जाता है) कह कर इसके विशेष भेदों की ओर लक्ष्य नहीं किया है, पर आपके बाद श्रीमम्मट ने ‘काव्य-प्रकाश’ में श्लेष को—

“वाच्यभेदेन भिन्ना यत् युगपदभाषणस्तृशः।

श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधाः॥”-६, ८४।

अर्थात् जहाँ एक-ही उच्चारण का विषय होकर जो शब्द वाच्यार्थ-भेद के कारण भिन्न-भिन्न होकर भी श्लिष्ट होते हैं, वहाँ श्लेषालंकार होता है और वह अक्षरादि भेद के कारण आठ प्रकार का है। श्लेष के ये आठ भेद—वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन” से होते हैं। उसके बाद आपने श्लेष को अभंग-सभंग रूप से भी माना है। साहित्य-दर्पणकार भी श्लेष के श्रीमम्मट-वचनात् प्रथम आठ भेद और फिर दो सभंग-अभंग भेद मानते हैं।

ब्रजभाषा-साहित्य में इस श्लेष के सभंग-अभंग भेद तो मिलते ही हैं, साथ-ही वहाँ इनके अतिरिक्त—“प्रकृत, अप्रकृत, प्रकृताप्रकृत” अथवा वर्ण, ‘अवर्ण’ और ‘वर्णावर्ण’ तीन भेदों का उल्लेख भी मिलता है, इत्यादि.....।”

प्रथम द्वि-अर्थक स्लेस का उदाहरन जथा—

गजराज राजै, बरबाँहिनी^१ की छवि छाजै,
सँमरथ^२ बैस सहसँन मँन-माँनी है।
आयुस कों जोहैं आगें लीनें गुरु-जँन-गँन,
बस में करत जो सुदेस रजधौनी है॥
महा-महा जँन धँन-लै-लै मिलें सँम-बिँन,
पदमन^३ लेखें ‘दास’ बास यों बसाँनी है।

पा०—१. (वे०) (प्र०) (सं०पु०प्र०) बर बाँहन...। २. (प्र०) सरथ सुबह सहसन...। (सं०पु०प्र०) समरथ-साथ-सुबह सहसन...। ३. (सं०पु०प्र०) जनपद...।

दरपँन देखै सुबरँन-रूप-भरी, बार-
बनिता बखौनी हैं कै सैनौं सुलतौनी है ॥

दुतिय तृ-अर्थक स्लेस कौ उदाहरन जथा—

पाँनिप के आगर, सराहँ सब नागर,
कहत 'दास' कोस ते लख्यौ प्रकासमाँन में ।
रज के सँजोग ते अँमल होत जब-तब,
हरि-हितकारी बास जाहर जहाँन में ॥
श्री कौ धाँम सौहजे करत मँन काँम थकै,
बरनत बाँनो जा दलँन के बिधाँन में ।
एतौ गुँन देख्यौ राँम साहिब सुजाँन में,
कै^१ बारिज-बिहाँन में, कै^२ कीरत^३ कृपाँन में ॥*

तृतीय चतुर्थ-अर्थक स्लेस कौ उदाहरन जथा—

छाया सों रलित परभृत द्यौ सु दरसँन,
बाल-रूप-दुति सु परव-गँन बंद है ।
दिँन^४ कों उदित छँन-दाँन में बिलोकियतु,
हरि-महातँम देत आँनद कौ^५ कंद है ॥
भव-आभरँन अरजुन सों^६ मिलाप कर,
माँनों^७ कुबलै कौ हरँन दुख-दंद है ।
एतौ गुँनवारौ 'दास' रबि है, कि चंद है,
कै देबी कौ मृगेंद्र है, कि जसुमति-नंद है ॥

अथ स्लेस की संदेहालंकार ते प्रथकता बरनन जथा—

'संदेहालंकार' इत, भूलि न आँनों चित्त ।
कह्यौ स्लेस दृढ करँन कों, नहिँ समता-थल मित्त ॥

वि०—“दासजी कृत श्लेष के तीनों उदाहरण अपने-अपने शीर्षकों में स्पष्ट हैं, साथ-ही दूसरे और तीसरे उदाहरणों के अंतिम चरणों में 'कि, वा 'कै' जो, अथवा अर्थ के द्योतक हैं, उनसे उक्त छंदों—उदाहरणों में संदेहा-

पा०—१-२. (का०) (वै०) (प्र०) (स० स०) कि, कि, १. (द्वै०) कीमत... ४. (वै०) जिनका... ५. (का०) (वै०) आनंद-निकंद है । ६. (सं० पु० प्र०) कौ... ७. (का०) (वै०) (प्र०) जानों...

* स० स० (ला० भ०) पृ०—४०१ ।

लंकार न मान लिया जाय, अपितु श्लेषार्थ को दृढ करने के लिये-ही उन्होंने “कि, कै” का प्रयोग किया है, यह वहाँ मानना चाहिये ।

इस ‘कि’ वा ‘कै’ प्रयुक्त ‘मतिराम कवि’ कृत श्लेष का निम्न-लिखित उदाहरण भी सुंदर है—स्तुत्य है, यथा—

“लखमँन-संग लिऐं जोबन बिहार कियें,
सीत हिऐं बसै कहौ तासों अभिराम कों ।
नब दल सोभा जाकी बिकसै सुमित्रा-लखि,
कोंसलै बसत हिय कोऊ धाँम-ठाँम कों ॥
‘कबि मतिराम’ सोभा देखिऐ अधिक नित,
सरस निधान कबि-कोबिद के काँम कों ॥
कीनों हैं कबित एक तामरस-ही कौ यातें,
राम कों कहत “कै” कहत कोऊ बाँम कों ॥

श्री मतिराम कृत ‘ललित-ललाम’ अलंकार ग्रंथ में—प्रकृत अर्थात् द्वै थिंक श्लेष का उदाहरण भी स्तुत्य है, यथा—

“ललित राग राजत हिऐं, नायक-जोति बिसाल ।
‘बाल तिहारे कुचँन-बिच, लसत अँमोलक-लाल ॥”

श्लेष से सने शब्दों का उद्गूँ कवियों ने भी प्रयोग किया है, और खूब किया है । एक शेर मुलाहिजा फ़र्माएँ, जैसे—

“बातों-बातों में किसी ने कह दिया मुझ से ‘अजीज’ ।
जिंदगी की मुश्किलें दमभर में आसाँ हो गईं ॥”

ब्रजभाषा में जो बात लाल ने पैदा की है, वही यहाँ “अजीज अल्फ़ाज़ पैदा कर रहा है, जो देखते-ही बनता है—कहते-सुनते नहीं ।”

अथ विरोधाभास लच्छन जथा—

परें विरोधी^१ सब्द-गँन, अर्थ सकल अविरुद्ध ।
कहैं विरोधभास^२ तिहिँ, ‘दास’ जिन्हें मति-सुद्ध ॥

वि०—“जहाँ संपूर्ण अविरुद्ध-अर्थवाले विरोधी शब्दों का समूह हो, वहाँ दासजी के अनुसार शुद्ध मतिवाले ‘विरोधाभास’-अलंकार कहते हैं ।

दासजी का यह ‘विरोधाभास’ का लक्षण अन्य आचार्य-कृत लक्षणानुसार कुछ अटपटा-सा लगता है । संस्कृत-साहित्य में “विरोध” रूप ‘विरोधाभास’

नाम का अलंकार आचार्य भट्टि से लेकर मम्मट और रुय्यक तक सजने माना है। वहाँ इसका लक्षण—“वस्तुतः विरोध न होने पर भी विरोध के आभास रूप वर्णन को कहा गया है। अर्थात्, जहाँ विरोध-सा भासित हो, पर वास्तविक विरोध न हो, वहाँ यह अलंकार मानना चाहिये, जैसा श्री वामन कहते हैं—

विरुद्धाभासत्वं विरोधः । ४, ३, १२ ।

आपके बाद अन्य आचार्यों ने इसी सूत्र को पकड़ कर “विरोध” या “विरोधाभास” का लक्षण निम्न प्रकार से किया है,—

“विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।”

—काव्य-प्रकाश, १०, १६६

अथवा—

“विरुद्धमेव भासेत विरोधोऽसौ...।”

—सा० द०, १०, ३५

अर्थात्, वस्तु स्थिति के अनुसार जिन दो वस्तुओं में परस्पर विरोध न हो, पर वे विरुद्ध वस्तुओं की भाँति वर्णन की जाँय, अथवा वस्तु की स्वाभाविक दशा के अनुसार जहाँ वस्तुओं में विरोध न भो हो, फिर भी परस्पर विरुद्ध-भाँति से उनका वर्णन या कथन किया जाय, वहाँ विरोधाभास अलंकार समझना चाहिये। साहित्य-दर्पण-रचयिता का अभिमत वामन के अनुसार ही है—पृथक् नहीं केवल कहने का ढंग प्रथक् है।

ब्रजभाषा-ग्रंथों में विरोध या विरोधाभास का लक्षण इस प्रकार किया गया है, जैसे—

“सो ‘बिरोध’, अबिरुद्ध में जहाँ बिरोध अभिधान । —चिंतामणि”

“भासै जबै बिरोध सौ, वहै ‘बिरोधाभास । —यशवत सिंह”

“जहाँ बिरोध-सौ लगत है, होत न साँच बिरोध । —मतिराम”

“आभासै बिरोध तहँ बरनें ‘बिरोधाभास . . . । —दूलह”

“कहत ‘बिरोधाभास’ तहँ, झूठौ जहाँ बिरोध । —पद्माकर”

यहाँ भी केवल शब्द-छलना के सहारे वही श्री वामनाचार्य का “विरुद्धाभासत्वं विरोधः” छा रहा है, अन्य कुछ नहीं। संस्कृत-अलंकार ग्रंथों में विरोधाभास के दस भेद माने हैं, जिन्हे पूर्व में दासजी ने कहे हैं, किंतु इन दसों भेदों का विस्तार बाद के भाषा-क्षेत्र में आगे न बढ़ सका, एक-ही रूप में रह गया। ‘दासजी ने अपने से प्रथम आचार्य केशव की भाँति “विरुद्ध” (विरोध) और “विरोधाभास” को (आचार्य केशव की भाँति) प्रथक्-प्रथक् अर्थालंकार, शब्दालंकार माना है।” इसलिये यहाँ एक-ही उदाहरण दिया है। अन्य—जाति, गुण,

क्रियादि के उदाहरण विरुद्ध-अलंकार के तत्वावधान में काव्य-निर्णय के १३वें उल्लास में दे चुके हैं ।

अथ विरोधाभास-उदाहरण जथा—

लेखी में, अलेखी में जु' नाहि छबि ऐसी औ,
असँमसरी^२ सँमसरो दीबे^३ कों परें लिये ।
खरी निखरी है अंग बनक बँनक^४ - हूँ ते,
'दास' मृदु - हास बीच मेलिये चँमेलिये ॥
कीजै न विचारु चारु रस में अरस जैसौ*,
बेगि चलौ संग में न हेलिये - सहेलिये ।
जग के भरँन आभरँन आप रूप अँनुरूप-
गँन तुम्हें आई केलिये - अकेलिये ॥

वि०—“दासजी कृत ‘विरोध’ या उसके ‘आभास’ का यह उदाहरण कुछ जचा नहीं, क्योंकि वह विशेष स्फुट नहीं है । विरोधाभास के दो उदाहरण— श्री कवि ‘मतिराम’ और ‘रत्नाकर’ (दा० जगन्नाथदास) जी के हमारी समझ से सुंदर हैं, प्रथम मतिराम यथा—

“मोर-पखा ‘मतिराँम’ किरिट में, कंठ-वनी बँनमाल सुहाई ।
मोहँन की मुसकान मनोहर, कुंडल डोलँन में छबि-छाई ॥
लोचँन लोल बिसाल बिलोकन, को न बिलोकि भयौ बस माई ।
वा मुख की मधुराई कहा कहों, मीठी लगै अँखियाँ लुनाई ॥”



“प्यार-पगे पिय प्यारे सों प्यारी, कहा इमि कीजतु मान-मरोर है ।
है ‘रत्नाकर’ पै निसि - बासर तो छबि-पाँनिप कों तरसो रहै ॥
है मँन-मोहँन, मोह्यौ पै तो पर, है धँनह्याँम पै तेरौ तौ मोर है ।
है जगनायक, चेरो पै तेरौ है, है ब्रज-चंद पै तेरौ चकोर है ॥”

अथवा—

“है ये नायक दच्छिन लैल, पै तें अँनुकूल करयौ चित्त-चोर है ।
है अभिमाँनी आपने रूप कौ, दीन है तो सों रख्यौ निसि-भोर है ॥

पा०—१. (का०) (बें०) (प्र०) में नहीं हैं छबि...। २. (बें०) प्रसमसरी...। (सं०-पु० प्र०) समसरी...। ३. (बें०) दैबे कों न फैलिये...। ४. (का०) (बें०) (प्र०) कँनक...। ५. (का०) (बें०) (प्र०) ऐसी...। (सं० पु० प्र०) चारु हरस में रस ऐसी.. ।

है रँग-साँवरौ, गौर-रँग्यौ पुनि तेरे-ही प्रेम-पग्यौ झकझोर है ।

है घँनस्याँम पै तेरौ पपीहरा, है ब्रज-चंद पै तेरौ चकोर है ॥”

दासजी की अन्यत्र पीछे दी गयी दो रचनाएँ जो “विस्दालंकार” के उदाहरणरूप १३ वें उल्लास में दी गयी हैं उत्तम हैं, यथा—

“दग्गावत थिर-शमिनी, केलि तरुन गति देत ।

तिल प्रसून सुरभित करत, नूतन-बिधि झखकेत ॥

*

“प्रिया, फेरि कहु बैस-हो, करि बिब लोचन लोल ।

मोहि निपट मीठे लगें, ए तेरे कहु बोल ॥”

*

“आँखों-ही में रहे हो, दिल से नहीं गये हो ।

हराँन हूँ य शोखी, आई तुम्हे कहाँ से ॥”

—मीर

अथ मुद्रालंकार लच्छन जथा—

औरों अर्थ कवित्त कौ, सद्बौद्धल व्योहार ।

भलकै नाँम कि नाँम-गुँन, ‘मुद्रा’ कहत बिचार^३॥

वि०—“जहाँ शब्द-छल के व्यवहार से कविता का अन्य अर्थ नाम से वा नाम के गुण से झलकता हो, वहाँ विचार कर ‘मुद्रालंकार’ दासजी ने कहा है ।

मुद्रा का शब्दार्थ—“मुद्राप्रत्ययकारिणामानुसार—नामांकित मुहर वा चिन्ह विशेष होता है । अस्तु, जिस प्रकार नामांकित ‘मुहर’ वा कोई अन्य चिन्ह किसी व्यक्ति विशेष का संबंध सूचन करती है, उसी भाँति मुद्रालंकार-द्वारा भी प्रासंगिक वर्णन में सूचनीय अर्थ सूचित किया जाता है । अर्थात् जहाँ किसी पद या पदों से प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त किसी दूसरे अर्थ का भी प्रकाश हो, वहाँ यह अलंकार कहा व माना जाता है । दासजी ने इस अलंकार के दो उदाहरण दिये हैं, जो अलंकार-उदाहरण-दृष्टि से अधिक स्फुट हैं ।”

मुद्रालंकार कौ प्रथम उदाहरन जथा—

जब-ही ते ‘दास’ मेरी नजर परी है वौ,

तब-ही ते देखबे की भूँख सरसति है ।

पा०—१. (प्र०) नामक नाम...। २. (का०) (वै०) और स मुद्रा चार...। ३. (प्र०) सुचार ।

होंन लाग्यौ बाहर कलेस कौ कलाप उर-
 अंतर कौ^१ ताप छिन - छिन-ही नसति है ॥
 चल - दल पात^२ - सी^३ उदर पर राजी,
 रोंमराजी की बँनक मेरे मँन में बसति है ।
 रसरज स्याही सों लिखी है नीकी भौति, क्यों^४ हूँ
 माँनों जंत्र-पाँति घँन^५ अच्छरी लसति है ॥

अस्य तिलक

घनाच्छरी (घन-अच्छरी) छंद कौ नाम है ।

मुद्रा कौ दूसरी उदाहरन जथा—

‘दास’ अब को कहै बँनक लोल-नँन की,
 सारस, ममोला^६ बिन-अंजन हराए-री ।
 इन कौ तौ हास^७ वा के^८ अंग में अगिन-वास^९,
 लिलहीं^{१०} जु सारो-सुबा^{११} सिंधु बिसराए-री ॥
 परे वे अचेत, हरें^{१२} वै चित^{१३} सकल चेत,
 अलक भुजंगी डसे लोटँन-लुटाए-री ।
 भारत अकर करतूँन^{१४} निहारि लई,
 ताते^{१५} घँनस्याँम लाल तो ते बाज आए-री ॥

वि०—“दासजी कृत प्रथम उदाहरण में मुद्रांकित चिह्न रूप नायिका और घनाच्छरी छंद तथा द्वितीय उदाहरण में पत्नी-विशेषों का उल्लेख हुआ है, अतः मुद्रालंकार है ।

भारती-भूषण (केड़िया-कृत) में इस अलंकार का उदाहरण पं० अंबिकादत्तजी व्यास कृत बहुत सुंदर दिया गया है, यथा—

मेघ देस-देस नटखट आसा पूरि आए,
 कान्हर लै गूजरी हिंडोरे छवि-छाकी है ।

पा०—१. (वें०) (सं० पु० प्र०) की...। २. (का०) (वें०) पान...। ३. (वें०) (सं० पु० प्र०) से...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) काहू...। ५. (सं० पु० प्र०) घनाच्छरी...। ६. (का०) (सं० पु० प्र०) ओ खंजन बिन...। (वे०) सारस-खजन बिन...। ७. (का०) (वे०) (सं० पु० प्र०) हासौ...। ८. (सं० पु० प्र०) वाकौ...। ९. (का०) (वे०) (सं० पु० प्र०) बासौ...। १०. (का०) लाल-ही...। ११. (का०) सुक...। (वे०) (प्र०) सुख...। १२. (वे०) रहें...। १३. (का०) वै चित चेत सकल, अलक...। (वे०) वै सकल चित् चित्त...। १४. (सं० पु० प्र०) करतूँन जिन...। १५. (का०) (वे०) (प्र०) यातें...।

दीप-दीप भैरव भए हैं नारि-चूँन-सों,
 लजित सुहाई लीला सारंग-छटा की है ॥
 स्यामल तमाल-कोस-कोस लों कँमोद कीन्हों,
 'अंबादत्त' सोंहनी त्यों छाया बदरा की है ।
 कोऊ सुघरई सों श्रीकृष्ण कों जु पाऊँ तब-
 आली कल्याँन करि बहार बरखा की है ॥”

यहाँ “राग-रागिनी-नाम”—वर्ण-श्रुति के प्रतिपादक होने से मुद्रालंकार अति सुंदर बन पड़ा है ।”

अथ वक्रोक्ति लच्छन जथा—

व्यर्थ काकु ते अर्थ कौ, फेरि लगाबै तर्क ।
 ‘वक्र-उक्ति’ तासों कहें, जे बुधि-अबुज-अर्क ॥

वि—“जहाँ व्यर्थ ‘काकु’ और ‘तर्क’ से अर्थ लगाया वा समझा जाय, वहाँ विद्वज्जन “वक्रोक्ति” शब्दालंकार मानते हैं ।

वक्रोक्ति का अर्थ—“टेढ़ी-उक्ति” है । अतएव इस अलंकार में उक्ति की टेढ़ाई समझी वा दिखलाई जाती है । अर्थात् यहाँ किसी के कहे हुए वाक्य का अन्य (सुनने वाले के) द्वारा अन्यार्थ (दूसरा अर्थ) कल्पित किया जाता है । वक्रोक्ति में यों तो कहने वाला अनेकार्थवाची श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ को लेकर करता ही है, पर सुनने वाला उसका दूसरा अर्थ तात्पर्य के सहारे लगाता है । साथ-ही कभी—कभी अपनी बात कहने वाले के ढंग से वा स्वरो के प्रयोग से भी श्रोता उसका विपरीत अर्थ समझ लेता है । यह काकु-वक्रोक्ति कहलाती है । अस्तु, वक्रोक्ति के श्लेष और काकु से दो भेद हुए । यों तो संस्कृत-साहित्य में ‘श्लेष’ के सभंग और अभंग दो भेद और किये गये हैं, पर वे दोनों भेद दासजी ने नहीं माने हैं । शेष—श्लेष और काकु से संश्लिष्ट वक्रोक्ति के अतिरिक्त—शुद्ध वक्रोक्ति युक्त तीन ही भेद माने हैं और उनके उदाहरण भी दिये हैं ।

एक बात और, वह यह कि कोई-कोई ‘काकु वक्रोक्ति’ को अर्थालंकार मानते हैं, पर यहाँ कंठ-ध्वनि से ही उसकी अलंकारता है और कंठ-ध्वनि (शब्द) श्रवण का विषय है, इसलिये यह शब्दालंकार ही है । साथ-ही यह किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा कहे हुए वाक्य का अन्य व्यक्ति के द्वारा अन्यार्थ कल्पना किये

जाने पर—ही होता है। किंतु जहाँ अपनी-ही उक्ति में 'काकु' का प्रयोग किया जाय वहाँ "काक्वाक्षित गुणोभूत व्यंग्य" कहा जायगा—अलंकार नहीं।"

प्रथम उदाहरन जथा—

आज तौ तरुनि, कोप-जुत अवलोकियतु,
रितु-रीति है^१ है 'दास' किसलै-निदाँन जू।
सुमँन नहीं तौ^२ ये है-है देखौ घनस्याँम,
कैसी कहौ बात मंद-सीतल सुजाँन जू॥
सोंहैं करौ नैन हँमें आँनि नहिँ आवै^३ करि,
आँन की तौ^४ बूझौ आँन बिरही की आँन जू।
क्यों है दलगीर रहि गए कहुँ पीरे^५ पीरे,
एतौ^६ माँन - माँनऐं, जाँनें बागवाँन जू॥

दुतिय उदाहरन जथा—

कैसौ कहौ^७ कान्ह सो तौ होँ-ही खरौ एक अब,
सहसँन में जैसेँ एक राधा-रस भोजिऐ।
गहिऐ न कर, होत लाखँन कौ जाँन लाल,
चाहिऐ^८ तौ आपनों-हीं पदम^९-उभै दीजिऐ॥
नील के बसँन क्यों बिगारत हो वाहि^{१०} काज,
बिगरै तौ हँम पै बदल संख लीजिऐ।
देखतीं करोर बारी संगती हमारी हैं सो,^{११}
अरथी वारे हँम-संग संका कत^{१२} कीजिऐ॥

तीसरौ उदाहरन जथा—

लाल ए लोचँन काहे प्रिया हैं, दियौ^{१३} हं है मोहँन रंग मँजीठी।
मोते^{१४} उठी है जु बैठी अरीन की, सीठी क्यों बोलै, मलाई^{१५} लों मीठी॥

पा०—१. (वें०) दास हैहै किसलै..। २. (वें०) नहीं होँहैं हूँ क देखें घनस्याँम...। (सं० पु० प्र०) नहीं री तौ यह हूँ हें देखे घनस्याँम...। ३. (सं० पु० प्र०) नहिँ करि आवै...। ४. (वें०) आँन की बूझिय आँन..। ५. (प्र०) पीर एरी,...। (सं० पु० प्र०) ...दलगीर रहि खरौ एक अब सहस में...। ६. (वें०) एते...। ७. (वें०) कहैं...। ८. (वें०) (सं० पु० प्र०) वाहिऐ तौ आपनों पदम-हम..। ९. (प्र०) पद मोहि...। १०. (का०) (प्र०) वही...। (वें०) योही...। (रा० पु० का०) वेही...। ११. (का०) हैं, अरथी वारे...। (वें०) अरथी वारे...। (प्र०) (सं० पु० प्र०) है, अरथी...। १२. (का०) (वें०) कत...। १३. (का०) (प्र०) दिये...। १४. (वें०) मो तौ उठी है जु बैठी...। १५. (वें०) मिलाइ यों मीठी। (प्र०) मिलाइ ल्यों...। (श्रु० नि०) क्यों बोली, मिठाई लों...।

चूक कहौ किमि चूकति सो'- जिन्हें लागी रहै उपदेस-बसीठी ।
मूँठी सबै, जग^१साँचे^२ लला, यै मूँठी तिहारे-ही^३ पाग^४ की चोठी ॥*

वि०—“यहाँ भी दासजी चूक गये, वक्रोक्ति के तीनों उदाहरण आप से ठीक नहीं बन पड़े हैं। साथ-ही यह छंद ‘आपने’ अपने ‘शृंगार-निर्णय’ रस-ग्रंथ में ‘गुरुमान’ के उदाहरण में भी कुछ पाठ-भेद के साथ दिया है।

वक्रोक्ति के उदाहरण और खास कर चारों—प्रकार की वक्रोक्ति के उदाहरण ब्रजभाषा में कम ही मिलते हैं, क्योंकि यहाँ वक्रोक्ति शब्द-मूला है, अर्थ-मूला नहीं। फिर भी सुरति मिश्र-कृत एक उदाहरण और देखिये, यथा—

“खरी होहु बारी नैक, कहा हमें खोटी देखी,
सुनों बेंन नैक, सुतौ आँन ठाँ बजाइये ।
दीजै हमें दान, सुतौ आज न परब कछु,
गोरस दै, सो रस हँमारें कहाँ पाइये ॥
मही देहु हमें, सुतौ मही-पति-ही दै है कोऊ,
दही देहु, दही है तौ सीरौ कछु खाइये ।
‘सुरत’ कहत ऐसैं सुनि हँसि रीकै लाल,
दीन्हैं उर-माल सोभा कहाँ लगि गाइये ॥”

यह घटना-चित्र ‘ब्रज-दानी’ के दान-माँगने के समय की है। अतएव प्रीतम के कहे हुए प्रतिवाक्यों को, जैसे—खरी, बेंन, दान, गोरस, मही, दही शब्दों का श्री प्रियाजी द्वारा अन्य अर्थ—सच्ची, वेणु, दान, गोरस (इंद्रिय-रस), मही, पृथ्वी, दही (जलना) मान उत्तर देना शोभा-सागर है।”

“जो आँखें हों तो चश्मेगौर से औराके-गुल देखौ ।
किसी के हुस्न की शरहें, लिखी हैं इन रिसालों में ॥”

अथ पुनरुक्तवदाभास लच्छन जथा—

कहत लगै पुनरुक्त सौ, पै पुनरुक्त न होइ ।
‘पुनरुक्तवदाभास’^१तिहिं, कहत^२सकल कवि सोइ ॥

पा०—१. (शृ०नि०) हौ... २. (का०) (प्र०) (शृ०नि०) तुम... ३. (वें०) साँच... ४. (का०) सु... (वें०) तिहारि हू... (प्र०) तिहारेउ... (शृ०नि०) तुमारे हू... ५. (वें०) पाप... ६. (का०) पुनरुक्तवदाभास... (वें०) (प्र०) पुनरुक्तिवदाभास... ७. (का०) (वें०) कहैं...।

* शृंगार-निर्णय (मि०दा०) पृ०—६२, १८५—गुरुमान-धीरादि...।

वि०—“जहाँ कहते समय पुनरुक्त-सा लगे, पर पुनरुक्त न हो वहाँ कवि लोग “पुनरुक्तवदाभास (पुनरुक्त + वत् + आभास) मानते हैं ।”

संस्कृत-साहित्यकारों ने ‘पुनरुक्तवदाभास’ (विभिन्न आकारवाले शब्दों का वस्तुतः एक अर्थ न होने पर भी एक अर्थ जैसी प्रतीति) के— शब्दगत’ और ‘शब्दार्थ उभयगत’ दो रूप मानते हुए पुनः शब्दगत के भंग और अभंग नाम तीन भेदों का उल्लेख किया है । पुनरुक्त एक काव्य-दोष है, पर एक अर्थ वाले दो शब्द भिन्न आकार के होते हुए भी यदि कहीं एक-ही अर्थ में प्रयुक्त हों तो दोष है, किंतु जब यह दोष साधारणतः देखने से तो प्रतीत हो, पर वास्तव में वह भिन्नार्थों में प्रयुक्त होने के कारण उपर्युक्त-दोष-संयुक्त न हो, तब यह अलंकार बनेगा ।”

अस्य उदाहरन जथा--

अली, भँमर गुंजँन लगे, हौन लग्यौ दल-पात ।

जहँ-तहँ फूले बृच्छ-तरु, प्रिय पीतम कित जात ॥

वि०—“दासजी कृत यह उदाहरण सुंदर है । यहाँ --अली, भँमर, दल, पात, बृच्छ, तरु, प्रिय तथा पीतम भिन्नाकार होते हुए भी समानार्थी जैसे होने के कारण पुनरुक्त जैसे प्रतीति होते हैं, पर ऐसा न होकर वे अपने-अपने वास्तविक पृथक्-पृथक् अर्थों से सुशोभित हैं, इसलिये उक्त शब्दालंकार ही यहाँ कहा जायगा । पुनरुक्तवदाभास का निम्न-लिखित कवित्त भी सुंदर है, यथा—

“भृगु-लात पद हीय, पिय-बर राजत हैं,

मोरपंख पच्छ साजें मेरे मन भाबै है ।

राजै हार बँनमाल, आढ़ ते दिखाई देत,

‘कासिराज’ तँन-पर गोरज सुहाबै है ॥

हरे परे दोष साँझ-सँझ मैं बिहारी स्याँम,

ललित अरुँन अंग ताम्र कों लजावै है ॥

दच्छिन हरित हरे रंग-संग बलदेव,

कुंजर मतंग-दंत कंत धरें आबै है ॥”

एक बात और —जैसे ‘दास जी के उपास्य ग्रंथ’ काव्य-प्रकाश (संस्कृत) में दास जी मान्य इस उल्लास के “श्लेष, विरुद्धाभासादि में पहले वक्रोक्ति और बाद को श्लेष, पुनरुक्तवदाभास (६) नवै तथा विरोधाभास (विरुद्धाभास) का (१०) दसवें उल्लास में वहाँ उल्लेख किया गया है जहाँ काव्य के शब्दालंकारों का कथन है—वर्णन है । मुद्रा, वहाँ अप्राप्य है । अस्तु, उक्त अलंकारों का कथन और विवेचन करते हुए आचार्य श्री मम्मट ने प्रथम

श्लेष के स्थान पर वक्रोक्ति, पुनः श्लेषादि के स्वरूप, उनके भेद तथा परिभाषा विवेचन में काफी सूक्ष्म-बुद्ध का परिचय दिया है। यदि हम आपके विवेचना-नुसार वक्रोक्ति को लें तो वहाँ कहना होगा कि आप-द्वारा किया गया उसका निरूपण विशद अभिप्राय से भरा समास रूप में बहुत सुंदर है, क्योंकि वक्रोक्ति का विवेचन आचार्य भामह-कुंतक-आदि के मतानुसार गूढ़-हो नहीं, अति-गूढ़ है, जिसे विस्तार के साथ समझना-बुझना काव्य-मर्मज्ञों के लिये अति आवश्यक है। आचार्य मम्मट ऐसा नहीं मानते, वे उसे शब्दालंकार की एक भल्लक जैसी मानकर उसके शब्द-विच्छेदानुसार, जैसे—वक्र-उक्ति, वा उक्ति-वक्रता को शब्दालंकारों की एक चारु-चपलता मात्र ही कथन करते हैं और इस प्रकार वक्रोक्ति को वे, जिसे भामह-आदि आचार्य ने काव्य की आत्मा कह गये थे उसकी पुष्टि न कर—सूक्ष्म संकेत से-ही सही, उसे शब्दालंकारों के सीमित क्षेत्र में रख स्थान-भ्रष्ट-सा कर दिया है।

आपका श्लेष-निरूपण भी कोई नया नहीं है, वह भी रुद्रट-जन्य परिभाषा का-ही रूपांतर मात्र है। यों तो रीति-काल के प्राचीन शास्त्र-ग्रंथों में 'श्लेष' समंग-रूप से शब्दालंकारों में माना-ही गया है, फिर भी आचार्य रुद्रट ने कवियों को उसमें कविता करने का सुंदर आग्रह किया है। साथ-ही उद्भट के व्याख्याता 'प्रतिहारेंदुराज' ने श्लेष के प्रति अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है—“श्लेष शब्द-श्लिष्ट हो, वा अर्थ-श्लिष्ट, है वह अर्थालंकार, क्योंकि इसमें उपमादि अलंकारों की सुंदरता को द्विगणित करने को यथेष्ट क्षमता है।

संस्कृत-साहित्य-शास्त्राणां 'जनों की पुनरुक्तवदाभास' के प्रति यह मान्यता है कि सर्व प्रथम यह शब्दालंकार आचार्य श्री उद्भट जन्य है और उसकी विशद परिभाषा वाद के ग्रंथ 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' में की गयी है, यथा—

“पुनरुक्ताभासमभिन्नवस्त्वोभासिभिन्नरूप पदं पदम्।” —१, १,

इस से स्पष्ट जाना जाता है कि पुनरुक्तवदाभास में विभिन्न रूप दो पदों की एक अर्थ की प्रतीति में ही इसकी रूप-रेखा निहित है। यद्यपि उद्भट ने उक्त सूक्ति में यह स्पष्ट नहीं किया कि यह अलंकार अर्थ का है, शब्द का है वा उभयात्मक, वाद में श्री मम्मट ने अपनी गूढ़ समीक्षा-द्वारा इसे अर्थालंकार तो नहीं शब्द और उभयालंकार माना है। यही फैसला उद्भट के व्याख्याकार श्री राजानक का भी है।”

“इति श्रीसकलकलाधरकलाधरवंसावत्तंस श्रीमन्महाराज कुंमार

श्रीबाबूहिंदूपति बिरचिते 'काव्य-निरणय' श्लेषादिसब्दा-

लंकार बरनन नाम बिसतिमोखलासः ॥”

अथ इककिसिक्क उल्लास

चित्रालंकार वरनन जथा—

‘दास’ सुकबि-बाँनी थकै^१, चित्र-कबित्तन माँहिं ।
चमत्कार-हीनार्थ कौ, इहाँ दोष कछु नाहिं ॥

*

‘व’ ‘व’, ‘ज’ ‘य’, वरनन^२ जाँनिपे, चित्र-काव्य में एक ।
अरध - चंद कौ जिन करौ, छूटें लगै बिबेक ॥

*

प्रसन्नोत्तर-पाठांतरौ, पुँनि बाँनी कौ^३ चित्र ।
चारि लेखनी-चित्र कौ,^४ चित्र-काव्य है मित्र ॥

वि०—“दासजी ने इस उल्लास में चित्रालंकारों का विविध रूपों में वर्णन किया है । अस्तु, प्रथम आपका कहना है कि “चित्र-काव्य” में सुकवियों की वाणी भी थक जाती है । चमत्कार का अभाव एवं हीनार्थ-दोष यहाँ दोष नहीं रहते हैं.....। साथ-ही चित्र-काव्य में ‘व’ और ‘व’, ‘ज’ और ‘य’ समान माने जाते हैं तथा विंदु, अर्धचंद्र-विंदु का विचार भी नहीं होता इत्यादि....।

चित्रालंकार को संस्कृत-साहित्य में विशेष संमान नहीं दिया गया है । पंडित-राज जगन्नाथ भी इसके विरुद्ध हैं । वे कहते हैं—“इसे काव्य में स्थान देना ही अनुचित है ।” वहाँ एक प्रश्न यह भी है कि यह अलंकार शब्दालंकार में नहीं मानना चाहिए । कारण भी दिये हैं, पर जहाँ अमान्यता के कारण दिये हैं, वहाँ मान्यता की भी गहरी प्रस्तावना दी है । वे कहते हैं कि इस अलंकार में अर्थगत कोई उक्ति-वैचित्र्य नहीं रहता, साथ-ही पूरे शब्दों में चमत्कार भी नहीं, इसलिये यह अर्थालंकार तो नहीं हो सकता..... ? अपितु शब्दालंकार हो सकता है । अतः साहित्य-दर्पण (संस्कृत) में आचार्य विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं—“यद्यपि इस अलंकार के वर्णन उन-उन अलंकारों में लिखने के कारण ही चमत्कार पूर्ण होते हैं, फिर भी जो वर्णन श्रोत्राकाश के साथ संबंध होने के कारण—सुनाई देने पर चमत्कार पूर्ण ज्ञात होते हैं, उन आकाश-निष्ठ वर्णों के

साथ ये आकार-निष्ठ वर्णों का औपचारिक (लाक्षणिक) अभेद मान लेने से यह शब्दालंकार मानना चाहिये.....।” अर्थात् लिखित अक्षरों को वास्तविक शब्द तो नहीं कह सकते, पर वे शब्दों के ही संकेत होने के कारण लक्षण-द्वारा उनमें गौण-रीति से वर्णादि शब्दों का प्रयोग करने पर उसे शब्दालंकार-ही मानना उचित है (सा० द०-“हिंदी विमला” टीका पृ० १०७)। अर्थात्, यहाँ वर्ण प्रथक्-प्रथक् अपने-अपने स्थान पर लिखे जाने के कारण चित्रण-चमत्कार तो उत्पन्न करते ही हैं, साथ-ही वे पूर्ण शब्दों के अंश विशेष भी हैं, इसलिये इनका अभेद ही माना जाता है।

ब्रजभाषा के आचार्यों ने भी इसे गोरख-बंधे के जैसा कष्टकर माना है, फिर भी इसका वहाँ वर्णन मिलता है और खूब मिलता है। महाकवि केशव ने और उनके अनुकरण पर काशिराज ने अपने-अपने ग्रंथ—‘कवि-प्रिया’ और ‘चित्र-चंद्रिका’ में इस अलंकार का विशद वर्णन किया है। कवि की निपुणता और मनोरंजकता तो इसके प्रत्येक भेद में दिखलायी पड़ती ही है, साथ-ही इस अलंकार के उदाहरण निर्मित करने में कुछ कठिनाइयाँ हैं और उन्हें सुबोध करने के सुभाव भी, जैसा कि दासजी ने कहा है—

“बव, जय बगनँन जाँनिऐ’ चित्रकाव्य में एक।

अरघ चंद कौ जिनि करौ, छूटें लगै बिबेक॥”

अर्थात् इस अलंकार में ब, व, ज, य, र, ल, ड, ल में कुछ भेद नहीं होता। अनुस्वार, अर्धानुस्वार, विसर्ग, ह्रस्व, दीर्घ होने न होने की कुछ बाधा नहीं आती और अंध, बधिरादि दोष तथा गणागण का भी विचार इस अलंकार में नहीं किया जाता।”

अथ चित्रालंकार-नामादि बरनन जथा—

‘प्रस्नोत्तर’ चित्रित करे, सज्जँन सहित उमंग।

द्वै बिधि ‘अंतरलापिका’, ‘बहरिलापिका’ संग॥

*

‘गुप्तोत्तर’ उर-आँन के, ‘व्यस्त समस्त’ जँन।

‘एकानेकोत्तर’ बहुरि, नाग - पास पैहचँन॥

*

है क्रम ‘व्यस्त-समस्त’ पुनि, कमल-बंध-वत मित्र।

सुद्ध “गतागत” ‘सुखला’, नवँम जाँनिऐं चित्र॥

**अगणित अंतरलापिका यों बरनत कबिराइ ।
बहिरलापिका जान चर^१, छंद बाहरें पाइ ॥**

वि०—‘दासजी ने चित्रालंकार रूप—अंतरलापिका, बहिरलापिका, गुप्तोत्तर, व्यस्त-समस्त, अनेकानेकोत्तर, क्रम व्यस्त-समस्त, कमल-बद्ध, गतागत और सुख-लादि नौ प्रकार भेद मान पुनः ‘अंतर’ और बहिरलापिका के अनेक भेदों का उल्लेख किया है तथा उदाहरण—गुप्तोत्तर, व्यस्तसमस्तोत्तर, एकानेकोत्तर (अनेक कों का एक उत्तर), नागपासोत्तर, क्रमव्यस्तसमस्तोत्तर, कमलबंध, मृत्खलाबंध, चित्रोत्तर अंतरलापिका, बहिरलापिका, पाठांतर-चित्रोत्तर, लुप्तवर्ण, मध्यवर्ण-लुप्त, परिवर्तित वर्ण, निरोष्ठामत्त, अमत्त, निरोष्ठामत्त, अजिह्वावर्ण गत, वर्ण नियमित—एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह और सात वर्ण नियमितों के उदाहरण, लेखनी-चित्र, खड्गबंध, कमलबंध, कंकनबंध, डमरुबंध, चंद्रबंध, चक्रबंध, धनुषबंध, हारबंध, मुरुजबंध, पर्वतबंध, छत्रबंध, वृत्तबंध, कपाटबंध, मंत्रगति-बंध, अश्वगतिबंध, सुमुखबंध, सर्वतोमुख, कामधेनु और चरण-गुप्तादि अनेक चित्रालंकार-भेदों का वर्णन किया है । ‘दासजी ने ये सब भेद प्रश्नोत्तर चित्रालंकार के अभिन्न अंग मानकर प्रथम ‘गुप्तोत्तर’ चित्रालंकार का वर्णन किया है ।

प्रथम गुप्तोत्तर लच्छन जथा—

वाच्य-अंत^२ सन्दच्छलन, उत्तर देइ दुराइ ।

‘गुप्तोत्तर’ ता सों कहैं, सकल सुमति-सँमुदाइ ॥

वि०—“जहाँ वाच्यार्थ को छिपाकर शब्द-छल-द्वारा उसका गुप्त अन्यार्थ के सहारे उत्तर दिया जाय, वहाँ गुप्तोत्तर-अलंकार होता है ।

अस्य उदाहरन जथा—

सब तँन पिय बरन्यों अमित, कहि-कहि उपमाँ-बैन ।

सुंदरि भई सरोस क्यों, कहत कमल - से नैन ॥

अस्य तिलक

इहाँ नायिका ने “कमल-से” सन्द ते “कमल-से” = थोरी सोभावारे अथवा ‘क’ = जल, मल-से = कीच से “जल की कीच के समान” अर्थ मान के रोष कियौ, अर्थात् सरोस है गुप्त-उत्तर दियौ ।

पा०—१. (का०) (बै०) (प्र०) बहिरलाप जानों उतर...। २. (प्र०) वाच्यांतर...।

पुनः उदाहरन जथा—

सुत सपूत, संपत - भरी, अंग अरोग सुदार ।
रहै दुखित क्यों काँमिनी, “पिया” करै बहु प्यार ॥”

अस्य तिलक

इहाँ सखी के प्रश्न रूप “काँमिनी” इतनी-बात-होत-हू-सब सुख होत—
हू दुखी क्यों रहै कौ उत्तर दूसरी “पिया करै बहु प्यार” = पिय अनेक-स्त्रिन सों
प्यार कात है, यह गुप्त उत्तर दियौ ।

व्यस्त समस्तोत्तर—लच्छन जथा—

द्वै, त्रि,^१ बरननँन कादि पद, उत्तर^३ जाँनिय व्यस्त ।
‘व्यस्तसमस्तोत्तर’ वही, पिछलौ उतर समस्त ॥

उदाहरन जथा—

कोंन दुखद, को हंस - सौ, को पंकज - आगार ।
तरुन-जँनन कौ मँन-हरँन को करि चित्त-बिचार ॥
कोंन धरँ है धरनि कों, को गयंद - असवार ।
कोंन भमौनी^४ कौ जँनक, है—“परबत - सरदार ॥”

अस्य तिलक

इहाँ क्रम सों उत्तर—“पर, बत, सर, दार, परबत अरु परबत-सरदार =
हिमांचल” कहि सब में व्यस्त उत्तर एक पद—“परबत-सरदार” सों दियौ, याते
समस्तोत्तरव्यस्त” उत्तर दियौ ।

वि०—“दासजी ने यहाँ “समस्त-व्यस्त-उत्तर” रूप चित्रालंकार का वर्णन
किया है, अर्थात् संपूर्ण छंद-प्रयुक्त प्रश्नों का उसी छंद के पाद-द्वय के द्वारा भंग-
अभंग रूप से उत्तर प्रस्तुत किया है । जैसे इन दो दोहों में—“कोंन दुखी,
को हंस सौ, को पंकज-आगार, तरुन-जनों का मन हरने वाला कोंन, धरनि
(पृथ्वी) को कोंन धरे है, हाथी का असवार कोंन और भवानी (पार्वती)
का जनक (पिता) कोंन” । इन सात प्रश्नों का उत्तर दूसरे दोहे के अंतिम—
चरण—“परबत-सरदार” को भिन्न-भिन्न कर और बाद में समस्त पद जैसे—पर,
बत, सर, दार, परबत, परबत-सरदार से क्रमशः दिया है । यथा—कोंन दुखी,
‘पर’=शत्रु, हंस सा कोंन, बत = बतक (पत्नी विशेष), पंकज (कमल) का

पा०—१. (का०) (वें०) पीउ...। २. (का०) त्रै...। (वें०) (प्र०) त्रय...।
३. (का०) उतर जानिए...। (वें०) उत्तर जानिए...। ४. (सं० पु० प्र०) मृनाली...।

आगार (घर) कौन 'सर' = सरोवर (तालाब), तरुण जनों का मन हरने वाला कौन 'दार' = स्त्री (नव योवना), धरणी को कौन धर रहा है—पर्वत, हाथी पर सवार कौन—'सरदार' (विशेष व्यक्ति) और भवानी (पार्वती) का जनक (पिता) कौन—'परवत-सरदार' = हिमालय इत्यादि ।”

अथ एकानेकोत्तर लच्छन जथा—

बौहौत भौति के प्रस्न कौ, उत्तर-‘एक’ बखौन ।

‘एक-अनेकोत्तर’ वही, अनेकार्थ-बल जाँन ।

अस्य उदाहरन जथा—

बरा^१-जरौ, घोरा-अरौ, पौन-सरौ क्यों नारि^३ ।

हितू-फिरौ क्यों द्वार ते, “हुतो न फेरँन हारि” ।

अस्य तिलक

“अर्थात् कोऊ फेरनवारौ नाहि हुतो, यै सब कौ उत्तर दियौ ।”

वि०—“यहाँ भी दासजी ने अनेक प्रश्नों—बड़ा क्यों जला, घोड़ा क्यों अड़ा, पान क्यों सड़ा और हितू (रिस्तेदार) द्वार से क्यों फिरा—आदि चारों प्रश्नों का स्त्री-द्वारा एक-ही उत्तर—कोई फेरने (उलटने-पलटने) वाला न था” से दिलवाया है, अस्तु “अनेक का एक उत्तर” स्वरूप यह चित्रालंकार है । वहिलीपिका रूप ब्रज-साहित्य में यह सूक्ति इस प्रकार भी मिलती है, जैसे—

“पान सरै, घोड़ा अरै, बिद्या बीसर जाइ ।

जगरे मे बाटी जरै, या कौ अर्थ बताइ ॥”

यहाँ भी दासजी जैसे चार प्रश्न हैं, पर उत्तर प्रस्तुत नहीं है, वह बाहर है, वह—‘-गुरुजी फेरी नहीं’ रूप में कहा जाता है । अतएव बात वही है, पर कहने का ढंग निराला है ।”

कारौ कियौ बिसेस को, पावक कहा सभाग ।

का सो^४ रँग गौ भौर-पद, पंडित कहै--“पराग” ॥

अस्य तिलक

इहाँ पराग = पर + आग — सत्र, ललाई औ कँमल-धूरि अर्थ करि तीनों प्रस्नन कौ उत्तर दियौ ।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) माँन... २, (का०) (वें०) (प्र०) बरौ जरौ, घोरी अरौ... ३, (वें०) (प्र०) दार ... ४. (का०) (वें०) (प्र०) काहे... ।

पुनः उदाहरन जथा—

कैसी नृप - से'नाँ भली, कैसी भली न नारि ।
कैसौ' मग बिन-बारि कौ-“अति रजवती” बिचारि ॥

अस्य तिलक

इहाँ हू तीनों प्रस्नै—“कैसी नृप-से'नाँ भली (सुंदर), कौन-सी नारि न भली (अच्छी नहीं), औ बिना-बारि (जल) कौ मग (मार्ग) कैसौ कौ उत्तर “अति रजवती” तें दिगौ है । अर्थात् अति रजोगुन वारी नृप-से'नाँ भली (सुंदर), अति रजवती (रजस्वला) खो अच्छी नहि और बिना बारि कौ मग कैसौ—“अति रजवती”—(बहुत धूर बारौ) ।

अथ नाग-फाँसोत्तर चित्रालंकार—

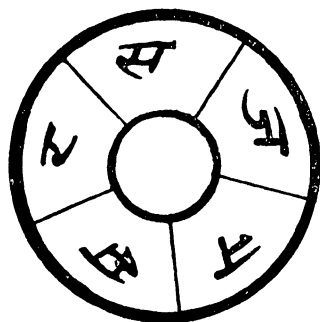
इक-इक अंतर तजि बरन, द्वै-द्वै बरन मिलाइ ।
'नाग-फाँस'^१-उत्तर वही^३, कुंडल सरस बनाइ ॥

अस्य उदाहरन

कहा चंद, को^४ स्याँम, छत्रिन कौ गुँन कौन कहि^५ ।
कहा संबतै^६ नाँम, पारसिक—बासी कहें ॥
कहा रहै संसार, बाँहन कहा कुवेर कौ ।
चाहें कहा भुवार, 'दास' उतर दिय-“सरसजँन” ॥

अस्य तिलक

“इहाँ एक - एक बरन “सरस-जँन” में ते छाँडि कें सब कौ उत्तर दियौ ।”



पा०—१. (का०) [वे०] [सं० पु० प्र०] कैसी मग बिन बारि की...। २. (का०) (वे०) ३. (प्र०) नागपास...। ४. (का०) (वे०) यही...। (प्र०) यहै...। ५. (वे०) में...। (प्र०) नेहा चंद को स्याँम...। ६. (का०) कहु...। ७. (का०) कह संबत कौ...।

वि०—“यहाँ दासजी ने “नाग-पास” चित्रालंकार-द्वारा “चंद क्या, श्याम, कौन, क्षत्रियों का गुण क्या, संवत को पारसी लोग क्या कहते हैं, संसार में क्या रह जाता है, कुवेर का वाहन क्या और राजा क्या चाहा करते हैं—इत्यादि प्रश्नों का उत्तर “नाग-पास” युक्त शब्दों में एक-एक वर्ण के अंतर से, अंत में संपूर्ण पद—“सरस जैन” से, जैसा ऊपर चित्र में दिया गया है—सस, रस, रज, सन, फिर उन्हें ही उलट कर जस, जन और फिर “सरस-जैन” द्वारा दिया गया है। जैसे चंद को क्या कहते हैं—सस (शशि), श्याम (काला) कौन—‘रस’ (शृंगार-रस), क्षत्रियों का गुण क्या—‘रज’ (रजोगुण), पारस-वासी संवत को क्या कहते हैं—‘सन’, संसार में क्या रहता है—‘जस,’ कुवेर का वाहन कौन—‘जन, राजा किसे चाहा है—“सरस-जैन” = सुंदर हृदय वाले नरों को ।”

क्रम समस्त-व्यस्त लच्छन जथा—

इक-इक बरँन बढ़ाई^१ कें, क्रम ते लेहु समस्त ।
यैहु ‘प्रस्तोत्तर’ जाँनिऐं, है^२ समस्त-क्रम-व्यस्त ॥

अस्य उदाहरन जथा—

कौन^३ विकल्पी बर्न, कहा बिचारत गँनक-गँन ।
हरि है कें दुख-हर्न, काहि बचायौ प्रसत-छँन ॥
कै वा^४ प्रभु औतार, क्यों वारें राई-लवँन ।
कौन^५ सिद्धि-दातार, ‘दास’ कह्यौ-“बारँन-बदँन” ॥

अस्य तिलक

इहाँ क्रम सों—“बा, बार, बारँन, बार नब, बार न बद और बारँन-बदँन कहि एक ही पद सों समस्त के क्रम सों उत्तर दिये ।

वि०—“अर्थात् विकल्प करने वाला वर्ण को न-सा-‘वा’, गणक (ज्योतिषी) गण (समूह) क्या विचारते हैं—बार (दिन), दुःख-हरण करने वाले हरि ने किसे प्रसते हुए बचाया—‘वारन’ (हाथी) को, भगवान ने कितनी बार अवतार लिया—“बार नब” (नौ बार), राई-लवण (नौन) क्यों उतारा जाता है—वारन-बद (दुःख हटाने के लिये) और सिद्धियों का देने वाला को न—बारँन-बदँन = श्रीगणेश इत्यादि से दासजी ने सबके उत्तर दिये हैं ।”

पा०—१, (का०) (वै०) (प्र०) बढ़ावते...। २. (का०) (वै०) (प्र०) सक्रम समस्त व्यस्त । ३. (का०) (प्र०) कवन...। ४. (का०) वौ...। ५. (का०) (वै०) (प्र०) कवन...।

अथ कैमल-बंध उत्तर लच्छन जथा—

अच्छर पढ़ौ समस्त कों, अंत-बर्न सों जोरि ।

‘कैमल-बंध’ उत्तर बही,^१ व्यस्त-समस्त बहोरि ॥

उदाहरन जथा—

कह कपीस सुभ-अंग, कहा उछरत बर-बागँन ।

कहा निसाचर-भोग, माघ में कौन^२ दौन भँन ॥

कहा सिंधु में भरौ, सेतु किँन कियौ को दुत्तिय ।

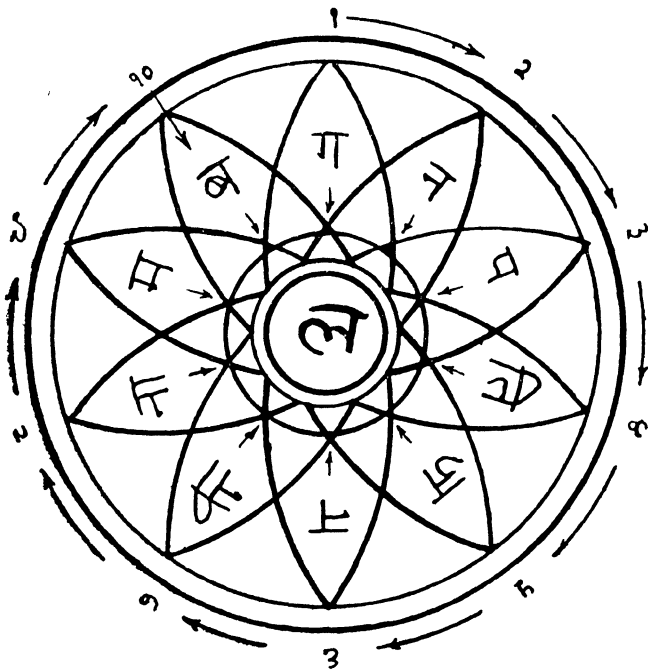
सरसिज-संकट किँतै^३, कहा लखि घृनाँ होत हिय ॥

किहिँ ‘दास’ हलायुध हाथ-धरि, मारथौ महा प्रलंब-खल ।

क्यों रहत सुचित सोबत^४ सदाँ, “गँनपति-जँननी-नाम-बल ॥”

अस्य तिलक

इहाँ “गँनपति-जँननी-नाम-बल” ते—‘गल, नल, पल, तिल, जल, नलनील,
नाल, मल, बल और गँनपति-जँननी-नाम-बल” सों सबके उत्तर दिये । यथा—



पा०—१. (प्र०) वहै... २. (का०) (दे०) (प्र०) बवन... ३. (दे०) (प्र०)
सरसिज किँतै संकट, ... ४. (दे०) (प्र०) साकत...

वि०—“दासजी ने इस ‘कमल-वद्ध’ चित्रालंकार से—कपि । (बंदर) का कौन-सा सुंदर अंग, सुंदर बागों में जल किससे उल्लुखता है, निश्चरों का भोग (खाद्य) क्या, माघ में किस वस्तु के दान का शुभ फल है, सिंधु (सागर) में क्या भरा है, से० को किन दो ने बाँधा, सरसिज (कमल) में संकट (कंटक) कहाँ होता है, किसे देखने पर घृणा होती है, किसने हलरूप आयुध हाथ में लेकर महाखल प्रलंब को मागा और शाक्त किस पर सुचिंत (भले प्रकार=निर्द्वंद्व) होकर सदा सोते हैं—इत्यादि का “गनपति-जैननी-नाम-बल” से, अर्थात् “गैनपति-जैननी-नामबल” के प्रत्येक अक्षर को मध्य अक्षर ‘ल’ से संबद्ध कर जैसे—‘गल, नल, पल (मांस), तिज, जल, नल, नील (बंदर), नाल, मल, बल (बलदेव) और गैनपति-जननी (पार्वती=दुर्गा) के नाम-बल के सहारे” से क्रमशः उत्तर दिये, जैसाकि ऊपर दिये ‘कमल’-चित्र से ज्ञात होता है । इस चित्र में प्रथम पंखड़ी के अक्षर ‘ग’ को कोष के ‘ल’ से संबंधित कर पुनः इसी प्रकार प्रत्येक पंखड़ी के अक्षरों को कोष-लिखित ‘ल’ से जोड़कर बाद को फिर प्रथम-पंखड़ी ‘ग’ से चलकर प्रत्येक पंखड़ी के अक्षर पढ़ते हुए कोष के ‘ल’ को पढ़ना चाहिये ।”

अथ सुखला-बंध उत्तर लच्छन जथा—

दु-द्वै^१ गतागत लेति चलि, इक-इक बर्न तजंत^२ ।

नाँम ‘सुखलोत्तर’ वही, होत समस्त जु अंत ॥

अस्य उदाहरन जथा—

छवि-भूषँन को, जप^३ को, हर को, सुर को, घर को, सुभ कौन रुती ।
किहिँ पाऐ^४ गुमाँन बढ़ै, किहिँ आँऐ^५ घटै, जग में धिर कौन दुती ॥
सुभ जन्म को, ‘दास’ कहा कहिए, बृषभाँन की राधिका कौन हुती ।
घटिका निस आज सु केती अली, किहिँ पूँजैगी—“नगराज-सुती” ॥

अस्य तिलक—

इहाँ “नगराज-सुती” सों नग, गन, गरा, राग, राज, जरा, जसु, सुज, सुती, तीसु और नगराज-सुती कहि सबकौ उत्तर सुखला-बंध सों दियौ ।

वि०—“दासजी ने इस छंद में अंतिम चरण—“नगराज-सुती” के द्वारा सुखलाबद्ध, अर्थात् दो-दो वर्णों के गतागत रूप से एक वर्ण को त्याग कर, संपूर्ण प्रश्नों के जैसे—भूषण-की छवि (शोभा) क्या, जप क्या, स्वर का हरण करने

वाला कौन, गृह को सुखद करने वाला कौन, गुमान किस को पाकर बढ़ता है और वह किस कारण घट जाता है, संसार में स्थिर क्या रहता है, शुभ जन्म क्या—या किसका, श्रीवृषभान की राधिका कौन थी, घड़ियाँ कितनी और किसे पूजना है—इत्यादि प्रश्नों के उत्तर “नगराज-सुती” के दो-दो अक्षरों को उलट-पलट कर जैसे—नग (रत्न), गन (समूह), गरा (गला), राग (प्रेम), राज (ऐश्वर्य), जरा (वृद्धवस्था), जसु (यश), सुज (अच्छे-आचरण वाला), सुती- (पुत्री), तीसु (संख्या-३०) और नगराज-सुती = पर्वतराज की कन्या पार्वती (नग = पर्वत, राज = मुख्य, सुती = पुत्री) से दिया गया है।”

दुतिय सृंखला-बंध कौ लच्छन जथा—

पैहली^१ गति चलि जाइये, अगति चलिअ पुनि व्यस्त ।
इहौ ‘सृंखलोत्तर’ गनों, पुनि गति-अगति-समस्त ॥

उदाहरन जथा—

को सुघर, कहा कीनीं लाज गँनिकॉन,
को पढ़ैया खग, मोहै^२ मृग कहा तपसी-बस ।
कहा नृप करै, कहा भू में विस्तरै,
कहा जुबा छबि-धरै, को है ‘दास’-नाँम, कै हैं रस ॥
जीतै कौन, कौन अखरा की रेफ, कै-कै कहा,
कहै कूर मीत^३, राखें कहा कहै^४ द्यौस दस ।
साधु^५ कहा गाबें, कहा कुलटा सती-सिखाबें ।
सब कौ उत्तर ‘दास’,- ‘जाँनकी-रबँन-जस ॥”

वि०—“इस सृंखलोत्तर चित्रालंकार-द्वारा भी दासजी ने पूर्ववत् विविध प्रश्नों का उत्तर छंद के अंतिम चरण-विभाग —“जाँनकी-रबँन-जस” से वही वरणों के गतागत द्वारा दिया है। जैसे—“सुघर कौन = “जाँन” (जानकार-सुजान), वेश्या ने लज्जा की? “न की” = नहीं को, पढ़ने वाला पत्नी कौन —“कीर”=तोता, मृग किससे मोहित होते हैं—“रब = तान-गान से, तपस्वी कहाँ बसते हैं—“बन” (जंगल) में, राजा क्या करता है—“नय”=न्याय, पृथ्वी पर किसका विस्तार होता है—“जस” (यश) का, युवकों की छवि किससे बढ़ती है—“सज”

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) पहिले गत चलि... २. (का०) (प्र०) मोहै कहा मृग, कहा तपी-बस । (वें०) मोहै काहे मृग, कहा तपी-बस । ३. (वें०) पीत... । ४. (वें०) '० पु० प्र०) कहि... । ५. (रा० पु० प्र०) साधू... ।

=शृंगार से—वनाव से, दास का नाम क्या—“जन”, रस कितने ? “नव”= नौ, विजयी कौन होता है—“वर”=श्रेष्ठ, रेफ किसे कहते हैं ? “र” कौ, करने को क्या कहते हैं—“कीन”. क्रूर मित्र किस बात को याद रखते हैं—“न जा”=दुश्मनी को, साधुजन किसे गाते (भजते) हैं—“जाँनकी-रबन-जस”, (जानकी-वर श्रीराम के सुयश) को, कुलटा सती को क्या सिख नाता है—“सजन= वर की न जा”=प्रीतम के पास न जा, उससे विलग रह ।”

चित्रोत्तर बरनन जथा—

जोई अच्छर प्रश्न कौ, उत्तर ताही-माँह ।

‘चित्रोत्तर’ ताकों^१ कहत, सकल कबिन के नाँह ॥

अस्य उदाहरन जथा—

कौन पराबँन देव^२-सताबँन, को लहै भार धरै धरती कौ^३ ॥
को दस ही मे सुन्यों जित^४ ठौरँन, कीनों^५ दसों दिगपालँन-टीकौ^६ ।
जाँनत आप कौ बृद^७ संमुद्र में, का में सरूप सराहिए^८ नीकौ^९ ।
का दरबार न सोहत^{१०} सूरँन, को^{११} पजरावत पुनन तपी कौ^{१२} ॥

वि०—“दासजी कृत यह उदाहरण “चित्रोत्तर” अलंकृत “अंतर्लापिका” (जिसका उत्तर उसी में छुपा हो) का उदाहरण है । अर्थात्, प्रत्येक पादांतर्गत प्रश्न का उत्तर उसी पाद के मध्य छिपा है । जैसे—“देवताओं को सताने” और भगाने वाला कौन ? “कोनप”=राक्षस, धरती का भार कौन लिये है — “कोल”=वाराह, दस कौन ? “कोद = दिशा, लोकपालों का तिलक (अग्रगण्य) कौन,—“कोविद”=ब्रह्मा, कौन अपने को (संसार) समुद्र में पड़ा मानता है—“जाँन”=जीव, किसका सुंदर रूप सराहनीय है—“कामे”=कामदेव का, सूखीरों के दरबार में कौन शोभा नहीं पाता है —“कादर”, तपस्वियों के पुण्य को कौन जलाता है—“कोप”=क्रोध । अस्तु, ये संपूर्ण उत्तर जैसे कि लिखे गये हैं—“कोन परा०”... , “को ल”“है०”... , “को दस०”... , “क विद”“सो०”... , “जाँनत०”... , “कामे”, “का दर”“बार०”... , “को प”ज-राव०... इत्यादि पदांशों के पूर्व भाग से दिये गये हैं ।”

पा०-१. (का०) (वें०) ताही कहें... २. (का०) दैव... ३. (वें०) (प्र०) को । ४. (वें०) जिन... ५. (प्र०) कोविद सौ ... ६. (का०) (वें०) (प्र०) को । ७. (प्र०) बद ... ८. (प्र०) सराहिए ... । (सं० पु० प्र०) सराहियौ ... । (रा० पु० नी० सी०) सुहाइये । ९. (का०) (वें०) (प्र०) को । १०. (का०) सोह न सरन... । (वें०) कादर बारन सोहन सरन... । ११. (वें०) (प्र०) कोप जरावत पुनन... । १२. (का०) (वें०) (प्र०) को ।

अथ बहिरत्नापिका जथा—

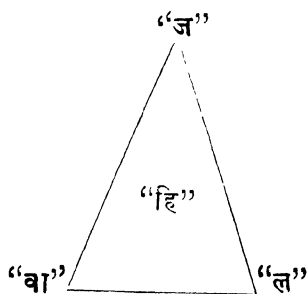
को गँन सुखद, कौन^१ आँगुरी^२ सुलच्छनी हैं,
 देत कहा घँन, कैसौ बिरही कौ^३ चंद है ।
 जारै को तुसारै^४, कहा लघु नाँम धारै,
 कहा नृत्य में बिचारै, कहा फाँद्यौ ब्याध फंद है ॥
 कहा है पचावै फूटे भाजँन में भात, कैसै^५ —
 बुलावै^६ कुस भ्रात, कहा वृष-बोल मंद है ।
 भूपै कौन भावै^७, खेलें खग कौन समें^८,
 प्रिया फेरै कहा^९ कहि, कहा रोगिन कौं बंद है ॥

वि०—“दास कृत यह चित्रोत्तर” — जिसके प्रश्नों का उत्तर छंद के अंतर्गत न हो—बाहर से आता हो, का उदाहरण है । छंद-गत प्रत्येक प्रश्न का उत्तर “त्रिकोण”—गत “जलवाहि”, जो बाहर से लिया गया है, के द्वारा दिया गया है । यथा—

खचि^१ ‘त्रिकौन जलवाहि^{११}’ लिख, पढ़ौ अर्थ मिल जोहि^{१२} ।

उतरु ‘सबतोभद्र’ यै, बहिरत्नापिका ओहि^{१३} ॥

वि०—“अर्थात् त्रिकोण-यंत्र लिखकर उसकी तीनों शिराओं पर—“ज, ल, वा” और मध्य (बीच) में “हि” लिखकर सर्वतोभद्र (जलवाहि को उलट-पलट कर) से उत्तर निकालना चाहिये, यथा—



पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) काहे ॥ २. (का०) (वें०) आँगुरी ॥ (प्र०) आँगुरी ॥ ३. (का०) (वें०) (प्र०) को ॥ ४. (का०) (वें०) जारै क्यों तुसारै, ॥ ५. (का०) (वें०) (प्र०) क्यों ॥ ६. (स० पु० प्र०) बुलावौ ॥ ७. (वें०) (स० पु० प्र०) भूपै भावै कौन ॥ ८. (प्र०) रावें ॥ ९. (का०) (वें०) (प्र०) कहि कहा ॥ १०. (का०) खेचि ॥ ११. (वें०) बल-वाहि लिखि ॥ (प्र०) दो खचि त्रिकौन जलवाहि ॥ १२. (का०) (वें०) (प्र०) ज्योहि ॥ १३. (का०) (वें०) (प्र०) योहि ॥

अस्तु, समूह को सुख दाता कौन,—“लहि” = अर्थ-प्राप्ति, किसकी उँगलियाँ अच्छी हैं—“वाज” = वाज पत्नी की, मेघ क्या देते हैं—“जल”, विरही को चंद कैसा लगता है—जवाल (सा) = अत्यंत दुखद, तुमार (पाले) को कौन जलाता—नष्ट करता है,—“जहि” = सूर्य, लघु (छोटा) नाम किसका ?—“वाय (वाहि) = वायु पवन, हवा का, नृत्य में क्या विचारणीय ? “लय” = धुन-आवाज, फंदे में व्याध किसे फसाते हैं—लवा (पत्नी) को, फूटे पात्र (वर्तन) में क्या लगाकर भात (चावल) पकाते हैं—“हिल = गोला आटा लगाकर, भाई को कुश (श्रीराम-पुत्र) क्या कहकर बुलाते हैं—“हिय” = प्यारे कहकर, बैल को बोली कब बंद होती है—“हिवाल” = शांत के समय, राजा को कौन सुहाता है—वात (वाल) = वाला, तरुणी-स्त्रियाँ, किस स्थान में पत्नी विहार करते हैं—“वाहिज” = शूय-एकांत स्थान में, प्रियतमा (स्त्री) पति से क्या कह कर बोलती है—“वाहि” = उनको, रोगियों को क्या बंद है—“जल-वाहि” = स्नान ।” यहाँ एक बात जैसा कि दासजी ने पूर्व में लिखा है और जो चित्रालंकारों में मानी जाती है, ध्यान में रखनी चाहिये । वह यह कि “ज” य और “य” ज यहाँ बराबर होता रहता है । इसी प्रकार ‘ब’ व, व, ‘व’ ।”

अथ पाठांतर चित्रालंकार लच्छन जथा —

बरँन-लुपै^१, बदलें, बढै, चमतकार ठैहराइ ।

सो ‘पाठोत्तर’^२ चित्र है, सुनों सुमति सँ मुदाइ^३ ॥

वि०—“जहाँ वर्ण का लोप कर—उसे बदल कर, अथवा बढ़ाकर चमत्कार पैदा किया जाय—ठहरा जाय, वहाँ ‘पाठांतर’ या ‘पाठोत्तर’ चित्रालंकार कहा जाता है । दासजी ने इस अलंकार के लुप्त वर्ण—आदि वर्ण-लुप्त, मध्यवर्ण-लुप्त और वर्ण-विपर्यय, अर्थात् उसे बदलकर रूप तीन उदाहरण दिये हैं ।

प्रथम बरँन-लुप्त उदाहरन जथा —

तँमोल-मँगाइ धरौ इहि बारी, मिलिबे की^४ जिय में रुचि भारी ।
कँन्हाइ^५ फिरँ कब^६ धों^७ सखि प्यारी, बिहार^८ की आज करौ अधिकारी ॥

अस्य तिलक

इहाँ प्रत्येक चरँन के आदि (प्रथम) कौ बरँन छाँड़ि कें पढ़िबे ते दूसरी अर्थ निकरै है ।

पा०—१. (ब०) लुपै...। २. (वै०) (प्र०) पाठांतर...। ३. (सं० पु० प्र०) सो पाठोत्तर चित्र है, सुनों...। बरन लुपै, बदलें बढे...॥ ४. (वै०। (सं० पु० प्र०) की है...। ५. (प्र०) कन्हाइ...। ६. (का०) (वै०) (प्र०) तब...। ७. (प्र०) लों...। ८. (का०) हार की...।

जथा—

“मोल मँगाइ धरौ इहि बारो^१, लोबे की^२ जिय में रुचि भारी ।
 न्हाइ फिरै कब^३ धों सखि प्यारी, हार की आज करौ अधिकारी ॥”

वि०—“दासजी का यह उदाहरण प्रत्येक चरण का प्रथम वर्ण लुप्त करने से विपरीतार्थक रूप एक दूसरा ही उपर जैसा छुंद बन जाता है ।”

अथ मध्य बरँन लुप्त कौ उदाहरन जथा —

मग में मिलबोई^४ भलौ, नहिँ^५ ‘बातुल’ सों लाल ।

नहिँ सँ ममथौ^६ दुहुँ सबद कों, मध्य लोपिए हाल ॥

अस्य तिलक

इहाँ “बातुल” बरँन में ते ‘तु’ मध्य कौ अच्छर लोप = निकार करि पढ़िबे ते “बाल” ते मग (मार्ग = रास्ते) में हीं मिलबौ भलौ” (सुंदर) है यै अर्थ होइ है ।

वि० — “दासजी के इस मध्य वर्ण-लुप्त के उदाहरण में “बातुल” के ‘तु’ रूप मध्य वर्ण को निकाल देने से—लोप करने से, उपर लिखा अर्थ प्रकट होता है । दूसरा अर्थ जो “तु” के लुप्त न करने से निकलता है, वह भी सुंदर शिक्षा-परक है—“बातुल” = विशेष बात बनाने वाले से मार्ग में मिलना उचित नहीं... इत्यादि ।”

अथ बरँन बदले कौ उदाहरन जथा—

साज सब जाकौ बिँन माँगे करतार देत,

परँम अधीस सब^७ भूमि थल देखिए ।

दासी-‘दास’ केते^८ कर लेत हैं सधरँम ते

सलच्छन, सहिँमत, सहरख अब रेखिए ॥

सील तँन सिरताज सखँन बढाएँ ज्यों

सकल आसै^९ साँच में जगत जस पेखिए ।

पा०—१. (का०) भारी...। २. (का०) लोबे की है जिय...। (वे०) लेबे की है...। (प्र०) लबे की...। ३. (प्र०) जब लों...। ४. (वे०) मत गमै मिलबौ...। (प्र०) मार्ग में मिलबौ भलौ...। (सं० पु० प्र०) मत मग माँ मिलबौ...। ५. (प्र०) तहिँ...। ६. (प्र०) सो है...। ७. (सं० पु० प्र०) बस...। ८. (सं० पु० प्र०—दि० प्र०) जेतै...। ९. (रा० पु० नी० सी०) आस...।

हिंदू पति-गुँन में जे गाए में 'सकार' ताकों—

बैरिन में क्रँम ते "नकार" कर लेखिए ॥

अस्य तिलक—

या कबित्त में 'स' अच्छर की ठौर पे 'न' अच्छर लगाइ के पढ़िबे ते उलटौ-
ही अर्थ होइ है ।

वि०—“संमेलन-प्रयाग की प्रति में ऊपर लिखा तिलक इस प्रकार मिलता है—“सकारन की ठौर 'नकार' करि पढ़े' दूसरी अर्थ । वन वड़े कौ पहिले वन लुप्त ही जानवी ।” अस्तु इन तिलकों और मूल छंद के कथनानुसार 'स' हटाकर 'न' स्थापित करने से इस छंद का नीचे लिखा रूप हो जायगा, यथा—

“नाज नव जाकों बिन मागें करतार देत,

परँम अधीन नब भूमि थल देखिए ।

दानी-दान केते कर लेत न धरँम ते,

न लच्छिन, न हिंमत, न हरख अबरेखिए ॥

नील तन निरताज नखँन बढ़ाएँ उयों

नकल आनं नाच में जगत जन पेखिए ।

हिंदू-पति-गुँन में जे गाए०.....॥”

अथ निरोष्ठ-मत्त-आदि चित्रोत्तर लच्छन जथा—

बरँनि 'निरोष्ठ-अमत्त' पुनि, होत निरोष्ठामत्त^३ ।

पुनि अजीह* नियमित बरँन, बाँनी-चित्रै तत्त ॥

*

छाँड़ि 'पवर्ग'-‘उ’-‘ओ’-बरँन, और बरँन सब लेहु ।

या कौ नाम 'निरोष्ठ' है, हिअ* न धरौ संदेहु ॥

वि०—“दासजी ने इन दो दोहों में—निरोष्ठ चित्रोत्तर, अमत्त (इ, ऊ, ए, ऐ—आदि मात्रा-रहित) चित्रोत्तर, निरोष्ठामत्त (जिसमें निरोष्ठ वर्णों के साथ मात्राएँ न हों) और 'अजीह' (अजिह्वा = जिसमें जोभ न लगे) चित्रोत्तर का वर्णन किया है । पहिले आप निरोष्ठ—जिसमें पवर्ग (प, फ, ब, भ, म) और 'उ' स्वर के बिना छंद निर्माण करने का उदाहरण देते हैं, यथा—

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) सकारे... २. (का०) (वें०) (प्र०) नकारे... ३. (वें०) निरुष्टा... ४. (का०) (वें०) (प्र०) अजिह्वा... ५. (वें०) इ... ६. (का०) हियौ धरौ निखदेहु । (वें०) हिऐ धर निःसंदेह । (प्र०) हिऐ धरौ निःसंदेह ।

अथ निरोष्ठ चित्रोत्तर उदाहरन जथा-

कौन^१ है सिंगार-रस ? जस ए सघन-घन,
 घन कैसे ? आनंद कीभ रजे^२ संचार ते ।*
 'दास' सरि देत जिन्हें सारस के रस^३-रसे,
 अलिन के गँन खँन-खँन तँन भारते^४ ॥†
 राधादिक नारिन के हिय की हकीकत
 लखें ते अचरज-रोति इनकी निहार ते ।‡
 कारे कौन्ह कारे-कारे तारे ए तिहारे जित-
 जाते^५ तित राते-राते रंग कर डारते ॥०

वि०—“दासजी के इस छंद में पवर्ग और उकार का प्रयोग नहीं है, इस लिये इसके उच्चारण में होसों का स्पर्श नहीं होता । निरोष्ठ चित्रालंकार का किसी कवि-द्वारा निर्मित यह नीचे लिखा दोहा भी सुंदर है, यथा—

“चंचल खंजन भ्रूखन से, दीह जलज - दल ऐन ।
 अनियारे असरीर के, तीर तिहारे नैन ॥”

अथ अमत्त चित्रालंकार लच्छन जथा—

एक अबरने^६ बरनिऐं, “इ^७, ई, उ, ऊ, ओ”—नाहिं ।
 ताहि ‘अमत्त’ बखानिऐं, सँमभौ निज मँन-माहिं ॥

अस्य उदाहरण जथा—

कँमल-नयन, पद-कँमल, कँमल-कर-अँमल-कँमल-धर ।
 सहस सरद-सस^८-धरँन, हरँन^९ मद लसत बदँन वर ॥
 रहत सतँन^{१०} मँन-सदँन, हरत^{११} छँन-छँन तत बरसत ।
 हर कँमलन सँम लहत^{१२}, जनँम-फल दरसँन दरसत ॥

पा०—१. (वें०) कन है सिंगार रस के करन, जस ये सघन...। (रा०पु०प्र०) (रा०पु०का०) कवन है सिंगार ...। २. (वें०) जे ...। ३. (स०पु०प्र०) रसे-रसे...। ४. (वें०) भार से । ५. (स०पु०प्र०) ...तित राते-राते रंग करि डारिते । * (स०पु०प्र०—द्वि०) संचारे हैं । † भारे हैं । ‡ निहारे हैं । ० जित-तित राते-राते रंग करि डारे हैं । ६. (का०) (वें०) औरनें...। ७. (का०) इ, उ, ये, औ कछु नाहिं । (वें०) र उ ये औ कछु नाहिं । (प्र०) इ, ऊ, ए, ऐ, औ नाहिं । (रा०पु०नौ०सी०) इ, उ—आदिक नाहिं । ८. (स०पु०प्र०) सम...। ९. (स०पु०प्र०) मदन-मद हरन लसत बदन वर । १०. (वें०) सजन...। ११. (वें०) (प्र०) हरख । १२ (वें०) हर कमल ज सम न लहत...। (स०पु०प्र०) हरख कमल बस लहत...।

तँन-सधँन-सजल-जलधर-बरँन, जगत-धबल जस बस करँन ।
दस^१-बदँन दरँन अँमरँन^२-बरँन, दसरथ-तँनय चरँनन^३-सरँन ॥*

वि०—“दासजी निर्मित इस छप्पय-छंद में संपूर्ण वर्ण मात्रा-रहित हैं ।
अतएव यह अमत्त-मात्रा-रहित का उदाहरण है । संस्कृत में इसे “अमृत्रिक”
कहा गया है ।”

अथ निरोष्ठामत्त लच्छन जथा—

पढ़त न लागै अधर औ^४ होइ अमत्ता बर्न ।

ताहि ‘निरोष्ठामत्त’ कहि, कहै^५ सुकवि मँन-हर्न ॥

अस्य उदाहरन जथा—

कहत रहत जस खलक सरद-सस-धरँन भलक-तँन ।

रजत अचल धर सजत, कँनक-धँन^६ नगँन सकल गँन ॥

जल अचरत^७ घँन सतँन^८ हरख अँनगँन घर सरसत ।

हुतँन अतँन^९ गँन^{१०} जतँन करत छँन दरसँन दरसत ॥

जल अँनघ^८ जरद अलकँन लसत, नयन अँनल धर गरल-गर ।

अँन-दरद-दरँन असरँन-सरँन, जय-जय-जय अघ-हरँन हर ॥

वि०—“दास जी वर्णित यह “निरोष्ठामत्त”—जिसके पढ़ने में अधरों का स्पर्श न हो और मात्रा-रहित हो का लक्षण और उदाहरण है । यह अमा-त्रिक (मात्रा-हीन) है और जैसा दासजी का लक्षण (मत) है, इसके उच्चारण में ओष्ठों का आपस में स्पर्श नहीं होता ।”

अथ अजीह (जिह्वा के घिना) को लच्छन यथा—

जिते बर्न ‘अ’-‘क’ बर्ग तित, और न आवै कोइ ।

ताहि ‘अजीह’^१ बखॉन-हीं, जिभ्या^२-चलित न होइ ॥

अस्य उदाहरन जथा—

खाइ^३ है घोअ, अघाइ है हीअ, गहा^४ गहै गोअ अहै कहा खंगा ।

है^५ है कही को है खै-खै से गोह के, गाहक खेह के खेह है अंगा ॥

पा०—१. (वे०) सब... । २. (स० पु० प्र०) औळ ढरँन... । ३. (का०) (वे०) (प्र०) चरन... । ४. (का०) (वे०) (प्र०) अरु... । ५. (प्र०) बरनत कवि मन... । ६. (स० पु० प्र०) घँन... । ७. (का०) (वे०) अरचत... । ८. (प्र०) सनत... । ९. (वे०) अनग... । १०. (स० पु० प्र०) घँन... । ११. (वे०) अन धर जरद अनकन... । १२. (का०) (वे०) (प्र०) अजिह... । १३. (का०) (वे०) (प्र०) जिह्वा... । १४. (वे०) पाइ है... । १५. (स० पु० प्र०) गह गाहेगी गोअ... । १६. (स० पु० प्र०) है-है कहा की कहा कहों खै-खै, प गाहक... ।

* भारती-भूषण (के०) पृ०—४६ ।

काहे^१ कों घाइ गहै अघ-ओघ कों. काग^२ की कीक किए^३ कंगा ।
गाइये गंगा, कहाइये गंगा, कहा^४ गहै गंगा, अहै कहै^५ गंगा ॥

वि०—“दासजी ने उपरोक्त दोहा लक्षण-रूप और सवैया उदाहरण रूप “अजहि”—जिसके उच्चारणों में जिह्वा (जीभ) का स्पर्श नहो, चित्रोत्तर लिखा है । इस संपूर्ण छंद के उच्चारण में जीभ का स्पर्श नहीं होता ।

अथ नियमित बरँन-चित्रालंकार लच्छन जथा—

इक-इक ते छब्बीस^६ लगि, होत बरँन-अधिकार ।
तदपि कछौ में^७ सात-ही, जाँन ग्रंथ-विस्तार ॥

वि०—“जिसमें संपूर्ण पद्य का एक-ही अक्षर के शब्दों से निर्माण किया जाय उसे “नियमित-वर्ण” चित्रालंकार कहा जाता है । दासजी ने यहाँ कहा है कि ऐसे “नियमित-वर्ण” के उदाहरण “छब्बीस” (२६) वर्णानुसार (व्यंजनों के अनुसार) हो सकते हैं, पर ग्रंथ-विस्तार के भय से केवल-सात (७) ही उदाहरण दिये हैं । ये उदाहरण एक अक्षर निर्मित, दो अक्षर निर्मित, तीन, चार, पाँच, छह और सात अक्षरों से निर्मित—नियमित हैं ।”

अथ एक बरँन नियमित कौ उदाहरन

ती तू ता^८ ते तीति ते, ताते तोते तीत ।
तोते, ताते, तत्ते^९, तीते तीता तीत ॥
अथ द्वै बरँन नियमित कौ उदाहरन

रौम रमाँ^{१०} रोरै रुरै, मुरि मुरि मेरी रारि ।
रौम-रौम मेरौ ररै, रामाँ-रौम मुरारि ॥

अथ तीन बरँन नियमित कौ उदाहरन

मँन-मौहँन मैहमाँ महा, मुनि मोहै मंन-माँहि ।
महा मोह में मै नहीं, नेह मोह में नाँहि ॥

पा०—१. (का०) (वे०) काहे कों घाइ है औ अघ-ओघ कों, ...। २. (सं० पु० प्र०) काका ककी की कहा किये ...। ३. (वे०) (सं० पु० प्र०) के-ही गहें ...। (प्र०) कही कहै गंगा ...। ४. (का०) (वे०) (प्र०) हाँ सात लों ...। (सं० पु० प्र०) कहे में सात लों, ...। ५. (का०) तीति ...। ६. (वे०) तो, तीतै ...। ७. (का०) (वे०) रोर मार रौ-रौ रुरै ...। (प्र०) रोर मार रौरै ...।

अथ चार बरँन नियमित कौ उदाहरन—

मैहैर निमोही नाह है, हरें-हरें मँन-मौन ।
मौन-मरोरै^१ मौनिनी, नेह-राह में हौन ॥

अथ पाँच बरँन नियमित कौ उदाहरन—

कँम लागै कँमला-कला, मिलै मेंनका कौन ।
नीकी में गल गौन कै, नीकी में गल गौन ॥

अथ छै बरँन नियमित कौ उदाहरन—

सदाँनंद संसार-हित, नासँन-संसै त्रास ।
निस्तारँन संसै^२ सदाँ, दरसँन दरसत 'दास' ॥

अथ सात बरँन नियमित कौ उदाहरन—

मधु मौस मेरी^३ परा धरा पग धारै माधौ,
सीरे-धीरे गौन सों सुगंध पाँन परिगौ ।
नीरें गै-गै पुँनि-पुँनि ररै न मधुर धुँनि,
मौनों मेरी रँमनो मधुप-सार^४ सरिगौ ॥
पागे मँन प्रेम सों न^५ नैम-सँम साधें मौन,
सिगरे परौसी^६ पापो धौम सों निसरिगौ ।
रोख-धरि गिरधारी मँन में^७ धँसे नारी^८,
सुमँन-धँनु-धारी सर^९ पँने-पँने सरिगौ ॥

वि०—“दासजी ने उपर्युक्त एक, (केवल 'त' व्यंजन), दो (र, म से) तीन (न, म, ह से), चार (न, म, र, ह से), पाँच (क, ग, न, म, ल से), छह (त, द, न, र, स, ह से) और सात (ग, घ, न, प, म, र, स से) व्यंजन-व्यवहृत के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं । इस प्रकार के उदाहरण आचार्य केशव ने कवि-प्रिया में और महाराज काशीराज ने 'चित्र-चंद्रिका' में अनेक दिये हैं । तत्पर्यों से दो उदाहरण यथा—

“लोल लाल लै लों लली, लोल लली-लों लाल ।

लोल लला लै ला लली, लोल लली लौ लाल ॥”

पा०—१. (सं०पु०प्र०) करोरै... २. (वे०) सजै... ३. (प्र०) सतन... ४. (का०) (प्र०) में-री । ५. (का०) (वे०) (प्र०) सारे... ६. (वे०) न माने समें साथे मौन । (सं०पु०प्र०) (प्र०)...सों मुनीसँन से... ७. (का०) परी-सी... ८. (सं०पु०प्र०) (प्र०) माँहि... ९. (का०) (वे०) न रो... १०. (प्र०)...धारी, पँने सर सरिगौ । (सं० पु० प्र०) ...सर पँनों पै निसरिगौ ।

“नौने - नेंनो - नेंन नें, नौ ने नुनी न नून ।
नानानन नें ना ननं, नाना नेंना नून ॥”

ये एक-एक अक्षर-द्वारा निर्मित उदाहरण हैं । श्री केशव-कृत छन्दोमयी अक्षर-संयुक्त उदाहरण भी दर्शनीय है, यथा —

“चोरी माखँन दूध ध्यौ, डूँदत हठि गोपाल ।
डरत न जल-थल भटकि फिरि, मगरस छुकि सों जाल ॥”

यहाँ कवर्गादि—क, ख, ग, घ, च, छ, ज, झ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, र, ल, स और ह, छन्दोमयी अक्षरों—व्यंजनों का प्रयोग किया गया है ।

अस्तु, दासजी ने यहाँ तक “वर्ण चित्रालंकारों” का और आगे “लेखनी-चित्रालंकारों (जिनका लिखने पर-ही बोध हो सके) का कथन किया है ।”

अथ लेखनी-चित्रालंकार वरनन जथा—

खरग, कँमल, कंकन, डँमरू, चंद, चक्र, धँनु, हार ।
मुरज, छत्र-जुत बंध बहु, परबत, वृच्छ किबार ? ॥

*

बिबिध गतागत, मंत्र-गति, त्रिपद, अश्व-गति जॉन ।
विमुख, सरबतोमुख बौहौरि, काँमधेनु उर - आँन ॥

*

अच्छर-गुप्त सँमेत हैं, लेखिन-चित्र अपार ।
वरनँन-पंथ बताइ मैं, दीन्हें ? मति - अँनुसार ॥

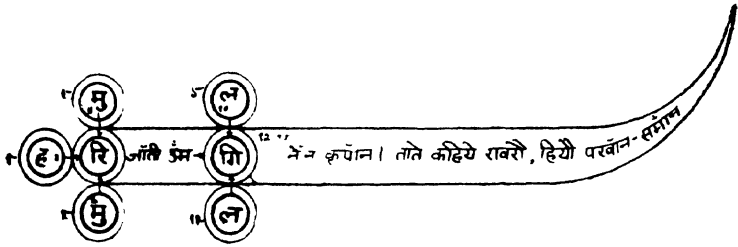
वि०—“दासजी ने जैसा ऊपर लिखा गया है, पूर्व में वर्ण-चित्रालंकार कह कर अब “लेखनी-चित्रालंकार” कहे हैं । ये लेखनी-चित्रालंकार—खड्ग, कमल, कंकण, डमरू, चंद्र, चक्र, धनुष, हार (आभूषण), मुरज, छत्र (छाता), पर्वत, वृक्ष, कपाट, गतागत (उलटा-सीधा), मंत्र-गति, त्रिपदि (तीन पादों से-ही चौथा पाद बनने वाला), अश्व-गति (घोड़े की तरह चपल-गति वाला), सुमुख या विमुख, सर्वतोमुख (अनेक प्रकार से बनने वाला), कामधेनु (एक से अधिक छंद बनाने वाला—इच्छित छंद निर्माता), चरण-गुप्त और मध्याक्षरी-लुप्तादि कथन करने के बाद चित्रालंकार की उसके विभेदों के सहित संख्या बतलायी है । संस्कृत और ब्रजभाषा के साहित्य-ग्रंथों में इनके अतिरिक्त और भी अनेक चित्रकाव्य-

रूप बंध मिलते हैं जैसे—‘गोमूत्रिका, दर्पण, मुष्टिका, हलकुंडली, चौकी, चामर (चमर) आदि...।’

प्रथम खरग-बंध चित्रालंकार जथा—

हरि मुरि-मुरि जाती उँमगि, जगि-लगि नैन-कूपॉन ।
ता ते कहिपे रावरौ', हियौ पखॉन - समॉन ॥

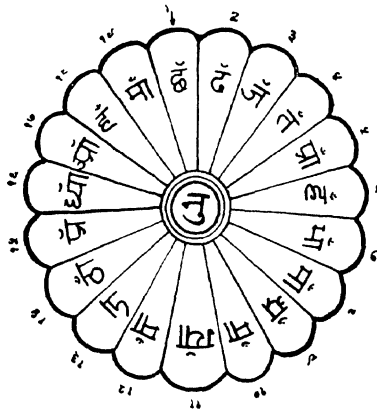
उदाहरन जथा—



अथ कैमल-बंध चित्रालंकार जथा—

छँनु, दँनु, जँनु, तँनु, प्राँनु, हँनु, भाँनु, माँनु, अँनु माँनु !
ग्याँनु, माँनु, जँनु, ठाँनु, प्रँनु, ध्याँनु, आँनु, हँनु, माँन ॥

अस्य उदाहरन



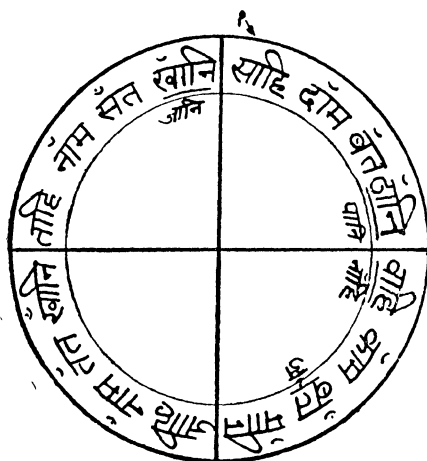
वि०—“यह उन्नीस (१६) पखड़ियों का कमल-पुष्प है, मध्य में कोष है ।
अस्तु प्रस्तुत चित्रानुसार प्रथम पखड़ी के “छँ” को कोष युक्त “नु” से मिलाकर

तदनुसार प्रत्येक पंखड़ी के अक्षरों—दूँ, जूँ, तूँ, प्राँ, हूँ, भाँ, माँ, औँ, मूँ, ग्याँ, माँ, जूँ, ठाँ, प्रँ, ध्याँ, आँ, हूँ और माँ को कोष के 'नु' से मिलाकर पढ़ने से ऊपर लिखा दोहा बन जाता है ।”

अथ कंकन-बंध चित्रालंकार जथा—

साहि^१ दाँमबंत ठाँनि, वाहि काँमबंत माँनि ।
जाहि^२ नाँमबंत खाँनि, ताहि नाँम सत जाँनि ॥

उदाहरन जथा—



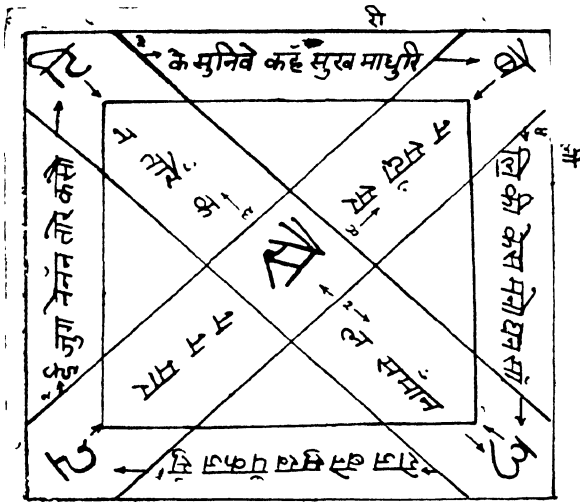
अथ डमरू-बंध चित्रालंकार जथा—

सौल-समाँन चरोज बने, मुख-पंकज सुंदर माँन नसै ।
सैनन मार दई जुग नैन की^३, तारे कसौटिन तारे कसै ॥
सैकरे ताँन टिके सुनिबे कँह, माधुरी^४ बेंन सदाँ सरसै ।
सैर सदाँ सँन बेलि^५ के केस, मँनों घँन साँउन मास लसै ॥

वि०—“उदाहरण रूप नीचे दिये गये चित्र के मध्य कोष्ठ में “सै” से १, २, ३, ४ अंकानुसार गतागत रूप से यह चित्रालंकार बनता है ।

पा०—१. (का०) (वे०) साहि दामबंत पानि, नाहि काम-अत मानि । २. (का०) (प्र०) वाहि नाम-तत खानि, नाहि...। (वे०) जाहि राम-तत खानि,...। ३. (का०) (वे०) (प्र०) जुग नैनन...। ४. (का०) (प्र०) माधुरि...। ५. (का०) (प्र०) बेलि की केस...।

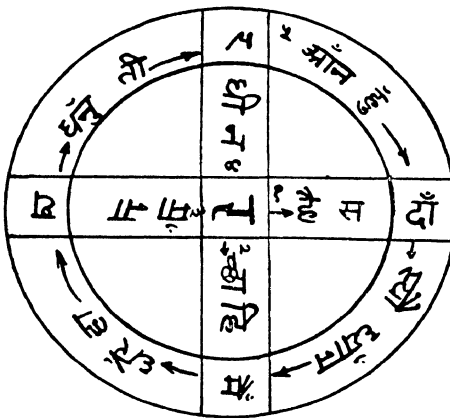
अस्य उदाहरन जथा—



अथ चंद-बंध चित्रालंकार जथा—

रहै सदाँ रच्छाहि में, रमाँनाथ रँनधीर ।
आँनों^१ दास्यौ^२ ध्यान में, धरें हाथ-धन-तीर ॥

अस्य उदाहरन

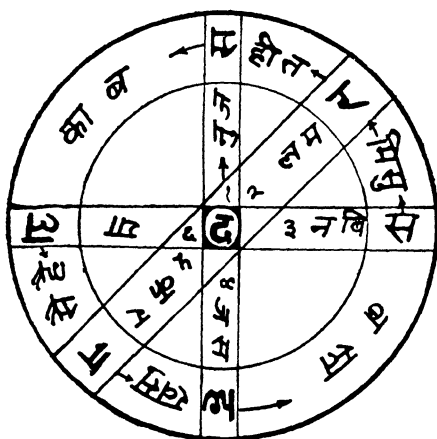


वि०—“इस चित्र के मध्य चतुष्कोण-स्थित ‘र’ से चारों दिशा में जाने, जैसे—१, रहै सदाँ, २—रच्छाहि में, ३—रमानाथ, ४—रैनधीर के उपरांत फिर ५ वें अंकानुसार संपूर्ण मंडल में पढ़ना चाहिए।”

अथ दुतीय चंद्र-बंध चित्रालंकार जथा—

दँनुज - सदल मरदँन बिसद, जस हृद करँन दयाल ।
लहै सैन सुख हस्त बस, सुँमिरत ही सब काल ॥

अस्य उदाहरन

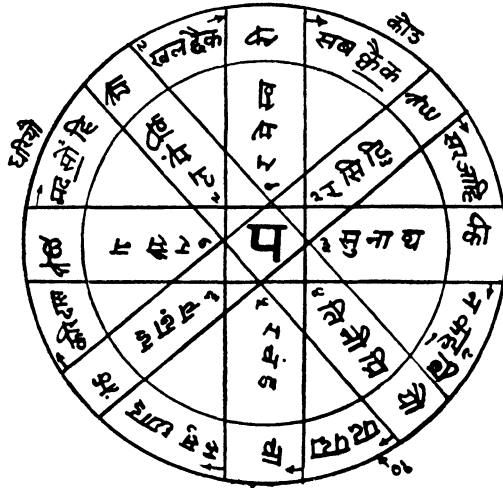


वि०—“ऊपर का चंद्र-बंध पंच (पाँच) दलात्मक, अर्थात् प्रथम अर्ध दोहे को चार दल बना द्वितीय अर्ध पूरा चंद्राकार (गोलाई) में पढ़ा जाने वाला था। यह (द्वितीय) सप्त (सात) दलात्मक है। यहाँ भी मध्य-चतुष्कोण स्थित ‘द’ को दोहे के प्रथम अर्धभाग के पाँच दल, यथा—१, दँनुजस, २. दल मर, ३. दन बिस, ४. द जसह, ५. द करँन, ६. द याल के बाद सातवाँ दोहे का अर्ध भाग उल्टा वाम पक्ष से तीर के संकेतानुसार—“लहै सैन सुख हस्त बस, सुँमिरत ही सब काल” पढ़ना चाहिये।

अथ चक्र-बंध चित्रालंकार जथा—

परमेस्वरी परसिद्ध है, पसुनाथ की पतिनी प्रियौ ।
परचंड चाँप-चढ़ाई कैं, पर-सैन छै पत्र में कियौ ॥

खल-छै करी सब कोउ कहैं, सरजाहि की न कहूँ बियौ ।
पद-पद्म चारु सु ध्याइकैं, करि 'दास' छै मद् सो हियौ ॥
अस्य उदाहरन



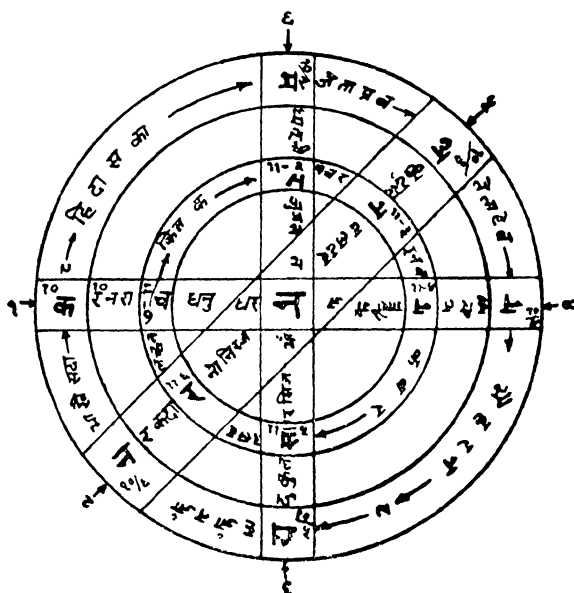
वि०—“दासजी कृत यह आठ आरात्रों का ‘चक्र-बंध’ चित्र-काव्य है। इन आठों के मध्यवर्ती कोष्ठक में ‘प’ अक्षर छंद-प्रयुक्त पूर्व के दो-चरणों का बार-बार और—“री, है, की, यौ, चाँ, कैं, छै” तथा ‘यौ’ चक्र के आरात्रों के अंतिम कोष्ठकों में जो बड़े टाइप से लिखे गये हैं दो बार प्रयोग के साधन हैं। अतएव अंक-क्रमानुसार इस ऊपर लिखे छंद को निम्न प्रकार पढ़ना चाहिये। १—(मध्यकोष्ठक के ‘प’ वर्ण से प्रारंभ) ‘प’ रमेश्वरी, २—‘प’रसिद्ध ‘है’, ३—‘प’-सुनाथ ‘की’, ४—‘प’तिनी प्रि-‘यौ’, ५—‘प’रचंड ‘चाँ’, ६—‘प’ चढ़ाई-‘कैं’, ७—‘प’रसेन ‘छै’, ८—‘प’-ल में कि ‘यौ’, ९—खल छै ‘करी सब कोउ क ‘हैं’, सरजाहि ‘की’ न कहूँ बि-‘यौ’। १०—पद-पद्म ‘चारु सु ध्याइ ‘कैं’, करि दास ‘छै’ मद् सो हि-‘यो’ इत्यादि।”

अथ दुतिय चक्र-बंध चित्रालंकार जथा—
कर-नराच धँनु धरँन. नरक बारुनों निरंजँन ।
जदु-कुल-सरसिज-भाँन, नईरित नगरौ गंजँन ॥

पा०—१. (का०) को...। २. (का०) छै म दसो हियौ । (वे०) छै म भरषी...। (सं० पु० प्र०) छै म-भरषी...। ३. (का०) (वे०) (प्र०) नैरित्य—नहरित नगारौ गज...।

लख्य दुबै-दल-दलै-न', मध्य तूनीर जुगल तैन ।
 चकित करै चर-नरैन, बैनक बर सरसन लच्छैन ॥
 कहि 'दास' काँम-जेता प्रवल, ते^३ ता देवैन भै-हरैन ।
 यह जाँनि जाँन भौखै सदाँ, कमल-नयन-चरनैन सरैन ॥

अस्य उदाहरन



वि०—, 'दासजी कृत यह द्वितीय चक्र-बंध का उदाहरण, छह आरा और दो चंद्राकार (गोल) आवृत्तों में बंधा हुआ है। इसके पढ़ने का क्रम-अंकानुसार इस प्रकार है। १—'क'-र नरा'च' धँनु धर-'न', २—'न'-रक दा-'र'-नों निरंज-'न', ३—'ज' (य)-दुकुल 'स'-रसिज भा-'न', ४—'न'-ईरित 'न'गरौ गंज-'न', ५—'ल'-ख्य दुबै-'न' दल-दलै-'न', ६—'म'-ध्य तूनी-'र' जुगल-तै-'न', ७—(मध्य चक्र) 'च'-कित क-'रै'न चर-'न' - रँनव-'न'क बर'स'-र' स-'र' लच्छैन, ८—(दूसरा चक्र अंक एक से) 'क'-हि दास काँ-'म' जेता प्रव-'ल', तेता देवै-'न' भै-हरैन, ९—(अंक तीन के 'य' (ज) से) 'य'-ह जाँनि

पा०—१. (का०) (प्र०)... दरन...। (वि०) लख्य दुबैन-दल-दरन...। २. (का०) (प्र०) सरस दर लच्छन। (वि०) (सं० पु० प्र०) सरस दरस छैन। ३. (वि०) नेता...।

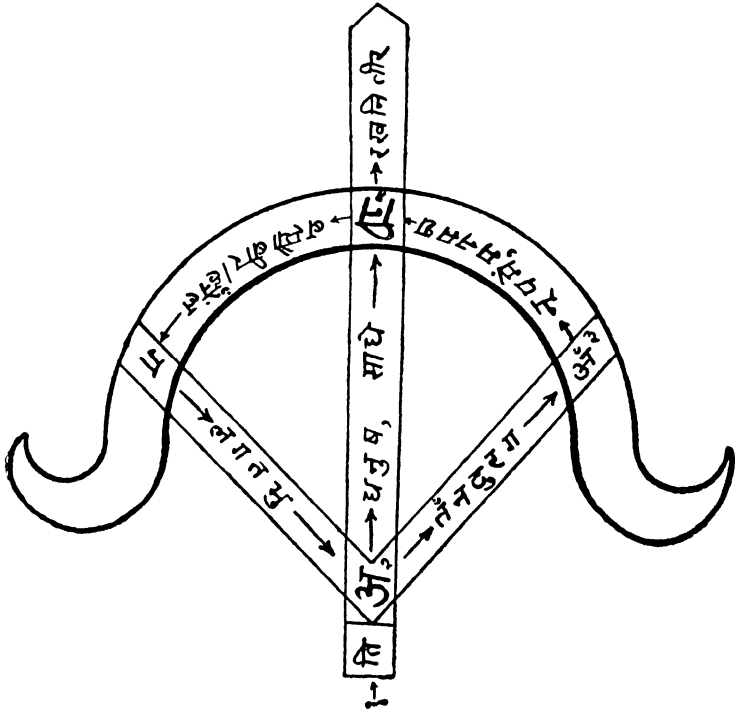
जौं-‘न’ भाखै सदाँ, १०—छहों आरात्रों के अंकक्रमानुसार आदि अक्षर—‘क’, ‘म’, ‘ल’, ‘न’, ‘य’, ‘न’, ११—(मध्यवर्ती चक्र के आरात्रों में विभक्त कोष्ठक के ७ वें अक्षर ‘च’ ‘र’ न, न स, रँ से प्रारंभ का और चक्र के मध्य ‘न’ अक्षर पर समाप्ति । यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि चक्र के मध्यवर्ती कोष्ठक में प्रयुक्त ‘न’ प्रत्येक आदि के चारों चरणों का अंतिम अक्षर है, गोले (चक्र) में विभज्य अंक एक से ‘क’ म (६), ल (५), न (४), य (३), न (२), तदनंतर मध्य चक्र अंक सात (७) के ‘च’ से प्रारंभ हो ‘र’ (११-२), ‘न’ (११-३), न (११-४), ‘स’ (११-५), र’ (११-६) और मध्यकोष्ठ के ‘न’ (११-७) पर समाप्ति है ।

अथ धैनुष-बंध चित्रालंकार जथा—

तिअ-तँन-दुरंग अनूप में, मँनमथ निवस्यौ बीर ।

हंनें लग^१ लगत भुँअ-धैनुष, साधे^२ निरखनि तोर ॥

अस्य उदाहरन

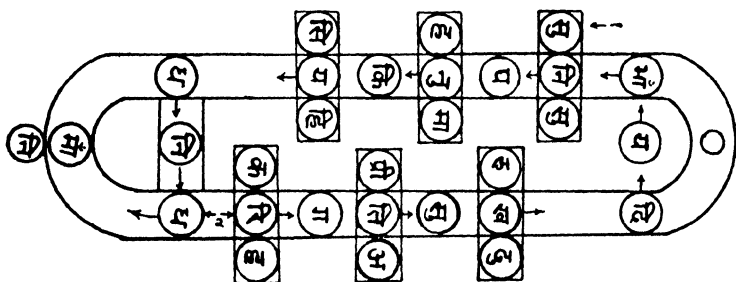


वि०—दासजी कृत इस धनुष-बद्ध छंद के पढ़ने का निम्न प्रकार है। धनुष, बाण और प्रत्यंचा (डोरी) रूप पाँच कोष्ठक हैं। उन में स्थित पाँच वर्ग—“ति, अ, अँ, नि, ग, हैं। अस्तु अंक एक के प्रारंभिक अक्षर ‘ति’ (एकवार), अ (दो वार) प्रथम, ति के साथ बाद में दोहे के तीसरे चरण के ‘भुँ’ के साथ, अँ (एकवार), ‘नि’ (दो वार, प्रथम, दोहे के प्रथम चरण रूप ‘नि’ बस्यौ में, दूसरे दोहे के अंतिम चरण ‘नि’-रखनि में) और ‘ग’ (एकवार) का प्रयोग हुआ है। अस्तु बाण के अंतिम अंग में लिखित ‘ति’ से प्रारंभ होकर उसकी (डोरी) स्थित ‘अ’ के साथ दक्षिणावर्त्ती रूप में घूमता हुआ धनुष की वाम प्रत्यंचा में बँधी ज्या के साथ आकर बाण के अंतस्थित ‘ति’ के साथ जुड़ने वाला ‘अ’ को फिर लेकर बाण के फल (ऊपर) की ओर धनुष के सहारे सीधा पढ़ा जायगा। “अर्थात् प्रथम बाण के निम्न भाग के दो अक्षर, दक्षिण भाग की आधी प्रत्यंचा (डोरी), इसके बाद दक्षिण भाग से ही प्रारंभ धनुष का अर्ध-चंद्राकार पूर्ण भाग, फिर वाम भाग की आधी प्रत्यंचा (डोरी) और उसका मध्यवर्त्ती अक्षर पढ़ कर पुनः शर के फल तक पढ़ना चाहिये।”

अथ हार-बंध चित्रालंकार जथा—

सुनि-सुनि पँनु हँनुमाँन किय, सिय-दिय धँनि-धँनि माँनि ।
धरि करि हरि गति प्रीति अति, सुख रुख दुख दिय भाँनि ॥

अस्य उदाहरन



वि०—“दासजी कृत यह हार-बद्ध छंद प्रत्येक तीन-तीन मणिकाओं के बाद एक-एक मणिकाओं के सहारे आगे हार रूप बढ़ता हुआ अंत में प्रथम तीन मणिका के मध्य की मणिका पर समाप्त होगा। अर्थात् अंक एक से क्रमशः

धूमता हुआ अंक नौ की प्रथम मणिका 'माँ' के बाद प्रथम अंक स्थित मध्यवर्ती मणिका के 'नि' अक्षर पर समाप्त होगा ।”

अथ मुरज-बंध चित्रालंकार जथा—

जैति जो जँन तारिनी, कीर्ति^१ जो बिसतारनी ।
सो भजौ प्रँन तारिनी, छोभ^२ जो जँन तारनी ॥

अस्य उदाहरन

जै ति	जो	जँन	तारनी
कीर्ति	जो	बिस	तारनी
सो भ	जो	प्रँन	तारनी
छो भ	जो	जँन	तारनी

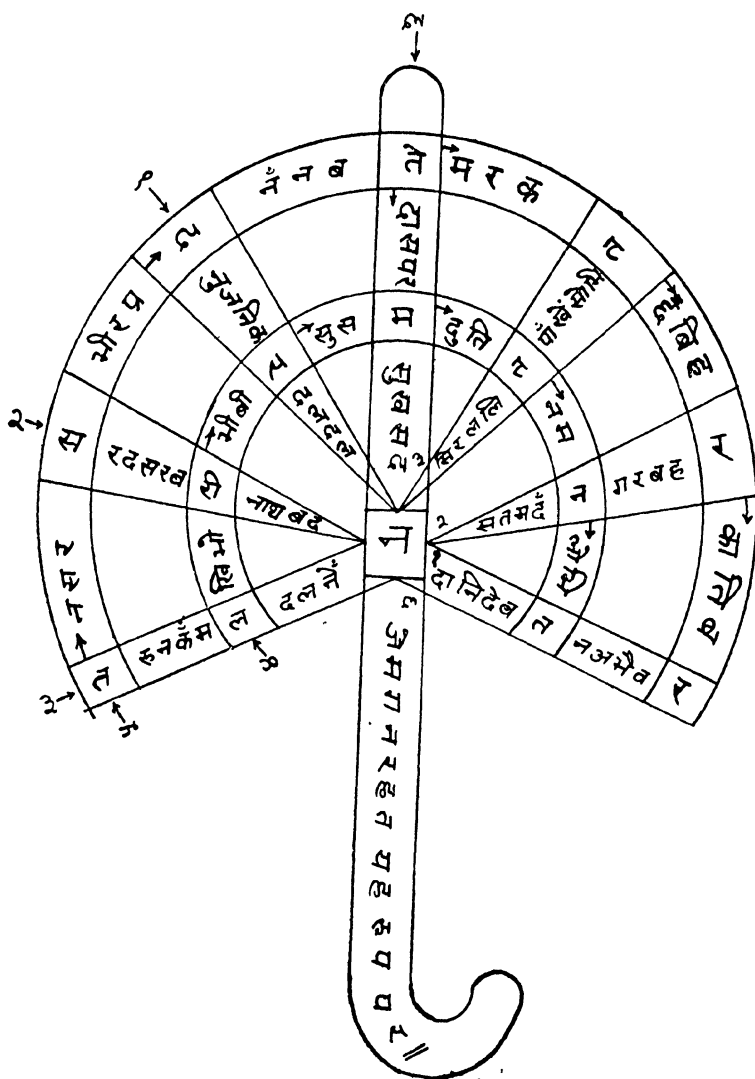
वि०—“मुरज संस्कृत-शब्द कोषों के अनुसार ‘मृदंग का नाम-भेद यथा—
मृदंगा मुरजाः भेदा०... (अ० को०—१, ५) कहा है । अस्तु उसके बजाने के गति-भेदानुसार यह पढ़ा जाता है ।

अथ छत्र-बंध चित्रालंकार जथा—

दँनुज-निकर^३ दल दलँन, दाँनि देवतँन अभैबर ।
सरद सरबरी नाथ, बदँन सत मदँन - गरब - हर ॥
तरुँन - कँमल - दल नँन, सिर ललित पाँखें^४ सोभित ।
लखि^५ भोरी भो^६ बीर, सु सँमुदित^७ तँन-मँन लोभित ॥
तँन सरस भीर^८ प्रदनँनबते, मरकत-छवि-हर कांति-बर ।
ते ‘दास’ परँम-सुख सदँन सत^९, मगँन रहत यह रूप पर ॥

पा०—१. (वे०) कांति... २. (का०) छो भजो... (स० पु० प्र०) सो भजौ जन तारिते...तारिते । ३. (प्र०) दनुजन-वर... ४. (वे०) (प्र०) पखे... ५. (का०) लड़ि... ६. (वे०) (प्र०) मोँ बीर... ७. (का०) (वे०) (प्र०) सुसम दुति... ८. (का०) भीर प्रदन नबह ते, मरकत-छवि हर कौ तिवर । (वे०) नीर प्रद न बहुते... (प्र०) नीर प्रदन बहुते... ९. (वे०) (स० पु० प्र०) जे...।

अस्य उदाहरन



वि०—“यह छत्र-बंध चित्र तीन ३=६ तूलिका, दो-आदि और मध्य संयुक्त ३ चंद्राकार तनाव और एक डंडी मिलकर नौ भागों में विभक्त है। इन ३ × ६ तूलिकाओं के संगम-स्थल में जो कोष्ठक है उसमें ‘न’ अक्षर विराजमान

हैं और वह तीनों चरण-गत अर्धाली (तूलिका) के साथ जुड़ा हुआ है। अस्तु, उसके पढ़ने का ढग अंकानुसार क्रमशः इसी प्रकार है। प्रथम चरण डंडी के वाम पक्षी पहली तूलिका अंक १ से चलकर डंडी के दक्षिण भाग में स्थित अंतिम, अर्थात् तीसरी तूलिका (तिल्ली) पर समाप्त होगा। दूसरा चरण भी डंडी के वाम-भाग-स्थित दूसरी (अंक-२ से) तूलिका से प्रारंभ होकर डंडी के दक्षिण भाग वाली दूसरी (अंतिम से पहली) तूलिका पर समाप्त होगा। इसी प्रकार तीसरा चरण—“तहँ न०...” वाम भाग की अंतिम (अंक—३) तूलिका से डंडी के दक्षिण भाग का प्रथम तूलिका पर समाप्त होगा। चौथा-चरण—“लखि भोरी०”... मध्य के चंद्राकार के अनुसार, पाँचवाँ चरण—“तैन सरस०”—प्रथम चंद्राकार (तनाव) के अनुसार और छठा चरण—“ते दास०” डंडी के अग्रभाग से प्रारंभ कर उसके पकड़ने के स्थान तक क्रमशः अंक—१, २, ३, ४, ५, ६, के अनुसार पढ़ा जायगा। यहाँ भी यह ध्यान रखना चाहिये मध्यवर्ती कोष्ठक स्थित ‘न’ की भाँति प्रत्येक तूलिका के आदि अक्षर—द, स, त और अर्ध भाग रूप उसके अंत अक्षर—र, र, त तथा उसके मध्य के तनाव (चंद्राकार) में स्थित तूलिकाओं के मिलन स्थान रूप—ल, री, र, भ, त, न, त, एवं बाहरी तनाव-स्थित तूलिका के आदि अक्षर—त, स, द, ते, त, र, र भी छंदगत शब्दों के आवागमन के प्रयोजक हैं।”

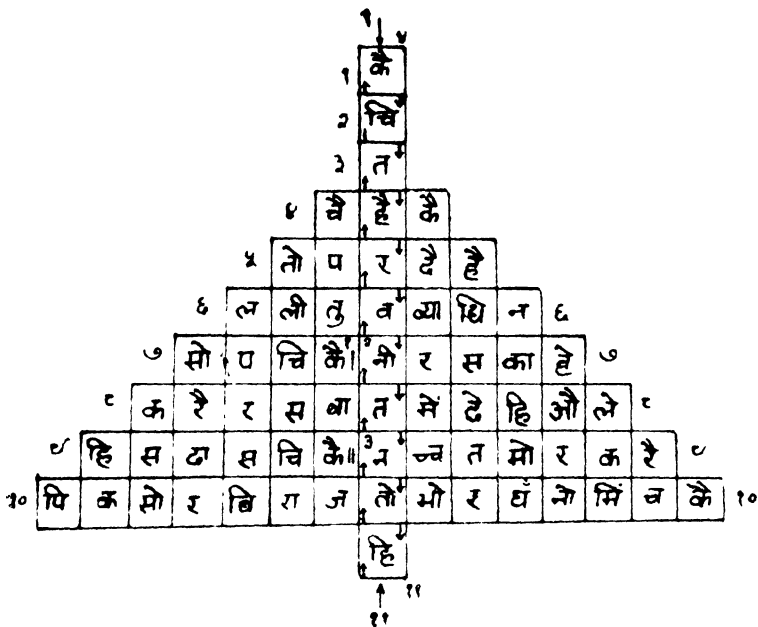
अथ परवत-बंध चित्रालंकार जथा—

कै चित चै है^१ कै तो पर दै है, लली तुब^२ ब्याधिन सों पचिकै ।
नीरस काहे करै रस-बात में, देहि औ लेहि सदाँ^३ सचिकै ॥
नचचत मोर, करें पिक सोर, बिराजतो भौर घँनों मचिकै ।
कै चित है रबनी तैन तोहि, हितौन तैनी^४ बर है तचिकै ॥

वि०—“यह पर्वत-बद्ध चित्रालंकार का शब्द-सौष्ठव है। इसे पढ़ते समय प्रथम अंक के नीचे वाले—१, २, ३ कोष्ठक, फिर ४ अंक के तीन कोष्ठक, फिर ५ अंक वाले पांच कोष्ठक, इसी प्रकार छह के सात, सात के नौ, आठ अंक के ग्यारह, नौ अंक के तेरह और दस (१०) अंक के पंद्रह कोष्ठक लिखित अक्षरों को क्रमशः पढ़ते अंत में अंक—११ से सीधे एक-एक कोष्ठक के अक्षर पढ़ते हुए छंद के चारों चरण समाप्त करने चाहिये।”

पा०—१. (वे) वैहै...। २. (वै०) जिय...। ३. (स० पु० प्र०) (वै०) (प्र०) सुखै ...।
४. (का०) नीबर है...।

अस्य उदाहरन—



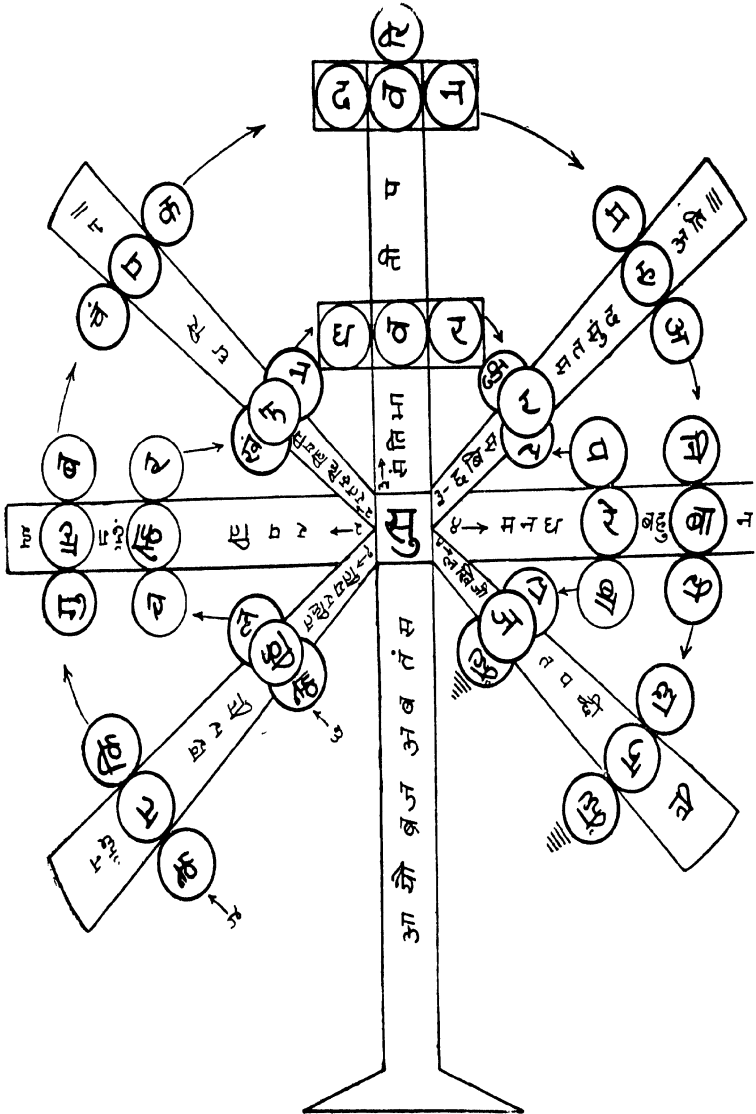
अथ वृच्छ-बंध चित्रालंकार जथा—

आए' ब्रज-अवतंस, सु तिय रहि तकि निरखत छँन ।
 सुरपति कों ढंग लाइ, सुर-तरु हि लिय निज धरि-पँन ॥
 सुसति भाँवती पबरि, सु छबि सरसत सुंदरि अति ।
 सुमन धरे बहु' बाँन, सु लखि जीजति पच्छो जति ॥
 केतिक, गुलाब, चंपक, दवँन, मरुअ, निवारी, छाज हीं ।
 कोकिल, चकोर, खंजन, धबर, कुरर, परेबा, राज-हीं ॥

वि० - “यह श्री दास कृत वृच्छ-वद्ध चित्रालंकार-युक्त छप्पय छंद है । इस वृच्छ में प्रथम स्थूल (जड़), अंक एक से सीधे मध्य के ‘सु’ अक्षर तक जाकर फिर ‘सु’ को प्रधान (शब्द का अग्रवर्ण) मान कर क्रमशः सातों—तीन वाम भाग में, एक मध्य में और तीन दक्षिण भाग में स्थित डालियों के आधे-आधे चरणों को पड़ते, फिर अंक ५ से चंद्राकार रूप तीन-तीन पत्रावलि में भूषित

अक्षरों को वाम से दक्षिण भाग तक और तदुपरांत अक्षर 'कु' को अक्षर पाँच के अनुसार पढ़ना चाहिए ।”

अस्य उदाहरन



अथ कपाट (किवार) बंध चित्रालंकार जथा—

भव-पति, भुव-पति, भक्ति-पति, सीता-पति रघुनाथ ।
जस-पति, रस-पति, राम-पति, राधा-पति जदुनाथ ॥

अस्य उदाहरन

१ भ व प	ति,	प स ज ६
२ भु व प	ति,	प स र ७
३ भ क्त प	ति,	प स रा ८
४ सी ता प	ति,	प धा रा ९
५ र घु ना	थ,	ना दु ज १०

वि०—“दासजी का यह ‘दोहा’ छंद ‘कपाट’ बद्ध है। कपाट में तीन वस्तुएँ प्रधान होती हैं, जैसे—“पट्ट (दो), ‘दिला’ (खाने, जिनकी संख्या ३ से पाँच तक होती है) और ‘बेनी’ (यह पट्ट-विशेष में ठड़े रूप से लगती है और दूसरे पट्ट को बाहर नहीं निकलने देती) जिसे आप तथा-लिखित चित्र में अंक-१, २, ३ में—१-३ पट्ट, २ बेनी द्वारा जान सकते हैं। अस्तु प्रत्येक पट्ट के दिला जिनकी संख्या यहाँ पाँच है बीच के बेनी रूप अंक—२ के नीचे वाले पाँच खानों में लिखित—ति, ति, ति, ति और थ लोम-विलोम से अंक-१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९ और १० अंकों में विभक्त—“भव-पति”, ‘भुव-पति’, सीता-पति, रघुना-‘थ’ बनकर छठवें अंकानुसार क्रमशः विलोम रूप से—जसप-‘ति’, रस प-‘ति’, रास प-‘ति’, राधा- प-‘ति’, जदुना-‘थ’ रूप आधा दोहा बन जाता है।”

अथ अरध-गतागत चित्रालंकार लच्छन

आधे - ही ते एक जँह, उलटौ - सूधौ ? एक ।

उलटें-सूधें ? द्वै कबित, त्रि-विधि ‘गतागत’ टेक ॥

पा०—१. (का०) (बे०) (प्र०) सीधौ,...। (सं० पु० प्र०) उलटे-सीधे...। (रा० पु०-का०) उलटे-सूधे...। २. (का०) (बे०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) सीधें...।

अस्य उदाहरन

दास मेंन न में सदा, दाग कोप पको गदा ।
सैल सोनँन सो लसै, सैन' दैत तदै नसै ॥

१	दा	स	में	न	२
३	दा	ग	को	प	४
५	सै	ल	सो	न	६
७	सै	न	दै	त	८

वि०—“दासजी ने इस “अर्ध-गतागत” चित्रालंकार का वर्णन करते हुए उसे आधे-आधे चरणों के लोभ-विभोभ से चार चरणों का छंद बननेवाला, उलटने-पलटने से एक-ही छंद, अर्थात् पूर्व चरण को उलट कर पढ़ने से नीचे का चरण और नीचे के चरण को उलटा पढ़ने से पूर्व का चरण तथा उलटा-सीधा दोनों से बनने वाला तीन भेदों का उदाहरण वर्णन दिया है । इस प्रथम उदाहरण में ऊपर दिये चित्रानुसार एक-एक चरण के उलटने से वही चरण, जैसे—“दास में न न में सदा” दास में न न में सदा” की भाँति छंद का प्रत्येक चरण बन जाता है ।

अथ दुतीय उलटौ-सूधौ उदाहरन

रही अरी कब ते हिएँ, गसी^२ सि निरखनि तीर ।
रतो निखर निसि-सी गएँ, हि^३ ते बकरी अहीर ॥

अस्य तिलक

या दोहा के ऊपर कौ तुक (प्रथम चरण) उलटौ पढ़िबे सों नीचे की तुक (चरण) और नीचे की तुक (चरण) कों उलटौ पढ़िबे सों ऊपर की तुक (चरण) बन जाय है ।

पा०—१. (वे०) से न दै, तत दै...। २. (सं० पु० प्र०) नहीं हैं निरखनि...। ३. (वे०) गएँ हितैव करी...।

पुनः उदाहरन

सखा दरद को री हरी, हरी को दरद खास ।
सदाँ अकिल बाँनें गँने, गँनें बाल किअ दास ॥

अस्य तिलक

इहाँ हूँ दोनों चरनँन कों उलटे पढ़िबे सों दोनों चरन बनें हैं ।

पुनः उदाहरन

रे भज गंग सुजाँन गुँनी, सु सुँनी^१ गुँन जासु गगंज भरे ।
रे तक ने अगलो लहि ने^२क^३, कनें हिल लोग अनेक तरे ॥
रे फ समोरघ^४ जाहिर बास, सबार हि जा घर^५ मो सफरे ।
रे खत पान-हि जोहिते^६ 'दास', सदा तेहि जोहि न पात खरे ॥

अस्य तिलक

इहाँ हूँ चारों चरनँन कों उलटौ पढ़िबे सों चारों चरन बिपरीत अर्थ में बनें हैं ।

अथ द्वै सों उलटौ-सूधौ जथा—

न जाँनत हुय^७-हि 'दास' सों, हँसौ कौन तन गैल ।
न^८ आँहिन यति दुरेब सों, रमोनत रब-रस सौल ॥

उलटौ जथा—

लसौ सरब तन मोर सों, बरे दुतिय नहि आँन ।
लगै न तन कों सौहँ सों, सदा हियहु तन जाँन ॥

वि०—“ऊपर का दोहा—“न जानत हुय०.....सीधा है और नीचे वाला दोहा उसी का उलटा (विपरीत) हुआ रूप है ।”

पुनः सूधौ-उलटौ यथा—

सीवन-माल-हि हीन जलै महि, मोहि दगौ अति है^९ तर लो ।
सीकर जी जरि हाँनि ठयौ, सु लयौ कबि 'दास' न चेत^{१०} पलो ॥

पा०—१. (का०) गुनीं... २. (का०) (वें०) (प्र०) नेकु कुनेहिल लोग... ३. (वें०) समोरध... ४. (वें०) धर... ५. (का०) (वें०) जो हित दास... ६. (का०) (वें०) जानत-हु यहि दास... ७. (का०) ना आहिन यति दुरब सौ... (वें०) ना आहिन पति दुरब सौ. रमो न त बरस... (प्र०) न आहिँ नयति दुरेब... (रा० पु० नी०सी०) ना आहि पति दुर बसौ... ८. (का०) (वें०) अति हेत रलो । ९. (का०) (वें०) (प्र०) चेत... १०.

सील न जाँनति भाँत बसार, दयाहि निरीखत^१ है न भलो ।
सांस जलायौ मलैज हूँ तें, यहि भीखमु जोन्ह न जाँन^२ चलो ॥

उलटौ जथा—

लोचन जाँनन्ह जो मुख भी, हिय तें हूँ जलै मयौ लाज ससी ।
लोभ न है न खरी निहिया, दरसाबत भाँतिन जान लसी ॥
लोपत चैन सदा बिक्रयौ, सुलयौ ठनि हारि जजीर कसी ।
लोरत है तिअ गोदहि मोहि मलैज नहीं हिल मान बसी ॥

वि०—“ये दोनों सवैया भी दास कृत सीधे-उलटे के उदाहरण हैं। प्रथम छंद उलटा है और दूसरा छंद, पूर्व के नीचे के चरण से उलटा पढ़ने पर बना है। अर्थ भी विपरीत है।”

अथ त्रिपदी चित्रालंकार लच्छन तथा—

मध्य चरन इक दुहुँ दलँन, त्रिपदी जाँनहुँ सोइ ।
वहै मंत्र गति, अश्व गति, सुद्ध सु जाहूँ^३ दोइ ॥

अस्य उदाहरन जथा—

‘दास’ चारु चित चाइ मइ, महै स्याँम छवि लेखि ।
हास हारु हित पाइ भइ, रहै काँम दवि देखि ॥

दा ^१	चा	चि	चा	म	म	स्याँ	छ	ले
स	रु	त	इ	इ	है	म	बि	खि
रहा	हा	हि	पा	भ	र	काँ	द	दे

वि०—“जब एक मध्य चरण से दोहे के दोनों दल (चरण) बनाये जाँय, वहाँ ‘त्रिपदी’ चित्रालंकार कहा जाता है। इस त्रिपदी चित्रालंकार से ‘मंत्रगति’ तथा अश्वगति-रूप से दो चित्रालंकार और बनते हैं। यह शुद्ध त्रिपदी का उदाहरण है।

संस्कृत-साहित्य में इस त्रिपदी को “चरण-गुप्त” कहा गया है। इसकी रचना जैसा कि उसका नियम है प्रत्येक दल (चरण) में सोलह-सोलह अक्षर होने

पा०—१. (का०) (वै०) (प्र०) निरीखन...। (वै०) ...न जाँनति भा तब सारद, याहि निरीखन...। २. (का०) (वै०) जात...। ३. (का०) (वै०) (प्र०) सु जाहूँ ...।

अस्य उदाहरण

सु बाँ नी	नि दाँ नी	त्रि डाँ नी	भ बाँ नी ।
द या लीं	क्रि पा ली	सु चा ली	बि सा ली ॥
बि रा जै	सु रा जै	ख ला जै	सु सा जै ।
सु चं डी	प्र चं डी	अ खं डी	अ दं डी ॥

अथ सर्वतोमुख चित्रालंकार जथा—

मारा रामु; मुरा रामा, रास जाँनि निजाँ सरा ।
राजा रबी, बीर जारा, मुनि बीसु सुबी निमु ॥

अस्य उदाहरण

१ मा	रा	रा	सु	सु	रा	रा	मा
२ रा	स	जाँ	नि	नि	जाँ	स	रा
३ रा	जा	र	बी	बी	र	जा	रा
४ सु	नि	बी	सु	सु	बी	नि	सु
सु	नि	बी	सु	सु	बी	नि	सु४
रा	जा	र	बी	बी	र	जा	रा३
रा	स	जाँ	नि	नि	जाँ	स	रा२
मा	रा	रा	सु	सु	रा	रा	मा१

वि०—यह दोहा-छंद के अक्षरानुसार चौंसठ (६४) कोठों (घरों) में एक-एक अक्षर लिखने से और किसी कोष्ठक-गत अक्षर से प्रारंभ कर पढ़ें, उपर्युक्त दोहा बन जायगा, अर्थात् पढ़ने में आयागा ।”

अथ कामधेनु-बंध चित्रालंकार लच्छन—

गहि, तजि प्रति कोठन बढे, उपजे छंद अपार ।

व्यस्त-समस्त, गतागतौ, कामधेनु-विस्तार ॥

अस्य उदाहरन

‘दास’ चहै नहि और सों यों, सब गूढ़ ए हैं जैन जाँन ररै सति ।
आस गहै यहि ठौर सों ज्यों, नब रुढ़ ए सै तैन प्राँन डरै अति ॥
बास दहै गहि दौर सों ह्यों, अब तूढ़ ए तै प्रँन ठाँन धरै रति ।
हास लहै वहि तौर सों प्यों, तब मूढ़ ए मै मँन माँन करै मति ॥

दास	चहै	नहि	और	सों	यों	सब	गूढ़	एहै	जैन	जाँन	ररै	सति
आस	गहै	यहि	ठौर	सों	ज्यों	नब	रूढ़	एसै	तैन	प्राँन	डरै	अति
बास	दहै	गहि	दौर	सों	ह्यों	अब	तूढ़	एतै	प्रँन	ठाँन	धरै	रति
हास	लहै	वहि	तौर	सों	प्यों	तब	मूढ़	एमै	मँन	माँन	करै	मति

वि०—“यह कामधेनु-बद्ध चित्रालंकार दासजी कृत १३+४—५२ कोष्ठकों (घरों) में विभक्त है । चित्र-गत कोष्ठकों में निहित अक्षरों को चाहे जिस कोष्ठक से—व्यस्त-समस्त रूप से, या गतागत क्रम से, जिस तरह इच्छा हो पढ़ो पूर्ण छंद बनता जायगा । इस प्रकार कोष्ठकानुसार इसके बावन (५२) छंद बनते हैं ।”

अथ चरँन-गुप्त चित्रालंकार जथा—

रो सखि, कहा कहीं छबि गुँन-गँन, अलिन बसायौ कौनन में ।
कौनन-तजि पुँनि दगँन बस्यौ ज्यों, प्राँनी विरमें थाँनन में ॥
कँम-कँम ‘दास’ रह्यौ मिलि मन सों, कढ़ै न बिबिध बिधानन में ।
लूटै ग्याँन सँमूहँन को अब “अमें बिहारो प्राँनन में ॥”

अस्य उदाहरन

*री,	स खि क	हा ^४	क हों छ	बि ^३
गुँ	न गँ न	अ	लि न्ह ब	सा
यौ	काँ न न	में। ^१	काँ न न	त
जि	पुँ नि द	गँ	न ब स्यौ	ज्यों
६ प्राँ	नी बि र	में ^२ ॥ ^४	थाँ न न	में ^२ ॥ ^३
क्रँ	म क्रँ म	‘दा	म’ र हयौ	मि
लि	म न सों	क	दौ न बि	बि
ध	बि धाँ न	न	में ॥३ लू टै	ग्याँ
न०	सँ मू हँ	न ^८	कों अ ब	अ ^१

वि०—“दास कृत इस चित्र-विधान में—“भ्रमें बिहारी प्राँनन में” रूप नौ अक्षर गुप्त है। अर्थात् हैं तो सही, पर साधारण दृष्टि से वे परे हैं। इन शब्दों को कोष्ठक में दिये गये अंकों—१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९ के सहारे जाना जाता है। अर्थात् जो ‘भ्रमें बिहारी प्राँनन में’ “रूप चरण गुप्त है, वह प्रकट हो जाता है।”

अभि^१ लाखा^२ करी^३ सदा^४ ऐस^५ नि का^६ होय^७ वृत्थ,^८

सब^९ ठौर^{१०} दिन^{११} सब^{१२} याही^{१३} सबौ^{१४} चर^{१५} चाँन ।*

लौभा^{१६} लई^{१७} नीचै^{१८} ग्याँन^{१९} चला^{२०} चल^{२१} हो कौ^{२२} असु^{२३}

अंतर^{२४} है क्रिया^{२५} प^{२६} ताल^{२७} निदा^{२८} रस^{२९} ही कौ^{३०} खान ॥

सेनापति^{३१} देवी^{३२} कर^{३३} प्रभा^{३४} गँन^{३५} ती^{३६} को^{३७} भूप,

पंना^{३८}, मोती^{३९}, होरा^{४०}, हैम^{४१}, सौदा^{४२} हास^{४३} ही कौ^{४४} जान ।

होय^{४५} पर^{४६} ॥ जीब^{४७} पर^{४८} बदे^{४९} जसु^{५०} रटे^{५१} नाँउ,

खगा^{५२} सँन^{५३}, नग^{५४} धर^{५५}, सीता^{५६} नाथ^{५७}, कौल^{५८} पाँन ॥

पा०—* (का०) (वे०) अभिलाखा कारी मंदा येसनि कामीय वृथ, सब ठौर दिन सब-याही...। † (प०) हलाहल...। ‡ (प्र०) सोभा गनती...। ॥ (प्र०) ही ऊपर, देव पर, बदे जस...।

अस्य तिलक

“या कवित्त-अंतर-बरँन, लै तुकंत है छुंड ।

दास-नाम, कुल-ग्राम कहि, राम-भक्ति-रस मंड ॥”

वि०—“दासजी कृत यह मध्याह्नरी-ग्रहण-बद्ध चित्रालंकार है, जिसमें आपका नाम, भाई का नाम, पिता का नाम, बाबा (पितामह) का नाम, प्रपिता-मह का नाम, देस और ग्राम का नाम एक-एक अक्षर छोड़ने से बनते हैं । जैसे—“भिखारी दास कायस्थ, बरन-वाहीवार, भाई चैनलाल कौ, सुत कृपालदास कौ, नाती बीरभान कौ, पंताती रामदास कौ, अरबर देसु, टेंउंगा नगर कौ” और जैसा अक्षर स्थित अंकों से ज्ञात होता है । एक बात और, वह यह कि यह ‘तिलक’ रूप दोहा केवल तीन—प्रतापगढ़ राज्य-पुस्तकालय, काशी राज्य पुस्तकालय और संमेलन प्रयाग की ही प्रतियों में मिलता है, अन्यत्र नहीं ।

अथ चित्रकाव्य-भूषण-संख्या कथन—

भूषण छयासी अर्थ के, आठ बाक' के जोर ।

तिगुँन चारि पुनि कीजिए, अन्नप्रास इक ठोर ॥

*

सब्दालंकृत पाँच गँनि, चित्र-काव्य इक पाठ ।

इकइस बातादिक सहित, ठीक सात-पर^२ आठ ॥

वि०—‘दासजी ने इन दोनों दोहों में ‘काव्य-निर्णय’ के अलंकारों की संपूर्ण संख्या का—योग उनके भेदादि छोड़ कर दिया है । यह संख्या उक्त दोहों के अनुसार एक सौ आठ (१०८) है । यथा—१, अर्थालंकार—८६, २, वाक्यालंकार—८, ३, शब्दालंकार—३, ४, अनुप्रास-लंकार—४, ५, शब्दालंकार—४, ६, चित्रालंकार—१, ७, रसवतादि अलंकार—१, संपूर्ण योग = १०८ । कुछ विद्वान् उक्त दोहों के पाठांतर मानकर काव्य-निर्णय प्रयुक्त अलंकारों की संख्या ‘१३२’ भी प्रस्तुत करते हैं, जो मूलग्रंथ से विपरीत है ।

सुसमृद्ध संस्कृत-रीति-ग्रंथों से लेकर ब्रजभाषा के साहित्य तक अलंकारों की संख्या भेदाभेद छोड़कर विभिन्न रही है । एकता किसी ने स्वीकार नहीं की ।

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) बाक्य... । २. (का०) (प्र०) सतोपरि... । (सं० पु० प्र०) सैंउ परि... । इकरस बातादिक सहित ठीक सतोपरि... ।

सभी ने अपनी-अपनी प्रतिभा के कारण इस क्षेत्र में जोर-अजमाई की है...। अस्तु, ब्रजभाषा में कुछ विशिष्ट विद्वानों—आचार्यों द्वारा मान्य संख्या इस प्रकार है, जैसे—आचार्य केशवदास ३७, भाषाभूषण-रचयिता महाराज जस-वंतसिंह (जोधपुर) १०४, मतिराम त्रिपाठी ६७, आपके भाई कविवर भूषण ६५, देव ३६.....इत्यादि । अन्य आचार्य जैसे—पद्माकर, ग्वाल, नवनीत-आदि के भी नाम लिये जा सकते हैं । इन महानुभावों ने भी अलंकार-संख्या में पार्थक्य का पल्ला नहीं पकड़ा है, सबने अपनी-अपनी राह अलग-अलग बनायी है । फिर भी दासजी मान्य संख्या सबसे अधिक है, यह निर्विवाद सिद्ध है । ज्ञात होता है आचार्य भिखारी दासजी ने अलंकार निदर्शन में—उसके शास्त्र के अध्ययन में गहरी दृष्टि से काम लिया है । आप अपने से पूर्व और पर सभी ब्रजभाषा-रीति आचार्यों से आगे बढ़ गये हैं । अलंकारों का आपने सुंदर विकास किया है—उन्हें संस्कृत के अलंकार शास्त्र-निष्णात आचार्य उद्भट के समान अपनी पैनी दृष्टि से निरख-परखकर एक निराली वेप-भूषा में प्रस्तुत किया है ।”

“इति श्रीसकलकलाधरकलाधरबंसावतंस श्रीमन्महाराज कुँमार
श्रीबाबूहिंदूपति विरचिते ‘काव्य-निरणय’ चित्र-काव्य-
वरनोननाम इकबिसतिमोव्त्तासः ॥”

अथ बाईसवाँ उल्लास

अथ तुक निरनै^१ बरनन जथा—

भाषा - बरनन में^२ प्रथम, 'तुक' चाहिये बिसेखि ।

उत्तम, मध्यम, अधम सो, तीन भाँति की लेखि ॥

*

सँमसरि कहूँ, कहूँ 'बिषमसरि', कहूँ कष्टसरि साज^३ ।

उत्तम तुक के होत हैं, तीन भाँति के राज^४ ॥

वि०—“दासजी ने इस उल्लास में 'तुकों' का—अंत्यानुप्रासों का कथन किया है। तुकों के प्रति आपका सबसे प्रथम कहना है कि 'भाषा-काव्य' में तुकें विशेषतायुक्त और सुंदर होनी चाहिये। आपने ये तुकें तीन प्रकार की, जैसे—उत्तम, मध्यम और अधम मानी हैं। उत्तम तुक के भेद भी आपने कहे हैं—समसरि, विषमसरि और कष्टसरि। इसके बाद आपने मध्यम तुक और उसके भेद—असंयोग-मिलित, स्वर-मिलित, दुर-मिलित और अधम तुक तथा उसके भेद जैसे—अमिल, सुमिल, आदि मत्त अमिल, अंत मत्त अमिल, बताते हुए अंत में 'वीप्सा', 'याम' और 'लाटि' तुकों का कथन कर इस उल्लास को समाप्त किया है।

संस्कृत-साहित्य ग्रंथों में तुकों का नाम—अंत्यानुप्रास विपर्यय रूप से उल्लेख किया गया है, यथा—

“व्यंजन चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु ।

आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादंत्यानुप्रास एव तत् ॥”

—सा० द० १०, ६

अर्थात्, प्रथम स्वर के साथ-ही यदि यथावस्थ व्यंजनों की आवृत्ति हो तो उसे “अंत्यानुप्रास” कहते हैं। यह नाम करण इसका पदांत में होने के कारण पड़ा है। वहाँ इसके भेद —“सर्वात्य^१, समांत्य-विष्रमांत्य^२, समांत्य^३, विष्रमांत्य^४

पा०—१. (स पु० प्र०) भेद...। २. (का०) (वें०) (प्र०) कौ...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) राज । ४. (का०) (वें०) (प्र०) साज ।

सम-विषमांत्य* और भिन्न-तुकांत्य** मिलते हैं। दासजी कृत तुकों के भेद-उपभेद इनके अंतर्गत आ जाते हैं। यथा—

१—जिस रचना के चारों चरणों के अंत्याक्षर समान हों। २—जिस रचना के सम से सम और विषम से विषम अंत्याक्षर हों। ३—जिस रचना के सम चरणों के अंत्याक्षर मिलते हों, पर विषम चरणों के नहीं। ४—जिस रचना के विषम चरणों के अंत्याक्षर एक सदृश हों, सम चरणों के नहीं। ५—जिस रचना के प्रथम चरण के अंत्याक्षर द्वितीय चरण के अनुसार और तृतीय के अंत्याक्षर चतुर्थ के अनुसार हों। ६—जिस रचना के सम-विषम पदों के अंत्याक्षर न मिलते हों,—प्रति पद का अंत्य विभन्न हो इत्यादि उक्त सर्वांत्यादि तुक कही गयी हैं। साथ-ही इस भिन्न तुकांत के—“प्रतिपद भिन्नांत्य, पूर्वाद्ध तुकांत्य और उत्तराद्ध तुकांत्य” भेदों का भी उल्लेख मिलता है, जो भाषा साहित्य में नहीं है।

उद्-साहित्य में तुक का जिसे वहाँ ‘काफिया’ कहते हैं ब्रजभाषानुसार सुंदर प्रयोग किया जाता है। वहाँ काफिये के साथ ‘रदीफ’ का भी उल्लेख किया गया है। उदाहरण के लिये काफिया जैसे—यार, तैयार बेजार, दो-चार नाचार—इत्यादि और रदीफ—“वैठे हैं” जैसे—यार वैठे हैं, तैयार वैठे हैं, दो-चार वैठे हैं, नाचार वैठे हैं—आदि। यह रदीफ काफिये के बाद रहता है और कभी बदलता नहीं, ज्यों का त्यों रहता है। ब्रजभाषा-साहित्य में भी इसकी बहुतायत है, जैसे—गहत है, चहत है, कहत है, रहत है”। इसमें गहत-चहत-इत्यादि काफिया और ‘है’ रदीफ है।”

प्रथम ‘समसरि तुक का उदाहरन जथा—

फेरि-फेरि हेरि-हेरि करि-करि अभिलाख,

लाख-लाख उपमा बिचारत हैं कैहने।

बिधि-ही मनाबें^१ जो घँनेरे दृग पाबें, तौ-

चँहत याहि संतत निहारत-ही रहँने ॥

निमिष-निमिष ‘दास’ रोझत-निहाल होत,

लूटे^२ लेति मानों लाख-कोटँन के लैहने।

एरी बाल, तेरे^३ भाल-चंदन के लेप आगे,

लोपि जात औरँन^४ जराँन के गैहने ॥*

पा०—१. (वें०) मनाव...। २. (सं० पु० प्र०) लूटि...। ३. (सं० पु० प्र०) तेरी...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) और के...। (सं० पु० प्र०) (शृ० नि०) और के हजारन के...

* शृ० नि० (भि० दा०) पृ० ८६, २६३।

अस्य तिलक

इहाँ चारों—“कैहने, रैहने, लैहने” और “गैहने” समान हैं, तीन-तीन अच्छर्रन कीं एक सी तुक हैं, ताते यै ‘सँमसरि’—बराबर की तुक भई ।”

दूजौ बिषमसरि तुक काँ उदाहरन जथा—

कंज सँकोचि^१ गड़े रहें कीच^२ में, मीनन बोरि दए^३ दह नीरँन ।
‘दास’ कहैं मृग हूँ न^४ उदास कै, बास दियौ है अरन्थ गँभीरँन ॥
आपुस में उपमा-उपमेइ हूँ^५ नैनन^६ निंदत है कवि धीरँन ।
खंजन-हूँ कोँ उड़ाइ दियौ^७, हलके^८ करि दीने^९ अंनंग के तीरँन ॥

अस्य तिलक

इहाँ तीन ‘तुक’—“नीरँन, धीरँन औ तीरँन” तीन-तीन अच्छरन की अरु एक तुक—“गँभीरँन” चारि अच्छर की है बे सों “बिषमसरि” तुक भई ।

वि०—“दासजी कृत यह छंद ब्रजभाषा-साहित्य में उच्चकोटि का माना जाता है। फलस्वरूप सभी नये-पुराने संग्रह-कर्त्ताओं ने अपने-अपने संग्रहों में जैसे—शृंगार-निर्णय (भिखारी दास) पृ०-१८, नखसिख-हजारा (हफ़ीजुल्लाह-खाँ) पृ०-१६७, सुंदरी-तिलक (भारतेन्दु) पृ०-२६२, सुंदरी-सर्वस्व (पं० मन्नालाल) पृ०-२१, कविता-कौमुदी (रामनरेश त्रिपाठी) प्रथम भाग पृ०-४०४, शृंगार-लतिका-सौरभ (ददुवा साहिब-अयोध्या) पृ०-१६७, आँख और कवि गण (जवाहरलाल चतुर्वेदी) पृ०-६७, काव्य-कानन (राजा चक्रधर सिंह) पृ०-१७ इत्यादि अनेक ग्रंथों के नाम दिये और लिखे जा सकते हैं। वास्तव में यह छंद सुंदर है, ब्रजभाषा-साहित्य की शोभा है ।”

पा०—१. (सु० ति०) (सु० स०) सकोचे...। २. (न० सि० ह०) (सु० ति०) (सु० स०) कीचन्ह, मीन...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (सु० ति०) (न० सि० ह०) दयो—दियौ...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) (शृ० नि०) (सु० ति०)...मृग हूँ कोँ उदास...। ५. (रा० पु० नी० सी०) हैं ...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) (शृ० नि०) (सु० ति०) नैन ए...। ७. (सु० ति०) (सु० स०) दए...। ८. (वें०) हलकौ...। ९. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) दीन्हों...।

तीसरी “कष्टसरि” तुक उदाहरन जथा—

सात धरी-हूँ नहीं बिलगात, लजात औ^१ बात-गुँने^२ मुसकात हैं ।
तेरी-सों खात-हों लोचँन रात हूँ, सारस-पात हूँते^३ सरसात हैं ॥
राधिका माधौ उठे परभात हैं, नैन अघात हैं, पेखि प्रभात हैं ।
आरस गात-भरे अरसात^४ हैं, लागि^५-सों-लागि गरें गिरि जात हैं ॥

अस्य तिलक

इहाँ—“मुसकात, सरसात, प्रभात, जात” इन चारों तुकँन में “प्रभात” तुक “कष्टसरि” है, कारँन ये हूँ पदते आयौ ताते “कष्टसरि” ।

अथ मध्यम-तुक बरनन जथा—

असंजोग-मिलि, सुर-मिलित, दुरमिल तीन प्रकार ।

मध्यम-तुक ठैहराव ते, जिनकी^१ बुद्धि अपार ॥

वि०—“दासजी ने इस लक्षण-द्वारा ‘मध्यम तुक’ के—“असंजोग-मिलित, सुर-मिलित और दुर्मिल तीन भेदों का कथन किया है तथा इनके उदाहरण-ही नहीं, तिलक-द्वारा व्याख्या भी की है ।”

प्रथम असंजोग मिलित तुक कौ उदाहरन

मोहिँ भरोसौ जाँउगी, स्याँम-किसोरै व्याहि ।

आली मो अखियाँ न-तरु^२ इती न रहिती चाहि ॥*

अस्य तिलक

इहाँ—व्याहि कौ समान बरनी तुक “व्याहि” चाहिएँ, पै वैसौ नाहीं, अर्थात् व्याहि-समान ‘चाहि’ नाहीं, ताते असंजोग मिलित तुक मध्यम है ।

सुर-मिलित तुक कौ उदाहरन जथा—

कछु हेरँन के मिस हेरि उतै, बलि^१ आए कहा हौ महा बिष-बै ।

हग वाके भरोखँन-लागि रहे, सब देह-दही बिरहागँन^२ तै ॥

पा०—१. (प्र०) (वें०) (प्र०) सों ०१ २. (सं० पु० प्र०) ही में ०३ ३. (सं० पु० प्र०) सों ०४ ४. (सं० पु० प्र०) अंगराज ०५ ५. (रा० पु० नी० सी०) लाजि ०६ ६. (वें०) (सं० पु० प्र०) जिनके ०७ ७. (रा० पु० नी० सी०) आँवियाँ न-तरु ०८ ८. (सं० पु० प्र०) चलि ०९ ९. (का०) (प्र०) बिरहागिनि में तै । (सं० पु० प्र०) बिरहागि में तै ।

* भारती-भूषण (के०) पृ०—३७०।

कहि 'दास' बरैती^१ न एती भली, सँभभौ बृषभौन लली बह हैं ।
खरी भाँबरी होत चली तब ते, जब ते तुँम आए^२ हौ भाँबरी दै ।

अस्य तिलक

इहाँ तुकांत में सुर (स्वर) “ऐ” कौ मेल — “बै, तै, है, दै” में है, बरन
कौ नाहीं ताते “सुर-मिलित” (स्वर) तुक भई ।

तीसरी “दुरमिलित तुक” कौ उदाहरन जथा—

चंद सौ आँनन राजत^३ तीय कौ, चाँदनी सों उतरीय^४ है उज्जल ।
फूल से 'दास' भरे^५ बतियाँन में, हाँसी सुधा-सी लसै अति निरमल ॥
बाफता^६-कंचुकी-बीच बने^७ कुच, साफ ते^८ तार मुलंम^९ औ स्त्रीफल ।
ऐसी प्रभा अभिरौंम लखें, हियरा में कियौ^{१०} मँनों धौंम हिमंचल ॥

अस्य तिलक

इहाँ—“उज्जल, निरमल, स्त्री (श्री) फल औ हिमंचल में तुक दूरि
ते मिलै है, ताते “दुरमिलित-तुक” कहिये ।

अथ अधँम तुक बरनन जथा—

अमिल-सुमिल, मत्ता-अमिल, आदि-अंत कौ होइ ।

ताहि 'अधँम' तुक कहत हैं, सकल सयाँने लोइ ॥

वि०—“दासजी इस दोहे द्वारा अधम-तुक और उसके तीन भेद—“अमिल-सुमिल” (अमलित-सुमिलित), ‘आदि मत्त अमिल’ और अंत मत्त-अमिल, अर्थात्—आदि मात्रा अमिल, अंत मात्रा-अमिल का वर्णन किया है । इनके आपने उदाहरण भी दिये हैं और व्याख्या रूप ‘तिलक’ से इन्हें बुद्धिगत भी बनाया है । इसलिये विशेष व्याख्या (परिभाषा) असंगत है ।”

प्रथम अमिल-सुमिल अधँम तुक कौ उदाहरन

अति सोहती^१ नौद-भरी पलकें, अरु भीजी^२ फुलेनन सों^३ अलकें ।
सँम-बुंद कपोलन पै^४ भलकें, अखियाँ लखि लाल की क्यों न छकें ॥

पा०—१. (सं०पु०प्र०) बरैते... २. (का०) (वें०) आयौ है ... ३. (वें०) (सं०-पु० प्र०) राजतो... ४. (का०) (वें०) (प्र०) सों उतरीय महुज्जल । ५. (का०) (वें०) (प्र०) बाफते... ६. (सं०पु०प्र०) लसे... ७. (रा०पु०नी०प्र०) बँवे... ८. (सं०पु०प्र०) साफता... ९. (का०) (वें०) मुलैम औ... १०. (सं० पु० प्र०) मुलैमे-से... ११. (का०) (वें०) (प्र०) भीजि... १२. (का०) (वें०) की... (प्र०) ते... १३. (का०) (वें०) (प्र०) में ...

अस्य तिलक

इहाँ तीन चरन में तुक सुमिल औ चौथी में अमिल है । पलकें, अलकें, अलकें इन तीन तुकन में बरन तीन-तीन हैं, पर चौथी तुक “छकें” में दू-ही बरन हैं, ताते ये अमिल-सुमिल अधम तुक है ।

दुतीय आदि-मत्ता अमिल तुक कौ उदाहरन—

मृदु-बोलन-बीच सुधा सबती, तुलसी-बन बेलिन में भँवती ।
नहिँ जाँनिय कौन की है जुबती, वहि ते अथ औधि है रूपवती ॥

अस्य तिलक

इहाँ सबती, भँवती, जुबती और रूपवती में आदिमत्ता (आदि मात्रा = आदि वर्ण का मात्राएँ, जैसे—‘स’ में अकार की मात्रा, ‘भ’ में सानुस्वार अकार, ‘जुब’ के जु में उकार की मात्रा ‘रूप’...के ‘रू’ में ऊ की मात्राएँ) अमिल हैं, वे आपुस में मिलत नाहीं, ताते आदि-मत्ता अमिल अधम तुक है ।

तृतीय अंत-मत्ता अमिल अधम तुक कौ उदाहरन—

कंज-नेनि, निज कंज कर, नेनँन अजंन देति ।
विष मानों बानन भरति, मोहि मारिवे हेतु ॥

अस्य तिलक

इहाँ—‘देति’ में ‘इ’ की मात्रा औ ‘हेतु’ में ‘उ’ की मात्रा अमिल हैं, तातें ‘अंत-मत्ता अमिल’ रूप अधम तुक है ।

अथ बीपसा और लाटिया तुक लच्छन बरनन—

होत ‘बीप्सा’ जाँम की, तुक अपने-ही भाव ।

उत्तमादि तुक आइ-हीं, है ‘लटिया’ बनाव ॥

वि०—“दासजी ने इस दोहे के द्वारा तीन प्रकार की तुकें, जैसे—बीप्सा रूप, यमक रूप और लाटानुरूप और मानी हैं । इनके भी उदाहरण और परिभाषा यथा-स्थान दी है, अस्तु पुनरुक्ति निरर्थक है ।”

प्रथम ‘बीपसा’ तुक कौ उदाहरन जथा—

आज सुरराइ पर कोप्यौ तँमराइ कछू,

भेदँन-बढ़ाइ अपनाइ लैलै धँनु-धँनु ४ ।

पा०—१ (का०) (वें०) देतु । (प्र०) देत । २. (का०) (वें०) हेतु । (प्र०) हेत ।
३. (का०) (प्र०) (वें०) आगे-ही... ४. (का०) धनु-धनु । (वें०) धनु-धनु । (सं० पु० प्र०) लै सधनु-धनु ।

कीन्हीं^१ सब लोक में तिमिर अधिकारी तिमि
 रारि कौ बगारी^२ लै भराबै नीर छँनु-छँनु॥
 लोप दुतिबतँन कौ देखि अति व्याकुल
 तरैयाँ भाजि आँई^३ फिरें जीगनाँ है तँनु-तँनु ।
 इंद्र^३ की बधूटी सब साँजन की लूटी खरी,
 लोहू घूँटि-घूँटि वै बगरि रही बँनु-बँनु॥

अस्य तिलक

इहाँ—धँनु, छँनु, तँनु और बँनु” एक पद (शब्द) द्वै-द्वै बार आए ताते
 बीप्सा-तुक भई ।

वि०—“बीप्सा की परिभाषा उसके लक्षण के साथ आगे वर्णित शब्दालंकार
 में आ चुकी है (दे० का० नि०-पृ० ६२४), इसलिये उसका पुनः कथन
 अनुचित है । फिर भी किसी कवि का एक उदाहरण और देखिये—

“खेलत बसंत ब्रजचंद-नंद जू सों आज,
 बाजत मृदंग धुँधुकार धँन धूँमि-धूँमि ।
 नाँचत, नटत सुघराई को समूह भरी,
 ताँन की तरंगँन सों रहयौ रस भूँमि भूँमि ॥
 फेरि ऐसौ दाब कहाँ पाइ हौ री ग्वालनि हों
 जैसी कलु या दिन भई है ब्रज धूँमि-धूँमि ।
 सुंदर रसाल मँन-मोहँन गुपाल जू कौ,
 साँवरौ-सलोंनों मुख लीजिए री चूँमि-चूँमि ॥

यहाँ भी—धूँमि-धूँमि, भूँमि-भूँमि, धूँमि-धूँमि और चूँमि-चूँमि में
 ीप्सा की बहार है ।”

दुतिय जाँम (यमक) तुक उदाहरन जथा—

पाइ पाबसै जौ करै, प्रिय पीतँम परमाँन^४ ।
 ‘दास’ ग्याँन कौ लेस नहिं, तिँन में तृन^५ परमाँन ॥

अस्य तिलक

इहाँ परमाँन सब्द दोनों तुकँन में आयौ, पै दोनोंन के अर्थ द्वै हैं, ताते
 जाँम (यमक) तुक भई । परमाँन—पर माँन, (पै माँन) परयान=गमन***।

पा०—१. (रा० पु० नी० सी०) कीन्हीं***। २. (का०) (वें०) (प्र०) बेगारी***।
 ३. (का०)(वें०) इंदु***। ४. (प्र०) परयान । ५. (का०)(वें०)(प्र०) तिन***।

वि०—“जैसा कि दासजी ने ‘तिलक’ में कहा है कि “परमान” शब्द दोनों चरणों में रहते हुए भी वे अर्थ से भिन्न हैं। इसलिये इस प्रथम का अर्थ— पर + मान रूप से उन्हें भंग कर “पावस पाकर जो प्यारे प्रियतम पर मान करे”— उनसे रुठे” और दूसरे ‘परमान’ का अर्थ ‘बराबर’, अर्थात् कवि दासानुसार उसमें तृण-बराबर भी ज्ञान का लेश नहीं है, होगा।”

तृतीय ‘लाटिया तुक’ का उदाहरण जथा—

तो बिँन बिहारी में निहारी गति और-ही में,
 बौर-ही के बृँदँन सँमेंटति^१ फिरत है।
 दारिँम के फूलँन में ‘दास’ दारयँ-दाँने^२ भरि,
 चूँमि मधु^३-रसँन लपेटति फिरत है ॥
 खंजन, चकोरँन, परेबा^४, पिक मोरँन,
 मराल, सुक^५, भौरँन सँमेंटति फिरत है।
 कासमीर-हारँन कों सौंनजुही-भारँन^६ कों,
 चंपक की डारँन कों भेंटति फिरत है ॥

अस्य तिलक

इहाँ चारों तुकँन में—“फिरत है” ये तुक है, जाते “लाटिया”-तुक कहति हैं। जहाँ ‘बाक’ वा सब्द और अर्थ में भेद न होइ, पै वाकी आवृत्ति होइ तो—‘लाटिया’ कहति हैं।

वि०—“दासजी ने उपयुक्त व्याख्या—तिलक से इस तुक की विशेषता बतला दी है, फिर भी कहना होगा कि यहाँ एक प्रकार से उर्दू की भाँति ‘काफिया’ और ‘रदीफ’ का प्रदर्शन है। काफिया—सँमेंटति, लपेटति-आदि और रदीफ “फिरत है”, दासजी का यह छंद नायिका की “उन्माद-दशा” का—पागल-पन का वर्णन है।

“इति श्रीसकलकलाधरकलाधरबंसावतंस श्रीमन्महाराकुभार

श्रीबाबूहिंदूपति बिरचिते ‘काव्य-निरणय’ तुक-निरणय-

वरनननामद्विबिसतितमोस्तोत्रः ॥

पा०—१. (श्रृ०नि०) सँमेंटत... २. (का०) (वै०) (प्र०) दाना... (श्रृ० नी०) दोनों... ३. (का०) मधुर सन... ४. (का०) परेबा... ५. (संयु०प्र०) भुक... ६. (श्रृ० नि०) भारँन...

अथ तैङ्गसकाँ उल्लास

अथ दोष-वरनन जथा—

‘दोष’ सबद औ’ बाक-हू, अर्थ-रसौ में होइ ।

तिहिँ तजि कबिताई करें, सज्जन मुमति जु कोइ ॥

वि०—दासजी ने इस उल्लास में --“शब्द, वाक्य, अर्थ और रस”-रूप चार-प्रकार के दोषों का उल्लेख करते हुए भी यहाँ शब्द, वाक्य और अर्थ-गत तीन भाँति के दोषों का ही वर्णन किया है । रस-दोष आगे के पच्चीसवें उल्लास में कहे हैं । इन शब्द, वाक्य और अर्थ-गत दोषों के भेदाभेद भी आपने यहाँ वर्णन किये हैं । यह दोष-विवरण दासजी ने संस्कृत-साहित्य से ही अपनाया है—पद-पद पर उसकी छाप है ।

संस्कृत-ग्रंथों में यह दोष-चरचा उन (काव्य-ग्रंथों) के प्रारंभ में ही मिलती है ! यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि वेदों में भी दुरित-दलन की—उसके परिहार की आकांक्षा प्रथम और भद्र की विभूति वाद में बिखराई गयी है । वास्तव में काव्य का प्रथम रमणीय सोपान दोष-परिहार-ही है । अस्तु आचार्य दंडी (ईसा की सप्तम शताब्दी) ने अपने ‘काव्यादर्श’-ग्रंथ में काव्य-गत रंच-मात्र दोष होने की भी भत्सना की है । साथ-ही काव्यनिर्दोष को वा निर्दोषकाव्य को—उसके रचने को एक महान गुण माना है—“महान्निर्दोषता गुणः” । संस्कृत-काव्य-ग्रंथ के आदि आचार्य श्री भरत मुनि, जो पुराणकार श्री वेदव्यास से भी पूर्व के माने जाते हैं, अपने नाट्य-शास्त्र में दोष-लक्षण तो नहीं, पर उनको स्थिति भावात्मक बतलाते हुए साहित्य-गुणों का विपर्यय अवश्य कहा है, यथा—“विपर्यस्ता—

गुणाः काव्येषु कीर्तिताः । (भ० ना० सा०—७, ६५) । अस्तु उक्त विषय की अब व्याख्या यहाँ असंगत है । भामह (ई० छठवीं शताब्दी) ने दोष-चर्चा में—“सामान्य और वाणो दोषों के साथ उनके गुणत्व-साधन का उल्लेख भी किया है, पर उनके लक्षण निर्माण नहीं किये । आपने भी—“कवयो न प्रयुज्जते” कह कर ही दोष-विषय की समाप्ति कर दी है । जैसा पूर्व में कह आये हैं, आचार्य दंडी ने दोषों की परिभाषा तो नहीं लिखी, पर उनका वर्णन विशद

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) हैं... २. (का०) (वें०) जो होइ । (प्र०) ..सज्जन मुमति जोइ ।

रूप से किया है। परिभाषा रूप दोही बातें आपने कहीं हैं, जो ध्यान देने योग्य हैं। आप कहते हैं—“दोष, काव्य में विफलता के द्योतक हैं, उसके कारण होते हैं और इनका विद्वानों को अवश्य परिहार करना चाहिये”। सब से प्रथम दोष-लक्षण-विवृत्ति आचार्य वामन (ई० आठवीं शताब्दी के आसपास) कृत मिलती है—“गुणविपर्ययात्मनो दोषाः” (गुणों से विपरीत स्वरूप वाले दोष)। आपके बाद दोष-स्थिति बदल गयी, क्योंकि अब काव्य का सौंदर्य रूप-गत नहीं, आत्म-गत माना जाने लगा, जिससे दोषों की स्थिति विपरीत हो गयी। अतः वे मूल में आत्म-गत रस से और गौण में उस (रस) के आश्रय से संबद्ध हो जाने के कारण शब्द और अर्थ-गत माने जाने लगे। यह स्थिति भी उत्तर ध्वनिकाल के समय तक स्थिर न रह सकी। उसमें भी मौलिक अंतर उपस्थित हो गये। पहिले दोषों के बाह्य वस्तु (शब्द-अर्थ) गत-रूप पर जोर दिया जाता था, अब आंतरिक आत्म (रस) गत-रूप पर भी बल दिया जाने लगा। यह विभेद दोष-विषयक धारणा का नहीं, काव्य-विषयक धारणा का था। जब काव्य का रूप बाह्य तथा वस्तु-गत था, तब दोष वस्तु-गत थे और जब वे काव्य-रूप आत्म-गत मान लिये गये, तब वे आत्म-गत रस-रूप हो गये। स्थिति उनकी वही बनी रहा, जो पहिले थी, अर्थात् काव्य के वे पहिले भी अपकारक थे, बाद में भी वही रहे।

जैसा पूर्व में लिखा जा चुका है कि आदि आचार्य श्री भरतमुनि ने दोषों की चर्चा तो की, उनकी नामावली भी दी, पर उनका कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं किया—दस संज्ञा में ही उलझे रहे। बाद में आचार्य “भामह” ने अपने प्रकार से दोषों का वर्गीकरण “सामान्य और वाणीगत” के साथ गुणत्व-साधन भी कहते हुए प्रकारांतर से दोषों के तीन वर्ग माने। इन तीनों वर्गों के अंतर्गत इकईस (२१) दोषों का उल्लेख आपकृत ग्रंथ—“काव्यालंकार” मिलता है। श्री भामह के इन त्रिवर्ग विभूषित दोषों के पार्थक्य का क्या आधार था, यह उक्त ग्रंथ से स्पष्ट नहीं होता। आपने न तो वहाँ यही स्पष्ट किया है कि वाणी के दोषों से आपका अभिप्राय क्या था और न वहाँ यही जाना जाता है कि सामान्य और अन्य दोषों का आधार भूत अंतर क्या है। यों तो आचार्य दंडो ने भामह-प्रसूत दोषों को मान्यता दी है, वर्ग (भेदाभेद) भी वही माने हैं, पर ‘अन्य-दोषांतर्गत’—प्रतिज्ञाहेतु-दृष्टांत दोष की अवहेलना की है। इसके प्रति आपने कहा है—“प्रतिज्ञाहेतु-दृष्टांत की हानि दोष है, या नहीं, यह कानों का अप्रिय (कटु) और कर्कश विचार है,—जटिल समस्या है, उसमें साहित्य मनीषियों को नहीं उलझना चाहिये।” आपके बाद आचार्य वामन (ई० की

आठवीं शताब्दी) ने “काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति” में दोषों का विवेचन और वर्गीकरण कुछ अधिक ठोस पायों पर किया है। आपने दोषों को—पद, पदार्थ, वाक्य और वाक्यार्थरूप में चार प्रकार के माने हैं। यह वर्गीकरण—श्री भरत, भामह और दंडी के मार्ग-का वाहक कहा जा सकता है। श्रीवामन के समय रस, ध्वनि की काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के कारण उसका औचित्य काव्य की मुख्य कसौटी माना जाने लगा। अतएव दोषों का विवेचन भी तद्-रूप से होने लगा। इसे रस-दोषों का आविर्भाव-काल कहना कुछ अनुचित न होगा। भोजराज (ई० की ग्यारहवीं शताब्दी) ने इस परिवर्तन का काफी लाभ उठाया और भूतपूर्व दोष-संख्या में अभिवृद्धि की। काव्य-प्रकाश-रचयिता “आचार्य मम्मट (ई० की ग्यारहवीं शताब्दी) अपने पूर्व के काव्याचार्यों से और आगे बढ़े। आपने दोषों का समुचित वैज्ञानिक-वर्गीकरण करते हुए, उनकी संख्या में भी यथेष्ट वृद्धि की। अत्र दोष-संख्या (शब्द-दोष—३७, अर्थ-दोष—२७, रस दोष—१० + ७४) सत्तर से आगे बढ़ गयी। उक्त स्थिति के बाद किन्हीं अनाम-आचार्यों ने दोषों का एक और वर्गीकरण किया। इन लोगों के अनुसार दोष—वाक्य, अर्थ, छंद और अलंकार से सन्नद्ध कहे गये। कोई रस को ही मूलाधार मानकर दोषों को—“रस की प्रतीति को अवरुद्ध करने वाला, उसके मार्ग में व्यवधान उपस्थित करने वाला और रसास्वादन में धिल्लय उपस्थित करने वाला”—इत्यादि तीन प्रकार का मानने लगे। उक्त-मान्यता प्रदान करने वाले अनाम आचार्यों का कहना है कि —“काव्य की चरम स्थिति रस है, इसलिये सभी प्रकार के दोषों का संबंध रस के-ही साथ वैधा हुआ है।” वस्तुतः पूर्व कथित वर्गीकरणों से यह वर्गीकरण कुछ अधिक सार-गर्भित ज्ञात होता है, साथ-ही यह काव्यगत-दोषों के मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण से गहरा संबंध भी रखता है।

ब्रजभाषा-साहित्य में दोष वर्णन का उपक्रम सर्व प्रथम आचार्य केशव ने ‘कवि-प्रिया’ और ‘रसिक-प्रिया’ में किया है। कवि-प्रिया में आपने कहा है—

“राजत रँच न दोष-जुत, कविता, बनिता, मित्र ।

अथवा —

प्रभु न कृतघ्नी सेहए, दूर्ध्व-सहित कबित ॥

यह सब संस्कृत साहित्य की देन है, पर आपने उन (दोषों) का वर्गीकरण जो उस समय तक मान्य हो चुका था, नहीं किया। दोषों की संख्या यहाँ—तेईस (१८—कविप्रिया-जन्य, ५—रसिकप्रिया-जन्य) है। श्री केशव के बाद चिन्तामणि त्रिपाठी ने दोषों का कथन संस्कृत-जन्य वर्गीकरण के साथ अच्छे ढंग से किया

है। आपकी दोष-संख्या ४४ चुंवालीस है। तोष ने 'सुधानिधि' में केवल रस दोष कहे हैं। महाकवि भूषण ने दोषों पर एक पृथक् रूप से—'दूषणो-ल्लास' पुस्तक लिखी, वह अप्राप्य है, इसलिये दोषों के वर्गीकरण के साथ उनके प्रति आपके क्या विचार हैं, वह सब अज्ञात है। कुलपति मिश्र ने संस्कृत काव्य-प्रकाश के आधार पर—“शब्द, अर्थ, छंद और रस-गत चार प्रकार के दोष माने हैं। आपके बाद सूरति मिश्र कृत दोष-वर्णन मिलता है। उनमें विशेष संस्कृत जन्य, कुछ आचार्य केशव से उधार लिये हुए और वाकी के आप-द्वारा नये निर्माण किये हुए हैं। तैलंग कुमारमणि भट्ट ने भी 'रसिक-रसाल' के अंतिम अध्याय में गुणों के साथ दोषों का वर्णन किया है। वहाँ कोई नव सृष्टि नहीं, वही संस्कृत की आधारभूत पुरानी पटली पर घिसो-पिटी चाल दृष्टिगोचर होती है। काव्य-सरोज-रचयिता श्रीपति जी दोष व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

“जा पदार्थ के दोष ते, आछे कबित नसाइ।

दूषेन तासों कहत हैं, श्रीपति पंडित राइ ॥”

अतएव आपने शब्दार्थ रूप दो (शब्द-अर्थ-गत) प्रकार के दोषों का वर्णन करते हुए उनमें कुछ नये और अधिक वही पुराने दोषों को कहा है। यहाँ एक बात में आपकी अधिक विशेषता है—दोषों के उदाहरणों में आपने सभी ब्रजभाषा के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कवियों के छंद दिये हैं। सोमनाथजी ने भी 'रस-पीयूष' की बीसवीं तरंग में विशेषता-रहित वही पुरानी संस्कृत-शैली पर दोषों का उल्लेख किया है। आपके बाद रत्न कवि ने 'फतह-भूषण' में, जनराज ने 'कविता-रस-विनोद' में, उजियारे ने 'रस-चंद्रिका' में, जगतसिंह ने 'साहित्य-सुधानिधि' में, रणधीरसिंह ने 'काव्य-रत्नाकर' में, रसिक गोविंद ने 'रसिक-गोविंदा-नंदघन' में, रामदास ने 'कवि-कल्पद्रुम' में और-लच्छीराम ने 'रावणेश्वर कल्पतरु' में दोषों का वर्णन किया है। इनमें भी कुछ नवीनता नहीं, सब उसी पुरानी लकीर के फकीर रहे हैं।”

अथ प्रथम सन्द-दोष वरनन जथा—

सुतिकटु, भाषा-हीन, अप्रजुक्तौ, असमर्थ-हि^१।

तजि निहितार्थ, अनुचितार्थ, पुनि तत्रौ निरर्थ-हि^२॥

अवाचकौ, असलील, ग्राम्य, संदिग्ध न कीजै ।
अप्रतीति, नेआर्थ^१, क्लिष्ट कौ नाम न लीजै ॥
अभिमृष्ट-विधेह, विरुद्ध-मति, छै-दस^२ दुष्ट ए सब्द कहि ।
कहुँ सब्द समासौ के मिलें, कहुँ एक-द्वै अचछर-हि^३ ॥

वि०—“दासजी ने इस छंद-द्वारा सोलह (छै-दस) शब्दगत दोषों का जैसे-श्रुतिकट, भाषाहीन, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहितार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, ग्राम्य, संदिग्ध, अप्रतीति, नेयार्थ, क्लिष्ट, अभिमृष्ट-विधेय और विरुद्धमति—इत्यादि नाम-युक्त वर्णन किया है । ये सब काव्य-प्रकाश (संस्कृत) जन्य हैं । दास कृत “भाषा-हीन” संस्कृत—च्युतिहीन का ही भव्यरूप है और कुछ नहीं ।

जैसा ऊपर लिखा गया है कि दासजी प्रयुक्त उक्त समस्त दोष मम्मट के काव्य-प्रकाशानुसार हैं । अस्तु, वहाँ उक्त उदाहरणों के बाद कहा गया है कि ऊपर जिन सोलह दोषों का उल्लेख किया गया है, उनमें से ‘च्युतसंस्कार (भाषाहीन), असमर्थ और निरर्थक को छोड़ कर शेष दोष वाक्यों में (वाक्यगत) भी पाये जाते हैं और कुछ पद-भाग में भी, किंतु दासजी मान्य दोषों में तीन-ही ऐसे दोष हैं, जो शब्द और अर्थ के अंतर्गत आते हैं । उनके नाम हैं—ग्राम्य, संदिग्ध और अश्लील तथा जैसा कि दासजी ने ऊपर की छप्पय में कहा है—

“कहुँ सब्द-समासौ के मिलें, कहुँ एक-द्वै अचछर-हि ।”
अस्तु, श्रुतिकट-आदि तेरह दोष ‘समासगत’ भी हो सकते हैं—“श्रुतिकट-समासगतं यथा ।” वहाँ (संस्कृत में) अवाचक का एक विभागीय दोष उपसर्ग-अवाचक भी माना है । साथ-ही अश्लील के—लज्जा, धृष्टा और अमंगल नाम के तीन भेद और लिखे गये हैं ।”

अथ स्रुति-कटु-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

काँनन कों जो कटु लगै*, ‘दास’ सो स्रुति-कटु सृष्टि ।

“त्रिया-अलक, चच्छुसबा, डसे परत-ही दृष्टि ॥”*

पा०—१. (का०) (वै०) (प्र०) ने अर्थ... २. (का०) (वै०) (प्र०) छँदस... । (स०-पु० प्र०) छंद सुदुष्ट हैं सब्द . । (रा० पु० प्र०) ... कटु । ३. (रा० पु० प्र०) अचछरदु । ४. (स०-पु० प्र०) कानन कों कटु जो लगे ।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६३६ ।

अस्य तिलक

इहाँ—त्रिया, चक्षुस्रवा (चक्षुश्रवा = सर्प) और दृष्टि ए तीनों ही सब्द दुष्ट हैं—सु तिकटु हैं । सु ति-सब्द हू सकार की समास ते दुष्ट भयौ, त्रिया-सब्द में रकार दुष्ट है, ताते तीनों प्रकर कौ सु तिकटु भयौ ।

वि०—“कानों को जो कटु लगे—अप्रिय, कठोर ज्ञात हो, उसे श्रुति-कटु या कर्ण-कटु कहते हैं । श्रुति=कर्ण (कान) वाची है । कर्णवाची श्रुति शब्द का प्रयोग कविवर विहारीलाल ने बड़े ही सुंदर ढंग से किया है, यथा—

“अजों तरोंनाँ-ही रहयौ, “सु ति”-सेबत इक अंग ।

नाँक-बास बेसर लहयौ, रहि मुक्तन के सग ॥”

मुद्रालंकार से विभूषित दोहा रूप स्वर्णांग में श्लेष की सिल्ली पर समुज्वल किया हुआ ‘सु ति’ शब्द कितनी अपार अर्थ-आभा के साथ देदीप्यमान हो रहा है कि कहा नहीं जा सकता... ।

“साथ शोखी के कुछ हिजाब भी है ।

इस अदा का कोई जवाब भी है ॥”

अथ भाषा-हीन-दोष-लच्छन जथा—

बदल गएं, घटि-बढ़ि भएँ, मत्तबरँन बिन-रोति ।

भाषा-हीनन में गनें, जिन्हें काव्य पै प्रीति ॥*

वि०—“किसी नियम के बिना मात्रा वा वर्णों के घट-वढ़ जाने या बदल जाने को ‘भाषा-हीन’ दोष कहा जाता है । संस्कृत में इसे—भाषाच्युत (संस्कृतिच्युत = जो व्याकरण के नियमानुकूल न हो) और ब्रजभाषा-साहित्य में ‘काचीभाषा’ (कच्ची भाषा = अपरपक्व भाषा) कहा है ।

अस्य उदाहरन

वा दिँन बैसंदर चहुँ, बँन में लगी अचँन ।

जीबत क्यों ब्रज बाँचितो, जो न पीबतो कौन ॥*

अस्य तिलक

इहाँ ‘बैसाँदर’ को बदल कर बैसंदर कहयौ, चहुँ-दिस को बदल के चहुँ

पा०—१. (सं०पु०प्र०) काव्य-परतीति । २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं०पु०प्र०) (का०प्र०) जो ना पीबत... ।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६३६ ।

कह्यौ, अचानक कों बदल कें, अचान कह्यौ, कान्ह की ठौर 'कान' कह्यौ, ए सब भाँति सों भाषा-हीन हैं । बैसाँदर = बैस्वानर अगनी कों कहें हैं ।

अप्रजुक्त सब्द-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

सबद सत्य, नहि कवि कह्यौ*, 'अप्रजुक्त' सों ठाँउ ।

“करै न बैयर हर-हि भी, कँदरप के* सिर-घाउ ॥”*

अस्य तिलक

इहाँ बैयर = स्त्री, भी = यै और कँदरप-कदर्प = कामदेव कों कहें हैं, अरु दोनों संस्कृत और व्रजभाषा ते सुद्ध हैं, पै काहू कवि नें कहे (प्रयोग किये) नाहीं, ताते 'अप्रजुक्त' दोष है ।

वि०—“शब्द यथार्थ में शुद्ध हो, पर किसी ने उसका प्रयोग काव्य में नहीं किया हो, तब वहाँ 'अप्रजुक्त-दोष' माना और कहा जायगा, जैसा इस उदाहरण से व्यक्त है । इसे अप्रचलित-प्रयोग भी कहते हैं और अप्रसिद्ध भी इसका नाम मिलता है ।”

अथ असमर्थ सब्द-दोष लच्छन जथा—

सबद धर्यौ जा अरथ कों- ता पै तासु^३ न सक्ति ।

चित दौरै पर अरथ कों, सो 'असमर्थ' अभक्ति* ॥†

वि०—“जिस अर्थ के वक्त करने को जो शब्द रखा जाय, पर उसकी असक्ति के कारण उसके दूसरे अर्थ की ओर मन दोड़े तो वहाँ वाक्कुल-रूप “असमर्थ” दोष होता है । अर्थात्, जिस शब्द से अभीष्ट-अर्थ की प्रतीति न हो वह...।”

अस्य उदाहरन

कान्ह-कृपा-फल-भोग कों, करि जाँयों सतिभ्राम* ।

असुर-साखि सुरपुर कियौ, ससुर-साखि निज धाँम ॥‡

अस्य तिलक

सुर-साखि, कलपतरु (कल्पतरु = वृक्ष विशेष, इच्छित-वस्तु शीघ्र देने वाला) कों कहत हैं, सो इहाँ 'अकार'-‘सकार’ ते यै अर्थ धर्यौ कि 'बिना कलपतरु कों सुरलोक कियौ औ निजधाँम = अपनों घर--स सुर-साखि कलपतरु ते सुंदर कियौ,

पा०—१. (वै०) (स० पु० प्र०)...सत्य न लियौ कविन *। (का०) (प्र०)...सत्य नहिँ लिय कविन...; २. (वै०) (का० प्र०)...कसर घाउ । ३. (वै०) जासु...। ४. (स० पु० प्र०) असक्ति । ५. (का०) (वै०) (प्र०) (का० प्र०) सति भ्राम ।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६३६ । †, ‡, ६४० ।

पै ये अर्थ इन असुर-साखि और ससुर-साखि सबद ते भली-भाँति प्रघट नाही होत, ताते असमर्थ सब दोष है ।

वि०—“इस दोहे में तीन शब्द—सतिभाम या वाम, असुर-साखि और ससुर-साखि असमर्थ हैं । तीनों कवि-अभीष्ट अर्थ व्यक्त करने में अयुक्त हैं, क्योंकि इन तीनों के लक्ष्यार्थ—सतिभाम या वाम=सती स्त्री, असुर और ससुर-साखि=असुर (राक्षस) और ससुर (पति का पिता) तथा साखि=साक्षी, गवाही देने वाला, की और अधिक आकर्षित होता है, न कि—सत्यभामा (भगवान् श्रीकृष्ण की पट्ट महिषी), असुर-साखि (कल्पतरु के बिना) और ससुर-साखि (कल्पतरु से सुन्दर बनाना) की ओर नहीं जाता, इसलिये यहाँ उक्त दोष है ।”

अथ निहितार्थ शब्द-दोष लच्छन जथा—

द्वर्थ-शब्द में राखिए, अप्रसिद्ध-ही चाहि ।

जानों जाइ प्रसिद्ध ही, ‘निहितार्थ’ सो आहि ॥*

वि०—दो अर्थ वाले शब्द के द्वारा स्वकल्पित अप्रसिद्ध अर्थ का बोध कराने पर भी उसके प्रसिद्ध अर्थ का ही बोध होता हो, वहाँ ‘निहितार्थ’ दोष माना गया है । निहितार्थ का तात्पर्य उस शब्द से है, जिसके दो अर्थों में एक प्रसिद्ध और एक अप्रसिद्ध हो तथा उसका अप्रसिद्ध-अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया हो ।”

अस्य उदाहरन—

रे-रे सठ, नीरद भयौ, चपला बिधु चितलाइ^१ ।

“भब-मकरध्वज-तरन को, नाहिँन और उपाइ^३ ॥”*

अस्य तिलक

इहाँ नीरद=बिनाँ दाँत कौ, चपला=लच्छमी, बिधु=बिस्नू औ मकर-ध्वज=समुद्र के लिये शब्द राखे, पै इनके मुख्यार्थ—नीरद=बादर, चपला=बीजुरी, बिधु=चंद्रमा औ मकरध्वज=कामदेव अर्थ-ही जाने जाय हैं, ताते इहाँ ‘निहितार्थ’-शब्द दोष भयौ ।

पा०—१. (वै०) (प्र०) चर्थ...। (सं० पु० प्र०) ह्यर्थ...। २. (प्र०) चितलाउ । ३. (प्र०) उपाउ ।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४० ।

अथ अनुचितारथ सव्द-दोष लच्छन-उदाहरन—

‘अनुचितार्थ’ कहिये जहाँ, उचित न सव्द अकाल ।

“नांगों है दह-कूदि कें, गहि लायौ हरि ब्याल ॥”*

पुनः उदाहरन

“जिहि जाबक अखियाँ-रंगे, दई नखच्छत गात ।

“रे पिय सठ, क्यों हठ करै, वाही पै किँन जात ॥”

अस्य तिलक

ऊपर ले दोहा में नांगों सव्द दुष्ट (अनुचितार्थ) है, दूसरे दोहा में रंगे औ दई जो रंगी औ दप कहिवौ चाहिये न कहि अनुचित सव्द कहे, और पिय के समास ते सठ सव्द हू दुष्ट है ताते प्रथम में (शुद्ध) अनुचितारथ प्रथम औ दूसरे में मात्रा-अनुचितारथ दूसरे भेद वारौ अनुचितारथ दोष है ।

अथ निरर्थक सव्द दोष-लच्छन उदाहरन—

छंदै पूरँन करँन कों^१, सव्द ‘निरर्थक’ धीर ।

“अरी हँनत दग-तीर सों, तोहि परी^२ रँन ईर ॥”*

अस्य तिलक

इहाँ ‘ईर’ सव्द निरर्थक तुक मिलाइबें कों प्रयोग कियौ, ताते ‘निरर्थक’ सव्द दोष भयो ।

अथ अवाचक सव्द दोष-लच्छन जथा—

वहै ‘अवाचक’ रीति-तजि, लेइ नाँम ठैहराइ ।

कह्यौ न काहू जाँनिऐ^३, नहि माने^४ कविराइ ॥*

अस्य उदाहरन

प्रघट भयौ लखि बिषम हय, बिस्नु धाँम सानंदि ।

सहसपाँन निद्रा तज्यौ, खुल्यौ^५ पीत मुख बंदि ॥*

अस्य तिलक

इहाँ सूरज कों ‘बिषम-हय’, (संस्कृत — सप्ताश्व), अकास कों ‘बिस्नु-

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (का०प्र०) बंदहि पूरन कों परै... २. (का०) (वें०) (प्र०) परै रँन ... (का० प्र०) (सं०पु०प्र०) तो हिय ईर न पीर । ३. (का०) (वें०) (प्र०) (का०प्र०) जाँनि यह, ... ४. (वें०) खुली पीक मुख... (का०प्र०) खुली पीत... (सं०पु०-प्र०) खुली पीत मुख चदि ।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४१ ।

धाम', कँमल कों 'सहसपाँन', फूलिबे कों 'निद्रा-तज्यौ, भौरा कों पीत-मुख
औ आनंदित हैवे कों 'सानंदि' कह्यौ, पै ऐसे अरथ में ए सब सबद काहू नें
कहे नाहीं 'ताते' अवाचक-दोष-जुक्त हैं ।

वि०—“जिन वांछित अर्थ के शब्द का प्रयोग किया जाय, वह उसका
वाचक न हो और जिस रीति को न तो कवियों ने कहा हो और न वह किसी-
द्वारा मान्य ही हो, पर उससे अभीष्ट-अर्थ ठहरा लेना—मान लेना, ‘अवाचकत्व
शब्ददोष’ कहा जाता है ।

दासजी कृत इस अवाचक-दोष-उदाहरण के दो ‘तिलक’ मिलते हैं, एक
जो हिंदी-साहित्य-संमेलन प्रयाग का पाठ अनेक हस्तलिखित-प्रति अनुमोदित है
और जिने ऊपर उद्धृत किया जा चुका है तथा दूसरा पाठ प्रतापगढ़ राज्य-पुस्त-
कालय की हस्त-लिखित तथा वेंकटेश्वर (बंबई) और बेलवेडियर प्रेस प्रयाग को
मुद्रित प्रतियों का तिलक है जो नीचे उद्धृत किया जाता है, यथा —

“सरद कों ‘सतहय’ औ कँमल कों ‘सहसपत्र’ कहे हैं, पै इन्हें इहाँ बिषम-
हय औ सहसपाँन कह्यौ, ताते आधे सब्द इहाँ दुष्ट हैं । पीतमुख भौरा कों औ
बिस्नुधाम अकास कों कह्यौ, पै एहू काहू नें कहे नाहीं, फलिबे कों नींद-
तजनों औ आनंदित हैवे कों सानंदि कह्यौ सो सबद अवाचक दोष-जुक्त हैं ।”

अस्तु, दूसरे ‘तिलक प्रयुक्त-विषमहय (सतहय) शरद-अर्थ में प्रयुक्त हमारे
देखने में भी नहीं आया । कोषों में सप्ताश्व —

“भास्वद् विस्वत्सप्ताश्वंहरिदश्वोष्णरश्मयः ।”

—अ० को० १, ४, २६,

सूर्य के अर्थ में लिखा मिलता है, शरदार्थ में नहीं । साथ-ही इन दोनों
तिलकों में एक शब्द ‘वंद’ जो यहाँ ‘कैद से छूटने में प्रयुक्त हुआ है, पर
विचार नहीं किया गया है । अस्तु यह भी अवाचक है, जो कवि के अभीष्ट अर्थ
को नहीं प्रकट करता ।

अथ असलील-सब्द दोष लच्छन-उदाहरन —

पद-‘अस्लील’ कहिये तहाँ*, घृनाँ, असुभ, लज्जान ।

“जीमूतँन दिन पितृ-गृह, तिय* पग यै गुदरान ॥”*

पा०—१. (प्र०) जहाँ । (सं० पु० प्र०) पदस्लील पैये जहाँ... । २. (वें०) तिपय गयह
गुदरान । (सं० पु० प्र०) ... तिय भृग यै... ।

* काव्य-प्रभाव (भा०) पृ०—६४२ ।

अस्य तिलक

इहाँ 'जीमूत' बादर कों कह्यौ, पै तामें 'मूत' सबद घृनाँ उतपन्न करै है, पितृग्रह = पित्र-जोक कों कहैं हैं, सो असुभ है औ 'गुदराँन' में गुद सबद गुदा कौ अरथ देइ है और 'राँन' जाँघ कों कहत हैं, सो ये लज्जा-जनक हैं, ताते तीनों प्रकार कौ असलील यहाँ भयौ ।

वि०—“संस्कृत में घृणापूर्ण, अमांगलिक और लज्जास्पद शब्दों के प्रयोग होने पर अश्लील-शब्द दोष माना है । यथा—“त्रिधेति ब्रीडाजुगुप्साऽमंगलव्यञ्जकत्वात्” (काव्य-प्रकाश—७, १५१) । वहाँ इन तीनों के पृथक्-पृथक् उदाहरण भी दिये गये हैं । साहित्य-दर्पण-रचयिता ने काव्य-प्रकाश-प्रयुक्त—लज्जा, घृणा और अमंगल सूचक—साधन (सेना-लिंग), वायु (पवन, अपान वायु) और विनाश (अदर्शन, मृत्यु) इन तीनों शब्दों को जो वहाँ पृथक्-पृथक् कृतियों में प्रयुक्त किये गये हैं, एक-ही उदाहरण में—दासजी की भाँति तीनों अश्लील-व्योक्त रूप में कहा है, यथा —

“दसारिविजये राजन् साधनं सुमहत्तव ।

प्रससार शनैर्वायुर्विनाशे तन्वि ते तदा ॥” ७, ५

अर्थात् हे राजन्, मदांघ शत्रुओं को विजय करने में तुम्हारा “साधन” और हेतुन्वी, तब तुम्हारे “विनाश” के समय “वायु” धीरे से चलो इत्यादि.....”

अपने कवि-कुल-कल्पतरु में ब्रजभाषा-साहित्याचार्य श्री चिंतामणि ने इस अश्लील का उदाहरण निम्न प्रकार का दिया है—

“वै मारग देखत उहाँ, पाद-परी हों आइ ।

तू तब कैसी करै जो, बिरह-पीड-मरजाइ ॥”

उर्दू-साहित्य में भी कुछ खुली अश्लीलता जब कभी मद्देनजर आ जाती है, जैसे—

“दस घर तो छुट चुके हैं, कहाँ तक करूँ “श्रसम” ।

किस जाँ बिठाए देखिये अब आसमाँ सुके ॥”

अथवा—

“दाई, यक्रीन है किं कहीं गिरजाय ना “हमल” ।

नन्हा-सा लड़का ख्वाब में आ ‘पेट’ मल गया ॥”

कविवर ‘चिरकी’ के भी उदाहरण अश्लीलता-वर्णन में निरखे-परखे जा सकते हैं, पर एक बात ध्यान रहे—

रहे इक बाँकपन भी बेदमागी में तो ज़ेबा है ।”

अथ ग्राम्य-सब्द दोष-लच्छन-उदाहरन जथा —

केवल लोग^१-प्रसिद्ध कों, 'ग्राम्य' कहें कविराइ ।

“क्या भल्लै, टुक गल्ल-सुनि, भल्लर-भल्लर भाइ ॥”*

अस्य तिलक

इहाँ—क्या, भल्लै, टुक, गल्ल, भल्लर-भल्लर औ भाइ सबद एक जात के लोगन में ही प्रसिद्ध हैं, काव्य में नहीं ताते 'ग्राम्य-दोष' है ।

अथ सांदिग्ध-सब्द-दोष लच्छन-उदाहरन जथा —

नाँम धरथौ सँदिग्ध-पद, सब्द सँदेहिल जासु ।

“बँद्या तेरी लच्छमी, करै बंदना तासु ॥”

अस्य तिलक

इहाँ—बँद्या बंदी औ बाँनी (वाणी) दोनोंन कों कहें हैं, लच्छमी की बंदना कहिनों उचित, पै बंदनीया छोड़ बँद्या कहिबे ते 'संदिग्ध-दोष' है ।

वि०—“जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाय जिससे वांछित और अवांछित दोनों अर्थ निकलते हों, वहाँ संदिग्ध-दोष माना गया है । यहाँ 'बँद्या' शब्द दोनों वांछितावांछित अर्थ—बंदनी (कैद की हुई, पकड़ी हुई) और बंदनीय (बंदना करने योग्य) में प्रयुक्त है, इसलिये उपर्युक्त दोष है ।” इस संदिग्ध-दोष-प्रयुक्त 'बँद्या' शब्द को दासजी ने “काव्य-प्रकाश” (संस्कृत) के उक्त उदाहरण में से अपनाया है, यथा—

“आलिङ्गितस्तत्र भवान्संपराये जयश्रिया ।

आशोःपरपरां “बँद्यां” कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ॥” ७, १५४

“अत्र बँद्यां किं हठद्वतमहिलायां किंवा नमस्यामिति संदेहः” अर्थात् यह बँद्या शब्द “बलात्कार से छीन ली गयी महिला” और “प्रणय-योग्य स्त्री” दोनों अर्थ दे रहा है, कोन-सा ग्रहणीय यह संदिग्ध है । इसलिये उक्त दोष है ।”

अथ अप्रतीत-सब्द दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

एकै ठौर जु कहि सुन्यों, अप्रतीत सो गाउ ।

“रे सठ, कारे चोर के, चरनँन सों चित लाउ ॥”

अस्य तिलक

कारौ चोर 'श्रीकृष्ण' कों कालिदास के ही काव्य में कह्यौ (सुन्धों) है, अन्नत नाहीं, वौ-हू सिंगार-रस में ताते अप्रतीत दोष है ।

वि०—“जो शास्त्र-विशेष में तो कहा गया हो, पर प्रसिद्ध न हो, ऐसे शब्दों के प्रयोग करने पर 'अप्रतीति' दोष कहा गया है—'अप्रतीतं यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धं' (का० प्र०—७, ११) । अस्तु, “कारे-चोर” में काला (कारे) शब्दों संस्कृत शब्दानुसार कृष्ण-वर्ण और भगवन्नाम-संज्ञादि दोनों ही अर्थों का बोध करा रहा है, यथा—“विष्णुर्नारायणः कृष्णो०.....” (अ० को०—११, १८) और “कृष्णे नीलासितश्याम०.....” (अ० को०—१, ६, १४) ।” तिलक-निहित भाव-युक्त 'कारे-चोर' शब्द 'कालिदास' प्रयुक्त है ही ।

अथ नेआर्थ सब्द दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

‘नेआरथ’ लच्छार्थ जहँ, ज्यों-त्यों लीजै लेखि ।

“चंद चारि-कौड़ी लहै, तो’ आँनन-छवि देखि ॥”*

अस्य-तिलक

इहाँ चंदा तेरे मुख की बराबरी नाहीं कर सकत, यै अर्थ “चंद चारि कौड़ी लहै” ते ज्यों-त्यों माननों ‘नेआर्थ’ दोष है ।

वि०—“जिस शब्द का असंगत लक्षणावृत्ति से येनकेन-प्रकारेण मुख्यार्थ समझा जाय, वहाँ ऊपर लिखा दोष कहलाता है ।

नेयार्थ—“कवि की अशक्ति—व्युत्पत्ति रूप सामर्थ्य के अभाव से लक्ष्य-अर्थ का प्रकाशन” कहलाता है, ऐसा संस्कृत-आचार्यों का मत है । कुमारिल भट्ट के मतानुसार ‘नेयार्थ-गम्य’ पद (शब्द) लक्षणा के लिये निसिद्ध बतलाया है, क्योंकि “शक्ति-विशिष्ट सामर्थ्य से प्रसिद्ध या शब्द-स्वभाव ही से सिद्ध अनादि-काल की कुछ लक्षणाएँ होती हैं और कुछ प्रयोजन के अनुसार बना भी ली जाती हैं, पर वे ‘रूढ़ि’ और प्रयोजनवती’ लक्षणाओं को छोड़कर शक्ति-हीन होने के कारण स्वीकार नहीं की जाती । अस्तु, इस प्रकार जो रूढ़ि और प्रयोजनवती लक्षणाओं से भिन्न लाक्षणिक शब्द हैं उन्हें ‘नेयार्थक’ कहा जाता है । दास-जी ने ऐसे-ही लक्षार्थ रूप “चंद चारि कौड़ी” शब्दों से नेयार्थक “चंद तेरे मुख की बराबरी नहीं कर सकता” अर्थ प्रकट किया है ।”

पा०—१. (का०) (वै०) (प्र०) (का० प्र०), तब ।

*, * काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४२, ६४३ ।

अथ समास सन्द दोष लच्छन जथा—

जहँ सँमास कों बदलि कें, धरत सन्द-कोउ आँन ।

सो 'सँमास' दूषँन कहत, जे कविजँन मति-मँन ॥*

वि०—“जहाँ समास-युक्त शब्द को पृथक् कर उसके स्थान पर वैसा ही अर्थ-वाचक दूसरा शब्द रखा जाय—समास का अयोग्य-स्थान पर प्रयोग किया जाय, वहाँ—‘समास दोष’ कहा गया है । संस्कृत-साहित्य में यह दोष शब्दगत नहीं माना गया ।

काव्य-निर्णय की सभी मुद्रित प्रतियों में काशीराज-पुस्तकालय की हस्तलिखित प्रति को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी यह दोहा नहीं मिलता । पं० जगन्नाथ प्रसाद ‘भानु’ ने अपने काव्य-प्रभाकर ग्रंथ में इसे अपनाया है ।”

अस्य उदाहरन जथा—

है दुपंच-स्यंदँन-सपथ, सैहजार मँन तोहि ।

बल अपनों दिखराँउ, जो^१मुँनि करि जाँने मोहि ॥*

अस्य तिलक

इहाँ—दुपंच-स्यंदँन दूसरथ कौ औ सैहजार लच्छमन कौ नाम है, सो पैहले में संपूरँन औ दूसरे मे आधौ सन्द फेरौ गयौ, ताते समास दोष है ।

पुनः उदाहरन जथा—

तब लगि^२ रहौ ‘जगंभरा’, राहु निबिड़ तँम छाइ ।

जब लों पट-बैदुर्जमनि^३, हाथ बगारत आइ ॥

अस्य तिलक

इहाँ हूँ बिस्वंभरा पृथबी कों जगंभरा, राहु कों घनों तँम=अंधकार, अंबर-मनि (सूर्य) कों पट-बैदुर्जमनि औ किरँन कों हाथ कह्यौ, ए समास दोष हैं ।

अथ क्लिष्ट सन्द दोष-लच्छन उदाहरन जथा—

सीढ़ी-सीढ़ी अर्थ-गति, ‘क्लिष्ट’ कहावै ऐंन ।

“खग-पति-पति-तिय-पितु-बधू-जल-सँमान तो^४ बेंन ॥”*

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) (का०प्र०) बल आपनों दिखाउ जो... २. (का०) (वे०) (प्र०) लों... ३. (का०) (वे०) (प्र०)...बैदूर्य नहिं... ४. (का०) (वे०) (प्र०) (का०प्र०) तुव... ।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४३ ।

अस्य तिलक

इहाँ सूधें 'गंगा-जल-सँमान (निर्मल) तेरे बँन' न कहि क्लिष्ट-रीत सों कह्यौ, ताते क्लिष्ट-दोष है ।

वि०—“ऐसे शब्दों का प्रयोग जिनका अर्थ-ज्ञान कठिनता से हो—सीढ़ी-सीढ़ी चढ़ने की गति से होता हो, उसे 'क्लिष्टत्व' दोष कहा जाता है । यहाँ “खग (पत्नी), उसका पति (गरुड़), उसका भी पति (भगवान् विष्णु), उनकी त्रिया (स्त्री = लक्ष्मी), उसका पिता (समुद्र), उसकी बधू (गंगा)—आदि अर्थ सीढ़ी-सीढ़ी चढ़ने की-ही भाँति ज्ञात होता है ।”

पुनः उदाहरन जथा—

बरुँ न-हाथ कतिचै लिऐं^१, किएँ सपाल-हि साथ ।

आदि^२ स-अंतर-मध्य हित, होहि तिहारे^३ नाथ ॥

अस्य तिलक

इहाँ—ब्रह्मा, रुद्र औ नराइन कमल, तिरसूल औ चक्र लिऐं सुरसती, पारवती औ लच्छ्मी के संग तुम्हारे हितकारी होइ, ये क्लिष्टार्थ-दोष है । कठिन-ताते जानों जाइ है ।

अथ अविमृष्टविधेइ लच्छन-उदाहरन जथा—

है 'अविमृष्टविधेइ' पद-छाँड़ै^४ प्रघट विधान ।

“क्यों मुख-हरि लखि चख-मृगी, रहि है मन में^५मौन ॥”

अस्य तिलक

इहाँ “मुख-हरि” औ चख-मृगी अविमृष्ट-विधेय है, इन कौ अर्थ कठिनता सों जानों जात है ।

वि०—“जहाँ विधेय—अभीष्टार्थ के अंश की प्रधानता का प्रतीत न होना—उसे गौण रूप से जानना “अविमृष्टविधेय” या “अविमृष्टविधेयांश” दोष बनाता है । यह शुद्ध और समास-गत भी होता है । ऊपर के उदाहरण में—“चख रूप मृगियों-द्वारा हरि-मुख देखने पर मन में मान कैसे रह सकता है ? अर्थात् नहीं रह सकता, इस अभीष्टार्थ की अप्रधानता है ।”

पा०—१. बरुना हाथ कतीच लै, सपाल लीन्हें साथ । (वे०) बरुना हाथ कती चलै, सपाल लीन्हें... । (प्र०) बरुन हाथ कतिचै लिये, ... । (सं० पु० प्र०) बरुना हाथक ती चलै, सपाल लीन्हें... । २. (का०) (वे०) (प्र०) आदिस अंतर... । ३. (का०) (वे०) (प्र०) तिहारी... । ४. (का०) (वे०) (प्र०) छोड़ै... । ५. (वे०) मनवै... ।

पुनः उदाहरन—

नाथ-प्राँन कों देखते, जो असकी बस ठाँन ।

“तौ सखि, धिग बिनकाज की^१, बड़ी-बड़ी अँखियाँन ॥”

वि०—“यहाँ भी प्राणनाथ न कह “नाथ-प्राण कहना अभीष्टार्थ साधन में बाधक है, इसलिये उक्त दोष है, क्योंकि प्रसिद्ध विधेय का यहाँ अभाव है ।”

अथ प्रसिद्धविधेइ जुक्त दोष उदाहरन जथा—

प्राँन-नाथ कों देखते, जो न सकी बस ठाँन ।

“तौ सखि धिग बे^२काज की, बड़ी-बड़ी अँखियाँन ॥”

वि०—“जहाँ प्रसिद्ध विधेय से विरुद्ध अर्थ की अभिव्यक्ति हों—प्रयोग-विरुद्ध शब्द का उपयोग किया जाय, वहाँ—“इस प्रकार का दोष” कहा जायगा । जैसा कि बे-काज = काम में न आनेवाली बड़ी-बड़ी आँखों का होना “से प्रकट हो रहा है ।”

अथ विरुद्ध-मतिकृत सब्द-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

सो ‘विरुद्धमतिकृति’ सुनै, - लगै विरुद्ध बिसेख ।

“भाल-अंबिका-रँमन के, बाल सुधाकर देख^३॥”*

पुनः उदाहरन—

काँम गरीबन के करे, जे अकाज ही^४ मित्र ।

जो माँगिऐ^५ सु पाइऐ, ते धँनि पुरुष बिचित्र ॥

अस्य तिलक

इहाँ प्रथम दोहा में—उदाहरन में, प्रथम अंबिका कहि पाछे सुधाकर = ब्राह्मन कों कह्यौ, ताते विरुद्धमति कृत दोष भयौ, प्रथम सुधाकर औ पाछे अंबिका कहनों हो । दूसरे दोहा (उदाहरण) में जो-जो बात स्तुति की कहीं हैं, उन सों निंदा-हू प्रघट होइ है, ताते ये हू विरुद्धमतिकृत दोष है ।

वि०—“जिन शब्दों से अभीष्ट-अर्थ प्रकट न होकर विरुद्ध अर्थ का ही द्योतन हो—प्रयोग-विरुद्ध शब्दों का व्यवहार किया जाय, वहाँ उक्त दोष बन

पा०—१. (प्र०) धिग-धिग सखिबे काज की, वृथा बड़ी...। (का०) (वे०) बुराई बड़ी... ।
२. (का०) (वे०) (प्र०) बिन...। ३. (स० पु० प्र०) लेखि । ४. (का०) (वे०) (प्र०) के ...। ५. (का०) (प्र०) माँगिय सो पाइऐ...।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४३ ।

जाता है, जैसा प्रथम उदाहरण रूप दोहे के तिलक में बतलाया गया है। साथ-ही “अंबिका-रमैन” से एक बात “विरुद्धमतिकृत” दोष की और सृष्टि होती है, क्योंकि पद से भी विरुद्ध-मति उत्पन्न होती है। संस्कृत में अंबिका माता को भी कहा गया है—“अंबा माता०”... (अ० को०—१, ७, १४), उससे रमण करने वाला, अर्थात् पिता...। अस्तु इस प्रकार के कथन में अभीष्ट-अर्थ का स्तुति-भाव-विभूषित अर्थ का तिरस्कार होता है, इसलिये उक्त दोष है।

दूसरे उदाहरण में भी यही बात है। वहाँ भी अभीष्ट-अर्थ के विपरीत जैसा कि “जे अकाज हीं मित्र”—पदादि से “अयोग्य-कार्य के मित्रदि से विरुद्ध मति उत्पन्न होती है—अर्थ के लक्षार्थ से विपरीत ध्यान जाता है।”

“इति सन्द दोषाः”

अथ वाक्य-दोष नाम वरनन

‘प्रतिकूलाच्छर’ जाँनि माँनि हतवृत्ता’ विसंधँनि ।

न्यूनाधिक-पद, कथित-सबद पुँनि पततप्रकरषँनि ॥

तजि समाप्त पुँनि आप्त^२, चरन अंतरगत-पद गहि ।

पुँनि अभवन्नमत जोग जाँनि अकथित-कथनीयहि ॥

पद अस्थानस्थ^३ सँकीरनौ, गरभित, अमत-परारथ-हि ।

पुँनि प्रकरँन^४ भंग प्रसिद्ध-हत, छंद सबाक्य दूषँन तजहि ॥

वि०—“दासजी ने इस छप्पय-द्वारा शब्द-दोषों के बाद “वाक्य-दोषों” का कथन किया है। आप कृत वाक्य-दोष इस प्रकार हैं—“प्रतिकूलाच्छर, हत-वृत्त, विसंधि, न्यून-पद, अधिक-पद, कथित-पद, पतत्प्रकर्ष, समाप्त-पुनराप्त, चर-णांतरगत, अभवन्नमत संबंध, अकथ-कथनीय, अस्थानस्थ-पद, संकीर्ण, गर्भित, अमतपरार्थता (अमतपरार्थ-पद), प्रकरण-भंग, प्रसिद्ध-हत—आदि। दासजी मान्य यह संख्या १७ सत्रह है। संस्कृत-रोति-शास्त्रों में इनकी संख्या २१ इक्कीस है। वहाँ, ‘आहत विसर्ग’, ‘लुप्तविसर्ग’ जो ब्रजभाषा-काव्य में प्रयुक्त नहीं हो सकते के अतिरिक्त अर्थात्तरैकवाचकत्वं (छंदगत-पूर्वार्द्ध के कुछ वाक्य उत्तरार्ध में हो), अनभिहितवाच्य (आवश्यक वर्णन का न कहा जाना), अस्थानस्थ-समाप्त, जो अस्थानस्थ-पद का दूसरा भेद है और जिसे “अस्थान-समाप्त” भी कहते हैं, के

पा०—१. (का०) (वें०) ..हत वृत्तानि संध्यनि । (प्र०) हत वृत्तानि संध्यनि । २. (का०) (वें०) (प्र०) पुनिराप्त... । (सं० पु० प्र०) तजि समाप्त पुनराप्त... । ३. (सं० पु० प्र०) पद अस्थानस्थ... । ४. (का०) (वें०) (प्र०) प्रकरम... ।

बाद 'अक्रम' (जिस शब्द का जिस शब्द के बाद क्रमशः उचित रूप में न होना) आदि का अधिक उल्लेख है । दासजी ने भी इन संस्कृत-जन्य दोषों में दो 'चरण-गत' और 'अकथित-कथनीय' दोषों की अधिक सृष्टि की है । इन दोषों में—'चरणांत तो चिंतामणि (ब्रजभाषा-आचार्य) की देन है, द्वितीय "अकथित-कथनीय" का बहुत कुछ खोजने पर भी पता नहीं चला कि उसे आप से पूर्व और किसने कहा ।"

अथ प्रतिकूलाच्छर-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

अच्छर नहिँ रस^१-जोग सो-प्रतिकूलाच्छर^२ ठट्टि ।

“पिय तियलुटत है सुरस, ठट्टि लपट्टि भूपट्टि ॥”^३

अस्य तिलक

इहाँ 'ठट्टि, लुटत, लपट्टि और भूपट्टि सबद जो रुद्र (रौद्र) रस में आँने चाहिये, वे सिंगार-रस में धरे, सो प्रतिकूल हैवे ते प्रतिकूलाच्छर दोष भयौ ।

वि०—“प्रतिकूलाक्षर दोष का लक्षण—संस्कृत में अभीष्ट-रस के प्रतिकूल वर्णगत रचना को कहा गया है । साथ-ही वहाँ—रसानुकूल और पदानुकूल अक्षरों का प्रयोग न होना भी कहा है ।”

अथ हतवृत्त वाक्य दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

ताहि कहत 'हतवृत्त' जहँ, छंदोभंग सबन^३ ।

“लाल-कमल जीत्यों सु वृष, भाँनु-लली के चर्न ॥”^४

अस्य तिलक

इहाँ दुतीय चरन में वृष और भाँन कों प्रथक-प्रथक करि कह्यौ, 'वृषभाँन' एक रूप में नाहिँ कह्यौ, “ताते हतवृत्त”-पद दोष है ।

पुनः हतवृत्त कौ उदाहरन—

यहौ कहत 'हतवृत्त' जहँ, नाहिँ सुमिल-पद-रीति ।

“हग-खंजन^५, जंघनि-कदलि, रदँन मुक्त लिय जीति ॥”^६

अस्य तिलक

इहाँ हग के संग जंघा कहीं, रदँन (दाँत) नाहिँ क्यौ, जो क्रम ते उचित हों, ताते इहाँ-हूँ 'हतवृत्त' दोष है ।

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) पद*** । २. (का०) (वें०) (प्र०) (का० प्र०) लपट्टि । ३. (का०) (वें०) (प्र०) (का० प्र०) लुवर्न । ४. (सं० पु० प्र०) दृगेन खंज ।

* , †, ‡ काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४४ ।

वि०—“काव्य-प्रकाश और साहित्य-दर्पण के अनुसार “हतवृत्त”— जो छंद,—लक्षण के अनुसार होने पर भी सुनने में उचित न लगे, जो रस के अनु-कूल न हो या जिसके अंत्यानुप्रास में ऐसा लघु हो जो गुरुता न ला सके इत्यादि तीन प्रकार का माना गया है। दासजी ने छंदो-भंग और अमिल-पद (क्रमभंग) रूप से दो प्रकार का ही माना है।”

अथ विसंधि वाक्य-दोष लच्छन-उदाहरन—

सो ‘विसंधि’ निज रुचि धरें, संधि-बिगारि-सँवारि।

“मुर-अरि-जस उज्जल जँनें, स्याम^१ महा-तरवारि ॥”*

अस्य तिलक

इहाँ मुरारि कों बिगारि कें—‘मुर-अरि’ कहि कें औ तरवारि कों सँवारि (सुधारि) कें, ‘मुर-अरि’ की भाँति “तर-वारि” न कह्यौ ताते ‘विसंधि’ के ‘बिगारि-सँवारि-रूप ते द्वै-भाँति कौ ये दोष भयौ।

वि०—“विसंधि-दोष में—“इच्छानुसार संधि को बिगाड़ना-सँवारना अथवा संधि के बीच कुपद का लाया जाना” कहा जाता है। काव्य-प्रकाशकार का लक्षण है—“विसंधि सधेवैरूप्यं, विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च” (जहाँ संधि में वैरूप्य—अशोभनीयरूपा असंधि, अश्लीलता और उच्चारण का कष्ट हो वहाँ विसंधि-दोष)। अस्तु, अश्लीलता-युक्त विसंधि और कष्ट-कर-संधि ये दो प्रकार के भेद विसंधि के और होते हैं।”

पुनः विसंधि-उदाहरन जथा—

पुँनि^२ ‘विसंधि’ द्वै^३ सब्द के बीच कुपद परिजाइ।

“पीतँम जू तिय लीजिए, भली-भाँति उर-लाइ ॥”†

अस्य तिलक

इहाँ “पीतँम जू तिय लीजिए” में पीतँम जूतिय (जूता) लीजिए हू पढ़िबे में आवै, ताते विसंधि दोष है। जूती शब्द अश्लील पर जात है।

अथ न्यून-पद वाक्य-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

सब्द रहें कछु कहँन कों, बहै^४ ‘न्यून-पद’-मूल।

“राज तिहारे^५ खरग ते, प्रघट भयौ जस-फूल ॥”‡

पा०—१. (का०) (६०) (स०पु०प्र०) (का०प्र०) तेरी स्याम तरवारि। २. (का०) (६०) यही...। ३. (का०) (६०) दु...। ४. (प्र०) सु है...। ५. (का०प्र०) तिहारी...।

*, †, ‡ काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४४।

अस्य तिलक

इहाँ पैहलें खरग (खङ्ग) कों लता कहि, फिर वामें फूल कहिनो उचित हो, पै ऐसौ न कहिबे ते 'न्यून-पद' दोष है ।

अथ अधिक-पद दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

सोइ^१ 'अधिक-पद' जहँ परै, अधिक सब्द बे^२ काज ।
'डरौ तिहारे सत्रु कों, खरग-लता-अहिराज ॥'*

अस्य तिलक

इहाँ लता-सब्द अधिक है, ताते अधिक पद दोष है ।

अथ पततप्रकर्ष-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

सो है 'पततप्रकर्ष' जहँ, लई रीति निबहै न ।
"कान्ह, कृष्ण, केसब कृपा-सागर राजिव-नैन ॥"

अस्य तिलक

इहाँ—कान्ह, कृष्ण, केसब औ कृपा चारि सब्द ककारादि कहि आगें फिरि ऐसौ ही ककारादि सब्दन कौ निरबाह न करिबे ते 'पततप्रकर्ष' दोष है । अर्थात् अपनाई (भई) रीति कौ निरबाह नाही भयौ ।

अथ कथित दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

कह्यौ फेरि कहि^३ 'कथित-पद', सो^४ पुँनरुक्त कहोय ।
"जो तीय मो-मँन लै गई, कहाँ गई वो तीय ॥"*

अस्य तिलक

इहाँ "तीय" सब्द द्वै बार आइबे, (कह्यौ भयौ तीय सब्द फिर कहिबे) ते कथित-दोष है ।

अथ समाप्त-पुनराप्त-लच्छन जथा—

करि^५ "समाप्त-बातें कहै, फिरि आगें कछु बात ।
सो 'समाप्त-पुनराप्त' है, दूषन मति अबदात ॥

अस्य उदाहरन

डाभ-बराए^६ पग-धरौ, ओढ़ौ पट, अति घाँम ।
सियै सिखै यों निरखिते^७, दृग-जल-भरि मग-वाँम ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) (का० प्र०) सुहै... २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) (का० प्र०) विन... ३. (का०) (व०) कहै... ४. (का०) (वें०) (प्र०) औ... ५. (का०) (वें०) कहि... ६. (का०) (वें०) बचाए... ७. (का०) (वें०) (सं० पु० प्र०) निरखती ...

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४५ ।

अस्य तिलक

इहाँ ‘निरखिते’ (निरखकर, देखकर) के स्थान पे ‘सिखावती’ शिक्षा-देती, ऐसौ पाठ होंनों चहिए, पै ऐसौ न करिबे ते ये दोष भयौ ।

अथ चरनांत-दोष-लच्छन-उदाहरन जथा—

“चरनांतर-गत’ एक पद, द्वै चरनँन के सौँझ ।

“गैयँन लीनँ काँन्ह’ में, काँन्हें देख्यौ सौँझ ॥”

अस्य तिलक

इहाँ काँन्ह सब्द द्वै चरनँन में द्वै बार आयौ, सो अनुचित है । इहाँ या प्रकार कहिनों हो कै—“काँन्हें देख्यौ आज में, गैयँन लीनँ सौँझ” । सो न कहि ऊपर लिखी भाँति कहिबे ते ये दोष भयौ ।

वि०—“इस दोहे के उदाहरणरूप अर्ध-भाग के पाठ में बड़ा गड़बड़ है, सभी हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियों में इसका पाठ—“गैयँन लीनँ आज में, काँन्हें देख्यौ सौँझ”—माना गया है । पर यह पाठ “चरणांतगत” दोष के लक्षण से नहीं मिलता । वहाँ स्पष्ट लिखा है कि “जहाँ एक पद दो चरण के मध्य आये तब ‘चरनांत’ या चरणांतगत दोष होगा । इस लक्षणानुसार विविध प्रतियों में अपनाया गया पाठ उससे पृथक् पड़ता था । अतः, बहुत कुछ खोजने के बाद “प्रतापगढ़” (अवध) से लीयो टायप में प्रकाशित उक्त पाठ जो मूल में दिया गया है, मिला और उसे-ही लक्षणानुसार समुचित समझ कर उल्लेख किया गया है ।

दासजी कृत उक्त वाक्य-दोष एक प्रकार से संस्कृत जन्य “अर्थांतरै कवाचक” (छंद-गत पूर्वाद्ध के कुछ वाक्य का भाग उसके उत्तरार्ध में आना) का रूपांतर शात होता है, अन्य कुछ नहीं, किंतु इसका उदाहरण जो वहाँ दिया गया है उसका दासजी कृत उक्त उदाहरण से मेल नहीं खाता—पूर्व वर्णित “समाप्त-पुनरास्त के उदाहरण से उसका पूर्ण संबंध है, यथा—

“मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा विरचय सिचयांतं मूर्धनिधर्मः कठोरः ।

तदिति जनकपुत्री लोचनैश्च पृष्ठैः पथि पथिकबधूभिर्वीक्षिता शिक्षिता च ॥”

—का० प्र० ७, २२६

भूमि पर (तनिक) धीरे-धीरे देखभाल कर पाँव रखें, क्योंकि वह कुशों से भरी पड़ी है (उससे ठोकर न लग जाय), धूप भी कड़ी है, इसलिये साड़ी का

पल्ला सिर पर आगे को (अधिक) खींच लो (जिससे घाम न लगे), यह शिचा वन को जाती हुई (कोमलांगी) जनक-पुत्री (सीताजी) को देखकर पथिक स्त्रियों ने आँखों में आँसू-भरकर दी ।” पर इसका पर्दाफास दासजी मान्य तिलक के अनुसार “शिक्षिता च” (सीख दी) पद ने कर दिया है ।”

अथ अभवनमत्तजोग दोष लच्छन-उदाहरन —

मुख्यै-मुख्य^१ गँनत कहि, सो ‘अभवनमत्तजोग’ ।

“प्राँन, प्राँन-पति-बिन रहे^२ अबलों धिग ब्रज-लोग ॥”

अस्य तिलक

इहाँ प्राँन कों धिग कहिनों जोग हो, पै ऐसौ न कहि ब्रज के लागन काँ कह्यौ ताते ये दोष है । बाक्यँन कौ भले प्रकार सों अन्वह न हैवौ-ई या दोष कौ लच्छन हैं, जैसौ इहाँ ‘’ ।

पुनः उदाहरन—

बसँन-जोन्ह, मुकता-उड़ग, तिय-निसि कौ^३ मुख-चंद ।

मिल्लीगँन, मंजरी-रव, उरज सरोरुह-बंद ॥

अस्य तिलक

इहाँ हैं तिय कौ निसि करिकें बरनँन है, सो मुख्य-करिकें समस्या में होंनों चहिऐं ।

वि०—“हमारी अल्प मतिसे दासजी कृत इस तिलक रूप व्याख्या में कुछ कसर रह गयी है, वह यह कि उक्त उदाहरण निशा का—उज्ज्वल निशा का वर्णन है, इसलिये ‘तिय मुख निसि कौ चंद’ कहना उचित था, न कि—“तिय-निसि कौ मुख चंद” । अथवा इस “स्त्री-रूप रात्रि का मुख चंद” विविध मुक्ता-विभूषित अलंकार उड़गन=तारागण, बसन = चंद्रिका, मंजीर (विभुवा, वा घूंघरू) का रव (आवाज) मिल्लीगणों का गान उरुज-सरोरुह = कमल (युगल) का बंद होना या रहना, सब उसी “सानिशा” का वर्णन है, पर वह क्रम से नहीं—अनुपम अन्वय युक्त नहीं, इसलिये उक्त दोष है ।”

अथ अकथित-कथनीय-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

नाहिँ अबस्य कहिबौ कहै, सो “अकथित-कथनीय” ।

“पोतँम पौँइ-लग्यौ नहीं, माँन छाँड़ितो तीय ॥”

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) मुख्यहि मुख्य जो गनत कहि... । २. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) रह्यौ... । ३. (का०) (वें०) (प्र०) के...

अस्य तिलक

इहाँ माँन-छाँबिबौ तौ कह्यौ, पै पाँइ-लागिबौ नहीं, ताते पै दोष ।

पुनः उदाहरन

तैन' पर सोहत पीत-पट, चंदन कौ रँग भाल ।

पाँन'-लीक अधरँन लगी, लई नई छाबि लाल ॥

अस्य तिलक

इहाँ नई छाबि तौ कह्यौ पै पीत-पट के स्थान पै नील-पट, चंदन के स्थान पै जाबक, पाँन के स्थान पै स्याँम न कह्यौ, ताते उक्त दोष भयो ।

अथ अस्थानस्थपद दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

सो है 'अस्थानस्थ-पद', जँह चहिऐ' तहँ नाँहि ।

“हैं वै^३ कुटिल गड़ी अजों, अलकें मो मँन-माँहि ॥”

अस्य तिलक

इहाँ कुटिल-पद, अलक के ठिँग=पास कहिनोँ उचित हो, सो न कह्यौ, ताते अस्थानस्थ दोष है ।

अथ संकीरँन-वाक्य-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

दूरि-दूरि ज्यों-त्यों मिलै 'संकीरँन-पद जाँन ।

“तजि पीतँम पाँइन परथौ, अजहूँ लखि तिय-माँन ॥”

अस्य तिलक

इहाँ “पीतँम पाँइन-परथौ तजि, तिय-माँन अजहूँ लखात है”, अथवा—
“पीतँम-पाँइन परथौ लखि कें तिय-माँन अज-हूँ न तज्यौ” ए अर्थ बनत हैं,
पै इहाँ पाठ या प्रकार होंनों चहिऐ कै—लखि पीतँम-पाँइन परथौ, अज-हूँ तजि
तिय-माँन ।” अर्थात् सखी-बचन नायिका प्रति—पियतम कों पाँइन परथौ लखि
कें हूँ तेरौ मान अबतक न गयौ” । ऐसौ न होइवे ते 'संकीरँन'-दोष बन्यो ।

अथ गरमित-पद-दोष लच्छन जथा—

“और वाक्य दै बीच जो^४ वाक्य रचै कवि कोइ ।

'गरमित' दूषन कहत हैं, ताहिं सयाँने लोइ ॥

पा०—१. (प्र०) (वें०) (स० पु० प्र०) सिर पर सोहै...। २. (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) पाँन-पीक अधरन लसै नई लई...। (रा० पु० प्र०) पीक-लीक अधरन लसत...। ३. (का०) (वें०) (प्र०) यों...। ४. (का०) (वें०)...को । (सं० पु० प्र०) अवर वाक्य वै बीच ज्यों...।

अस्य उदाहरन

साधु-संग औ हरि-भजँन, बिष^१-तरु यै संसार ।
सकल भाँति बिष सों भरघौ, द्वै^२ अमृत-फल चारु ॥

अस्य तिलक

इहाँ यै दोहा या प्रकार होंनों चँहिय तो—“सकल भाँति दुख सों भरघौ, बिष-तरु यै संसार । साधु-संग औ हरि-भजँन, द्वै अमृत फल चारु ॥” पै ऐसौ न होइबे ते यै दोष है ।

अथ अमतपरार्थ-पद-दोष लच्छन जथा—

औरें रस में राखिए, ओरे^१ रस की बात ।
‘अमतपरार्थ’ कहत हैं, लखि कवि-मत कौ घात ॥

अस्य उदाहरन

“राम-काम-सायक लगे, विकल भई अकुलाइ ।
क्यों न सदन पर-पुरुष के, तुरत तारिका जाइ ॥”

अस्य तिलक

इहाँ जैसौ रूपक सिंगार-रस^१ में कहिनों उचित हो, सात-रस में ना हीं ।

अथ प्रकरँन-भंग-दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

सौ है ‘प्रकरँन’-भंग^१ जहँ, बिधि-सँमेत नहिं बात ।
“जहाँ रँन जागे सकल, ताही पै किन जात ॥”

अस्य तिलक

इहाँ—“जाकें निसि जागे सकल, ताही०……” ऐसौ कहिनों उचित हो, पै ऐसौ न कहनों प्रकरँनभंग दोष है ।

अथ दुतीय प्रकरँन-भंग लच्छन-उदाहरन जथा—

जथासंख्य जहँ नहिं मिलै, सोऊ^३ प्रकरँन-भंग^१ ।
“रमाँ, उमाँ, वाँनी सदाँ, बिधि, हरि, हर के संग ॥”*

अस्य तिलक

इहाँ “रमाँ, उमाँ, वाँनी” की भाँति “हरि, हर, बिधि के संग” न कहि बिना क्रम के ‘बिधि, हरि, हर०’ क्यौ, सो दोष-युक्त है ।

पा०—१. (स० पु० प्र०), द्वै हि अमृत फल चारु । २. (स० पु० प्र०) बिषतरु यै संसार । ३. (का०) (प्र०) सो है०० ।

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४५ ।

अथ तृतीय प्रकरँन-भंग लच्छन-उदाहरन जथा—

सोऊ 'प्रकरँन-भंग' है^१, नाहिँ एक सँम बँन ।

“तू हरि की अँखियँन बसी, काँन्ह बसे तो^२ नँन ॥”

अस्य तिलक

इहाँ “काँन्ह-नँन में तू बसी” ऐसौ कहिबौ उचित हो, सो न कइौ, ताते ये तीसरौ प्रकरँन-भंग दोष भयौ ।

अथ प्रसिद्ध-हत दोष-लच्छन-उदाहरन जथा—

‘परसिद्ध-हत’ परसिद्ध-मत^३, तजै एक फल लेखि ।

“कूँजि उठे गोकरभ सब, जसुमति-सावक देखि ॥”

अस्य तिलक

इहाँ कूँजिबौ (कुजनों=मधुर ध्वनि करना) पंछिन कौ, करभ=हाथी के बच्चा औ सावक=हिरँ के बच्चा के अर्थ में प्रसिद्ध हैं, गाय के बच्चा (बछड़ा) कौ कूँजिबौ, मनुष्य (जसुमति-सावक) बालक कों देखि नाहीं, ये बिपरीत बरनँन है, ताते ‘प्रसिद्ध-हत’ (प्रयोग-विरुद्ध वा विरुद्ध-प्रयोग) दोष है ।

“इति वाक्य-दोष”

अथ अर्थ दोष-बरनन जथा—

अपुष्टार्थ, कष्टार्थ, व्याहरत^४, पुनरुक्तौ जित ।

दुक्कम, ग्राम्य, संदिग्ध, अपर^५ निरहेत अँनवीकृत ॥

नियँम, अनियँम, प्रवृत्त^६, बिसेस, समान प्रवृत्ति कहि ।

साकाँच्छा, पद अजुक्त, सविधि, अँनबाद-अजुक्तहि ॥

जो विरुध प्रसिद्ध प्रकासतँन^७, सैहचर-भिन्न असलील-धुँनि ।

है त्यक्त^८ पुँनः स्वीकृत-सहित, अर्थ^९-दोष “बाईस” पुँनि ॥

वि०—“दासजी ने इस छप्पय-द्वारा “बाईस” (२२) अर्थ-दोषों का उनके नामों के साथ कथन किया है । आपकी यह नामावली इस प्रकार है—“अपुष्टार्थ, कष्टार्थ, व्याहृत, पुनरुक्त, दुक्कम, ग्राम्यार्थ, संदिग्धार्थ, निहेतुक, अनवीकृत,

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) जहँ. नहीं ॥ २. (का०) (वें०) (प्र०) तुव ॥ ३. (का०) (वें०) ...हत जु प्रसिद्ध ॥ ४. (का०) (वें०) (प्र०) व्याहृतौ ॥ ५. (का०) (वें०) जु नीर हतौ ॥ (वें०) ...नीर तो अनवीकृत । ६. (वें०) ...जु वृत्त । ७. (का०) (वें०) ...प्रकास तनि, सहचर भिन्नो स्लील ध्वनि । ८. (का०) (वें०) तित्त । ९. (का०) (वें०) असमर्थहि से त्यास पुनि ।

नियम-परिवृत्त, अनियम-परिवृत्त, विशेष-परिवृत्त, सामान्य-परिवृत्त, साकांद्य, अयुक्त, विधि-अयुक्त, अनुवाद-अयुक्त प्रसिद्धि-विरुद्ध, प्रकाशित-विरुद्ध, सहचर-भिन्न, अश्लील और त्युक्त पुनः स्वीकृत ।

संस्कृत में दोषों का प्रथम उद्घाटन जैसा इस उल्लास के आदि में लिखा जा चुका है, श्रीभरतमुनि ने किया था, उन्होंने दोषों का वर्गीकरण तो नहीं किया, पर लक्षण-सहित उनकी संख्या—“गूढार्थ, अर्थांतर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिलुप्तार्थ, न्यायायत, विषम, विसंधि और शब्द-हीनादि, दस रूप में अवश्य मानी हैं । इन्हीं में से अधिक दोष अर्थ-दोषों के उदभावक हैं । आपके बाद “ममट” ने इन दस दोषों को कुछ अधिक विकसित करते हुए वर्गीकरण के साथ, जैसे—“सामान्य-दोष”—“नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत्, गूढशब्द”, “वाणी-दोष”—“श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट, श्रुति-कष्ट”, “अन्य दोष”—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्द-हीन, यति-भ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसंधि, देशकालकलालोकन्यायागम-विरोधी और प्रतिज्ञाहेतु दृष्टान्तहीन” । इस त्रिवर्ग में सामान्य और वाणी-दोषों का उद्गम तो अज्ञात है, पर अन्य दोषांतर्गत विविध दोषों का मूल विशेषतः भरत जन्य हैं । अब दोषों की संख्या—इक्कीस (२१) हो गयी । दंडी ने इन दोषों को काट-छाँटकर, अर्थात् भामह-जन्य सामान्य और वाणी-दोषों के साथ अन्य दोषांतर्गत एक “प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्तहीन” को त्याग कर सब के सब यथावत् अपना लिये । फलरूप भामह-कृत इन जातियों को त्यागते हुए भी दोष-संख्या वही भरत-जन्यवत् दस हो गयी । आचार्य वामन के समय इनमें फिर वृद्धि हुई और वर्गीकरण भी हुआ । आपने दोषों को—पद, पदार्थ, वाक्य और वाक्यार्थ-रूप जाति में विभक्त कर पाँच ‘पद-दोष’—“असाधु, कष्टकर, ग्राम्य, अप्रतीत, अनर्थक”, पाँच ‘पदार्थ-दोष’—“अन्यार्थ, नेयार्थ, गूढार्थ, अश्लील, क्लिष्ट”, तीन ‘वाक्य-दोष’—भिन्नवृत्ति, यतिभ्रष्ट, विसंधि और सात ‘वाक्यार्थ-दोष’—“व्यर्थ, एकार्थ, सन्दिग्ध, अप्रयुक्त, अपक्रम, अलोक, विद्या-विरुद्धादि” में परणित कर संख्या पुनः “बीस” (२०) प्रस्तुत कर दी । यही दोष-संख्या आगे चलकर मम्मट-काल में—शब्द, अर्थ और रसादि त्रिवर्ग से विभूषित हो सत्तर (७०) हो गयी, यथा—शब्द-दोष—“सैंतीस”, अर्थ-दोष—“तेईस” और रस-दोष—दस । विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इन त्रिवर्ग-जन्य दोषों को पाँच—“पदे तदंशे वाक्यस्य संभवति रसेऽपियत्” (पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रस) विभागों में विभक्त किया और संख्या—चौसठ (६४), जैसे—पद-दोष—“पंद्रह”, वाक्य-दोष—“तेईस”, अर्थ-दोष—“सोलह” और रस दोष—‘दस’ । इन पंचभूत दोषों में—पद, पदांश

और वाक्य-गत दोष, शब्द-दोषों में समाजाते हैं, कारण—वाक्यार्थ का बोध होने पर जो दोष दिखलाई पड़ते हैं, वे शब्द के आश्रित हैं, इत्यादि...। ब्रजभाषा-साहित्य में भी दोषों में उलटफेर हुए, पर वे अधिक उल्लेखनीय नहीं हैं। क्योंकि वे संस्कृत-जन्य दोषों के विकृत-अविकृत रूप हैं और कुछ नहीं।

उपरोक्त विवरण दोषों के आविर्भाव और विकास काल का संक्षिप्त इतिहास है, जो समयानुसार वृद्धि और हास के भोको में पनपता तथा मलिन होता रहा। अस्तु, दासजी इस विवाद में नहीं पड़े। उन्होंने मम्मट मान्य दोषों का एक समूह और परस्कृत मार्ग अपनाया और तदनुकूल 'शब्दार्थ'-दोषों का आकलन किया।”

प्रथम अपुष्टार्थ दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

प्रौढ-उक्ति जहँ अर्थ^१ है, 'अपुष्टार्थ' सो बंक।

“उयौ अति^२ बड़े गगँन में, उज्जल चारु मयंक ॥” *

अस्य तिलक

गगँन अति बड़ौ है ही औ चंद्रमा-हूँ उज्जल औ चारु (सुंदर) होइ है, ताते गगँन कों अति बड़ौ औ चंद्र कों चारु कहिबौ व्यर्थ है।

अथ कष्टार्थ दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

अर्थ भिन्न अछरँन ते, 'कष्टार्थ' सु बिचारि^३।

“तो पर वारों चार मृग^४, चार बिहँग, फल-चारि ॥”†

अस्य-तिलक

इहाँ “तो पर वारों चार मृग”—में मृग ते “पसुँन” कौ अर्थ, जैसे—बेंनन पै मृग, घूँघट पै हय (घोड़ा), गति पै हाथी, कटि पै सिंघ यों चारि मृग वारे। याही भाँति चार बिहँग, जैसे—बेंन पै कोकिल, ओबा पै कपोत (कबूतर), केस पै मोर औ नासिका पै सुक (तोता) आदि पंछी वारे। चारि फल, जैसे—दाँतन पै दाड़िम (अनार), कुचँन पै श्रीफल (नारियल), अघरँन पै बिंषाफल और कपोलँन पै मधूस (महुआ—वृक्ष विशेष का फूल) ए वारे। ए सब अर्थ कष्ट सों-ही जाने जात हैं, ताते ये कष्टार्थ दोष हैं।

पा०—१. (सं० पु० प्र०) ब्याज...। २. (प्र०), बहुत बड़े गगँन में...। (वें०) उयौ अति बड़ौ...। (का०) (वें०) उयौ बड़ौ अति गगन में...। ३. (का० प्र०) अर्थ न जाकौ समझिये, सो कष्टार्थ बिचारि। ४. (का० प्र०) पसु...।

*, † काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४५।

अथ व्याहत दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

सत-असतौ एकै कहे, 'व्याहत' सुधि-विसराइ ।
 "चंद-मुखी" के बदन-रौम-हिमकर कह्यौ न जाइ ॥”*

अस्य तिलक

इहाँ चंद-मुखी कहि कें वाके बदन (मुख) कों 'हिमकर' (चंद्रमा) न कहिनो व्याहत दोष है ।

वि०—“व्याहत का लक्षण है—“किसी वस्तु का प्रथम महत्व दिखलाकर फिर उसकी हीनता सूचित करना, अथवा प्रथम हीनता दिखलाकर पुनः उसका महत्व सूचित करना । सुधि-भूलकर सत्य-असत्य को एक रूप में कहना—जहाँ एक बात निर्धारित कर फिर उसके विरुद्ध कहना—आदि भी “व्यवहत-दोष-लक्षण हैं । वदतोव्यघात वा परस्पर विरोध भी इसे कहते हैं । अस्तु, आशय एक है, कहने के—लक्षण-प्रकाश के दंग अलग-अलग हैं ।”

अथ पुनरुक्त दोष-लच्छन-उदाहरन जथा—

वहै अर्थ पुँनि-पुँनि मिलै, सबद और 'पुनरुक्त' ।
 “मृदु-बाँनी, मीठी लगै, बात कविँन की उक्त ॥”†

अस्य तिलक

इहाँ बाँनी, बात औ उक्त (उक्ति) कौ अर्थ एक-ही है, अलग-अलग नाहीं, पै सबद और-और हैं, ताते पुनरुक्त दोष है ।

अथ दुःक्रम दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

क्रम-विचारक्रम कों कियौ 'दुःक्रम' है इहि काल ।
 “बरबाजी, कै बारनैं, दै हैं रीझि दयाल ॥”

अस्य तिलक

इहाँ — “बारँन-ही कै बाजि ही दै हैं०” ऐसो हौनों चहियतो ।

वि०—“दुःक्रम का लक्षण है—अनुचित क्रम, लोक-शास्त्र-विरुद्ध क्रम । अस्तु, इस उदाहरण में—“प्रथम घोड़ा और बाद में हाथी की यांचा 'यह दुःक्रम है । अर्थात् प्रथम हाथी की—बड़ी वस्तु की, यांचा न कर थोड़े की—अल्प को—जो घोड़ा नहीं दे सकता उससे हाथी माँगना...’यांचा-दुःक्रम है इत्यादि...।”

अथ ग्राम्यार्थ दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

चतुरन की-सी बात नहिं, ग्राम्यार्थ सो चेति ।
“अली पास पौढ़ौ^१ भलें, मोहि किँन पौढ़ देति ॥”

अस्य तिलक

इहाँ पुरुष हँ कै स्त्री की समानता करनो ग्राम्य दोष हैं ।

वि०—“ग्राम्यार्थ दोष का लक्षण—भद्देपन से, गँवारपन से बात या कार्य करना है—और जैसा कि दासजी ने उदाहरण प्रस्तुत किया है—“तुम पास भले-ही सो जाओ—लेट जाओ, पर मुझे भी सोने दो—लेटने दो “कहना भद्देपन का द्योतक है ।”

अथ संदिग्धार्थ दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

‘संदिग्धार्थ’^२ अर्थ बहु, एक कहत संदेह ।
“किहि कारँन^३ काँमिनि लिखी, सिब-मूरति निज गेह ॥”*

अस्य तिलक

इहाँ काँम के डरते वा पूजिबे कौ काँमिनी नें सिब की मूरति लिखी; ये निसचै के संग नाहिं कह्यौ जाइ, ताते ये दोष है ।

अथ निरहेतु दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

बात कहै बिँन-हेतु की, सो ‘निरहेतु’ विचारि ।
“सुँमन भरथौ माँनों अली, मढ़ँन दियौ सर-डारि ॥”

अस्य तिलक

इहाँ काँम ने कौन हेतु सों सर (वान) डारि दियौ सो न कह्यौ—वाके डारि दैबे कौ कारँन न कह्यौ, ताते इहाँ निरहेतु दोष है ।

अथ अँनुबिक्रत दोष लच्छन-जथा—

जो न नए अर्थ^४ धरै, ‘अँनुबिक्रत’ सु बिसेष ।
जँनु लाटानुप्रास औ आबृति-दीपक देख ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) पौढ़ी... २. (का०) (वें०) (प्र०) संदिग्धार्थ जु अर्थ... ३. (सं० पु० प्र०--द्वि०) कारज... ४. (सं० पु० प्र०--द्वि०) कारज...

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४६ ।

अस्य उदाहरन जथा—

कोंन अचंभौ, जो पाबक जारै, औ^१ कोंन अचंभौ गरु गिरि भाई ।
कोंन अचंभौ, खराई पयोनिधि^२, कोंन अचंभौ गयंद कराई ॥
कोंन अचंभौ, सुधा मधुराई, औ कोंन अचंभौ बिषै^३ करुआई ।
कोंन अचंभौ, बहै बृष भार, तौ^४ कोंन अचंभौ भलै-ईं भलाई ॥

अस्य तिलक

इहाँ ये छंद या प्रकार होनों चहिऐं, जथा—

*

“कोंन अचंभौ जो पाबक जारै, गरु गिरि है तौ कहा अधिकाई ।
सिंध-तरंग सदैव खराई, नई नहिं सिंधुर-अंग कराई ॥
मीठौ पियूष, करु बिष-रोति, पै ‘दासजू’ या में न निंद-बड़ाई ।
भार चलाव^५-ही आपु-हि बैल, भलेन के अंग सुभाव^६ भलाई ॥”

वि०—“दासजी कृत “अनुविकृत” शुद्ध—‘अनवीकृत’ दोष वहाँ होता है, जहाँ—अनेक अर्थों को एक-ही प्रकार से कहा जाय—उनमें कोई अन्य विलक्षणता का प्रदर्शित न होना, जाना जाता है। प्रस्तुत उदाहरण में “कोंन अचंभौ” शब्द-समूह अर्थ में कोई विशेष विलक्षणता प्रदर्शित नहीं करता, इसलिये उपयुक्त दोष है, पर यही छंद “तिलक-रूप” में पढ़ने-से (उसमें) विलक्षणता आ जाती है—सु सुंदरता बढ़ जाती है, अतः उक्त दोष भी नहीं रहता ।

एक बात और, इस अनवीकृत दोष में पर्यायवाची शब्द के बदल देने पर भी, यह दोष बना रहता है, पर पूर्व कथित-पद दोष में छंद-प्रयुक्त शब्दों के पर्यायवाची शब्दों के बदल देने से यह दोष नहीं रहता । यही इन दोनों का भेद है—विच्छेद है ।”

अथ नियम-अनिमय प्रवृत्त कौ लच्छन—

अनियँम-थल नेंमें गहै, नियँम-ठौर जु अनेंम ।

‘नियँम-अनियँम-प्रवृत्त’ है, दूषँन दुअौ अप्रेंम ॥

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) तौ...। २. (वें०) पयोधि की । ३. (का०) (वें०) (प्र०) विषै...। ४. (का०) (वें०) (प्र०) औ...। ५. (वें०) (स० पु० प्र०) ...चलाव-हि आपु धरीन, भलेनि कौ...। ६. (का०) (वें०) (प्र०) सुभावै ।

अस्य उदाहरन

जाकी सुभदाइक रुचिर, कर ते मँनि गिरि जाइ ।
क्यों पाऐ आभास-मँनि, होइ तासु चित-चाइ ॥

अस्य तिलक

आभास-मँनि, मँनि (मणि) की छाया कों कहति हैं, ताते इहाँ—“क्यों लहि
छाया-मात्र-मँनि”... कहिनों उचित हो, सो अनेम बात कही ताते ये उदाहरन
अनियम प्रवृत्त कों है ।

पुनः उदाहरन जथा—

भैकारी, भैकारिऐ, लेंन चँहती जीय ।
तँन-तापँनि ताड़ित करै, जौमिनि-हीं जँम-तीय^१ ॥

अस्य तिलक

ये दोहा इहाँ या प्रकार होंनों चाहिये, जैसे—

*

“हे कारी, भै-कारिनी^२, लेंन चँहत मो जीय ।
तँन तापँन ताड़ित करै, जौमिनि जँम की तीय ॥”

वि०—“दासजी मान्य इस ‘नियम-अनियम प्रवृत्त’ को संस्कृत-रीति ग्रंथों
में—“सनियम और अनियम परिवृत्तता” कहा है । सनियम परिवृत्तता उसे
कहते हैं—जहाँ नियम पूर्वक कहना चाहिये उसे नियम पूर्वक न कहना और
अनियम परिवृत्तता वहाँ होती है, “जहाँ—नियम पूर्वक न कहना चाहिये, पर
नियम-पूर्वक कहना ।”

अथ बिसेस प्रवृत्त लच्छन जथा—

जहाँ ठौर साँमान्य कों, कइ बिसेस अयौन ।
ताहि ‘बिसेसपरवृत्त’ गँनि, दूषँन कइ^३ सुजौन ॥

अस्य उदाहरन जथा—

कहा सिंध लोपत मँनिन, बीचिँन कीच बहाइ^४ ।
सक्यौ कौस्तुभ-जोरि तू, हरि सों हाथ बुड़ाइ ॥

अस्य तिलक

इहाँ ये दोहा या प्रकार कहिनों चाहिये

पा०—१. (रा०पु०नी०सी०) जामिन जम की तीय । २. (रा०पु०नी०सी०) भैकारी ये
जौमिनी*** ३. (का०) (वे०) (प्र०) मँने*** ४. (का०) मचाइ । (प्र०)...बड़ाइ

“कहा मैंनिन-मूँ दत जलधि, बीची कीच मचाइ ।
सक्यौ कौस्तुभ जोर तू, हरि सों हाथ बुझाइ ॥”

अथ सामान्य प्रवृत्त लच्छन जथा—

जहाँ कहत ‘सामान्य’-हो, थल-विसेस कों देख ।
सो ‘सामान्यप्रवृत्त’ है, दूषन दृढ़ अवरेख ॥

अस्य उदाहरन जथा—

रैन स्याँम-रँग-पूरि, ससि-चूरि^१ कमल करि दूरि ।
जहाँ-तहाँ हों पिय लखों, ए भ्रँम-दाइक भूरि^२ ॥

अस्य तिलक

रात्रि स्याँम है, ससि हू सुफेद है, फिर इन्हें भ्रँम-दाइक (भ्रम उत्पन्न करने वाले) कहनों ‘सामान्य-प्रवृत्त’ कथन दोष है ।

वि०—“जहाँ अर्थ के लिये सामान्य शब्दों का प्रयोग करना चाहिये, पर ऐसा न कर वहाँ विशेष शब्दों का प्रयोग किया जाय जाने पर यह अर्थ दोष होता है । संस्कृत-साहित्य में इसे “अविशेष परिवृत्ति दोष भी कहते हैं ।”

दासजी के ‘विशेष’ और ‘सामान्य परिवृत्तता’ के दोनों उदाहरण “संस्कृत-काव्य-प्रकाश” की संपत्ति हैं और वे वहाँ क्रम विपर्यय से—विशेष का उदाहरण सामान्य में—अविशेष में तथा सामान्य का उदाहरण ‘विशेष परिवृत्ति’ में दिया गया है । मूल उदाहरण इस प्रकार हैं—अस्तु, प्रथम विशेष परिवृत्ति (जहाँ किसी विशेष वस्तु का उल्लेख न किया जाय, पर जिसका नामोल्लेख उचित है—जिस अर्थ के लिये विशेष शब्द अभिप्रेत है, वहाँ सामान्य शब्द का प्रयोग करना) उदाहरण, यथा—

“श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः सांद्रैर्मपीकूर्चकैः—

मंत्रं तंत्रमथ प्रयुज्य हरत श्वतोत्पलानां श्रियम् ।

चंद्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः कृत्वा शिलापट्टके—

येन द्रष्टुमहं क्षमे दशदिशस्तद्वक्त्रमुद्रांकिताः ॥ ७, २७५

अर्थात् सेवको, चटकीली स्याही की कूची से पोतकर रात्रि को अति अंधेरी कर दो, मंत्र-तंत्रादि का प्रयोग कर श्वेत कमलों की शोभा भी हरलो और उसके बाद किसी कड़ी चट्टान पर चंद्र को भी पटक कर चूर-चूर कर डालो, जिससे मैं अपनी प्रिया के मुख-चिह्नों से विभूषित दसों दिशाओं को देख सकूँ ।”

पा०—१. (प्र०) चोर कमल करि दौर । २. (प्र०) भौर ।

अस्तु, दासजी का “सामान्यप्रवृत्त” उदाहरण रूप दोहा—रैन स्याँम रँग पूरि,
ससि चूरि, कैमल करि दूरि ।” इत्यादि एक-ही बात है और सामान्यप्रवृत्त का
उदाहरण, जैसे—

“कळजोलवेदिततद्वपत्परुषप्रहारै-

रत्नान्यमूनि मकरालय भावमंस्थाः ।

किं कौस्तुभे न विहितो भवतो न नाम

थांचाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥

—७, २७६

अर्थात् रत्नाकर, लहरों को चला-चला के कठोर पत्थरों पर प्रहार कर तुम
इन रत्नों का (जो तुम में भरे हुए हैं) अनादर मत करो, क्योंकि (इन रत्नों
में की) एक ही कौस्तुभ मणि ने, जिसे मांगने के लिये भगवान् विष्णु ने भी
तुम्हारे सामने हाथ पसारा, संसार में तुम्हारी प्रसिद्धि नहीं कर दी ?”

अब इसके साथ दासजी मान्य ‘विशेष प्रवृत्त’ का दोहा—“कहा सिंधु
लोपत मँनिन०”....पड़िए, रहस्य खुल जायगा । ”

अथ साकांक्षा-दोष-लच्छन जथा—

आकांक्षा कछु सब्द की, जहाँ परत है जाँन ।

सो दूषँन ‘साकांछ’ है, सुमति कहै उर-आँन ॥*

अस्य उदाहरन—

परँम बिरागी चित्त है’, पुँनि देवँन कौ काँम ।

जँननी-रुचि पुँनि पितु-बचँन, क्यों तजि हैं बँन राँम ॥*

अस्य तिलक

इहाँ—“क्यों तजि हैं बँन राँम” के स्थान पै “क्यों न जाँइ बँन राँम”
होंनों चढ़िए’, बन कों जाइवे सब्द की आकांक्षा इहाँ प्रघट है ।”

अथ अजुक्त पद-दोष-लच्छन जथा—

पद कै विधि, अँनुवाद कै, जहँ अजोग है^२ जाइ ।

तहँ ‘अजुक्त’ दूषँन कहै, जे प्रवीन कबिराइ ॥

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) (का० प्र०) निज... २. (का०) (वे०) (प्र०) है....

* काव्य-प्रभाकर (भा०) पृ०—६४६ ।

अस्य उदाहरन

मोहँन-छवि अँखियँन-बसी, हिऐं मधुर मुसकान ।

गुँन-चरचा बतियाँन में, उँन-सँम और न आँन ॥

अस्य तिलक

इहाँ चौथो चरँन—‘उँन-सँम और न आँन’ अजुक्त है, इहाँ “और न मृदुबत राँन” पाठ होंनों चँहिऐं, ताते ये दोष है ।

वि०—“दासजी कृत इस अयुक्त-पद दोष को संस्कृत-शास्त्र-ग्रंथों में अपद-युक्त (जहाँ अनुचित स्थान में ऐसे अर्थ का योग हो, जिससे प्रकरणार्थ-विरुद्ध अर्थ की प्रतीति हो) दोष कहा गया है और जैसा कि दासजी ने कहा है—इसके दो भेद ‘विधि’ और अनुवाद-अयुक्त और होते हैं । विधि-अयुक्त—“विधान करने के अयोग्य का विधान करना तथा अनुवाद-अयुक्त—“विधि के अनुकूल अनुवाद न होना कहा जाता है । अस्तु, पद-अयुक्त का उदाहरण दासजी ने ऊपर दिया है अब “विधि” और “अनुवाद-अयुक्त के उदाहरण नीचे क्रमशः देते हैं ।”

अथ विधि-अजुक्त दोष-उदाहरन जथा—

पोन-अहारी ब्याल है, ब्यालै खात मयूर ।

ब्याध जु^२ खात मयूर कों, कौन सत्रु-विँन कूर ॥

अस्य तिलक

इहाँ ब्याल=सर्प कों (निरौ) पो न (पवन) अहारी कहिनों न चँहिऐं, बौ अन्य जीवहू खात है, ताते ‘विधि-अजुक्त’ दोष है ।

अथ अनुवाद-अजुक्त-दोष कौ उदाहरन जथा—

रे केसब-कर आभरँन, मोद-करँन श्रीधाम ।

कमल बियोगी ज्यों^३ हरँन, कहा प्रिया अभिराम ॥

अस्य तिलक

इहाँ—कमल कों बियोगी-ज्यों हरँन अजुक्त अनुवाद है, इहाँ ‘बियोगी ‘ज्यों’ वा जिउ-हरँन (बियोगियों के जो का हरने वाला) कहनों उचित हो, ऐसौ न कहिनों ये दोष है ।

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) जान । २. (का०) (वे०) (प्र०) ब्याधौ खात... । ३. (प्र०) ब्यौ...

अथ प्रसिद्ध विद्या-विरुद्ध दोष लच्छन जथा—

लोक, वेद, कवि-रीति औ देस, काल ते भिन्न ।
सो 'प्रसिद्ध-विद्याँन' कै, हैं विरुद्ध-मति खिन्न ॥

अस्य उदाहरन

कौल खुले कच गूंदती-मूंदती, चारु नखच्छत अंगद के तरु ।
दोहद में^१ रति^२ के सँम-भार, बड़े बल कै धरती पग भू धरु ॥
पंथ असोकन कोप लगावती, है जस गावती सिंजित के भरु ।
भाँवती भादों की चाँदनी में, जगि^३ भाँवते-संग चली अपनै घरु ॥

अस्य तिलक

या छंद में—उदाहरन में, असोक (बुच्छ) कौ नायिका (स्त्री) के पाँइ कों छिये ते फूलबौ कहिनो लोक-रीति है, पै ऐसौ न कहि 'पल्लव लाग्यौ कहत हैं, सो लोक-विरुद्ध है । दोहद (गर्भवाली स्त्री) में रति बरजित है सो कह्यौ, ताते वेद-विरुद्ध है । भादों की चाँदनी-राति बरनिबौ-कवि-रीति के विरुद्ध है, भोर न होंन पायौ पै भाँवते के पास ते अपने घर चली, ये रस-काल विरुद्ध है और नखच्छत उरोजँन पै उचित है, पै भुजाँन में कह्यौ ये अंग-देस विरुद्ध है ।

वि०—“दासजी ने यहाँ “प्रसिद्ध-विद्या-विरुद्ध” के अंतर्गत—लोक, वेद, कवि-रीति, देश और काल-विरुद्ध-रूप भेदाभेद दोष कहा, उदाहरण भी दिया है । संस्कृत-साहित्य में—पंथ विरुद्ध, शब्द-विरुद्ध, छंद-विरुद्ध, आगम-विरुद्ध और न्याय-विरुद्ध” भी “प्रसिद्ध-विरुद्ध दोष के अंतर्गत माने हैं । पंथ-विरुद्ध, कवि-रीति-विरुद्ध का ही दूसरा नाम है । शब्द से कथन के विपरीत अर्थ का बोध होना, वह शब्द-विरुद्ध है । इसे ‘शब्द-वधिर’ भी कहते हैं । छंद-नियम के विरुद्ध रचना करना, छंद-विरुद्ध है । आगम-विरुद्ध उसे कहते हैं, जहाँ शास्त्रीय-रीति त्याग कर, अपनी मनगढ़ंत रीति चले और न्याय-विरुद्ध दोष वहाँ होता है, जहाँ नीति-युक्त बात न कह, अनिति पूर्ण बात कही जाय ।”

अथ प्रकासित-विरुद्ध दोष लच्छन—

जो लच्छन कहिये, परै तासु विरुद्ध लखाइ ।
वहै 'प्रकासित' बात कौ, है विरुद्ध कबिराइ ॥

पा०—१. (स० पु० प्र०) के... २. (वें०) दोहद-फेरति के... ३. (का०) (वें०) (प्र०) जगी ।

अस्य उदाहरन जथा—

हँसनि, तकँनि, बोलँनि, चलँनि, सकल सकुच-मै जासु ।
रोष न क्यों-हूँ करि सकै, सुकवि कहैं सुकिया सु ॥

अस्य तिलक

इहाँ— परकीया (नायिका) हूँ कौ अर्थ लागि जात है, तातै यै दोष ।

वि०—“अभीष्टार्थ से प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति को “प्रकाशित-विरुद्ध” कहते हैं । अस्तु, इस दोष के उदाहरण में जो छंद दासजी ने लिखा है, उससे (जिसका हँसना, देखना, बोलना, चलना सब सकुच-मय है) पारकीया की क्रिया भी जानी जा सकती है इत्यादि...।”

अथ सहचर-भिन्न दोष लच्छन-उदाहरन जथा—

सो है ‘सहचर-भिन्न’ जहँ, संग न कहत विवेक ।
“निज पर-पुत्रँन माँनते’, साधु-काग-विधि एक ॥”

अस्य तिलक

इहाँ—काग (कौआ) कोइल के पुत्रँन कों धोखे ते—जाँनि के नाहीं पालै है, ताकी साधु (पुरुषँन) सों सँमता न चँहिएँ, सो सहचर-भिन्न दोष है ।

पुनः उदाहरन जथा—

निसि ससि सों, जल कँमल सों, मूँद बिसँन सों मित्त ।
गज मद सों, नृप तेज सों, सोभा पाबत नित्त ॥

अस्य तिलक

इहाँ—निसि (रात्रि) ससि सों, जल कँमल सों, गज मद सों और नृप तेज सों सोभा-पाबत तौ उचित, पै मूँद बिसँन सों सोभा पाबति संगत-विरुद्ध सहचर-भिन्न है, ताते यै दोष है ।

अथ अस्तीलार्थ दोष-लच्छन-उदाहरन जथा—

कहिऐं ‘असलीलार्थ’ जहँ भौँदौ-भेद लखाइ ।
“उन्नत हैं पर-छिद्र कों, क्यों न जाँइ मुरझाइ ॥”

अस्य तिलक

इहाँ व्यंगास्थ तें मुख्यांग—हाथी जाँन्यो जाइ है, ताते दोष है ।

अथ त्यक्त पुनः स्वीकृत दोष-लच्छन-उदाहरण जथा—

‘त्यक्त पुनः स्वीकृत’ कहै, छौंड़ि’ बात पुँनि लेत ।

‘मो सुधि-बुधि हरि हर लई, काँम करों डर-हेत ॥

अस्य तिलक

इहाँ नायिका (स्त्री) की सुधि-बुधि हरि जाती तो काँम कैसें कर सकती—
नाहीं कर सकती, यै दोष है ।

वि०—“कन्हैयालाल पोद्दार ने अपने ‘काव्य-कल्पद्रुम’ में “त्यक्त पुनः स्वीकृत” का लक्षण—“किसी अर्थ का त्याग कर फिर उसी को स्वीकार करना” लिखते—मानते हुए, इसके उदाहरण में स्व० बा० जगन्नाथदास ‘रत्नाकर’ का एक छंद दिया है, यथा—

“माँन-ठाँन बैठ्यौ इत परँम सुजाँन काँन्ह,
भोँहै’ ताँन बाँनक बनाइ गरबीली को ।
कहै ‘रतनाकर’ बिसद अति बाँकौ बन्यौ,
बिपिन - बिहारी बेस बाँनक लड़ीली को ॥
लखि - लखि आजु की अँनूप सुखमाँ को रूप,
रोपै रस रुचिर मिठास लौन - सीली को ।
ललकि लचैबौ लोल लोचँन लला कौ इत,
मचलि मनैबो उत राधिका रसीली को ॥

और लिखा है उक्त छंद के तीसरे चरण तक वर्णन की समाप्ति हो चुकी है, फिर चौथे चरण में उसी विषय का वर्णन किया जाने में—त्यक्त पुनः दोष है ।

यह लक्षणानुसार उदाहरण बताने वाली ‘टिप्पणी’ हमारी समझ में नहीं आई, कारण वर्णन तीसरे चरण तक समाप्त नहीं हुआ है—उस (वर्णन) का प्राण तो छंद के चौथे चरण में उलभा हुआ है, वह उससे विलग किस प्रकार हो सकता है । अस्तु, आप-मान्य यह उदाहरण—‘त्यक्त पुनः स्वीकृत’ का गलत है—असंगत है, फिर आपने उक्त छंद भी अधिक अशुद्ध दिया है (दे० रत्नाकर—‘प्रथम संस्करण’ मृंगार-लहरी छं० सं०—४६, ५० पृ० सं०—३३१) उसके प्राण-ही हरण हो गये हैं, उस पर उक्त टिप्पणी—

पा०—(का०) (वें०) (प्र०) छोड़ि...।

“जिसने कुछ एहसाँ किया, इक बोझ उस पर रख किया ।

सर से तिनका क्या उतारा, सर पै छप्पर रख दिया ॥”

इस उल्लास के आरंभ में कहा जा चुका है कि ‘दासजी’ की दोषोद्भावना की सूझ-बूझ संस्कृत-रीति-ग्रंथों—विशेषकर श्री आचार्य मम्मट के ‘काव्य-प्रकाश’ की देन है, उसी के विकास का सुफल है, जिसे आपने संचित-बहुलीकरण के साथ अपनाया, यथा—

“बूझि सु ‘चंद्रालोक’ अरु ‘काव्य-प्रकाश’ सुग्रंथ ।

समझि सुरुचि भाषा कियौ, लै औरों कवि-पंथ ॥”

—काव्य-निर्णय प्रथम उल्लास

अस्तु आचार्य मम्मट-प्रयुक्त जो काव्य का स्वरूप—“तद् दोषौ-शब्दार्थौ सगुणावलंबकृती पुनः क्वापि” (काव्य-प्रकाश—प्रथम उल्लास) के झरोखे से निर्मल बना भाँख रहा था, उसके गुण-दोषों का निरखना-परखना भी आवश्यक था, क्योंकि आपसे पूर्व आचार्य ‘भामह’ का स्पष्ट मत है—

“सवर्था पदमप्येकं न निगद्यामवद्यवत् ।

विलक्षणहि काव्येन दुःसुतेनैव निद्यते ॥”

—काव्यालंकार १, ११

किंतु, दोषों के मूल-सिद्धांतों का अभाव ज्यों का त्यों बना रहा, जो बाद में आचार्य वामन (संस्कृत) के समय स्फुट हुआ । अस्तु दोषों का कथन-उपकथन जहाँ पद-वाक्यादि के साथ उलभ रहा था, वहाँ ध्वनि-काल के आते-आते उसके प्रति विचार बदले तथा उसके वास्तविक रूप जानने-पहिचानने की ओर लोग झुके । फलतः श्री मम्मट उनके उत्कर्षोपकर्ष के प्रति जागरूक होकर उनकी तह तक पहुँचे और सार-रूप से एक व्यापक, पर सूक्ष्म सूत्र का सुंदर निर्माण किया जिसमें ‘रस-वाक्यार्थ-गत’ सारे दोष समा जाते हैं । वह सूत्र है—

“मुख्यार्थ इतिदोषो०.....।”

जो आपके काव्य-प्रकाश के सातवें उल्लास में शीर्ष स्थान पर सुशोभित है । यहाँ “इति”-शब्द ही संपूर्ण दोष-निरूपक है, जो अपकर्ष-अर्थ का द्योतक है । दासजी ने उसी का सुंदर अनुकरण किया है इत्यादि...।”

“इति श्रीसकलकलाधरकलाधरबंसावतंस श्रीमन्महाराज कुमार

श्रीबाबूहिंदूपति विरचिते ‘काव्य-निरणय’ सव्दार्थ-दूषण

वरनोननाम त्रियोर्विसतिमोष्ठलासः ॥”

अथ चौबीसवाँ उल्लास

अथ दोषोद्धार बरनन जथा—

कहूँ सव्दालंकार, कहूँ छंद, कहूँ तुक-हेत ।
कहूँ प्रकरन-बस-दोष-हूँ, गँनें अदोष सचेत ॥

*

कहूँ अदोषौ होत, कहूँ दोष होत गुँन-खौन ।
उदाहरन कछु-कछु कहों, सरल सुमति-ढिँग^१ जाँन ॥

वि०—“दासजी ने इस उल्लास में काव्य-गत दोषों के उद्धार का—उनके गुण-बन जाने का वर्णन किया है । यह प्रकरण भी आपका “जननीजन्मभूमिश्च स्वर्गादपिगरीयशी”—सम संस्कृत-साहित्य की ही देन है—उसी का रूपांतर है । वहाँ, अनेक प्रकार के दापोद्धार स-उदाहरण सुंदर ढंग से कहे गये हैं । उनका आदि काव्य-प्रकाशकार आचार्य मम्मट ने—“इदानीं क्वचिददोषा अप्येते-इत्युच्यन्ते” (कहे गये दोष कहीं-कहीं दोष नहीं माने जाते—७, ८३) से लेकर “गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते” (७, ३४१) तक विविध प्रकार से वर्णन किया गया है । साहित्य-दर्पण में भी “काव्य-गत अनेक प्रकार के दोषों का, उनके भूषण बन जाने का विशद् विवेचन किया गया है । वहाँ भी “वक्त्रि क्रोध संयुक्ते तथा वाच्ये समुद्रते” (७, १६) से लेकर—

“अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः ।

अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता ॥”

अर्थात् “इसी प्रकार औचित्य के अनुसार दोषों के अदोषत्व, गुणत्व और अदोष-गुणत्व का निर्णय बुद्धिवान् स्वयं विचार करें”—तक कथन किया है । तात्पर्य यह कि पूर्व और उत्तर में कथित—“शब्द, वाक्य, अर्थ और रस-गत” दोष भी अनुकूल अवसर से, रसोत्कर्ष में सहायक हो जाने से गुण-संज्ञा पा भूषण बन जाते हैं । अतएव यह दोष-संज्ञा, गुण-संज्ञा बन जाने के कारण—नाम-करण के साथ प्रथक् वर्णन नहीं की गयी है । दोषों की गुणत्व रूप में नामकरण-व्यवस्था विस्तार-भय का कारण भी हो सकती है...।

दोषोद्धार को सफल बकालत “काव्यालंकारकार आचार्य भामह और रुद्रट के साथ काव्यादर्श के कर्ता-दंडी ने भी की है । आपलोग कहते हैं—“विशेष-

स्थिति में कुत्सित कथन भी काव्य का शोभाकारक हो जाता है, जिस प्रकार माला के मध्य भाग में गुथा हुआ नील-पलाश (काव्यालंकार—१, ५४), अथवा —उक्त दोषयुक्त सभी विरोध कवि-कौशल से दोषों की जाति से निकल कर गुणों की श्रेणी में परिवर्तित हो जाते हैं (काव्यादर्श—३, १७६) इत्यादि... ।”

दोषोद्धार कौ प्रथम उदाहरन जथा—

हरि-स्रुति कौ कुंडल, मुकत-हार हिए कौ स्वच्छ ।

अखियँ देख्यौ सो रह्यौ, हिय में छाइ प्रतच्छ ॥

अस्य तिलक

इहाँ स्वच्छ सब्द स्रुति-कटु है, प्रतच्छ सब्द भाषा-हीन है, मुकट-हार चर-नांतर-गत की ठौर है, ताते बाक्य दोष है । मुकत-हार हिय कौ अखियँ सों देख्यौ कहिये में अर्थ-दोष-गत ‘अपुष्टार्थ’ दोष है, “कुंडल-हार देख्यौ” इतनों-ही कहें अर्थ कौ बोध होत है, पै तुक-बस ते स्रुति-कटु, भाषा-हीन औ छंद-बस ते चरनांतर-गत पद औ लोकोक्ति-बस ते ‘अपुष्टार्थ’ अदोष है । कुंडल औ हार कौन सबन औ हूँ ते भिन्न धरत है । दरस में सबन, चित्र औ सपनों गन्धों जात है । हार जद्यपि मोतिन ही के कहे जात हैं, तथापि भाषा कवि हार कों साधारन करि लेख्यौ है, यै कवि-रीति-बस है, याते इहाँ दोषन की झलक रहत हूँ यै उदाहरन निरदोष है ।

पुनः उदाहरन जथा—

सिंघ-कटि मेखला^१ मिथुन-कुच-कुंभ त्यों-हीं,

मुख-बास अलि-गुंज^२, भोंहें धँनु लोक हैं ।

वृषभान - कन्या मीन-नैनी, सुबरन - अंग^३,

नजर-तुला में तोले^४ रति हूँ रतीक है ॥

नेकौ^५ बिलगात अरि^६ करक-कटाच्छन सों,

छै गए गल-ग्रह सु तौ लोग सुधरी कहैं ।

पा०—१. (का०) (वे०) (सं० पु० प्र०) मेखला स्यौ कुंभ कुच मिथुन त्यों मुख-बास अलि गुंजै... २. (प्र०) गुंजै... ३. (का०) (वे०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) अंगी... ४. (का०) (सं० पु० प्र०) तोसों... (वे०) तासों... ५. (का०) (वे०) सों... (प्र०) तौ... ६. (का०) (वे०) (सं० पु० प्र०) हूँ हैं... ७. (का०) (वे०) उर जात कर कटाच्छन सों चाहिये गल-ग्रह लोग... (सं० पु० प्र०) उर कर कटाच्छन सों, चाहिये गल-ग्रह ते लोग...

कुंडल मकरवारे सों लागी' है लगँन अब,
बारहों लगँन कौ बनाव वन्यों नीक' है ॥*

अस्य तिलक

इहाँ 'मेखला' सब्द में 'ला' सब्द निरर्थक है, द्वै पदार्थन के बीच मिथुन सब्द अप्रयुक्त (अप्रयुक्त) है। अलि सब्द 'निहितार्थक' है, धँनु-लीक सब्द अवाचक है, कन्या सब्द सिंगार-रस में अनुचितार्थ है, गल-ग्रह मिलवे कों कहिनों अप्रतीत दोष है, कुंडल औ मकर सब्द अविच्छिष्ट विधेदक हैं, बारहों सब्द सु-ति-कटु है—द्वै बकार की संधि ते। पैहलें बिलगाइवे की बात कहि, पीछें, मिलवे की कहिनों—त्यक्तपुनःस्वीकृत अर्थ दोष है, रति कों रतीक कहि कें राधा कों गरु (भारी) न कह्यौ ताते साकांछा दोष है, पै श्लेष औ मुद्रालंकार करि कें बारहों रासँन के नाम आने, ताते अदुष्ट है। जैसें मेंढक कों—मेंढुला, मेंढुका कहें हैं, तैसें-ही मेप को मेखला कह्यौ, ताते निरर्थक-दोष हू कौ निवारन भयौ है।

वि०—“दासजी ने इस छंद में बारहों राशियों का नामोल्लेख किया है और कहा है—कि ये राशि-नामावली श्लेष और मुद्रालंकारों से सुशोभित होने के कारण छंद को अदोषयुक्त बनाती हैं।

हम यहाँ श्लेष की बात नहीं कहते, क्योंकि उसका अधिकार बड़ा व्यापक है, वह शब्द-गत विविध नई खूबियाँ प्रकाशित करने में सबसे अधिक है और जब कहीं वह मुद्रा (अलंकार) की सान पर चढ़ जाय तो फिर कहना ही क्या अतएव श्लेष और मुद्रा से विभूषित इन बारहों राशियों की शोभा दासजी के शब्दों में निरखिये-पगखिये, जैसे—प्रथम “सिंघ” (सिंघ-कटि) मेघ (मेखला), मिथुन कुंभ (दो कुच-कुंभ), धनु (धँनु-लीक), वृष (वृषभान), कन्या, मीन (मीन-नैनी), तुला (नजरि-तुला), करक (कर्क-कटाच्छैन), मकर (कुंडल मकरवारे) इत्यादि....”

अथ क्वचित् असलील अदोष गुँन-कथन जथा—

कहुँ ‘असलील’ दूषँन' नहीं, जथा सुभग भगवंत ।

कहुँ हास-निंदादि ते, स्लील गुँन गुँनवंत' ॥

पा०—१. (का०) (वे०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) लगी लगन.... २. (का०) (वे०) (प्र०) ठीक है। ३. (वे०) दोष.... ४. (का०) (वे०) गुनसंत ।

* रस-सारांस (भि० दा०) पृ०—१४, २५६ ।

अस्य उदाहरन

मीत न पै है जाँन तू, यै खोजा-दरबार ।
जो निसि-दिँन गुदरत^१ रहै, ताही कों पैठार ॥

अस्य तिलक

इहाँ—निंदा, क्रीड़ा औ हास में असलीलता हूँ गुँन मानी हैं ।

अथ क्वचित् ग्राम्य-दोष-गुँन जथा—

ग्रामीनोक्ति कहें कहुँ, ग्रामैं गुँन है जाइ ।
“अजों तिया सुख की छिया, रही हिया पै छाइ ॥”

पुनः उदाहरन

नाहिं नाहिं^२ सुनि नहिं रह्यौ, नेह नाहिँ^३ में नाँह ।
त्यो-त्यो भरत^३सु मोद सों, ज्यों-ज्यों भारत बाँह ॥

अस्य तिलक

यै सँमें सुरति कौ नाहिँ हैं सो नाइका चेष्टा सों अस्वीकार करै है, पै सुख ते नहीं, सो न्यून दोष गुँन है ।

बि०—“दासजी ने उक्त दो छंदों-द्वारा “क्वचित् ग्राम्य-दोष” का और “क्वचित् न्यून-पद दोष” का गुण-रूप होना कहा है । हस्तलिखित प्रतियों में द्वितीय दोहे का “क्वचित् न्यून-पद गुँन” शीर्षक नहीं लिखा मिलता, केवल दो मुद्रित—वंवई और ‘प्रयाग’ की प्रतियों में केवल “क्वचित् न्यून-पद गुण, वा... उदाहरण” शीर्षक ही मिलता है, लक्षण नहीं । साथ-ही “काव्य निर्णय” की सभी प्रतियों में प्रथम दोहे (ग्राम्य-दोष गुण) का तिलक भी नहीं मिलता । दूसरे उदाहरण का तिलक विभिन्न रूप से मिलता है । बहु-संमति तिलक ऊपर दिया गया है, दूसरा ‘तिलक’ इस प्रकार है—

“यै सँमें सुरति कौ नहीं है, हम नहीं मानती, सो नायिका-बचन करि केवल नहीं सों जान्यों जातु है, ऐसी ठौर में ऐसी ‘न्यून’ गुँन होत है ।”

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र ग्रंथों में “ग्राम्यत्व दोष” का गुणत्व बतलाते हुए—
“अधमप्रकृत्युक्तिषु ग्राम्यो गुणः” (अधम—नीच पात्र की उक्ति में ग्राम्य दोष गुण हो जाते हैं) कहा गया है । अस्तु, दासजी कृत “उक्त” दोष-रूप गुण” के उदाहरण में जो “अजों तिया सुख की छिया०”...कहा गया है, उसमें

पा०—१. (वै०) गुजरत ॥ २. (का०) (वै०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) नहीं-नहीं ...।
३. (का०) (वै०) (प्र०) भारति मोद...।

“छिया” शब्द घृणास्पद होते हुए भी अधम-वक्ता-द्वारा कथन करने से ‘ग्राम्यत्व-दोष’ गुण बन गया है।

दूसरा दोहा ‘न्यून’-पद दोष गुणत्व” रूप का उदाहरण दिया है। यहाँ संस्कृत-साहित्यकारों का कथन है—“जहाँ अध्याहार के कारण अर्थ की शीघ्र प्रतीति होती हो, वहाँ उक्त ‘न्यून-पद दोष’ नहीं होता...। अथवा—

“उक्ता वानंद मग्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः ।”

अर्थात्, आनंदादि में निमग्न मनुष्य की उक्ति हो तो ‘न्यूनपद-दोष’ गुण होता है। अस्तु, यहाँ नायिका मुख से तो बार-बार नायक को सुरति-प्रति मना कर रही हैं, पर चेष्टा से—गाढ़-आजिगन से मोद-मान सुरतेच्छा प्रकट कर रही है। यह बार-बार कही गयी नहीं, शृंगार-रस-व्यञ्जक हर्षादि की-ही सूचक है, जिससे यहाँ वह आवश्यक पद-न्यूनता गुण में परवर्तित हो गयी है, जैसे—

“आवन में नाँहीं, सेज-सोबँन में नाँहीं,
सुख-पाबँन में नाँहीं मन-भावँन में भाई हौ ॥
तुँबँन में नाँहीं, परिरँभन में नाँहीं,
कवि ‘दूलह’ उछाँही-कला लाखँन लखाई हौ ॥
बोलँन में नाँहीं, बंद-खोलँन में नाँहीं,
सब हासँन-बिलासँन में वही ठीक-ठाई हौ।
मेलि गल - बाँहीं, केलि कीनी चित - चाँही,
यै ‘हाँ’ ते भली ‘नाँहीं’, कहौ कहाँ ते सीख आई हौ ॥

अथ क्वचित् अधिक-पद दोष गुँन उदाहरन जथा—

खल'-बाँनी, खल को कहा साधु जाँनते नाँहिं।

सब सँमझें, पै तिहिँ तहाँ, पतित करत सकुचाँहिं ॥

अस्य तिलक

खल (दुष्ट व्यक्ति) की खल (दुष्ट) बाँनी कों कहा साधु (संत, सज्जन) नाहिँ समझें हैं ? पै अबस्य सँमझें हैं, यै अभिप्राय पैहले चरँन—“साधु जाँनते नाँहिं” ते ही प्रघट ह्वे जाइ है, पै दूसरे चरँन में पुनि “सब सँमझें कहिबे ते ‘अधिक-पद-दोष’ बनत है, पै या पुनरुक्ति रूप कहिबे ते समझिबे की दृढ़ता अधिक जानी जात है, ताते यहाँ वो गुँन भयौ। औ यै “क्वचित् कथित-गुँन” कौ हू उदाहरन है, क्योंकि यामें सब समझिबे कौ अर्थ आइ मिल्यौ फिरहु “सब सँमझें कइौ” तौ अति दृढ़ता भई, ताते यै हू गुँन इहाँ है।

वि०—“दासजी ने इस दोहे में दो दोषों “अधिक-पद दोष” और “कथित पद दोष” का गुणत्व-वर्णन ‘अपने तिलक (टीका) द्वारा किया है । प्रथम तो दासजी की यह सरस-सूक्ति काव्य-प्रकाश (संस्कृत) की, इस रम्य-रचन की, जैसे—

‘यद्वचनानाहितमतिर्बहु चाटु गर्भं-

कायोन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति ।

तत्साधवो न न विदंति विदंति किंतु-

क्तुंवृथा प्रणयमस्य न पारयंति ॥’

—७,३१२

यह अल्प-अलंकृत उक्ति है । यहाँ भी दासजी की भाँति—“साधु जानते नाहिं” और “सब सँमझें००००” रूप “विदंति” (जानते हैं) दो बार आया है । अस्तु, दासजी और संस्कृत-सूक्ति-जन्य पुनरुक्तवद”—आधु जानते नहीं” और “सब सँमझें००००” तथा ‘विदंति’-आदि अधिक पद होने पर भी ये दोनों—दास और संस्कृत-सूक्ति जन्य पद अधिक होते हुए भी वे अन्य पुरुषों से सज्जनों की पृथक्ता बतलाते हैं । अर्थात्, सज्जन खलों की खलपूर्ण सारी बातें जानते हुए भी वे उनके ऊपर कृपा-ही करते रहते हैं—उन्हें खल कहते भी सकुचाते हैं, क्योंकि हर्ष-भयादि से अभिमुख वक्ता के संबंध में ‘अधिक-पद दूषण नहीं माने जाते—“इत्येवमादौ हर्षभयादियुक्ते वक्तरि”—इति काव्य-प्रकाशकार वचनात्...।”

अथ दीपक-लाटादि पुनरुक्त गुँन जथा—

दीपक, लाटा, बोप्सा, पुनरुक्ती बद-भास ।

विध-भूषण में कथित पद, गुँन-करि लेखौ^२ ‘दास’ ॥

अस्य उदाहरन

ज्यों दरपँन में पाइये, तरँनि-तेज ते आँच ।

त्यों पृथ्वी-पति तेज ते, तरँनि-तपत ये साँच ॥

अस्य तिलक

इहाँ ‘तरँन’ बन्ध द्वै पोत आयौ है, सो वौ इहाँ गुँन रूप है ।

वि०—“कहीं कथित-पद (दोष) दीपक, लाटानुप्रास, वीप्सा, पुनरुक्तवदा-
भास और 'विधि' (अलंकार—सिद्ध वस्तु का पुनः विधान—जिस वस्तु का
विधान सिद्ध है, उसका पुनः अर्थांतर-गमित विधान करना) के अनुसार कहा
गया दोष गुण हो जाता है, जैसा कि दासजी ने अपने 'तिलक' में कहा है कि
“तरँनि सन्द द्वै पोत (बार) आयौ सो वौ गुँन रूप है” । अतएव प्रथम तरणि
(तरनि) शब्द में द्वितीय तरणि ने—जिस सूर्य के तेज से दर्पण में अग्नि पाई
जाती है—“उत्पन्न हो जाती है, उस सूर्य में तेरे तेज का-ही तो प्रताप है, तेरे
तेज से-ही तो वह तेजवान् है”—इत्यादि अधिक विशेषता उत्पन्न कर दी, जिससे
यह गुण हो गया । अर्थात् तरणि, गुण-प्रकर्षादि के लिये पुनरुक्तवद् कथित
पद-वद् है—पिछले वाक्य में विधेय के फिर से कथन के लिये है, इसलिये वह
गुण ही है ।”

अथ क्वचित् गरमित-दोष गुँन जथा—

लाल-अधर में कौ सुधा, मधुर कियौ^१ बिँन-पाँन ।

कहा अधर में लेत है^२, धर में रहत न प्राँन ॥

अस्य तिलक

इहाँ “धर में रहत न प्राँन” प वाक्य “बिँन-पाँन” के पास होने चँहिऐं,
पै-दूरान्वय-रूप भाषा-संस्कृत के कवि बनायौ—लिखौ ही करें हैं, ताते यै
अदोष है ।

अथ क्वचित् प्रसिद्ध-विद्या-विरुद्ध गुँन लच्छन जथा—

जो प्रसिद्ध कवि-रीति में, सो संतत गुँन होइ ।

लोक-विरुद्ध-बिलोकि कें, दूषँन गँनें न कोइ ॥

अस्य उदाहरन

महा अँध्यारी रेंन में, कीर्ति तिहारी गाइ ।

अभिसारी पिय पै गई, उँजियारी अधिकाइ ॥

अस्य तिलक

इहाँ कीरति-गान ते उजियारी हैबौ लोक-विरुद्ध है, पै कवि-रीति में यै गुँन
है, ताते इहाँ गुँन है ।

अथ क्वचित् सहचर-भिन्न दोष गुँन कथन जथा—

मोहँन मो दृग-पूतरी, चौ^१ छवि सिगरी प्रॉन ।

सुधा चित्तोन सुहावनी, मीच^२ बाँसुरी-ताँन ॥

अस्य-तिलक

इहाँ, सब्द में बाँसुरी की ताँन कों मीच (मृत्यु) कहिबौ असत है—सैह-चर भिन्न है, पै बिसेसोक्ति वा बिनोक्ति अलंकार करि के पुँन संभव है, ताते गुँन भयौ ।

•

या बिधि आरों जाँनिऐ, जहाँ सुँमति चित लेत ।

दोष होत निरदोष तहँ, औ ममता गुँन-हेत ॥

वि०—“इस दोहे-द्वारा दासजी कहते हैं—इस प्रकार अन्य दोषों को भी गुण जानना कहा जा सकता है । वे सुमति—अच्छी मति वालों के हृदय को हरण कर लेते हैं, इत्यादि...”

“इति श्रीसकलकलाधरकलाधरबंसावतंस श्रीमन्महाराज कुँमार

श्रीबाबूहिदूपति विरचिते काव्य-निरनए दोष-अदोष बरननं-

नाम चतुरबिंसतितमोव्लासः ॥”

—

अथ पञ्चीसकौ उल्लास

अथ रस-दोष वरनन

रस औ चर-थिर भाव की, सब्द-वाच्यता होइ ।

ताहि कहत 'रस-दोष' हैं, कहूँ अदोषिल सोइ ॥

वि०—“दासजी ने इस उल्लास में “रस-दोषों” का “अदोषिल” (दोष-रहित) हो जाने के सहित कथन किया है । यह दोष और अदोष-वर्णन भी आपने संस्कृत-साहित्य से लिया है । संस्कृत-साहित्य में इनकी अंतिम व्याख्या “विश्वनाथ चक्रवर्ती (साहित्य-दर्पण) कृत—“रसापकर्षका दोषाः” (रस के अपकर्षक—उसकी हीनता या विच्छेद के जो कारण वे दोष) मिलती है, जो एक प्रकार से माननीय संमति है—अंतिम ‘इस्लाह’ है । फिर भी इनकी नाम-करण-विधि संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के उद्भट विद्वान् आचार्य मम्मट द्वारा-निम्न प्रकार की गयी है—

“व्यभिचारिरसस्थायि भावानां शब्दवाच्यता ।

कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभाव विभावयोः ॥

प्रतिकूल विभावादि ग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।

अकांडे प्रथनच्छेदौ अंगस्याप्यति विस्तृतिः ॥

अंगिनोऽननुसंधानं प्रकृतीनां विपर्ययः ।

अनंगस्याभिधानं च रसे दोषाः स्थूरीदृशाः ॥”

—काव्य-प्रकाश, ७-६०, ६१, ६२

अर्थात् व्यभिचारी भाव, रस और स्थायी भावों का शब्दों-द्वारा कहा जाना, अनुभाव तथा विभावों की कष्ट-कल्पना-द्वारा अभिव्यक्ति, प्रतिकूल (विपरीत) विभावादि का ग्रहण, बारंबार एक-ही रस की उद्दीप्ति, बिना अवसर के विस्तार या विराम, किसी अमुख्य विषय का बहु विस्तार से वर्णन, अंगी (प्रधान वर्य-विषय) का अनुसंधान न रखना—उसे भूल जाना, प्रकृति (पात्रों) का विपर्यय (उलट-पुलट) और अनंग—जो रस का उपकारक अंग नहीं है, उसका कहना—ये तेरह (१३) रस-विषयक दोष हैं । इन रस-दोषों के प्रति पंडित-राज जगन्नाथ त्रिशूनी का सूक्ष्म पर सार-गर्भित विवेचन है—

“निबध्यमानोरसो रसशब्देन शृंगारादि शब्दैर्वानाभिधानु मुचितः अना-स्वादापत्तेस्तदास्वादश्च व्यंजनानामत्रनिष्पाद्य इत्युक्तत्वाद् एवं स्थायिव्यभिचारि-णामपि शब्दवाच्यत्वं दोषः ।” —२० गं०—पृ० ५० ।

अर्थात्, शृंगारादि रसों का विशेष शब्दों-द्वारा, या उनका सामान्य शब्दों-द्वारा स्पष्ट कथन अनुचित है ।”

संस्कृत-साहित्याचार्यों-द्वारा इन रस-दोषों का वर्गीकरण “नित्य” और “अनित्य” रूप से किया हुआ मिलता है । जो दोष सभी अवस्थाओं में काव्यात्मा का अपकार करते हैं वे—“नित्य” और जिनका संबंध रूपाकार से है वे “अनित्य” कहे गये हैं तथा जो सर्वत्र रसोचित्य की हानि नहीं करते वे शब्दार्थ-दोष हैं—रस-दोष नहीं । रस-दोष ‘नित्य’ हैं—अनित्य नहीं, ऐसा भी शास्त्राचार्यों का अभिमत है ।

जैसा कि पूर्व (२३वें उल्लास के आदि) में कह आये हैं कि “इदानीं वचचिददोषा अप्येते इत्युच्यन्ते” अर्थात् कहीं-कहीं शब्द, वाक्य, अर्थ-दोष, दोष नहीं माने जाते, उसी प्रकार ‘रस-दोष’ भी आचार्य मम्मटादि-संमति से (रस-दोष) दोष नहीं माने जाते, यथा—

“न दोषः स्वपदेनोक्तावपि संचारिणः वचचिद् ।”

—का० प्र० ७, ८३

यही नहीं, आगे आप फिर कहते हैं—

“संचार्यादेर्विरुद्धस्य बाधस्योक्तिगुणावहा ।”

—का० प्र० ७, ८४

अर्थात्, संचारीभावादि के विरुद्ध रसों की उक्ति यदि बाध्यता की रीति से कही जाय तो वह गुण-जनक होता है, दोषावह नहीं । श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपने साहित्य-दर्पण ग्रंथ में मम्मट-मान्य तरह दोषों का वर्णन कुछ नवीनता के साथ किया है, यथा—

रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि ॥

परिपंथि रसांगस्य विभावादेः परिग्रह ।

आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः ॥

अक्रांटे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः ।

अंगिनोऽननुसंधानमनंगस्य च कीर्तनम् ॥

अतिविस्तृतिरंगस्य प्रकृतीनां विपर्ययः ।

अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः ॥

—७, १२, १३, १४, १५

“अर्थात्, किसी रस का उसके वाचक-पद से—सामान्य वाचक रस शब्द से या विशेष वाचक शृंगारादि शब्दों से कहना, स्थायी और संचारी भावों का उनके वाचक पदों से अभिधान करना, विरोधी रस के अंग-भूत विभावानुभावादि

का वर्णन करना, विभावानुभावों का कठिनता से आक्षेप हो सकना, रस का अनुचित स्थान में विस्तार या विच्छेद करना, बार-बार उसे दीप्ति करना, प्रधान रस को भुलाकर अन्य का वर्णन करना, जो अंगी नहीं है उसका वर्णन करना, अंगभूत रस को अति विस्तृत करना, अर्थादि के औचित्य को भंग करना और प्रकृतियों का उलटना-पलटना ये रस-दोष हैं। दासजीने इन्हीं संस्कृत-जन्य रस-दोषों का वर्णन कुछ निराले ढंग से उनकी निर्दोषता के साथ न्यूनाधिक रूप में किया है।

ब्रज-भाषा-रीति-साहित्य में भी दोषों का वर्णन है, जैसा पूर्व में कह आये हैं। अस्तु, जहाँ आचार्य केशव ने अन्य—शब्द-वाक्य-अर्थादि दोषों का नये नामकरणों-द्वारा, जैसे—अंध, बधिर, पंगु, नग्न, मृतक, गन-अगन, हीन-रस, यति-भंग, व्यर्थ, अपार्थ, क्रमहीन, कर्णकटु, पुनरुक्ति, देश-विरोध, काल-विरोध, लोक-विरोध, नीति-विरोध, आगम-विरोध आदि अपनी “कवि-प्रिया” में किया है, उसी प्रकार “रसिक प्रिया” में भी रस-दोषों का भी वर्णन करते हुए उन्हें “अनरस” की संज्ञा दी है। आप कृत रस-दोष इस प्रकार हैं—

“प्रत्यनीक, नीरस, बिरस, केसव दुःसंधान।

पात्र-दुष्ट, कवित्त बहूँ, करें न सुकवि बखान ॥

—१६, १

अस्तु, उपर्युक्त रस-दोषों का विवरण जहाँ आपकी नवीनता का उद्भासक है, वहाँ वह संस्कृत-जैसा वैज्ञानिक नहीं हैं। प्रत्यनीक-धिरसादि विरोधी भावों के आधारों पर-ही अवलंबित हैं, उनसे पृथक् नहीं। आप के बाद आचार्य चिंतामणि ने “कविकुल-कल्पतरु” में संस्कृत के अनुकूल तज्जन्यनामानुसार रस-दोषों का वर्णन किया है। यह चिंतामणि-चर्चित परंपरा कवि-प्रवृत्तियों के अनुसार उगमगाते हुए आगे बढ़ी तो सही, पर उसमें वह बाँकपन न रहा जो उसमें होना चाहिये था, इति अलं।”

अथ प्रथम प्रत्यच्छ रस-कथन दोष उदाहरन जथा—

अंचल-ऐंचि जु सिर-धरत, चंचल-नैनी चारु।

कुच-कोरँन हिय-कोरि कँ, भरथौ सरस' सिंगारु ॥

अस्य तिलक

इहाँ सिंगार-रस बरनँन करत सिंगार-रस कौ नाम, जैसे—“सरस सिंगारु” जेनों अनुचित है—रस दोष है, वाके अनुभव सों. इहाँ यों कहिनों उचित हो—

“कुच-कोरँन हिय-कोरिकें, दुख भरि गई अपारु ॥”

वि०—“विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसे “स्वशब्द-वाच्यत्व” दोष कहा है ।”

अथ बिभचारी भावन की सब्द-वाच्यता-जुक्त दोष जथा—

आनंद औ रस-लज्ज^१ गयंद की खालेंन पै करुनाँन-मिलाई ।
 ‘दास’ भुजंगँन - त्रास धरें औ गंग - तरंग - धरें-इरखाई ॥
 भूति - भर्यौ सित अंग स-दीनता, चंद-प्रभा स बितर्क महाई ।
 ब्याह-सँमें हर-ओर^२ चहें, चर-भाव भई^३ अखियाँ गिरिजाई ॥

अस्य तिलक

इहाँ आनंद के संग लज्जादिक बिभचारी भावन कों वाच्य में कहाँ—
 व्यंजना में नहीं, ताते ये दोष है । इन भावों कों वाच्य में व्यंजित करनेों
 ‘उत्तम’ काव्य है, सो ये छंद या प्रकार हों चँहिऐ—

“आनन-सोभ पै^४ ह्वे कें निचोंहीं, गयंद की खाल पै ह्वे जु लसाई ।
 ‘दास’ भुजंगँन^५-संजुत कंप, सु^६ गंग-तरंग सँमेत लखाई ॥
 भूति - भर्यौ तँन लै मलिनाई, औ चंद-प्रभा अँनिमेल महाई ।
 ब्याह-सँमें हर-ओर निहारि कें, नई - नई दीठिन सों गिरिजाई ॥

अथ थाई भाव की सब्द वाच्यता-जुत दोष उदाहरन जथा—

अँकनि-अँकनि रँन परसपर, असि - प्रहार भँनकार ।
 महा-महा जोधँन हिएँ, बढत ‘उछाह’ अपार ॥

अस्य तिलक

इहाँ “उछाह” सब्द वाच्य में कहिबे ते बीर-रस कौ स्थाई भाव प्रघट होत
 है और अबर-काव्य होत है, ताते इहाँ “बढत उछाह अपार” के स्थान पै—
 “मंगल बढत अपार” ऐसौ हों चँहिऐ ।

अथ सब्द-वाच्यता ते अदोष कौ कथन जथा—

जात जगाए^७ हैं न अलि, आगँन-आएँ^८ भँन ।
 रस^९-मोए सोए दोऊ, प्रेम-सँमोए प्राँन ॥

पा०—१. (का०) (वें०) लज्जा... २. (का०) (प्र०) हर-ओर... (वें०)
 हरवो रच है... ३. (वें०) नई... ४. (सं० पु० प्र०)...सों भय है... ५. (का०)
 (वें०) (प्र०) भुजंगनि... ६. (का०) (वें०) (प्र०) औ... ७. (का०) (वें०)
 (प्र०) जगायौ हैं न अलि, आगन आयौ... ८. (का०) (वें०) (प्र०) रस मोयौ सोयौ
 दोऊ प्रेम समोयौ... ।

अस्य तिलक

इहाँ नायिका की सुभाव-रसिकता बिभचारी भाव में बरनत हैं 'सोए' कहत सब्द-बाच्यता होति है, फिर सोइबे कों और भाँति सों कहिबौ भलौ नाहीं, क्यों याते कै रस और प्रेम की सब्द-बाच्यता है, सो अति रसिकता अरु प्रतीति कौ कारन है, औ अपरांग है कें ब्यंग में सखी कौ दोनों के प्रति प्रीति थाई भाव है, ताते गुँन हैं ।

अथ अवर रस-दोष बरनन जथा—

जहँ बिभाव-अनुभाव की, कष्ट-कल्पनाँ व्यक्ति ।

'रस-दूषण' ताहू कहैं, जिन्हें काव्य की सक्ति ॥

वि०—“जहाँ बिभाव अनुभावों के व्यक्ति (जानने) की कल्पना कष्टकर हो, वहाँ भी एक प्रकार का “रस-दोष” है । दासजी की यह ‘रस-दूषण’-परिभाषा मम्मट (काव्य-प्रकाश) जन्य है, यथा—

“कष्ट कल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः ॥” ७, ६० ।

अर्थात् जहाँ बिभावानुभावों की कष्ट-कल्पना से रस की प्रतीति हो, वहाँ यह दोष होता है ।”

अथ बिभाव की कष्ट-कल्पना कौ उदाहरन जथा—

उठति, गिरति, गिर-गिर उठति, उठि-उठि गिरि-गिरि जाति ।

कहा कहों' कासों कहों, क्यों जीबै यहि राति ॥

अस्य तिलक

इहाँ नायिका की बिरह-दसा कहत हैं, सो व्याधि ते और-हु पै लगति है, ताते कष्ट-कल्पना बिभाव की है ।

वि०—“दासजी का यह उदाहरण नायिका की बिरह-दशा का वर्णन नायक-प्रति सखी-द्वारा कथन है, उपालम्भ है—बिरह निवेदन है । अस्तु, बिभावरूप सखी का कहना और अनुभाव रूप-वेपथु तथा वैवर्ण्य आदि शृंगार और करुण-रसों के साथ कष्ट-कल्पना से ही जाने जाते हैं ।

कुछ ऐसा-ही नायिका की व्याधि का यह वर्णन भी किसी कवि का सुंदर है,—मनोहर है, यथा—

“बेदँन ए जानैं को निवेदँन ए मीनैं कौन,

बेदँन उदोत होत छेदन ए छाती है ।

पी की बतियाँ सुनि, ती की अति आँसुन की,
 उमड़ीं नदी-सी बड़ी नदी-सी सुहाती है ॥
 सोक है सुहात जाहि सो कहै बिषम-बाद,
 बिष बिष-मेख की लैहैर छैहराती है ।
 घूँमि-घूँमि गिरति, भुजैनि भरै भूँमि-भूँमि,
 सखी-मुख चूँमि-चूँमि चूँमि बिजलाती है ॥



“गुमों पर गुम फटे पड़ते हैं ऐय्यामे-जबानी में ।
 इजाफे हो रहे हैं, वाकियाते जिदगानी में ॥”

अस्य अदोषता वरनन जथा—

कै चलि आगि परौस की, दरि करौ घनस्याँम ।
 कै हँम कौं कहि दीजिपे, बरै और-ही गाँम ॥

अस्य तिलक

इहाँ आगि और-ही भाँति की जाँनी जाति है, पै नायिका छिपाइ कै कहति है, ताते नायक-नायिका की बिरहागि जाँनी जाति है, ताते ये गुँन है, दोष नाहीं ।

वि०—“दासजी कृत इस “तिलक” में कुछ स्पष्टता अप्रत्यक्ष रह जाती है, वह स्फुट नहीं हो पाती । सबसे प्रथम इस तिलक से यह नहीं जाना जाता कि यह सूक्ति—सखी या दूती की नायक-प्रति है, अथवा स्वयं नायिका की है । दासजी के तिलक से तो वह नायिका की-ही जानी जाती है, जो अयुक्त है—असंगत है । सखी या दूती-कथन नायक-प्रति हो सकता और यह मानने पर ही उक्त सूक्ति में सजावट आयेगी, जैसे—

“सीरे जतनँन सिसिर-रितु, सहि बिरहिन-तँन-ताप ।
 बसिबे कौं प्रीषँम - दिनँन, परौ परौसँन-पाप ॥”

*

“दुआए मगं फुरकृत में जो माँगी ।
 मुहल्लेवाले चिल्लाये कि—“आये” ॥”

अथ अनुभाव की कष्ट-कल्पना उदाहरन जथा—

चैत की चाँदनी-छीरँन सों, दिग-मंडल माँनों पखारँन लागी ।
 ता पर सीरी बयार कपूर की, धूर-सी लै लै बगारँन लागी ॥

पा०—१. (का०) (वे०) सों...। २. (सं० पु० प्र०)...और के धाम । (प्र०)
 ...हीं त्राम...

भौरँन की अबली करि गॉन, पियूष-सौ काँन में डारँन लागी ।
भाँवतो भाँवते'-ओर चितै, सहजै-ही 'में' भूँमि निहारँन लागी ॥

अस्य तिलक

इहाँ प्रेम कौ कोऊ अँनुभाव कहिनोँ उचित हो "सहज-ही में भूँमि निहारि" वौ कहे ते नेह नाही जाँन्योँ जात है, ताते इहाँ यौ कहिनोँ उचित हो कि—

"आँखिन कै लजचोँही, जजोँही, प्रिया पिय-ओर निहारँन लागी ॥"

•

अथ अन्य रस-दोष बरनन जथा—

भाव-रसँन प्रतिकूलता, पुँनि-पुँनि दोषत-उक्ति^२ ।
यै हूँ है 'रस-दोष' जहँ, असमें उक्ति न^३ उक्ति ॥

अस्य उदाहरन

अरी, खेलि हँसि बोलि चलि, भुज पीतँम-गर डारि ।
आयु जात छिँन-छिँन घटो, छोजै घट ज्योँ^४ बारि ॥

अस्य तिलक

इहाँ आयु-घटिबे कौ ग्याँन कहिबौ, 'साँत-रस' कौ बिभाव है, सिंगार-रस कौ नाही, ताते उक्त दोष है ।

वि०—"जहाँ भाव और रसों की प्रतिकूलता वार-द्वार (कथन-द्वारा) दिख-लायी जाय—प्रकाशित की जाय, वर्णनीय रस-विरोधी (वर्णनीय रस के विरोधी रस की) सामग्री (विभावानुभाव) का वर्णन किया जाय, असामयिक उक्ति कही जाय, वहाँ दासजी-मान्य उक्त दोष होता है, क्योंकि विरोधी रस की—उसके विभावानुभाव संचारी भावों से अवर्णनीय (जो कहना नहीं है) रस की व्यंजना होने लगती है और उससे कहा जाने वाला रस बिरस हो जाता है—उसका आस्वाद नष्ट हो जाता है, अथवा वे दोनों (वर्णनीय-अवर्णनीय) रस नष्ट हो जाते हैं । अस्तु, उक्त रस-दोष की स्पष्टता के लिये यहाँ यह जानना आवश्यक हो जाता है कि किस रस का किस रस से विरोध है—अमैत्री है, साथ-ही उसकी किस से मैत्री है इत्यादि.....। जैसे—

१. शृंगार-विरोधी—क्रुण, बीभत्स, रौद्र, भीर, भयानक, शांत ।

पा०—१. (का०) भाव ते...। २. (वे०) (सं० पु० प्र०) जुक्ति । ३. (का०) (प्र०) उक्ति-अनुक्ति । ४. (का०) (प्र०) सोँ...। (सं० पु० प्र०) (वे०) छीलर कै-सौ बारि ।

२. हास्य-विरोधी—भयानक, करुण ।
३. करुण-विरोधी—शृंगार, हास्य ।
४. रौद्र-विरोधी—शृंगार, हास्य, भयानक ।
५. वीर-विरोधी—भयानक, शांत ।
६. भयानक-विरोधी—शृंगार, हास्य, वीर, रौद्र, शांत ।
७. वीभत्स-विरोधी—शृंगार ।
८. शांत-विरोधी—शृंगार, हास्य, वीर, रौद्र, भयानक ।
९. अद्भुत-विरोधी—रौद्र ।

—इत्यादि यह परस्पर का रस-विरोध वर्णन—“आलंबन-विरोध (विरोधी रसों का एक-ही आलंबन होने के कारण), आश्रय-विरोध (परस्पर विरोधी रसों का एक-ही आश्रय होने के कारण) और नैरंतर-विरोध (दो विरोधी रसों के बीच किसी तीसरे अविरोधी-रस की व्यंजना होने के कारण) तीन प्रकार का कहा गया है । वीर-रस का शृंगार-रस के एक आलंबन के साथ विरोध है, क्योंकि जिस आलंबन से शृंगार-रस प्रकट होता है, उसी से वीर-रस के उत्पन्न होने से दोनों रसों का आस्वादन नहीं हो सकता । रौद्र, वीर, वीभत्स के साथ भी वही बात है, वहाँ भी संयोग-शृंगार के एक आलंबन से विरोध है, क्योंकि जिसके साथ प्रेम-व्यापार होता है, उसके प्रति क्रोध घृणा नहीं हो सकता, इसलिये शृंगार-रस का आस्वादन भी नहीं होगा । शृंगार के द्वितीय-दलरूप विप्रलंब का भी वीर, करुण, रौद्र और भयानक के साथ एक आलंबन से विरोध है । शांत का शृंगार और वीभत्स से नैरंतर-विरोध है ।

रसों का पारस्परिक अविरोध (मैत्री) भी दर्शनीय है । शृंगार की अद्भुत के साथ, वीर रस की रौद्र और अद्भुत के साथ और भयानक की वीभत्स के साथ मैत्री है—विरोध नहीं है, क्योंकि इनका एक-ही आलंबन, आश्रय और और नैरंतर विरोध न होने के कारण आपस में समावेश हो जाता है ।”

अथ पुनः उदाहरन जथा—

बैठी गुर-जँन-भीच सुँनि बालँम वंसी चारु ।

सकल-छाँड़ि'बँन-जाँउ यै—तिय-हिय करति बिचारु ॥

अस्य तिलक

इहाँ नायिका में उत्कंठा की बरनन है, पै सब-छाँड़ि के बँन में जाइबौ

सांत-रस के निरबेद स्थायी-भावरूप कहते रस-विरुद्धता दोष हैं इहाँ है । ताते इहाँ यों होंनों चहिऐं—“कोंनें मिस बँन-जाँउ यै, तिय-हिय करति बिचार ॥”

अथ अस्य अदोषता गुँन-लच्छन जथा—

बोध^१ किये, उपमाँ दिये, लिये परायौ^२ अंग^३ ।

प्रति लौ रस-भाव है, गुँन मैं पाइ प्रसंग ॥

अस्य उदाहरन जथा—

धँन संचै, धँन सों सुरत, सरसत^४ सुख जग-माँहि ।

पै जीबँन अति अलप लखि, सज्जँन-मँन न पत्यौहि ॥

अस्य तिलक

इहाँ सिंगार-रस बाधित करि सांत-रस पोखिबे ते गुँन है, दोष नाँहीं ।

पुनः अदोषता-गुँन कौ उदाहरन—

दृग-नासा न तौ तप-जाल-खगी न सुगंध-सँनेह के ख्याल-खगी ।

स्र ति-जीहा बिरागौ न रागौ पगी, मति राँमें-रँगौ नहिँ काँमें-रँगौ ॥

बपु में ब्रत-नेम न पूरँन प्रेम, न भूति लगी, न बिभूति जगी ।

जग-जन्म बृथाँ तिन कौ जिन के, गर सेली लगी, न नबेली लगी ॥

अस्य तिलक

इहाँ हैं सिंगार और सांत दोनों रसँन कौ बोधक गुँन है ।

पुनः उदाहरन जथा—

पल रोबति, पल हँसति, पल बोलति पलक चुपाति ।

प्रेम तिहारौ प्रेत ज्यों, वाहि लग्यौ दिँन-राति ॥

अस्य तिलक

इहाँ हैं इक भाव के कितनेहू भाव बोधक हैं, ताते गुँन है । अथवा एक भाव के बोधक कै-कै एक भाव होत है, ताते गुँन है ।

अथ उपमाँन ते विरुद्धता जथा—

बेलिँन के^५ बिमल बितानँ तँन रहे जहाँ,

दुजँन कौ सोर कछू कह्यौ ना परति है ।

ता बँन दबागिँनि की धूमनि सों नैन,

मुकतावलि सबारें^६ डारे फूलँन भरति हैं ॥

पा०—१. (स० पु० प्र०) बाध... । २. (का०) (वे०) (प्र०) पराय... । ३. (प्र०) संग ।

४. (वे०) (स० पु० प्र०) सरसन... । ५. (स० पु० प्र०) कौ बिमल बितानँ तान रहे... ।

६. (का०) (वे०) (१०) सुबारे... ।

फेरि-फेरि अँगुठा^१ छुबाबै मिस काँटन^२ के,
 फेरि-फेरि आगें-पाँछे^३ भाँबरे^४ भरति है ।
 हिंदूपति जू सों बच्यौ पाइ^५ निज नाहै बैर^६—
 बनिता उछाहै माँन ब्याह-सौ करति है ॥

अस्य तिलक

इहाँ बीर-रस कौ बरनै न है, सो बैरिन में भयानक में उपमाँ औ रूपक में
 सिंगार-रस कौ बरनै न करनो गुँन है ।

पुनः उदाहरन जथा—

भक्ति तिहारी यों बसै, मो-मँन में श्री राँम ।
 बसै काँमि-जँन हियँन ज्यों, परँम सुंदरी बाँम^७ ॥

अस्य तिलक

इहाँ सांत-रस के बरनै न में सिंगार-रस को उपमाँ ते गुँन है ।

पुनः उदाहरन जथा—

पीछे^८, तिरीछे^९, तकै, उचिकै, न छुड़ाइ सकै अटकी द्रुम-सारी ।
 जी में गहै यों लुटेरँन के^{१०} भ्रँम, भागती दीन अधीन दुखारी ॥
 गोरी, क्रसोदरी, भोरी चितै, सँग-ही फिरँ दौरी किरात-कुँमारी ।
 हिंदू-नरेस के बैर ते यों, बिचरे^{११} बँन बैरिँन को बर-नारी ॥

अस्य तिलक

इहाँ सिंगार, करुन औ अदभुत-रस अपरांग हैं, बीर-रस अंगी हैं, ताते
 गुँन-रूप है ।

वि०—“दासजी कृत यह उदाहरण “समासोक्ति”-अलंकार से विभूषित
 है । जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों अर्थों का बोध समान विशेषणों-द्वारा होता
 है, वहाँ समासोक्ति होती है । यहाँ—पीछे^८, तिरीछे^९,... इत्यादि ऐसे विशेषण हैं
 जिनसे शृंगार और करुण दोनों परस्पर विरोधी रसों की अभिव्यक्ति होती है,
 किंतु यहाँ दासजी-द्वारा अपने आश्रय-दाता हिंदूपति नरेश का प्रताप—उनका
 बलाधिक्य वर्णन करना अभीष्ट है, अतएव राज-विषयक रतिभाव प्रधान होने के
 कारण शृंगार और करुण दोनों रसों का पोषण कर रहा है । अर्थात्, जिन

पा०—१. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) अँगुठौ... २. (का०) (वें०) (प्र०)
 कटनि... ३. (वें०) पाइन जु ना है ... ४. (रा० पु० प्र०) बाँम... ५. (रा० पु० नी० सी०)
 बर... ६. (रा० पु० प्र०) कामीजन हिय ज्यों बसै, परम सु०... ७. (वें०) ... भरै, छमकै,
 उचकै... ८. (का०) (वें०) की...

वाक्यों से यहाँ रस व्यक्त हो रहा है उन्हीं से—शृंगार रस और राजा के प्रताप का उत्कर्ष सूचित हो रहा है। इसलिये शृंगार और करुण दोनों का राज विषय-करति अंग बन जाने से विरोध नहीं गुण बन गया है। अथवा वीर-रस के शृंगार, करुण और अद्भुत रस अंग बन गये हैं—गुण बन गये हैं।”

अथ दीप्ति (बार-बार) दोष-लच्छन जथा—

पूँनि-पूँनि दीपति-ही कहैं, उपमाँदिक कछु नाँहि ।

ताही ते सज्जन गँने, यै-हू दूषन-माँहि ॥

अस्य उदाहरन जथा—

पंकज पाइँन पैजनियाँ, कटि घाँघरौ किंकिनियाँ जरबोली ।

मोतिन^२ हार-हँमेल बलीन पै, सारी सुहाबनी कंचुकी नीली ॥

ठोड़ी पै^३ स्यामल-बुंद अनूप, तरौनन की चुनियाँ-चटकीली ।

ईंगुर की सुरखी^४दुरकी नथ, भाल में बाल^५कें बँदी छबोली ॥

वि०—“उपमादि के बिना एक-ही रस की बार-बार दीप्ति—शोभा प्रदर्शित करना भी एक ‘रस-दोष’ है, यह दासजी ने यहाँ कहा है। किसी रस के परिपाक हो जाने पर—उसका प्रसंग समाप्त हो जाने पर फिर उसी का वर्णन करना, ‘दीप्ति’ करना कहलाता है। दासजी के इस उदाहरण में यही दोष है, क्योंकि आप-द्वारा यहाँ परिपुष्ट और उपभुक्त शृंगार-रस फिर से दीप्त किया जाने के कारण मीढ़े हुए पुष्प के समान अशोभन हो गया है, अतः उपयुक्त दोष है।”

अथ असमै जुक्ति कथन-उदाहरन जथा—

सजि सिँगार-सर पै चढ़ी, सुंदरि निपट सुबेस ।

मँनों जीति भुब-लोक सब, चली जितन दिबि-देस ॥

अस्य तिलक

इहाँ सहगामिनी देखि कें सात-रस बरनिबौ उचित हो, सिँगार-रस नाहीं, ताते ‘असमझ’ कथन दोष है। सहगामिनी—पति के संग जरिबेवारी कों कहैं हैं।

वि०—“बिना अवसर किसी बात—या रस का सहसा विस्तार करना “अस-मय युक्ति-कथन” दोष माना जाता है। संस्कृत में इसे “अकांड-प्रथन” कहा

पा०—१. (का०) (वै०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) याह... २ (सं० पु० प्र०) मोती को हार... ३. (सं० पु० प्र०) में... ४. (वा०) (वै०) (प्र०) सुर की... ५. (वै०) लाल को...

गया है । यहाँ नायिका पति के साथ जलने को—सती होने को, शृंगारादि से विभूषित होकर जा रही है, ऐसे समय उसको और अधिक-कामुक रूप में वर्णन करना असामयिक है ।”

पुनः उदाहरन जथा—

राँम-आगमँन-सुनि कह्यौ^१, राँम बंधु सों बात ।
कंकन मोहि छुराइबौ^२, उतै जाहु तुँम तात ॥

अस्य तिलक

इहाँ कंकन-छुराइबे कौ मोह त्याग श्रीराँम कौ परसराँम पै—उनके निकट जाइबौ उचित हो, सो न कह्यौ, ताते कादरता प्रघट जाँनी जात है ।

वि०—“काव्य-प्रकाश में आचार्य मम्मट ने यहाँ “अकांड-छेदन” दोष माना है । अकांड-छेदन—असमय रस का भंग करना, अनवसर विराम करना, यथा—

“अकांडे छेदो यथा वीरचरिते द्वितीयैऽके राघवभागवयोर्धाराधिरुढे वीर-रसे “कंकण मोचनाय गच्छामि” इति राघवस्योक्तौ ।”

पुनः अन्य रस-दोष-लच्छन जथा—

अंगै कौ बरनँन करै, अंगी देइ भुलाइ ।
यैहू है रस-दोष में; सुँनों सकल कबिराइ ॥

अस्य उदाहरन जथा—

दासी सों मंडन-समें, दरपँन माँग्यौ बाँम ।
बैठि गई सो^१ साँमनें, करि आँनन अभिराँम ॥

अस्य तिलक

इहाँ नायिका अंगी है, दासी वाकी अंग है, सो इहाँ अंगी को—नायिका को छँड़ि अंग-दासी की सोभा बरनिबौ दोष है । अंग भुलाइबे कौ—भूलिबे कौ दोष है ।

अथ अंगी-भूलिबौ-दोष उदाहरन—

पीतँम-पठै सहेट कों^२, खेलँन अटकी जाइ ।
तकि तिहिँ आबत उतै ते, तिय मँन-मँन पछिताइ ॥

पा०—१. (सं पु० प्र०) कही... २. (सं पु० प्र०) छुराइबे... ३. (का०) (वे०)-
(१०) (सं पु० प्र०) सोइ सासुहैं । ४. (का०) (वे०) (प्र०) निज...।

अस्य तिलक

इहाँ नायिका अंग है, नायक अंगी है, सो नायिका कौ नायक ते अधिक खेलि सो प्रेम बरनिबौ — अंगी नायक को भुलाइबौ है, ताते ये रस-दोष है ।

वि०—“दासजी कृत यह उदाहरण तीसरी अनुशयाना रमण-गता—संकेत स्थान पर किसी कारण-वश न पहुँच सकने वाली ‘परकीया’ नायिका का वर्णन है ।

“जमाने में हजारों नाम किसको याद रहते हैं ।

बनालें आप इक फ़हरिस्त अरबाबे-मुहब्बत की ॥”

अथ प्रकृति-विपरजड कथन जथा—

तीन-भाँति कै प्रकृति है, “दिव्य” “अदिव्य”-प्रमाण ।

तीजी^१ “दिव्यादिव्य” है^२, जानत सुकवि सुजान ।

देव ‘दिव्य’ करि माँनिऐ, नर अदिव्य’ करि लेख ।

नर-आँतारी देवता, ‘दिव्यादिव्य’ बिसेख ॥

सोक, हास, रति अदभुतै, लीन ‘अदिव्यै’ लोग ।

‘दिव्यादिव्यन’ में सकति, नहीं ‘दिव्य’ में^३ जोग ॥

चारि-भाँति नायक कहे^४, सो जु चारि रस-मूल ।

किऐ और के और में, प्रकृति-विपरजड तूल ॥

‘धीरोदात्त’ सु ‘बीर’ में, धीरोद्धत ‘रिसबंत’ ।

धीरललित ‘सिगार’ में^५, सांत धीर^६ परसंत ॥

सरल^७ पतालै जाइबौ, सिंघ-उलंघन चाउ ।

भसम ठाँनिबौ क्रोध ते, सातों दिव्य-सुभाउ ॥

ज्यों बरनन पित-माँत कौ, नहिँ सिँगार-रस लोग ।

‘त्योँ सुरतादिक^८ दिव्य में, बरनन लगै अजोग ॥

इहि बिधि औरों जानिएँ, अनुचित बरनन^९ चोख ।

‘प्रकृति-विपरजड’ होत है, सो^{१०} सिंगरौ रस-दोष ॥

पा०—१ (रा० पु० नी० सी०) की... २. (का०) (वें०) (प्र०) तीजी... ३. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) यह... ४. (का०) (वें०) के... ५. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०), कह्यौ, तिन्हें चारि रस... ६. (का०) (वें०) (प्र०) सोँ... ७. (वें०) ...धीर सो संत । ८. (का०) (वें०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) सरा... ९. (प्र०) सुर-आदिक... १०. (का०) (वें०) बरनत... ११. (का०) (वें०) (प्र०) अरु...

वि०—“दासजी कहते हैं प्रकृति—नायक तीन प्रकार का होता है, यथा—
दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य ये तीनों-हों क्रमशः स्वर्गाय देवता, मनुष्य
तथा मनुष्य रूप में प्रकट—अवतार विशेष होते हैं। ये दिव्य, अदिव्य और
दिव्यादिव्य-ही आगे चलकर ‘धीरोदात्त’ (जिसमें उत्साह प्रधान हो), ‘धीरो-
द्धत,’ (जिसमें क्रोध-प्रधान हो), ‘धीर ललित’ (जिसमें स्त्री विषय-प्रेम-
प्रधान हो) और ‘धीर शांत’ (जिसमें वैराग्य प्रधान हो) बन जाते हैं तथा
ये दिव्यादि-दिव्य तीनों भेद पुनः क्रमशः धीरोदात्तादि चार-चार रूपों में और
परिणत हो जाते हैं। ये धीरोदात्तादि—उत्तम, मध्यम और अधम भी
क्रमशः होते हैं। अस्तु दासजी का कहना है कि जो पात्र जिस प्रकार का हो,
उसे उसी प्रकृति के अनुसार वर्णन करना चाहिये। ऐसा न करने पर वहाँ प्रकृति
के प्रतिकूल—आस्वाभाविक वर्णन हो जाने से उक्त—“प्रकृति विपर्यय” दोष
हो जाता है।

आगे दासजी कहते हैं—शोक, हास्य, रति अद्भुतादि रस अदिव्य
नायक में ही वर्णन करने चाहिये दिव्य-नायक में नहीं, किंतु दिव्यादिव्य में
इन्हें वर्णन कर सकते हैं। अस्तु, ये दिव्यादिव्य-विभूषित चारों नायक धीरोदा-
त्तादि क्रमशः वीर, रौद्र, शृंगार और शांत-रस के पोषक हैं। स्वर्ग-पाताल का
जाना, समुद्र-उल्लंघन करना और क्रोध से भस्म करना आदि कार्य “दिव्य”
नायक स्वाभाविक रूप से कर सकते हैं, इसलिये इनका संभोग-शृंगारात्मक रति
वर्णन करना अयोग्य—प्रकृति-विपर्यय-दोष है, क्योंकि माता-पिता का शृंगार-
भाव रसज्ञ लोग वर्णन नहीं करते।

अथ कविता-विचार कथन जथा—

पाटी-सी है परिपाटी कबित्त की, ताकों त्रिधा-विधि बुद्धि बनाई।
तीछँन एक सुपंथ करै बर माँन-लों ‘दास’ अरै’ जिहिं ठाँई ॥
पंथै-पाइ भलौ कोऊ^१ खोलै, ज्यों होत^२ सुदार की कील^३ सुहाई।
एकै न पंथ-विचार को^४ माँनें, बिदार-ही जानै कुठार की न्याँई ॥

पुनः जथा—

अमित काव्य के भेद में बरने^५ मति-अनुरूप।

संपूरन कीन्है^६ सुँमरि, श्रीहरि-नाँम अनूप ॥

पा०—१. (प्र०) करै... २. (का०) (वै०) (प्र०) इक... ३. (सं० पु०-
प्र०) होती... ४. (सं० पु० प्र०) कीलें... ५. (सं० पु० प्र०) कै माँनें बिदारवौ...।
६. (का०) (वै०) (प्र०) (सं० पु० प्र०) बरन्यो... ७. (का०) (वै०) (प्र०) कीन्हो...।

